जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रंथमाला
११

संस्कृत साहित्य का इतिहास

लेखक
डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'
एम्० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय

चौखम्भा भारती अकादमी
आकर ग्रन्थों के प्रकाशक तथा वितरक
पो० ऑ० बॉक्स नं० १०६५
'गोकुल भवन' के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन.
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

संस्कृत साहित्य का इतिहास

ISBN : 978-81-909872-1-9

प्रकाशक

चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
'गोकुल भवन', के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ०५४२-२३३०३४५, २३३०३४९
e-mail : cbavns@gmail.com

पुनर्मुद्रित : सन् २०१७

₹ 235/-

शाखा

चौखम्भा बुक्स

५, यू. ए., जवाहर नगर, (पोस्ट-आफिस के पीछे)
मलकागंज, दिल्ली-११०००७
फोन : ०११-२३८५३१६६

अन्य प्राप्ति स्थान

चौखम्भा विश्वभारती

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

मुद्रक : श्रीजी प्रिण्टर्स, वाराणसी

Jaikrishnadas-krishnadas Prachyavidya Granthamala
No. 11

SAṂSKṚTA SĀHITYA KĀ ITIHĀSA

By
Dr. Umā Śaṅkara Śarmā 'Ṛṣi'
M.A., D.Lit., Sāhityācārya
Prof. & Head of Dept.
Dept. of Saṃskṛta,
Patna University

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY
Publishers and Distributors of Monumental Treatises of the East
Post Box No. 1065
'Gokul Bhawan' K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221 001 (India)

प्राक्कथन

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' साहित्य के सुधी पाठकों तथा समीक्षकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस विषय के अनेक ग्रन्थों के उपलब्ध रहने पर भी इसकी आवश्यकता है, यही जानकर इसकी प्रस्तुति की गयी है। इसमें मुख्यतः संस्कृत भाषा में रचित साहित्यिक कृतियों तथा उनके मूल्याङ्कन का लघु प्रयास है, तथापि पृष्ठभूमि में वैदिक साहित्य तथा अन्त में कतिपय शास्त्रों के अमूल्य ग्रन्थों की भी परिक्रमा की गयी है। समासतः कह सकते हैं कि तन्त्र और दर्शन को छोड़कर प्रायः समस्त संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थरत्नों का उनकी उपयोगिता तथा लोकप्रियता की दृष्टि से इसमें परिचय दिया गया है।

इसकी सीमाओं का निर्देश आवश्यक है। साहित्यिक कृतियों पर ईषत् विस्तार से समीक्षा की गयी है तो शास्त्रीय रचनाओं के विस्तृत परिचय का उपक्रम है; कुछ कृतियों का संक्षिप्त परिचय है। आधुनिक कृतियों को भी अस्पृश्य नहीं मानकर यत्र-तत्र सूचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं तथापि उनके लेखकों का परिचय देना सम्भव नहीं हो सका है। 'आयाम गम्भीरता का सबसे बड़ा शत्रु होता है' – इस कथन के कारण ग्रन्थ की परिधि का आयाम गम्भीर समालोचना से दूर रहने में प्रधान हेतु रहा है।

राष्ट्रीय शैक्षणिक शोध तथा प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'संस्कृत-साहित्य-परिचय' नामक लघुकाय पुस्तिका की प्रस्तुति में इन पंक्तियों के लेखक का भी सक्रिय सहयोग रहा था। उसी समय से कुछ प्रतिष्ठित प्रकाशकों ने उसी ढाँचे पर एक विस्तृत पुस्तक की रचना का अनुरोध मुझसे किया था किन्तु अन्य कार्यों की प्राथमिकता के कारण यह तत्काल सम्भव नहीं हो सका। इधर दो-तीन वर्षों में छात्रों का अनुरोध इतना बढ़ गया कि इसे बहुत दिनों तक टालना सम्भव नहीं लगा। अक्टूबर, १९९४ ई० से आरम्भ करके नवम्बर १९९७ ई० में मैंने इसकी पाण्डुलिपि पूरी कर ली। लेखन के साथ-साथ अक्षर-संयोजन (कम्पोजिंग) का कार्य भी होता गया, जिससे इसके प्रकाशन में त्वरा हुई है।

इसके परम प्रेरक आयुष्मान् सुनील कुमार गुप्त जी रहे हैं जिन्होंने चौखम्भा जैसे प्रतिष्ठित संस्थान से मेरे सम्बन्ध को (जो १९६१ ई० से निरन्तर चला आ रहा है) अक्षुण्ण रखने में सक्रिय भूमिका अपनायी। 'ऋक्सूक्तनिकरः' (१९९१ ई०) के

प्रकाशन से जो इन्होंने प्रेरणा दी वह आज भी अनवरत रूप से चली आ रही है। इनका उत्साहवर्धन इस ग्रन्थ के उपक्रम से अपवर्ग तक निरन्तर मुझे मिला है। अपने प्रकाशनों से ये अपनी कीर्ति बढ़ाते रहें, यह मेरी शुभकामना है।

इस पुस्तक के प्रकाशक चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी के युवाद्वय श्री सुनील कुमार एवं अशोक कुमार ने जिस लगन एवं शीघ्रता से कार्य किया उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

पारिवारिक संकटों के होते हुए भी मुझे जीवन-संघर्ष की शक्ति देने वाली धर्मपत्नी श्रीमती शान्ति शर्मा इस रचना में बहुत बड़े संबल के रूप में रही हैं; मेरी कृतियों से सर्वाधिक प्रसन्नता वस्तुतः उन्हें ही होती है। मेरी ज्येष्ठ पुत्री डॉ० वीणा शर्मा, उसकी अनुजा पूनम शर्मा तथा अनुज अभय शंकर (एम०ए० भूगोल) के सहयोग मुझे अनेक रूपों में मिले हैं। इन सबके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

अन्त में इस विषय के पूर्वाचार्यों, समीक्षकों, अध्यापकों तथा सहृदय छात्रों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके कारण 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' की प्रक्रिया का ईषत् निर्वाह हो सका है।

विद्वद्वशंवद –
उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'

१-६-१९९८
व्ही – ३३, विद्यापुरी
कंकड़बाग, पटना – ८०० ०२०
दूरभाष (०६१२) ३५१९८५

विषय-सूची

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अध्याय-१

प्रस्तावना

साहित्येतिहास की आवश्यकता – किसी भी भाषा में साहित्य का विकास उस भाषा की परिनिष्ठित अवस्था का सूचक होता है। एक बार जब कोई साहित्यिक रचना उस भाषा में हो जाती है तब अन्यान्य रचनाएँ भी पूरक, समवर्ती या प्रतिस्पर्धा के रूप में होने लगती हैं। **पूरक** रचनाओं के अन्तर्गत मूल ग्रन्थ की टीका-टिप्पणी, व्याख्या आदि होती है। **समवर्ती** रचनाएँ दूसरे प्रकार की होती हैं जैसे किसी ने पद्यकाव्य लिखा तो दूसरे ने गद्यकाव्य की रचना की; कहीं विष्णु-भक्ति का साहित्य लिखा गया तो कोई अन्य लेखक शिवभक्ति के साहित्य की रचना में तत्पर हो गया। **प्रतिस्पर्धा** वाली रचनाएँ एक ही क्षेत्र में मूलग्रन्थ से आगे बढ़ने की दिशा में होती हैं या मूल रचना के खण्डन के रूप में की जाती हैं। एक बार जब खण्डन की प्रथा चली तो इसकी सीमा नहीं रह जाती – आरोप-प्रत्यारोप का वातावरण शताब्दियों तक चलता जाता है। इस प्रकार विविध रूपों में साहित्यिक विकास होना भाषा का गौरव हैं।

साहित्यिक विकास ग्रन्थों की गुणवत्ता तथा संख्या दोनों पर आश्रित है। प्रतिभाशाली लेखकों के द्वारा कभी-कभी साहित्यिक रचना की गति अत्यन्त तीव्र बनायी जाती है तो कभी-कभी इसमें अप्रत्याशित गतिरोध उत्पन्न होता है। किसी शताब्दी में उत्कृष्ट रचनाओं की बाढ़ आ जाती है तो कोई शताब्दी किसी प्रकार साहित्य के नाम पर सामान्य कोटि के ग्रन्थों से सन्तोष करती है। फिर भी साहित्यिक विकास की धारा शुष्क नहीं होती –कुछ-न-कुछ क्रिया-कलाप प्रवृत्त होता ही रहता है। दो-तीन सौ वर्षों के अन्तराल में रचनाओं की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि किसी एक व्यक्ति के लिए उन सब को पढ़ना तो दूर, केवल देखना या विषयवस्तु से परिचित होना भी असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति किसी एक भाषा के साहित्य का (जैसे – हिन्दी साहित्य का, बंगला साहित्य का, तमिल साहित्य का या अंग्रेजी साहित्य का) ज्ञाता कैसे कहा जा सकता है? यदि सायणाचार्य के समान कोई कहे कि किसी ग्रन्थका आंशिक ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण ग्रन्थ का बोध करने की क्षमता आ जायेगी[१], तो यह आधुनिक युग में ज्ञान-विस्तार की अथाह जल-राशि में छोटी नौका द्वारा सन्तरण का प्रयास-मात्र होगा। 'अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्ना:' से कौन परिचित नहीं? हम कितनी पुस्तकों का एक-एक अध्याय या भूमिका मात्र पढ़ते चलेंगे? सभी व्यक्तियों को क्या सभी पुस्तकें सुलभ भी हो सकती हैं? न्यायदर्शन के विद्वान् क्या न्यायशास्त्र में रची गयी सभी पुस्तकों की विषयवस्तु से भी परिचित हो सकते हैं? संस्कृत काव्य पढ़ने वाले क्या संस्कृत के सभी काव्यों से परिचित हो सकते हैं? दूसरे शास्त्रों या साहित्य-भेदों की बात छोड़ भी दें तो केवल अपनी रुचि के शास्त्र या साहित्य-भेद की रचनाओं का भी परिचय हमें नहीं हो सकता। किसी ग्रन्थागार में या बड़ी पुस्तक-दुकान में जाकर कुछ

---

१. ऋग्वेदभाष्यभूमिका मंगलश्लोक, सं. ६ –

एतस्मिन् प्रथमोऽध्याय: श्रोतव्य: सम्प्रदायत:।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान्॥

पुस्तकों का आपात-ज्ञान हमें मिल सकता है किन्तु वह क्षणिक संस्कार के रूप में होगा और अव्यापक भी रहेगा।

ज्ञान के क्षेत्रों के अपार विस्तार तथा साहित्य-रचना की व्यापकता की दृष्टि से ऐसी ही स्थिति में साहित्येतिहास की आवश्यकता होती है। जैसे किसी देश, जाति या समाज के इतिहास के द्वारा हमें उसके अस्पृष्ट और अज्ञात अतीत में झाँकने का अवसर मिलता है उसी प्रकार साहित्येतिहास से भी किसी भाषा में उद्भूत साहित्यिक कृतियों का परोक्ष ज्ञान हमें प्राप्त होता है। हमने कल्हण की राजतरङ्गिणी भले ही नहीं देखी हो किन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास के अध्ययन से इसके मुख्य पक्षों को जान लेंगे। शेक्सपियर की सभी रचनाओं को देखने का अवसर हमें भले ही नहीं मिला हो किन्तु अंग्रेजी साहित्य का इतिहास पढ़कर ऐसा लगेगा कि उन सबका सार हमें ज्ञात हो गया है।

साहित्येतिहास का एक अन्य लाभ उन्हें भी प्राप्त होता है जो उस साहित्य की भाषा को नहीं समझ पाते। मान लें कोई व्यक्ति मराठी या कन्नड़ भाषा न पढ़ सकता है, न समझ सकता है। किन्तु यदि उसकी अपनी भाषा में मराठी या कन्नड़ साहित्य का इतिहास उपलब्ध है तो वह उन भाषाओं की साहित्यिक कृतियों के विषय में न केवल समुचित जानकारी प्राप्त कर लेगा अपितु अपनी रुचि के अनुकूल कुछ रचनाओं के प्रति श्रद्धा भी रखने लगेगा। हो सकता है कि उस भाषा को सीखकर किसी कृति का वह अपनी भाषा में रूपान्तर करके साहित्य-प्रचार और साहित्यिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान करेगा। संस्कृत साहित्य का इतिहास विदेशी भाषाओं में पढ़कर अनेक विदेशी नागरिक संस्कृत अध्ययन के प्रति अभिमुख हुए तथा भारतीय विद्याओं के प्रतिष्ठित विद्वान् बने।

यद्यपि दूसरे कारणों से भी किसी व्यक्ति का झुकाव किसी साहित्यिक कृति के प्रति होता है तथापि साहित्येतिहास इस विषय में तीव्रता प्रदान करता है, व्यापक परिवेश में पाठकों को प्रभावित करता है। इसलिए इसका महत्त्व अन्य सभी साधनों की अपेक्षा अधिक है। इससे हमें साहित्यिक रचनाओं की परस्पर तुलना करने एवं श्रेष्ठता का निर्धारण करने में भी सहायता मिलती है जिससे रुचि का परिमार्जन एवं श्रद्धास्पद कृति का चयन सरलता से हो सकता है। आज इसीलिए किसी भाषा से सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन करने के क्रम में उसके साहित्येतिहास का अनुशीलन उच्चतर कक्षाओं में अनिवार्य है।

साहित्येतिहास का स्वरूप – साहित्येतिहास में सम्बद्ध भाषा के प्रमुख तथा कालसिद्ध ग्रन्थों एवं उनके रचयिताओं का परिचय दिया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि केवल प्रकाशित ग्रन्थों का तथा सभी प्रकाशित ग्रन्थों का विवरण उसमें दिया जाये। कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ भी किसी भाषा के साहित्य के रत्न होते हैं जिन्हें छोड़ना अन्याय होता है। किन्तु उन ग्रन्थों की जानकारी और उपलब्धता आवश्यक है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी में मैक्समूलर (१८५९) तथा वेबर (१८७८) द्वारा रचे गये संस्कृत साहित्य के इतिहास में न तो भास की चर्चा थी, न ही अश्वघोष की। इन लेखकों की कृतियों का ज्ञान संस्कृत-समाज को बाद में मिला। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ज्ञान भी २०वीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ। इसलिए अप्रकाशित होने की स्थिति में उन ग्रन्थों का कहीं उपलब्ध होना आवश्यक है। तभी साहित्येतिहास में उन्हें स्थान मिल पाता है।

प्रकाशित साहित्य में भी सबका परिचय देना इतिहासकार के वश की बात नहीं क्योंकि प्रत्येक इतिहास-ग्रन्थ की कुछ व्यष्टिगत सीमाएँ हैं। आधुनिक युग के संस्कृत साहित्य के इतिहास-लेखन में प्रवृत्त व्यक्ति भी सभी रचनाओं का परिचय नहीं दे सकता। उसके समक्ष स्थान का संकोच, कालजयी रचनाओं के चयन की समस्या तथा पर्याप्त जानकारी (या सूचनाओं) का अभाव अवश्य रहता है। दक्षिण भारत में रचित आधुनिक संस्कृत साहित्य के विषय में उत्तर भारतीय संस्कृत विद्वान् को अत्यल्प सूचना रहती है और इसी प्रकार उत्तर भारत के संस्कृत ग्रन्थों को दक्षिण भारतीय विद्वान् नहीं जान पाता । आधुनिक संस्कृत साहित्य के विषय में यह बात मुख्य रूप से सत्य है। अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलनों के द्वारा भी यह संवादहीनता पूर्णतः दूर नहीं हो पाती।

साहित्येतिहास ग्रन्थों के साथ ग्रन्थकारों पर भी ध्यान रखता है। ग्रन्थकारों का समय, उनका वंश,पाण्डित्य तथा रचनाएँ, स्थान, पर्यटन, राजाश्रय इत्यादि बातों का महत्त्व प्राचीन संस्कृत - पण्डितों के लिए भले ही नहीं रहा हो और वे केवल ग्रन्थों की विषय-वस्तु तथा टीका-टिप्पणी से भले ही सन्तुष्ट हो जाते हों, किन्तु आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न साहित्येतिहासकार के लिए लेखक के व्यक्तित्व से सम्बद्ध उपर्युक्त सभी बातों का महत्त्व है। आज तो प्राचीन संस्कृत लेखकों के मनोविश्लेषण से सम्बद्ध अनुशीलन भी हो रहे हैं। अतएव साहित्येतिहास कृति के साथ कृतिकार को भी समान महत्त्व देता है। किसी रचना की सही समीक्षा करने के लिए रचनाकार के परिवेश तथा मनोवृत्ति को समझना आवश्यक है। अन्यथा पूर्वाग्रह से ग्रस्त आंशिक व्युत्पत्ति ही मिल सकती है।

इतिहास लेखक को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। इसी कारण वह ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की वर्णानुक्रम से सूची नहीं प्रस्तुत करता है, अपितु एक वैज्ञानिक के समान इतिहास में ग्रन्थों. का वर्गीकरण काल के आधार पर अथवा साहित्य-प्रकार के आधार पर करके उनका विवेचन करता है। यह दूसरी बात है कि इधर सभी साहित्यों के कोष-ग्रन्थ बनने लगे हैं जिनमें वर्णानुक्रम से लेखकों और ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है।[1] ऐसे कोशों का निःसन्देह सूचना-प्राप्ति के लिए बहुत महत्त्व है किन्तु ये कोश-मात्र हैं, साहित्येतिहास नहीं।

साहित्येतिहास ग्रन्थों का वर्गीकरण करके उनके परस्पर सम्बन्ध, तारतम्य और विकास का विवेचन करता है। यही स्थिति उसे परिचयात्मक कोश-ग्रन्थों से पृथक् करती है। कोशग्रन्थ या विश्वकोशात्मक (encyclopaedic) ग्रन्थ जहाँ व्यष्टिमात्र पर दृष्टि रखते हैं वहाँ साहित्येतिहास व्यष्टि और समष्टि दोनों को अपनी विवेचना का विषय बनाता है। वस्तुतः किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार को अपने वर्ग से पृथक् करके देखा नहीं जा सकता। इसीलिए नैयायिकों के अर्थ-विषयक सिद्धान्त अर्थात् 'जाति-विशिष्ट-व्यक्तिवाद' के समान अध्याय-विशेष के विवेच्य-विशेष के रूप में ही इतिहासकार किसी ग्रन्थ को या ग्रन्थकार को जाँचता-परखता है।

कुछ साहित्येतिहास आकार में बड़े होते हैं, कुछ छोटे। 'अधिकस्याधिकं फलम्' के अनुसार दीर्घकाय होना दो कारणों से सम्भव है-(१) अधिक से अधिक ग्रन्थकारों और उनकी रचनाओं का समावेश करने से एवम् (२) समाविष्ट विषयों पर अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचना करने

१. देखें- डॉ. राजवंश सहाय हीरा-**संस्कृत साहित्य कोश** (चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९७३) तथा डॉ. गंगाराम गर्ग- **इंसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन लिटरेचर** (मित्तल पब्लिशर्स, दिल्ली, १९८२)।

से। ऐसा गम्भीर पाठकों को ध्यान में रखकर किया जाता है। श्री कृष्णमाचार्य ने अपने 'लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास' (History of Classical Sanskrit Literature) को प्रथम कारण से दीर्घकाय बनाया है तो डॉ० ए० बी० कीथ ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (History of Sanskrit Literature) तथा 'संस्कृत नाटक' (Sanskrit Drama) नामक ग्रन्थों को दूसरे कारण से बड़ा बनाया है। कृष्णमाचार्य ने जहाँ सूचनाओं से ग्रन्थ को भर दिया है वहाँ कीथ ने प्रखर आलोचनात्मक सामग्री भरी है। इधर कृष्णचैतन्य के नव्य इतिहास (A New History of Sanskrit Literature) में एक नवीन दृष्टिकोण से संस्कृत वाङ्मय के उत्कर्ष को विश्व-परिवेश में परखने का प्रयास हुआ है। श्री वाचस्पति गैरोला ने साहित्य पर साहित्येतर प्रभाव को दिखाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। इनके ग्रन्थ दीर्घकाय हैं।

लघुकाय ग्रन्थों के रूप में जो साहित्येतिहास लिखे जाते हैं उनका उद्देश्य विभिन्न युगों या विधाओं की सामान्य प्रवृत्तियों का परिचय देकर कुछ लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूचना देना भर होता है। वहाँ न तो व्यापक परिप्रेक्ष्य में लेखकों की संख्या का निरूपण होता है और न ही विवेचना का विस्तार होता है। सामान्य पाठकों तथा आरम्भिक छात्रों की आवश्यकता का ध्यान अवश्य रखा जाता है। ए० बी० कीथ तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने बड़े इतिहास-ग्रन्थों के संक्षेप के रूप में छोटे इतिहास-ग्रन्थ लिखे हैं।

इधर विशेषज्ञता के युग में किसी युग-विशेष या विधा-विशेष का इतिहास-लेखन भी लोकप्रिय हुआ है जैसे-हिन्दी साहित्य का रीति-काल, हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल, आधुनिक संस्कृत साहित्य, संस्कृत चम्पूकाव्य का इतिहास, संस्कृत प्रहसनों का इतिहास इत्यादि। कुछ कवियों और कृतियों पर भी स्वतन्त्र लेखन हुए हैं। साहित्य अकादमी तथा अन्य संस्थाओं से कल्हण, विशाखदत्त, भवभूति, राजशेखर, कालिदास जैसे कवियों पर एकनिष्ठ ग्रन्थ प्रकाशित हैं। ये ग्रन्थ कभी-कभी शोध-प्रबन्धों के रूप में भी रहते हैं और कभी-कभी केवल परिचयात्मक होते हैं। इस प्रकार साहित्येतिहास का स्वरूप अनेकमुखी हो गया है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास की विशिष्टता

संस्कृत भाषा का साहित्य संसार की अन्य भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है क्योंकि न्यूनतम चार सहस्र वर्षों का (२००० ई०पू० से आधुनिक युग अर्थात् बीसवीं शताब्दी तक का) साहित्य इसमें निहित है। इतने लम्बे काल के साहित्यिक क्रियाकलाप को समाविष्ट करना एक इतिहासकार के लिए कठिन कर्म है। इसलिए आज तक संस्कृत साहित्य के इतिहास का लेखन प्राय: दो वर्गों में इस दीर्घ कालावधि का विभाजन करके ही होता रहा है-वैदिक साहित्य(२०००ई०पू० से ५००ई०पू० तक) तथा लौकिक संस्कृत साहित्य (५००ई०पू० से आधुनिक काल तक)।

इन वर्गों में वैदिक साहित्य का इतिहास क्रमश: विभिन्न युगों में विकसित होने वाले साहित्यिक उद्‌गमन को आधार बना कर लिखा गया है। इन युगों में भाषा का परिवर्तन स्वाभाविक गति से होता रहा था, साहित्य-रचना भी नये-नये प्रकारों में होती रही थी। सामान्य रूप से इस कालखण्ड के इतिहास को निम्नलिखित उपखण्डों में विभक्त किया जाता है-(१) संहिता-काल,(२) ब्राह्मण काल,(३) आरण्यक-काल,(४) उपनिषद्-काल तथा (५) सूत्र-काल

(वेदाङ्ग)। इन कालों में मूल वैदिक मन्त्रों के आधार पर साहित्य का विकास हुआ है किन्तु इन्हें परस्पर व्यावर्तक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण-युग में आरण्यक था ही नहीं या आरण्यक-युग में उपनिषद् का उद्भव नहीं था। स्थिति तो यह थी कि संहिता काल में भी उपनिषद्-जैसा परवर्ती साहित्य कुछ अंशों में विद्यमान था[१]। ऐसी स्थिति में काल के आधार पर वैदिक साहित्य का विभाजन प्रायिक मत है, स्थिर नहीं। अधिक से अधिक यह विभाजन साहित्य-प्रकार की दृष्टि से ही माना जा सकता है।

लौकिक संस्कृत साहित्य के इतिहास में तो कालगत विभाजन और भी अधिक कठिन है। अंग्रेजी, फ्रेंच, हिन्दी, बंगला आदि भाषाओं के साहित्येतिहास को कालों में इसलिए विभक्त किया जा सका है कि विभिन्न कालों में विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्तियों का इनमें उद्भव हुआ है अथवा अपेक्षाकृत अल्प कालावधि का ही साहित्य इनमें विकसित हुआ है; संस्कृत साहित्य के इतिहास के समान ढाई या दो सहस्र वर्षों का साहित्यिक विकास वहाँ नहीं है। संस्कृत साहित्य में कालक्रम से विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उद्भूत नहीं हुई हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में (जैसे भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल' के विभिन्न खण्डों में) किसी काल-विशेष की साहित्यिक उपलब्धियों का जो विवरण मिलता है, वह सर्वेक्षण मात्र है; इतिहास नहीं है। उदाहरणार्थ, सातवीं शताब्दी ई० में आविर्भूत बाण (गद्यकार), माघ (महाकाव्यकार) और भवभूति (नाट्यकार) के ग्रन्थों के नाम ये इतिहास-ग्रन्थ भले ही उस युग की साहित्यिक रचनाओं के उल्लेख के क्रम में कर दें किन्तु साहित्येतिहास इन विजातीय कृतियों को एक साथ नहीं रख सकता, क्योंकि इनमें प्रकारगत भेद ऐसा करने की अनुमति नहीं देता।

इसलिए संस्कृत साहित्य का इतिहास कालगत विभाजन को स्वीकार नहीं करता अपितु साहित्यिक विधा (literary type) को आधार बनाकर प्रवृत्त होता है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों को हम एक साथ उपजीव्य ग्रन्थों के रूप में एक साथ या पृथक्-पृथक् अध्यायों में रख लें किन्तु गद्यकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक आदि विधाओं में से प्रत्येक का उद्भव, विकास तथा आधुनिक युग तक की परम्परा एक ही साथ दिखानी पड़ती है। सातवीं शताब्दी ई० के गद्यकाव्य को उसी शताब्दी के गीतिकाव्य के साथ नहीं मिला सकते। जब गद्यकाव्य का विवरण देना होता है तो प्रारम्भ से आज तक का इतिहास उस विधा का ही दिखाया जाता है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में किसी भी विधा से सम्बद्ध अध्याय हो, वह अपने आप में डेढ़-दो सहस्र वर्षों के विकास का विवरण तो प्रस्तुत करेगा ही। कुछ इतिहासकार अध्यायों की लम्बाई बढ़ जाने के भय से एक विधा के लेखकों का अनुक्रम से कई अध्यायों में विवेचन करते हैं अथात् एक-एक विधा कई अध्यायों तक निरन्तर चलती रहती है। जैसे-कीथ ने अपने संस्कृत साहित्येतिहास (बृहत्संस्करण) में संस्कृत महाकाव्यों का इतिहास निरन्तर चार अध्यायों में लिखा है।[२] फिर भी एक विधा को दूसरी विधा से मिलाया नहीं जा सकता, भले ही किसी लेखक ने दो या अधिक

१. यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता का ४०वाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदें ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही हैं।

२. ये अध्याय क्रमशः इस प्रकार हैं-(१) अश्वघोष और प्रारम्भिक बौद्धकाव्य,(२) कालिदास, (३) भारवि, भट्टि, कुमारदास और माघ,(४) द्वितीय श्रेणी के महाकाव्यकार (पृ० ६९-१७९)।

विधाओं में साहित्य- रचना की हो। कालिदास ने महाकाव्य, गीतिकाव्य और नाटक-तीनों प्रकारों में पुस्तकें रची हैं। उनके काल और शैली का विवेचन हम किसी एक प्रसङ्ग में कर दे सकते हैं किन्तु विभिन्न प्रकारों की रचनाओं का परिचय पृथक्-पृथक् ही देना पड़ेगा। अभी तक जो संस्कृत साहित्येतिहास लिखे गये हैं, वे इसी परम्परा को स्वीकार करते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृत साहित्येतिहास कालगत विभाजन के आधार पर हो ही नहीं सकता। समाज, राजनीति तथा विशिष्ट काल की संस्कृति का प्रभाव साहित्य पर पड़ता ही है। इस दृष्टि से यदि कोई क्रान्तिकारी लेखक ऐसा करना चाहे तो उसका स्वागत परीक्षार्थी पाठक भले ही न करे, सामान्य जिज्ञासु तो करेंगे ही। किन्तु इस कार्य में अध्यायों के शीर्षक देने की समस्या उठ खड़ी होगी। संस्कृत के अधिसंख्य कवियों और लेखकों का काल ही विवादास्पद है। ऐसी स्थिति में, किसे कहाँ विवेचित करना है, यह प्रश्न संकट उत्पन्न करता रहेगा। विभिन्न राजनीतिक युगों में पनपी हुई साहित्यिक उपलब्धियों की सूचनाओं का यदि विस्तृत विवरण दिया जाये तो संस्कृत साहित्येतिहास भी अन्य भाषाओं के साहित्येतिहासों के समकक्ष हो सकता है। किन्तु एक मुख्य समस्या होगी कि कालखण्डों का चयन कैसे हो? पाणिनि के पूर्व का साहित्य, ईसा-पूर्व साहित्य, प्रथम तीन शताब्दियों का साहित्य, गुप्तयुगीन साहित्य, छठी-सातवीं शताब्दी का साहित्य इत्यादि क्रम रखे जा सकते हैं। फिर भी कुछ विवेचनाएँ अध्यायों में सांकर्य उत्पन्न करती रहेंगी। कालखण्डों के चयन में सहमति होना भी कष्टसाध्य है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में या अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में कालखण्डों के चयन में सभी लेखकों की सहमति है। किन्तु ऐसा संस्कृत साहित्येतिहास के लेखकों में होना सम्भव नहीं है-यहाँ तो 'पदे-पदे विवादपदानि' है।[1]

इस परिस्थिति में संस्कृत साहित्येतिहास के लेखन में कोई व्यक्ति नया विवाद खड़ा करना नहीं चाहेगा, यहाँ पहले ही विवाद-समुदाय उसके स्वागत के लिए तथा लेखन-क्षमता को कुण्ठित करने के लिए विद्यमान हैं। निष्कर्षतः यहाँ विधागत विभाजन (Division based on types of Literature) संस्कृत साहित्येतिहास की प्रमुख विशिष्टता के रूप में सर्वमान्य है।

इसकी दूसरी विशिष्टता काल-निर्धारण का अधिकाधिक प्रयास है। सामान्यतः साहित्येतिहास में रचनाकारों का अनुक्रम से परिचय तथा कृतियों का विवेचन होता है जिससे साहित्य में उनकी विशिष्टता और समुचित स्थान का ज्ञान पाठक को मिल सके। किन्तु संस्कृत साहित्येतिहास में रचनाकारों के जन्म और मृत्यु के निश्चित वर्ष को तो जानना असम्भव है ही, उनके आविर्भाव की शताब्दी का निर्धारण भी कभी-कभी कठिन है। संस्कृत कवियों के इतिहास के नाम पर युगों से प्रचलित दन्तकथाएँ रही हैं जो अधिकांशतः प्रवक्ता की कल्पना पर आश्रित हैं। यहाँ के तथाकथित विद्वान् लोग पण्डितराज जगन्नाथ के सम्बन्ध में रसीली कथाएँ सुनाते रहे हैं किन्तु उनके काल और कृतियों के मूल्यांकन में मौन धारण किये रहे हैं। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले इतिहासकार को किसी लेखक के काल का निर्धारण प्रथम कर्तव्य के रूप में करना पड़ता है। वह प्रयास से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधन जुटा कर किसी रचना या उसके कर्ता के

---

१. इस विषय में एन्० सी० ई० आर० टी० द्वारा प्रकाशित 'संस्कृत साहित्य-परिचय' के लघुकाय ग्रन्थ के सम्पादन में गोष्ठियों में उठे विवादों का कटु अनुभव मुझे भी है।

काल की पूर्वसीमा और उत्तरसीमा का निर्धारण कर पाता है। सभी इतिहासकार काल-निर्धारण में तथ्यों का संकलन करते हैं तथा उसके बाद ही रचयिता और उसकी रचना की समीक्षा देते है। काल-निर्धारण पर ऐसा बल अन्य भाषाओं के साहित्य में नहीं मिलता। यूरोपीय भाषाओं के साहित्येतिहासों में तो काल- निर्धारण कोई समस्या ही नहीं क्योंकि लेखकों के ईसाई-धर्मानुयायी रहने से उनके जन्म-मरण का पञ्जीयन सम्बद्ध गिरजाघरों में प्राप्त हो जाता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शिक्सपीयर (१५६४-१६१६) का काल निश्चित है जबकि भारतीय नाट्यकार कालिदास का काल शताब्दियों के बीच झूल रहा है।

संस्कृत साहित्येतिहास की कालावधि चार सहस्र वर्षों की है जिससे वैदिक और लौकिक संस्कृत दोनों का साहित्यिक विकास निहित है। कुछ विद्वानों ने अपने इतिहास-ग्रन्थों में दोनों का इतिहास लिखा है, कुछ ने केवल वैदिक भाग पर बल दिया है और कुछ ने केवल लौकिक संस्कृत भाग का इतिहास प्रस्तुत किया है। मैक्समूलर तथा मैकडोनल के इतिहास-ग्रन्थ वैदिक साहित्य पर बल देते हैं, तो कीथ लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखते हैं। मॉरिस विन्तरनित्स ने अपने तीन खण्डों के इतिहास (भारतीय साहित्य का इतिहास) में क्रमशः वैदिक, उपजीव्य ग्रन्थ (रामायण, महाभारत, पुराण), बौद्ध और जैन, लौकिक संस्कृत एवं शास्त्रीय साहित्य का व्यापक विवरण दिया है। डॉ० सूर्यकान्त तथा वी० वरदाचार्य ने भी, संक्षिप्त रूप में, सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय को अपने इतिहास-ग्रन्थों में समेटने का प्रयास किया है। इतने विशाल कालखण्ड का इतिहास संस्कृत साहित्येतिहास की विलक्षणता है। कोई इसके आंशिक साहित्य को निरूपित करे या सम्पूर्ण वाङ्मय को- यह रुचि तथा आवश्यकता पर आश्रित है। इसी प्रकार संक्षेप में एक ही ग्रन्थ में समावेश करना या विभिन्न भागों में विस्तार से विवेचना करना भी ग्रन्थ की योजना के अनुसार होता है।[१]

इतिहास-लेखन की समस्याएँ

संसार में प्रत्येक कार्य के निष्पादन में समस्याएँ विघ्न के रूप में आती हैं। संस्कृत साहित्येतिहास का लेखन भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है जो समस्याओं से रहित नहीं है। ये समस्याएँ आरम्भिक इतिहासकारों के समक्ष अधिक थीं किन्तु जैसे-जैसे अनुसन्धानों की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास होता गया है, ये न्यून से न्यूनतर होती गयी हैं। तथापि कुछ समस्याएँ अभी भी वर्तमान हैं।

इनमें प्रथम स्थान साहित्येतिहास के लेखन की साधन-सामग्री (Source material) की है। इतिहास-लेखक को न केवल वर्णनीय ग्रन्थों का साक्षात् परिचय होना चाहिए, अपितु विभिन्न शोध-कर्त्ता विद्वानों के द्वारा लिखित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध-निबन्धों की भी जानकारी रखनी होती है जिनमें अनेक कवियों लेखकों एवं कृतियों के विषय में उपयोगी सामग्री होती है। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-सम्मेलन के अधिवेशनों में बहुधा महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत होते हैं। वे भी इतिहास-लेखन में उपयोगी साधन का काम करते हैं। अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर भी ऐसे सम्मेलन होते हैं जहाँ निबन्ध-पाठ की परम्परा है। प्रत्येक शोध-निबन्ध इतिहास-लेखन में

१. उत्तर प्रदेश प्रशासन की संस्कृत ग्रन्थ अकादमी १६ खण्डों में संस्कृत साहित्य के बृहद् इतिहास की योजना का कार्यान्वयन कर रही है।

सहायक ही हो, ऐसी बात नहीं। इसीलिए उनकी प्रामाणिकता पर निष्पक्ष विचार करना आवश्यक है जिससे यथेष्ट सूचना का समायोजन इतिहास में किया जा सके।

स्वाधीनता के पूर्व भारत में शोध-कार्य सीमित था तथा पाश्चात्त्य मानदण्ड के आधार पर होता था किन्तु अभी शोध के द्वारा मुक्त हो गये हैं; अनेक जाने-अनजाने कवियों, लेखकों, उनकी कृतियों तथा उनमें निहित सामग्री का विवेचन-विश्लेषण हो रहा है। इनमें कई मौलिक शोध-कार्य हैं, विभिन्न स्थानों में बिखरी सामग्री का संकलन करके नयी-नयी स्थापनाएँ और उद्‌भावनाएँ हुई हैं। आज इतिहास-लेखन के लिए साधन-सामग्री का प्राचुर्य है। किन्तु इतनी सामग्री को संक्षेप में समेटना अवश्य ही एक विकट कार्य है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक सहस्रों लेखकों पर ततोऽधिक शोधकार्य हो चुके हैं, बहुत से हो रहे हैं। अब कालिदास, भवभूति, बाण इत्यादि लेखकों की रचनाओं के विविध पक्षों का आलोडन इतना अधिक हो गया है कि १८७५ ई० में इतिहास लिखनेवाले से आज का इतिहास-लेखक अधिक सुविधा में है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि उसके समक्ष सम्पूर्णता के साथ यह सब सामग्री सुलभ हो। अपेक्षाकृत अल्प सामग्री मिलने पर इतिहास-लेखन में सुविधा तो होती है, किन्तु यदा-कदा भ्रामक निष्कर्ष निकलने का भी भय रहता है। सम्भव है, कोई महत्त्वपूर्ण साधन अनुपलब्ध होने के कारण हमारी धारणा कुछ की कुछ बन जाये। दूसरी ओर सामग्री का प्राचुर्य कभी-कभी संशय भी उत्पन्न कर सकता है क्योंकि प्रचुर सामग्री में परस्पर विरोधी निष्कर्ष भी प्राप्त होते हैं। इस स्थिति में लेखक को बहुमत की ओर झुकना पड़ता है या स्वविवेक से काम लेना होता है। कालिदास के काल-निर्धारण में या बाण की कवित्वशक्ति के निरूपण में ऐसा देखा जा सकता है।

संस्कृत का प्रकाशित साहित्य ही इतना विपुल है कि इतिहास में उसे पूर्णतया समाविष्ट करना कठिन है, अप्रकाशित साहित्य की तो बात ही नहीं करनी चाहिए। फिर भी साहित्य का इतिहास-दर्शन इस बात पर बल देता है कि पाण्डुलिपियों के रूप में भी इतिहास की बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण सामग्री रहती है जिसकी उपेक्षा साहित्येतिहासकार को नहीं करनी चाहिए। ऐसी अप्रकाशित पुस्तकों की 'बृहत्सूची' आफ्रेक्ट ने तीन खण्डों में प्रकाशित की थी।[1] भारत में भी विभिन्न पुस्तकालयों ने अपने संग्रहों में स्थित पाण्डुलिपियों की सूचियाँ प्रकाशित की हैं। इनका उपयोग शोध-कार्य करने वाले तो करते ही हैं, कतिपय इतिहास-लेखकों ने भी इन सूचियों से कृतियों का निर्देश किया है। श्री कृष्णमाचार्य का 'इतिहास' इसका सुन्दर उदाहरण है। अप्रकाशित ग्रन्थों के विश्लेषण, सम्पादन आदि शोध-ग्रन्थों में तीव्र गति से हो रहे हैं, भले ही इस भौतिकतावादी युग में उनके प्रकाशन का उपयोग नहीं रह गया है। साहित्येतिहास का लेखक निश्चित रूप से इन अप्रकाशित ग्रन्थों को समस्या के रूप में ग्रहण करता है कि उसके इतिहास की पुस्तक में इनका समावेश किस सीमा तक किया जाये।

संस्कृत लेखकों का काल-निर्धारण भी इतिहास-लेखन की एक बड़ी समस्या है। इसका कुछ संकेत ऊपर दिया जा चुका है। प्रसिद्ध अमरीकी प्राच्यविद्याविशारद विलियम ड्वाइट ह्विटने (W.D. Whitney) ने अपने 'संस्कृत ग्रामर' की भूमिका (पृ०१९) में १८७९ ई० में ही कहा था

---

१. थियोडोर आफ्रेक्ट (Theodor Aufrecht)- **Catalogus Catalogorum**, 3 volumes (1891, 1896 and 1903).

कि भारतीय साहित्यिक इतिहास में दी गयी सभी तिथियाँ उन खूँटों के समान हैं जिन्हे पुन: गाड़ना ही है।[1] विगत एक सौ वर्षों में संस्कृत-विषयक शोधों की अप्रत्याशित प्रगति होने पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण कवियों और लेखकों की अनुमानित तिथियाँ बार-बार स्थापित और विस्थापित होती रही हैं। कालिदास को प्रथम शताब्दी ई०पू० में रहने वाले विद्वान् युक्तियों की दृष्टि से उन्हें ४०० ई० में रखने वाले विद्वानों से पीछे नहीं हैं। दण्डी को ईसा की षष्ठ शताब्दी में रखने वाले लोग है तो उन्हें अष्टम शताब्दी के प्रथम चरण में मानने वाले इतिहासकार भी हैं। सर्वाधिक अव्यवस्था भास के काल के विषय में हैं। उन्हें मौर्ययुग से भी पहले ई०पू० चौथी शताब्दी में मानने वाले हैं तो गुप्तकाल से कुछ पूर्व ३०० ई० में रखने वाले पाश्चात्त्य इतिहासकार भी हैं। कुछ विद्वान् तो उन्हें १०वीं शताब्दी ई० में भी रखने के पक्षपाती थे। भास के रूपकों की खोज ने वस्तुत: ऐसा विवाद खड़ा किया था कि संस्कृत साहित्येतिहास में 'भास-समस्या' एक विवेच्य विषय के रूप में उद्भूत हो गयी।

अधिसंख्यक लेखकों का काल आनुमानिक ही है। किसी शताब्दी में सिद्ध करने का यह अर्थ नहीं होता कि लेखक-विशेष का जन्म-मरण य़ा पूरा जीवन-काल उसी शताब्दी में निश्चित हो गया। लेखक के रचनात्मक जीवन को मुख्य रूप से सिद्ध करने का प्रयास होता है, पूरे जीवनकाल को नहीं। उदाहरणार्थ बाण हर्ष के समकालिक थे और हर्ष का काल ६०६ ई० से ६४८ ई० माना गया है। तो इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि बाण का रचनात्मक काल सातवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में (६२५-६५० ई०) रहा होगा क्योंकि युवक बाण का हर्ष से तब साक्षात्कार हुआ था जब हर्ष अपने गौरव के उत्कर्ष पर थे। कुछ विद्वानों ने अपनी कल्पना तथा युक्तियों के बल पर कई लेखकों के सम्पूर्ण जीवन-काल को तिथियों में निश्चित करने का श्लाघ्य प्रयास किया है जैसे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का जीवन-काल ४८० ई०पू० से ४१० ई०पू० अनुमानित किया है।[2] इसी प्रकार पी० वी० काणे ने हर्षवर्धन की जीवनावधि ५९० ई० से ६४८ ई० मानने का प्रस्ताव रखा है।[3] किन्तु सब कुछ अनुमानाश्रित है। इसके लिए आप्त प्रमाण नहीं है। १९वीं शताब्दी ई० से ही इस स्थिति में सुधार हुआ जब संस्कृत लेखकों के जन्म और मरण की प्रामाणिक तिथियाँ अंकित की जाने लगीं।

काल-गणना की अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति भारतवर्ष में पहले से थी, फिर भी व्यक्ति के जीवन-काल को अंकित करने की उपेक्षा यहाँ क्यों हुई? इसके लिए हमारी इतिहास-धारणा ही उत्तरदायी है। भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों और घटनाओं का विवरण देना नहीं, अपितु जीवन के शाश्वत मूल्यों को महापुरुषों की जीवनियों में दिखाते हुए राष्ट्र का सांस्कृतिक उत्थान करना ही था।[4] इसीलिए लेखक की रचना का मूल्य था, उसके जीवन का नहीं। कुछ ही कवियों ने अपने जीवन के कष्टों से उद्वेलित होकर अपने विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करते हुए सामान्य मौन का उत्क्रमण किया है। बाण, भवभूति, बिल्हण, श्रीहर्ष और

1. All dates given in Indian literary history are pins set up to be bowled down again.

२. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** (१९६९), पृ. ४७२।

३. **हर्षचरित** की अंग्रेजी भूमिका (काणे), पृ. ३२।

४. तुलनीय- धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

पण्डितराज जगन्नाथ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ये कवि भी काल-गणना के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं देते। इसलिए लेखकों का काल-निर्धारण एक समस्या ही है।

भारतवासी अपनी कालगणना का उपयोग सरोवर-निर्माण, मन्दिर-निर्माण आदि लोकहित के कार्यों के सम्पादन की तिथि के विषय में सूचना देने के लिए करते थे। इसीलिए रुद्रदामन् के गिरनार-शिलालेख (१५० ई०), वत्सभट्टि के मन्दसोर-शिलालेख (४७३ ई०), पुलिकेशिन् के ऐहोल-शिलालेख (६३४ ई०) इत्यादि की तिथियाँ ज्ञात हो सकी हैं। इनका महत्त्व संस्कृत लेखकों के काल-निर्धारण में न्यूनाधिक रूप से स्वीकार्य है। इसी प्रकार कतिपय विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्तों का भी परोक्ष रूप से महत्त्व है क्योंकि जिन राजाओं के काल में ये यात्री भारत-भ्रमण करते थे उनका समय ज्ञात होने से उनके आश्रित या समसामयिक लेखकों के काल पर प्रकाश पड़ता है। बाण, भर्तृहरि आदि का काल इसी प्रकार ज्ञात होता है।

काल-निर्धारण का ही एक पक्ष है-विभिन्न लेखकों तथा उनकी कृतियों का परस्पर पौर्वापर्य निश्चित करना। बहुधा एक रचनाकार द्वारा अपने ग्रन्थ में दूसरे लेखक या उसकी कृति के उल्लेख से, एक ही विषय को अपने ग्रन्थों में लेखकों के द्वारा पृथक् रूपों में निरूपित किये जाने से तथा दूसरे साधनों से लेखकों के काल के विषय में निश्चित सूचना मिलने से लेखकों का पौर्वापर्य निश्चित किया जाता है। किन्तु इस प्रसङ्ग में सन्देह तथा भ्रान्त धारणाओं के विकसित होने की आशङ्का भी अधिक रहती है। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में पौर्वापर्य की समस्या विकट रूप लिये हुए है। रामायण और महाभारत, भामह और दण्डी, दण्डी और बाण एवं कालिदास और अश्वघोष के पौर्वापर्य का निरूपण विभिन्न इतिहासकारों ने पृथक्-पृथक् किया है।

संस्कृत साहित्येतिहास की एक अन्य समस्या इसके उद्देश्य को लेकर भी है। उद्देश्य का अर्थ है पाठक-विशेष को ध्यान में रखकर ग्रन्थ-लेखन। ग्रन्थ चाहे कोई भी हो किसी पाठक-वर्ग के लिए ही लिखा जाता है, 'स्वान्तः सुखाय' लेखन बहुत ही कम होता है। साहित्य का यह हितकारी पक्ष है जो इसे शब्दप्रमाण की कोटि में स्थापित करता है। आप्त (यथार्थवक्ता)[१] जब अपनी अनुभूतियों को लोकहित के लिए प्रकट करता है, वही शब्दप्रमाण है। संस्कृतसाहित्य का इतिहास भी लोकहितार्थ लिखा जाता है कि लोग जानें कि संस्कृत भाषा में कितनी रचना कब हुई, उसका लेखक कौन है, रचना का साहित्यिक मूल्य क्या है इत्यादि। अब प्रश्न है कि लोक के किस वर्ग तक इतिहासकार अपनी रचना की व्याप्ति चाहता है। आधुनिक युग में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। जैसे किसी विश्वविद्यालय की विशिष्ट परीक्षा में निर्धारित अंशों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ उन्हीं परीक्षार्थियों को ध्यान में रखकर लिखे जाते हैं, दूसरे भी यदि लाभान्वित हों तो उन पुस्तकों का गौरव बढ़ता है।

मैक्समूलर, वेबर तथा मैकडोनल ने[२] मुख्य रूप से संस्कृत साहित्य का इतिहास उन पाश्चात्यदेशीय छात्रों को ध्यान में रखकर लिखा था जिन्हें भारत में सेवा के लिए चुना जाता था

---

१. वात्स्यायन-न्यायसूत्रभाष्य (१.१.४)-आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तथा प्रवर्तते इत्याप्तः।

२. Max-muller : Ancient Sanskrit Literature (1859); A. Weber : The History of Indian Literature (1878); A.A Macdonell : A History of Sanskrit Literature (1900)

या जिन्हें संस्कृत भाषा की साहित्यिक सम्पत्ति के विषय में जिज्ञासा थी। संस्कृत के विषय में अनुभूतियों के साथ-साथ पूर्वाग्रहों को भी इन्होंने अपने ग्रन्थों में परोस दिया। पाश्चात्य जगत् में (मुख्यत: यूरोप में) 'संस्कृत की खोज' एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जा रही थी और इसके विषय में अधिकाधिक जानने की इच्छा वहाँ के शिक्षित समुदाय में उत्पन्न हो रही थी। कुछ संस्कृत-ग्रन्थों के यूरोपीय भाषाओं में किये गये अनुवादों से सन्तुष्ट न होकर लोग साहित्यिक सम्पत्ति का पूरा आकलन खोज रहे थे; इसी की पूर्ति के लिए उक्त लेखकों ने अपने इतिहास-ग्रन्थों की रचना की। यूरोप के सभी विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन १९वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। इस दिशा में संस्कृत साहित्य का साकल्यरूप से परिचय प्रदान करने में ये पुस्तकें बहुत सहायक हुईं। न्यूनाधिक रूप से उन ग्रन्थकारों ने अपने लेखन में यूरोपीय पाठकों का ही ध्यान रखा। भारतीय पाठक भी उनसे लाभान्वित हुए-यह उनके लिए गौरव की बात हुई। इन लेखकों ने स्थान-स्थान पर यूरोपीय दृष्टान्त देकर उन पाठकों की ओर दृष्टि रखी।

मैक्समूलर ने 'इंडियन सिविल सर्विस' (I.C.S) के परीक्षार्थियों के लिए एक उपयोगी पुस्तक 'भारत से हम क्या सीखें (India : What can it teach us)' भी लिखी। पुन: मैकडोनल ने इसी धारा में इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए नयी पुस्तक 'भारत का अतीत' (India's Past) के नाम से लिखी जिसमें भारत के भूतकालीन गौरव का विश्लेषण है। इसी क्रम में नवीनतम ग्रन्थ ए० एल० बैशम के द्वारा लिखित (The glory that was India भारत का अतीत गौरव) है जो प्राचीन भारतीय इतिहास का सुन्दर मूल्यांकन है।

बीसवीं शताब्दी में जो पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये उनका उद्देश्य संस्कृत-विषयक तदानीन्तन शोधकार्यों का समावेश करके पाठकों का प्रबुद्ध वर्ग प्रस्तुत करना था। मौरिस विन्तरनित्स ने जर्मन में 'भारतीय साहित्य का इतिहास' तीन खण्डों में लिखा जिनका अब अंग्रेजी अनुवाद हो गया है, कुछ भागों का हिन्दी रूपान्तर भी है। उनके समक्ष जर्मन पाठक थे किन्तु यूरोपीय विद्वानों के साथ भारतीय विद्वान् भी इससे बहुत लाभान्वित हुए। ए० बी० कीथ ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' तथा 'संस्कृत नाटक' के रूप में दो महान् इतिहास-ग्रन्थ लिखे जिनमें शोध तथा मौलिक आलोचनाओं का समन्वय किया गया। इनकी दृष्टि भी यूरोपीय पाठकों तथा संस्कृत के गम्भीर अध्येताओं पर थी। इसीलिए इन ग्रन्थों में यूरोपीय विषयों की तुलना तथा यूरोप की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के निबन्धों के व्यापक निर्देश दिये गये हैं।

इन सभी यूरोपीय विद्वानों का उद्देश्य संस्कृत साहित्य के बहिरङ्ग का वर्णन करना था। ग्रन्थों की विवेचना में इन्होंने यदा-कदा उदाहरण भी दिये तो पाश्चात्त्य समीक्षाशास्त्र पर ही ध्यान रखा। भारतीय दृष्टिकोण से ग्रन्थों के अन्तरङ्ग में प्रवेश का इन्होंने प्रयास नहीं किया। वस्तुनिष्ठ विवेचन के पक्षधर होने पर भी ये पूर्वाग्रह से अनाविष्ट नहीं रह सके। विन्तरनित्स का पक्ष कुछ भारतीय भी था, किसी लेखक की कटु समीक्षा इन्होंने नहीं की। इसलिए यूरोपीय इतिहासकारों में अब इनका ग्रन्थ भारत में अधिक लोकप्रिय हो रहा है।

भारतीय विद्वानों ने भी वर्तमान शताब्दी में संस्कृत साहित्य के छोटे-बड़े इतिहास लिखे हैं। इनमें कुछ लोगों का उद्देश्य अवश्य ही भारतीय परम्परा और इतिहास-दृष्टि को रेखाङ्कित करना रहा है। भारतवासी होने के कारण यहाँ के विद्वानों को साहित्यिक परम्परा के अन्तरङ्ग में जाने

की सुविधा है,वस्तुनिष्ठ के अतिरिक्त वे आत्मनिष्ठ भी हो सकते हैं क्योंकि संस्कृत की साहित्य-सम्पदा उनकी अपनी है, कुछ ग्रन्थों के अनुशीलन ने उनकी जीवन-शैली को भी प्रभावित किया है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में कुछ विद्वान् भावुक भी हो सकते हैं तथा कतिपय ग्रन्थों के विवरण में अपनी अनुभूतियों को भावना का परिधान दे सकते हैं। दूसरी ओर कुछ भारतीय इतिहास-लेखक विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए उपर्युक्त सामग्री मात्र देने के पक्षधर रहे हैं तथा अनावश्यक वाद-विवादों से बचकर जैन-दर्शन के 'अनेकान्तवाद' का आश्रय लेकर सभी मतों को समान रूप से आंशिक सत्य कहकर कृतार्थ हुए हैं।

इतिहास-लेखन की संक्षिप्तता और विस्तीर्णता इसी उद्देश्य के कारण हुई हैं। एक समय था जब व्यक्तिगत लेखकों पर अनुसन्धानों का अभाव था और इतिहास में समस्त शोध-कार्यों का समावेश हो सकता था किन्तु आज इतना अनुसन्धान पृथक्-पृथक् लेखकों और उनकी कृतियों पर हो चुका है कि इतिहास में सबका समावेश करना सम्भव नहीं। इसके लिए विश्वकोशात्मक इतिहास की आवश्यकता पड़ेगी। यह कहा जा चुका है कि इतिहास केवल रचनाओं और लेखकों का परिचय मात्र नहीं है अपितु उन्हें समुचित सन्दर्भ में स्थापित करते हुए पूरे वर्ग के अन्तर्गत उनका मूल्याङ्कन करना भी है। जिनके लिए वह लिखा जा रहा हो, उनके लिए वस्तुतः उसकी उपयोगिता होनी चाहिए; तभी इस समस्या का उचित समाधान होगा।

एक समस्या यह भी है कि साहित्येतिहास की सीमा क्या हो। प्रायः 'संस्कृत' से लौकिक संस्कृत का ही बोध होता है, वैदिक का नहीं। इसलिए वैदिक साहित्य को पृथक् परिवेश में रखकर कुछ विद्वानों ने केवल लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखा है। इसमें भी समस्या है कि केवल काव्य, नाटक और समीक्षा-शास्त्र को समाविष्ट किया जाये अथवा शास्त्रीय (वैज्ञानिक) साहित्य को भी विवेच्य बनाया जाये जैसे- व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन इत्यादि। ज्ञातव्य है कि इनमें प्रत्येक शास्त्र का स्वतन्त्र इतिहास हो सकता है। कई विद्वानों ने साहित्य की परिधि में सम्पूर्ण वाङ्मय का ग्रहण किया है जिसका परिणाम प्रत्येक विषय का संक्षिप्त निरूपण रहा है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि विषयों की व्यापकता उनके गम्भीर विवेचन का सबसे बड़ा शत्रु है (Width is the greatest enemy of depth)। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने औचित्य का निर्वाह करते हुए तीन खण्डों में संस्कृत वाङ्मय का इतिहास लिखा है- वैदिक साहित्य और संस्कृति, संस्कृत साहित्य का इतिहास, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास। मध्यम भाग ही काव्य-नाटक आदि के इतिहास के रूप में छात्रों के लिए सुपरिचित है। यदि विषयों की गम्भीर विवेचना अपेक्षित है तो व्यापकता का त्याग करना ही पड़ेगा। अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला आदि भाषाओं में विकसित साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ पूरे वाङ्मय का विवेचन नहीं करते अपितु 'साहित्य' के परिमित अर्थ का ग्रहण करके वे लिखे गये हैं।

शास्त्रों का अंग्रेजी आदि के साहित्यों को समझने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण उपयोग नहीं है किन्तु संस्कृत काव्यों की स्थिति ऐसी नहीं है। जैसे वेदों का सम्यक् आकलन वही कर सकता है जो वेदाङ्गों को समझता है, उनका उपयोग कर सकता है; ठीक उसी प्रकार लौकिक संस्कृत साहित्य का मर्म जानने के लिए कोश, व्याकरण, नीतिशास्त्र, राजशास्त्र आदि की परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। साहित्य के लिए साहित्य-शास्त्र (काव्यशास्त्र) का तो साक्षात् उपयोग है, किन्तु परोक्ष रूप से अन्यान्य शास्त्र भी किसी न किसी रूप में साहित्य का अङ्ग बन कर संस्कृत-साहित्य

में अनुस्यूत रहे हैं। यहाँ साहित्यशास्त्रियों ने शास्त्रों के ज्ञान को 'काव्याङ्ग' कहा है।[1] भामह ने अपने काव्यालङ्कार में दो स्थानों पर इस विषय का निरूपण किया है –

(१) शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी ॥[2]

(२) न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥[3]

ऐसी स्थिति में संस्कृत साहित्येतिहास के लेखक यदि साहित्य-पक्ष का विस्तृत और शास्त्र-परम्परा का संक्षिप्त विवेचन करते हैं तो निन्दनीय नहीं अपितु वन्दनीय ही हैं।

अन्य भाषाओं में साहित्य के उद्‌भव से जुड़कर शास्त्रों का उद्‌भव नहीं हुआ है। कुछ भाषाओं में तो शास्त्रीय साहित्य एक-दो शताब्दियों से ही आरम्भ हुआ है जबकि साहित्य प्राचीन है। इसलिए भी उनमें साहित्य और साहित्येतर शास्त्रीय विषयों के वाङ्मय की परम्परा को परस्पर मिश्रित नहीं होने दिया गया है। कुछ भारतीय विद्वानों ने जो केवल 'साहित्य' का इतिहास लिखा है वह इसी प्रभाव के कारण किया है। ए० बी० कीथ जैसे सावधान इतिहास-लेखक ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत तृतीय भाग में शास्त्रीय वाङ्मय के विवेचन को भी वही व्यापकता दी है जो उनके द्वारा साहित्यिक ग्रन्थों के इतिहास में स्वीकृत हुई है। यदि कोई इस सीमा तक न भी जाये तो भी शास्त्रों की परम्परा का परिचय तो अपेक्षित ही है। पाणिनि की **अष्टाध्यायी**, अमरसिंह का **नामलिङ्गानुशासन** (अमरकोश), कौटिल्य का **अर्थशास्त्र**, पतञ्जलि का **योगसूत्र** तथा अन्यान्य ऐसे लोकप्रिय ग्रन्थों को समुचित परिपार्श्व में हम कैसे देख सकते हैं यदि शास्त्रीय वाङ्मय को साहित्येतिहास से बाहर रखें?

बहुत-से इतिहासकार संस्कृत साहित्य की आधुनिक परम्परा को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं देते। वे समझते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी ई० तक का इतिहास लिख देना ही पर्याप्त है। संस्कृत की जीवन-शक्ति का परिचय अद्यतन साहित्य भी देता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह दूसरी बात है कि हमारे पास आधुनिक संस्कृत साहित्य के विपुलांश तक पहुँचने का साधन नहीं होता फिर भी लेखक को अद्यतन साहित्य का समावेश इतिहास में करना चाहिए। तभी इतिहास की पूर्णता होगी।

उपर्युक्त समस्याएँ साहित्येतिहास के लेखन में उत्पन्न होती हैं जिनका उचित निराकरण करके ही कोई अपने कार्य में प्रवृत्त होता है।

संस्कृत भाषा का उद्‌भव तथा विकास

'संस्कृत' शब्द का प्रयोग उस भाषा के लिए किया है जो न्यूनतम चार सहस्र वर्षों से अनवरत भारतवर्ष में प्रचलित रही है तथा जिससे इस देश की बहुसंख्यक भाषाओं का विकास हुआ है। भारत की अनेक अन्य भाषाओं ने इससे पर्याप्त सामग्री प्राप्त की है जिसके कारण संस्कृत

१. वामन- काव्यालङ्कारसूत्र १/३/१ लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि।
२. भामह- काव्यालङ्कार १/९ ३. वही, ५/४

का वर्चस्व, किसी बाह्य शक्ति के प्रयोग के बिना ही, केवल अपनी ही शक्ति से, पूरे देश की भाषाओं पर देखा जा सकता है। इस भाषा ने अपनी साहित्यिक सम्पत्ति तथा भाषागत अवदान के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष को युगों तक सांस्कृतिक एकता में निबद्ध रखा है। इसे नष्ट करने की तथा इससे दूर भागने की नाना चेष्टाएँ भारतीय इतिहास में प्राप्त होती हैं किन्तु इसकी स्वाभाविक जीवनी शक्ति ने इसे कभी नष्ट नहीं होने दिया। इस भाषा की इस जीवनी शक्ति के कारण ही इसे 'देवभाषा', 'अमरभारती', 'गीर्वाणवाणी' इत्यादि प्रशस्तियों से विभूषित किया गया। ये प्रशस्तियाँ संस्कृत के अनवरत प्रयोग को सूचित करती हैं, देवलोक में या स्वर्ग में प्रयोग को नहीं। संस्कृत कवियों ने अपनी कल्पना से ऐसा अवश्य कहा है कि स्वर्ग और भूतल पर समान रूप से समझी जाने वाली कोई भाषा है तो वह संस्कृत ही है।

संस्कृत का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है यद्यपि उस युग में इस भाषा को संस्कृत नहीं कहते थे। इसका 'संस्कृत' नाम वैदिक युग के अवसान के बाद उसका पूर्ण साहित्यिक रूप विकसित होने पर ही पड़ा जबकि इससे विकसित एक अन्य भाषा भी 'प्राकृत' के नाम से चल पड़ी थी। सामान्य अशिक्षित जन-समुदाय संस्कृत का विकृत रूप प्रयुक्त करता था, शिष्ट-शिक्षित वर्ग संस्कृत का। कुछ दिनों तक दोनों रूपों को लोग एक ही भाषा की बोलियों के रूप मानते रहे थे[1] किन्तु विकृति का प्राचुर्य होने पर प्राकृत तथा संस्कृत में स्पष्ट भेद कर दिया गया। किन्तु दोनों भाषाओं का परस्पर सौमनस्य और सहयोग निरन्तर बना रहा। भरत ने नाट्यशास्त्र के अठारहवें अध्याय में संस्कृत नाटकों में भाषाविधान का वर्णन करते हुए संस्कृत और प्राकृत को समान स्तर पर रखा है। उन्होंने फिर भी प्राकृत को संस्कार और गुण से वर्जित कहा है।[2] इसी कारण प्राकृत के क्षेत्रीय भेद भी पनपे; जबकि संस्कृत भाषा में पाणिनि-द्वारा प्रवर्तित केन्द्राभिगामी प्रवृत्ति के फलस्वरूप एकरूपता का आधान होने से सर्वत्र समान भाषा का प्रयोग रहा, चाहे केरल में रचना हो चाहे कश्मीर में। पाणिनि के पूर्व अवश्य ही संस्कृत-प्रयोगों में अनेकरूपता थी किन्तु इसे स्थिरता प्रदान करने के लिए जिन लोगों ने पाणिनि या अन्य वैयाकरणों के द्वारा निरीक्षित (व्याख्यात या अन्वाख्यात) भाषा-स्वरूप को मान्यता प्रदान की उन्होंने इसका व्याकरण सुरक्षित रखा, शैली चाहे जैसी भी हो।

प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य को भी संस्कृत विद्वानों ने, उनमें क्षेत्रगत भेद होने पर भी स्वीकार किया। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में वाङ्मय के चार भेद किये-

तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥[3]

इनमें संस्कृत तो देवभाषा के रूप में महर्षियों के द्वारा स्वीकृत है जिसमें सभी रूप परिनिष्ठित (निश्चित मानदण्ड पर स्थापित) हैं किन्तु प्राकृत का क्रम अनेक प्रकार का है- तद्भव, तत्सम

---

१. **रामायण** ५/३०/१८ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। यहाँ 'द्विजाति (शिक्षित जन) के समान' संस्कृत का प्रयोग यह निर्देश करता है कि अशिक्षित जन के समान भी संस्कृत का प्रयोग हो सकता था जो विभिन्न प्राकृतों के भेद का कारण बना था।

२. **नाट्यशास्त्र** १८/२ एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥

३. **काव्यादर्श** १/३२।

और देशी।[1] ये प्राकृत में प्रयुक्त शब्दों के प्रकार हैं। तद्भव शब्द संस्कृत शब्दों से विकृत रूप में थे जैसे- हस्तः हत्थो, अग्र: अग्गो। तत्सम शब्द संस्कृत के ही थे किन्तु विभक्तियों से रहित होकर प्राकृत में प्रयुक्त होते थे जैसे- तीर, गुण आदि। देशी शब्द आर्येतर भाषा परिवारों से (द्राविड़ तथा आग्नेय परिवारों से) गृहीत होते थे। इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत में नहीं मिल सकती जैसे- छइल्ल (रसिक या विदग्ध), खिड्किकरा। अपभ्रंश युग में ऐसी शब्दावली बहुत तेजी से विकसित हुई।

संस्कृत से सम्बद्ध और विकसित भारत की सभी भाषाओं को 'आर्यभाषा' कहते हैं। इन भाषाओं का सम्बन्ध संस्कृत के द्वारा ईरानी तथा यूरोपीय भाषाओं से माना जाता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत प्राचीन यूरोपीय तथा ईरानी भाषाओं की सगी बहन है। इस तथ्य की खोज १८वीं शताब्दी के अन्त में हुई तथा इसके समर्थन में पूरी १९वीं शताब्दी को यूरोप के भाषाशास्त्रियों ने लगा दिया। सर विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की तृतीय वार्षिक भाषण माला के क्रम में २ फरवरी १७८६ ई० के दिन व्याख्यान देते हुए कहा था कि संस्कृत भाषा की संरचना अद्भुत है, यह ग्रीक भाषा से अधिक पूर्ण तथा लातिन भाषा से अधिक विपुल है; यह दोनों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से परिष्कृत भी है। जोन्स ने इन सब भाषाओं के साथ गौथिक, केल्टिक और फारसी को भी एक ही भाषा-परिवार से जोड़कर ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की आधार-शिला रखी।[2]

जोन्स के संकेत यूरोप, ईरान और भारत की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होने लगा तथा विद्वानों को उनमें व्याकरण और शब्दभण्डार का साम्य देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ। १९वीं शताब्दी के मध्य तक यह मत स्थिर हुआ कि ये सारी भाषाएँ एक ही परिवार की शाखाओं से निर्गत हैं। उस परिवार को 'भारोपीय भाषा-परिवार' (Indo-European Family of Language) कहा गया। कई विद्वानों ने इस परिवार की मूल भाषा की संरचना का अनुसन्धान शाखाओं की तुलना के आधार पर करना आरम्भ किया। बहुत दूर तक इस दिशा में कार्ल ब्रुगमान, वाकरनागेल जैसे विद्वानों को सफलता भी मिली। इन सभी विद्वानों ने जर्मन भाषा में ही अपने शोध-निष्कर्ष प्रकट किये। बीसवीं शताब्दी में हित्ती तथा तोखारी भाषाओं के अभिलेख प्राप्त हो जाने से भारोपीय भाषा-परिवार का अब पूर्ण चित्र प्राप्त हो गया है। मूल भारोपीय भाषा चाहे जहाँ भी बोली जाती रही हो इसकी शाखाएँ आज पूरे यूरोप, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान और भारत में व्याप्त हैं। यही नहीं, पिछली कुछ शताब्दियों में साम्राज्यवाद तथा व्यापार के विस्तार के कारण प्रायः भूमण्डलमात्र में यह भाषा-परिवार बोला-समझा जाता है।

भारोपीय परिवार के दो वर्ग हैं- केन्तुम् तथा शतम्। केन्तुम् वर्ग में ग्रीक, इटालिक, जर्मानिक, केल्टिक, तोखारी तथा हित्ती - ये छह शाखाएँ हैं। इन्हीं में इंगलिश, फ्रेंच, पुर्तगाली, स्पेनिश, जर्मन आदि आधुनिक भाषाएँ आती हैं। दूसरी ओर शतम् वर्ग में भारत-ईरानी (आर्य), बाल्तो-स्लाविक, आर्मेनियन तथा अल्बानियन- ये चार शाखाएँ मानी गयी हैं।[3] भारत-ईरानी

१. वही १/३३ संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः॥

२. पूरा अंग्रेजी उद्धरण देखें- 'ऋक्सूक्तनिकरः' की भूमिका, पृ० १०८ की पाद-टिप्पणी में।

३. लेखक का सुझाव है कि शतम्-वर्ग में भी छह शाखाएँ मानी जा सकती हैं- भारतीय आर्य, ईरानी, बाल्तिक, स्लाविक, आर्मेनियन तथा अल्बानियन। प्रथम दो-दो वर्गों में साम्याधिक्य के कारण शाखा की एकता स्वीकृत है।

वस्तुत: दो शाखाएँ हैं जिन्हें 'आर्य-शाखा' के संयुक्त नाम से अभिहित किया गया है। ये दोनों शाखाएँ हैं - भारतीय आर्य (Indo-Aryan) तथा ईरानी (Iranian-Aryan)। 'ईरान' शब्द वस्तुत: संस्कृत 'आर्याणाम्' का अपभ्रंश है जो अवेस्ता (ईरान में विकसित प्राचीनतम ग्रन्थ) में 'अइरियानम्' था। रूसी, बल्गेरियन, चेक, हंगेरियन, लिथुआनियन आदि भाषाएँ बाल्तो-स्लाविक शाखा के अन्तर्गत हैं। शेष दो शाखाएँ अपने-अपने राज्यों में प्रचलित हैं।

भारत-ईरानी की समानता का तर्क यह है कि आर्यों के मूलस्थान से एक समुदाय जीविका की खोज में निकला। एक वर्ग ईरान में प्रविष्ट हुआ और दूसरा सप्तसिन्धु प्रदेश में। बहुत दिनों तक साथ रहने के कारण दोनों की प्रारम्भिक भाषाएँ बहुत साम्य रखती हैं। ईरान में विकसित प्रथम ग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता (Zend - Avesta, 1000 A.D) और भारतवर्ष (सप्तसिन्धु-प्रदेश) के प्रथम साहित्यिक अभिलेख ऋग्वेद-संहिता की भाषा तो परस्पर वैसा ही अन्तर रखती है जैसा संस्कृत और प्राकृत में है। ईरान में पहलवी, प्राचीन फारसी, आधुनिक फारसी का विकास कालक्रम से हुआ। इसी उपशाखा में अफगानिस्तान की पश्तो और कुर्दिश भाषाएँ हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार कश्मीरी भी इसी के अन्तर्गत है किन्तु अनेक विद्वान् इसे भारतीय आर्य शाखा में रखने की युक्तियाँ देते हैं।

भारतीय आर्यशाखा (Indo-Aryan Branch) का इतिहास भाषाशास्त्रियों के अनुसार चार सहस्र वर्षों का है जिसमें वेद से लेकर आधुनिक युग तक की भारतीय आर्यभाषाएँ अवस्थित हैं। इस शाखा के विकास को निम्नलिखित तीन चरणों में प्रदर्शित किया जाता है-

(क) **प्राचीन भारतीय आर्यभाषा** (Old Indo-Aryan)- इसका काल २००० ई०पू० से ५०० ई०पू० तक माना जाता है जबकि आर्यक्षेत्र में वैदिक या संस्कृत का सार्वजनिक प्रयोग था। इनमें साहित्यिक रचनाएँ भी मौखिक या लिखित रूप से हो रही थीं। इसे भी निम्नाङ्कित दो चरणों में रखा जा सकता है-

(१) **वैदिक युग** (२००० ई०पू०-८०० ई०पू०)- इस काल में क्रमश: वैदिक मन्त्रों (संहिताओं), ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों तक वेदाङ्गों का विकास हुआ। वेद की भाषा शनै: शनै: अनेकरूपता को छोड़ती हुई एकरूपता की दिशा में अग्रसर हुई। उपनिषदों की भाषा एक प्रकार से संक्रमण-काल की भाषा का स्वरूप प्रकट करती है। वेदाङ्ग-ग्रन्थों की रचना इस युग में आरम्भ हो गयी थी, किन्तु उन्हें परिणति परवर्ती युगों में प्राप्त हुई।

(२) **लौकिक संस्कृत युग** (८०० ई०पू०-५०० ई०पू०)- संस्कृत इस युग में 'भाषा' कही जाती थी। यास्क और पाणिनि दोनों ने इस युग की भाषा को इसी रूप में अभिहित किया है जबकि वेद की भाषा उनके लिए 'अन्वध्याय' या 'छन्दस्' थी। वैदिक तथा संस्कृत को नैरुक्तों और मीमांसकों ने समान मानने की बात कही है किन्तु वैयाकरणों ने इनमें अन्तर बताया है। पाणिनि-जैसे वैयाकरण के आविर्भाव ने लौकिक संस्कृत को स्थिरता (एकरूपता) दी जिससे इस युग की लोकसिद्ध भाषा आगे चलकर ज्ञान-विज्ञान और साहित्य में समस्त परवर्ती युगों में समादृत हुई-तब भी जब इसका लोकव्यवहार नहीं रहा।

(ख) **मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा** (Middle Indo-Aryan)- इसका काल ५०० ई०पू० से १००० ई० तक माना जाता है। इस काल में भाषा की एकरूपता नष्ट होने लगी और उसके क्षेत्रीय

रूप प्रकट होने लगे। संस्कृत या वैदिक भाषा के प्रयोग में प्रमाद, आलस्य तथा सरलता की प्रवृत्ति के कारण इस काल की भाषा ध्वनिगत विशेषताओं के कारण अपने मूल रूप से हटती गयी। उच्चारण तथा व्याकरण का सरलीकरण इसकी मुख्य पहचान बनी। १५०० वर्षों के अन्तराल में भाषा का संयोगात्मक रूप प्राय: वियोगात्मक हो गया। इसे निम्नाङ्कित तीन स्पष्ट चरणों में विभक्त किया जाता है–

(१) **प्राचीन प्राकृत तथा पालि** (५०० ई०पू० से ईस्वी सन् के आरम्भ तक)– जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर ने प्राकृत में तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने पालि में अपने-अपने धर्मोपदेश दिये। गङ्गा के तटवर्ती क्षेत्रों में पूर्व की ओर आर्यों का प्रसार हो चुका था किन्तु केवल शिक्षित समुदाय संस्कृत से इन क्षेत्रों में जुड़ा हुआ था, सामान्य जनता संस्कृत के समानान्तर, आर्येतर भाषाओं से प्रभावित, प्राकृत-पालि का प्रयोग कर रही थी। वर्धमान और बुद्ध ने अपने धर्मों का व्यापक प्रसार करने की दृष्टि से जन-भाषा में ही उपदेश तथा प्रवचन किये। उनके प्रवचन संकलित भी हुए तो उसी भाषा में। पश्चिम भाग में (सप्तसिन्धु या उससे कुछ पूर्व) अभी भी जनभाषा संस्कृत ही थी यद्यपि विकृतियों का समावेश वहाँ भी होने लगा था। अशोक ने अपने धर्मलेख शिलाओं एवं पाषाणस्तम्भों पर जनता को धर्मोपदेश देने और अपनी धार्मिक उपलब्धियों को स्थिर करने के उद्देश्य से अङ्कित कराये तो उसने भी जनभाषा का ही आश्रय लिया। उसकी भाषा को 'अशोकीय प्राकृत' कहा जाता है। इस युग में प्राकृत के क्षेत्रीय रूप बहुत स्पष्ट नहीं हुए थे फिर भी भाषा संस्कृत की अपेक्षा सरल हो गयी थी।

(२) **साहित्यिक प्राकृत** (ईस्वी सन् के आरम्भ से ५०० ई० तक)– भारत के आर्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में अनेक प्राकृतों का विकास इस काल में हुआ जिनका साहित्यिक प्रयोग होने से इन्हें 'साहित्यिक प्राकृत' (Literary Prakrits) कहा गया है। इन विविध प्राकृत भाषाओं का संस्कृत नाटकों तथा स्वतन्त्र काव्यग्रन्थों में प्रयोग किया गया। इन प्राकृतों के मुख्य पाँच भेद माने जाते हैं– माहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी तथा पैशाची। नाट्यशास्त्र में इनके उपयोग का (=संस्कृत नाटकों में) व्यापक विधान किया गया है। माहाराष्ट्री को श्रेष्ठ प्राकृत समझते थे क्योंकि इसमें संगीतात्मकता का प्राचुर्य था। शौरसेनी का मध्यदेश में व्यापक प्रयोग था। मागधी पूर्वी क्षेत्र की भाषा थी, जिसका प्रयोग प्राय: असभ्य और अशिष्ट जनों के द्वारा होता था। संस्कृत नाटकों में ऐसे पात्र आने पर उनके संवाद मागधी में ही दिये जाते थे। अर्धमागधी पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी मध्य प्रदेश में प्रचलित थी। इसमें केवल जैन साहित्य मिलता है। पैशाची सिन्ध में प्रचलित थी, इसे दण्डी ने 'भूतभाषा' कहा है। लोककथाओं का विशाल ग्रन्थ 'बृहत्कथा' (बड्डकहा) गुणाढ्य के द्वारा इसी भाषा में रचा गया था, जो अब लुप्त हो चुका है।

(३) **अपभ्रंश** (५०० ई० से १००० ई०)– विभिन्न क्षेत्रों की प्राकृतों की सहज विकृति के रूप में क्षेत्रीय अपभ्रंश-भाषाओं का विकास इस युग में हुआ। यद्यपि जनता इस युग में अपभ्रंश का व्यापक रूप से प्रयोग कर रही थी, किन्तु इस भाषा का साहित्यिक प्रयोग आगे चलकर हुआ जब जनता अपभ्रंश से विकसित नव्य आर्यभाषाओं का प्रयोग करने लग गयी थी। अपभ्रंश को अवहट्ट या देशीभाषा भी कहा गया। इस काल में नये प्रत्ययों के रूप में विभक्तियों का प्रयोग आरम्भ हुआ जिससे भाषा वियोगात्मक हो गयी (अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व परस्पर पृथक् हो गये)।

नव्य भारतीय आर्यभाषाओं को विकसित करने में क्षेत्रीय अपभ्रंशों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश के साथ क्षेत्रीय भेद स्वीकृत हैं।

(ग) नव्य भारतीय आर्यभाषा (New Indo-Aryan)- १००० ई० से अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में बदलने लगे। इनके नाम क्षेत्रों के आधार पर दिये गये हैं यद्यपि आरम्भ में इन्हें केवल 'भाषा' कहते थे। ये नव्य भाषाएँ संस्कृति में तेजी से होने वाले परिवर्तनों को आत्मसात् करती हुई जन-साहित्य की अभिव्यक्ति में लग गयीं। तुर्क-अफगान विजेताओं ने भारत के भिन्न-भिन्न भागों का ग्रहण करके नव्य भाषाओं में साहित्य-रचना का मार्ग भी प्रशस्त किया।[1] गुजराती, मराठी, राजस्थानी, पंजाबी, सिन्धी, डोगरी, नेपाली, हिन्दी, मैथिली, बंगला, उड़िया तथा असमिया प्रमुख नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ हैं। इनमें कुछ भाषाओं में प्राचीन साहित्य उपलब्ध है जो १००० ई० के आस-पास ही आरम्भ हुआ था। विगत एक सहस्र वर्षों में इनमें बड़े परिवर्तन हुए हैं जो किसी नव्य भारतीय आर्यभाषा का अनुशीलन करने वाले व्यक्ति की रुचि के हैं। इस काल में विदेशी सम्पर्क का सर्वाधिक प्रभाव साहित्य में प्राप्त होता है जो अभी तक आर्य भाषाओं में सीमित था। इस युग में तो एक ओर पश्चिमी आक्रान्ताओं का प्रभाव था तो दूसरी ओर दक्षिण-पूर्व की आर्येतर भारतीय भाषा-परिवारों का भी प्रभाव व्याप्त हो रहा था।

संस्कृत की स्थिरता

संस्कृत का विकास इससे निर्गत भाषाओं के रूप में तो हो ही रहा था, किन्तु अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से यह भाषा इन समस्त परवर्ती युगों में शिक्षा और साहित्य की दृष्टि से सुरक्षित रही। प्राकृत, अपभ्रंश और नव्य आर्यभाषाओं ने संस्कृत से उसी प्रकार विषयवस्तु और रचना-विधि का ग्रहण किया जिस प्रकार यूरोप में ग्रीक साहित्य और रोमन साहित्य का ग्रहण बाद तक होता रहा था। संस्कृत में भी रचनाएँ-प्रौढ रचनाएँ परवर्ती युगों में होती रहीं। भाषा में अभिव्यक्ति की शैली बदलती गयी किन्तु उसका व्याकरण पूर्ववत् रहा। शब्दकोश में भी यथावसर परिवर्तन होता रहा था। संस्कृत से मध्यकालीन आर्यभाषाओं का सम्बन्ध न्यूनाधिक रूप से बना हुआ था क्योंकि वे अपने स्वरूप की दृष्टि से संस्कृत पर आश्रित थीं किन्तु नव्य आर्यभाषाओं के युग में जनभाषा और संस्कृत के बीच खाई बन गयी जो क्रमशः चौड़ी होती गयी।[2] फिर भी संस्कृत का सम्बन्ध भारत की प्राचीन संस्कृति से बना रहा और जो कोई भी धर्म, विद्या, कला-कौशल, शिक्षा इत्यादि क्षेत्रों में संस्कृत का आश्रय लेता था उसे अन्य लोगों की अपेक्षा गौरव का पद मिलता था। भारत के निवासियों में वर्तमान शताब्दी के पूर्व तक संस्कृतज्ञों के प्रति ऐसा ही समादर-भाव रहा था।

संस्कृत अपने आरम्भिक काल में आर्य-क्षेत्र में सार्वजनिक भाषा थी। आर्यों का प्रसार और प्रभाव जब अन्य क्षेत्रों में बढ़ा तब उन क्षेत्रों में संस्कृत केवल उच्चतर वर्ग की भाषा बन

१. डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी - **इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी** (द्वि० सं०, १९६०), पृ० १०३।

2. **Indo Aryan and Hindi**, p. 103- Sanskrit was not exactly dead,- it was studied in the mass of the ancient literature and it was employed by the scholars to write all serious treatises and all higher literature; and as the spoken languages deviated farther and farther away from the Old Indo-Aryan norm presented by Sanskrit, the former or outward cleavage between the two grew greater than ever.

कर गयी, जन-समुदाय प्राकृत या अन्य भाषाएँ बोलता था। संस्कृत के अनेक विकृत रूपों में विभक्त होने के भय से इसे व्याकरणिक स्थिरता प्रदान की गयी- पूरी भाषा का सर्वेक्षण अन्वाख्यान के रूप में पाणिनि ने किया। यह अन्वाख्यान लोगों को ऐसा प्रिय लगा कि इसी रूप को सार्वत्रिक मान्यता मिल गयी। फिर भी पाणिनि ने संस्कृत-प्रयोग के जिस लक्ष्य को चुना था वह मुख्य रूप से सप्तसिन्धु-प्रदेश के पुरोहितों की भाषा थी,[1] रामायण-महाभारत तथा पुराणों की भाषा इस लक्ष्य से पृथक् थी, पाणिनीय प्रदेश से पूर्व की भाषा थी। इसीलिए वहाँ अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। पाणिनि के बाद संस्कृत कवियों और साहित्यकारों ने भाषा के विषय में पाणिनीय नियमों का अधिक से अधिक पालन किया। यह परम्परा आज तक चल रही है।

संस्कृत का मानदण्ड पाणिनि के नियमों से निर्धारित होने लगा किन्तु भाषा के रूप में यह संस्कृत भी अनेक स्तरों की हो गयी। शिक्षित वर्गों की विद्या-सम्बन्धी (अर्थात् अकादमिक) भाषा के रूप में पाणिनीय संस्कृत ही निश्चित मानदण्ड के रूप में स्थिर हो गयी किन्तु इसके विविध रूप (विकृति की अवस्था में) उन वर्गों में प्रचलित हुए जो आरम्भ में संस्कृत का विरोध कर रहे थे। बौद्धों के द्वारा प्रथम शताब्दी ई० में पुनः संस्कृत को अपनाया गया तो वह संस्कृत अपने मानदण्ड से दूर हो गयी थी। पाणिनीय नियमों की उसमें उपेक्षा हो रही थी। ललित-विस्तर, दिव्यावदान जैसे ग्रन्थों में ही नहीं, अश्वघोष और आर्यशूर के ग्रन्थों में भी संस्कृत के मानदण्ड को चुनौती देते हुए इस भाषा का प्रयोग किया गया। लोगों का विश्वास था कि हम जिस रूप में भी संस्कृत का प्रयोग करें, किन्तु विद्या के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा यही हो सकती है। ज्ञान की रक्षा इसी से हो सकती है।

चरकसंहिता से ज्ञात होता है कि उस काल में (प्रथम शताब्दी ई०पू०) आयुर्वेदिक संस्थाओं के शास्त्रार्थों में संस्कृत का व्यवहार होता था। वात्स्यायन के **कामसूत्र** में[2] सभ्य नागरक को प्रेरणा दी गयी है कि शिष्ट समाज में अपने वार्तालाप में संस्कृत और देशभाषा का प्रयोग करे। ह्वेनसांग ने बौद्ध विद्वानों को वाद-विवाद में संस्कृत का प्रयोग करते हुए देखा था। जैन विद्वान् सिद्धर्षि ने अपनी **उपमितिभवप्रपञ्चकथा** में मानव-जीवन के रूपकात्मक वर्णन के लिए संस्कृत भाषा के प्रयोग का कारण यही बतलाया है कि शिष्ट लोग संस्कृत से भिन्न भाषाओं को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे दावा करते हैं कि प्राकृत को पसन्द करने वाले लोग भी सरलता से संस्कृत को समझ सकते हैं।[3] **पञ्चतन्त्र** के आरम्भ में भी कहा गया है कि इसकी रचना राजकुमारों को संस्कृत तथा लोकव्यवहार की शिक्षा देने के लिए की गयी है। बिल्हण (१०६० ई०) कहते हैं कि उनकी मातृभूमि कश्मीर की स्त्रियाँ भी संस्कृत, प्राकृत तथा अपनी मातृभाषा को अच्छी तरह समझ लेती हैं।

---

१. ए. बी. कीथ- **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ०१५।

२. **कामसूत्र** ४/२०।

३. **उपमितिभवप्रपञ्च कथा** १/५१-५२

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामपि भासते॥

बौद्धों और जैनों के द्वारा धर्म और भाषा के विषय में छठी शताब्दी ई० पू० में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये जाने से कुछ दिनों के लिए संस्कृत को आघात पहुँचा था क्योंकि छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर दूसरी शताब्दी ई० पू० तक लौकिक साहित्य के रूप में संस्कृत भाषा की उपेक्षा हुई। इसी काल में अशोक ने अपने राज्य के विस्तृत भूभाग में अपने धर्मलेख प्राकृत में लिखवाये। इनका उद्देश्य यही था कि जन-सामान्य इन्हें समझे। अभिलेख की प्राकृत-परम्परा धीरे-धीरे समाप्त हो गयी क्योंकि अन्त में यह सिद्ध हो गया कि संस्कृत ही वह भाषा है जो जन-समुदाय को सर्वथा आकृष्ट करेगी और युगों तक स्थिर रहेगी। प्रथम शताब्दी ई० से तो संस्कृत के अभिलेख मिलने लगते हैं। गुजरात के पश्चिमी भाग में स्थित जूनागढ़ की पहाड़ी में अंकित रुद्रदामन् का गिरिनगर शिलालेख, जो अलंकृत संस्कृत गद्य के लम्बे वाक्य के रूप में है, संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार का परिचायक है (१५० ई०)। गुप्तकाल में तो सभी अभिलेख संस्कृत में ही अंकित हुए।

प्राकृत के साथ संस्कृत का संघर्ष प्रथम शताब्दी ई० तक मिलता है। कीथ के अनुसार ललितविस्तर और **महावस्तु** जैसे बौद्ध ग्रन्थों में एक प्राकृत को संस्कृत में परिवर्तित करने के प्रयत्न के परिणाम मिलते हैं।[1] किन्तु बौद्ध लोग शीघ्र उस स्थिति की ओर बढ़े जिसमें वास्तविक संस्कृत का प्रयोग हो। द्वितीय शताब्दी ई० के दिव्यावदान में ऐसी ही स्थिति मिलती है। जैनों ने संस्कृत के प्रति ऐसी आस्था अपेक्षाकृत विलम्ब से अपनायी। सिद्धों और आगमों की भाषा प्राकृत को छोड़कर अन्ततः उन्होंने भी संस्कृत के प्रयोग को स्वीकार कर ही लिया। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर १००० ई० तक बौद्धों और जैनों का प्रायः सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत मे ही है। बौद्ध अपने मूल क्षेत्र से दूर विदेशों में तथा जैन भी अपने मूलक्षेत्र (उत्तरभारत) से बाहर दक्षिणी भारत में क्रमशः पालि और प्राकृत का प्रयोग करते रहे। उनके प्रधान क्षेत्र में जहाँ संस्कृत के विरोध में क्रान्ति हुई थी, संस्कृत पुनः प्रतिष्ठित हो गयी।

१००० ई० के आसपास संस्कृत पर पुनः आक्रमण हुआ। मुसलमानों की विजय के फलस्वरूप फारसी तथा नव्य भारतीय भाषाओं का वर्चस्व बढ़ा। साहित्य की अभिव्यक्ति इन भाषाओं में भी होने लगी किन्तु अभी भी भारतीय विद्याओं की शिक्षा और प्रकाशन की भाषा संस्कृत ही बनी रही। यहाँ तक कि भक्ति-आन्दोलन के समय का साहित्य जो नव्य भारतीय भाषाओं में रचा जा रहा था, भक्ति-सिद्धान्त के मूल ग्रन्थों के रूप में संस्कृत में ही शास्त्रीय रूप प्राप्त कर सका। काव्य, नाटक, चम्पू, शास्त्र-ग्रन्थ आदि भी संस्कृत में नव्य आर्य भाषाओं तथा फारसी की अपेक्षा अधिक संख्या में रचे गये। समृद्ध परम्परा के कारण किसी क्षेत्र में ग्रन्थ निर्माण के विषय में कोई अन्य भाषा इसकी तुलना नहीं कर सकती थी। अन्य भाषाओं की दीर्घकालीन साहित्य-परम्परा प्राप्त नहीं थी।

इस प्रकार वैदिक युग से लेकर संस्कृत-साहित्य की मन्दाकिनी अजस्र रूप से आज तक प्रवाहित होती रही है। जिस युग में इस पर आघात किया गया, उसमें भी इसकी अन्तर्धारा कुण्ठित नहीं हुई। लोक-साहित्य न रचे जाने की स्थिति में धार्मिक साहित्य ही लिखा गया, वह भी अवरुद्ध हुआ तो वैज्ञानिक साहित्य (आयुर्वेद, ज्योतिष) की रचना हुई। काव्य-साहित्य तो कभी अवरुद्ध हुआ ही नहीं, क्योंकि कवियों को 'स्वान्तः सुखाय' रचना करने से कौन रोकने वाला था? समस्त

१. ए. बी. कीथ- **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ० १८।

संस्कृत साहित्य जन-सामान्य को आवर्जित करने के लिए ही नहीं लिखा गया, इसमें ऐसी निर्मिति-प्रेरणा थी कि कवियों को विवश होकर कुछ अभिव्यक्त करना ही पड़ता था। भारतीय मानस और अभिरुचि को उदात्त बनाने के लिए संस्कृत भाषा ने जितना कार्य किया, उतना किसी भी उपादान का योगदान नहीं है। राजनीतिक आघातों तथा धर्म की क्रान्तियों से भी संस्कृत की आन्तरिक जीवनी शक्ति पर न्यूनतम प्रभाव पड़ा। स्थिरता और एकरूपता की दृष्टि से आज भी रामायण-कालीन भाषा का प्रयोग साहित्य-रचनाओं में होता है यद्यपि अभिव्यक्ति की भंगी परिवर्तित लग सकती है। भारतीय वेश-भूषा, धर्म और आहार-विचार में यदि आज भी कोई वैदिक युग, गुप्त-युग, मुगल-युग में दिखाई पड़ता है तो साहित्य प्रयोग में भी कभी रामायण से, कभी कालिदास से, कभी बाण से और कभी बिल्हण से प्रभावित रचना-शैलियाँ आज भी देखी जा सकती हैं। भारत की सामासिक संस्कृति आधुनिक संस्कृत साहित्य में सम्यक् रूप में मिलती है।

संस्कृत का वाग्व्यवहार (बोलचाल में प्रयोग)

संस्कृत भाषा में इतना विपुल साहित्य है कि इस दृष्टि से यह सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं से आगे है; विचारों की शालीनता, भावनाओं की पावनता तथा अभिव्यक्ति की व्यापकता में तो इसकी तुलना किसी से की ही नहीं जा सकती। इतिहास के आरोहों और अवरोहों से प्रभावित होकर भी इस भाषा ने साहित्य के दीपक को कभी बुझने नहीं दिया। सरल से सरल और जटिल से जटिल अभिव्यक्तियों को अपने गर्भ में रखने वाली यह भाषा भारत की प्राचीनतम और अर्वाचीनतम मेधा और प्रतिभा से अनुप्राणित होती रही है। साहित्य के रूप में तीव्र प्रवाह के समान निर्गत इस भाषा का केवल साहित्यिक प्रयोग हुआ है या यह सामान्य बोलचाल की भी भाषा थी- इस विषय में कुछ भाषा-शास्त्रियों ने विवाद उत्पन्न किया है। ये भाषाशास्त्री संस्कृत को बिल्कुल कृत्रिम भाषा बतलाते हैं जो प्राकृत को परिमार्जित करके बनी थी। उनका यह तर्क है कि भाषा का विकास एक वृक्ष के समान होता है जिसमें वृद्धि, पल्लवन, पुष्पोद्गम, फल आदि की अवस्थाएँ होती हैं- भाषा का रूप सदैव परिवर्तित होता है। किन्तु संस्कृत का रूप आज भी वही है जैसा ढाई सहस्र वर्ष पूर्व पाणिनि के समय था। भाषा का विकासोन्मुख नहीं रहना ही उसका मरण है। वैदिक भाषा से संस्कृत भाषा का विकास हम भले ही मान लें क्योंकि दोनों में कई भाषिक क्षेत्रों में अन्तर है, किन्तु संस्कृत में विकास के लिए कोई अवकाश पाणिनि के प्रति हमारी श्रद्धा ने नहीं रहने दिया। संस्कृत की प्रगति भाषा के रूप में अवरुद्ध हो गयी यद्यपि साहित्य के रूप में इसका क्रिया-कलाप चलता रहा।

दूसरी ओर विद्वानों का बहुत बड़ा दल संस्कृत को बोलचाल की भाषा के रूप में स्वीकार करता है। उनके अनुसार यह भाषा कभी मृत नहीं हुई। केवल साहित्य-रचना ही इसमें नहीं हुई, यह शिक्षा, शास्त्रार्थ और सामान्य वार्तालाप में भी प्रयुक्त होती रही है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल में यह जनसामान्य में प्रयुक्त होती थी; कालक्रम से जब बौद्ध और जैन धर्म ने जनभाषा में अपने उपदेश पूर्वी भारत में आरम्भ किये तब से कुछ समय के लिए इसका व्यापक रूप अवरुद्ध भले ही हो गया, किन्तु इसकी जीवनी शक्ति समाप्त नहीं हुई। मध्यकालीन और नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के युगों में भी यह भाषा शिक्षा और विद्या-सम्बन्धी सभी कार्यों में प्रयुक्त होती रही; इसकी यह स्थिति न्यूनाधिक रूप से आज भी विद्यमान है।

यहाँ संस्कृत के वाग्व्यवहार में आने के कुछ साधक तर्क दिये जाते हैं-

(१) **यास्क** (७०० ई०पू०) ने अपने **निरुक्त** में संस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है- **नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्** , उभयमन्वध्यायम् (निरुक्त १/४), **नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्** (निरुक्त १/५), **अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते** (=भाषा में प्रयुक्त होनेवाली धातुओं से वेदों में प्रयुक्त कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है, निरुक्त २/२)। इससे स्पष्ट है कि यास्क के काल तथा उनके निवासस्थान में संस्कृत का प्रयोग एक जनभाषा के रूप में था।

निरुक्त में संस्कृत की बोलियों का भी निर्देश है कि एक क्षेत्र में तो किसी धातु के आख्यात (तिङन्त) रूप का प्रयोग होता है जबकि दूसरे क्षेत्र में उससे निष्पन्न कृदन्त शब्द का प्रयोग प्रचलित है- शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव **भाष्यते**,....विकारमस्यार्येषु **भाषन्ते 'शवः' इति। दाति लवनार्थे प्राच्येषु** दात्रमुदीच्येषु (निरुक्त २/२)। अर्थात् गत्यर्थक **'शवति'** (=जाता है) ऐसा आख्यात-रूप प्रयोग कम्बोज-क्षेत्र में होता है जबकि इसी क्रिया के कृदन्त-रूप 'शवः' (गया, मृत हो गया) का प्रयोग आर्य-क्षेत्र में होता है। 'दाति' (काटता है) का प्रयोग प्राच्य-क्षेत्र में है जबकि शरावती नदी के उस पार के उदीच्य-क्षेत्र में इसके विकार-रूप 'दात्रम्' (कुल्हाड़ी) का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार विभाषागत (dialectal) अन्तर भाषा के जीवित होने का लक्षण है।

(२) वाल्मीकीय **रामायण** में द्विजातियों तथा सामान्य लोगों के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत में अन्तर बताया गया है। सीता से वार्तालाप का विचार करते हुए हनुमान् मन में कहते हैं कि यदि द्विजातियों के समान मैं परिनिष्ठित संस्कृत का प्रयोग करूँ तो सीता मुझे रावण समझ लेगी और भयभीत हो जायेगी-

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥[1]

रावण स्वयं शिक्षित होने के कारण परिनिष्ठित संस्कृत बोलता था, ऐसी कल्पना कवि ने की है। हनुमान्-जैसे दूत से वैसी संस्कृत की अपेक्षा सीता नहीं कर सकती। अतएव वे विचार करते हैं कि वानर होने के कारण सीता को विश्वास दिलाने के लिए मैं सामान्य मानव वाली संस्कृत (असावधानी से बोली गयी भाषा) बोलूँ-

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥[2]

यहाँ 'द्विजातिरिव संस्कृताम्' और 'मानुषीमिह संस्कृताम्' पर ध्यान देने से दो प्रकार की संस्कृत का अन्तर स्पष्ट होगा। एक ही भाषा शिष्ट समाज में और जन-सामान्य में दो प्रकार से बोली जाती है। हनुमान् की परिनिष्ठित भाषा की प्रशंसा राम ने अन्यत्र की है-

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥[3]

---

१. **वाल्मीकीय रामायण** ५/३०/१८। २. **वाल्मीकीय रामायण** ५/३०/१।
३. वही ४/३/३०।

इन्होंने निश्चित रूप से पूरा-का-पूरा व्याकरण बार-बार सुना है क्योंकि इतना अधिक बोलने पर भी इनकी भाषा में एक भी अपशब्द (अशुद्ध शब्द) नहीं आया। वही हनुमान् कार्यवश सीता के समक्ष मानुषी संस्कृत पर उतर आते हैं।

वाल्मीकीय रामायण के अरण्यकाण्ड में 'संस्कृत' का भाषा-विशेष के रूप में प्रयोग आया है जिसके द्वारा वातापि का भाई इल्वल ब्राह्मणों को श्राद्ध के निमित्त बुलाता था और उन्हें मेषरूपधारी वातापि का मांस खिलाकर मार डालता था। अगस्त्य ऋषि ने उन दोनों भाइयों को समाप्त किया था-

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान्स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥[1]

(३) **पाणिनि** अपनी अष्टाध्यायी में 'संस्कृत' के लिए यास्क के समान 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग करते हैं जैसे- **भाषायां सदवसश्रुवः** (३/२/१०८)। **पूर्वं तु भाषायाम्** (८/२/९८)। पाणिनि ने स्पष्ट किया है कि वे संस्कृत भाषा को किसी बन्धन में जकड़ नहीं रहे हैं अपितु अपने युग में शिष्टजनों के द्वारा प्रयुक्त वाग्व्यवहार का निरीक्षण तथा विश्लेषण (अन्वाख्यान) कर रहे हैं। उनके कुछ सूत्र इसका स्पष्ट निर्देश करते हैं जैसे- **भूतेऽपि दृश्यन्ते** (३/२/२) अर्थात् उणादि प्रत्यय सामान्यतः वर्तमानकाल के अर्थ में ही होते हैं किन्तु ये कभी-कभी भूतकाल के अर्थ में भी पाये जाते हैं। यह संस्कृत के दैनन्दिन प्रयोग का ही प्रमाण है।

अष्टाध्यायी में भी प्राच्य और उदीच्य लोगों की संस्कृत-बोलियों में होने वाले अन्तर को स्पष्ट किया है जैसे- **एङ् प्राचां देशे** (१/१/७५) इसके अनुसार एङ् (ए ओ) के रूप में प्रथम स्वरवर्ण वाला शब्द प्राच्यदेश के वाग्व्यवहार में वृद्धसंज्ञक होता है। **उदीचामिञ्** (४/१/१५३), **उदीचां वृद्धादगोत्रात्** (४/१/१५७), **उदीचां माङो व्यतीहारे** (३/४/१९) इत्यादि। काशिकावृत्ति में प्राच्य और औदीच्य देशों की विभाजक-रेखा शरावती नदी (आधुनिक नाम-शरदण्डा) को माना गया है।[2] पाणिनि के बाद इन अन्तरों को विकल्प के रूप में समझा गया कि प्राच्य और औदीच्य दोनों प्रयोग संस्कृत में उचित हैं किन्तु पाणिनि एक क्षेत्र की बोली को दूसरे क्षेत्र में प्रयुक्त न देखकर ही ऐसा निरीक्षण करते हैं।

अष्टाध्यायी में प्लुत स्वर (देर तक उच्चरित) के विधान भी संस्कृत के जन-प्रयोग के सूचक हैं। प्रत्येक भाषा में प्लुत के अपने-अपने नियम हैं। दूर से पुकारने में या प्रत्यभिवादन (प्रणाम का उत्तर देना) में वाक्य का अन्तिम स्वर प्लुत होता था जैसे-आगच्छ देवदत्त३, आयुष्मान्भव देवदत्त३ इत्यादि। प्लुत के प्रयोग पर पाणिनि ने अनेक सूत्रों में अपने निरीक्षण प्रस्तुत किये हैं।[3] ये संस्कृत के दैनिक प्रयोग पर ही आश्रित हैं।

इनके अतिरिक्त वाग्व्यवहार के कतिपय विशिष्ट शब्द भी पाणिनि ने निष्पन्न माने हैं जैसे-

---

१. वही ३/११/५७

२. **काशिका** १/१/७५ प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥

३. **अष्टाध्यायी** ८/२/८२ तथा आगे पाद की समाप्ति तक। मुख्य सूत्र- प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (८३), दूराद्धूते च (८४), ओमभ्यादाने (८७)। प्लुत स्वर कहीं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित होते थे।

दण्डादण्डि, केशाकेशि,[1] भोजम्भोजं व्रजति- भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति (खा-खा कर चलता है),[2] कन्यादर्शं वरयति (जहाँ-जहाँ कन्या देखता है, उनका वरण कर लेता है),[3] मूलकोपदंशं भुङ्क्ते (बीच-बीच में मूली चखते हुए भोजन करता है)[4] इत्यादि। ये उदाहरण न केवल तात्कालिक जीवन का निर्देश करते हैं अपितु विभिन्न क्रियाओं की अभिव्यक्ति में संस्कृत-भाषा के व्यवहार का भी संकेत देते हैं। वस्तुतः पाणिनि ने संस्कृत वाग्व्यवहार के इतने संकेत दिये हैं कि एक पृथक् पुस्तक बन सकती है।

(४) **कात्यायन** (३५० ई०पू०) अपने वार्तिकों में स्पष्ट कहते हैं कि लोक में प्रचलित शब्दों के आधार पर ही व्याकरण लिखा गया है (लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म-नियमः- महाभाष्य, आह्निक-१)। पाणिनि के समय की भाषा में अनेक परिवर्तन हो गये थे, इसीलिए उनका समावेश करने के लिए कात्यायन को वार्तिक लिखने पड़े थे। हिम, अरण्य और यवन से पाणिनि के समय में स्त्रीलिंग-मात्र में हिमानी, अरण्यानी तथा यवनानी का प्रयोग होता था। किन्तु कात्यायन के समय में इनका विशिष्ट अर्थ होने लगा था- हिमारण्ययोर्महत्त्वे (महद् हिमं हिमानी, महदरण्यम्-अरण्यानी), यवनाल्लिप्याम् (यवनानां लिपिः -यवनानी)। एक वार्तिक है- सर्वे देशान्तरे। इसके अनुसार विविध प्रदेशों और देशों में प्रयुक्त धातुओं और शब्दरूपों को आधार बनाकर ही धातुपाठ, गणपाठ आदि का संकलन हुआ है।

(५) **पतञ्जलि** (१५० ई०पू०) के महाभाष्य में इस विषय की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। व्याकरण का उद्देश्य प्रचलित शब्द और अर्थ को आधार बनाकर प्रवृत्त होना है (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे), लोकव्यवहार ही अर्थबोध का नियामक होता है (लोकतः),दाक्षिणात्य लोग (जैसे-कात्यायन) तद्धित का प्रयोग रुचिकर मानते हैं जिससे 'लोके वेदे च' न कहकर 'लौकिकवैदिकेषु' कहते हैं (लोक+ठक्=लौकिक, वेद+ठक्=वैदिक)। महाभाष्यकार ने यास्क द्वारा दिये गये क्षेत्रीय भेदों को आगे बढ़ाकर कुछ अन्य उदाहरण भी दिये हैं- 'हम्मतिः' सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्यमेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते (सुराष्ट्र देश में 'हम्मति', प्राच्य और मध्यम देश में 'रंहति' का प्रयोग गति के अर्थ में होता है जबकि आर्यक्षेत्र में 'गच्छति' का ही प्रयोग चलता है)। उन्होंने एक दृष्टान्त देकर बताया है कि वैयाकरण की अपेक्षा एक सारथि को शब्दों का व्यावहारिक ज्ञान अधिक होता है। वैयाकरण के 'प्रवेता' (हाँकने वाला) प्रयोग को अशुद्ध बताकर सारथि 'प्राजिता' को शुद्ध बताता है और कहता है कि आप तो केवल सूत्र के आधार पर शब्दों की रचना जानते हैं; लोक-व्यवहार में कौन शब्द चल रहा है, इसे नहीं जानते।[5] वैयाकरण क्रोध में आकर 'दुःसूत' के स्थान पर सारथि को 'दुरुत' कहता है, यह स्थिति देखकर सूत कहता है कि 'सूत' सु+उत (वेञ्+क्त) से नहीं बना अपितु 'षू प्रेरणे,' (तुदादिगणीय धातु-सुवतेरेव सूतः) से बना है। जिस भाषा के सही प्रयोगों को सूत (सारथि) भी समझता हो, वह अवश्य बोलचाल

१. अष्टा० २/२/२७ तत्र तेनेदमिति सरूपे, ६/४/१२७ इच् कर्मव्यतिहारे।

२. अष्टा० ३/४/२२ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च। ३. अष्टा० ३/४/२९ कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये।

४. अष्टा० ३/४/४७ उपदंशस्तृतीयायाम्। मूलकादि चापदंशेः कर्म, भुजेः करणम् (काशिका)।

५. **महाभाष्य** २/४/५६ एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह-'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति। सूत आह- 'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति। वैयाकरण आह-'अपशब्दः' इति। सूत आह-प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, न त्विष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपमिति।

की भाषा होगी। इस आधार पर कई पाश्चात्य विद्वानों ने अनुमान किया है कि द्वितीय शताब्दी ई०पू० में हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती समस्त आर्यावर्त में संस्कृत बोली जाती थी।[1]

(६) बौद्ध कवि अश्वघोष ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए देशभाषा को छोड़कर संस्कृत का आश्रय लिया था क्योंकि संस्कृत के द्वारा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार अधिक लाभप्रद प्रतीत हुआ था। बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने भी इसी प्रकार अपने दर्शन-ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे। यह संस्कृत की गरिमा तथा जन-प्रचार का सूचक है। प्राय: अश्वघोष के समकालीन (प्रथम शताब्दी ई०) महर्षि चरक ने उल्लेख किया है कि वैद्यों के बीच वार्तालाप के लिए संस्कृत भाषा उपयुक्त है।

(७) द्वितीय शताब्दी ई० से लेकर १९वीं शताब्दी ई० तक, कुछ जैन अभिलेखों को छोड़कर, सभी अभिलेख (स्तम्भलेख, दानपत्र, शासनपत्र, राजस्तुति, स्मारक लेख, मुद्राओं पर लेख) संस्कृत भाषा में ही मिलते हैं। अभिलेख जनवर्ग के बोधार्थ ही लिखे जाते हैं।

(८) ह्वेनसांग के अनुसार बौद्ध लोग शास्त्रीय वाद-विवाद या शास्त्रार्थ में संस्कृत का प्रयोग करते थे। जैनों के समाज में भी वही स्थिति थी। इन्होंने अपने समाजों के लिए पृथक् संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थ भी विकसित किये थे। बौद्धों के बीच चान्द्रव्याकरण तथा पाणिनि-तन्त्र की काशिकावृत्ति प्रचलित थी, जैनों में शाकटायन और सिद्धहेमशब्दानुशासन का प्रचार हुआ। जैनों ने प्राकृत को सर्वथा छोड़ा नहीं, किन्तु बौद्धों ने सर्वात्मना संस्कृत को अपना लिया था।

(९) संस्कृत नाटकों का भाषानुशासन संस्कृत-प्राकृत दोनों का समानस्तरीय प्रयोग सूचित करता है। उच्च वर्ग के लोग संस्कृत बोलते थे और सामान्य वर्ग के लोग प्राकृतों का प्रयोग करते थे। प्राकृत बोलने वाले भी आवश्यकतावश संस्कृत बोल लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि किसी वर्ग को कोई भाषा समझने में कठिनाई नहीं थी। संस्कृत नाटकों का वास्तविक अभिनय होता था। जनता भी दोनों भाषाओं को समझती थी, तभी अभिनय संभव था। साहित्य में इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे संकेत मिलते हैं कि रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थों का पाठ जन-साधारण के समक्ष होता था और जनता उसका रसास्वादन करती थी।[2]

(१०) कुछ राजाओं के काल में संस्कृत को इतना अधिक प्रश्रय मिला कि सामान्य जनता भी संस्कृत बोलने में गर्व का अनुभव करती थी। इस सम्बन्ध में गुप्त नरेशों तथा धारा के राजा भोज के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने संस्कृत के प्रयोग को प्रोत्साहित किया था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उल्लेख किया है कि उज्जयिनी के एक राजा के अन्त:पुर में संस्कृत का ही प्रयोग होता था।

(११) कश्मीरी कवि बिल्हण (११वीं शताब्दी ई०) ने लिखा है कि कश्मीरी स्त्रियाँ संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा (कश्मीरी) तीनों का समान रूप से प्रयोग करती थीं-

यत्र स्त्रीणामपि किमपरं मातृभाषावदेव
प्रत्यावासं विलसति वचः प्राकृतं संस्कृतं च।[3]

---

१. ए० ए० मैकडोनल-**संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनु०), पृ० १९।

२. वही, पृ० २०।

३. **विक्रमाङ्कदेवचरित** १८/६

(१२) भारत के पूर्वी उपनिवेशों में, विशेष रूप से चम्पा (आधुनिक वियतनाम में अनाम) में, १३वीं-१४वीं शताब्दी ई० तक संस्कृत राजभाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी। चीनी संस्कृति के आगमन से इसका प्रयोग बन्द हो गया।

(१३) विदेशी विद्वानों में मैकडोनल[१], विन्टरनित्स[२], पाल डायसन, विण्डिश, हर्टल, आदि ने अपने संस्मरणों तथा तथ्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में ही नहीं, आधुनिक युग में भी संस्कृत का भाषा के रूप में प्रयोग होता है। विन्टरनित्स ने शान्तिनिकेतन में बहुसंख्यक दर्शकों के बीच मुद्राराक्षस और उत्तररामचरित नाटकों के कुछ अंशों का अभिनय देखा था। पाल डायसन लिखते हैं कि संस्कृत के परम्परागत विद्वान् तथा भारतीय विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक तो धाराप्रवाह संस्कृत भाषण करते ही हैं और उनके श्रोता भी उन्हें अनायास समझ लेते हैं।... संस्कृत बोलने वालों का क्षेत्र इससे कहीं बड़ा है- अनेक साधु, यति तथा सामान्य जन भी इसमें सरलता से वार्तालाप करते हैं। मैंने अनेक बार घंटों बनारस के महाराज से संस्कृत में वार्तालाप किया है।[३]

(१४) आधुनिक युग में भी संस्कृत में वार्तालाप, पत्र-व्यवहार, शास्त्रार्थ, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, काव्य-रचना, ग्रन्थलेखन, हिन्दू संस्कारों का अनुष्ठान, परीक्षाओं में माध्यम-भाषा इत्यादि के कारण संस्कृत जीवित है। किसी मृतभाषा को न तो इतना सम्मान मिलता है और न ही उसका व्यापक प्रयोग होता है।

इससे सिद्ध होता है कि कुछ शताब्दियों तक संस्कृत सम्पूर्ण आर्यक्षेत्र की भाषा थी। लोकभाषाओं का उद्भव होने पर भी यह समाज के अभिजात वर्ग की भाषा अवश्य बनी रही। विशेष रूप से शिक्षित और शिष्ट समाज में वह आज के भारतीय शिक्षित समाज में प्रचलित अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से प्रचलित थी। जन-सामान्य में जो लोग संस्कृत बोल नहीं पाते थे, वे उसे समझ अवश्य लेते थे।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी), पृ० १९-२०
२. भारतीय साहित्य का इतिहास (हिन्दी) भाग-१, खण्ड-१, पृ०३२।
३. उसी पुस्तक में पृ०३२ की पाद-टिप्पणी सं०२ द्रष्टव्य।

अध्याय-२

वैदिक साहित्य-संहिताएँ

'वेद' का अर्थ

ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' ही है। यह ज्ञान समस्त आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान के स्रोत या आधार के रूप में है। इसे ईश्वरीय ज्ञान कहें या प्राचीनतम ऋषियों के द्वारा अपनी प्रतिभा से प्राप्त सत्य ज्ञान कहें, 'वेद' शब्द के वाच्यार्थ के रूप में ही है। समस्त भारतीय विद्या के उत्स के रूप में स्थित यह ज्ञान अभ्यर्हित है, पूज्य कोटि में स्थापित है। यह भारत के ही नहीं, अपितु जगत् के प्राचीनतम साहित्य के रूप में आदि-संस्कृति के ज्ञान का स्रोत है। वैयाकरण लोग 'वेद' शब्द का निर्वचन भाव अर्थ में (=ज्ञान या जानना) नहीं करके करण अर्थ में (=ज्ञान का साधन) करते हैं- **विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः** अर्थात् जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाये वही वेद है।

वेद परम-प्रमाण अर्थात् आगम या शब्द-प्रमाण में उत्कृष्ट है। मीमांसकों ने कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से हम जिस उपाय या ज्ञान को नहीं पा सकते उसे वेद बता सकता है अर्थात् वेद ज्ञान के समस्त उपायों में श्रेष्ठ है। वेद से वह ज्ञान मिलता है जिसे प्राप्त करने के लिए अन्य कोई साधन इस जगत् में नहीं-

> **प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।**
> **एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥**

सायण ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य की भूमिका में इसी आशय से लिखा है कि इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवारण के लिए अलौकिक उपाय बताने वाला ग्रन्थ वेद है (**इष्टप्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः**)। यह अर्थ कर्मकाण्डियों की दृष्टि से किया गया है। गुरु-शिष्य-परम्परा के द्वारा सुरक्षित किये जाने के कारण अर्थात् गुरु के द्वारा उच्चरित वाक्यों को शिष्य द्वारा श्रवण करके स्मरण रखने के कारण वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। इस श्रुति परम्परा के द्वारा वेद के वाक्यों को अद्यावधि सुरक्षित रखा गया है। इतने दीर्घकाल तक किसी साहित्य की मौखिक परम्परा और सुरक्षा का इतिहास नहीं है। यह वेदों के प्रति भारतीय अध्येताओं की आस्था का द्योतक है। आधुनिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि से 'वेद' वह शब्दराशि है जो भारतवर्ष में प्राचीन ऋषियों के द्वारा सर्वप्रथम प्रकट हुई और जिसे कालान्तर में याज्ञिक उपयोग के लिए संहिताबद्ध किया गया। तदनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में प्राचीन ज्ञानराशि को चार वर्गों में विभाजित किया गया।

वेद का स्वरूप

प्राचीन परम्परा में 'वेद' के अन्तर्गत मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग निहित हैं-

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।[१] 'मन्त्र' उसे कहते हैं जिसका उच्चारण करके यज्ञ-यागों का अनुष्ठान किया जाता है और जिसमें यज्ञ में भाग लेने वाले देवताओं की स्तुति की जाती है। दूसरी ओर यज्ञ के क्रिया-कलाप एवं उनके प्रयोजनों की व्याख्या करने वाले वेद-भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग हैं-ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय को चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है- मन्त्रभाग (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने वाले वीतराग मनस्वियों के क्रिया-कलाप प्रतिपादित हैं तो उपनिषदों में वैदिक युग का दार्शनिक साहित्य निहित है। भारत के प्राचीन विद्वान् इन चारों को ही 'वेद' मानते आये हैं किन्तु कुछ सम्प्रदायों में 'वेद' से किसी एक अंश को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसे-मीमांसादर्शन के लिए 'ब्राह्मण'-भाग ही वेद है तो वेदान्त दर्शन के लिए उपनिषद् ही वेद या श्रुति है। इन अंशों पर उक्त दर्शनों का विशेष बल है। इधर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मन्त्र-भाग को ही वेद कहा, ब्राह्मण-ग्रन्थ उसकी व्याख्याएँ हैं। पाश्चात्य विद्वान् भी 'वेद' शब्द से केवल संहिता भाग का ही ग्रहण करते हैं, संहिता के परम्परागत विकास का नहीं। किन्तु 'वैदिक साहित्य' के अन्तर्गत ये चारों अंश हैं, इसमें किसी को आपत्ति नहीं।

वेदों का महत्त्व

साहित्य के रूप में सम्पूर्ण वेद-वाङ्मय महत्त्वपूर्ण हैं; आवश्यकता के अनुसार वेद का साहित्य बढ़ता गया और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-साहित्य क्रमशः विकसित हुए। प्राचीन काल से लेकर आजतक वेद-वाङ्मय सम्पूर्ण विश्व को विविध उपदेश देता रहा है इसलिए इसके महत्त्व को अंकित करना प्रासंगिक है। भारतीय साहित्य में नास्तिकों नें वेद की निन्दा भले ही की है किन्तु साहित्य और जन-सामान्य का बहुसंख्यक वर्ग उसकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करता रहा है। आस्तिक दर्शन ईश्वर की वाणी के रूप में या अपौरुषेय शब्दराशि के रूप में वेदों को देखते रहे हैं।[२] वेद आगम-प्रमाण है, समस्त ज्ञान के स्रोत हैं, शब्दराशि-रूप वेद से संसार के समस्त अर्थ निर्मित हुए हैं।[३] कौटिल्य (अर्थशास्त्र १/२) के अनुसार 'त्रयी विद्या' धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरूपण करती है। वेदों से लोग अपने ज़ीवन-दर्शन को संचालित कर सकते हैं।

वेद भारतीय धर्म के उत्स हैं (वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, मनुस्मृति २/६)। मनु के अनुसार ये वेद सभी ज्ञानों के अक्षय कोश हैं (सर्वज्ञानमयो हि सः, मनु० २/७) जिनका अध्ययन ब्राह्मणमात्र के लिए अनिवार्य कहा गया है (वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते, मनु० २/१६६)। भारतीय धर्म ने वेदों को इतना महत्त्व दिया है कि ईश्वर की निन्दा सह्य है किन्तु वेद की निन्दा नहीं। कई आस्तिक दर्शनों ने ईश्वर को तो स्वीकार नहीं किया है किन्तु वेदों को अपने दैनिक कर्म-कलापों का उपदेश देने के कारण परम-प्रमाण माना है।

ब्राह्मण-काल से वेद (मन्त्रभाग) के स्वाध्याय अर्थात् कुल-परम्परा से चले आते हुए

१. आपस्तम्ब-यज्ञपरिभाषा, परिभाषा-३१

२. बादरायण-ब्रह्मसूत्र १/१/३ शास्त्रयोनित्वात्। (शास्त्रम् ऋग्वेदादि, तस्य योनिः कारणं ब्रह्म)

३. सायण-ऋग्वेदभाष्यभूमिका, मंगलश्लोक-२ यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

वेदमन्त्रों के अध्ययन पर बल दिया गया है। **शतपथ ब्राह्मण** (११/५/६/१) में कहा गया है कि धन से परिपूर्ण भूमि के दान से जितना फल मिलता है, उतना ही फल तीनों वेदों के अध्ययन से मिलता है। यही नहीं, जो इसे जानता है (अर्थज्ञान रखता है) वह तो उससे भी बढ़कर अक्षय्य लोक की प्राप्ति करता है; इसलिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए-

यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति। भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।

इस प्रकार वेदों का **धार्मिक महत्त्व** उद्घोषित किया गया है जो स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थों की सूचनाओं से भी समर्थित होता है। ऋषियों तथा आचार्यों ने वेदों की प्रशंसा में अमूल्य वाक्यों की रचना करके सामान्य जनता की श्रद्धा वेदों के प्रति उत्पन्न की। वेदों के उच्चारण में अल्पस्खलन को भी पाप की श्रेणी में रखकर उन्होंने इस साहित्य को अविकल रूप से बचाया। आज वेदों का महत्त्व हम किसी भी दृष्टि से निरूपित करें, सबके मूल में उनका धार्मिक मूल्य ही है। यदि धर्म के आधार के रूप में उनकी सुरक्षा नहीं की जाती तो आज हम इस प्राचीनतम अमूल्य शब्दराशि से वञ्चित रहते। धार्मिक महत्त्व के ही कारण उनके अविकल उच्चारण तथा अर्थज्ञान को अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया गया-**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** (महाभाष्य, आह्निक-१)।

वेदों को **भारतीय साहित्य का आधार** माना जाता है अर्थात् परवर्ती संस्कृत में विकसित प्रायः समस्त विषयों का स्रोत वेद ही है। काव्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि सभी क्षेत्रों पर वेदों की गहरी छाप है। इन सभी विषयों का अनुशीलन ऋग्वेद की ऋचाओं से ही आरम्भ होता है। काव्य के क्षेत्र में उषा देवी की रमणीय शोभा का, देवताओं के स्वरूप के वर्णन में मानवीकरण का, उपमादि अलंकारों के प्रयोग का तथा भाषागत प्रवाह का विन्यास ऋग्वेद की विशिष्टता है। दर्शन के क्षेत्र में जीवेश्वर-सम्बन्ध, संसार का स्वरूप, सृष्टि, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), परमेश्वर इत्यादि का निरूपण ऋग्वेद से ही उपक्रान्त होता है। आर्यों के आचार-व्यवहार का साक्षात्कार सर्वप्रथम वेदों में ही प्राप्त होता है। भाषा-चिन्तन भी ऋग्वेद के मन्त्रों से आरम्भ होकर अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों तक व्याप्त है। वेद का वेदत्व इस विषय में भी निहित है कि समस्त परवर्ती ज्ञान का बीज यहाँ व्यवस्थित है।

आर्यजाति की प्राचीनतम संस्कृति वेदों में ही मिलती है। यह कहा गया है कि भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार का प्राचीनतम अभिलेख वेदों के रूप में ही है। अतः आर्य-संस्कृति का प्रथम उन्मेष जानने के लिए हम ऋग्वेद की ऋचाओं का ही अनुशीलन करते हैं। वेदों का अर्थ जानकर हम भारत की प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि इनकी विषयवस्तु प्रधानतया धर्म से सम्बद्ध है क्योंकि उस युग का लोक-साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका, तथापि इस धार्मिक साहित्य में भी लोकजीवन का महत्त्वपूर्ण रूप झलकता है। इसके आधार पर वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति का अनुशीलन हो सकता है। भारतीय जीवन-दर्शन की अद्यतन धारा का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वैदिक संस्कृति से जुड़ा है। आर्यों का यज्ञों में विश्वास, विविध पदार्थों में देवबुद्धि, भौतिकवाद में अनास्था, पुनर्जन्म में विश्वास, मोक्ष के प्रति लक्ष्यबुद्धि आदि का स्रोत वेदों में ही है।

विश्व-इतिहास की दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व है। आज इतिहास की व्याप्ति क्षेत्रीय सीमा से निकल कर सार्वभौम हो गयी है क्योंकि एक स्थान का इतिहास विदेशी प्रभावों एवं बाह्य-सम्पर्क से संयुक्त होता है। विभिन्न जातियाँ प्रव्रजन करती हुई कहाँ से कहाँ चली जाती हैं और अपने सांस्कृतिक लक्षणों को भी ले जाती हैं। एक देश में विकसित धर्म देशान्तर में भी फलता-फूलता है। विदेशी आक्रमण किसी देश के जीवन-दर्शन को प्रभावित करता है। इसीलिए विश्व-इतिहास की कल्पना हुई है। ऋग्वेद के देवताओं में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्या (अश्विना) का उल्लेख तुर्की में स्थित बोगाजकोई के लेखों में (१४०० ई०पू०) प्राप्त हुआ है जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्राचीनतम उदाहरण है। ऋग्वेद में विश्व-इतिहास के वे पृष्ठ मिलते हैं जहाँ से ऐतिहासिक युग का आरम्भ होता है।

वेदों का **भाषा-शास्त्रीय महत्त्व** भी है। इसी के कारण पाश्चात्य विद्वानों का आकर्षण वेदों के प्रति है। ऋग्वेद की भाषा से अनेक प्राचीन भाषाओं की तुलना करने पर ही आधुनिक भाषाशास्त्र (विशेष रूप से तुलनात्मक भाषाविज्ञान) का उद्‌भव हुआ। यह कल्पना की गयी कि आर्यों के पूर्वज और ईरानियों के पूर्वज कभी साथ रहते थे। उनके भी पूर्वज यूरोप के निवासियों के पूर्वजों के साथ रहते थे। भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषा-परिवार की कल्पना और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए वेदों का अनुपम महत्त्व है। इसके अतिरिक्त भाषा का ऐतिहासिक विकास समझने के लिए भी हम ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक में क्रमशः परिवर्तनशील भाषा का इतिहास देख सकते हैं। इस प्रकार भाषाशास्त्र की ऐतिहासिक और तुलनात्मक दोनों विधियों का अध्ययन वेदों के सन्दर्भ में हो सकता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास तो अपने सभी रूपों में वेदों में मिलता ही है; वह चाहे राजनीति की विचारधारा का हो चाहे राजनीतिक संघर्ष का हो। यजुर्वेद और अथर्ववेद में राष्ट्र, राजा-प्रजा के कर्तव्य, राजा के चुनाव, मन्त्रि-परिषद्, सभा-समिति की स्थापना, शत्रुनाश, नीति-प्रयोग आदि विषयों पर पर्याप्त सामग्री अवस्थित है। दूसरी ओर ऋग्वेद में विभिन्न जातियों के क्रिया-कलाप, परस्पर युद्ध, प्रयाण आदि का वर्णन है। वेदों के आधार पर तात्कालिक समाज और आर्यों के आवास-क्षेत्र का इतिहास जाना जा सकता है। इस प्रकार भारतीय इतिहास के साहित्यिक स्रोतों में वेद अग्रगण्य हैं। प्राचीन परम्परा के विद्वान् वेदों में इतिहास ढूँढ़ने की कल्पना को भले ही अपौरुषेयता में बाधक समझें किन्तु आज सभी इतिहासकार वैदिक वाङ्मय को भारतीय इतिहास की एक अमूल्य निधि मानते हैं।

तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र (Comparative Mythology) की दृष्टि से भी वेद अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन आख्यानों की तुलना जब यूरोप और ईरान के आख्यानों से की जाती है तो अद्‌भुत साम्य मिलता है। सृष्टि और प्रलय की कथा में समता देखी जा सकती है। वैदिक आख्यानों का परवर्ती विकास भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक देवशास्त्र का इसीलिए सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया है।

संहिता-साहित्य

वैदिक मन्त्रों का संग्रह 'संहिता' कहलाता है। इन मन्त्रों के मौलिक रूप में वैदिक पदों का परस्पर अधिकतम सन्निकर्ष है। इसीलिए पाणिनि ने 'संहिता' का अर्थ किया है-**परः सन्निकर्षः संहिता** (अष्टाध्यायी)। वस्तुतः वैदिक संहिताओं में परस्पर सन्धिबद्ध मन्त्रों का संकलन है। ये मन्त्र पहले विभिन्न ऋषिकुलों में बिखरे हुए थे जिन्हें संकलित किया गया, वैज्ञानिक व्यवस्था से एकत्र किया गया। स्पष्टतः यह संकलन, उद्देश्य-विशेष से, मन्त्रों के आविर्भाव-काल के बहुत समय बाद में हुआ। वैदिक संहिताएँ मुख्यतः चार हैं-ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेद-संहिता तथा अथर्ववेद-संहिता। इन संहिताओं का पारस्परिक पार्थक्य यज्ञों में उपयोग के लिए संकलित मन्त्रों के परस्पर भेद के कारण था।

सामान्य वैदिक यज्ञ (श्रौतयाग) में जो व्यक्ति पुरोहित के रूप में अनुष्ठान कराते थे, उन्हें "ऋत्विक्" कहा जाता था (ऋतु+यज्+क्विन्)। इस शब्द का निर्वचन है-ऋतौ याजयति इति ऋत्विक्। अर्थात् जो यज्ञकाल में अनुष्ठान कराये। यह वैदिक युग के पुरोहितों की संस्था के रूप में प्रसिद्ध था जिसके चार वर्ग थे-होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। होता का काम यज्ञों में देवताओं का आवाहन करना था जिससे वे प्रतीकात्मक रूप से आकर यज्ञ में अर्पित हव्य का ग्रहण करें (होता आह्वयति देवान्-ह्वे+तृच्)। ऋचाओं के छोटे-बड़े संग्रह (शस्त्र) बनाकर वह इस आवाहन-कार्य को सम्पन्न करता था। ऋचाओं में सम्बद्ध देवता की प्रशंसा, गुणों का वर्णन तथा यज्ञ में उपस्थित होने की याचना सामान्यतः होती थी। ऋचाएँ देवताओं के अर्चन का साधन थीं (ऋक् अर्चनी-अर्च्+क्विन्)। होता के उपयोग के लिए उपलब्ध समस्त ऋचाओं का संकलन करके "ऋग्वेद-संहिता" बनी। इसीलिए ऋग्वेद को 'होतृवेद' भी कहा गया है। उद्‌गाता का काम यज्ञों में संगीतात्मक ऋचाओं का विशेष पद्धति से गान करके देवताओं को प्रसन्न करना था। उसके उपयोग के लिए कतिपय उत्कृष्ट ऋचाओं का संकलन करके "सामवेद-संहिता" बनी। 'साम' का अर्थ है ऋचा और गान का समन्वय। ऐसा प्रसादन के लिए होता था; इसीलिए कालान्तर में प्रसादन, सान्त्वना, अपनी ओर मिलाना इत्यादि अर्थों में 'साम' शब्द का प्रयोग होने लगा। उद्‌गाता (उत्+गै+तृच्=जोर से गानेवाला) के उपयोग के लिए संकलित सामवेद को इसीलिए 'उद्‌गात-वेद' (या औद्‌गात्रवेद) भी कहते हैं।

अध्वर्यु-नामक ऋत्विक् अध्वर अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान का पूरा भार सँभालता था-**अध्वरं युनक्ति इत्यध्वर्युः** (अध्वर+युज्), **अध्वरं कामयते वा** (अध्वर+क्यच्+उ=अध्वरयुः > अध्वर्युः)। इस प्रकार निरुक्त में 'अध्वर्यु' का शब्द-निर्वचन किया गया है। स्पष्टतः यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋत्विक् था क्योंकि यज्ञ के उपक्रम (आरम्भ) से लेकर परिचालन और समाप्ति तक सभी क्रिया-कलापों का संघटन-संयोजन इसी का कार्य था। यज्ञ-संचालन के लिए उपयोगी मन्त्रों को उस युग में 'यजुस्' (यज्+उसि) कहते थे। इसीलिए अध्वर्यु के उपयोग के लिए आवश्यक सभी मन्त्रों को संकलित करके "यजुर्वेद-संहिता" बनी। अध्वर्यु का महत्त्व इसी से ज्ञात हो सकता है कि इसी के कार्य में प्रवृत्त होने पर अन्य ऋत्विजों का कार्य आरम्भ होता है। यजुर्वेद को

'अध्वर्युवेद' या आध्वर्यव वेद कहा गया है। ब्रह्मा कहा जाने वाला ऋत्विक् यज्ञ का निरीक्षण करता है। सभी क्रियाओं के साक्षी के रूप में अनुमति देता है। वह अशुद्धियों का संशोधन, संकट का निवारण, भ्रम का समाधान आदि अनेक कार्य करता है। उसे तीनों वेदों में निपुण कहा गया है (सर्वविद्)। फिर भी उसकी अपनी क्रिया से सम्बद्ध मन्त्रों को संकलित करके "अथर्ववेद-संहिता" बनायी गयी जिसे अन्वर्थत: 'ब्रह्मवेद' भी कहा गया है।

इस प्रकार संहिताओं के वर्गीकरण के मूल में उपर्युक्त ऋत्विजों के कार्यों का विभाजन ही था। इन संहिताओं की कालान्तर में अनेक शाखाएँ बन गयीं क्योंकि मन्त्रों के संकलन, ग्रहणाग्रहण तथा उच्चारण से सम्बद्ध भेदों का आविर्भाव हुआ। धार्मिक उपयोग के कारण बहुत दिनों तक शाखाएँ सुरक्षित रहीं किन्तु क्रमश: अनेक शाखाएँ लुप्त हो गयीं। वैदिक शाखाओं की अधिकतम संख्या का निर्देश पतञ्जलि (१५० ई.पू.) ने अपने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में इस प्रकार किया है- चत्वारो वेदा: साङ्गा सरहस्या बहुधा भिन्ना:-एकशतमध्वर्युशाखा:, सहस्रवर्त्मा सामवेद:, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेद:। अर्थात् चार वेद अपने अंगों (वेदाङ्गों) तथा उपनिषदों के साथ अनेक प्रकार से पार्थक्य-युक्त हैं, यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ हैं, सामवेद एक सहस्रशाखाओं में विभक्त है, ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं और अथर्ववेद नौ प्रकार का है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग-साहित्य भी था। आज कुछ वैदिक शाखाओं के संहिता-ग्रन्थ नहीं मिलते तो ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किसी का कोई वेदाङ्ग-ग्रन्थ ही है, शेष साहित्य नहीं। शाखा के लुप्त होने की कोई व्यवस्था नहीं कि सबके सब ग्रन्थ समाप्त ही हो गये। फिर भी अधिसंख्यक शाखाएँ सर्वथा लुप्त हो गयी हैं जिनके नाम भर रह गये हैं।

(क) ऋग्वेद-संहिता

चारों वेदों में महत्त्व की दृष्टि से 'ऋग्वेद' का नाम प्रथम लिया जाता है, यह सभी वेदों में अभ्यर्हित है। आकार-प्रकार में अन्य संहिताओं की अपेक्षा ऋग्वेद-संहिता बड़ी है, इसकी ऋचाओं का संकलन अन्य वैदिक संहिताओं में प्रचुर रूप से हुआ है जिनमें सामवेद तो प्राय: पूर्णत: ऋगाश्रित ही है। यज्ञ की पूर्णता की दृष्टि से ऋग्वेद की ऋचाओं का महत्त्व माना गया है। यह कहा गया है कि यजुष् और सामन् के प्रयोग से यज्ञ शिथिल (अपूर्ण) रह जाता है किन्तु ऋक् के प्रयोग से दृढ़ (पूर्ण) होता है- यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद् यदृचा तद् दृढम् (तैत्तिरीय संहिता ६/५/१०/३)। वेदों से सम्बद्ध सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने प्रतिपाद्य अर्थ के विषय में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए यही कहते हैं कि ऐसा ऋचा में कहा गया है (तदेतदृचाभ्युक्तम्)। वैदिक और लौकिक सभी उद्धरणों में ऋग्वेद का नाम लेकर ही अन्य वेदों का नाम लिया गया है। ऐसी स्थिति में ऋग्वेद-संहिता का महत्त्व वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण है। यह संसार का प्रथम ग्रन्थ है।

शाखाएँ-महाभाष्य में इस वेद की २१ शाखाओं का उल्लेख है किन्तु चरणव्यूह के अनुसार पाँच शाखाएँ मुख्य हैं-शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकायन। सम्प्रति

शाकलशाखा की ही संहिता उपलब्ध है। आश्वलायन शाखा के श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र ही मिलते है; शांखायन शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक प्राप्य हैं। अन्य शाखाएँ नामशेष हैं।

विभाजन-ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से किया गया है-(१) ऐतिहासिक विभाजन और (२) पाठपरक विभाजन। प्रथम विभाजन को **मण्डल-क्रम** कहते हैं जिससे ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है, प्रत्येक मण्डल अनुवाकों में और अनुवाक पुनः सूक्तों में विभक्त है। सूक्तों में ऋचाएँ या मन्त्र हैं। इस प्रकार यह क्रम 'मण्डल-अनुवाक-सूक्त-मन्त्र' के रूप में विभक्त है। यह क्रम अधिक प्रचलित और उपयुक्त है, देवताओं के अनुसार सूक्तों का वर्गीकरण इसमें हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्र का निर्देश करने के लिए क्रमशः मण्डल/सूक्त/मन्त्र की संख्या दी जाती है, इसी विभाजन-पद्धति का आश्रय लिया जाता है।[1]

दूसरा विभाजन **अष्टक-क्रम** कहलाता है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त है। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वर्गों में विभक्त किया गया है। एक-एक वर्ग में मन्त्र-समूह हैं। ऋग्वेद में कुल वर्गों की संख्या २०२४ है। यह विभाजन ऋग्वेद के पारायण की दृष्टि से किया गया था। इसमें ऋषि या देवता की समानता पर विचार नहीं किया गया है। इस क्रम का निर्देश आधुनिक वैदिक विद्वान् नहीं करते क्योंकि यह आकृतिमूलक है, ऐतिहासिक नहीं।

मण्डल-क्रम ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विभाजन है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि द्वितीय से सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का प्राचीनतम अंश है जिसमें प्रत्येक मण्डल किसी ऋषि या उसके वंश से सम्बद्ध मन्त्रों का संग्रह है। ये ऋषि क्रमशः इस प्रकार हैं-गृत्समद (द्वि०मण्डल), विश्वामित्र (तृ०म०), वामदेव (च०म०), अत्रि (प०म०), भरद्वाज (ष०म०) तथा वसिष्ठ (स०म०)। वंश विशेष से सम्बद्ध होने के कारण इन मण्डलों को **'वंश-मण्डल'** कहते हैं। अष्टम मण्डल में संकलित मन्त्रों के ऋषि कण्व और अङ्गिरस् के वंशज हैं। नवम मण्डल की विशिष्टता केवल सोम-देवता की स्तुति है। सोम का एक नाम 'पवमान' होने से इस मण्डल का नाम **'पवमान-मण्डल'** भी है। इन मण्डलों के संकलित हो जाने पर इनके आदि और अन्त में एक-एक मण्डल (प्रत्येक में १९१ सूक्त) जोड़ दिये गये जिससे ऋग्वेद १० मण्डलों का (**दशतयी श्रुतिः**) बन गया। भाषा, छन्द, नवीन देवताओं तथा नव्य दार्शनिक कल्पनाओं के कारण दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन है। यही मण्डल-क्रम की ऐतिहासिकता है।

ऋग्वेद की ऋचाएँ पृथ्वी के आदि-मनीषियों के आविष्ट मानस से उद्भूत हैं। ये मनीषी **ऋषि** थे, मन्त्रों का साक्षात्कार उन्होंने किया था (ऋषिर्दर्शनात्)। इसी लिए प्रत्येक मन्त्र किसी न किसी ऋषि से सम्बद्ध है। इन ऋचाओं का किसी देवता से भी सम्बन्ध है; ऋचा में स्तुत्य किसी

---

१. सम्पूर्ण ऋग्वेद में दस मण्डल, एक सहस्र सत्रह (१०१७) सूक्त तथा शौनक की अनुक्रमणी (श्लोक४३) के अनुसार १०५८० मन्त्र हैं। अष्टम मण्डल में ४८वें सूक्त के बाद ग्यारह खिल सूक्त हैं जिनमें ८० मन्त्र हैं। सूक्तों की संख्या इसलिए १०२८ हो जाती है। गिनने पर वस्तुतः मन्त्रसंख्या १०५५२ ही होती है और अनुवाक ८५ हैं। ऋग्वेद के दस मण्डलों में सूक्त-संख्या क्रमशः इस प्रकार है-१९१+४३+६२+५८+८७+७५+१०४+९२ (+११)+११४+१९१=१०१७ (+११)=१०२८ सूक्त। अष्टम मण्डल में ११ सूक्त खिल या प्रक्षिप्त हैं। खिल सूक्तों को स्वाध्याय के समय पढ़ने का विधान है किन्तु न तो इनका पद-पाठ मिलता है न अक्षर-गणना में इनका समावेश है।

शक्ति-विशेष को 'देवता' कहते हैं जिनके सम्मान में वह ऋचा प्रकट हुई तथा उस ऋचा को
पढ़कर उन्हीं के लिए आहुतियाँ या अन्य उपहार दिये जाते थे। पुनः प्रत्येक ऋचा किसी छन्द
में निबद्ध है अर्थात् उसमें नियत अक्षरों की पाद-व्यवस्था है जिससे सम्यक् उच्चारण और विराम
होते हैं। यज्ञ-संस्था का विकास होने से मन्त्रों को किसी कर्म के समय विनियुक्त किया जाने लगा
अर्थात् उनका नियत **विनियोग** (कर्म-प्रयोग) भी आवश्यक माना गया। इस प्रकार ऋग्वेद की
ऋचाओं के परम्परागत अध्ययन में चार बातों का ज्ञान आवश्यक हुआ-ऋषि, देवता, छन्द तथा
विनियोग। अन्य वैदिक संहिताओं में भी ये बातें हैं, केवल छन्द की स्थिति सर्वत्र नहीं है। अतः
उनके अध्ययन में भी ये आवश्यक हैं। कात्यायन ने अपनी **सर्वानुक्रमणी** (१/१) में कहा है-
यो ह वा अविदितार्षेय-च्छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते वा पापीयान् भवति। इन तथ्यों के ज्ञान के अर्थवाद के रूप में कहा
गया है कि जो व्यक्ति मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग (ब्राह्मण-ग्रन्थ में निर्दिष्ट कर्म
का प्रयोग) को जाने बिना उस मन्त्र का अध्यापन करता है या उससे यज्ञ कराता है वह निष्फल
कर्म करता है, गर्त में डाला जाता है और पापी होता है। यही कारण है कि ऋग्वेद आदि के संस्करणों
में सूक्त के ऊपर ऋषि, देवता, छन्द का निर्देश रहता है। विनियोग का निर्देश केवल याज्ञिकों के
लिए होता है। सायणाचार्य ने अपने भाष्यों में चारों का यथेष्ट निर्देश किया है।

महत्त्व- ऋग्वेद का महत्त्व इसकी विषय-वस्तु के अनुशीलन में निहित है। तदनुसार इसमें
धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति, अर्थ, दर्शन और काव्य का अद्भुत समन्वय है। भारतीय साहित्य
के चतुर्दिक् विकास का उत्स ऋग्वेद में ही है। धर्म की दृष्टि से देवताओं की आराधना, यज्ञों का
अनुष्ठान, पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की कल्पना इत्यादि है। संस्कृति की दृष्टि से आचार के नियम,
कर्म, हिंसा-अहिंसा, शिष्टाचार और जीवन का लक्ष्य निरूपित है। समाज का निरूपण करते हुए
वर्ण-व्यवस्था, विवाह आदि का वर्णन, नगर-ग्राम की योजना, आहार, परिधान आदि बातें दी
गयी हैं। इतिहास से सम्बद्ध ऋषि-वंश, देवासुर-युद्ध और विविध आख्यान दिये गये हैं।
राजनीतिक दृष्टि से राजा और उसके कर्तव्य, शासन-तन्त्र, राष्ट्र की कल्पना, प्रजा के अधिकार
आदि की चर्चा है। अर्थ की दृष्टि से कृषि-व्यवस्था, जीविका के साधन, व्यापार, विविध वृत्तियों
का ग्रहण, मुद्रा, पशु-पालन आदि इसमें चित्रित है। दार्शनिक दृष्टि से पुरुष-सूक्त, नासदीय सूक्त
आदि में सृष्टि के विकास, एकेश्वरवाद, मोक्ष आदि का वर्णन है। ऋग्वेद में काव्यत्व निर्विवाद
है। उषा-देवता के वर्णन में तथा अन्यत्र भी शैली, अलंकार, छन्द आदि की दृष्टि से यहाँ काव्य
का विकसित रूप मिलता है। काव्य-शास्त्र, नाटक और आख्यान के उद्गम के रूप में ऋग्वेद
को सर्वत्र मान्यता मिली है। संसार के प्रथम ग्रन्थ के रूप में होने पर भी इसका रूप 'विश्वकोश'
का है जिसमें ज्ञान और मेधा के सभी पक्षों का चित्रण है।

विषय-वस्तु (प्रतिपाद्य विषय)

ऋग्वेद-संहिता अपने युग का एकमात्र प्रतिनिधि-ग्रन्थ है जिसमें विपुल रूप में धार्मिक
सामग्री निहित है। सामाजिक परिवेश अथवा आर्थिक जीवन की केवल झलक ही इसमें मिल
पाती है। वह भी अपौरुषेयवाद तथा व्याख्या-भेद के कारण विवादास्पद निष्कर्ष देती है। फिर
भी इस उपलब्ध साहित्य के आधार पर तात्कालिक जीवन के विविध पक्षों का निरूपण हो सकता

है इसीलिए ऋग्वेद के वर्ण्य-विषय के परिचय का प्रश्न उठता है जो यहाँ संक्षेप में दिया जाता है। ऋग्वेद के सूक्तों को विद्वानों ने तीन वर्गों में विभक्त किया- (१) धार्मिक सूक्त, (२) लौकिक सूक्त तथा (३) दार्शनिक सूक्त।[1] इनका परिचय दिया जाता है।

(१) **धार्मिक सूक्त**- ऋग्वेद का विपुलांश धार्मिक सामग्री से भरा है। वह युग भी धर्म की प्रधानता का था जिसका प्रमुख साधन यज्ञानुष्ठान था। समाज का प्रबुद्ध व्यक्ति- वह चाहे शासक हो या स्तुतियों का प्रणेता-यज्ञकार्य को प्रमुख मानता था। यज्ञ में देवता को प्रमुखता प्राप्त है; इसलिए धार्मिक सूक्तों का अर्थ देवताओं का गुण-गान करने वाले सूक्तों के रूप में है जो यजमानों को विविध फल देने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। इन सूक्तों में तीन प्रकार की ऋचाएँ मिलती है- परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक।[2] **परोक्षकृत** ऋचाओं के देवता का निर्देश प्रथमपुरुष में रहता है तथा देवता को सभी विभक्तियों में रखा जाता है जैसे-अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १/१/१), इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या: (१०/८९/१०), इन्द्राय साम गायत (८/९८/१) इत्यादि। **प्रत्यक्षकृत** ऋचाओं में देवताओं को प्रत्यक्षत: या परोक्षत: सम्बोधित किया जाता है कि तुम इन गुणों से युक्त हो, मुझे अमुक पदार्थ दो, मेरी रक्षा करो इत्यादि। जैसे-अग्ने यं यज्ञमध्वरम् (ऋ.० १/१/४)। कहीं-कहीं स्तुतिकर्ताओं को भी प्रत्यक्ष रूप में सम्बोधित किया जाता है। आध्यात्मिक ऋचाओं में देवता स्वयं भाषण करते हैं अत: 'अहम्' का प्रयोग होता है; ऐसी ऋचाएँ बहुत अल्प हैं जैसे वागाम्भृणी सूक्त (ऋ० १०/१२५) में वाग्देवी स्वयं कहती हैं- अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि इत्यादि। इन्द्र-सूक्त (१०/४८) में इन्द्र स्वयं कहते है-

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्।। (ऋ० १०/४८/१)

अर्थात् मैं पूर्वकाल से चला आ रहा धन का स्वामी हूँ (भुवम्=अभवम्), मैं अनेक शत्रुओं के धनों को एक साथ जीत लेता हूँ। सभी प्राणी पिता के समान (न=इव) मुझे पुकारते हैं और मैं दानशील यजमान को अन्नादि प्रदान करता हूँ। आध्यात्मिक ऋचाएँ प्राय: दार्शनिक हैं। परोक्षकृत ऋचाओं की संख्या सर्वाधिक है क्योंकि ऋषियों को देवताओं का परोक्ष वर्णन ही अधिक अभीष्ट था।

धार्मिक सूक्तों में देवताओं को परमात्मा के विविध प्राकृतिक या आध्यात्मिक रूपों में देखा गया है। इसीलिए प्राकृतिक उपादानों के वर्णन उनमें प्राप्त होते हैं। इन ऋचाओं का पाठ सोमरस के समर्पण अथवा अग्नि में घृत की आहुतियों के साथ किया जाता था। देवताओं के साथ ऋग्वेदीय कर्मकाण्ड का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। देवताओं के आकार-प्रकार, परिधान, आभूषण और प्रिय खाद्य-पेय का वर्णन इन सूक्तों में मिलता है। इन देवताओं के वासस्थान भी निरूपित हैं जो इनके वर्गीकरण के आधार हैं-पृथिवीस्थान देवता, अन्तरिक्षस्थान देवता तथा द्युस्थान देवता।

पृथिवी के निवासी देवताओं में प्रमुख अग्नि हैं और बृहस्पति, सोम, पृथिवी, नदी आदि अन्य देवता हैं। अन्तरिक्ष के प्रमुख देवता वायु या इन्द्र हैं; शेष देवों में त्रित आप्त्य, अपां नपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, रुद्र, वात, मरुत्, पर्जन्य आदि हैं। द्युस्थानीय देवताओं में सूर्य को प्रमुख

---

१. विशेष विवरण-ऋक्सूक्तनिकरः, भूमिका, पृ. ५४-७७।

२. निरुक्त ७/१-तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च।

माना गया है; अन्य देवता द्यौस्, वरुण, मित्र, सविता, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस् तथा अश्विना (युग्म-देवता) हैं। इनके अतिरिक्त कुछ भाव-रूप देवता भी हैं जैसे-मन्यु, श्रद्धा, अदिति, निर्ऋति, काम, काल, प्राण इत्यादि। कुछ देवता विशुद्ध स्त्री-रूप में कल्पित हैं जैसे-सरस्वती, पृथिवी, रात्रि, वाक्, राका, पुरन्धि, धिषणा, इडा, पृश्नि, इन्द्राणी, अग्नायी, वरुणानी इत्यादि।

प्रकृति के विविध उपादानों के अधिष्ठाता के रूप में देवताओं की कल्पना होने के कारण उनकी प्राकृतिक शक्तियों का वर्णन धार्मिक सूक्तों में बहुधा प्राप्त होता है। सभी देवता महान् और शक्ति-सम्पन्न हैं। वे प्रकृति के नियमों को व्यवस्थित तथा अनिष्ट तत्त्वों का विनाश भी करते हैं। देवताओं से ही मानव अपनी कामनाओं की पूर्ति की आशा रखता है, इसीलिए अनेक देवताओं को 'वृषा' या 'वृषभ' कहा गया है जिसका अर्थ है-काम्य पदार्थों की वृष्टि करने वाला (कामान् वर्षतीति वृषभः)। देवता सत्य की प्रतिष्ठा करते हैं, कभी छल या वञ्चना नहीं करते। धार्मिक और सत्यनिष्ठ व्यक्तियों की रक्षा एवम् अपराधियों-पापियों को समुचित दण्ड देना भी उनका कार्य है। देवताओं के व्यक्तिगत लक्षण परस्पर मिश्रित हो गये हैं जिससे क्रमशः एकतत्त्ववाद का विकास हुआ-**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋ० १/१६४/४६)। फिर भी वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से यह एकतत्त्ववाद जीवन-दर्शन नहीं बना, क्योंकि यज्ञों में किसी एक देवता के आहुति देने से काम नहीं चल सकता था-वहाँ बहुदेववाद ही प्रचलित रहा।

वैदिक ज्ञानकाण्ड ने अवश्य ही कुछ देवताओं को (जैसे-अदिति, प्रजापति, पुरुष, वाक्) सभी देवताओं के लक्षणों और शक्तियों से सम्पन्न करके समस्त जगत् का अधिष्ठाता बनाकर प्रस्तुत किया है। यह विशिष्टता दार्शनिक सूक्तों में है जो आगे चलकर वेदान्त-दर्शन की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकृत हुए।

(२) **लौकिक सूक्त**- मुख्य रूप से धार्मिक सामग्री प्रस्तुत करने पर भी ऋग्वेद में लौकिक विषय भी वर्णित हैं यद्यपि अथर्ववेद की लौकिक सामग्री के समक्ष यह अत्यल्प है। ऐसे विषयों का क्षेत्र ओषधि-विज्ञान, विवाह, लोकव्यवहार, दान,राजतन्त्र आदि है। ऋग्वेद-युग के समाज का उदार रूप इन्हीं सूक्तों में प्राप्त होता है। ज्ञात होता है कि संहिताओं के संकलन-क्रम में कुछ उपयोगी और रोचक सूक्तों को, यज्ञ से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी, किसी प्रकार परम्परागत या नवकल्पित देवताओं से सम्बन्ध दिखाकर, ऋग्वेद में स्थान दे दिया गया जिससे उस युग के धर्मेतर परिवेश को हम जान सकते हैं।

ओषधि-विज्ञान (चिकित्सा) के विषय में राजयक्ष्मा-रोग के निवारण की प्राथना कई देवताओं से की गयी है जैसे प्रजापति ऋषि कहते हैं-

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥ (ऋ० १०/१६१/२)

अर्थात् यदि रोगी की आयु क्षीण हो गयी हो या वह इस लोक से चला गया हो और यदि वह मृत्यु के निकट ले जाया गया हो, तो मैं उसे मृत्यु के देवता निर्ऋति की गोद से (उपस्थात्) लौटा लाता हूँ और उसे सौ वर्षों के जीवन के लिए सबल बना रहा हूँ।

रोगों के निवारणार्थ शरीर के विभिन्न अवयवों की चर्चा (१०/१६३), गर्भावस्था के विघ्नों

का निवारण (१०/१६२), दुःस्वप्न-निवारण (१०/१६४), प्रवासी के मन का आवर्तन (१०/५८) करके गृहस्थाश्रम के कामों में लगाना इत्यादि इसके महत्त्वपूर्ण विषय हैं।

राजशास्त्र का प्रथम निरूपण ऋग्वेद के कई सूक्तों में निहित है। दो सूक्तों में (१०/१७३-४) राजा के अभिषेक का वर्णन है तो अन्य कई सूक्तों में राजशास्त्र की सामग्री मिलती है कि कुल (कुटुम्ब), ग्राम, विश्, जन और राष्ट्र के रूप में क्रमशः उत्तरोत्तर बड़ी प्रशासनिक संस्थाएँ थीं जिनके स्वामी क्रमशः गृहपति, ग्रामणी, विश्पति, जनपति और राष्ट्रपति थे। अन्तिम दोनों 'राजा' भी कहलाते थे। प्रजा द्वारा सभा और समिति नामक दो संस्थाओं का निर्वाचन राजा के कार्य पर नियन्त्रण रखने के लिए होता था। राजा भी निर्वाचन से या कुछ स्थलों में आनुवंशिकरूप से होता था।

विवाह का वर्णन ऋग्वेद के एक लम्बे सूक्त में (१०/८५, कुल मन्त्र ४७) मिलता है जिसमें सूर्या का सोम से विवाह वर्णित है। इस विवाह के लिए सूर्या के पिता को अश्विनों ने समझाया था। विवाह के विविध अंगों का वर्णन इस सूक्त की विशिष्टता है जैसे-सूर्या का रथ पर चढ़कर पतिगृह-गमन, आभूषण-धारण, पाणिग्रहण, आशीर्वाद इत्यादि। यहाँ इन्द्र से प्रार्थना है कि इस वधू को दस पुत्रों की माता बनायें, परिवार में पति ग्यारहवाँ पुरुष बने-

दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि। (मन्त्र-४५)

ऋग्वेद के दशम मण्डल में पाँच सूक्त (१४-१८) मृत्यु-संस्कार से सम्बद्ध हैं इनमें चार सूक्तों की विषय-वस्तु भावी जीवन से (=मरणोत्तर काल से) सम्बद्ध देवताओं की स्तुति है। ये देवता हैं-यम, पितृगण (पितरः), अग्नि, पूषन् तथा सरस्वती। अतः ये सूक्त धार्मिक परिवेश वाले हो हैं, अन्तिम सूक्त विशुद्ध लौकिक है जिससे ज्ञात होता है कि उस युग में दाह-संस्कार के अतिरिक्त शव को पृथ्वी में दबाने की भी प्रथा थी। क्रमशः दाह-संस्कार ही प्रधान हो गया जिसके कारण अग्नि के द्वारा देवलोक और पितृलोक में शव को पहुँचाये जाने का आख्यान प्रचलित हुआ।

दानस्तुति- ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में दान की प्रशंसा है। समाज में आर्थिक वैषम्य एवं अनुचित धन-संग्रह के निवारणार्थ धन तथा अन्न के दान पर बहुत बल दिया गया है। धनी का कर्त्तव्य है कि वह विपन्न व्यक्ति को दान द्वारा संकट-मुक्त करे। ऋषि आंगिरस भिक्षु ने एक पूरे सूक्त में दान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों कारणों को प्रकट किया है (१०/११७)। एक मन्त्र में कहा गया है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥
(१०/११७/६)

अर्थात् अज्ञानी पुरुष को व्यर्थ की अन्न-प्राप्ति होती है; मैं सत्य कहता हूँ कि वह अन्न उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है। वह (अज्ञानी) किसी सज्जन का (अर्यमणं) अथवा किसी मित्र का भरण-पोषण उस अन्न से नहीं करता। इसलिए अपने अन्न को अकेला खाने वाले व्यक्ति को आपत्तियों का सामना भी अकेला ही करना पड़ता है।

इस प्रकार दान न करने वाले पुरुष की निन्दा करते-करते उसे 'अराति' या 'अरि' (न देने वाला, रा=दान करना) कहा गया है जो कालान्तर में शत्रु-वाचक शब्द बन गया।

अक्षसूक्त- ऋग्वेद में अक्षक्रीड़ा (जुआ खेलना) एक प्रसिद्ध व्यसन था किन्तु एक सूक्त में (१०/३४) इस व्यसन की निन्दा करते हुए कृषि-कार्य की प्रेरणा दी गयी है। जुआरी का पश्चात्ताप, उसकी दुर्दशा आदि का मार्मिक वर्णन इस सूक्त में है। इस सूक्त के ऋषि कवष ऐलूष कहते हैं कि जुआरी की सास उसका तिरस्कार करती है, उसकी भार्या उसे बाहर जाने से रोकती है; आपत्ति में फँसकर जब वह याचना करता है तो उस पर दया दिखाने वाला (मर्डिता) कोई नहीं मिलता। प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि मूल्य कम करने योग्य (वस्न्य) बूढ़े घोड़े के समान मैं, अपने परिवार में, इस जुआरी का कोई उपयोग नहीं समझ पा रहा हूँ :-

> **द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।**
> **अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥**
> (१०/३४/३)

इसी प्रकार हारे हुए जुआरी की भार्या दूसरे की बन जाती है। उसके माता-पिता, भाई सभी कहते हैं कि हम इसे बिल्कुल नहीं जानते; आप चाहें तो इसे बाँध कर ले जाएँ (मन्त्र-४)। इसकी अन्तिम ऋचा में अक्षों (पासों) से यह प्रार्थना की गयी है कि मुझ पर दया करो, अपना घोर रूप दिखाकर मोहिनी का प्रयोग मत करो। मेरे शत्रुगण ही तुम्हारे मोहजाल में फँसे रहें (मन्त्र-१४)।

मण्डूक-सूक्त (७/१०३) के रूप में वसिष्ठ ऋषि के द्वारा दृष्ट एक विलक्षण-सूक्त ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में है। इसमें मण्डूक या पर्जन्य देवता हैं। दोनों का वृष्टि से सम्बन्ध है। मण्डूक (मेंढक) ऐसा प्राणी है जो मेघ के आगमन का संकेत देता है। वृष्टि-काल के आरम्भ में सानन्द तथा सोत्साह उपस्थित होकर मण्डूक अपने कर्तव्य का पालन तो करते ही हैं; अपनी आयु भी बढ़ाते हैं। परम्परावादी विद्वान् इस सूक्त में वृष्टि-विषयक प्रार्थना की गम्भीरता मानते हैं किन्तु पाश्चात्य पण्डितों को इसमें मण्डूक की अन्योक्ति से तात्कालिक पुरोहितों पर किया गया व्यंग्य और उपहास प्राप्त होता है। मण्डूकों की क्रीड़ा का इसमें भावपूर्ण चित्रण है-एक वर्ष तक सोये रहकर, व्रत का (मौन का) पालन करने वाले ब्राह्मणों के समान, पर्जन्य-देवता द्वारा प्रेरित वाणी का ये मण्डूक सामूहिक उद्घोष करने लगे (मन्त्र-१)। इन मेंढकों में एक-दूसरे की आवाज को उसी प्रकार दुहराता है जिस प्रकार वेदपाठी गुरु की ध्वनि को उसका शिष्य दुहराता है (यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः, मन्त्र-५)। कोई मेंढक गाय के समान बोलता है तो कोई बकरे के समान; कोई अनेक रंगों का है तो कोई हरे रंग का है (गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम् , मन्त्र-६)। अतिरात्र नामक सोमयाग में पूरी तरह भरे हुए सोमपात्र के चारों ओर बैठकर मन्त्रपाठ करने वाले ब्राह्मणों के समान इस जलपूर्ण सरोवर के चारों ओर वाणी का उद्घोष करते रहने वाले हे मण्डूको, तुम वर्षा ऋतु के ठीक प्रथम दिन यहाँ उपस्थित हो जाते हो-

> **ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।**
> **संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव॥** (मन्त्र-७)

संवाद- सूक्त- ऋग्वेद के लौकिक सूक्तों में संवाद-सूक्तों का भी मुख्य स्थान है। इनकी संख्या प्रायः बीस है। इनमें कथनोपकथन का प्राधान्य है। इनमें विश्वामित्र-नदी-संवाद (३/३३), यम-यमी-संवाद (१०/१०), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (१०/९५) तथा सरमा-पणि संवाद (१०/१०८) मुख्य हैं।[१] संवाद-सूक्तों में प्रेम, हठ, व्यंग्य, भक्ति, विश्वास आदि मानवीय भावनाओं से सम्बद्ध लौकिक सामग्री का प्राचुर्य है। कई विद्वानों की मान्यता है कि ये प्राचीन नाटकों के अवशेष हैं जो संयोगवश संहिता में समाविष्ट कर लिये गये। ये नाटक यज्ञों और दीर्घकालिक सत्रों के अवसर पर क्लान्त-श्रान्त याजकों और ऋत्विजों के मनोरञ्जन के लिए अभिनीत होते थे। संवाद-सूक्तों से तात्कालिक समाज-व्यवस्था तथा नाटकीय मनोविनोद की सूचनाएँ मिलती हैं।

(३) **दार्शनिक सूक्त-** ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डलों में तात्कालिक ऋषियों की दार्शनिक उद्भावनाएँ संकलित हैं जैसे-अदिति को सब कुछ मानना (१/८९/१०), एक ही तत्त्व

१. तथाकथित संवाद-सूक्तों या आख्यान-सूक्तों का सम्बन्ध तात्कालिक कथाओं या वास्तविक घटनाओं से था। नाट्य और प्रबन्धात्मक साहित्य का प्राचीनतम रूप होने से इनका महत्त्व विशेष रूप से अंकित किया जाता है। इनके स्वरूप के विषय में तीन सिद्धान्त हैं जिनके अन्तर्गत इन्हें **आख्यानात्मक** (ओल्डनबर्ग का मत), **नाटकांश-रूप** (मैक्समूलर, लेवी, हर्टेल तथा श्रोदर का मत) या लोकगीतात्मक (विन्टरनित्स का मत) कहा गया है।

विश्वामित्र-नदी-संवाद (३/३३) में १३ ऋचाएँ हैं जिनमें पञ्चनद-प्रदेश की विपाशा (व्यास) और शुतुद्रि (सतलज) नदियों का मानवीकरण करते हुए विश्वामित्र के साथ उनकी बातचीत दिखायी गयी है। सुदास् के पुरोहित विश्वामित्र अपने यजमान की सेना (भरत-सेना) के साथ इन नदियों के संगम पर आये और उनसे प्रार्थना की कि नदियाँ झुक जाएँ जिससे सेना पार हो सके। विश्वामित्र ने राजनीतिज्ञ के समान उन्हें अपनी बात मानने के लिए विवश कर दिया और भरत की सेना नदियों के पार हो गयी।

यम-यमी-संवाद (१०/१०) में १४ ऋचाएँ हैं। यम और यमी दोनों विवस्वत् की सन्तान (जुड़वाँ भाई-बहन) हैं। यमी यम से प्रार्थना करती है कि मानव जाति का विनाश रोकने के लिए वह समागम करे। बहन भाई को कामावेग से भरे शब्दों में अपने साथ सम्भोग की प्रेरणा देती है किन्तु भाई इसे अस्वीकार करता है। यम का कथन मृदु एवं विवेकपूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ में एक ही तत्त्व से विकसित पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व के परस्पर समागम की इसमें प्रतीकात्मकता है किन्तु इस सम्बन्ध को वर्जनीय कहा गया है।

पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (१०/९५) में १८ ऋचाएँ हैं। पुरूरवा (पुरूरवस्) मानव जाति के राजा हैं, उर्वशी अप्सरा है। उर्वशी चार वर्षों तक पुरूरवा के साथ पत्नी बन कर पृथ्वी पर रही, गर्भवती होने पर वह राजा को छोड़कर चली गयी। राजा उसे खोजते हुए एक सरोवर पर पहुँचे जहाँ उर्वशी अन्य अप्सराओं के साथ क्रीड़ा कर रही थी। राजा उसे प्रेमपूर्ण बातों से मनाते हैं किन्तु उर्वशी उनकी सभी बातों को ठुकराती जाती है। वार्तालाप इतना मार्मिक है कि इस आख्यान को अनेक परवर्ती ग्रन्थों में बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है।

सरमा-पणि-संवाद (१०/१०८) में ११ ऋचाएँ हैं। आर्यों के शत्रु पणियों ने ऐश्वर्य-गाद में आर्यों की गायें चुराकर रसा-नदी के पार द्वीप में छिपा रखा था। आर्यों के नेता इन्द्र ने सरमा नामक दूती को पणियों के पास भेजा; उसने पणियों से गायें लौटाने का अनुरोध किया किन्तु मद से भरे पणियों ने एक न सुनी और सरमा को ही प्रलोभित करना चाहा। इन्द्र ने अन्ततः पणियों पर आक्रमण करके गायों को छुड़ाया। देखें- ऋक्सूक्तनिकरः; भूमिका, पृ.६८-७७।

को सभी देवताओं का आधार कहना (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति १/१६४/४६) इत्यादि। कहीं-कहीं पूरे सूक्त में दर्शन की तरंगें प्रकट हुई हैं जिन्हें दार्शनिक सूक्त कहते हैं। प्रथम मण्डल का 'अस्य वामस्य' सूक्त (१/१६४) एवं दशम मण्डल के पुरुष-सूक्त (१०/९०), हिरण्यगर्भ-सूक्त (१०/१२१), वाक्सूक्त (१०/१२५), नासदीय-सूक्त (१०/१२९) इत्यादि ऐसे ही सूक्त हैं।

अस्यवामीय-सूक्त में दार्शनिक प्रहेलिकाएँ दी गयी हैं जिनके समाधान के प्रयास होते रहे हैं किन्तु कठिनाई अभी भी बनी हुई है। विश्व के उद्भव, विकास और विलय की समस्त दार्शनिक ऊहाएँ इस सूक्त के ५२ मन्त्रों में निहित हैं। एक मन्त्र इस प्रकार है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ (२०)

इसमें जीव और परमात्मा का गूढ़ संकेत है, दोनों सुपर्ण (उत्तम चेतनाशक्ति से युक्त) हैं। दोनों सदा साथ रहने वाले मित्र हैं, परमात्मा जीव की सहायता मित्र के समान करता है। दोनों प्रकृति-रूप वृक्ष पर अवस्थित है। जीव तो उस प्रकृति के सुख-दुःखात्मक फलों का भोग करता है किन्तु परमात्मा प्रकृति से निर्लिप्त रहकर केवल प्रकाशित रहता है। इस सूक्त की व्याख्या विभिन्न रूपों में हुई है।

पुरुष-सूक्त में समस्त जगत् को पुरुषात्मक कहकर (पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्) उसके आधार पर हुए सृष्टि-यज्ञ की कल्पना की गयी है। पुरुष ही जगत् का उपादान और निमित्त भी है। सृष्टि-यज्ञ में पुरुष हव्य बना, विभिन्न ऋतुएँ यज्ञ की सामग्री बनीं।[1] उस यज्ञ (यजनीय परमात्मा) से विविध जीव-जन्तु बने, वेदों तथा वर्णों का विकास हुआ। नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि सब कुछ इसी का परिणाम है। इस प्रकार यज्ञ का रूपक देकर सृष्टि की प्रक्रिया अभिव्यक्त की गयी है।

हिरण्यगर्भ-सूक्त में संसार के नियामक ईश्वर का प्रजापति के रूप में वर्णन है। इसमें दस ऋचाएँ हैं जिनमें नौ में प्रत्येक के अन्तिम पाद हैं-कस्मै देवाय हविषा विधेम। यहाँ प्रजापति की हव्य-द्वारा परिचर्या का निर्देश है- (क=प्रजापति)। पाश्चात्त्य विद्वान् इनमें प्रश्न का संकेत बताते हैं कि हम किस देवता की परिचर्या करें जबकि समस्त गुणों से विभूषित जगत्-मात्र का रक्षक हिरण्यगर्भ-देवता (परमात्मा) विद्यमान है? परमेश्वर सभी देवों के ऊपर (देवेष्वधि देव एकः) है, समस्त प्राणियों और क्रियाशील जगत् का एकमात्र राजा है (एक इद् राजा जगतो बभूव)। उसी परमात्मा की महिमा से ये हिम-मण्डित पर्वत, समुद्र और सारी पृथ्वी अवस्थित है, सारी दिशाएँ उसकी विशाल बाहों के समान फैली हैं-

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (१०/१२१/४)

प्रजापति परमेश्वर से अन्त में समस्त कामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना की गयी है (यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम्-मन्त्र १०)।

---

१. ऋग्वेद १०/९०/६ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

वाक्सूक्त आध्यात्मिक (उत्तम पुरुष में देवता द्वारा अभिव्यक्त) सूक्त है। वाक् के रूप में परम शक्ति स्वयं अपना प्रख्यापन करती है कि उसकी क्षमताएँ कितनी और कैसी हैं। वाक् समस्त जगत् को व्याप्त करती है, सभी का पालन करती है। उसे कोई जाने या न जाने, सभी उसके अधिकार में ही हैं (अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति, मन्त्र-४)। ''मैं जिस व्यक्ति पर प्रसन्न होती हूँ; उसे पराक्रमी, ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), द्रष्टा (ऋषि) और प्रतिभाशाली बना देती हूँ (यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्-मन्त्र-५)।'' अन्त में (मन्त्र-८) वाग्देवी कहती है-

अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमांणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥

अर्थात् मैं ही इन सभी भुवनों का निर्माण करती हुई (आरभमाणा) वायु के समान सभी पदार्थों में संचरण करती हूँ। स्वर्ग और इस पृथ्वी के परे मैं अपनी महिमा से इतनी विशाल बनी हुई हूँ।

नासदीय-सूक्त में सृष्टि की पूर्वावस्था का गम्भीर वर्णन है। सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत्; न तो अन्तरिक्ष था और न स्वर्ग ही था। मृत्यु और अमरता, रात और दिन जैसे युग्मों के कोई चिह्न उस समय नहीं थे। उस समय वायु के बिना भी साँस लेने वाला एक ही तत्त्व था- आनीदवातं स्वधया तदेकम् (मन्त्र-२)। और तो कहीं कुछ था ही नहीं। अन्धकार से घिरे हुए अन्धकार में ही पूरा जगत् अथाह जल से भरा था-

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। (मन्त्र-३)

उस मूलतत्त्व से काम उत्पन्न हुआ कि सृष्टि का कार्यक्रम चले। यह काम ही चेतना का प्रथम बीज था (मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्, मन्त्र-४)। इस प्रकार ऋषियों ने अपने-अपने हृदय में असत् के अन्तर्गत सत् के बन्धन की खोज कर ली थी-

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। (मन्त्र-४)

फिर भी सृष्टि के मूल का ज्ञान सबको नहीं हो सकता, जगत् का स्वामी ही उसे जान सकता है।

ऋत का दर्शन- ऋग्वेद में जगत् के विधान का आधार 'ऋत' को माना गया है। प्रकृति के समस्त क्रिया-कलाप एक नियम या व्यवस्था के अन्तर्गत होते हैं। यह व्यवस्था ही 'ऋत' है। काल का चक्र जैसे ऋतुओं का आवर्तन, सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिष्पिण्ड, जीव-जन्तु, भौतिक पदार्थ-ये सब इस ऋत का अनुसरण करते हैं। ऋत केवल प्रकृति की व्यवस्था नहीं है अपितु इसमें नैतिक (moral) तथा धार्मिक नियम (religious order) भी निहित हैं। सत्कर्म का सुन्दर फल और दुष्कर्म या पाप का अनिष्ट फल मिलना भी ऋत की ही परिधि में है। धार्मिक क्रियाओं के अवान्तर व्यापारों का पौर्वापर्य भी ऋत का ही रूप है। ऋत का संचालन विशेष रूप से मित्र और वरुण देवताओं का कर्तव्य है। ऋग्वेदीय सृष्टि-प्रक्रिया में ऋत का जन्म सत्य से भी पूर्व परमात्मा के दीप्तिमान् तप से माना गया है-

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ (१/१९०/१)

ऋत समस्त विश्व का नियमन करने वाला अनतिक्रमणीय दर्शन-सिद्धान्त है।

ऋग्वेद का समाज और संस्कृति[1]

ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राचीन वैदिक युग के समाज की अवस्था का चित्रण प्राप्त होता है। इस वेद में अधिसंख्यक मन्त्रों के देवता-वर्णन से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक सामग्री का बाहुल्य होने पर भी कतिपय लौकिक सूक्तों तथा ऋचाओं में उस युग के मानव का सामाजिक, राजनीतिक,आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन अंकित किया गया है।

ऋग्वेद में अंकित पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार की प्रथा पर आश्रित था। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र आदि सभी सम्बन्धी रहते थे। सभी सदस्य गृहपति के संरक्षण में रहकर उसके आदेशों का पालन करते थे। पिता परिवार का गृहपति होता था। पत्नी का महत्त्व यज्ञानुष्ठान में विशेष रूप से था। उसी पर गृह-व्यवस्था, शिशु-पालन आदि का भी भार था। पति के अविवाहित भाई-बहनों पर भी उसका अधिकार होता था। सास-ससुर के प्रति बहू का सद्व्यवहार होने के कारण उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती थी। पुत्री को दुहिता कहते थे, उसका परिवार में बहुत आदर था फिर भी परिवार में पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं की प्रार्थना की जाती थी। इससे पुत्र का विशेष महत्त्व सूचित होता है।

पारिवारिक जीवन के विकास के लिए पञ्चमहायज्ञ, संस्कार तथा यम-नियम का पालन आवश्यक था। ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्ध), देवयज्ञ (हवन-पूजा), भूत-यज्ञ (मानवेतर प्राणियों को भोजन देना) तथा नृ-यज्ञ (अतिथि-सेवा)-ये पाँच महायज्ञ थे। इनसे आध्यात्मिक ऋणों को चुकाने की कल्पना की गयी थी।

समाज में अपराध भी होते थे जैसे पशुओं की चोरी होती थी (पशुतृपं न तायुम्)। चोरों के पकड़े जाने पर उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। जुआ खेलने की प्रथा थी। किन्तु जुआरियों का जीवन बड़ा गर्हित था। अक्ष-सूक्त (ऋग्वेद १०/३४) में जुआ खेलने की घोर निन्दा करते हुए जुआरियों को खेती करने का उपदेश दिया गया है- अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।

संस्कार- ऋग्वेद के युग में संस्कारों का महत्त्व स्वीकृत था। उनसे मानव-जीवन के परिष्कार की कल्पना की गयी थी। विद्याध्ययन के लिए **उपनयन** और गृहस्थाश्रम में **प्रवेश** के लिए **विवाह** मुख्य संस्कार थे। विवाह के अवसर पर अभ्यागतों का स्वागत होता था। वधू का हस्त ग्रहण करके वर अग्नि की प्रदक्षिणा करता था। विवाह-संस्कार के बाद वधू वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत होकर पति के साथ रथ पर चढ़कर ससुराल जाती थी। रथ को लाल रंग के पुष्पों से सजाया जाता था तथा उसमें दो बैल जुते होते थे।

ऋग्वेद में मृत्यु-संस्कार का भी वर्णन मिलता है। शव के अग्नि-दाह की अथवा भूमि में दबाने की प्रथा थी।

आवास- इस वेद के अनुसार तात्कालिक आर्यों के गृह मिट्टी के बने होते थे। उसमें चार भाग होते थे-अग्निशाला (पूजा-हवन का कक्ष), हविर्धान (भण्डागार), पत्नीसदन और सदस्।

---

१. इस ग्रन्थ की सीमा के कारण इस विषय का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। विशेष विवरण पूर्व-वैदिक युग की सभ्यता-संस्कृति का विवरण देनेवाले ग्रन्थों में देखें। जैसे-भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित- The Vedic Age; आचार्य बलदेव उपाध्याय-**वैदिक साहित्य और संस्कृति** (खण्ड-३)।

सदस् पुरुषों की बैठक का कक्ष था। इसी में अभ्यागत लोगों का स्वागत किया जाता था। बैठने के लिए आसन और शयन के लिए शय्या होती थी। नव-विवाहित वर-वधू के शयनार्थ बहुमूल्य पलंग होती थी जिसे 'तल्प' कहते थे (आरोह तल्पम्)। 'प्रोष्ठ' काष्ठ का आसन था जिस पर स्त्रियाँ बैठती और लेटती थी। ऋग्वेद में घरेलू उपकरणों के भी नाम मिलते हैं जैसे-कलश, द्रोण, चषक, स्थाली (बटलोई), तितउ (चलनी), मुसल इत्यादि।

परिधान-ऋग्वेद-काल में सामान्यतः दो वस्त्र पहने जाते थे-अधोवस्त्र और उत्तरीय। ये वस्त्र ऊन से बनते थे। कुछ वस्त्रों में 'जरी' (स्वर्ण) का काम होता था जिन्हें **'पेशस्'** कहा जाता था। गले में **निष्क** (हार) और **रुक्म** (धागे में लटकाकर पहना गया स्वर्णाभूषण) पहने जाते थे। इसी प्रकार कंकण, कर्णाभूषण, मोतियों की माला इत्यादि पहनने की प्रथा थी। लोग केशों में तेल लगाकर या बिना तेल के ही उन्हें सवाँरते थे।

भोजन- ऋग्वेद-युग के आर्यों का प्रमुख भोजन जौ की रोटी और दूध-दही था। जौ का सत्तू भी बनता था जो आर्यों का प्रिय भोजन था। अपूप, करम्भ (माँड़ या आटे का घोल), सत्तू और पुरोडाश (रोटी)- ये आर्यों के स्वादु भोज्य पदार्थ थे। दूध प्रधान पेय था। आर्यों में दही, मक्खन आदि का प्रचुर प्रयोग था। यज्ञों में सोमरस का प्रयोग होता था। इसकी कटुता (या तिक्तता) हटाने के लिए लोग उसमें दूध, दही या जौ का चूर्ण मिलाते थे जिससे क्रमशः सोमरस को गवाशीः, दध्याशीः और यवाशीः कहते थे (आशीः=दोषनाशक)। सोमरस के पान से स्फूर्ति आती थी। इस प्रकार परिधान तथा भोजन की दृष्टि से लोग सुखी, सम्पन्न तथा प्रसन्न थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था- ऋग्वेद-काल में समाज को पुरुष का रूपक देकर उसके चार अंगों के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की कल्पना की गयी थी-

> **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यःकृतः।**
> **ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।** (१०/९०/१०)

किन्तु ऋग्वेद के मुख्य भाग में वर्णगत कर्मव्यवस्था की सूचना नहीं मिलती; कभी-कभी एक ही परिवार में पुरोहित, वैद्य और सत्तू पीसने के व्यवसायों का अस्तित्व मिलता है।[1] फिर भी समाज में वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान और तपस्या करने वाले ब्राह्मणों का प्राधान्य था। क्षत्रिय (क्षत्र, राजन्य) का कार्य राष्ट्र की रक्षा और प्रजा-पालन करना था। वैश्य के लिए 'विशः' (=प्रजा) शब्द का विशेष प्रयोग है जो कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि सामान्य व्यवसायों से अर्थोपार्जन (समाज की अर्थव्यवस्था) करने वाली प्रजा का परिचायक है। शूद्र या दास वर्ण इन्हीं की सहायता करता था। शिल्पकार्य में दास प्रवीण होते थे। जो कोई नास्तिक, यज्ञविरोधी या चरित्रहीन होते थे उन्हें दास या दस्यु की श्रेणी मिल जाती थी।

जीवन को चार आश्रमों में विभाजित करने का कार्य ऋग्वेद में आरम्भ हो चुका था। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन, गृहस्थ आश्रम में महायज्ञों का अनुष्ठान, वानप्रस्थ होने पर सभी कामनाओं का त्याग और संन्यासी होने पर सभी बन्धनों से मुक्ति का पवित्र लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

---

१. ऋग्वेद ९/११२/३ कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधिया वसूयवोऽनु गा इव तस्मिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव।।

नारी की दशा-ऋग्वेद के युग में नारी को गृहिणी कहा जाता था (जायेदस्तम्)। गृह का पूरा भार (क्रिया-कलाप) उसी पर आश्रित था। नारी का मातृ-रूप अमृत के समान था। पत्नी पति की आदर्श सहचरी थी। पति-पत्नी के सौमनस्य और साहचर्य के कारण ऋग्वेद-काल में नारी को गौरव प्राप्त था। उस युग में स्त्री शिक्षा का विशेष प्रचार था। स्त्रियाँ न केवल वेद पढ़ती थीं अपितु मन्त्रों की रचना (या साक्षात्कार) करने में भी समर्थ थीं। रोमशा, गोधा, उर्वशी, घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सूर्या इत्यादि इक्कीस ऋषिकाओं के मन्त्र ऋग्वेद-संहिता में संकलित हैं। कुछ स्त्रियाँ संगीत और नृत्य में भी निपुण थीं। स्त्रियों का विवाह यद्यपि मुख्यतः पिता की इच्छा से होता था[1] किन्तु स्वयंवर-विवाह का भी प्रचलन था। पत्नी से दस पुत्रों की कामना रहती थी (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि १०/८५/४५)। अभ्रातृका कन्या से विवाह करने में लोग हिचकिचाते थे क्योंकि उसकी सन्तान मातृकुल से अपना लगाव अधिक रखती थी।

धार्मिक स्थिति- ऋग्वेद में धर्म के दो पक्ष मिलते हैं-श्रद्धा और यज्ञानुष्ठान। देवताओं की स्तुतियों में ऋषियों की श्रद्धा प्रकट हुई है। देवताओं के प्रति श्रद्धा और भक्ति उस युग के धार्मिक जीवन की विशिष्टता रही है। उन देवताओं के तीन वर्ग माने गये थे-द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथिवीस्थानीय। प्रत्येक वर्ग में ग्यारह देवता सम्बद्ध किये गये थे।[2] इनमें कुछ देवता आधिभौतिक हैं जैसे-अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि। कुछ का आधिदैविक रूप है, इन्हें अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते जैसे-इन्द्र, उषा, सविता आदि। कुछ का रूप आध्यात्मिक है जैसे- सरस्वती, वाक्, मन्यु आदि। ऋग्वेद का धार्मिक जीवन अध्यात्मवाद से प्रभावित था। यज्ञ को धर्म का पर्याय माना गया था। पुरुषसूक्त में कहा गया है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (१०/९०/१६)

यज्ञ को ईश्वर का रूप मानते थे जिसमें कर्म और भक्ति का समन्वय होता था। यज्ञानुष्ठान का आयोजन भव्य होता था। उसे ऋत्विजों की संख्या सँभालती थी- होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों को 'होता' ही यज्ञ में पढ़ता था जिनसे किसी कर्म में नियत देवताओं का आवाहन होता था।

राजनीतिक स्थिति- ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस युग में राजनीतिक दृष्टि से समाज के पाँच स्तर थे-कुल (गृह या कुटुम्ब),ग्राम, विश् , जन तथा राष्ट्र। कुल का स्वामी गृहपति था। कई कुलों को मिलाकर 'ग्राम' बनता था जिसका प्रधान 'ग्रामणी' कहा जाता था। अपने ग्राम की रक्षा,संगठन, शान्ति,न्याय और दण्ड की व्यवस्था वही करता था। उसकी सहायता के लिए ग्राम-सभा होती थी, वही ग्रामणी का चयन भी करती थी। कई ग्रामों से 'विश्' बनता था जिसका अध्यक्ष 'विश्पति' होता था। ग्रामों का पारस्परिक सम्बन्ध वही बनाये रखता था। विशों का समुदाय 'जन' होता था जिसका प्रधान 'जनपति' होता था। उस युग में पाँच प्रमुख जनों का (पञ्च जनाः) निर्देश मिलता है। अनेक जनों से 'राष्ट्र' बनता था। उसका स्वामी राजा या राष्ट्रपति

---

१. ऋग्वेद ३/३१/१ पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे।

२. ऋग्वेद १/१३९/११ ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

होता था। राजा का कार्य राष्ट्र की रक्षा, शत्रुओं का नाश तथा राष्ट्र की श्रीवृद्धि करना था।[1]

शासन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं- राजतन्त्र और प्रजातन्त्र। राजतन्त्र में वंशानुगत राष्ट्राध्यक्ष होता था किन्तु प्रजातन्त्र में उसका चुनाव होता था। दोनों स्थितियों में अध्यक्ष का अभिषेक होता था। राज्य- संचालन के लिए सभा और समिति दो संस्थाएँ थीं। सभा छोटी और समिति बड़ी संस्था थी। समिति को अधिकार था कि वह अयोग्य राजा को हटाकर नये राजा को स्थापित करे।

आर्थिक स्थिति- उस समय का आर्थिक जीवन कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, व्यापार और उद्योग-धन्धों पर आश्रित था। कृषि के योग्य भूमि को खेतों में परिवर्तित किया जाता था। खेती करने वालों को ऋग्वेद में 'कीनाश' कहते थे। ये लोग हलों से भूमि की जुताई करते थे-

शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।

(ऋग्वेद ४/५७/९)

बीज बोने के बाद खेत की सिंचाई भी की जाती थी। इसके लिए नहर (कुल्या),नदी, सरोवर, कूप आदि का प्रयोग होता था। अन्नों में यव, गेहूँ, धान, चना, माष (उड़द) और तिल प्रमुख थे।

पशु-पालन भी अर्थव्यवस्था में महत्त्व रखता था। लोग गायें पालते थे जिनसे वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी किया जाता था। भेंड़ों और बकरियों को भी (अजावयः) लोग घरों में पालते थे। अश्व का उपयोग मुख्यतः युद्धों में होता था। सामान ढोने के लिए तथा हल में जोतने के लिए बैलों का प्रयोग होता था।

वाणिज्य-व्यापार उस युग का प्रमुख व्यवसाय था। व्यापारी के लिए वणिक् या पणि शब्द का प्रयोग मिलता है। अन्न का व्यापार प्रमुख रूप से होता था जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर बेचा जाता था। वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) के अन्तर्गत गायों को इकाई के रूप में (मूल्य मानकर) खरीद-बिक्री होती थी। पणि लोग नावों से भी सामान की ढुलाई (परिवहन) करते थे। उद्योग के रूप में वस्त्र-निर्माण, रथ-निर्माण, आभूषण और शस्त्र बनाना प्रमुख थे। बढ़ई (तक्षन्), हिरण्यकार, चर्मकार, भिषक्, कारु (शिल्पी या संगीतज्ञ), तन्तुवाय आदि व्यवसायियों का उल्लेख इस वेद में मिलता है।

इस प्रकार ऋग्वेद के युग में समाज का वैविध्यपूर्ण चित्र प्राप्त होता है। भारतीय इतिहास में साहित्यिक सामग्री के आधार पर सर्वाधिक स्पष्ट चित्र हमें पहली बार ऋग्वेद में ही मिलता है। यह वस्तुतः हमारे देश का ग्रन्थरत्न है।

(ख) यजुर्वेद-संहिता

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है जिसका संकलन अध्वर्यु-नामक ऋत्विक् के उपयोग के लिए किया गया था। यज्ञ के साधक मन्त्र 'यजुष्' (यज्+उसि-प्रत्यय) कहलाते हैं। यजुष् गद्य-

---

१. ऋग्वेद के १०/१७३ तथा १७४ सूक्त राष्ट्र और राजा से सम्बद्ध हैं। राजा की प्रार्थना देखें-

असपत्नः सपत्नहाऽ भिराष्ट्रो विषासहिः।

यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च॥

पद्यात्मक है, इसीलिए कहा गया है- अनियताक्षरावसानं यजुः (जिसमें पद्यों के समान अक्षरों की संख्या निश्चित नहीं होती)।

इसके दो सम्प्रदाय हैं-ब्रह्म-सम्प्रदाय तथा आदित्य-सम्प्रदाय। ब्रह्म-सम्प्रदाय का वेद 'कृष्ण यजुर्वेद' है और आदित्य-सम्प्रदाय का वेद 'शुक्ल यजुर्वेद' है। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में मन्त्रों के साथ उनकी व्याख्या, विवरण एवं विनियोग भी मिश्रित है। मिश्रण या अस्वच्छता के कारण वह 'कृष्ण' है (विनियोगमिश्रत्वं कृष्णत्वम्)। दूसरी ओर शुक्लयजुर्वेद की संहिताओं में शुद्ध मन्त्र हैं, विनियोगों का मिश्रण नहीं है। यही इसका शुक्लत्व है (विनियोगामिश्रितत्वं शुक्लत्वम्)।

यद्यपि प्राचीनकाल में यजुर्वेद की १०१ या १०० शाखाएँ थी जैसा कि पतञ्जलि के महाभाष्य (एकशतमध्वर्युशाखाः), सर्वानुक्रमणी (यजुरेकशताध्वकम्) तथा कूर्मपुराण (४९/५१ शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्) में उल्लेख है, किन्तु कालक्रम से इसकी शाखाएँ लुप्त होने लगीं। आज केवल छह शाखाएँ ही सुरक्षित हैं-शुक्ल यजुर्वेद की दो तथा कृष्ण यजुर्वेद की चार।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिताएँ- शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का नाम वाजसनेयि-संहिता है जिसकी दो शाखाएँ हैं- माध्यन्दिन तथा काण्व। वस्तुतः एक ही मूल संहिता दो रूपों या संस्करणों में उपलब्ध है। दोनों में अध्यायों की संख्या चालीस ही है किन्तु मन्त्रों की संख्या में भेद है- माध्यन्दिनसंहिता में १९७५ मन्त्र हैं जबकि काण्व संहिता में मन्त्रों की संख्या २०८६ है। विषयवस्तु दोनों में समान ही है। माध्यन्दिन का प्रचार उत्तर भारत में तथा काण्व का प्रचार महाराष्ट्र में है। इसीलिए उत्तरभारत में 'यजुर्वेद' कहने से उसी प्रकार केवल माध्यन्दिन (वाजसनेयि) संहिता का बोध होता है जिस प्रकार 'वेदान्त' कहने से केवल शांकर-दर्शन समझा जाता है यद्यपि यह अदूरदृष्टि है। ग्रिफिथ ने भी यजुर्वेद के रूप में इसी संहिता का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

प्रतिपाद्य विषय (शुक्लयजुर्वेद)- शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन-वाजसनेयि-संहिता का प्रतिपाद्य ही यजुर्वेद की सभी संहिताओं में प्रायः निर्दिष्ट है। इसीलिए 'प्रकृति'-रूप में इसी की विषय-वस्तु का निर्देश किया जाता है। अध्वर्यु के लिए संकलित होने से यजुर्वेद में मुख्यतः कर्मकाण्ड का निरूपण है। अध्वर्यु यज्ञ के परिमाण का नियामक होता है- **यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः** (ऋ०१०/७१/११)। वह अध्वर का संयोजक-सम्पादक (Organiser) होता है (अध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता)। यज्ञ के मुख्य कार्य-कलाप यजुर्वेद के प्रतिपाद्य हैं।

यजुर्वेद के ४० अध्यायों में प्रथम २५ प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण हैं जबकि शेष १५ अध्याय खिल (परिशिष्ट) के रूप में माने गये हैं। इस वेद के प्रथम दो अध्यायों में दर्श और पौर्णमास यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र हैं। दर्श-यज्ञ अमावस्या के दिन और पौर्णमास पूर्णिमा के दिन होता था। तृतीयाध्याय में अग्निहोत्र (दैनिक अग्निपूजा और हवन) एवं चातुर्मास्य (चार महीनों पर होने वाले यज्ञ) का वर्णन है। अध्याय ४ से ८ तक सोमयागों का वर्णन है; इनमें अग्निष्टोम प्रकृति-याग है जिसका विस्तृत विवेचन है। अग्निष्टोम में सोम को पत्थरों से कूटकर उसका रस निकाला

जाता था। उसमें दूध मिलाकर दिन में तीन बार (प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल) अग्नि में हवन करते थे। इस क्रिया को 'सवन' कहते थे।

सोमयाग एकाह (एक दिन में पूरा होने वाला) भी होता था, अनेकाह भी। एकाह सोमयागों में 'वाजपेय' महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त राज्याभिषेक के अवसर पर होनेवाला 'राजसूय' याग भी था। इन दोनों यागों के मन्त्र नवम-दशम अध्यायों में हैं। राजसूय याग में अस्त्रक्रीड़ा, द्यूत, प्रीतिभोज आदि अङ्ग के रूप में आयोजित होते थे।

अध्याय ११ से १८ तक अग्निचयन का विस्तृत निरूपण है। इसके अन्तर्गत यज्ञाग्नि की स्थापना के लिए वेदिका का निर्माण होता था। वेदिका १०८०० ईंटों से बनती थी जिनके आकारों और प्राप्तिस्थानों के विशेष नियम थे। इसके अन्तर्गत ६६ मन्त्रों का सोलहवाँ अध्याय है जिसे 'रुद्राध्याय' या 'नमकाध्याय' (नमः शब्द का अधिक प्रयोग) भी कहते हैं। इसमें रुद्र-देवता के विविध रूपों का वर्णन है।[1] अठारहवें अध्याय को 'च मे' शब्दों की बहुधा आवृत्ति के कारण 'चमकाध्याय' कहते हैं। इसमें ७७ मन्त्र हैं, अनेक मन्त्रों के अन्त में '**यज्ञेन कल्पन्ताम्**' यह दिया गया है।[2] इसमें जीवन के समस्त आदर्शों तथा सफलता के उपादानों की कामना की गयी है।

अध्याय १९ से २१ तक सौत्रामणी याग का वर्णन है जिसमें अश्विना, सरस्वती, इन्द्र इत्यादि की प्रार्थनाएँ होती थीं। इस याग का अनुष्ठान सोम के प्रति अत्यासक्ति के प्रायश्चित्त-स्वरूप होता था। इसमें सुरा और सोम दोनों का समर्पण इष्ट देवताओं को किया जाता था- **अश्विभ्यां सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णे सुरा-सोमान्** (यजु०२१/५९ अन्तिम भाग)। सौत्रामणी-याग में यजमान भी सुरापान करते थे- **सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्।**

इसके बाद के चार अध्यायों (२२-२५) में अश्वमेध-यज्ञ की विधियाँ वर्णित हैं। यह यज्ञ सार्वभौम आधिपत्य के इच्छुक सम्राट के लिए विहित था।[3] राजा को सर्वाधिक महत्त्व अश्वमेध के अनुष्ठान से मिलता था। वेदों में 'मेध' शब्द का प्रयोग श्रीवृद्धि, समृद्धि, पोषण आदि के अर्थ में होता था। 'अश्व' भी राष्ट्र का बोधक था (राष्ट्रं वा अश्वमेधः)।[4] इसलिए अश्वमेध का अर्थ है- राष्ट्र की श्रीवृद्धि करना, अपना तेज और प्रताप बढ़ाना, राष्ट्र में धन-धान्यादि की समृद्धि करना। इसी प्रकार गोमेध (गोवंश की उन्नति के लिए यज्ञ),सर्वमेध (सामूहिक अभ्युदय का प्रयास),पुरुषमेध (मानवमात्र के कल्याण के लिए यज्ञ), आदि शब्द प्रयुक्त होते थे। अश्वमेध में किस प्रकार राष्ट्र की उन्नति वाञ्छनीय होती थी इसका अनुमान इस प्रसंग के निम्नाङ्कित मन्त्र से हो सकता है-

---

१. उदाहरणार्थ १६/४१ देखें जिसमें रुद्र के छह नामों का उल्लेख है-नमः शम्भवाय च, मयोभवाय च, नमः शङ्कराय च, मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च।

२. उदाहरणार्थ १८/५ देखें-''सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।'' इस अध्याय के प्रथम २७ मन्त्र काम्य विषयों की सूची देते हैं।

३. इसका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन **शतपथ ब्राह्मण** (काण्ड १३) तथा **कात्यायन श्रौतसूत्र** (अध्याय-२०) में किया गया है। ४. **शतपथ ब्राह्मण** १३/१/६/३।

"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। (२२/२२)"

अर्थात् हे परमात्मन्, हमारे राष्ट्र में पवित्रज्ञानसम्पन्न तथा तेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों; पराक्रमी (शूरः), बाण चलाने में कुशल (इषव्यः), शत्रु का अत्यन्त भेदन करने वाला (अतिव्याधी), महान् योद्धा क्षत्रिय (राजन्यः) उत्पन्न हो; अधिक दूध देनेवाली गाय, भार ढोने में समर्थ शक्तिशाली बैल, शीघ्रगामी अश्व (आशुः सप्तिः), सर्वगुणसम्पन्न स्त्री (पुरन्धिः योषा), रथ में बैठने वाले (रथेष्ठाः) तथा शत्रुविजेता (जिष्णुः) वीर [उत्पन्न हों]; इस यजमान को सभा में जाने योग्य (सभेयः) युवक वीरपुत्र उत्पन्न हों; पर्जन्य हमारी इच्छा के अनुसार (निकामे-निकामे) वर्षा करता रहे; हमारे पौधे फल से युक्त होकर स्वयं पकते रहें; हमें अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा (=जीविका के साधन, योगक्षेमः) मिलती रहे। स्पष्टतः राष्ट्र की अभ्युन्नति की कामना व्यापक परिवेश में अध्वर्यु ने की है।

यजुर्वेद के अन्तिम पन्द्रह अध्याय खिल होने के कारण नये विषयों से सम्बद्ध हैं। अध्याय २६ से २९ तक पूर्व अध्यायों में निरूपित यागों से सम्बद्ध नये मन्त्र दिये गये हैं। अतः ये अध्याय किसी ग्रन्थ के परिशिष्ट जैसे लगते हैं। तीसवें अध्याय में पुरुषमेध का वर्णन है जिसमें १८४ पुरुषों के मेघ (उन्नति) के निर्देश हैं। भौतिक दृष्टि से लोगों ने अर्थ किया है कि विभिन्न उपलब्धियों के लिए विविध जीविका वाले व्यक्तियों का आलम्भन करे (यजु० ३०/५-२१)। वस्तुतः विविध व्यवसायों, वर्णों, जातियों, आकृतियों को अपना-अपना लक्ष्य बताया गया है जैसे-ब्रह्मशक्ति के लिए ब्राह्मण को, क्षात्रशक्ति के लिए क्षत्रिय को, मरुतों की क्षमता पाने के लिए वैश्य को, तपस्या के लिए शूद्र को, अन्धकार में जाने के लिए तस्कर को, नरक के लिए हत्यारे को ..... नृत्त के लिए सूत को, गीत के लिए नट को ...... प्रेरित करें। इससे समाज में प्रचलित व्यवसायों तथा अपराधों का पता चलता है।

३१वें अध्याय में ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त देकर छह अतिरिक्त मन्त्र दिये गये हैं। इनमें एक प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें परमात्मा के ज्ञान की महिमा दी गयी है-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (मन्त्र १८)[1]

३२वें तथा ३३वें अध्यायों में सर्वमेध-याग के मन्त्र दिये गये हैं। इस याग में कोई यजमान सर्वकल्याण के लिए अपनी सारी सम्पत्ति बाँट देता था और स्वयं तपस्या के लिए वन में चला जाता था। चौंतीसवाँ अध्याय ५८ मन्त्रों का है जिसके आरम्भ में प्रसिद्ध शिवसंकल्प-सूक्त है। उसमें छह मन्त्र हैं। प्रत्येक के अन्त में है- **तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु** (अर्थात् मेरा वह मन कल्याणकारी विचारों से युक्त हो जाए)। अन्य मन्त्रों में विविध देवताओं की स्तुतियाँ हैं।

पैंतीसवें अध्याय में पितृमेध का वर्णन है जिसमें पूर्वपुरुषों की सेवा, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि

---

१. इसे श्वेताश्वतरोपनिषद् (३/८) में अविकल रूप से ग्रहण किया गया है।

से सम्बद्ध मन्त्र हैं। अध्याय ३६ से ३८ तक प्रवर्ग्ययाग का वर्णन है। इस याग में अग्नि के ऊपर रखी कड़ाही लाल कर दी जाती है जो सूर्य का प्रतीक बनती है। उबला दूध अश्विनों को अर्पित करते हैं तथा यज्ञपात्रों को सजाकर मानवाकृति बनायी जाती है। ३६वें अध्याय में अनेक शान्तिमन्त्र हैं जैसे- **शं नो मित्रः शं वरुणः** (मन्त्र ९), **द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ᳫं शान्तिः** (मन्त्र१७), **यतो यतः समीहसे** (मन्त्र २२), **तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्०** (मन्त्र २४)। ३९वें अध्याय में नरमेध या अन्त्येष्टि का वर्णन है। इसमें 'स्वाहाकार' का व्यापक प्रयोग है।

यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय विशुद्ध ज्ञानकाण्डात्मक है जो ईशावास्योपनिषद् के रूप में आगे चलकर प्रसिद्ध हुआ। इसमें १७ मन्त्र हैं। इसका अन्तिम मन्त्र इस वेद को आदित्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत निर्दिष्ट करता है-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥

इस प्रकार यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की परिणति ज्ञानकाण्ड के रूप में दिखायी गयी है।

कृष्णयजुर्वेद की संहिताएँ-इस वेद की चार शाखाओं की चार संहिताएँ उपलब्ध हैं- तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक (या कठ) एवं कपिष्ठल-कंठ। इनका परिचय दिया जाता है-

(१) तैत्तिरीय संहिता- यह कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं में महत्त्व तथा प्रचार की दृष्टि से प्रमुख है। इसमें ७ काण्ड,४४ प्रपाठक, ६३१ अनुवाक तथा २१९८ मन्त्र हैं। इसका विशेष प्रचार महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा दक्षिण भारत के राज्यों में है। सायणाचार्य ने वेदभाष्यों का आरम्भ इसी पर भाष्य लिखकर किया था। वे इसी शाखा के थे। तैत्तिरीय शाखा सर्वाङ्गपूर्ण है क्योंकि इसकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थ (श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व भी) ये सभी उपलब्ध हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध होने के कारण तैत्तिरीय संहिता में मन्त्रों के साथ विनियोग (व्याख्या) भी मिश्रित हैं। शुक्ल यजुर्वेद के समान इसमें भी विविध यज्ञों का वर्णन है। इस संहिता की प्राचीनता का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि इसमें वर्णित अधिसंख्यक देवता ऋग्वेद के ही हैं। रुद्र की प्रधानता यहाँ मिलती है जिन पर एक पूरा अध्याय शुक्ल यजुर्वेद के समान है। इस संहिता के सप्तम काण्ड में वसिष्ठ और राजा सुदास का आख्यान वर्णित है जिसका आधार ऋग्वेद है। इसका प्रथम सम्पादन वेबर ने किया था (१८७१-२)। कीथ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद करके दो खण्डों में (HOS,1914) २०० पृष्ठों की भूमिका के साथ प्रकाशित कराया।

(२) मैत्रायणी-संहिता- यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा की संहिता है। इसमें भी तैत्तिरीय संहिता के समान मन्त्र और विनियोग (व्याख्या) परस्पर संयुक्त हैं। इसमें मन्त्रों का स्वराङ्कन नहीं है यद्यपि ये मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम, षष्ठ और दशम मण्डलों से मुख्यतः संकलित हैं।[१] इस संहिता में ४ काण्ड, ५४ प्रपाठक तथा २१४४ मन्त्र हैं। इस शाखा को ही कलाप या कालापक भी कहते थे। इसके प्रथम काण्ड के ११ प्रपाठकों में दर्श-पौर्णमास, सोमयाग, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य और वाजपेय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड के तेरह प्रपाठकों में काम्य इष्टि, राजसूय तथा अग्निचिति का विवेचन है। तृतीय काण्ड (१६ प्रपाठक) में अग्निचिति,

---

१. ऋग्वेद की १७०१ ऋचाएँ मैत्रायणी-संहिता में संकलित हैं।

अध्वरविधि, सौत्रामणी तथा अश्वमेध का विवरण है। खिल अर्थात् परिशिष्ट के रूप में प्रसिद्ध चौदह प्रपाठकों वाले चतुर्थ काण्ड में राजसूय आदि यज्ञों से सम्बद्ध सामग्री संकलित है। इसका सम्पादन श्रोडर ने चार खण्डों में किया था (१८८१-६ ई.)। इसके पूर्व वेबर ने १८४७ ई. में इसका संस्करण प्रकाशित किया था।

(३) **कठ-संहिता**- पतञ्जलि के अनुसार इसका प्रचार गाँव-गाँव में था, किन्तु आज इसका प्रचार लुप्तप्राय है। यह ४० स्थानकों में विभक्त है, जिनमें ८४३ अनुवाक और ३०९१ मन्त्र हैं। मन्त्रों और ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या अठारह सहस्र कही गयी है। इस संहिता का मैत्रायणी-संहिता से बहुत साम्य है, दोनों के अन्त में अश्वमेध-याग का वर्णन है। किन्तु कठ-संहिता में स्वराङ्कन मिलता है, मैत्रायणी में नहीं। इस संहिता में भी पुरोडाश, अध्वर, राजसूय, वाजपेय आदि का विवेचन है।

(४) **कपिष्ठल-कठ-संहिता**- यह संहिता अपूर्ण रूप से मिली है। ऋग्वेद के समान इसका विभाजन भी अष्टकों और अध्यायों में है। इसके छह अष्टकों में ४८ अध्याय हैं किन्तु अध्याय ९ से २४, ३२, ३३ तथा ४३ सर्वथा खण्डित हैं। डॉ० रघुवीर ने १९३२ ई० में इसे लाहौर से प्रकाशित कराया था।

यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता तथा तैत्तिरीय संहिता में ऋग्वेद के मन्त्रों का उद्धरण प्रायः अविकृत रूप में है, किन्तु अन्य शाखाओं की संहिताओं में उनकी पर्याप्त विकृति की गयी है।[1] मन्त्र-साक्षात्कार की प्रतिभा इन शाखाओं में न्यूनतर होती गयी है। यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं में दर्शपूर्णमास, हविर्यज्ञ, पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय, दीक्षणीयेष्टि, सोमयाग, सौत्रामणी, प्रवर्ग्य, अग्निचयन, अश्वमेध तथा पुरुषमेध का वर्णन मिलता है। इनमें अनेक यज्ञ परवर्ती युग की देन हैं, कुछ प्राचीन हैं। यज्ञों की जटिलता तथा वृद्धि के क्रम में ही यजुर्वेद-संहिता का विकास हुआ, शाखाओं की वृद्धि हुई। कृष्णयजुर्वेद के विनियोग-वाक्यों में संहिता का लक्षण घटित नहीं होता; केवल यज्ञ की प्रमुखता, उसकी विधियों की जटिलता के दर्शन इनमें होते हैं। इस प्रकार कृष्णयजुर्वेद अन्य वेदों से विलक्षण है; ब्राह्मण-वाक्यों की पूर्वपीठिका इसी में मिलती है क्योंकि गद्य-रूप में यज्ञों की व्याख्या का कार्यक्रम यहाँ आरम्भ हो जाता है।

(ग) सामवेद-संहिता

सामन् अर्थात् गान का वेद सामवेद है।[2] इसमें उन मन्त्रों का (मुख्यतः ऋग्वेद की ऋचाओं का) संकलन है जो गान के योग्य समझे गये थे। ऋचा और गान का समन्वय ही साम है। इसे अलंकारों का प्रयोग करके स्पष्ट किया गया है जैसे- (i) **या ऋक् तत् साम** (छान्दोग्योपनिषद् १/३/४), (ii) **ऋचि अध्यूढं साम** (वहीं १/६/१), (iii) **सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्** (बृहदारण्यकोपनिषद् १/३/२५)। सा=ऋचा, अम=गान। यह सामन् की कृत्रिम व्युत्पत्ति है किन्तु यह स्पष्ट है कि ऋचाओं का ही गान सामन् का स्वरूप और उद्देश्य दोनों था। यज्ञ में उद्गाता के उपयोग के लिए इन मन्त्रों का संकलन हुआ था। इसीलिए सामवेद को औद्गात्र-वेद भी कहते

---

१. डॉ० सुकुमारी भट्टाचार्यी- **Literature in the Vedic Age, Vol. I, p.198, fn.9.**

२. मीमांसासूत्र २/१/३६ गीतिषु सामाख्या।

हैं। उद्गाता ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परागत गान करता है। सामवेद में ऋग्वेद के अष्टम-नवम मण्डलों से ही ऋचाएँ संकलित हैं जो सोमयाग के अवसर पर गेय हैं।

गान की पृथक् परम्पराओं के कारण किसी समय इस वेद की एक सहस्र शाखाएँ थीं (सहस्रवर्त्मा सामवेद:-महाभाष्य)। यही बात चरणव्यूह तथा पुराणों में भी कही गयी है। शौनक ने कहा है कि अनेक शाखाओं का नाश इन्द्र ने इसलिए वज्र-प्रहार द्वारा कर दिया कि अनध्याय के दिनों में इनका पाठ होने लगा था (अनध्यायदिवसेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहता:)। आज सामवेद की केवल तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं- कौथुमीय, राणायणीय एवं जैमिनीय (या तलवकार)। ये तीनों शाखाएँ क्रमश: गुजरात, महाराष्ट्र एवं कर्णाटक में प्रचलित हैं। इनमें कौथुमीय शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय है, राणायणीय शाखा से भी यह मिलती-जुलती है। मन्त्रों का क्रम दोनों में समान है, केवल गणना-पद्धति में भेद है। कौथुमीय शाखा में जहाँ अध्याय, खण्ड और मन्त्र के रूप में विभाजन है, वहाँ राणायणीय शाखा में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति के रूप में विभाजन मिलता है।[१]

सामवेद की कुल मन्त्र संख्या १८७५ हैं जो पूर्वार्चिक (६५० मन्त्र) तथा उत्तरार्चिक (१२२५ मन्त्र)- इन भागों में विभक्त है। सामवेद के पूर्वार्चिक में ४ काण्ड है-आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान तथा आरण्यकाण्ड (महानाम्नी के साथ)। इसे छह अध्यायों के रूप में भी वर्गीकृत किया गया है। उत्तरार्चिक २१ अध्यायों या नौ प्रपाठकों में विभक्त है। पूरे सामवेद में १७७१ ऋचाएँ ली गयी हैं अर्थात् १०४ मन्त्र इसके अपने हैं। ऋग्वेद के १७७१ मन्त्रों में २६७ पुनरुक्त हैं, सामवेद के मन्त्रों में भी पाँच की पुनरुक्ति है।

विषयवस्तु- सामवेद मुख्यत: उपासना से सम्बद्ध है, सोमयाग में आवाहन के योग्य देवताओं की स्तुतियाँ इससे प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद की धर्मविषयक सामग्री से पृथक् यहाँ कुछ नहीं है। पूर्वार्चिक में अग्नि, इन्द्र और पवमान सोम से सम्बद्ध मन्त्र दिये गये हैं। इन मन्त्रों में सामगान की दृष्टि से प्रत्येक मन्त्र के लय का स्मरण रखना होता है क्योंकि इनका प्रयोग उत्तरार्चिक में होता है। इस प्रकार पूर्वार्चिक में मूलभूत ऋचाएँ संकलित हैं, उत्तरार्चिक में उन्हीं के लयों (धुनों) पर गाने योग्य तृच (तीन ऋचाओं का समूह) तथा प्रगाथों का संग्रह है। उत्तरार्चिक पूरक के रूप में है।

यज्ञों के समय उद्गाता इन मन्त्रों का गान करता था। पूरे सामवेद में सोमरस, सोम-देवता, सोमयाग और सोमपान का महत्त्व अंकित है, इसलिए इसे सोम-प्रधान वेद कह सकते हैं। अध्यात्मवादियों की दृष्टि में सोम ब्रह्म या शिव है जिसकी प्राप्ति का साधन उपासना है- सामवेदीय संगीत एवं भक्ति के रूप में यह उपासना होती है।

सामगान- गान-प्रधान वेद होने से सामवेद के मन्त्रों के गान पर पर्याप्त साहित्य-रचना हुई है तथा सिद्धान्त से अधिक व्यवहार का इस दृष्टि से महत्त्व है।[२] नारद-शिक्षा में सामगान-

---

१. श्री सातवलेकर ने सामवेद के अपने संस्करण मे इन दोनों शाखाओं का प्रकाशन किया है, जैमिनीय शाखा की संहिता का प्रकाशन डॉ० रघुवीर ने किया था।

२. साममन्त्रों में अक्षरों के ऊपर १,२,३ के चिह्न क्रमश: उदात्त, स्वरित और अनुदात्त का निर्देश करते हैं। स्वरित के बाद के अनुदात्तों पर (=प्रचय पर) कोई संख्या नहीं दी जाती।

सम्बन्धी कुछ निर्देश हैं जैसे-

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपञ्चाशदित्येतत् स्वरमण्डलम्॥

अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद- ये सात स्वर हैं। मन्द, मध्य और तीव्र- ये तीन ग्राम हैं। स्वरों और ग्रामों के परस्पर योग से २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं। इसी प्रकार स्वरों और स्वरों के योग से ४९ तान बनते हैं। सामवेद के अंक क्रमशः मध्यम, गान्धार, ऋषभ आदि के क्रम से (=म ग रे सा नि ध प के क्रम से) रहते हैं, तदनुसार गान होता है।

सामगान के ग्रन्थों की रचना पूर्वार्चिक मन्त्रों के आधार पर हुई है। ये गान चार प्रकार के हैं-ग्रामगान, आरण्यक गान, ऊहगान तथा ऊह्यगान (रहस्यगान)। इनमें **ग्रामगान** को ग्राम या सार्वजनिक स्थानों पर गाया जाता था। **आरण्यकगान** वनों तथा पवित्र स्थानों में ही गेय होता था। **ऊहगान** का प्रयोग सोमयाग तथा विशिष्ट धार्मिक अवसरों पर ही होता था। **ऊह्य** या रहस्यगान भी आरण्यक-गान के समान वन या पवित्र स्थान पर हो सकता था। जैमिनीय शाखा के अनुसार ३६८१ गान हैं, अन्य दोनों शाखाओं में गानों की संख्या २७२३ है।

सामविकार- सामगान में गान के अनुसार कुछ वर्ण घटाये-बढ़ाये जाते हैं इसलिए सामों में विकार होता है जो छह प्रकार का है- (१) **विकार**-शब्द को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करना जैसे-अग्ने > ओग्नायि। (२) **विश्लेषण**-शब्द या पद को तोड़ना जैसे- वीतये > वो यि तोया २ यि। (३) **विकर्षण**- एक स्वर को देर तक खींचना जैसे- ये > या २ ३ यि। (४) **अभ्यास**- किसी पद को बार-बार बोलना जैसे-तोया ३ यि, तोया २ यि। (५) **विराम** -गान की सुविधा के लिए शब्द को बीच में तोड़कर रुक जाना अर्थात् पद के मध्य में ही विराम करना जैसे-गृणानो ह, व्यदातये। यहाँ 'हव्य' के 'ह' को पूर्व शब्द के साथ जोड़ा गया है। (६) **स्तोभ**-आलाप के योग्य पदों को ऊपर से जोड़ना जैसे-औहोवा, हाउ आदि को जोड़ना। शाखा भेद से इन स्तोभ-पदों का भेद होता है। कौथुमीय शाखा में 'हाउ' 'राइ' आदि जोड़ते हैं; राणायणीय शाखा में 'हावु' 'रायि' आदि।[1]

(घ) अथर्ववेद-संहिता

लौकिक सामग्री का प्राचुर्य होने के कारण अथर्ववेद अन्य वैदिक संहिताओं से विलक्षण है। अन्य वेदों में जहाँ धर्म और यज्ञानुष्ठान को महत्त्व मिला है, वहाँ अथर्ववेद यज्ञेतर विषयों का बहुल रूप से वर्णन करता है। फिर भी यज्ञ के सम्पादक ऋत्विजों में '**ब्रह्मा**' के कार्य से इसके मन्त्र सम्बद्ध हैं। ब्रह्मा यज्ञ का निरीक्षण करता है तथा विभिन्न क्रियाओं की अनुमति देता है (ब्रह्मा

---

१. **सामवेद** का प्रथम मन्त्र है- अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि। (ऋ० ६/१६/१० भी यही है)
इसका **गौतम** के अनुसार **गान है**-ओग्नाई। आ या हीऽ३। वोइतोयाऽ २३। तोया ऽ२ इ। गृणानो ह। व्यदातोया ऽ२ इ। तोया ऽ२ इ। नाइ होता सा ऽ२ ३। त्साऽ २ ३। वा ऽ२३४ औहोवा। हीऽ२३४ षीङ्क विशेष विवरण के लिए सातवलेकर का **सामवेद संस्करण** द्रष्टव्य, भूमिका, पृ.२-१२ तथा अन्त में २२४ से २३५ भी।

त्वो वदति जातविद्याम्)। इसीलिए इस वेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहा गया है। ब्रह्मा ही यज्ञ की विघ्न-बाधाओं का भी निवारण करता है। अथर्ववेद में ऐसे मन्त्रों का भी संग्रह है जो भौतिक बाधाओं को दूर करते हैं।

'अथर्वन्' शब्द की निरुक्ति निरुक्त तथा गोपथ ब्राह्मण में दी गयी है। निरुक्त में थर्व् धातु गत्यर्थक है, गति का निषेध अथर्वन् में निहित है (निरुक्त ११/१८ अथर्वाणोऽथर्वणवन्त:; थर्वति-श्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेध:)। तदनुसार चित्तवृत्तियों के निरोध-रूप योग का इसमें उपदेश है। गोपथ ब्राह्मण (१/४) में अथ+अर्वाक् से 'अथर्वा' शब्द बनाया गया है। तदनुसार इस वेद में अपनी आत्मा को अपने भीतर देखने की शिक्षा दी गयी है। किन्तु अथर्ववेद में कुछ आध्यात्मिक मन्त्रों के होने पर भी इसका विपुलांश अन्य विषयों से भरा-पूरा है, अत: ये निर्वचन पूर्वाग्रह-मात्र हैं।

अग्नि को उद्बोधित करने वाले पुरोहित को अथर्वन् कहा जाता था जिसका समानान्तर शब्द अवेस्ता-भाषा का 'अथ्रवन्' है।[1] इसका एक अर्थ जादू-टोना करना भी था। अन्त: अग्नि को आधार बनाकर अथर्वा विचित्र कार्य करते थे। अथर्ववेद का प्राचीन नाम 'अथर्वाङ्गिरस' भी है। अथर्वा ऋषि अङ्गिरस् के वंशज थे इसलिए उन्हें आङ्गिरस कहा गया था। अथर्वा+आंगिरस=अथर्वाङ्गिरस-इस प्रकार अभिधान पड़ा। प्राचीन युग में अङ्गिरस् भी अग्नि-पुरोहित के अर्थ में था, वही स्वर्ग से अग्नि को पृथ्वी पर लाये थे। यूनानी भाषा में इसके समान अंगेलॉस् (angelos) शब्द का प्रयोग दूत के अर्थ में होता था जिससे अंग्रेजी में angel (=देवदूत) बना है। वैदिक मन्त्रों में भी अग्नि को देवताओं का दूत कहा गया है। इस प्रकार अग्नि-प्रधान वेद अथर्ववेद है। अथर्ववेद का अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद करने वाले प्रसिद्ध अमेरिकी भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड ने कहा है कि अथर्वन् और अङ्गिरस् दो भिन्न प्रकार के जादू-मन्त्रों के बोधक हैं। अथर्वन् नामक ऋषि से सम्बद्ध मन्त्र तो शान्ति-पुष्टि आदि सौम्य कर्मों के प्रतिपादक हैं जबकि अंगिरस् के मन्त्र अभिचार-कर्म अर्थात् मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि के निरूपक हैं। वस्तुत: इन दोनों ऋषियों और उनके वंशजों से सम्बद्ध मन्त्र अथर्ववेद में आये हैं।

अथर्ववेद के अन्य नाम भी हैं जैसे-**क्षत्रवेद** (राजाओं और क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश होने से), **भैषज्यवेद** (आयुर्वेद, चिकित्सा, ओषधि आदि का वर्णन होने से), **महीवेद** (पृथ्वीसूक्त तथा महती ब्रह्मविद्या का निर्देश होने से), **छन्दोवेद** (छन्द:प्रधान होने से) इत्यादि। **ब्रह्मवेद**, आङ्गिरसवेद आदि तो इसके नाम प्रसिद्ध ही हैं।

शाखाएँ- महाभाष्य में अथर्ववेद की ९ शाखाओं का निर्देश है (नवधाथर्वणो वेद:)। इनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं-पैप्पलाद, तौद , मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवेद, देवदर्श तथा चारणवैद्य। अभी केवल दो शाखाओं (पैप्पलाद एवं शौनकीय) की संहिताएँ मिलती हैं। शौनकीय या **शौनक शाखा** का अथर्ववेद अधिक लोकप्रिय है। इसमें बीस काण्ड, ७३० सूक्त और ५९८७ मन्त्र हैं। इनमें षष्ठ काण्ड (४५४ मन्त्र), एकोनविंश काण्ड (४५३ मन्त्र) तथा विंशकाण्ड (९५८ मन्त्र) बड़े हैं। सबसे छोटे काण्ड (सप्तदश काण्ड) में केवल ३० मन्त्र हैं। अथर्ववेद में ५० से अधिक सूक्त गद्यात्मक मन्त्रों से पूर्ण हैं।

---

१. अथर् या अतर् प्राचीन ईरानी भाषा में 'अग्नि' का पर्याय था जिससे फारसी में आतिश् हुआ है। अत: अथर्वन् सोम-पुरोहितों से भिन्न अग्नि-पुरोहित थे।

पैप्पलाद-संहिता कश्मीर में शारदालिपि में प्राप्त हुई थी जिसका ब्लूमफील्ड ने १९०१ ई० में प्रकाशन कराया था। बाद में डॉ० रघुवीर ने भी इसका संस्करण किया। इसे 'कश्मीरी अथर्ववेद' कहा गया था। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में जो 'शन्नो देवीरभिष्टये०' इत्यादि को अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र कहा है वह इसी संहिता का प्रथम मन्त्र है, शौनकीय अथर्वसंहिता का नहीं। इससे प्राचीन काल में इस शाखा के प्रचार का अनुमान होता है।

अथर्ववेद के **पाँच उपवेद** गोपथ ब्राह्मण (१/१०) में इस प्रकार निर्दिष्ट हैं-सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद। वर्तमानकाल में इतिहास तथा पुराण ही उपलब्ध हैं, शेष उपवेद लुप्त हो गये।

अथर्ववेद के संकलन में कुछ विशिष्टताएँ मिलती हैं। काण्डों की व्यवस्था कहीं मन्त्र-संख्या पर आश्रित है तो कहीं विषयवस्तु पर। तदनुसार पूरा वेद ४ भागों में विभक्त है[1]-

(क) **प्रथम भाग**- काण्ड १ से ७ तक। इस भाग में मन्त्रों की संख्या पर ध्यान रखा गया है। प्रथम काण्ड में ४-४ मन्त्रों के ही सूक्त बहुसंख्यक हैं, द्वितीय काण्ड में ५ मन्त्रों वाले, तृतीय काण्ड में ६ मन्त्रों वाले, चतुर्थ में ७ मन्त्रोंवाले, पञ्चम में ८ से अधिक मन्त्रोंवाले सूक्त हैं। षष्ठ काण्ड में प्रत्येक सूक्त ३ मन्त्रों का है और सप्तमकाण्ड में १-२ मन्त्रों का। यह मन्त्रसंख्या प्रायिक है।

(ख) **द्वितीय भाग**- काण्ड ८ से १२ तक। इस भाग में अधिक मन्त्रोंवाले सूक्त हैं किन्तु विषयों का भेद है।

(ग) **तृतीय भाग**- काण्ड १३ से १८ तक। इस भाग में अधिक मन्त्रों वाले सूक्त हैं किन्तु सबका विषय प्राय: समान है।

(घ) **चतुर्थ भाग**- काण्ड १९ तथा २०। ये लम्बे काण्ड हैं जिनका योग बाद में किया गया प्रतीत होता है। २०वें काण्ड के प्राय: सभी मन्त्र ऋग्वेद के ऐन्द्र-सूक्तों से लिए गये हैं। इस भाग में अथर्ववेद की विषय-वस्तु के विपरीत सोमयाग का वर्णन है। यह योग अथर्वसंहिता को चतुर्थवेद की श्रेणी दिलाने के लिए किया गया प्रयत्न है।

प्रतिपाद्य विषय

काण्डों के अनुसार अथर्ववेद में इस प्रकार की विषय-वस्तु है- प्रथम काण्ड में विविध रोगों की निवृत्ति, बन्धन से मुक्ति, राक्षसों का विनाश, सुख प्राप्ति आदि का निरूपण है। द्वितीय काण्ड में रोग, शत्रु एवं कृमि के नाश का वर्णन तथा दीर्घायुष्य की प्रार्थना है। तृतीय काण्ड में शत्रुसेना का सम्मोहन, राजा का निर्वाचन, शाला-निर्माण, कृषि तथा पशुपालन का विवरण है। चतुर्थ काण्ड में ब्रह्मविद्या, विषनाशन, राज्याभिषेक, वृष्टि, पापमोचन तथा ब्रह्मौदन का वर्णन है। पञ्चम काण्ड में मुख्यत: ब्रह्मविद्या और कृत्या (राक्षसी) के परिहार से सम्बद्ध मन्त्र हैं। षष्ठ काण्ड में दु:स्वप्न-नाशन और अन्न-समृद्धि के मन्त्र हैं। सप्तम काण्ड आत्मा का वर्णन करता है। अष्टम

---

१. डॉ० कपिलदेव **द्विवेदी-संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास**, पृ.६७। विन्टरनित्स-**भारतीय साहित्य का इतिहास**, प्रथम भाग, पृ.९०।

काण्ड में मुख्यतः विराट् ब्रह्म का वर्णन है। नवम काण्ड में मधुविद्या, पञ्चौदन अज, अतिथि-सत्कार, गोमहिमा एवं यक्ष्म का नाश-ये विषय हैं। दशम काण्ड में कृत्या-निवारण, ब्रह्मविद्या, शत्रुनाश के लिए वरण मणि, सर्पविषनाशन एवं ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन है।

एकादश काण्ड में ब्रह्मौदन, रुद्र तथा ब्रह्मचर्य का वर्णन है। द्वादश काण्ड में प्रसिद्ध पृथ्वी सूक्त है जिसमें भूमि का महत्त्व वर्णित है। त्रयोदश काण्ड में पूर्णतः अध्यात्म-प्रकरण है। चतुर्दश काण्ड विवाह-संस्कार से सम्बद्ध है, पञ्चदश काण्ड में व्रात्य-ब्रह्म का गद्य में वर्णन है। षोडश काण्ड में दुःखमोचन के लिए गद्यात्मक मन्त्र हैं। सप्तदश काण्ड में अभ्युदय के लिए प्रार्थना है, इसमें एक सूक्त और कुल तीस मन्त्र हैं। अष्टादश काण्ड पितृमेध से सम्बद्ध है। एकोनविंश काण्ड में विविध विषय हैं-यज्ञ, नक्षत्र, विविध मणियाँ, छन्दों के नाम, राष्ट्र का वर्णन, काल का महत्त्व। विंश काण्ड में सोमयाग का वर्णन तथा इन्द्र की स्तुति है। इसके अन्त में १० सूक्त 'कुन्ताप-सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं (२०/१२७-३६); जिनमें देवता, ऋषि, छन्द या विनियोग किसी का निर्देश नहीं है, इनका पद-पाठ भी नहीं है। ये खिल-सूक्त हैं।

विषय-विभाजन-काण्डों की उपर्युक्त विषय-सूची के आधार पर अथर्ववेद के सूक्तों में प्रतिपादित विषयों को तीन वर्गों में रखा गया है- १. **अध्यात्म प्रकरण** - इसमें शुद्ध दर्शन के साथ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ-संन्यास (व्रात्य), आयुर्वेद, ओषधि-भैषज्य, रोगादिनिवारण, कृमिनाशन, विषनाशन तथा अरिष्टनाशन का विवेचन है। २. **अधिभूतप्रकरण** - इसके अन्तर्गत राज्यशासन, विजयसाधन, राष्ट्र का वर्णन, संग्राम और सेना-संयोजन, शत्रुनाशन, मणिधारण, पापादिनाशन, अन्न-समृद्धि तथा सुख-सम्पत्प्राप्ति का वर्णन है। ३. **अधिदैवतप्रकरण**-इसके अन्तर्गत विविध देवताओं की स्तुतियाँ (जैसे-अग्नि, आदित्य, इन्द्र, उषा, विष्णु, सूर्य आदि), कुन्ताप सूक्त, यज्ञादि, काल, पशु-पालन, एवं वैश्यव्यवसाय का निरूपण रखा गया है।[1] इसे भी सूक्ष्म रूप से अनेक प्रकारों में विभक्त किया गया है-

(१) **भैषज्यसूक्त**-इस कोटि के सूक्तों में रोगों के निवारण, कृमियों के नाश तथा विभिन्न वृक्षों की उपयोगिता का निरूपण है। इस प्रसंग में अनेक प्रकार के रोगों का निर्देश किया गया है जिनसे तात्कालिक जनता आक्रान्त होती थी। विशेष रूप से बलास (क्षयरोग ६/१४), गण्डमाला (७/७४), यक्ष्मा (१/१२,३/७ इत्यादि), श्वेतकुष्ठ (१/२३-२४), अनिद्रा (४/५), तक्मन् (५/२२) इत्यादि रोगों के नाश के लिए मन्त्र दिये गये हैं। तक्मन् शीतज्वर है जिसके परिवार का निरूपण किया गया है कि क्षयरोग उसका भाई है, खाँसी उसकी बहन है, चर्मरोग भतीजा है-

> **तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।**
> **पाम्ना भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम्।।** (अथर्व. ५/२२/१२)

इसी प्रकार विविध जड़ी-बूटियों (ओषधियों) की प्रार्थना करते हुए दीर्घायुष्य की कामना की गयी है। हड्डी जोड़ने के मन्त्रों में कहा गया है कि मज्जा से मज्जा जुड़ जाये, अंग से अंग जुड़ जाये, कटे-फटे मांस और हड्डी भी उग जायें-

---

१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-**अथर्ववेद संहिता**-संस्करण में पृ.१५-१७।

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु स मु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यमपि रोहतु॥ (४/१२/३)

इसी प्रकार कृमि के नाश और विष के शमन के मन्त्र हैं। इस प्रसंग में अनेक प्रकार के सर्पों की भी चर्चा है (५/१३)। यातुधान, कृत्या, पिशाच तथा राक्षसों के दुष्प्रभाव के शमन के मन्त्र तात्कालिक जादू-टोने के परिचायक हैं।

(२) **आयुष्य-सूक्त**- निरन्तर स्वस्थ रहने एवं दीर्घायु प्राप्त करने के उद्देश्य से अथर्ववेद में अनेक सूक्त दिये गये हैं जिनका उपयोग मुण्डन (चौलकर्म), उपनयन, गोदान आदि संस्कारों के अवसर पर होता था (१/३०,३५;२/४,९,१३,२८;३/११ इत्यादि)। इन सूक्तों में शतायु होने और आजीवन नीरोग रहने की प्रार्थनाएँ हैं। आयु के साथ सर्वत्र प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मतेज इत्यादि की भी याचना की गयी थी।[1]

(३) **पौष्टिक-सूक्त**- इस वर्ग में गृह-निर्माण, पशु-रक्षा, हल-प्रवहण, बीज-वपन, अन्न-वृद्धि, व्यवसाय में समृद्धि इत्यादि के लिए प्रार्थनाओं के मन्त्र हैं। गृहस्थ-जीवन के सर्वाङ्गपूर्ण विकास की कामना की गयी है। इनमें वृष्टि-सूक्त (४/१५) बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसके कुल १६ मन्त्रों में ऋग्वेद से भी मन्त्र संकलित हैं तथा गार्हस्थ के आधाररूप वृष्टि की प्रार्थना है। कृषक लोग निरन्तर वृष्टि की प्रार्थना करते थे।

(४) **प्रायश्चित्त-सूक्त**- धार्मिक क्रियाओं तथा सामाजिक जीवन में किये गये अपराधों एवं पापों के परिमार्जन का विधान भी अथर्ववेद में प्रायश्चित्त-सूक्तों के अन्तर्गत हुआ है। इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। ज्ञाताज्ञात पापों, ऋण न चुकाना, नियम-विरुद्ध विवाह, विधिहीन आचरण, दुःस्वप्न, दुर्भाग्य आदि के निवारण के लिए भी इनका विधान है। इस प्रसंग में मृगारसूक्तों (४/२३-२९) का बड़ा महत्त्व है जिनके प्रत्येक मन्त्र के अन्त में कहा गया है- **स नो मुञ्चत्वंहसः** (वह हमें पाप से मुक्त करे)। देवताओं के द्वित्व, बहुत्व से -**तौ नो मुञ्चतमंहसः** या **ते नो मुञ्चन्त्वंहसः** का प्रयोग भी है। स्वप्न-विज्ञान पर इस वर्ग के सूक्तों से बहुत प्रकाश पड़ता है। अपशकुनों के विषय में भी ये सूक्त यथेष्ट सामग्री देते हैं।

(५) **स्त्रीकर्म-सूक्त**- विवाह तथा प्रेम से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्ग 'स्त्रीकर्माणि' के अन्तर्गत है। इनके कुछ मन्त्रों में पवित्र परिवेश है जिनसे किसी की क्षति नहीं होती जैसे नव विवाहित दम्पती को आशीर्वाद, सन्तान-प्राप्ति, गर्भवती की रक्षा तथा नवजात शिशु की रक्षा से सम्बद्ध मन्त्र। इनमें वधू द्वारा वर की प्राप्ति और वर द्वारा वधू की प्राप्ति के मन्त्र भी सन्निविष्ट हैं; दोनों में परस्पर प्रेम की कामना की गयी है। दूसरी ओर कुछ मन्त्रों में अभिचार-कर्म हैं जैसे-इन्द्रजाल, अभिशाप और वशीकरण के मन्त्रों में। इनके मन्त्रों में पति द्वारा पत्नी को और पत्नी द्वारा पति एवं सपत्नी को वश में करने का उल्लेख है। एक प्रेमी चोरी से अपनी प्रेमिका के घर में घुसते हुए उसके समस्त परिजन के सो जाने की प्रार्थना करता है-'' इसके माता-पिता, कुत्ता, घर का सबसे वृद्ध व्यक्ति, इसके सभी सम्बन्धी तथा आस-पास के लोग सो जाएँ।''[2] यह स्वापन-मन्त्र अपनी इच्छा-

---

१. **अथर्व.** १९/७१/१ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

२. **अथर्ववेद** ४/५/६ स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः॥

पूर्ति के लिए पढ़ा गया है। वशीकरण-मन्त्रों में किसी की इच्छा के विरुद्ध उसे अपने वश में करने का प्रयास हुआ है। कहीं-कहीं अपने प्रेमी को उन्मत्त बनाने की प्रार्थना है-"हे मरुतो, हे अन्तरिक्ष, हे अग्निदेव, मेरे प्रियतम को पागल कर दो जिससे मेरे प्रेम में वह तपता रहे।"[१] इसी प्रकार स्त्री को वन्ध्या और पुरुष को नपुंसक बनाने के लिए कुछ मन्त्रों का प्रयोग हुआ है (६/३५, ६/१३८)।

(६) **राजकर्म-सूक्त**- राजाओं से सम्बद्ध अनेक सूक्त अथर्ववेद में संकलित हैं। इनके भी दो वर्ग हैं-शान्तिकारक और आभिचारिक। शान्ति-सूक्तों में आशीर्वादात्मक मन्त्र हैं जबकि आभिचारिक सूक्तों में शत्रुओं के विरुद्ध जादू-टोने के मन्त्र संकलित हैं। ये मन्त्र राजपुरोहित के उपयोग के लिए है। क्षत्रियों को राजा बनाने, अभिषेक करने, विजय का आशीर्वाद देने, शत्रुओं के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने और युद्ध के लिए प्रेरित करने का कार्य 'पुरोहित' का ही था। इस प्रसंग में दुन्दुभि (नगाड़े) के निर्माण और उपयोग का सुन्दर वर्णन मिलता है। दुन्दुभि के घोष से आक्रान्त शत्रुनारी अपने पुत्र को वक्ष से चिपका कर संग्राम के बीच से भाग जाये-यह प्रार्थना एक मन्त्र में मिलती है-

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥
(अथर्व० ५/२०/५)

इस प्रसंग में राजा की पुनः प्रतिष्ठा, राजा के कर्तव्य आदि का विवरण भी महत्त्वपूर्ण है। राजकर्म पर प्रचुर सामग्री के कारण इस वेद को 'क्षत्रवेद' कहा गया था।

(७) **ब्रह्मण्य-सूक्त**-अन्य वेदों के ज्ञानकाण्ड के समान अथर्ववेद में भी इस विषय की प्रचुर सामग्री है-'आध्यात्मिक' के नाम से प्रसिद्ध इन सूक्तों में दार्शनिक सामग्री है, जादू-टोना या झाड़-फूँक से इनका सम्बन्ध नहीं है। इनसे यह ज्ञात होता है कि अध्यात्मवाद का इसके पूर्व पर्याप्त विकास हो चुका था। यह विषय सभी काण्डों में व्याप्त है, ऋग्वेद के समान कुछ ही मण्डलों में नहीं। विश्व का परमतत्त्व ब्रह्म है जो अनेक नामों से अभिहित होता है। त्रयोदशकाण्ड पूर्णतः अध्यात्मकाण्ड है जिसके अनेक सूक्तों में 'रोहित' का वर्णन है जो सृष्टि का जनक है (यो रोहितो विश्वमिदं जजान १३/१/१), परमात्मा के समान उसका वर्णन है-

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विभिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन्॥
(अथर्व० १३/१/७)

इसी प्रकार 'काल' की महत्ता १९ वें काण्ड के दो सूक्तों में दिखायी गयी है (सूक्त ५३-५४)। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का इन पर स्पष्ट प्रभाव है -

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः॥ (१९/५४/१)

---

१. **अथर्व.** ६/१३०/४ उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु॥

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥ (१९/५३/९)

अन्य विषय

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त भी अथर्ववेद में कतिपय महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इसके बीसवें काण्ड में यज्ञ-विषयक मन्त्र हैं जो अथर्ववेद को 'वेद' की श्रेणी दिलाने के लिए संकलित हैं। सोलहवें काण्ड में भी यज्ञ-विधि का वर्णन है जिसके अन्तर्गत मुख्यत: यज्ञ को पवित्र करने वाले जल (आप:) की स्तुति है (**शिवेन मा चक्षुषा पश्यताप: शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचो मे** १६/१/१२)। १८वें काण्ड में अन्त्येष्टि-संस्कार तथा पितृपूजा से सम्बद्ध मन्त्र हैं। २०वें काण्ड के मन्त्र सोमयाग से सम्बद्ध हैं। इस काण्ड के कुन्ताप-सूक्तों में (१२७-३६) यज्ञ, दानस्तुति तथा दक्षिणा से सम्बद्ध ब्राह्मणों के हास-परिहासमय वार्तालाप हैं।

अथर्ववेद में **पृथिवी-सूक्त** (१२/१) की गणना भूमि के प्रति प्रेम के प्रदर्शन के कारण की जाती है। मातृभूमि की वन्दना एक भक्त पुत्र की दृष्टि से इसमें की गयी है- **माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:** (१२/१/१२)। काव्यत्व के साथ धार्मिकता का भी इस सूक्त में सन्निवेश है। भूमि का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन करने वाले इस सूक्त में कुल ६३ मन्त्र हैं। एक मन्त्र है-

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबा:।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभि:।
सा नो भूमि: प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ (१२/१/४१)

"जिस भूमि में विविध भाषाएँ बोलने वाले (व्यैलबा:) मानव गाते हैं, नाचते हैं और युद्ध भी करते हैं; जिसमें गर्जन-तर्जन (आक्रन्द:) भी होता है; जहाँ नगाड़ा भी बोलता है; वही भूमि हमारे शत्रुओं को (सपत्नान्) दूर भगा दे (प्र+नुदताम्) तथा वह पृथिवी मुझे शत्रुहीन कर दे।" इस प्रकार पृथ्वी के विविध रूपों का वर्णन करते हुए अभीष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार की प्रार्थना की गयी है।

अथर्ववेद का १५वाँ काण्ड 'व्रात्यकाण्ड' कहलाता है। इस काण्ड में १८ सूक्त हैं जो गद्यात्मक मन्त्रों में विभक्त हैं। आपातत: प्रतीत होता है कि व्रात्य के नाम से परब्रह्म की स्तुति की गयी है (व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् १५/१/१)। इस काण्ड को 'अध्यात्म-प्रकरण' कहा गया है। ताण्ड्य-ब्राह्मण (१७/१) में व्रात्यों को आर्यों से भिन्न जाति का मानते हुए उनकी वेश-भूषा का वर्णन किया गया है। वे काले ऊनी वस्त्र तथा पगड़ी धारण करते थे। आर्यों के द्वारा यज्ञ के निमित्त रखे हुए अन्न को ये चुरा लेते थे, स्वयं खुरदुरी गाड़ी पर चलते थे, वे आर्यों की भाषा बोलते थे, यज्ञ-याग में विश्वास नहीं करते थे। परवर्ती युग के भ्रमणशील योगियों तथा फकीरों के ये वैदिक रूप थे जो संसार के नियमों और परम्पराओं का खण्डन करके परब्रह्म की उपासना का उपदेश देते रहते थे। वस्तुत: व्रात्यकाण्ड सृष्टि के प्रवर्तक ब्रह्म का निरूपण करने वाला दार्शनिक काण्ड है। ब्रह्म के लौकिक प्रतिनिधि के रूप में व्रात्यों का एक वर्ग बन गया था: व्रत (नियम) या व्रात (समूह) से 'व्रात्य' शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है। ब्रह्म सभी व्रतों से परे है। ये व्रात्य वैदिक नियमों को नहीं मानते थे। ये झुण्ड में रहते थे। आर्यों के घरों में व्रात्यों

का स्वागत होता था (१५/१०-१३)। इस प्रकार लोकजीवन से जुड़े रहकर भी व्रात्य आध्यात्मिक साधना में लीन थे।

अथर्ववेद का महत्त्व

धार्मिक दृष्टि से अथर्ववेद का संकलन 'ब्रह्मा' (एक ऋत्विक्) के कार्य के निर्देश के लिए हुआ था जो यज्ञ का सर्वविद् निरीक्षक होता है। इसके बीसवें काण्ड में सोमयाग का वर्णन है जो वैदिक यागों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर भी अन्य वैदिक संहिताओं की अपेक्षा इसमें धार्मिक परिवेश की अल्पता है, लौकिक तथा दार्शनिक विषय ही इसमें मुख्य हैं। लौकिक दृष्टि से तात्कालिक सभ्यता और संस्कृति से सम्बद्ध सर्वाधिक प्रामाणिक और व्यापक सामग्री अथर्ववेद में मिलती है यद्यपि इसे धर्म के परिधान से आवृत करने का अनुपद प्रयास हुआ है। आधुनिक भौतिकवाद के समर्थक भी इसीलिए वेदों में इसे महत्त्व देते हैं कि जनता की भावनाएँ इसके मन्त्रों में मुखर हुई है। अपने युग के ज्ञान-विज्ञान, आयुर्विज्ञान, वनस्पतियों के भैषज्य-गुण इत्यादि का समावेश इस वेद ने किया है।

राजशास्त्र का पुष्कल निरूपण अथर्ववेद में मिलता है। राष्ट्र, देशरक्षा, राजकर्तव्य, प्रजा के समानाधिकार, मित्रराष्ट्र, सैन्य-शासन, राजा का निर्वाचन, सभा-समिति-संसद, दण्ड-विधान, सेनापति, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि विषयों का उल्लेख होने से अथर्ववेद को 'क्षत्रवेद' तक कहा गया है। जन-भावना के अन्तर्गत रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, जादू-टोना, कृत्या-प्रयोग, अभिचार-कर्म, जड़ी-बूटी का प्रयोग, वशीकरण आदि विषयों पर पर्याप्त सामग्री इसमें दी गयी है। इस प्रसंग में अनेक मन्त्र दिये गये हैं जिनमें अपूर्व शक्ति मानी गयी है। परवर्ती ग्रन्थों में भी यह विश्वास निरूपित हुआ है।

दर्शन की दृष्टि से यह ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्मप्रकरण इस वेद का अत्यन्त विस्तृत विषय है। इसमें विराट् ब्रह्म, उच्छिष्ट ब्रह्म, माया, ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, मधुविद्या, रोहित ब्रह्म, व्रात्य आदि का वर्णन दार्शनिक परिधि की विशालता का सूचक है।

कुल मिलाकर ज्ञान-विज्ञान, समाज, राजनीति, दर्शन आदि पक्षों का व्यापक निरूपण करने के कारण अथर्ववेद वैदिक वाङ्मय का एकमात्र सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। अन्य संहिताएँ जहाँ धर्म को केन्द्रित करके विषयों का विस्तार करती हैं, वहाँ अथर्ववेद धर्मेतर परिवेश की सामग्री से कसा हुआ है।[1]

---

१. अथर्ववेद के विस्तृत विवेचन के लिए देखें-डॉ० कपिलदेव द्विवेदी कृत 'अथर्ववेदकालीन संस्कृति'।

अध्याय-३

ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्

(क) ब्राह्मण-साहित्य

आपस्तम्ब ने यज्ञ-परिभाषा (परि० सं० ३१) में कहा है- मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। अर्थात् 'वेद' मन्त्र-भाग तथा ब्राह्मण-भाग दोनों को कहते हैं। मन्त्रों के अनन्तर ब्राह्मण-भाग का विकास मन्त्रों के उपयोग की व्याख्या के लिए हुआ है। वेद के भाग-विशेष का सूचक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है- ब्राह्मणम्। यद्यपि आरण्यक तथा उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ भी ब्राह्मण के ही अङ्ग हैं तथापि इन ग्रन्थों को मन्त्रव्याख्यानात्मक वेद-भाग (ब्राह्मण) से पृथक् मानकर यहाँ केवल विशेष अर्थ में ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का विवेचन वाञ्छनीय है।

'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्मन्' से निष्पन्न है। यह ब्रह्मन्-शब्द भी अनेकार्थक है- मन्त्र, यज्ञ, रहस्य तथा परमसत्ता। मन्त्रों की व्याख्या और विनियोग का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है। इसी प्रकार वैदिक युग में प्रचलित यज्ञों का भी विवरण इनके वाक्यों में प्राप्त होता है। रहस्य के अर्थ में 'ब्रह्मन्' शब्द का ग्रहण करने पर 'ब्राह्मण' का अर्थ होता है- यज्ञकर्म का भौतिक रूप बतलाने के साथ उसका आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक रहस्य उद्घाटित करने वाला ग्रन्थ। वैसे भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय-संहिता (१/५/१) के भाष्य में 'ब्राह्मण' शब्द का निर्वचन इस प्रकार दिया है-ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः। यज्ञ के विविध कर्म अपने विस्तार के कारण 'ब्रह्म' कहलाते थे, उनमें संहितागत मन्त्रों का उपयोग होता था। इसलिए उन कर्मों तथा उनमें प्रयुक्त मन्त्रों की व्याख्या करने के कारण ऐतरेय, शतपथ आदि ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहा गया।[1]

सामान्य विषय-वस्तु (प्रतिपाद्य)

'ब्राह्मण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इसके विषय का निरूपण करता है कि मन्त्र-भाग तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओं का प्रतिपादन इन ग्रन्थों में हुआ है। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में ही ब्राह्मणगत विषयवस्तु का निरूपण आरम्भ हो चुका था क्योंकि वहाँ मन्त्र के साथ विनियोग का निरूपण किया गया है। ब्राह्मणों की विषय-वस्तु के निरूपण के प्रसंग में दस प्रकारों की चर्चा शबरस्वामी ने की है-

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥
(मीमांसासूत्रभाष्य २/१/३३)

---

१. वाचस्पति मिश्र का यह श्लोक इस प्रसंग में उद्धरणीय है-
नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥

तदनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों में हेतु-विचार, निर्वचन (शब्दों में निहित क्रिया के आधार पर अर्थ-प्रकाशन), निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि (कर्म की प्रेरणा देने वाले वाक्य), परक्रिया (एक व्यक्ति की कथा), पुराकल्प (प्राचीन कथाएँ), व्यवधारण (सन्देह की स्थिति में समुचित निर्णय लेना) तथा उपमान (समान दृष्टान्त द्वारा विषय को स्पष्ट करना)- ये ही दस बातें पायी जाती हैं। इनमें निन्दा और प्रशंसा का समावेश 'अर्थवाद' (स्तुतिनिन्दापरं वाक्यमर्थवादः) में हो जाता है। परक्रिया और पुराकल्प वस्तुतः आख्यान-रूप हैं जिसमें प्राचीन कथाओं को प्रकाशित किया जाता है। ये आख्यान किसी कर्म के विधान या निन्दा के क्रम में दिये गये हैं।

मीमांसकों ने विधि और अर्थवाद के रूप में दो ही विषयों के अन्तर्गत ब्राह्मण-ग्रन्थों की समस्त सामग्री का विवेचन किया है। तदनुसार कर्म की प्रेरणा देनेवाले वाक्य विधि हैं और विधि के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अर्थवाद है (विधिशेषोऽर्थवादः)। किन्तु अर्थवाद को इतना व्यापक परिवेश देना उचित नहीं है। 'अर्थवाद' का उद्देश्य केवल इतना ही है कि विधि-वाक्य में विहित कर्म की प्रशंसा या समर्थन करे और अविहित कर्म की निन्दा करे (विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः, मीमांसासूत्र १/२/२७)। विनियोग, निर्वचन, हेतु आदि का विवेचन अर्थवाद से पृथक् रूप में करने से ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का वास्तविक रूप प्रकट होता है। अतएव ब्राह्मणों की विषय-वस्तु को निम्नाङ्कित वर्गों में विभक्त करना उचित है-

(१) **विधि (कर्मविधान)**- इसका अर्थ है यज्ञों के अङ्गों तथा उपाङ्गों के अनुष्ठान की प्रेरणा देना। विधिवाक्यों को मीमांसक 'शास्त्र' के रूप में समझाते हैं, विधियों की व्याख्या ही मीमांसादर्शन का मुख्य विवेच्य है। सभी ब्राह्मणों में विधि-वाक्यों का उल्लेख विधिलिङ् अथवा लट् लकार की क्रिया के द्वारा हुआ है जैसे-यजेत, कुर्यात्, जुहोति इत्यादि। ताण्ड्य ब्राह्मण (६/७) में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता एवं ब्रह्मा इन पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण की विधि है कि ये एक-दूसरे के पीछे एक पंक्ति में मौन रहकर चलें। इसका अतिक्रमण (नियम-भङ्ग) होने पर अनर्थ होता है। वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान विधियों पर ही आश्रित है। अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, राजसूय आदि सभी यज्ञों में विधि-वाक्यों की आवश्यकता है। विभिन्न ब्राह्मणों के विधि-वाक्यों में कभी-कभी एक ही विषय पर परस्पर विरोध भी मिलता है जो शाखा-भेद, देश-भेद या काल-भेद के कारण सम्भव है।

(२) **विनियोग**- वैदिक मन्त्रों का यज्ञ में उपयोग ही 'विनियोग' कहलाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अपनी-अपनी शाखा की संहिताओं में संकलित मन्त्रों का क्रमशः विनियोग बताया गया है कि अमुक मन्त्र या मन्त्र-समूह का इस स्थान पर पाठ हो। कहीं-कहीं विनियोग मन्त्रार्थ के अनुकूल दिया गया है किन्तु कहीं-कहीं मन्त्रार्थ और विनियोग के बीच कुछ अन्तराल प्रतीत होता है। ताण्ड्य ब्राह्मण (६/९/६-९) में कहा गया है कि 'स नः पवस्व शं गवे'(ऋ० ९/११/३) मन्त्र का गायन पशुओं की रोग-निवृत्ति के लिए होता है-यहाँ मन्त्रार्थ भी विनियोग का समर्थन करता है। किन्तु उसी ब्राह्मण में अन्यत्र (६/१०/४-५) बताया गया है कि 'आ नो मित्रावरुणा' (ऋ० ३/६२/१६) का गायन दीर्घरोगी की रोग-निवृत्ति के लिए होता है। यहाँ थोड़ी कठिनाई है कि स्तुति 'मित्रावरुणौ' की है और विनियोग रोग-निवृत्ति के लिए है। व्याख्या होगी कि मित्र दिन का देवता होने से प्राण का प्रतिनिधि है, वरुण रात्रि का देवता होने से अपान का नियामक है। इस प्रकार इन देवताओं की प्रार्थना में प्राणापान के धारण का संकेत है जिससे रोगमुक्ति होगी।

(३) **हेतु**- कर्मकाण्ड की किसी विधि के लिए कारण बतलाना 'हेतु' है। ब्राह्मणों में विभिन्न कर्म-विधानों के उपयुक्त कारण निर्दिष्ट हैं। हेतुओं के प्रसङ्ग में यत्र-तत्र आख्यान भी मिलते हैं। अग्निष्टोम-याग का एक विधान है कि द्रोण-कलश में सोम-रस चुलाकर उसे रथ के नीचे रख दें। इस विधान का कारण ताण्ड्य ब्राह्मण (६/५/१) में दिया गया है कि प्रजापति ने प्रजा-सृष्टि की इच्छा की तो उनके सिर से आदित्य की उत्पत्ति हुई। आदित्य ने प्रजापति का सिर काट दिया जिससे द्रोणकलश की सृष्टि हुई। उसी द्रोण-कलश में चमकीले सोमरस का ग्रहण करके देवताओं ने दीर्घायु पायी। हेतु का निर्देश तर्क-प्रवण याजकों को सन्तोष देता है।

(४) **अर्थवाद**- स्तुति और निन्दा के वचन 'अर्थवाद' कहलाते हैं। कर्मविधान के प्रकरणों में उनके अनुष्ठान और ज्ञान की प्रचुर प्रशंसा की गयी है जैसे-अग्निष्टोम, पशुबन्धयाग इत्यादि। कहीं-कहीं कहा गया है-**शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद** (ताण्ड्य० २०/१६/६)। अग्निष्टोम की प्रशंसा में कहा गया है कि इससे सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है। इससे विधान के प्रति आकर्षण होता है। इसी प्रकार निषिद्ध पदार्थों और कर्मों की निन्दा भी है जैसे-प्रातः काल सूर्योदय के बाद हवन करना ऐसा ही है जैसा घर से चले गये अतिथि के लिए भोजन लाना (तैत्तिरीय ब्राह्मण २/१/२/१२)। कभी-कभी किसी शाखा-विशेष के ब्राह्मण दूसरी शाखा में निर्दिष्ट विधियों की कड़े शब्दों में निन्दा करते थे।

(५) **निर्वचन**- भाषाशास्त्र की दृष्टि से ब्राह्मणों में दिये गये निर्वचनों का महत्त्व है। 'निर्वचन' का अर्थ है किसी शब्द का विश्लेषण करके उसे सम्बद्ध क्रिया-पद से जोड़ना। निर्वचन देने का कार्यक्रम यद्यपि वैदिक संहिताओं में ही आरम्भ हो गया था तथापि ब्राह्मण-ग्रन्थ इनसे भरे हुए हैं। निरुक्त में ब्राह्मण-ग्रन्थों की अनेक निरुक्तियाँ 'इति ह विज्ञायते' कहकर संकलित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (५/७) में 'शक्वरी' शब्द का निर्वचन दिया गया है- **इमाँल्लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद् यदिदं किञ्च, तच्छक्वर्योऽभवन्, तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्**। इसी प्रकार 'जाया' का निर्वचन है – **तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः** (ऐ० ब्रा० ३३/१)।

(६) **आख्यान**- इसके अन्तर्गत परक्रिया और पुराकल्प दोनों निहित हैं। किसी एक व्यक्ति के विषय में-मुख्यतः प्रधान श्रोत्रियों और याज्ञिकों द्वारा किये गये विशिष्ट यज्ञों का या राजाओं के दानादि का- वर्णन करना 'परक्रिया' है। प्राचीन युगों के यज्ञों एवं दूसरी कथाओं का विवरण 'पुराकल्प' है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में छोटे-बड़े असंख्य आख्यान भरे हुए हैं। इनके प्रथम वाक्यों में प्रायः कहा जाता है-**इति ह आख्यायते**। देवताओं के द्वारा किये गये प्राचीन यज्ञों का वर्णन इनमें प्रधान है। ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेपोपाख्यान लोकप्रिय है। यह अपेक्षाकृत बड़ा आख्यान है। ऐसे अन्य आख्यानों में पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान (शतपथ० ११/५/१), जलप्रलय का आख्यान (शतपथ० १/८/१) इत्यादि हैं। छोटे आख्यानों में वर्णोत्पत्ति (ताण्ड्य० ६/१), वाक् का देवताओं को छोड़कर क्रमशः जल और वनस्पति में प्रवेश (ताण्ड्य० ६/५/१०-१२), अग्निमन्थन में अश्व को आगे रखने का इतिहास (शतपथ० १/६/४/१५), देवासुर-संग्राम (ऐतरेय० १/४/२३,६/२/१; शतपथ० २/१/६/८) इत्यादि हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों का सामान्य प्रतिपाद्य दिखाया जा सकता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मण-ग्रन्थों का बाह्य रूप नीरस जैसा लगता है जिसके कारण कुछ विदेशी विद्वानों ने इन्हें सामान्य रूप से 'अरोचक साहित्य' की कोटि प्रदान की है।[1] फिर भी बहुत से लोगों ने सामान्य धर्म-विज्ञान को समझने के लिए इनका महत्त्व देखते हुए इनके संस्करण तथा अनुवाद किये हैं। धर्म के विकास तथा पुरोहित संस्था के उद्भव की दृष्टि से इनका अनुशीलन उपादेय है। विन्टरनिट्ज ने कहा है कि सम्पूर्ण परवर्ती धार्मिक और दार्शनिक साहित्य को समझने के लिए यह अध्ययन अनिवार्य है। ब्राह्मणों का महत्त्व निम्नाङ्कित दृष्टियों से आकलित किया जा सकता है-

(क) **यज्ञ का विवरण**- ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक यज्ञों का सर्वाङ्गपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। वहाँ यज्ञ एक वैज्ञानिक संस्था का रूप लेता है जिसके नियमों का सूक्ष्मता से पालन करना पड़ता था। यज्ञों के अङ्गों के विषय में मतभेद होते थे किन्तु उन्हें हेतु, तर्क, निर्वचन, आख्यान एवं शास्त्रार्थ द्वारा समाहित किया जाता था। वैदिक यज्ञों को सूत्ररूप में यद्यपि बाद में कल्पसूत्रों में समझाया गया किन्तु सबके आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ ही हैं।

(ख) **व्याकरण और निर्वचन** की मौलिक उद्भावनाएँ ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही दिखाई पड़ती हैं। निरुक्त के निर्वचनों के स्रोत बहुत दूर तक ये ग्रन्थ हैं। व्याकरण के तत्त्वों जैसे-काल, वचन आदि की विवेचना यहाँ प्रारम्भ हो गयी थी। इन्द्र को अव्याकृत वाणी को व्याकृत करने के कारण 'आदि वैयाकरण' तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्नाङ्कित वाक्यों द्वारा सिद्ध किया गया है-वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्-इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीत्-वरं वृणे, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति। तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।[2] इसमें धर्म और व्याकरण को संयुक्त भले ही किया गया हो किन्तु भाषा-विश्लेषण का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है।

(ग) **आख्यानों का स्रोत**-आख्यानों का जो विच्छिन्न रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है उन्हें व्यवस्थित करके ब्राह्मण-ग्रन्थों ने परवर्ती पुराणों के लिए स्रोत-ग्रन्थ का निर्माण किया है। ऋग्वेद से पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान लेकर शतपथ ब्राह्मण (११/५/१) में इसे रोचक बनाया गया है। इसी ब्राह्मण में जल-प्रलय और मत्स्य का आख्यान है जिसका प्रचार सेमेटिक ग्रन्थों में भी है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र की कथा है जिसमें पुत्र होने का महत्त्व प्रतिपादित है। इसका प्रारूप ऋग्वेद में है किन्तु इसे पुराणों में विशेष रूप से फैलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण (३/२/४/२-६) में मन और वाक् का रोचक आख्यान है जिसमें स्त्रियों की प्रवृत्ति की व्याख्या है।

---

१. मैक्समूलर ने कहा है कि भारतीय साहित्य के अध्येताओं के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन कितना भी उपयोगी क्यों न हो, सामान्य पाठक के लिए उनका उपयोग शून्यवत् हैं। उनका अधिकांश निरर्थक गपशप है। यह अखरता है कि यह धार्मिक गपशप है। ब्राह्मण-साहित्य का महत्त्व न जानने वाले के लिए इसके दस पृष्ठ पढ़ना भी कठिन है। विन्टरनिट्ज-**प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनु०), भाग-१, खण्ड-१, पृष्ठ १३८।

२. **तैत्तिरीयब्राह्मण** ६/४/७/३.

३. विन्टरनिट्ज-प्रा.भा.सा. का इतिहास भाग-१, खण्ड-१, पृ० १५४ विदेशी विद्वान् इस आख्यान को मध्यपूर्व के देशों से प्राप्त मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण १/८/१।

(घ) **मीमांसा-दर्शन का आधार**- वैदिक कर्मकाण्ड की दार्शनिक विवेचना के लिए एक श्रौत दर्शन-सम्प्रदाय विकसित हुआ है जिसे 'कर्ममीमांसा', 'पूर्वमीमांसा', 'धर्ममीमांसा' या केवल 'मीमांसा-दर्शन' भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थ '**ब्राह्मण**' ही है। ब्राह्मणों में प्रतिपादित विधि-वाक्यों को यहाँ '**शास्त्र**' कहा जाता है जिनसे लक्षित होने वाले कल्याणकारी कर्म '**धर्म**' की संज्ञा पाते हैं (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, मीमांसासूत्र १/१/२)। इस मीमांसा-शास्त्र का उद्भव ब्राह्मण-युग में हो गया था। कर्म के अनुष्ठान की विवेचना को ब्राह्मण-युग में भी 'मीमांसा' कहते थे जैसे- **उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते** (कौषीतकि ब्राह्मण २/९)। कल्पसूत्रों के भी आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ ही हैं।

(ङ) **वैदिक भाषा के विकास का सोपान**- संहिता-युग से लेकर उपनिषदों के युग तक जो वैदिक भाषा निरन्तर विकसित होती रही थी, उसका एक स्पष्ट सोपान ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा में मिलता है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध हैं और गद्य में भाषा का नैसर्गिक रूप प्रकट होता है। ब्राह्मणों की भाषा से यह ज्ञात होता है कि उस युग में स्वभावतः लोग कैसी भाषा का प्रयोग करते थे। लम्बे समास कहीं नहीं मिलते; वाक्य में शब्दों का क्रम स्पष्ट, सरल तथा प्रसन्नपद-युक्त है। इस युग में संहिताओं की सरलता थी किन्तु नयी पदावली का निवेश हो रहा था। पदों का समुदाय सन्धियों से निबद्ध होकर अनेक वाक्यों को समेट कर एकाकार किये हुए था। जिससे मीमांसकों को 'वाक्य' की परिभाषा देनी पड़ी-**अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्**। इस प्रकार भाषाशास्त्री के लिए भाषा के सभी पक्षों के अध्ययनार्थ पर्याप्त सामग्री ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलती है। विशेष रूप से वैदिक वाक्य-विज्ञान का अध्ययन तो हो ही सकता है।

(च) **इतिहास और भूगोल**- ब्राह्मण-ग्रन्थों में इतिहास तथा भूगोल के अध्ययन की प्रचुर सामग्री निहित है। कुरु-पाञ्चाल देश तथा सरस्वती का तट ब्राह्मणों में बहुधा निर्दिष्ट है। सरस्वती नदी लुप्त हो गयी थी, उस स्थान को 'विनशन' कहते थे। यमुना के प्रवाह का क्षेत्र 'कारपचव' कहा जाता था (ताण्ड्य ब्राह्मण २५/१०/२३)। सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य भाग तथा उनके संगम की चर्चा भी हुई है। कुरुक्षेत्र में मुख्य ब्राह्मण-ग्रन्थों का संकलन हुआ। शतपथ आदि ब्राह्मणों में तात्कालिक धर्म एवं संस्कृति की बहुधा चर्चा है। राजनीति, समाज, नैतिकता, नारी की महिमा आदि ऐतिहासिक तथ्य इनके अनुशीलन से ज्ञात होते हैं। कई राजाओं के वर्णन उनमें मिलते हैं। इस प्रकार अपने युग के इतिहास का ये स्पष्ट चित्रण करते हैं। इधर कई शोध-ग्रन्थों में ब्राह्मणों के युग की संस्कृति का अनावरण किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का परिचय

विभिन्न वेदों की पृथक्पृथक् शाखाओं में ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ था। इस दृष्टि से संहिताओं के समान ब्राह्मण भी संकलित हुए किन्तु जिस प्रकार संहिताएँ नष्ट हुईं उसी प्रकार अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थ भी नष्ट हो गये। आज जिन ब्राह्मणों की प्राप्ति हुई है वे इस प्रकार हैं-

(क) **ऋग्वेद के ब्राह्मण**- १. ऐतरेय ब्राह्मण तथा २. कौषीतकि (या शाङ्खायन) ब्राह्मण।

(ख) **शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण**-१. शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन तथा काण्व शाखा)

(ग) **कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण**-१. तैत्तिरीय ब्राह्मण। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहिताओं के ब्राह्मण-भाग भी ग्राह्य हैं।

(घ) **सामवेद के ब्राह्मण**-१.पञ्चविंश (या ताण्ड्य), २. षड्विंश, ३. सामविधान, ४. आर्षेय, ५. दैवत, ६. उपनिषद्-ब्राह्मण, ७. संहितोपनिषद्, ८. वंशब्राह्मण, ९. जैमिनीय (तलवकार)।[1]

(ङ) **अथर्ववेद का ब्राह्मण**- १. गोपथ-ब्राह्मण (शौनक शाखा से सम्बद्ध)।

इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है-

(१) **ऐतरेय ब्राह्मण**- यह ऋग्वेद की शाकल शाखा से संबद्ध ब्राह्मण है। अभी जो ऋग्वेद-संहिता उपलब्ध है वह इसी शाखा की है। इस ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं जो पाँच-पाँच अध्यायों के समूह (पञ्चिका) में विभक्त हैं।[2] परम्परा से महिदास ऐतरेय को इसका संकलनकर्ता माना जाता है। इसका मुख्य सम्बन्ध सोमयाग से है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय यज्ञ का भी विवरण है। प्रथम-द्वितीय पञ्चिकाओं (अध्याय १-१०) में एक दिन में सम्पन्न होने वाले 'अग्निष्टोम' नामक सोमयाग में होता के विधानों तथा कर्तव्यों का निर्देश है। तृतीय-चतुर्थ पञ्चिकाओं (अध्याय ११-२०) में तीन सवनों की विधियों के साथ अग्निहोत्र का प्रयोग बतलाया गया है। अग्निष्टोम की विकृतियों का (=उक्थ, अतिरात्र, षोडशिन् आदि का) भी संक्षिप्त निरूपण है। पञ्चम पञ्चिका में द्वादशाह यागों का तथा षष्ठ पञ्चिका में सप्ताहों तक प्रवर्तमान सोमयागों का विवेचन करते हुए होता और उसके सहायकों के कार्यों का वर्णन किया गया है। सप्तम पञ्चिका में राजसूय यज्ञ का विवरण है। इसी क्रम में अभिषिक्त राजा को सुनाने के लिए शुनःशेप का आख्यान पूरे एक अध्याय (सं० ३३) में दिया गया है। अष्टम पञ्चिका में 'ऐन्द्र महाभिषेक' तथा चक्रवर्ती राजाओं के अभिषेक का चित्रण है। सर्वत्र गद्य का प्रयोग है किन्तु आख्यानों में पद्य (गाथाएँ) भी है।

इस ब्राह्मण में विभिन्न भारतीय जातियों का उल्लेख है जिससे तात्कालिक आर्यावर्त की सीमा का ज्ञान होता है। सीमा के पार पुण्ड्र, शबर, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियाँ रहती थीं। पूर्वी सीमा विदेह तक हो गयी थी। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति पर त्रिविध ऋण (देव, पितृ और ऋषि ऋण) का वर्णन है जिसे पुत्रोत्पादन द्वारा चुकाया जाता है। शुनःशेपोपाख्यान में पुत्र और भ्रमण का माहात्म्य दिखाया गया है। इस प्रसङ्ग में 'चरैवेति' का आर्योचित उपदेश है। इस ब्राह्मण पर आचार्य सायण ने संस्कृत भाष्य लिखा। ए.बी.कीथ ने ऐतरेय और कौषीतकि दोनों ब्राह्मणों का आलोचनात्मक अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत भूमिका के साथ हार्वर्ड ग्रन्थमाला में प्रकाशित कराया

---

१. सामवेद के तथाकथित ब्राह्मण वस्तुतः वेदाङ्गों की श्रेणी में आते हैं। विन्टरनिट्ज, प्रा. भा. सा. इति० पृ० १३९।

२. इसका प्रत्येक अध्याय कण्डिकाओं में विभक्त है। पूरे ग्रन्थ में २८५ कण्डिकाएँ हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का प्रथम अनुवाद मार्टिन हॉग द्वारा १८६३ ई० में प्रकाशित हुआ। कीथ ने दूसरा अनुवाद अंग्रेजी में १९२० ई० में प्रकाशित कराया।

था (Rgveda Brāhmaṇas)। पं. गङ्गाप्रसाद उपाध्याय ने ऐतरेय ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद किया था। इसका हरिश्चन्द्रोपाख्यान (=शुनः शेपोपाख्यान) अत्यन्त लोकप्रिय अध्याय है जो कई स्थानों से प्रकाशित है। यह ब्राह्मण तात्कालिक संस्कृति के ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण तीन ब्राह्मण-ग्रन्थों (ऐतरेय, शतपथ तथा गोपथ) में अन्यतम है।

(२) **कौषीतकि (या शाङ्खायन) ब्राह्मण**[1]- यह ऋग्वेद का दूसरा उपलब्ध ब्राह्मण है। इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से है जिसकी संहिता नष्ट हो चुकी है। इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं जो ऐतरेय के प्रथम तीस अध्यायों से विषय की दृष्टि से प्रायः समान हैं। प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभक्त है, पूरे ग्रन्थ में २२६ खण्ड हैं। इसके प्रथम छः अध्यायों में पाकयज्ञ (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा ऋतुयज्ञ) का वर्णन है। शेष अध्यायों में ऐतरेय ब्राह्मण के समान सोमयाग के विभिन्न रूपों का वर्णन है। यह ऐतरेय ब्राह्मण से परवर्ती है। पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि ऐतरेय ब्राह्मण एक काल की रचना नहीं है जबकि यह एक ही काल और व्यक्ति की कृति है। इस ब्राह्मण में भाषा-प्रयोग के मानदण्ड के रूप में उदीच्य-प्रदेश की प्रशंसा की गयी है। यहाँ सर्वप्रथम रुद्र को देवताओं में श्रेष्ठ बताया गया है (**रुद्रो वै ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम्** २५/१३)। शिव के विविध नामों तथा उपासना की भी चर्चा है। इस ब्राह्मण के युग में अग्नि को गौण और विष्णु को प्रधान स्थान मिलने लगा था। (यज्ञो वै विष्णुः)। मांस-भक्षण के प्रति घृणा का आरम्भ इसमें मिलता है- **अमुष्मिँल्लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति** (११/१३)। सगोत्र लोगों के साथ निवास पर यहाँ बहुत बल दिया गया है (२५/१५)। कोई वर्ण अपने गोत्र वाले सवर्ण या अन्य वर्ण के व्यक्तियों के साथ रहे। अतः संस्कृति के विकास के ज्ञान के लिए यह महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है।

(३) **शतपथ ब्राह्मण**- शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध एकमात्र ब्राह्मण उपलब्ध है- शतपथ। एक सौ अध्यायों में विभक्त होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं में यही ब्राह्मण है। दोनों शाखाओं के शतपथ ब्राह्मण विभाजन की दृष्टि से भिन्न हैं क्योंकि माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में चौदह काण्ड, १०० अध्याय तथा ७६२४ कण्डिकाएँ हैं तो काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण में १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ६८०६ कण्डिकाएँ हैं। दोनों में ब्राह्मणों की संख्या क्रमशः ४३८ और ४३५ है। दोनों शाखाओं के ग्रन्थों में प्रथमकाण्ड और द्वितीयकाण्ड की विषयवस्तु में परस्पर विनिमय मिलता है अर्थात् काण्वशतपथ के प्रथम काण्ड का विषय माध्यन्दिन शतपथ के द्वितीय काण्ड में है।

शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः दर्शपूर्णमास (काण्ड-१), अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रायण, चातुर्मास्य (काण्ड-२), सोमयाग (काण्ड ३-४), राजसूय (काण्ड-५), अग्निचयन (काण्ड ६-१०), पुनः दर्शपूर्णमास, पञ्चमहायज्ञ तथा पशुबन्ध (काण्ड-११), द्वादशसत्र, संवत्सर सत्र, सौत्रामणी, अन्त्येष्टि (काण्ड-१२), अश्वमेध, नरमेध ,सर्वमेध तथा पितृमेध (काण्ड-१३), प्रवर्ग्य (काण्ड-१४) यज्ञानुष्ठानों का वर्णन है। इस ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्याय ज्ञान-काण्ड से सम्बद्ध हैं जिन्हें 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहते हैं।

यह ब्राह्मण वैदिक संस्कृति के विविध पक्षों का वर्णन करने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण

---

१. इसका प्रथम संस्करण १८८७ ई० में लिण्डनर ने किया था।

है। इसके युग में आर्य-संस्कृति का मुख्य केन्द्र कुरु-पाञ्चाल था किन्तु यह संस्कृति मध्यदेश, कोसल तथा विदेह तक फैली हुई थी। विदेहराज जनक की राजसभा में कुरु-पाञ्चाल से आये हुए अनेक विद्वान् रहते थे जिनके बीच शास्त्रार्थ होता था। इसमें यज्ञ के विधि-विधानों का पूर्ण विकास मिलता है। इस ब्राह्मण के गद्यात्मक होने से संस्कृत गद्य के विकास का अनुशीलन करने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। आर्य-संस्कृति के प्रसार का चित्रण भी इसका महत्त्व बढ़ाता है। इसमें अनेक आख्यान मिलते हैं जैसे-उर्वशी का आख्यान, जलप्रलय का आख्यान, मन और वाणी के विवाद का आख्यान, सृष्टि-विषयक आख्यान आदि। अपने आकार के कारण ऋग्वेद के बाद द्वितीय स्थान पाने वाले इस ब्राह्मण का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व अक्षुण्ण है। यह ब्राह्मण ऋग्वेद के समान स्वराङ्कित भी है।

(४) **तैत्तिरीय ब्राह्मण**- कृष्णयजुर्वेद का यह एकमात्र स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ है क्योंकि इस वेद की सभी संहिताओं में ब्राह्मण-भाग मिश्रित हैं। तैत्तिरीय संहिता में भी मन्त्रों के विनियोग-निरूपक ब्राह्मण-वाक्यों के समाविष्ट होने से तैत्तिरीय ब्राह्मण उसका परिशिष्टमात्र है। यह ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के समान स्वरों से अङ्कित है। इसका विभाजन तीन काण्डों में हुआ है। प्रथम-द्वितीय काण्ड ऋग्वेद के समान आठ-आठ अध्यायों में विभक्त होने से 'अष्टक' भी कहलाते हैं। इसके अध्यायों को 'प्रपाठक' भी कहा जाता है। तृतीय काण्ड में १२ अध्याय हैं जिनके अवान्तर विभाग अनुवाक कहलाते हैं। इस ब्राह्मण में अग्निहोत्र, गवामयन, वाजपेय, सोमयाग, राजसूय, सौत्रामणी इत्यादि यज्ञ-यागों का विधान है। यहाँ ऋग्वेद की बहुत-सी ऋचाएँ संकलित हैं जिससे उन्हें समझने में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, नासदीय-सूक्त (ऋग्वेद १०/१२९) के मन्त्रों का विनियोग एक उपहोम (२/८) में किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में अनिर्दिष्ट 'पुरुषमेध' का भी यहाँ वर्णन है (३/४)। इसके तृतीय काण्ड (प्रपाठक ८-९) में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है जो शतपथ ब्राह्मण से साम्य रखता है। तृतीय काण्ड को परवर्ती रचना माना जाता है। वैदिक ज्योतिष के अनेक तथ्यों का भी इस ब्राह्मण में संकेत मिलता है।

(५) **मैत्रायणी ब्राह्मण**- यह वस्तुतः मैत्रायणी-संहिता का चतुर्थ अध्याय है जो स्वयं तीन अध्यायों में विभाजित है। इसके कुछ आख्यान महत्त्वपूर्ण हैं। पर्वतोपाख्यान (१/१०/१३) में कहा गया है कि पर्वत प्रजापति के पुत्र थे। पंख होने के कारण वे जहाँ-तहाँ उड़कर बैठ जाते थे तथा धन-जन का नाश करते थे, उस समय पृथ्वी भी अस्थिर थी। इन्द्र ने पर्वतों के पंख काटकर पृथ्वी को स्थिर किया। पर्वतों के वे कटे हुए पंख आज मेघों के रूप में पर्वतों की ओर उड़ते हैं।[१] एक अन्य आख्यान का रात्रि की उत्पत्ति से सम्बन्ध है- यम के मर जाने पर देवताओं ने यमी को समझाया कि वह यम को भूल जाये। किन्तु यमी कहती थी कि यम आज ही तो मरा है, उसे कैसे भूल जाऊँ? तब उसका दुःख दूर करने के लिए देवताओं ने रात्रि की सृष्टि की (क्योंकि उस समय केवल दिन ही होता था)। रात्रि होने पर यमी यम को भूल गयी। तब से दिवा-रात्रि का क्रम चल रहा है जिससे रात्रि के बाद मानव अपने दुःखों को भूल जाये (मै० ब्रा० १/५/१२)।

---

१. ऋग्वेद २/१२/२ में इन्द्र के इन कार्यों का उल्लेख है-यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्। ऋग्वेद में 'पर्वत' का अर्थ मेघ भी था। इसीलिए परवर्ती युग में पर्वतों के उड़ने की कल्पना करके आख्यान बना।

सामवेद के ब्राह्मण

संख्या की दृष्टि से सामवेद के ब्राह्मण सबसे आगे हैं। सायण ने इस वेद के आठ ब्राह्मणों का उल्लेख किया है-प्रौढ़ (ताण्ड्य या पञ्चविंश), षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय (दैवत), उपनिषद्, संहितोपनिषद् तथा वंश-ब्राह्मण। इनके अतिरिक्त इसी वेद से सम्बद्ध जैमिनीय या तलवकार ब्राह्मण भी है जो कई ब्राह्मणों को समाविष्ट करता है। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है-

(१) **ताण्ड्य महाब्राह्मण**- यह सामवेद की ताण्डिशाखा का ब्राह्मण है। पच्चीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण इसे 'पञ्चविंश' एवं विशाल होने के कारण 'प्रौढ़' या 'महाब्राह्मण' भी कहते हैं। सामवेद के ब्राह्मणों में यह प्रधान है। मुख्यतः सोमयाग के विविध रूपों का इसमें वर्णन है- एकदिवसीय से लेकर सहस्र वर्षों तक चलने वाले यज्ञ इसमें विहित हैं। इन यज्ञों में उद्गाता के कार्यों का यहाँ निरूपण है। इसमें प्राचीनतम आख्यानों का भाण्डागार है। इसके १७वें अध्याय में 'व्रात्ययज्ञ' का वर्णन है जिसमें वैदिक आचार से रहित यायावर व्रात्यों को आर्यों की समानता दिलाई जाती थी। इस प्रसङ्ग में व्रात्यों के आचार, परिधान आदि का भी निरूपण है। इस ब्राह्मण में आर्यावर्त के भूगोल का सम्यक् चित्र भी मिलता है। इस पर सायण ने भाष्य लिखा था।

(२) **षड्विंश ब्राह्मण**- यह ताण्ड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट है। इसीलिए इसके नाम में पञ्चविंश अध्याय के अनन्तर नये अध्याय के जोड़े जाने का संकेत है। इस ब्राह्मण के दो संस्करणों में विभाजन का अन्तर है। जीवानन्दसंस्करण (कलकत्ता, १८८१ ई०) में पूरा ग्रन्थ पाँच प्रपाठकों में विभक्त है, जबकि तिरुपति संस्करण (१९६७ ई०) में छः अध्यायों का ग्रन्थ है। दोनों संस्करणों में अवान्तर विभाजन खण्डों में है। दोनों के अन्तिम भाग (अध्याय छः या प्रपाठक-पाँच) में भिन्न विषय हैं-भूकम्प, अकालपुष्प आदि उत्पातों की शान्ति के उपाय वर्णित हैं। तात्कालिक विश्वासों का इसमें वर्णन है। इस भाग को 'अद्भुत ब्राह्मण' कहा गया है। इसी की विषय-वस्तु आगे चलकर प्रायश्चित्तों के रूप में विकसित हुई है। षड्विंश ब्राह्मण के अन्य भाग यज्ञों से सम्बद्ध हैं। श्येनयाग (एक अभिचार कर्म) में ऋत्विज लाल वस्त्र और लाल पगड़ी धारण करते थे (लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति ४/२/२२)।

(३) **सामविधान ब्राह्मण**-तीन प्रकरणों में विभक्त इस ब्राह्मण की विषय-वस्तु अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों से भिन्न है। प्रथम प्रकरण में व्रतों, काम्य प्रयोगों और प्रायश्चित्तों का वर्णन है। द्वितीय प्रकरण में पुत्र-प्राप्ति के लिए विविध प्रयोगों का एवं तृतीय प्रकरण में ऐश्वर्य, नवगृह-प्रवेश और आयुष्य-प्राप्ति के लिए अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। इसकी एक विशिष्टता है कि उच्चाटन, शत्रुनाश, उपद्रवशान्ति, ऐश्वर्य-प्राप्ति आदि के लिए सामगायन के अतिरिक्त कुछ अनुष्ठान भी इसमें बताये गये हैं। तात्कालिक समाज को समझने के लिए पर्याप्त सामग्री इस ब्राह्मण में मिलती है। ऐन्द्रजालिक तथा आभिचारिक विधान भी यहाँ वर्णित हैं। इस ब्राह्मण पर भी सायण का भाष्य मिलता है।

(४) **आर्षेय ब्राह्मण**- इसमें तीन प्रपाठक हैं जो ८२ खण्डों में विभक्त हैं। सामवेद की अनुक्रमणी (ऋषियों की सूची) इसमें दी गयी है। सामगान के प्रथम प्रचारक ऋषियों का वर्णन

करने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। सामगान की विधियों का भी इसमें विशेष रूप से वर्णन है। ऋषियों की सूची के कारण ही इसे 'आर्षेय' कहा गया है।

(५) **दैवत (देवताध्याय) ब्राह्मण**-यह सामवेद के ब्राह्मणों में सबसे छोटा है। इस पर भी सायण ने भाष्य लिखा था। तीन खण्डों में विभक्त इस ब्राह्मण में सामवेद के देवताओं का विवेचन एवं वैदिक छन्दों का निर्वचन दिया गया है। इसका प्रथम प्रकाशन १८७३ ई० में बर्नेल द्वारा हुआ था। पुनः जीवानन्द ने सायणभाष्य के साथ १८८१ ई० में इसे प्रकाशित किया। १९६५ ई० में तिरुपति (केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ) से भी एक संस्करण प्रकाशित है।

(६) **उपनिषद्-ब्राह्मण**- सामवेद का यह ब्राह्मण दो भागों में विभक्त है जिनमें कुल दस प्रपाठक हैं। प्रथम भाग दो प्रपाठकों का है जिसे मन्त्रब्राह्मण या छान्दोग्यब्राह्मण कहते है। गृह्य संस्कारों में (गर्भाधान, मुण्डन, उपनयन, विवाह आदि में) प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का विनियोग-सहित इसमें संकलन है। इस पर सायण ने भाष्य लिखा था। द्वितीय भाग में आठ प्रपाठक हैं। इस भाग को छान्दोग्योपनिषद् कहते हैं।

(७) **संहितोपनिषद्-ब्राह्मण** - इस ब्राह्मण में पाँच खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड सूत्रों में विभक्त है। साम-गान के विविध रूपों का इसमें वर्णन है। इसके प्रथम खण्ड पर सायण का भाष्य मिलता है। निरुक्त (२/४) में शास्त्र के अधिकारी का निरूपण करने के लिए इसके तृतीय खण्ड से 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। दो टीकाओं के साथ यह ब्राह्मण तिरुपति से १९६५ ई०.में प्रकाशित है।

(८) **वंशब्राह्मण**- यह तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें भी आर्षेय ब्राह्मण के समान सामवेद के ऋषियों की सूची तथा उनकी वंशावली का वर्णन है।

उपर्युक्त सभी ब्राह्मणों का संस्करण बर्नेल ने मंगलोर से १८७०-८० ई० के बीच टीका-सहित प्रकाशित किया था। पुनः केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से भी इनका १९६०-७० ई० के बीच सभाष्य प्रकाशन हुआ।

(९) **जैमिनीय ब्राह्मण**- यह सामवेद की जैमिनीय शाखा का ब्राह्मण-ग्रन्थ है। भारत तथा अमेरिका से इसका अंश-रूप में पहले प्रकाशन हुआ था। डॉ० रघुवीर ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन नागपुर से १९५४ ई० में किया। यह ब्राह्मण भी शतपथ ब्राह्मण के समान विशाल तथा यज्ञानुष्ठान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुल पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्याय यज्ञ-विधियों से सम्बद्ध हैं। चतुर्थ अध्याय 'उपनिषद्-ब्राह्मण' को और पञ्चम अध्याय 'आर्षेय ब्राह्मण' को समाविष्ट करता है।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण

अथर्ववेद से सम्बद्ध एक ही ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलता है- गोपथब्राह्मण। इसके प्रणेता गोपथ ऋषि थे। इसके दो भाग हैं- पूर्व गोपथ तथा उत्तर गोपथ। इनमें क्रमशः पाँच और छः प्रपाठक (अध्याय) हैं। प्रत्येक प्रपाठक कण्डिकाओं में विभक्त है जिनकी कुल संख्या २५८ है। इस ब्राह्मण की रचना बहुत बाद की मानी जाती है, प्रो० ब्लूमफील्ड इसे वैतान सूत्र के अनन्तर रचित मानते

हैं। यास्क ने निरुक्त में इसका उद्धरण दिया है,[1] अतः ८०० ई० पू० के पहले का ही इसे माना जा सकता है। कैलेण्ड एवं कीथ इसे बहुत प्राचीन मानते हैं।

इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की महिमा का गान है। इसी वेद को यहाँ श्रेष्ठ और प्रथम कहा गया है। अथर्ववेद से ही तीनों वेदों और ओंकार की उत्पत्ति हुई है। पुनः ओम् से समस्त संसार निकला है। इसलिए इस ब्राह्मण का उपदेश है कि अन्य वेदों के अध्ययन से पूर्व अथर्ववेद का अध्ययन कर लें। पूर्व गोपथ में विषय व्यवस्थित हैं क्योंकि क्रमशः ओम् और गायत्री की महिमा, ब्रह्मचारी के नियम, ऋत्विजों के क्रिया-कलाप, उनकी दीक्षा एवं प्रसिद्ध यज्ञ (अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि) इस भाग में विस्तृत रूप से वर्णित हैं। उत्तर गोपथ में अनेक यज्ञों तथा उनसे सम्बद्ध आख्यायिकाओं का उल्लेख है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह अथर्ववेद की पैप्पलाद-शाखा का ब्राह्मण है क्योंकि उसी शाखा की संहिता के प्रथम मन्त्र को (शन्नो देवीरभिष्टये०) यहाँ अथर्ववेद का आदिमन्त्र कहा गया है। इस ब्राह्मण-ग्रन्थ के काल में आर्यसंस्कृति का केन्द्र मध्यदेश था। इसमें (२/३/१९) मनुष्य के तीन ऋणों की चर्चा है जिनके परिशोधन के लिए विवाह और सन्तानोत्पादन पर बल दिया गया है। ब्राह्मण के लिए नृत्य और गान वर्जित कहा गया है। यहाँ कई शब्दों के रोचक निर्वचन दिये गये हैं जैसे- वरुण, मृत्यु, अङ्गिरस्, दीक्षित आदि। तीन प्रमुख ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह अन्यतम है।

(ख) आरण्यक-साहित्य

ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्ट-रूप आरण्यकों तथा उपनिषदों का विकास प्रत्येक वैदिक शाखा में हुआ था। दोनों में दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण है। इनमें 'आरण्यक' अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ आश्रम के लोगों के लिए उपादेय है और 'उपनिषद्' संन्यासी परिव्राजकों के लिए विकसित है। सायण ने तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य के मंगलाचरण में कहा है- अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते (श्लोक-६)। अर्थात् अरण्य के निर्जन शान्त स्थान में अध्ययन के योग्य होने से इन वैदिक ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहा गया है। आरण्यकों का प्रतिपाद्य यज्ञों में निहित आध्यात्मिक विषयों का विवेचन है जो जनसंकुल ग्राम में विवेच्य नहीं होता। इनका लक्ष्य चिन्तन है, कर्मानुष्ठान में प्रवर्तन नहीं। गृहस्थाश्रम में रहकर जिन यज्ञ-यागों का अनुष्ठान किया जा चुका है उनके रहस्यों का अनावरण और पौरोहित्य-दर्शन की व्याख्या करने में ये आरण्यक-ग्रन्थ लगे हैं। वस्तुतः ब्राह्मणों के क्रियाकलापों को औपनिषद चिन्तनधारा से जोड़ने वाली शृङ्खला के रूप में आरण्यकों का विपुल महत्त्व है। कर्ममार्ग से ज्ञानमार्ग को प्राप्त करने के ये सुदृढ़ सोपान हैं क्योंकि अधिसंख्यक आरण्यकों में बाह्य औपचारिक यज्ञ को मानस-यज्ञ की अभिव्यक्ति के रूप में समझाया गया है।

आरण्यकों में पूरे जगत् को यज्ञमय देखा गया है। यज्ञ विश्व का नियामक है। इनमें वर्णाश्रम-धर्म को भी समझाया गया है। प्राणविद्या भी आरण्यकों की विशिष्ट विषय-वस्तु है। प्राण को विश्व का धारक कहते हुए निरूपित किया गया है कि सभी छोटे-बड़े पदार्थ प्राण से ही स्थिरता

---

१. निरुक्त १/१६ एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धम्। गोपथ २/२/६, २/४/२।

की प्राप्ति करते हैं-एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्य: प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् (ऐतरेयारण्यक २/१/६)। सामान्यत: आरण्यक गद्यात्मक हैं किन्तु ब्राह्मणों के समान कहीं-कहीं इनमें पद्य (मन्त्र) भी मिलते हैं जैसे तैत्तिरीयारण्यक में काल की विशालता का निरूपण पद्य में किया गया है-

> नदीव प्रभवात्काचिदक्षय्यात् स्यन्दते यथा।
> तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते॥
> (तैत्तिरीयारण्यक १/२)

अर्थात् अपने अक्षय स्रोत से किसी बड़ी नदी के समान (वह काल) प्रवाहित होता है, उस बड़ी नदी में दूसरी नदियाँ आकर मिलती हैं और वह विपुल बन कर कभी नहीं सूखती। काल में इसी प्रकार मास, पक्ष, दिवस आदि अवान्तर खण्ड आकर मिलते हैं, वह विशाल काल कभी नष्ट नहीं होता। वैदिक तत्त्वमीमांसा के अनुशीलन के लिए आरण्यक बड़े उपयोगी ग्रन्थ हैं।

यद्यपि वैदिक शाखाओं की संख्या के अनुरूप आरण्यकों की भी संख्या होनी चाहिए किन्तु बहुत कम संख्या में आरण्यक मिलते हैं। अभी केवल पाँच-छ: आरण्यक ही प्राप्त हैं। कुछ आरण्यक निश्चित रूप से ब्राह्मण-ग्रन्थ के ही भाग हैं। कुछ उपनिषदें भी इसी प्रकार ब्राह्मणों के अंश (परिशिष्ट) हैं। यहाँ आरण्यकों का परिचय दिया जाता है-

(१) ऐतरेय आरण्यक- ऋग्वेद की शाकल-शाखा से सम्बद्ध यह आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट है जिसमें पाँच भाग (आरण्यक) हैं जो पृथक् ग्रन्थ माने जाते हैं।[1] इसके प्रथम आरण्यक में 'महाव्रत' का वर्णन है जो ऐतरेय ब्राह्मण के 'गवामयन' कर्म का एक अंश है। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ, प्राणविद्या एवं पुरुष का विवेचन है। इसी खण्ड के चतुर्थ से षष्ठ अध्याय तक 'ऐतरेयोपनिषद्' है। तृतीय आरण्यक को 'संहितोपनिषद्' भी कहते हैं जिसमें संहिता, पद, क्रम (=पाठ के प्रकार) एवं स्वर-व्यञ्जन आदि विषयों का विवेचन है। व्याकरण तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अंश महत्त्वपूर्ण है। चतुर्थ आरण्यक लघुकाय है जिसमें महाव्रत के पाँचवें दिन पढ़ी जाने वाली 'महानाम्नी' ऋचाएँ संकलित हैं। अन्तिम आरण्यक में 'निष्केवल्य शस्त्र' का विवरण है, जिसका पाठ महाव्रत में मध्याह्न-काल में होता था। इसके प्रथम तीन आरण्यक महिदास ऐतरेय द्वारा, चतुर्थ आरण्यक आश्वलायन द्वारा एवं पञ्चम आरण्यक शौनक द्वारा रचित कहे जाते हैं। इस पर सायण ने भाष्य लिखा था।

(२) शाङ्खायन आरण्यक- यह ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक है जिसे 'कौषीतकि आरण्यक भी कहते हैं। इसमें १५ अध्याय हैं जिनमें तृतीय से षष्ठ अध्याय तक का भाग 'कौषीतक्युपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है। षष्ठाध्याय में उशीनर, मत्स्य, काशी, विदेह एवं कुरु-पाञ्चाल का निर्देश है। इसके तेरहवें अध्याय में उपनिषदों के (विशेषत: बृहदारण्यक से) अनेक उद्धरण दिये गये है।

(३) बृहदारण्यक- शुक्लयजुर्वेद का एक आरण्यक 'बृहदारण्यक' है जो शतपथ ब्राह्मण

---

१. श्रावणी के दिन ऋग्वेदी ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम वाक्य का निर्देश करके कृतार्थ होते हैं किन्तु ऐतरेयारण्यक के प्रत्येक आरण्यक के प्रथम वाक्यों का पाठ पृथक्-पृथक् करते हैं।

का अन्तिम काण्ड है। इसमें छः अध्याय हैं। आरण्यक तथा उपनिषद् का मिश्रण होने पर भी आत्मतत्त्व की विशेष विवेचना के कारण, इसे उपनिषद् की ही श्रेणी दी गयी है। अतः बृहदारण्यकोपनिषद् के नाम से यह प्रसिद्ध है। इस पर शंकर, रामानुज तथा सायण के भाष्य उपलब्ध हैं।

(४) **तैत्तिरीय आरण्यक-** यह कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध आरण्यक है जिसके दस परिच्छेदों (प्रपाठकों) में सप्तम से नवम तक 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों का मिश्रण है। इस आरण्यक के प्रपाठकों के नाम उनके प्रथम पदों के आधार पर दिये गये हैं-भद्र, सहवै, चिति, युञ्जते, देव वै, परे, शिक्षा, ब्रह्मविद्या, भृगु तथा नारायणीय। इसका दशम प्रपाठक भी 'महानारायणीयोपनिषद्' के रूप में प्रसिद्ध है। इसे वस्तुतः परिशिष्ट कहा जाता है। प्रपाठकों को अनुवाकों में विभक्त किया गया है जो दस-दस वाक्यों की इकाइयों के रूप में हैं। इस आरण्यक में ऋग्वेद की ऋचाओं का पर्याप्त उद्धरण है। इसके चतुर्थ प्रपाठक में अभिचार-मन्त्र भी दिये गये हैं। इसमें कश्यप का अर्थ सूर्य कहते हुए निर्वचन दिया गया है- **कश्यपः पश्यको भवति, यत् सर्वं परिपश्यतीति।**[1] कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का आरण्यक 'मैत्रायणीयोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है।

(५) **तलवकार आरण्यक-** यह सामवेद की जैमिनीय शाखा का आरण्यक है। 'तलव' का अर्थ संगीतज्ञ है (वाजसनेयिसंहिता ३०/२० आनन्दाय तलवम्)। इसे 'जैमिनीयोपनिषद ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय अनुवाकों में विभक्त है। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में तलवकार या 'केनोपनिषद्' है। सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण से सम्बद्ध 'छान्दोग्यारण्यक' है जो वस्तुतः प्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् का आरम्भिक भाग है।

अथर्ववेद का कोई आरण्यक नहीं मिला है। इस वेद से सम्बद्ध उपनिषदें किसी आरण्यक का अंश न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में है।

(ग) उपनिषद्

ब्राह्मण-ग्रन्थ जिस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड के शिखर-ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार वैदिक ज्ञानकाण्ड का उत्कर्ष उपनिषद्-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वे वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के अङ्ग हैं- इन सभी रूपों की उपनिषदें हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तिम भाग में निबद्ध होने तथा उनके सारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करने के कारण उन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। प्रचार की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उपनिषद् अग्रणी हैं। देश-विदेश के असंख्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने उपनिषदों के प्रति आदर-भाव प्रकट किया है।

व्युत्पत्ति तथा अर्थ-'उप' तथा 'नि' इन दो उपसर्गों के बाद सद्-धातु से क्विप् प्रत्यय लगकर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। साधारणतः इसका अर्थ होता है-गुरु के समीप (उप) बैठकर (निषद्य) प्राप्त किया गया ज्ञान। फिर भी सद्-धातु के तीन अर्थों से आध्यात्मिक उत्कर्ष वाले निर्वचन किये गये हैं। सद्-धातु के तीन अर्थ हैं- विशरण (नाश), गति (ज्ञान या प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इसीलिए शङ्कराचार्य ने कहा है-**उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं**

१. तैत्तिरीयारण्यक १/८/८।

विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति (ईशावास्योपनिषद्-भाष्य का आरम्भ)। अर्थात् सभी अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले संसार (जीव का बार-बार जन्म-मरण होना) का यह विनाश करती है, संसार के हेतु स्वरूप अविद्या को शिथिल करती है और ब्रह्म की प्राप्ति (अवगति=ज्ञान) कराती है।

उपनिषदों का अध्ययन एकान्त में गुरु के प्रसाद से होता रहा है अत: उन्हें 'रहस्यविद्या' भी कहते हैं। उनमें मुख्य रूप से ब्रह्म, सृष्टि, जीव, आत्मा, प्राण, पुनर्जन्म, कर्म तथा नैतिकता का विवेचन है। उनमें उपदेश की अनेक विधियों का प्रयोग मिलता है-कहीं प्रतीक रूप में, कहीं आख्यान के द्वारा और कहीं युक्तियों से दर्शन (अध्यात्म-विद्या) के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट किया गया है। आधुनिक इतिहासकार उपनिषदों को वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता के विरुद्ध ज्ञानमार्गियों की प्रतिक्रिया मानते हैं किन्तु आरण्यकों के माध्यम से कर्म और ज्ञान का सामञ्जस्य, सातत्य तथा पारस्परिक पूरकत्व देखकर ऐसा समझना भ्रम है। वस्तुत: कर्मकाण्ड की परिणति ज्ञानकाण्ड में ही सम्भव है। प्रवृत्ति और निवृत्ति भारतीय जीवन-दर्शन के दो अविच्छेद्य पक्ष माने गये हैं। प्रवृत्तिमार्ग ब्राह्मण-ग्रन्थों में तथा आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम में सन्तुष्टि पाता है, जबकि निवृत्तिमार्ग उन्हीं वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों में एवम् उसी मानव से सम्बद्ध संन्यासाश्रम में पुष्ट होता है।

संख्या-'उपनिषद्' के नाम से पर्याप्त साहित्य विकसित हुआ है। वैदिक युग से लेकर बहुत बाद तक ऐसी रचनाएँ होती रही हैं। इसीलिए प्राचीन (विशुद्ध या असली) और अर्वाचीन (परवर्ती) के रूप में इनका अन्तर करना आवश्यक है। प्राचीन उपनिषदें संख्या की दृष्टि से अधिकतम १४ हैं, इनका सम्बन्ध वैदिक ग्रन्थों और शाखाओं से है। इन प्राचीन उपनिषदों की पवित्रता एवं गूढ़ात्मकता की दृष्टि से बाद में भी कई रचनाएँ उनका अनुकरण करने के क्रम में विकसित हुईं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार इनकी संख्या १०८ हैं जिन्हें वेदों से जोड़ने का प्रयास हुआ है-ऋग्वेद की १०, शुक्लयजुर्वेद की १९, कृष्णयजुर्वेद की ३२, सामवेद की १६ तथा अथर्ववेद की ३१ उपनिषदें हैं।[1] उपनिषदों की संख्या इससे भी अधिक तक पहुँच गयी है। 'कल्याण' के उपनिषदङ्क में २२० तथा 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोश' में २२३ उपनिषदों का उल्लेख है।[2]

जिन प्राचीन १४ उपनिषदों की चर्चा होती है उनमें दस महत्त्वपूर्ण हैं, उन पर शङ्कराचार्य ने भाष्य लिखा था। उनके विषय में यह प्रसिद्ध श्लोक है-

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥[3]

इसमें (१) ईशोपनिषद्, (२) केनोपनिषद्, (३) कठोपनिषद्, (४) प्रश्नोपनिषद्, (५) मुण्डकोपनिषद्, (६) माण्डूक्योपनिषद्, (७) तैत्तिरीयोपनिषद्, (८) ऐतरेयोपनिषद्, (९) छान्दोग्योपनिषद् तथा (१०) बृहदारण्यकोपनिषद् निर्दिष्ट हैं। जिन अन्य चार प्राचीन उपनिषदों

---

१. मुक्तिकोपनिषद्, अध्याय-१, सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥
२. इनमें अधिकांश धार्मिक और तान्त्रिक हैं, दार्शनिक नहीं। ३. मुक्तिकोपनिषद् १/३०

का उल्लेख हुआ है वे हैं- (११) कौषीतक्युपनिषद्, (१२) श्वेताश्वतरोपनिषद्, (१३) मैत्रायणी उपनिषद् तथा (१४) महानारायणीयोपनिषद्। जर्मन विद्वान् पाल डिउसन ने इन चौदहों को प्राचीन मानकर इनकी विवेचना की है। विद्वानों ने इनका अंग्रेजी अनुवाद किया है।

मुख्य विषय-वस्तु (सिद्धान्त)

उपनिषदों में मुख्य रूप से गूढ़ अध्यात्मविद्या का निरूपण है। ऋषियों ने भौतिक जगत् के पीछे छिपे हुए परमतत्त्व का अन्वेषण करने के क्रम में अनेक दार्शनिक विषयों की मीमांसा की है। उनमें ब्रह्म और आत्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् का निरूपण है। यहाँ उपनिषदों के मुख्य सिद्धान्तों का परिचय दिया जाता है-

(१) **ब्रह्मतत्त्व**- संसार की सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म है जिससे प्रत्येक वस्तु की परिणति होती है। छान्दोग्योपनिषद् (३/१४/१) में कहा गया है - **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (वस्तुतः यह सब कुछ ब्रह्म है)। इसे ही आत्मा भी कहा गया है। उक्त उपनिषद् में शाण्डिल्य ने कहा है कि यह मेरी आत्मा मेरे अन्तर्हृदय में ब्रह्म है, जब मैं इस संसार से जाऊँगा तब उससे एकरूप हो जाऊँगा (एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति ३/१४/४)। तैत्तिरीयोपनिषद् (३/१) में वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता से जब ब्रह्म की जिज्ञासा करता है तो वरुण उत्तर देते हैं कि जिससे सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसके पास जाते हैं और विलीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति)। वहाँ क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द को ब्रह्म कहकर स्थूल से सूक्ष्म की ओर ब्रह्मज्ञान का स्वरूप प्रकट किया गया है- आनन्द ही वास्तविक ब्रह्म है।

ब्रह्म सत्य, ज्ञान और आनन्द के स्वरूप में है। ब्रह्म के दो रूप हैं- सगुण तथा निर्गुण। सगुण ब्रह्म 'अपरब्रह्म' है; वही विश्व का सर्जक, पालक एवं संहारक है। इसे ही प्रतीकात्मक भाषा में 'तज्जलान्' कहा गया है-**तज्ज** (विश्व को जन्म देने वाला), **तल्ल** (उसे लीन करने वाला) और **तदन्** (उसे धारण करने वाला)। यह सगुण ब्रह्म नित्य, विभु, सर्वज्ञ, स्वामी इत्यादि है। निर्गुण ब्रह्म को 'परब्रह्म' कहा जाता है। वह सच्चिदानन्द, मन और वाणी से अगोचर और निरुपाधि है। अक्षर, अजर, अमर आदि के रूप में यही तत्त्व है। दोनों रूप एक ही ब्रह्म के हैं। यह बात अवश्य है कि निर्गुण ब्रह्म के विशेषण नपुंसकलिङ्ग में और सगुण ब्रह्म के विशेषण पुँल्लिङ्ग में दिये गये हैं। कभी-कभी दोनों का समन्वय किया गया है जैसे-

> **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**
> **कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥**[1]

(२) **आत्मतत्त्व**- अध्यात्म-विद्या होने के कारण प्रायः सभी उपनिषदों में 'आत्मा' का विवेचन है। 'आत्मन्' की व्युत्पत्ति अन् (प्राणने)-धातु से मानी गयी है। ऋग्वेद में इसे 'वायु' का भी पर्याय कहा गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह जीवात्मा के अर्थ में है। कठोपनिषद् में आत्मा को अजन्मा, अमर, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है जो शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट

---
१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११

नहीं होता।[1] पुनः इसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (अणु से भी छोटा और महत्परिमाण से भी बड़ा) कहा गया है जो सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है; जिसे परमेश्वर की कृपा से ही कोई जान सकता है। मेधा या प्रवचन जैसे बाहरी साधनों से आत्मा को जानने का प्रयास भ्रम है। वस्तुतः यह जिस पर कृपा रखता है, वही व्यक्ति इसे समझ सकता है (यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः)। छान्दोग्योपनिषद् में[2] इन्द्र को प्रजापति कहते हैं कि आत्मा पापमुक्त, जरारहित, मृत्यु एवं शोक से ऊपर, भूख-प्यास से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है; उसी का अन्वेषण और जिज्ञासा करनी चाहिए (य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः)।

माण्डूक्योपनिषद् (मन्त्र-२) में 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ही ब्रह्म है) कहकर इसके चार चरण (अवस्था) बताये गये हैं- सोऽयमात्मा चतुष्पात्। इन चार अवस्थाओं को क्रमशः जाग्रत् (वैश्वानर), स्वप्न (तैजस), सुषुप्ति (प्राज्ञ) तथा तुरीय (प्रज्ञानघन आत्मा)। चतुर्थ (तुर्य, तुरीय) अवस्था ही आत्मा का वास्तविक रूप है- शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः (माण्डूक्य, मन्त्र-७)। प्रथम दो अवस्थाओं में द्वैत की प्रतीति होती है, तृतीयावस्था (सुषुप्ति) में वह ब्रह्म के साथ तद्रूप होकर आनन्द का अनुभव करता है, चतुर्थावस्था शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इसमें बाह्य या आभ्यन्तर किसी प्रकार के पदार्थ की प्रतीति नहीं होती है। ओ३म् की तीन मात्राएँ क्रमशः तीनों अवस्थाओं का एक-एक करके प्रतीक हैं, मात्रारहित निराकार ओंकार आत्मा का चतुर्थपाद है। छान्दोग्योपनिषद् (८/७-१२) में भी इसे स्पष्ट किया गया है।

(३) अद्वैततत्त्व- वेदों और ब्राह्मणों में ब्रह्म और आत्मा को पृथक् अर्थों में प्रयुक्त किया गया है किन्तु उपनिषदों में सामान्य रूप से ये पर्याय बन गये हैं। चारों वेदों से सम्बद्ध चार महावाक्यों में इसका निर्देश है- (क) **प्रज्ञानं ब्रह्म** (ऐतरेयोपनिषद् ३/३),(ख) **अहं ब्रह्मास्मि** (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०),(ग) **तत्त्वमसि** (छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७) तथा (घ) **अयमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्योपनिषद्, मन्त्र-२)। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का आत्मा के साथ ऐक्य दिखाया गया। ये सभी महावाक्य सुन्दर आख्यानों से जुड़े हैं। ऋषि आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा 'तत्त्वमसि' (तुम वही ब्रह्म हो) का उपदेश दिया था (छान्दोग्य०, अध्याय-६)। कहीं-कहीं अवश्य ही आत्मा और ब्रह्म का द्वैत दिखाया गया है जैसे- 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०' इत्यादि मुण्डक-मन्त्र में (३/१) या 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके०' इत्यादि कठ-मन्त्र में (१/३/१)। किन्तु इन मन्त्रों को जीवात्मा और परमात्मा (=ब्रह्म के दो औपाधिक भेद) के रूप में समझ कर समन्वित किया गया है। वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में कुछ नहीं है- सर्वं खल्विदं ब्रह्म। वही विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है समस्त प्रकाश उसी से निर्गत होते हैं, उसकी शक्तियाँ अनेक रूपों में प्रकट होती हैं।[3]

---

१. कठोपनिषद् १/२/१८ न जायते म्रियते वा विपश्चित्। २. छान्दोग्योपनिषद् ८/७/१।

३. श्वेताश्वतर० ६/८ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
श्वेताश्वतर० ६/१४ तथा कठ० २/२/१५ (उत्तरार्ध)-
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(४) **प्राण-सिद्धान्त**- उपनिषदों में अनेक स्थलों पर 'प्राण' शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् (५/१/८-१२) में एक आख्यान द्वारा सिद्ध किया गया है कि प्राण सभी इन्द्रियों से ऊपर है, इसके अभाव में किसी का अस्तित्व नहीं है। कोई भी इन्द्रिय शरीर से निकल जाये तो शरीर का कुछ नहीं बिगड़ता किन्तु प्राण के चले जाने पर सब कुछ विकल हो जाता है। इसलिए सभी इन्द्रियों को प्राण और प्राण को आत्मा कहा गया है (प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ५/१/१)।

(५) **सृष्टि-विज्ञान**- उपनिषदों में इस विचित्र जगत् की सृष्टि के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। सृष्टि के मूल में कोई ऐसी वस्तु है जो समस्त परिवर्तनों में भी अक्षुण्ण रहती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को जानने का उपदेश है जिससे समस्त सृष्टि जन्म लेती है, सबकी सत्ता का आधार है और अन्ततः सब कुछ उसी में विलीन हो जाता है। अन्यत्र कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में 'जल' था, जल ने सत्य की सृष्टि की, सत्य ने ब्रह्म की, ब्रह्म ने प्रजापति की और प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। इसी से देवगण सत्य की उपासना करते हैं।[1] उधर छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि रैक्व मानते हैं कि 'वायु' समस्त वस्तुओं का मूल है, सबका लय वायु में हो जाता है।[2] इसी प्रकार अग्नि (कठोपनिषद्) तथा आकाश (छान्दोग्य० १/९/१) को भी मूलतत्त्व माना गया है। कहीं-कहीं असत् से सत् की परिणति मानते हुए, सत् के एक विशाल अण्डे के रूप में परिवर्तित होने पर, अण्डे के रजत-स्वर्ण में विभाजन, रजत से पृथ्वी और स्वर्ण से आकाश की उत्पत्ति की चर्चा है (छान्दोग्य० ३/१९/१-३)। इस प्रसङ्ग में प्राण को भी जीवनाधायक तत्त्व मानकर प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से मूलतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। प्राण ही आयु है, वही अजर-अमर आत्मा है (आयुः प्राणः, प्राणो वा आयुः, कौषीतक्युपनिषद् ३/२)।

बृहदारण्यकोपनिषद् (१/४/१-४) में आत्मा से स्त्री-पुरुष की रोचक सृष्टिकथा दी गयी है- एकाकी जीवन से असन्तुष्ट आत्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया और स्वयं पति-पत्नी का रूप धारण किया। उसने पुनः समस्त मिथुन-प्राणियों की सृष्टि की (आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः.... स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्... स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्...)। ऐतरेयोपनिषद् (१/१-३) में सृष्टि-विज्ञान का सर्वाधिक पूर्ण विवेचन है। आत्मा ने सृष्टि की इच्छा की; उसने चार लोकों की सृष्टि की- जललोक, स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताललोक। पुनः उसने विराट् पुरुष को उत्पन्न किया जिसमें प्राण (श्वास) भर दिया। पुरुष की इन्द्रियों को, उनके व्यापारों को और उनके लोकपालों (अधिष्ठाता देवताओं) को भी क्रमशः उसने उत्पन्न किया.....। मुण्डकोपनिषद् (२/१/२-९) में अमूर्त पुरुष से और श्वेताश्वतर० (६/२) में परमेश्वर से सृष्टि का वर्णन है।

(६) **कर्म-सिद्धान्त**- उपनिषदों में निरन्तर सत्कर्म का उपदेश दिया गया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य सत्कर्म से पुण्यात्मा और पापकर्म से पापी बनता है।[3] पुरुष को 'काममय'

---

१. **बृहदारण्यकोपनिषद्** ५/५/१ आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, स ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाँस्ते देवाः सत्यमेवोपासते।

२. **छान्दोग्योपनिषद्** ४/३/१ वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्योत...।

३. **बृहदारण्यकोपनिषद्** ३/२/१३ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति।

कहते हुए याज्ञवल्क्य पुनः बताते हैं कि पुरुष को जिस प्रकार का काम (राग) होगा, वह वैसा ही संकल्प करेगा, संकल्प के अनुरूप ही वह कर्म करता है, कर्म के अनुसार फल (गति) पाता है-"अथो खल्वाहु: काममय एवायं पुरुष इति; स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति; यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।" (बृहदारण्यक० ४/४/५)।

छान्दोग्योपनिषद् (५/१०/१-८) में विभिन्न कर्मों का फल-भेद बताया गया है। श्रद्धा और तप में लीन व्यक्ति शरीरत्याग के अनन्तर देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता। इष्टापूर्त (यज्ञ, सरोवर-निर्माण आदि) कर्म में रत सदाचारी व्यक्ति पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में जाते हैं; पुण्यकर्मों का क्षय होने पर वहाँ से लौटकर पुरातन शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभाशुभ योनियों में जन्म लेते हैं। यह देवयान उत्तरमार्ग है, पितृयान दक्षिणमार्ग है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त पुनर्जन्म और मोक्ष की भी व्याख्या करता है। कुछ कर्म अपुनर्भव (मुक्ति) प्रदान करते हैं तो अधिकांश से पुनर्जन्म होता है। ईशोपनिषद् (मन्त्र-२) में कहा गया है कि सत्कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहने की कामना करे (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:)। कर्म के निष्काम-भाव से सम्पादन का भी संकेत मिलता है जिससे कर्म मनुष्य से लिप्त नहीं हो सके (न कर्म लिप्यते नरे)।

(७) **नैतिक सिद्धान्त**- उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्त शाश्वत शान्ति या परम कल्याण की दिशा में उन्मुख हैं। उत्कृष्ट कर्म वही है जो इस लक्ष्य की पूर्ति कर सकें। कठोपनिषद् में (१/२/१-२) इस प्रसङ्ग में श्रेय और प्रेय का अन्तर दिखाया गया है। आपातत: आकर्षक पुत्र, भवन, धन आदि सुखों को 'प्रेय' कहा गया है जो मनुष्यों को बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में डालते हैं। दूसरी ओर वास्तविक सुख प्रदान करने वाले एवं इस चक्र से मुक्त करने वाले ज्ञान, वैराग्य आदि 'श्रेय' हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति श्रेय का वरण करते हैं और मूर्ख लोग जीविका (योग-क्षेम) की दृष्टि से प्रेय को ही चुनते हैं, स्पष्टत: श्रेय को वरणीय कहा गया है। अपने कर्म के चुनाव के विषय में श्रेष्ठ जनों की सहायता लेनी चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् (१/११) में आचार्य अपने स्नातक शिष्य को उपदेश देते हैं- सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद: इत्यादि। कर्म के विषय में सन्देह होने पर अपने क्षेत्र के दक्ष, विचारशील, सौम्य एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों के आचरण के अनुसार कर्म करने का वे आदेश देते हैं।[1]

छान्दोग्योपनिषद् (३/१७/४) में जीवन को यज्ञ का रूप देकर कहा गया है कि तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन उस यज्ञ की दक्षिणा है अर्थात् जीवन में इनका ग्रहण करना चाहिए क्योंकि दक्षिणा के अभाव में यज्ञ नष्ट हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में (५/२) प्रजापति के द्वारा देवताओं, मनुष्यों और असुरों को क्रमश: **दाम्यत** (इन्द्रियों का दमन करो), **दत्त** (दान करो) और **दयध्वम्** (दया करो) का उपदेश दिया गया है; तीनों में 'द' अक्षर है। तीनों ने अपने-अपने ढंग से आवश्यकता के अनुसार उपदेश ग्रहण किया। सुखजीवी देवताओं को इन्द्रिय दमन का, धन का स्वार्थ में उपयोग करने वाले मनुष्यों को दान का तथा क्रूर राक्षसों को दया का समुचित उपदेश मिला। इसी भावना से ईशोपनिषद् (मन्त्र-१) में 'मा गृध: कस्य स्विद्धनम्' (लोभ मत

---

१. **तैत्तिरीय०** १/११/३-४ अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा: सम्मर्शिन: युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा: स्यु:, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथा:।

करो, धन किसका है?)- यह उपदेश दिया गया है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने भी कहा था- ''जो वस्तुएँ मुझे अमरता नहीं दे सकतीं, उन्हें लेकर मै क्या करूँगी?''[१] ज्ञान और सत्य को नैतिक मूल्यों में उपनिषदों ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया है।

परिचय

उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों से है। प्राचीन, प्रामाणिक तथा प्रमुख उपनिषदों की संख्या १४ है जिनका निम्नलिखित रूप में वेदों से सम्बन्ध है-

(क) ऋग्वेदीय उपनिषदें-ऐतरेय तथा कौषीतकि।

(ख) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें-ईश तथा बृहदारण्यक।

(ग) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें-तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी तथा महानारायण।

(घ) सामवेदीय उपनिषदें-केन तथा छान्दोग्य।

(ङ) अथर्ववेदीय उपनिषदें-मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न।

इनमें बृहदारण्यक और छान्दोग्य विशालकाय है जबकि ईश, केन और माण्डूक्य अल्पकाय हैं। कुछ उपनिषदें पद्यात्मक हैं, कुछ गद्यात्मक और कुछ मिश्र हैं। यहाँ उपर्युक्त उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है-

(१) ऐतरेयोपनिषद्-यह ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेयारण्यक के द्वितीय आरण्यक (खण्ड) के अन्तर्गत चतुर्थ से षष्ठ अध्याय पर्यन्त अंश के रूप में है। इसलिए इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। ऋषि महिदास ऐतरेय के नाम पर इसका यह नाम दिया गया है। प्रथम अध्याय तीन खण्डों में और शेष दोनों एक-एक खण्ड के हैं, इस प्रकार कुल पाँच खण्ड हैं। इसमें विश्व की उत्पत्ति का विवेचन है; आत्मा ने ईक्षण किया कि सृष्टि करूँ (स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति)। पुरुषसूक्त के आधार पर सृष्टि का क्रम यहाँ निरूपित है। द्वितीय अध्याय में जन्म, जीवन और मरण का निरूपण करते हुए पुरुष के तीन जन्मों का निर्देश किया गया है। तृतीय अध्याय में आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन है और अन्त में 'प्रज्ञान' को ब्रह्म कहा गया है- प्रज्ञानं ब्रह्म।

(२) कौषीतक्युपनिषद्-यह ऋग्वेद के कौषीतकि आरण्यक के तृतीय से षष्ठ अध्याय तक का भाग है। इसे 'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। इसमें चार अध्याय हैं जो क्रमशः ७,१५,९ तथा २० खण्डों में विभक्त हैं। पूरी उपनिषद् गद्यात्मक है। प्रथम अध्याय में देवयान और पितृयान (मृत्यु के बाद के मार्ग) का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में आत्मा के प्रतीक 'प्राण' का विवेचन है (प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः) जिससे सम्बद्ध विषयों का विश्लेषण किया गया है। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या सीखते हैं; यहाँ भी प्राण-सिद्धान्त का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में अजातशत्रु और बालाकि के आख्यान के प्रसङ्ग में परब्रह्म का विवेचन है।

(३) ईशोपनिषद्- यह शुक्लयजुर्वेद संहिता (काण्व तथा वाजसनेयी) के चालीसवें अध्याय के रूप में है। अतएव यह अत्यन्त प्राचीन उपनिषद् है। इसमें केवल अठारह पद्यात्मक

---

१. बृहदारण्यक० २/४/३ येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।

मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' से आरम्भ होता है अतएव इसका नाम ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् है। इस लघुकाय उपनिषद् में त्यागपूर्वक भोग, कर्म की निष्कामता, आत्मा का महत्त्व, एकत्व-भावना का फल,[1] विद्या और अविद्या का सम्बन्ध एवं परमात्मा का स्वरूप-ये विषय वर्णित हैं। आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों के अनुष्ठान को आवश्यक कहा गया है- **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।** (मन्त्र-११)

इसी प्रकार मरणोन्मुख पुरुष के द्वारा की जाने वाली प्रार्थनाएँ अन्तिम मन्त्रों में दी गयी हैं जैसे-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ (मन्त्र-१५)

अर्थात् स्वर्ण-निर्मित पात्र (ढक्कन) से सत्य का स्वरूप छिपा हुआ है; हे परमात्मन्, इसे आप हटा दें जिससे सत्य के धर्म (स्वरूप) का मैं दर्शन कर सकूँ।

(४) **बृहदारण्यकोपनिषद्**-शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्यायों को बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों के मिश्रण के कारण इसका यह नाम पड़ा है। यह विशालकाय गद्यात्मक उपनिषद् है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार यह प्राचीनतम पाँच उपनिषदों में है जिनमें गद्यात्मक ब्राह्मण-शैली है।[2] इसे दो-दो अध्यायों के तीन काण्डों में विभक्त किया गया है। इन काण्डों को क्रमशः मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्य काण्ड और खिल काण्ड कहते हैं। अध्यायों का ब्राह्मणों में अवान्तर विभाग किया गया है, पुनः ब्राह्मण भी खण्डों में विभक्त है। पूरे ग्रन्थ में ४७ ब्राह्मण हैं। **प्रथमाध्याय** (छः ब्राह्मण) में अश्वमेघ-यज्ञ, आत्मा (ब्रह्म) से जगत् की उत्पत्ति, प्राण की श्रेष्ठता और आत्मा की व्यापकता का विवेचन है। **द्वितीयाध्याय** (छह ब्राह्मण) में दो प्रमुख संवाद हैं। गार्ग्य (बालाकि) काशिराज अजातशत्रु को ब्रह्म का स्वरूप समझाते हैं किन्तु अजातशत्रु इस विषय को स्पष्टतर करते हैं। यहीं याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का भी संवाद है जहाँ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मा का स्वरूप रोचक ढंग से समझाते हैं- **न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति** (२/४/५)। इसके पञ्चम ब्राह्मण में 'मधु-विद्या' का विवेचन है जिसमें ब्रह्म की व्यापकता का उपदेश 'मधु' शब्द के द्वारा हुआ है (**अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, आत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु** २/५/१४)।

इसके **तृतीयाध्याय** (९ ब्राह्मण) में अत्यधिक रोचक शास्त्रार्थ का वर्णन है जो विदेहराज जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य तथा अन्य दार्शनिकों के बीच होता है। उनमें वाचक्नवी गार्गी के साथ भी याज्ञवल्क्य का प्रश्नोत्तर निरूपित है जिसमें गार्गी को डाँटकर चुप कराया जाता है।[3]

---

१. **ईशोपनिषद्**, ७ यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

२. इस कोटि की अन्य उपनिषदें हैं-छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि। द्वितीय चरण में पद्यात्मक उपनिषदें रखी जाती हैं-कठ, ईश, श्वेताश्वतर तथा महानारायण। तृतीय वर्ग में प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्य-ये गद्यात्मक उपनिषदें हैं। चतुर्थ वर्ग में गद्य-पद्य से युक्त आथर्वण उपनिषदें रखी गयी हैं। तान्त्रिक और पौराणिक उपनिषदें बहुत बाद की हैं। (डिउसन)

३. **बृहदारण्यक** ३/६/१ गार्गि मातिप्राक्षीः मा ते मूर्धा व्यपप्तत्।

चतुर्थाध्याय (छ: ब्राह्मण) में याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को ब्रह्म-विषयक उपदेश दिये जाने के अनन्तर उनका अपनी पत्नी मैत्रेयी से प्रश्नोत्तर पुनः निरूपित है (जैसा अध्याय-२ में है)। पञ्चमाध्याय (१५ ब्राह्मण) में ब्रह्म, प्रजापति, गायत्री, परलोक आदि के विषय में विचार किया गया है। षष्ठाध्याय (पाँच ब्राह्मण) में श्वेतकेतु आरुणेय तथा प्रवाहण जैवलि (कुरुनरेश) के मध्य संवाद प्रस्तुत है जिसमें इन्द्रियों की श्रेष्ठता का विवाद तथा जीवात्मा के परलोक-गमन (देवयान तथा पितृयान) का वर्णन है। ये दोनों विषय छान्दोग्योपनिषद् में भी हैं।

इस उपनिषद् के प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य हैं जो अपने युग के श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी थे। अश्वमेध-यज्ञ के रहस्य-निरूपण से आरम्भ होना इसके ब्राह्मण-परिशिष्ट होने का प्रबल प्रमाण है।

(५) **तैत्तिरीयोपनिषद्-** कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के तैत्तिरीयारण्यक के दस प्रपाठकों में से सप्तम से नवम तक को तैत्तिरीयोपनिषद् कहते हैं। ये प्रपाठक इसमें अध्याय कहे गये हैं अर्थात् इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं जिन्हें क्रमशः **शिक्षावल्ली**, ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली कहते हैं। इन वल्लियों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में हुआ है जिनकी संख्या क्रमशः १२,९ तथा १० है। शिक्षावल्ली में सामान्यतः प्राचीनकाल की शिक्षा-पद्धति तथा शिक्षणीय उच्चारण-विधि का निरूपण है, कुछ दार्शनिक विचार भी दिये गये हैं। इसी के ग्यारहवें अनुवाक में आचार्य द्वारा स्नातक को दिये गये उपदेश हैं-"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्" इत्यादि। इस उपदेश का सार्वकालिक महत्त्व है। माता, आचार्य और अतिथि को देवता मानकर केवल अनवद्य (अनिन्दनीय) कर्म करने का यहाँ उपदेश है।[1] ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म को आनन्द, सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर[2] उससे क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वनस्पति, अन्न और पुरुष की उत्पत्ति कही गयी है। ब्रह्म रस या आनन्द के रूप में ही है। भृगुवल्ली में अपने पिता वरुण से भृगु की ज्ञान-प्राप्ति के आख्यान के क्रम में ब्रह्म की जिज्ञासा का निरूपण है। क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द से संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का निरूपण करते हुए ब्रह्म को समझाया गया है। इसी प्रकरण से बादरायण ने ब्रह्मसूत्र का आरम्भ किया है, अतः इसका दार्शनिक महत्त्व अधिक है।

(६) **कठोपनिषद्-** यह कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा में विकसित उपनिषद् है। आरम्भ के कुछ मन्त्रों को छोड़कर यह पूर्णतः पद्यात्मक है। इसमें दो अध्याय हैं जो तीन-तीन वल्लियों में विभक्त हैं। ऐसा माना जाता है कि द्वितीयाध्याय बाद में जोड़ा गया है क्योंकि उसमें योग-विषयक तथा भौतिक पदार्थों की असत्यता से सम्बद्ध परवर्ती विचार दिये गये हैं। प्रथमाध्याय में नचिकेता की कथा है।[3] उसे पिता ने क्रोध में यमलोक जाने की बात कह दी (मृत्यवे त्वा ददामीति)। नचिकेता यम के गृह में पहुँचकर उनसे तीन वर पाता है। प्रथम वर में पिता की

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् १/११ मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् २/१ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। २/४ आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। २/७ रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

३. कठोपनिषद् १/३/१६ नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।

कोपशान्ति, द्वितीयवर में स्वर्गप्रद अग्निविद्या और तृतीयवर में आत्मतत्त्व का ज्ञान पाता है। आत्मतत्त्व का ज्ञान देने के पूर्व यम नचिकेता को अनेक प्रलोभन देकर उसे अपने निश्चय से विरत करना चाहते हैं किन्तु इसमें असफल होने पर उसे श्रेय और प्रेय का अन्तर समझाते हैं। प्रेय भौतिक सुख है और श्रेय आध्यात्मिक उपलब्धि (ज्ञान, वैराग्य आदि) है। नचिकेता ने श्रेय का चुनाव करके आत्मज्ञान का अधिकार पा लिया। यम ने आत्मा को दुर्ज्ञेय कहते हुए उसे अजन्मा, अमर, नित्य, शाश्वत तथा शरीर के नष्ट होने पर भी अक्षुण्ण रहने वाला तत्त्व बतलाया। इस प्रसङ्ग में यम ने रथ का रूपक देकर शरीरादि के साथ आत्मा का व्यावहारिक सम्बन्ध निरूपित किया (१/३/३-४)। आत्मज्ञान का मार्ग भी छुरे की धार के समान तीक्ष्ण और दुरतिगम है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया)। पुरुष (परमात्मा) ज्ञान की अन्तिम सीमा है (पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः)।

द्वितीयाध्याय में आत्मा की व्यापकता (तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे) एवं विविध रूपों में अभिव्यक्ति (एकं रूपं बहुधा यः करोति) का वर्णन करते हुए अन्त में योग द्वारा उत्क्रमण का निरूपण किया गया है (योगविधिं च कृत्स्नम्)। इस अध्याय की विषय-वस्तु को भी यम द्वारा प्रोक्त कहा गया है। इसके कई मन्त्र अन्य उपनिषदों में भी हैं।

(७) **श्वेताश्वतरोपनिषद्**- कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् को परवर्ती माना जाता है; इसमें सांख्यदर्शन के मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं तथा कठोपनिषद् के अनेक मन्त्र अविकल रूप से संकलित हैं। सांख्य और वेदान्त का पार्थक्य इसमें नहीं है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ब्रह्म की व्यापकता और उनके साक्षात्कार का उपाय वर्णित है (ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्, मन्त्र-१४)। द्वितीयाध्याय में योग का विस्तृत वर्णन है। तृतीयाध्याय में ईश्वर की स्तुति रुद्र के रूप में है (सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः, मन्त्र-११)। चतुर्थाध्याय में एकात्मक ब्रह्म की माया का वर्णन है जिससे त्रिगुणात्मक सृष्टि होती है। इसी प्रसङ्ग में पुरुष-प्रकृति के द्वैतवादी सांख्य-सिद्धान्त को प्रकट किया गया है (अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्० तथा द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०, मन्त्र ५-६)। पञ्चमाध्याय में परमात्मा के जीवरूप में शरीरधारण का वर्णन है-

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। (१२)

षष्ठाध्याय में एकरूप ब्रह्म का वर्णन 'देव' के रूप में किया गया है जो व्यापक, ईशिता, कर्माध्यक्ष, सभी प्राणियों में अवस्थित इत्यादि विशेषताओं से युक्त होकर भी निर्गुण है। उसे ही स्वभाव या काल भी कहा गया है। पूरी उपनिषद् पद्यात्मक है।

(८) **मैत्रायणी उपनिषद्**- यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है इसका विभाजन सात प्रपाठकों में है। ग्रन्थ गद्यात्मक है किन्तु कहीं-कहीं पद्य भी हैं। इसके कई मन्त्र अन्य उपनिषदों से संकलित हैं, यह सबसे अर्वाचीन मानी जाती है। इसमें सांख्य-सिद्धान्त, योग के छः अङ्ग तथा हठयोग के सिद्धान्त भी निर्दिष्ट हैं। इसमें राजा बृहद्रथ और ऋषि शाकायन का संवाद है। ऋषि राजा को मैत्री द्वारा प्रोक्त ब्रह्म-विचार समझाते हैं। आत्मा का भौतिक शरीर में प्रवेश, परमात्मा का भूतात्मा में परिणमन और मुक्ति का उपाय-इन तीन प्रमुख प्रश्नों को समझाने

का यहाँ प्रयास है। प्रकृति के तीन गुणों का उद्भव ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र से बताया गया है।[1] ब्रह्म की जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ भी यहाँ निरूपित हैं।

(९) महानारायणोपनिषद्-कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीयारण्यक का दशम प्रपाठक ही महानारायणीयोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इस आरण्यक पर सायण ने भाष्य की रचना की है। अत: यह सभाष्य प्रकाशित है। इसे परिशिष्ट के रूप में रचा गया था। इसका विभाजन अस्त-व्यस्त है, पृथक् संस्करणों में पृथक्-पृथक् है। यह बहुत लम्बी उपनिषद् है। इसमें सामान्यत: नारायण को परमतत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है किन्तु कहीं-कहीं रुद्र की भी स्तुति है। इसका स्वरूप कर्मकाण्डीय भी प्रतीत होता है।

(१०) छान्दोग्योपनिषद्- यह सामवेदीय उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन है। यह तलवकार शाखा के छान्दोग्य ब्राह्मण के अन्तिम आठ अध्यायों के रूप में है। इस प्रकार इसमें आठ अध्याय हैं जो १५४ खण्डों में विभक्त हैं। यह विशालकाय गद्यात्मक उपनिषद् है। प्रथमाध्याय में साम और उद्गीथ की महत्ता का वर्णन करते हुए सामगान में कुशल आचार्यों की कथाएँ दी गयी हैं। द्वितीयाध्याय में ओम् की उत्पत्ति का तथा अन्त में सामगान का वास्तविक स्वरूप प्रकट किया गया है। साम के भेदों को भी इसमें दिखाया गया है। साम को 'हिंकार' कहते हुए समस्त जगत् इसी का रूप निर्दिष्ट हुआ है। तृतीयाध्याय में ब्रह्म के व्यक्त रूप सूर्य की उपासना का, गायत्री का आङ्गिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को दी गयी अध्यात्मशिक्षा का तथा अण्ड से सूर्योत्पत्ति का वर्णन है। चतुर्थाध्याय में सत्यकाम जाबाल, रैक्व आदि के आख्यान हैं जिनमें ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए उसकी प्राप्ति के उपाय निरूपित हैं।

पञ्चमाध्याय में बृहदारण्यक (अध्याय-६) की कथाएँ दुहरायी गयी हैं। इसमें इन्द्रियों की श्रेष्ठता की कथा, श्वेतकेतु आरुणेय एवं पञ्चालराज प्रवाहण जैवलि का संवाद (आत्मा का परलोक-गमन) तथा छ: दार्शनिकों के आत्म-विषयक चिन्तन का चित्रण है। षष्ठाध्याय में श्वेतकेतु को उसके पिता उद्दालक आरुणि ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं। **'तत्त्वमसि'** का उपदेश यहीं दिया गया है। "जल में जिस प्रकार घुला हुआ लवण अदृश्य होता है, उसी प्रकार आत्मा संसार में होकर भी अदृश्य है"। सप्तमाध्याय में नारद और सनत्कुमार का वृत्तान्त है। नारद को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए सनत्कुमार 'भूमन्' के रूप में ब्रह्म का अन्तिम रूप बताते हैं- **यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्** (छान्दोग्य ७/२४/१)। ब्रह्म असीम है। अष्टमाध्याय में दहर-विद्या का वर्णन करके प्रजापति और उनके दो शिष्यों (इन्द्र और विरोचन) का आख्यान दिया गया है जिसमें आत्म-साक्षात्कार के व्यावहारिक उपाय निर्दिष्ट हैं। आत्मा की चार अवस्थाओं का भी यहाँ विवेचन है।

(११) केनोपनिषद्- यह सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध है, इसे तलवकार या जैमिनीय उपनिषद् भी कहते हैं। 'केनेषितं पतति प्रेषितं मन:' इत्यादि प्रथम मन्त्र के प्रथम पद के आधार पर इसका नाम पड़ा है। यह अत्यन्त लघुकाय उपनिषद् है; ४ खण्डों में विभक्त है जिसमें

---

१. तुलनीय-बाणरचित कादम्बरी का मङ्गलपद्य-१

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तम:स्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नम:॥

कुल ३४ मन्त्र हैं। दो खण्ड (१३ मन्त्र) पद्यात्मक और दो खण्ड गद्यात्मक हैं। इसके प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म का निर्गुण ब्रह्म से अन्तर कहा गया है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का वर्णन है। इस प्रसङ्ग में कहा गया है-

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः॥
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (२/३)

तृतीय खण्ड में हैमवती उमा (ब्रह्म की शक्ति) के आख्यान में ब्रह्म की परम शक्ति का निरूपण है। चतुर्थ खण्ड में उमा कहती है कि वही ब्रह्म निर्गुण और सगुण भी है। सगुण ब्रह्म उपास्य है, उससे परे निर्गुण ब्रह्म है।

(१२) **प्रश्नोपनिषद्**-अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध इस उपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद से छः ऋषि अध्यात्म-विषयक प्रश्न पूछते हैं। उपनिषद् के एक-एक खण्ड में उनका उत्तर पिप्पलाद देते हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् छः खण्डों में विभक्त है। इन खण्डों को 'प्रश्न' कहा गया है। यही इसके नामकरण का कारण है। प्रथम प्रश्न कबन्धी कात्यायन का है कि सृष्टि कैसे हुई है (कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते)। द्वितीय प्रश्न विदर्भपुत्र भार्गव का है कि कितने देवता प्रजा (सृष्टि) को धारण करते हैं, कौन उन्हें प्रकाशित करता है तथा उनमें श्रेष्ठ कौन है। तृतीय प्रश्न आश्वलायन का है कि प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है, शरीर में उसका प्रवेश और उत्क्रमण कैसे होता है? चतुर्थ प्रश्न गार्ग्य का है कि आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का रहस्य क्या है? पञ्चम प्रश्न सत्यकाम का है कि ओङ्कार की उपासना से किस लोक पर विजय होती है? षष्ठ प्रश्न सुकेशा भारद्वाज का है कि षोडशकला-सम्पन्न पुरुष का स्वरूप क्या है? महर्षि पिप्पलाद इन प्रश्नों का उत्तर उन शिष्यों को तत्काल देते हैं। इन उत्तरों में अध्यात्म-विद्या की उत्कृष्ट व्याख्या है। पूरी उपनिषद् गद्य में है। अन्य उपनिषदों की सामग्री भी इसमें यत्र-तत्र मिलती है। पिप्पलाद को उन शिष्यों ने सन्तुष्ट होकर कहा-**त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायायाः परं पारं तारयसीति।**[1]

(१३) **मुण्डकोपनिषद्**- यह अथर्ववेद् की शौनकशाखा की उपनिषद् है। इसके नामकरण (मुण्डक) का कारण कहा गया है कि मुण्डित सिर वाले शिष्यों के द्वारा अध्ययन किये जाने से त्याग की पराकाष्ठा का यहाँ उपदेश है। इसके अध्ययन का अधिकार उसे ही दिया गया है जिसने शिरोव्रत लिया हो- **शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्** (३/२/१०)। इसे तीन मुण्डकों में विभक्त किया गया है, प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। यह पद्यप्राय उपनिषद् है। इसमें ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को अध्यात्मशास्त्र का उपदेश देते हैं। प्रथम मुण्डक में परा और अपरा के रूप में विद्या के दो भेद किये गये हैं-वेद-वेदाङ्ग अपरा विद्या है, परा विद्या ब्रह्मज्ञान है (**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते** १/१/५)। इसे जानने के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए (तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् १/२/१२)। द्वितीय मुण्डक में ब्रह्म के व्यक्त रूपों का वर्णन है। ब्रह्मसाक्षात्कार होते ही हृदय-ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और समस्त कर्म का कोश क्षीण हो जाता है (२/२/८)। तृतीय मुण्डक में 'द्वा सुपर्णा

---

१. प्रश्नोपनिषद् ६/७

सयुजा सखाया' इत्यादि मन्त्र में द्वैतवाद (पुरुष-प्रकृति) का निर्देश है।[1] यहीं यह प्रसिद्ध वचन भी है-**सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः** (३/१/६)। कामना रखने वाले का पुनर्जन्म और निष्काम व्यक्ति का मोक्ष होता है। (३/२/२)। '**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' (३/२/९) का अमृतमय उपदेश भी इसमें है।

(१४) **माण्डूक्योपनिषद्**- अथर्ववेद से सम्बद्ध यह लघुकाय उपनिषद् है जिसमें केवल १२ गद्यात्मक मन्त्र या वाक्य हैं। इसमें ओङ्कार की महत्ता वर्णित है (सर्वमोङ्कार एव)। तीनों काल और त्रिकालातीत सब कुछ ओम् ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है जिसके चार पाद हैं (**अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्**, मन्त्र-२)। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय (शिव, अद्वैत) को इस उपनिषद् में समझाया गया है। ओम् के तीन अक्षर अ, उ, म् क्रमशः तीन अवस्थाओं के और पूरा 'ओ३म्' तुरीय (चतुर्थ) अवस्था का प्रतीक है। इस उपनिषद् पर गौड़पाद ने चार खण्डों में विभक्त 'माण्डूक्य-कारिका' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें २१५ पद्य हैं। वह अद्वैत वेदान्त का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है। उसके प्रथम खण्ड में माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या है।

उपनिषदों का महत्त्व

उपनिषदों का सर्वाधिक महत्त्व **दार्शनिक दृष्टि** से है। वेदों में निहित ज्ञान की अन्तिम सीमा उपनिषदों में ही है। इसलिए संहिता-युग से ही इनका निर्माण आरम्भ हो गया था। परम तत्त्व के रूप में ब्रह्म या आत्मा को विभिन्न प्रकार से यहाँ समझाया गया है। ब्रह्म के व्यक्त रूप में संसार है जो उसकी व्यवस्थित रचना है। आधुनिक विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि परवर्ती समस्त दार्शनिक चिन्तन का उत्स उपनिषदों के वाक्यों में है। ब्रह्मसूत्र और गीता जैसे ग्रन्थ तो स्पष्टतः इन्हीं पर आश्रित हैं। भागवतपुराण-जैसा वैष्णव पुराण भी अपने सिद्धान्तों के लिए उपनिषदों पर आश्रित है।

इनमें विभिन्न ऋषियों की **नैतिक दृष्टि** प्रकट हुई है। सामान्यतः उपनिषदें भौतिक वस्तुओं की क्षणभङ्गुरता और ज्ञान की अमरता में विश्वास दिलाती हैं। जीवन के क्रिया-कलापों को श्रेय तथा प्रेय में, निष्काम और सकाम में विभक्त करके स्पष्टतः हमें भोग में त्याग का उपदेश देती हैं (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः)। श्रेष्ठ पुरुषों का सत्सङ्ग कल्याणकर है- इस पर ये बल देते हैं (प्राप्य वरान्निबोधत)।

भाषा-शैली की दृष्टि से ये वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के बीच की कड़ी प्रस्तुत करती हैं। इनके सरल वाक्य और नाद-सौन्दर्यमय पद्य लालित्य के निधान हैं। कठिन से कठिन दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन को आख्यान से बाँधकर, समुचित दृष्टान्तों का प्रयोग करके स्पष्ट करने में उपनिषदों की समता विश्व का कोई भी समानान्तर साहित्य नहीं कर सकता। विन्टरनित्स ने उपनिषदों के लिए 'दार्शनिक कविता' विशेषण दिया है जिससे ये हृदय और बुद्धि दोनों के लिए उपादेय हैं।

उपनिषदों में मुख्यतः कर्मकाण्ड या धार्मिक कृत्यों के प्रति उदासीनता दिखायी गयी है, इसलिए अनेक ब्राह्मणेतर ऋषि इनके तत्त्व-विचारक हैं। उन्होंने जगत् के मूल प्रश्नों पर विचार

---

१. यह मन्त्र मूलतः ऋग्वेद (१/१६४/२०) का है जो अथर्ववेद (९/९/२०) में भी है। श्वेताश्वतर और मुण्डक में भी इसका संकलन है जिससे द्वैतवादी धारा का निर्देश होता है।

किया है जो धर्म, जाति, लिङ्ग आदि से निरपेक्ष मानव-मात्र के लिए जिज्ञास्य हैं। इनसे अभिभूत मुगल राजकुमार दाराशिकोह ने १६५६-५७ ई० में प्राय: पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था। इसे फ्रेंच यात्री बर्नियर फ्रांस ले गया था जहाँ उसका लातिन-भाषा में अनुवाद हुआ। वह 'औपनिखत' के नाम से १८०१ ई० में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह अनुवाद अपूर्ण और अव्यवस्थित था किन्तु उसे ही पढ़कर जर्मन दार्शनिक शॉपिनहावर इतना अभिभूत हो गया था कि उपनिषदों को उसने 'विश्व की दार्शनिक विचारधारा का मार्गदर्शक' तो कहा ही, व्यक्तिगत प्रभाव के रूप में स्वीकार किया कि यह मेरे जीवन के लिए सान्त्वना है तो मृत्यु के अनन्तर भी सान्त्वना होगी (It has been the solace of my life and will be the solace of my death)। पाश्चात्त्य जगत् में पॉल डिउसन (Deussen) तथा आर. ह्यूम (Hume) ने उपनिषदों के अनुवाद किये एवम् उनके सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला। यह विचार भी उनके महत्त्व का परिचायक है।

अध्याय-४

वेदाङ्ग-साहित्य

अर्थ

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम काल में ऐसे साहित्य का विकास हुआ जो वेदों की अविकल रक्षा करते हुए उन्हें यथार्थ रूप से समझने एवं तदनुकूल क्रियाओं के अनुष्ठान में सहायक हो। इसे 'वेदाङ्ग' कहा गया। 'अङ्ग' यहाँ लक्षणा से 'उपकारक' के अर्थ में है। मुण्डकोपनिषद् (१/१/५) में चारों वेदों के साथ उनके छहों वेदाङ्गों की गणना कराकर उन्हें 'अपरा विद्या' कहा गया है- **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।** इन छः वेदाङ्गों के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं- वेदों का अर्थबोध (व्याकरण तथा निरुक्त), उनका सही उच्चारण (शिक्षा तथा छन्द) एवं वेदों का याज्ञिक प्रयोग (कल्प तथा ज्योतिष)।

पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४१-४२) में इन वेदाङ्गों को वेद-पुरुष के विविध अवयवों का रूपक दिया गया है-

> **छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।**
> **ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥**
> **शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।**
> **तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥**

यह रूपक विचार का विषय है। वेदमन्त्र पादों में विभाजित हैं। जिस प्रकार पदक्रमों (पगों) से पुरुष की पहचान होती है उसी प्रकार छन्दों से वेदमन्त्रों का वैशिष्ट्य जाना जाता है। छन्द से वेदमन्त्र के पादों की सीमा ज्ञात होती है। कल्प कर्मकाण्ड के विषय हैं। कर्मकाण्ड का अनुष्ठान हाथों से होता है, अतः कल्प को वेदपुरुष का हाथ कहा गया है। ज्योतिष के द्वारा कर्मानुष्ठान के काल पर दृष्टि रखी जाती है। निरुक्त अर्थज्ञान देता है जिसका साधन श्रोत्रेन्द्रिय है। इसीलिए निरुक्त को वेद-पुरुष का श्रोत्र कहा गया है कि शब्द सुनने के बाद ही अर्थबोध की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उच्चारण-विज्ञान (शिक्षा) को नासिका का रूप दिया गया है। व्याकरण उच्चरित शब्दों की शुद्धाशुद्धता का तथा उनकी व्युत्पत्ति का विचार करने से वेद-पुरुष का मुख है। मुख 'प्रधान' का बोधक होने से व्याकरग को सभी वेदाङ्गों में प्रधान कहा गया है।

छहों वेदाङ्ग अपने-आप में पूर्ण शास्त्र या विज्ञान हैं जिनका संस्थापन-विस्थापन विभिन्न युगों में अपने-अपने ढंग से लोगों ने किया है। वेदों के एक-एक मन्त्र के अनुशीलन में इनमें प्रत्येक की भूमिका है। इससे इनका महत्त्व है। यहाँ इनके स्वरूप, उपयोग तथा साहित्य का संक्षेप में **परिचय** दिया जाता है-

(१) **शिक्षा**- जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्तान - इन छः विषयों

का उपदेश हो उसे 'शिक्षा' कहते हैं (वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा- ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ०३९)। इन छहों विषयों का निर्देश तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली (१/२) में किया गया है- **वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।**

वर्ण अकारादि अक्षरों को कहते हैं जो स्वर तथा व्यञ्जन के रूप में दो प्रकार के हैं। इनका पुनर्विभाजन उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि के आधार पर किया गया है। पाणिनीय शिक्षा में शम्भु के मत से ६३-६४ वर्णों का उल्लेख है। इनमें इक्कीस स्वर, पच्चीस स्पर्शवर्ण (क् से म् तक), चार अन्तःस्थ, चार ऊष्म, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा दो स्वरों के बीच का ल्-ये ६३ वर्ण हैं। प्लुत ऌ को मिलाने से यह संख्या ६४ होती है।

स्वर का अभिप्राय स्वराघात (Accent) है जो संख्या में तीन हैं-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वरभेद से अर्थभेद होता है। स्वरों के उच्चारण को संहिताओं तथा कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों में अङ्कित किया गया है।

मात्रा उच्चारण में लगने वाले काल को कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। ये मात्राएँ स्वरों (vowels) में ही होती हैं। व्यञ्जनों की अर्धमात्रा मानी गयी है (व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्)।

बल वर्णों के उच्चारण स्थान तथा उच्चारण में लगने वाले प्रयत्न को कहा जाता है (बलं स्थानप्रयत्नौ)। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार कण्ठ, उरस्, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वामूल- ये आठ स्थान हैं। प्रयत्न दो प्रकार के हैं- आभ्यन्तर तथा बाह्य। उच्चारणस्थानों के भीतर होने वाले प्रयत्न 'आभ्यन्तर' हैं जबकि मुख-विवर की सीमा से बाहर होने वाले प्रयत्न 'बाह्य' है। दोनों प्रयत्न क्रमशः चार और ग्यारह हैं।[1]

साम (या सामन्) का अर्थ है निर्दोष गुणयुक्त उच्चारण। उच्चारण में छः दोष होते हैं- गीतयुक्त, शीघ्रता सहित, सिर हिलाकर पढ़ना, यथालिखित (शुद्धाशुद्धि के विचार से रहित) उच्चारण, अर्थ न जानना, अल्पकण्ठता। इसी प्रकार पाठ के छः गुण हैं- माधुर्य, अक्षर व्यक्ति, पदच्छेद, सुस्वर, धैर्य एवं लयसमर्थ। इसके अन्तर्गत उच्चारण-प्रकार का विस्तृत विवेचन है।

सन्तान सन्धि या संहिता के नियमों के साथ वर्णोच्चारण को कहते हैं। वेदमन्त्रों का मूल उच्चारण संहिता-पाठ है किन्तु उसके मूल में 'पद' ही है (पदप्रकृतिः संहिता-निरुक्त १/१७)। इन पदों का निकटतम आ जाना ही संहिता है (परः सन्निकर्षः संहिता-निरुक्त १/१७)। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों का शुद्धतम उच्चारण सन्तान है। संहिता-पाठ में भी पदज्ञान रखना अनिवार्य है अन्यथा न पदच्छेद होगा, न अर्थज्ञान।

शिक्षा के नाम से जो पाणिनीय-शिक्षा आदि ग्रन्थ मिलते हैं वे बहुत बाद के हैं। इस वेदाङ्ग के प्राचीनतम ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' हैं जो पाणिनि से पहले के हैं। वेदों की प्रत्येक शाखा के उच्चारण की प्रक्रिया को पृथक्-पृथक् बतलाने के कारण ये प्रातिशाख्य कहलाते हैं (शाखां शाखां प्रति=प्रतिशाखम्। प्रतिशाखं भवम्= प्रातिशाख्यम्)। व्याकरण के इतिहास में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभी उपलब्ध प्रातिशाख्य हैं-(१) ऋक्प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, (३)

---

१. इनका विवरण सिद्धान्तकौमुदी के संज्ञा-प्रकरण में देखें।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य, (४) सामप्रातिशाख्य (इसमें सामतन्त्र, पुष्पसूत्र तथा ऋक्तन्त्र- ये तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं) तथा (५) अथर्वप्रातिशाख्य (अथर्वप्रातिशाख्य तथा शौनकीया चतुरध्यायी नामक दो पृथक् ग्रन्थ)। ये ग्रन्थ ध्वनिविज्ञान की प्राचीनता के परिचायक हैं।[1]

(२) **कल्प**- विभिन्न वैदिक शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रन्थों में विहित कर्मों का व्यवस्थित वर्णन करने वाला वेदाङ्ग 'कल्प' कहा गया है। ब्राह्मणों के विधि-वाक्यों में कर्मों का निरूपण है, ये कर्म श्रौत तथा गृहकर्म के रूप में थे। इनके अतिरिक्त मानव के आचार-व्यवहार से सम्बद्ध धर्म का भी इनमें विवेचन था। इस प्रकार के सभी कर्म 'कल्प' की परिधि में रखे गये। विष्णुमित्र ने कल्प का लक्षण दिया है- **कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्**। वेदों में विहित कर्म इतने व्यापक और विच्छिन्न थे कि उन्हें संक्षिप्त और व्यवस्थित करके कल्प-ग्रन्थों में सूत्रबद्ध किया गया। सूत्र (अल्पाक्षरत्वे बह्वर्थबोधकत्वं सूत्रत्वम्) के रूप में होने के कारण पाश्चात्त्य इतिहासकार कल्पों का विवरण 'सूत्र साहित्य' के अन्तर्गत करते हैं। 'कल्प' का विवरण स्वतन्त्र अध्याय का विषय है। इसमें सभी वेदाङ्गों से अधिक साहित्य का विकास हुआ है। यहाँ संक्षिप्त विवरण ही सम्भव है।

कल्प के चार भेद हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र।

श्रौतसूत्र में वैदिक ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञ-यागादि विधानों का संक्षिप्त विवरण मिलता है। वैदिक यागों को श्रौतयाग कहते हैं जिनमें सात हविर्याग और सात सोमयाग हैं। हविर्यागों में घृत, पायस, दधि, पुरोडाश आदि हविष्पात्रों की आहुतियाँ दी जाती हैं। इनके सात प्रकार हैं-अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणी। सोमयागों में सोमरस की प्रस्तुति और देवताओं को समर्पण होता है। इनके सात भेद हैं- अग्निष्टोम,

---

१. **ऋक्प्रातिशाख्य** शौनक के द्वारा रचित १८ पटलों में विभक्त सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसके प्रथम पटल में स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति आदि संज्ञाओं का लक्षण है, द्वितीय पटल में प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उद्ग्राह्य, भुग्न आदि सन्धियों का सोदाहरण लक्षण है। तृतीय से नवम पटल तक स्वरों का परिचय देकर विसर्ग सन्धि, नतिसन्धि, क्रमसन्धि, व्यञ्जनसन्धि आदि विभिन्न सन्धियों का विवेचन है। दशम-एकादश पटलों में क्रम-पाठ एवं वर्ण-परिवर्तन के नियम निर्दिष्ट हैं। द्वादश-त्रयोदश पटलों में पद तथा वर्णोत्पत्ति का क्रमशः विचार है। इसके अनन्तर दो पटलों में वर्णोत्पत्ति तथा वर्णोच्चारण के दोष निरूपित हैं। पञ्चदश पटल में वेद-पारायण की पद्धति का संक्षिप्त परिचय देकर अन्तिम तीन पटलों में वैदिक छन्दों पर विचार है। इस प्रकार यह प्रातिशाख्य शिक्षा और छन्द दोनों वेदाङ्गों से सम्बद्ध है। इस पर चार टीकाएँ मिलती हैं जिनमें उवटभाष्य प्रसिद्ध है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डॉ. वीरेन्द्रकुमार वर्मा ने इस प्रातिशाख्य का उत्कृष्ट संस्करण तथा एक विवेचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है (१९७०,७२ ई०)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य २४ अध्यायों का ग्रन्थ है जिसमें तैत्तिरीय संहिता के उच्चारण-प्रकार पर विचार किया गया है। छन्द छोड़कर अन्य सभी सम्बद्ध विषयों पर इसमें प्रामाणिक सामग्री है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य शौनक-शिष्य कात्यायन की रचना है। इसमें आठ अध्याय हैं। इसमें जित्, मुत्, घि, सिम्, आदि संज्ञाओं का प्रयोग है। विषय की दृष्टि से यह अव्यवस्थित है।

अथर्वप्रातिशाख्य में तीन प्रपाठक तथा शौनकीया चतुरध्यायिका में चार अध्याय हैं। **ऋक्तन्त्र** सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बद्ध है, पाँच प्रपाठकों में २८७ सूत्र हैं। इसके रचयिता शाकटायन हैं। इसमें भी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है।

अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। श्रौतयागों का वर्णन, उनकी जटिलताओं के साथ, श्रौतसूत्रों में है।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं- आश्वलायन तथा शाङ्खायन। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र कात्यायन श्रौतसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के छः श्रौतसूत्र हैं- बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज और मानव। सामवेद के चार श्रौतसूत्र हैं-आर्षेय, लाट्यायन, द्राह्यायण तथा जैमिनीय। अथर्ववेद का एकमात्र वैतान श्रौतसूत्र है। सम्बद्ध वेदों के ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मों का इनमें शृंखलाबद्ध निरूपण है।

गृह्यसूत्र में गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बद्ध धार्मिक अनुष्ठानों, संस्कारों, यज्ञों तथा अन्य कृत्यों का विवरण है। इनमें प्रतिपादित यज्ञ गृह्याग्नि में अनुष्ठित होते थे। इनमें ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ के नाम से पञ्चमहायज्ञों का भी वर्णन है जो गृहस्थ के लिए दैनिक कृत्य हैं। इनके अतिरिक्त अपशकुन की शान्ति, गृहनिर्माण, कृषि, पशुपालन आदि का भी इनमें निरूपण है। यद्यपि इनमें सार्वजनिक रूप से कर्मानुष्ठान का विधान है तथापि विभिन्न वैदिक शाखाओं में ही इनका उद्भव हुआ।

ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्र हैं- आश्वलायन तथा शाङ्खायन। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। कृष्णयजुर्वेद के नौ गृह्यसूत्र हैं- बौधायन, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, वाधूल, काठक तथा वाराहगृह्यसूत्र। सामवेद के तीन गृह्यसूत्र हैं- गोभिल, खादिर तथा जैमिनीय। अथर्ववेद का एक ही गृह्यसूत्र है- कौशिक।

धर्मसूत्र में सामाजिक जीवन के नियमों, विधि-निषेधों, क्रिया-कलापों तथा आचार-विचार का वर्णन है। राजाओं के कर्तव्य का भी विवरण यहाँ मिलता है। वर्णाश्रम-धर्म, व्यवहार, दण्ड-विधान, प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार, भक्ष्याभक्ष्य इत्यादि की विवेचना होने से ये 'धर्मशास्त्र' भी कहलाते हैं। श्रुति-प्रतिपादित धर्म के ये प्रतिनिधि-ग्रन्थ हैं। मनुस्मृति आदि की रचना इन्हीं के आधार पर हुई है। सभी वैदिक शाखाओं के धर्मसूत्र नहीं मिलते। कुछ शाखाओं के (जैसे- आश्वलायन, शाङ्खायन और मानव के) श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं किन्तु धर्मसूत्र नहीं हैं। केवल बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के सम्पूर्ण कल्पसूत्र (श्रौत, गृह्य, धर्म सभी) उपलब्ध हैं।

इस समय बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वसिष्ठ- ये ही मुख्य और प्राचीन धर्मसूत्र मिलते हैं। इनमें आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी प्रायः समान हैं।

गौतमधर्मसूत्र को अधिसंख्यक विद्वानों ने प्राचीनतम धर्मसूत्र मानते हुए इसका काल ६०० ई० पू० बताया है। कुमारिलभट्ट के अनुसार इसका सम्बन्ध सामवेद से है। गोभिलगृह्यसूत्र में इसका उद्धरण मिलता है। बौधायनधर्मसूत्र में भी इससे प्रायश्चित्त-विषयक सामग्री ली गयी है। गौतमधर्मसूत्र में २८ अध्याय हैं जिनमें वर्णधर्म, राजधर्म, नित्यकर्म और प्रायश्चित्त का विवरण है। याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शङ्कराचार्य तथा मेधातिथि ने इसकी चर्चा की है। इस पर आचार्य मस्करी तथा हरदत्त की व्याख्याएँ प्रकाशित हैं। **बौधायनधर्मसूत्र** कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसका काल डॉ. जॉली ने ६०० ई० पू० के अनन्तर तथा ५०० ई० पू० के पहले माना है। यह चार खण्डों में विभक्त है, इन खण्डों को 'प्रश्न' कहते हैं। कुछ लोग इसे ही कल्पसाहित्य में प्राचीनतम मानते

हैं। इसके प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचर्य, शुद्धाशुद्धता, राजधर्म, विवाह-विधि आदि विवेचित हैं। द्वितीय प्रश्न में आश्रम, गृहस्थधर्म, स्त्रीधर्म, प्रायश्चित्त उत्तराधिकार तथा श्राद्ध के विधान वर्णित हैं। तृतीय प्रश्न में संन्यास-धर्म, चान्द्रायण-व्रत आदि का वर्णन है। चतुर्थ प्रश्न में प्रायश्चित्त का वर्णन है, इस प्रश्न को संक्षिप्त माना जाता है। इसके प्रश्न अध्यायों में विभक्त हैं जो संख्या में क्रमशः ग्यारह, दस, दस और आठ हैं। इस पर गोविन्दस्वामी का भाष्य प्रसिद्ध है। **आपस्तम्बधर्मसूत्र** का सम्बन्ध भी कृष्णयजुर्वेद से है। इसका काल जॉली ने ५०० ई० पू० माना है। इस धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं, प्रत्येक ११-११ पटलों में विभक्त है। इसके अधिकांश सूत्र गद्य में हैं किन्तु कहीं-कहीं पद्य भी हैं। इसके प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचारी और स्नातक के नियम, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। द्वितीय प्रश्न में गृहस्थ-धर्म, विवाह के भेद, पुत्र-भेद, दायभाग, श्राद्ध, वानप्रस्थ और संन्यास, राजधर्म इत्यादि का वर्णन है। इस धर्मसूत्र पर हरदत्त कृत उज्ज्वला व्याख्या मिलती है।[1]

इनके अतिरिक्त हिरण्यकेशिधर्मसूत्र (आपस्तम्ब का ही एक संस्करण), वसिष्ठ धर्मसूत्र (कुमारिल के अनुसार ऋग्वेद से सम्बद्ध), विष्णुधर्मसूत्र (१०० अध्यायों की परवर्ती रचना), हारीतधर्मसूत्र (यजुर्वेद से सम्बद्ध) तथा शङ्खधर्मसूत्र (यजुर्वेद से सम्बद्ध परवर्ती रचना) भी प्राप्त हैं। धर्मशास्त्र के इतिहास के लिए इनका महत्त्व है।[2]

शुल्वसूत्र में यज्ञवेदिका के निर्माण की विधियाँ वर्णित हैं। भारतीय ज्यामिति का आरम्भ इन्हीं से होता है। सम्प्रति शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध कात्यायनशुल्वसूत्र तथा कृष्णयजुर्वेद के छः शुल्वसूत्र मिलते हैं- बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह तथा वाधूल। यजुर्वेद का यज्ञ से साक्षात्सम्बन्ध है अतएव इसी वेद से सम्बद्ध शुल्वसूत्र विकसित हुए थे। यदि अन्य वेदों के शुल्वसूत्र थे तो वे लुप्त हो गये। शुल्व का अर्थ है- नापने की रस्सी। रस्सी से नापकर ही वेदियों का निर्माण होता था। इसलिए इनका यह नाम पड़ा है।

(३) **व्याकरण**- मूलतः वैदिक भाषा के पदों की रचना (व्युत्पत्ति) को स्पष्ट करने के लिए इस वेदाङ्ग का विकास हुआ था जो क्रमशः लौकिक संस्कृत की परिधि में आकर एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र बन गया (इस विषय पर आगे विवेचन किया जायेगा)। तैत्तिरीय संहिता (६/४/७/३) में इन्द्र द्वारा वाक् को व्याकृत (व्युत्पन्न, विभाजित) किये जाने का आख्यान है। इसीलिए परम्परा से इन्द्र को प्रथम वैयाकरण कहा जाता है। यद्यपि अभी वैदिक भाषा का अनन्य रूप से विवेचन करने वाला कोई स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रन्थ नहीं मिलता, तथापि संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्द-विश्लेषण के अनेक संकेत मिलते हैं। यास्क ने भी अपने निरुक्त में (१/१७) 'पदप्रकृतिः संहिता' कहकर पदों के अध्ययन का महत्त्व और प्राचीनत्व निर्दिष्ट किया है। संहिताओं का पद-पाठ करने वाले लोग ही प्रथम वैयाकरण थे जिन्होंने पदों के रूप में मन्त्रों को रूपान्तरित करके पद-विज्ञान (व्याकरण) का मार्ग प्रशस्त किया। व्याकरण के पाँच प्रमुख उद्देश्य कहे गये हैं- वेदों की **रक्षा** (वेदों के मूल पदों को समझना), **ऊह** (यज्ञ में, आवश्यकतानुसार,

---

१. उक्त तीनों धर्मसूत्रों का संस्करण भाष्य-सहित, हिन्दी व्याख्या के साथ डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय ने किया है जो चौखम्बा संस्कृत सीरीज (वाराणसी) से प्रकाशित है।

२. वैदिक कल्पसूत्रों के आधार पर तात्कालिक संस्कृति और समाज के विवेचन के लिए देखें- Dr. Ram Gopal- India of Vedic Kalpasutras मोतीलाल बनारसीदास।

प्रकृति रूप में पठित पदों का विकृति पाठ करना), **आगम** (प्राचीन उद्धरणों से व्याकरण का महत्त्व समझना), **लघु** (भाषा-शिक्षा के लिए लघुतम साधन होना) तथा **असन्देह** (किसी स्थल-विशेष में भाषागत सन्देह का निराकरण)।[1] पतञ्जलि ने इनके अतिरिक्त वैदिक उद्धरणों के आधार पर व्याकरण की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

ऐतिहासिक दृष्टि से व्याकरण का सर्वप्रथम पूर्णग्रन्थ पाणिनि की **अष्टाध्यायी** है जिसके ४००० सूत्रों में प्राय: ७०० वैदिक भाषा तथा उसमें निहित स्वर के विवेचन से सम्बद्ध हैं। वैदिक भाषा की तुलना संस्कृत से करते हुए पाणिनि ने तथाकथित 'वैदिकी प्रक्रिया' के सूत्रों की रचना की थी। पाणिनि के पूर्व भी आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन- ये दस वैयाकरण हो चुके थे जिनके नाम अष्टाध्यायी में आये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से १३ वैयाकरणों के नाम प्राप्त होते हैं,[2] जो पाणिनि से पहले हो चुके थे। इनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

(४) **निरुक्त**- वैदिक शब्दों का निर्वचन अर्थात् अर्थ का निर्णय करने वाला वेदाङ्ग 'निरुक्त' (निस्+वच्+क्त) है। अभी एकमात्र यास्क-रचित निरुक्त उपलब्ध होता है जो वैदिक शब्दों के एक पञ्चाध्यायात्मक संग्रह 'निघण्टु' की व्याख्या है।[3] अनुमान होता है कि 'निघण्टु' के नाम से कई संग्रह हुए थे। तभी यास्क ने 'निघण्टव:' यह बहुवचन-प्रयोग किया है। यास्क ने एक विशेष निघण्टु का चुनाव करके उसी पर व्याख्या लिखी। यास्क का समय ८०० ई० पू० से ७०० ई० पू० के बीच रखा जाता है। कुछ लोग इस निघण्टु को भी यास्क-कृत मानते हैं किन्तु महाभारत (मोक्षधर्मपर्व ३४२/८६-७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इसके लेखक (संग्रहकर्ता) हैं।

'निघण्टु' (जिस पर व्याख्या-रूप निरुक्त आश्रित है) पाँच अध्यायों का वैदिक शब्द-संग्रह है। यह तीन काण्डों में विभक्त है-नैघण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड (या ऐकपदिक काण्ड) तथा दैवतकाण्ड। नैघण्टुक काण्ड में तीन अध्याय हैं जिनमें पर्याय (समानार्थक) शब्दों का संग्रह है जैसे-पृथ्वीवाचक २१ शब्द, मेघवाचक ३० शब्द इत्यादि। यास्क ने निरुक्त के प्रथम से तृतीय अध्याय तक इन संग्रहों के प्रतिनिधि शब्दों की व्याख्या सोदाहरण की है। इसीलिए निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों को भी 'नैघण्टुक काण्ड' कहा जाता है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में पदों के चार भेद (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात), नामों का आख्यातज होना, निरुक्त के उद्देश्य (अर्थज्ञान, पदज्ञान इत्यादि), अर्थज्ञान की प्रशंसा आदि निर्दिष्ट करके निघण्टु की व्याख्या की भूमिका दी गयी। द्वितीयाध्याय के आरम्भ में निर्वचन के सिद्धान्त तथा शास्त्र के अधिकारी का निरूपण करने के बाद ही निघण्टु के पदों की व्याख्या का उपक्रम हुआ है।

निघण्टु का चतुर्थ अध्याय 'नैगमकाण्ड' है जिसमें वेदों से संकलित क्लिष्ट एवं स्वतन्त्र पदों का संग्रह तीन खण्डों में किया गया है। इन खण्डों की व्याख्या पूर्ववत् उदाहरण-सहित निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अध्यायों में क्रमश: हुई है। स्वभावत: निरुक्त के इस अंश को

---

१. महाभाष्य का आरम्भ- रक्षोहागमलध्वसन्देहा: प्रयोजनम्।

२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक- **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**, भाग-१, पृ० ५७-९३।

३. निरुक्त में कुल १४ अध्याय मिलते हैं। अध्यायों का विभाजन खण्डों में (महाराष्ट्र-संस्करण) या पादों में (गुर्जर-संस्करण) हुआ है।

'नैगमकाण्ड' कहा गया है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय में देवता-वाचक शब्द छः खण्डों में संकलित हैं। इसे 'दैवतकाण्ड' कहते हैं। निरुक्त के सप्तम से द्वादश अध्याय तक इन नामों की व्याख्या है, यह व्याख्या-भाग भी 'दैवतकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ भी सप्तमाध्याय के आरम्भ में देवताओं के विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है, तब व्याख्या का उपक्रम हुआ है। परवर्ती ग्रन्थ 'बृहद्देवता' पर यास्क का बहुत प्रभाव है। अध्याय १३-१४ परिशिष्ट के रूप में हैं।

निरुक्त की रचना का मुख्य उद्देश्य वेदमन्त्रों की निर्वचन-परक व्याख्या करना और देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करना था। यास्क ने इन उद्देश्यों का स्वयं निर्देश किया है-(१) अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते (१/१५), (२) अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम् (१/१७)। वेदों की प्रथम व्याख्या तथा देवता-विज्ञान को व्यवस्थित करने में यास्क का स्थान अप्रतिम है। निरुक्त के निर्वचन को विद्वानों ने वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णनाश तथा धातु का शब्द के प्रधान अर्थ से सम्बन्ध बताना- इन पाँच रूपों में देखा है-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

निरुक्त भाषाशास्त्र, अर्थविज्ञान एवं निर्वचनशास्त्र (Etymology) का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है।

निरुक्त एक कठिन ग्रन्थ है, स्थान-स्थान पर उसके पाठ भी त्रुटिपूर्ण हैं। इसलिए इस पर प्राचीन काल से ही व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। स्कन्दस्वामी (६०० ई०) तथा दुर्गाचार्य (१३वीं शती ई०) की व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं।[1] निघण्टु के प्रत्येक शब्द पर देवराज यज्वा की व्याख्या उपलब्ध है, इनका समय १२०० ई० माना गया है।

(५) **छन्द**- वेदों के अधिसंख्यक मन्त्र पद्य में हैं। प्राचीन काल में लेखन सामग्री के अभाव में स्मरण से ही रचनाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण करती थीं। स्मृति की दृष्टि से गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक अनुकूल था। पद्यात्मक मन्त्रों के सही उच्चारण, समुचित स्थान पर विराम इत्यादि के लिए छन्द (छन्दस्) का ज्ञान अनिवार्य है। वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना होती है। नियत अक्षरों (स्वर-वर्णों) से पाद बनते हैं। एक मन्त्र का आन्तरिक विभाजन पादों में ही होता है।

'छन्दस्' (छद् धातु+असुन् प्रत्यय) शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- आच्छादित करने वाला या स्तुति का साधन। इस प्रकार यह वेदाङ्ग वेद का आवरण है, स्तुति का साधन है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण दिया गया है- **यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः**। सम्प्रति इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि-ग्रन्थ पिङ्गल ऋषि का **छन्दः सूत्र** है जिसके आरम्भ से चतुर्थ अध्याय (सूत्र-७) तक वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। शेष भाग में लौकिक छन्दों का वर्णन है। ऋक्प्रातिशाख्य के अन्त में (पटल १६-१८) भी वैदिक छन्दों का विवेचन है।

---

१. डॉ० सूर्यकान्त कहते हैं कि उद्गीथाचार्य दुर्गवृत्ति से परिचित थे, अतः दुर्गाचार्य का समय सातवीं शताब्दी ई० के बाद नहीं हो सकता। संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ.८७।

कुछ प्रमुख वैदिक छन्द इस प्रकार हैं- **गायत्री** (आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद), **अनुष्टुप्** (आठ-आठ अक्षरों के चार पाद), **पङ्क्ति** (आठ-आठ अक्षरों के पाँच पाद), **त्रिष्टुप्** (ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के चार पाद) तथा **जगती** (बारह-बारह अक्षरों के चार पाद)। इन सब छन्दों में समान लम्बाई वाले पाद होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे छन्द भी हैं जिनमें पाद विषमाक्षर होते हैं जैसे-**उष्णिक्** (८+८+१२), **पुरउष्णिक्** (१२+८+८), **ककुप्** (८+१२+८), बृहती (८+८+१२+८) इत्यादि। ऋग्वेद में गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का अधिक प्रयोग है। अनुक्रमणियों में प्रत्येक संहिता के छन्दों का सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

(६) **ज्योतिष**- वेदों में विहित कर्मानुष्ठान का समुचित काल जानने के लिए वेदाङ्ग के रूप में ज्योतिष-शास्त्र का उपयोग होता है। लगध-रचित 'वेदाङ्गज्योतिष' नामक ग्रन्थ इसका प्रतिनिधि-ग्रन्थ है, जिसका समय शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने १४०० ई० पू० सिद्ध किया है। इसके तृतीय श्लोक में ज्योतिष की उपयोगिता इस प्रकार बतायी गयी है-

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

अर्थात् वेदों की प्रवृत्ति यज्ञानुष्ठान के उद्देश्य से हुई है, यज्ञों का विधान काल के अधीन है (काल-विशेष में यज्ञ अनुष्ठित होते हैं); इसलिए जो व्यक्ति काल का विधान करने वाले इस ज्योतिष-शास्त्र को जानता है, वही यज्ञ का ज्ञान रखता है।

'वेदाङ्गज्योतिष' के दो पाठ मिलते हैं- आर्च ज्योतिष तथा याजुष ज्योतिष। इनमें क्रमशः छत्तीस तथा तेंतालिस श्लोक हैं। यह क्लिष्ट ग्रन्थ है फिर भी पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने इसकी व्याख्या का प्रयास किया है। वेदाङ्ग ज्योतिष पर काशी-निवासी किसी दाक्षिणात्य पण्डित सोमाकर ने भाष्य लिखा था। वैदिक ग्रन्थों में ज्योतिष की अनेक सूचनाएँ मिलती हैं जिनके आधार पर कुछ विद्वानों ने वेदों के काल का निर्णय किया है।

अनुक्रमणी-साहित्य

वेदाङ्गों के अतिरिक्त अनुक्रमणी-साहित्य का भी विकास वेदों की रक्षा के लिए हुआ था। 'अनुक्रमणी' का अर्थ है सूची (List)। इसमें वेदों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पदों तक की सूची, गणना-सहित दी गयी है। षड्गुरुशिष्य ने कहा है कि ऋग्वेद की रक्षा के लिए शौनक ने दस अनुक्रमणियों की रचना की थी (शौनकीया दश ग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये)।[१] ये इस प्रकार हैं- आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता, प्रातिशाख्य और शौनकस्मृति। कात्यायन रचित **सर्वानुक्रमणी** एक पृथक् ग्रन्थ है जिसमें ऋग्वेद के समस्त आवश्यक विषयों का निरूपण है। कात्यायन शौनक के परवर्ती थे इसलिए उनके ग्रन्थों से अनेक विषय उन्होंने लिये हैं।

शौनक की **आर्षानुक्रमणी** ३०० श्लोकों का ग्रन्थ है जिसमें ऋग्वेद के ऋषियों की नामावली है। **छन्दोऽनुक्रमणी** में ऋग्वेद के छन्दों की, **देवतानुक्रमणी** में देवताओं की, **अनुवाकानुक्रमणी** में (४० पद्य) ऋग्वेद के अनुवाकों की और **सूक्तानुक्रमणी** में सूक्तों की

---

१. ऋक्सर्वानुक्रमणीवृत्ति की भूमिका।

विवेचना है। **ऋग्विधान** (९९ श्लोक) में सूक्त, वर्ग, पाद, मन्त्र, आदि के जप का विधान है जिसका उपयोग विशेष कार्यों की सिद्धि के लिए होता है। अन्य वेदों का भी ऐसा उपयोग होता है जैसे- सामविधान (किन्तु यह ब्राह्मण-ग्रन्थ की कोटि में माना गया है)। **पाद-विधान** में ऋग्वेद के शब्दों की सूची है।

बृहद्देवता का स्थान अनुक्रमणी-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता शौनक माने गये हैं किन्तु पाश्चात्त्य विद्वान् मैकडोनल[१] इसमें सन्देह प्रकट करते हैं। आठ अध्यायों में विभक्त यह १२०० श्लोकों का ग्रन्थ है। प्रत्येक अध्याय में प्रायः ५-५ पद्यों का वर्ग है। निरुक्त में की गयी देवता-विवेचना को इसमें पल्लवित किया गया है। निरुक्त से इसमें अन्य सामग्री भी ली गयी है। बृहद्देवता का प्रथमाध्याय तथा द्वितीयाध्याय के प्रथम २५ वर्गों तक ग्रन्थ की भूमिका है जिसमें देवता के स्वरूप, स्थान तथा विशिष्टता की विवेचना है। भूमिका-भाग के अन्तिम सातवर्गों में शुद्ध व्याकरण-विषयक सामग्री है जैसे-पदों का विभाजन, अव्यय, सर्वनाम, संज्ञा, समास इत्यादि। शेष भाग में ऋग्वेद के देवताओं का निर्देश है। इस प्रसङ्ग में देवताओं से सम्बद्ध चालीस आख्यान दिये गये हैं जो ३०० पद्यों में व्याप्त हैं। ये आख्यान बृहद्देवता के महत्त्व को बढ़ाते हैं। मैकडोनल के अनुसार यह ग्रन्थ प्राचीनतम व्यवस्थित आख्यान-संग्रह है। इससे वैदिक आख्यानों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। बृहद्देवता की रचना निरुक्त (८०० ई० पू०) तथा सर्वानुक्रमणी (३५० ई० पू०) के बीच में हुई थी। बृहद्देवता निरुक्त पर आश्रित ही नहीं, उसकी आलोचना भी करती है। दूसरी ओर कात्यायन अपनी सर्वानुक्रमणी में बृहद्देवता की सामग्री को देवता-विवेचन का आधार बनाते हैं। मैकडोनल ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी-अनुवाद के साथ आलोचनात्मक संस्करण निकाला था, इसमें बृहद्देवता का रचनाकाल ४०० ई० पू० माना गया है। किन्तु कात्यायन की सर्वानुक्रमणी का काल कुछ पहले मानने पर यह तिथि कुछ अधिक पूर्व (प्रायः ६०० ई० पू०) जा सकती है।

सभी वेदों की इसी प्रकार अनुक्रमणियाँ निर्मित हुई थी। ऊपर ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी का उल्लेख किया गया है। इसे भारतीय विद्वान् पाणिनि-पूर्व की रचना मानते हैं। वार्तिककार कात्यायन (३५० ई० पू०) से इसके लेखक कात्यायन को अभिन्न नहीं माना जा सकता। शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध, कात्यायन की ही, रचना **सर्वानुक्रमसूत्र** है जिसमें पाँच अध्याय हैं। इसमें माध्यन्दिनसंहिता के देवता, ऋषि तथा छन्दों का विवरण दिया गया है। इसमें याग-विधान तथा अनुष्ठानों का भी वर्णन है। सामवेद के श्रौतयागों से सम्बद्ध कई अप्रकाशित ग्रन्थ हैं जिनमें से कुछ अनुक्रमणी का उद्देश्य सिद्ध करते हैं। इनमें '**उपनिदान-सूत्र**' सामवेद के दोनों आर्चिकों के मन्त्रों के छन्दों का विवरण देता है। निदान-सूत्र, पञ्चविधानसूत्र तथा साम-सप्त लक्षण अन्य अनुक्रमणी ग्रन्थ हैं जो सामवेद से सम्बद्ध हैं। ये प्रकाशित हैं।

अथर्ववेद की अनुक्रमणियों में '**बृहत्सर्वानुक्रमणी**' प्रसिद्ध है। इसमें अथर्ववेद के प्रत्येक काण्ड के सूक्तों के मन्त्र, ऋषि, देवता तथा छन्द का पूर्ण विवेचन है। यह ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी के समान व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। यह बड़ा ग्रन्थ है तथा संहिता के ही समान बीस काण्डों में विभक्त है।

---

१. मैकडोनल कहते हैं कि शौनक की परम्परा के किसी आचार्य ने, सम्भव है उनके शिष्य ने, बृहद्देवता की रचना की थी। इसमें यत्र-तत्र शौनक का श्रद्धापूर्वक उल्लेख है।

अनुक्रमणी-साहित्य के अन्तर्गत दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख प्रासङ्गिक है। यद्यपि ये दोनों बहुत बाद के हैं तथापि इनका महत्त्व अनुक्रमणियों के समान है-

(१) **चरणव्यूहसूत्र**- यह महर्षि शौनक की कृति के रूप में प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसमें पाँच खण्ड हैं जिनमें चार खण्डों में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की शाखाओं का विवरण है। पञ्चम खण्ड में फलश्रुति है। वेदों की शाखाओं की परम्परा को अङ्कित करने के कारण यह ग्रन्थ वैदिक विद्वानों के द्वारा बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इस ग्रन्थ पर १५५६ ई० में महिदास ने काशी में रहते हुए एक विस्तृत व्याख्या लिखी जिसमें प्रतिपाद्य की पुष्टि पुराणों के पर्याप्त उद्धरणों से की गयी है। इस सूत्रग्रन्थ का रचनाकाल अनिश्चित है।

(२) **नीतिमञ्जरी**- यह ग्रन्थ गुजरात-प्रान्त के निवासी द्याद्विवेद ने लिखा था। ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इसकी समाप्ति १५५० विक्रम संवत् (अर्थात् १४९३ ई०) में हुई थी। इस ग्रन्थ की विशिष्टता है कि ऋग्वेद में उपलब्ध सभी आख्यानों का और उनसे प्राप्त होने वाले उपदेशों का संकलन इसमें है। अष्टक क्रम से ऋग्वेद का अनुशीलन आख्यान-संकलन की दृष्टि से यहाँ करते हुए एक-एक श्लोक में आख्यान और उपदेश को सूत्रित किया गया है। इसलिए ऋग्वेदीय आख्यानों के अनुशीलन के लिए बृहद्देवता के समान इसका महत्त्व है। श्लोकों में निर्दिष्ट मन्त्रों की व्याख्या भी द्याद्विवेद ने प्रमाण-सहित की है। इसलिए मन्त्र-व्याख्या की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। इसका एक उत्कृष्ट संस्करण पण्डित सीताराम जयराम जोशी ने काशी से १९३३ ई० में प्रकाशित कराया था।

इस प्रकार वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। इसे 'संक्षिप्त' इसलिए कहा गया कि इसके एक-एक अध्याय में वर्णित सामग्री पर ग्रन्थों की रचना हुई है। कुछ लोगों ने एक-एक पुस्तक का विस्तृत अध्ययन किया है। देखें-डॉ० रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर की 'वेदिक बिब्लियोग्राफी' (तीन खण्ड)।

अध्याय-५

वेदों का काल

संस्कृत साहित्य का अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के द्वारा किये जाने के अनन्तर ही विभिन्न ग्रन्थों के रचनाकाल के निर्धारण का प्रयास आरम्भ हुआ है। वेदों के आविर्भाव का भी प्रश्न तभी उठा। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने परम्परा से वेदों को अपौरुषेय कहकर उनके अनादि होने का सिद्धान्त प्रचारित किया था। एक ऋषि से दूसरे ऋषि तक वैदिक वाङ्मय संक्रान्त होता गया और आज तक वह परम्परा चलती है, ऐसा तर्क देकर मीमांसकों ने वेदों की रचना का प्रश्न टाल दिया। दूसरे दर्शनों में ईश्वरकृत मानकर भी इस प्रश्न की उपेक्षा हुई। जिन ऋषियों को वेदमन्त्रों से जोड़ा गया है, वे मन्त्रों के रचयिता नहीं थे अपितु पूर्वस्थित वेदमन्त्रों के प्रचारक थे, प्रथम प्रवचनकर्ता थे। ऋषि दयानन्द ने वेदों के, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरद्वारा मानवों के हित के लिए प्राचीन ऋषियों के मानस में, प्रकाशन की बात कही है। सृष्टि का आरम्भ भी प्राचीन मान्यताओं पर आश्रित है। स्वामी दयानन्द ने इस काल को एक अरब छियानबे करोड़ वर्ष पूर्व माना है। किन्तु ये सभी मान्यताएँ आज के विकासवाद से प्रभावित युग में हास्यास्पद समझी जाती हैं। इसलिए विभिन्न वैदिक ग्रन्थों के रचनाकाल के विवेचन का प्रयास पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया है।

वेदों के रचनाकाल के निर्धारण में कई संकट भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जैसे-प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य का अभाव, वैदिक ग्रन्थों में वर्ष, तिथि आदि का अभाव, ज्योतिष-सम्बन्धी एवं भौगोलिक उल्लेखों की अस्पष्टता, भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद, प्राचीन विद्वानों का वेदों में इतिहास न मानना (उन्हें ईश्वरीय सन्देश समझना) तथा अपौरुषेयता का उक्त मत। कम से कम किसी निर्णय पर पहुँचने में ये संकट अवश्य ही बाधक होते हैं। पाश्चात्य विद्वान् अपने पूर्वाग्रह के कारण वेदों का रचना-काल ईस्वी सन् के आस-पास लाने का प्रयास करते हैं तो भारतीय विद्वान् उन्हें अधिकाधिक पीछे ले जाने के पक्षधर हैं। स्पष्टतः जितने भी मत इस विषय में प्रस्तुत किये गये हैं वे आनुमानिक तथा काल्पनिक हैं। मतभेदों के कारण काल-निर्णय में सहस्रों वर्षों का अन्तर है जिसे समन्वित करना कठिन है।

वेदों के काल की पूर्व सीमा नहीं हो सकती क्योंकि संसार के ये प्रथम ग्रन्थ हैं। इनके काल की उत्तर सीमा छठी शताब्दी ई० पू० है जबकि महावीर तथा बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्ड की निन्दा की। वैदिक युग का अन्तिम अङ्ग सूत्र-साहित्य (कल्प) अवश्य ही इस काल के पहले विद्यमान था। इस उत्तरसीमा को सभी मानते हैं किन्तु पूर्वसीमा के विषय में मतैक्य नहीं-कहीं कृपणता से प्रवृत्ति हुई है तो कहीं उदारता है। यहाँ वेदों के काल का निर्णय करने वाले मुख्य मतों का वर्गीकरण किया जाता है-

(क) भाषाशास्त्र पर आश्रित मत

इसके अन्तर्गत प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख मैक्समूलर का तथा अन्य आधुनिक

भाषाशास्त्रियों के मत प्रस्तुत हैं। वेदों के रचनाकाल का निर्णय करने का प्रथम प्रयास वस्तुत: मैक्समूलर ने ही किया था। सन् १८५९ ई. में प्रकाशित 'ए हिस्ट्री आफ एंशियन्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय तिथिक्रम पर विचार किया। उनके मत में भारतीय इतिहास में दो ही प्राचीन निश्चित तिथियाँ हैं-सिकन्दर का भारत पर आक्रमण (३२६ ई० पू०) तथा बौद्ध धर्म का आविर्भाव (छठी शताब्दी ई० पू०)। मैक्समूलर का कथन है कि चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थ बुद्ध के आविर्भाव अर्थात् ५०० ई० पू० के पहले हो चुके थे। सूत्र-साहित्य बौद्ध धर्म के प्राथमिक प्रचार के समकालिक हो सकते हैं, अत: उनका समय ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक सम्भव है।

बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व के वैदिक साहित्य को मैक्समूलर तीन स्पष्ट चरणों में विभाजित करते हैं। प्रत्येक के विकास के लिए २०० वर्षों की अवधि रखना वे पर्याप्त समझते हैं-

१. छंन्द:काल (१२०० ई० पू०-१००० ई० पू०)।

२. मन्त्रकाल (१००० ई० पू०-८०० ई० पू०)।

३. ब्राह्मणकाल (८०० ई० पू०-६०० ई० पू०)।

इस प्रकार उनका मत है कि यदि प्रत्येक काल की विचारधारा और भाषा के विकास के लिए २०० वर्षों का समय मान लें तो प्राचीनतम वैदिक मन्त्र १२०० ई० पू० के पहले के नहीं हो सकते।

दो सौ वर्षों की कालावधि किसी तथ्य पर आश्रित न होकर विशुद्ध कल्पना पर अवलम्बित है किन्तु यह मान्यता इतनी बार दुहरायी गयी कि परवर्ती युग में बिना सोचे-समझे स्थापित-सी हो गयी। स्वयं मैक्समूलर ने अपने मत पर सन्देह प्रकट करते हुए १८८९ ई० के जिफोर्ड व्याख्यानमाला के अन्तर्गत कहा था कि वैदिक सूक्तों की रचना १००० या १२०० या २००० या ३००० ई० पू० में हुई, इसका निर्णय संसार में कभी कोई नहीं कर सकेगा। वस्तुत: उपर्युक्त तिथिक्रम को मैक्समूलर ने प्रस्तावित किया था कि घोर अनिश्चय के अन्धकार में कल्पना का प्रकाश पड़ सके। ह्विटनी ने इस सुझाव को माननेवालों की कड़ी आलोचना की थी।[1] इस सिद्धान्त का महत्त्व इतना ही है कि भाषाशास्त्र के आधार पर वेदों के काल-निर्णय का यह प्रथम प्रयास था।

ऋग्वेद तथा अवेस्ता (पारसियों का धर्मग्रन्थ) की भाषाओं की तुलना को भी इस क्षेत्र में बहुत महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है। दोनों ग्रन्थों में भाषा-तत्त्व की दृष्टि से बहुत साम्य कहा जाता है। यह साम्य भाषा के अतिरिक्त विचार-तत्त्व पर भी आश्रित है। इस आधार पर कहा जाता है कि भारतीय आर्य तथा ईरानी लोग बहुत दिनों तक साथ रहे थे। पृथक् होने के कुछ दिनों के बाद ईरान में पारसी-धर्म का विकास 'जेन्द अवेस्ता' नामक ग्रन्थ की रचना से हुआ और भारत (सप्तसिन्धु-प्रदेश) में आर्यों के पुरोहितों ने ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना की। अवेस्ता १००० ई० पू० मानी गयी है, अत: समान भाषा वाले ऋग्वेद को भी १४०० ई० पू० में माना जा सकता है। मैकडोनल का कथन है कि १३०० ई० पू० के आस-पास भारतीय तथा ईरानी शाखाओं का पार्थक्य हुआ था। उसी समय ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना चल रही थी। ईरानी शाखा में कुछ बाद में

1. Oriental and Linguistic Study, New York (1872), p.78.

अवेस्ता की रचना हुई। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों का तथाकथित भाषागत साम्य ऋग्वेद के तिथिक्रम को बहुत पीछे ले जाने नहीं देता। अवेस्ता का काल निश्चित है (१००० ई० पू०)।

भाषाशास्त्रीय आधार पर निर्णय लेने में कठिनाइयों की ओर ध्यान दिलाते हुए विन्टरनित्स ने कहा है- "जहाँ तक भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, यह कहना नितान्त असम्भव है कि भाषाओं में कितने काल में कितना परिवर्तन होता है। कई भाषाएँ बड़ी शीघ्रता से बदल जाती हैं, दूसरी सुदीर्घकाल तक लगभग अपरिवर्तित रहती हैं। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पुरोहितों की भाषाएँ (जैसे वैदिक सूक्तों या अवेस्ता की भाषा) भाषित भाषाओं की अपेक्षा बहुत अधिक काल तक अपरिवर्तित रह सकती हैं।"[1]

इसी प्रकार भाषाओं के परिवर्तन पर टिप्पणी देते हुए भारतीय विद्वान् प्रो० कुञ्जन् राजा कहते हैं कि वर्तमान युग की संस्कृत भी ऋग्वेद में प्रयुक्त भाषा से उतना अधिक परिवर्तित नहीं हुई है जितना अवेस्ता की भाषा उस मानदण्ड से हट चुकी है। आधुनिक संस्कृत समझने वाला व्यक्ति अल्प प्रयास से ही ऋग्वेद की भाषा को समझ लेता है क्योंकि उनमें इतना अधिक वैषम्य नहीं जबकि ऋग्वेद के काल से आधुनिक काल का अन्तर सहस्राब्दियों का है। दूसरी ओर ऋग्वेद और अवेस्ता के अन्तर को साधारण लोग नहीं, केवल भाषाशास्त्री ही समझ पाते हैं। दोनों में व्याकरणिक संरचना तथा शब्द-भाण्डागार का सीधा-सादा अन्तर है। इन भाषाओं में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है जैसा मराठी और हिन्दी में अथवा इतालवी और स्पेनी भाषाओं में है।[2] ऋग्वेद और अवेस्ता के अर्थतत्त्व में संस्कृति का इतना अधिक अन्तर है कि दोनों को काल की दृष्टि से समीप मानने की विवशता नहीं हो सकती। ऋग्वेद के 'सोम-याग' तथा अवेस्ता के 'हओम-यस्न' में धार्मिक समता इतना ही संकेत करती है कि दोनों का उद्‌गम समान-स्थल में हुआ था। ऋग्वेद-काल के बहुत से देवता अवेस्ता में दैत्य-रूप में देखे गये हैं जैसे-इन्द्र। ऋग्वेद के साधारण देवता (जैसे अश्विना) अवेस्ता में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक देवताओं को अवेस्ता में कोई स्थान नहीं। उषस्, सूर्य, सवितृ, विष्णु, रुद्र, यम इत्यादि देवता अवेस्ता में हैं ही नहीं। अतः धर्म की दृष्टि से अवेस्ता ऋग्वेद से जुड़ी होने पर भी बहुत दूरवर्ती स्थिति का संकेत देती है।

अतएव भाषाशास्त्र या संस्कृति की दृष्टि से अवेस्ता को ऋग्वेद के समीप मानकर काल का निर्धारण करना उचित नहीं है।

(ख) ज्योतिष-शास्त्र पर आश्रित मत

कुछ पाश्चात्त्य तथा अनेक भारतीय विद्वानों ने वेदों में निर्दिष्ट ज्योतिष-शास्त्रीय संकेतों को आधार बनाकर वेदों के काल के निर्धारण का प्रयत्न किया है। लुडविग ने सूर्यग्रहण के आधार पर यह प्रयत्न किया था। किन्तु जर्मनी के विद्वान् हरमन याकोबी तथा भारतीय विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने १८९३ ई० में पृथक्-पृथक् इस क्षेत्र में जो निष्कर्ष निकाले उनसे सभी चकित हो गये। पाश्चात्त्य जगत् में तो खलबली मच गयी।

---

१. एम. विन्टरनित्स- **भारतीय साहित्य का इतिहास**, भाग-१, खण्ड-१ (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २२६।

२. डॉ० कुञ्जन् राजा- **The Vedas**, Andhra Univ., Waltair, 1957, p. 28.

वैदिक युग के पुरोहितों को यज्ञ के काल का निश्चय करना होता था। इसलिए तिथिपत्र या पञ्चाङ्ग बनाने का काम आरम्भ हुआ। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्र-ग्रन्थों में गणित ज्योतिष एवं तिथिक्रम-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपन्यस्त की गयी है। काल के निर्णय में नक्षत्रों का विशेष महत्त्व था, उनकी संख्या सत्ताईस मानी गयी जो सम्पूर्ण आकाश-वृत्त पर आश्रित है। नक्षत्रों का योग सूर्य और चन्द्रमा से पृथक्-पृथक् होता है जिसके आधार पर क्रमशः सौरमास और चान्द्रमास की कल्पना हुई। दोनों के कारण जो वर्ष-गणना में अन्तर होता था उसे सन्तुलित करने का भी प्रयास हुआ। मास की गणना २७ नक्षत्रों के आधार पर हुई। राशियों के आधार पर सौरमासों की संख्या १२ हुई और नक्षत्र तथा राशि का सम्बन्ध निरूपित हुआ। वैदिक युग में नक्षत्रों की आकाशीय स्थिति के कुछ ऐसे संकेत मिले हैं जिनसे उस प्राचीन युग की काल-गणना संभव हुई है।

सर्वप्रथम कृत्तिका-नक्षत्र से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण (२/१/२) के एक विधान की ओर इन विद्वानों का ध्यान गया-"तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत । **एता ह वै प्राच्या दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्या दिशश्च्यवन्ते।**" अर्थात् कृत्तिका-नक्षत्र में ही अग्नि का आधान करना चाहिए क्योंकि यह नक्षत्र पूर्वदिशा से नहीं हटता जबकि अन्य नक्षत्र पूर्व दिशा से हटे रहते हैं। भारतीय विद्वान् **शंकर बालकृष्ण दीक्षित** ने कृत्तिका की पूर्वबिन्दु पर इस स्थिति को ३००० ई० पू० में सम्भव बताया है। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद को उन्होंने इस समय से ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् ३५०० ई० पू० में रखा है क्योंकि ये शतपथ से प्राचीनतर हैं।[१]

याकोबी कृत्तिका की इस स्थिति को २५०० ई० पू० में मानते हैं। ऋग्वेद में विषुव संक्रान्ति या वसन्त सम्पात (Vernal Equinox) को नक्षत्रों से जोड़ा गया है। शतपथब्राह्मण में कृत्तिका को विषुव संक्रान्ति के कारण पूर्व में उदित होता हुआ कहा गया है जबकि ऋग्वेद में यह स्थान मृगशिरस् (Orion) को मिल जाता है। यह अन्तर २००० वर्षों में सम्भव है। इस प्रकार याकोबी ऋग्वेद का काल ४५०० ई० पू० मानते हैं।

याकोबी की दूसरी युक्ति ध्रुवतारा पर आश्रित है।[२] गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि विवाह के अवसर पर पति पत्नी को ध्रुवतारा का दर्शन कराये। ध्रुवतारा उत्तरी बिन्दु के निकट भास्वर ज्योतिष्पिण्ड है। उस समय दर्शकों को यह स्थिर रूप में दिखाई पड़ता होगा। अयन गति के फलस्वरूप आकाशीय भूमध्य-रेखा खिसकती जाती है और एक के बाद दूसरा तारा उत्तरी ध्रुव की ओर बढ़ता जाता है। वही 'ध्रुव-तारा' बन जाता है। किन्तु बीच-बीच में एक चमकीला तारा भी उत्तरी ध्रुव के इतना निकट पहुँच जाता है कि सामान्यतः उसे ध्रुवतारा कहा जा सकता है। वर्तमान काल में 'लिटिल बीयर' में द्वितीय श्रेणी का एक तारा (जिसे 'अल्का' कहा गया है) उत्तरीय गोलार्ध में 'ध्रुवतारा' कहलाता है। २७८० ई० पू० में 'अल्फा ड्राकोनिस' नाम के तारे को ध्रुवतारा के रूप में मानते थे। लगभग ५०० वर्षों तक वह उत्तरी ध्रुव के इतना समीप रहा कि सामान्य दृष्टि से देखने पर वह स्थिर दिखाई देता था। इस प्रकार गृह्यसूत्र का रचना-काल ३००० ई० पू० हो सकता है। ऋग्वेद में ध्रुव-दर्शन का कोई संकेत नहीं है। अतः वैदिक सभ्यता का आरम्भ इसके बहुत पूर्व अर्थात् ४५०० ई० पू० में माना जा सकता है।

---

१. **शंकर बालकृष्ण दीक्षित- भारतीय ज्योतिःशास्त्र**, पूना (१८९६ ई०), पृ० १३६-४०

२. **विन्टरनित्स-भारतीय साहित्य का इतिहास**, भाग-१, खण्ड-१ (हिन्दी अनुवाद), पृ० २१७-१८।

बाल गंगाधर तिलक ने वसन्त-सम्पात के आधार पर वैदिक साहित्य के विकास का काल-निर्धारण किया है। आजकल वसन्त-सम्पात मीन संक्रान्ति (प्रायः १४ मार्च) से प्रारम्भ होता है जब सूर्य पूर्वभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण में रहता है। यह वसन्त-सम्पात कभी उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु इत्यादि नक्षत्रों से प्रारम्भ होता था जहाँ से क्रमशः पीछे हटते हुए आज की स्थिति में आया है। इस परिवर्तन के कारण ऋतुओं का क्रम पीछे की ओर खिसकता जा रहा है। एक नक्षत्र को पीछे हटने में ९७२ वर्ष लगते हैं। कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का आरम्भ २५०० ई० पू० का द्योतक है। तिलक ने कहा है कि तैत्तिरीयसंहिता में मृगशिरा से वसन्त-सम्पात के आरम्भ का संकेत मिलता है जो ४५०० ई० पू० की घटना है। ऋग्वेद में अदिति-देवी का बहुत गुण-गान है जो पुनर्वसु-नक्षत्र की देवता हैं। इसका अर्थ है कि हम और आगे बढ़कर प्रायः ६००० ई० पू० में ऋग्वेद का काल मानें जबकि पुनर्वसु-नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का आरम्भ होता था।

तिलक ने वैदिक वाङ्मय के विकास का निरूपण निम्नलिखित चार कालों में किया है-

(१) **अदितिकाल** (Pre-Orion Period)- ६००० ई० पू० से ४००० ई० पू० के इस काल में उपास्य देवताओं के नामों, गुणों तथा मुख्य चरितों का निरूपण करने वाले गद्य-पद्यात्मक निविदों तथा याग-सम्बन्धी विधियों की रचना हुई थी।

(२) **मृगशिरा-काल** (Orion Period)- ४००० ई० पू० से २५०० ई० पू० के इस युग में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों की रचना हुई। आर्य-सभ्यता के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल था। इसमें सभी युगों की अपेक्षा अधिक रचना-कार्य हुआ।[1]

(३) **कृत्तिका-काल** (२५०० ई० पू०-१४०० ई० पू०)- इस काल में तैत्तिरीयसंहिता, शतपथब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों की रचना पूरी हुई। इस काल की अन्तिम सीमा 'वेदाङ्गज्योतिष' नामक ग्रन्थ की रचना है जिसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा (वर्तमान नाम-धनिष्ठा) नक्षत्र के आरम्भ में उत्तर की ओर घूमने का वर्णन है।[2] इस काल तक ऋग्वेद के सूक्त प्राचीन तथा दुर्गम हो चुके थे।

(४) **अन्तिम काल** (१४०० ई० पू०-५०० ई० पू०)- इस काल में सूत्र-साहित्य (कल्प तथा अन्य वेदाङ्ग) तथा षड्-दर्शन सूत्रों की रचना हुई। इसी के अन्त में बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ।

याकोबी तथा तिलक के इन ज्योतिषशास्त्रीय मतों का यूरोप में घोर विरोध हुआ। यह कहा गया कि सूर्य के आधार पर विषुव या संक्रान्ति का वैदिक साहित्य में कहीं निर्देश नहीं है। चन्द्रमा के आधार पर ही नक्षत्रों की गणना होती थी, सूर्य के आधार पर नहीं। नव वर्ष के आरम्भ में

---

१. तिलक ने इसी काल को मुख्य मानकर अपने ग्रन्थ का नाम रखा था- The Orion.

२. वेदाङ्गज्योतिष, ६- प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥

हॉग इस स्थिति को ११८६ ई० पू० मानकर दो तथ्य निकालते हैं-
(१) १२ वीं शताब्दी ई. पू. में ज्योतिष के क्षेत्र में भारत बहुत आगे बढ़ गया था तथा (२) उस समय तक वैदिक कर्मकाण्ड साहित्य पूर्ण हो गया था। हॉग के अनुसार ऋग्वेद का समय २४०० ई० पू० है।

अव्यवस्था थी- कहीं वसन्त से, कहीं शरद् से और कहीं वर्षा से वर्ष का आरम्भ माना गया है। अतः वसन्त-सम्पात को वर्षारम्भ कहने की बात स्थिर नहीं है। ध्रुवतारा की युक्ति का भी विरोध हुआ। किन्तु विरोध होने पर भी इन मतों का एक विशिष्ट योगदान यह हुआ कि भारतीय संस्कृति को प्राचीनतर सिद्ध करने की दिशा में युक्तियों का अन्वेषण आरम्भ हुआ, मैक्समूलर के मत को 'इत्यलम्' कहकर लोग निश्चिन्त नहीं हो गये। विन्टरनित्स का यह मन्तव्य इस प्रसङ्ग में उद्धरणीय है- " वस्तुतः भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण से इस मान्यता का खण्डन करने वाली कोई युक्ति नहीं है कि वैदिक साहित्य का काल कम से कम ३००० ई० पू० है तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति का काल कम से कम ४००० ई० पू०।"[1]

(ग) पुरातत्त्व पर आश्रित मत

पुरातत्त्व की दृष्टि से दो प्रमुख तथ्य वैदिक संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं और उनका उपयोग वेदों के काल-निरूपण में किया गया है। इनमें प्रथम है- तुर्की के बोगाज-कुई का अभिलेख तथा द्वितीय है- सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेष।

(१) तुर्की के बोगाज-कुई नामक स्थान पर हित्ती साम्राज्य की राजधानी के अवशेषों को प्राप्त करने के लिए उत्खनन करते हुए ह्यूगो विंकलर को सन् १९०७ ई० में एक शिलालेख मिला था जिसमें हित्ती और मितानी जातियों के राजाओं की सन्धि की चर्चा एक शासनपत्र के रूप में प्राप्त हुई है। इसका समय १४०० ई० पू० माना जाता है। सन्धि-पत्र में दोनों जातियों के राजाओं ने प्राचीन बेबिलोनिया के तथा हित्ती जाति के देवताओं के साथ कतिपय वैदिक देवताओं के नाम भी सन्धि के साक्षी या रक्षक के रूप में दिये हैं। वे वैदिक देवता हैं- मिइत्र (मित्र), उरुवन (वरुण), इन्दर् (इन्द्र) तथा नासतिय (नासत्यौ=अश्विनौ)। इन वैदिक देवताओं के नाम तुर्की में कैसे पहुँचे? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ यूरोपीय विद्वान् कहते हैं कि भारत-ईरानी शाखा का विभाजन होने के पूर्व इन देवताओं को इस अभिलेख में अंकित किया गया था। किन्तु उस काल में किसी देवता की पूजा का संकेत अन्य स्रोतों से नहीं मिला है। कुछ लोग इन नामों में विकृति की दृष्टि से यह सम्भावना मानते हैं कि हित्तियों ने ईरानी देवताओं का ग्रहण किया होगा। किन्तु इस पक्ष में बाधा यह है कि ईरानी धर्म में वरुण का अभाव है, इन्द्र को दैत्य माना गया है और नासत्यों का स्वरूप भी देवता का नहीं है।

अतएव विन्टरनित्स, कुञ्जन् राजा प्रभृति विद्वानों का यह कथन है कि २००० ई० पू० में उत्तर-पश्चिम भारत में निवास करने वाली जातियों का पश्चिम की ओर प्रव्रजन हुआ था जिसके फलस्वरूप उदार हित्ती राजा ने इन जातियों के देवताओं को अपने सन्धिपत्र में स्थान प्रदान किया। जर्मन विद्वान् हिलेब्रांट तथा कोनो का मत है कि भारतीयों का पश्चिम से वैवाहिक सम्बन्ध था और वे भौगोलिक दृष्टि से पश्चिम एशिया के निकट थे। कोनो स्पष्ट कहते हैं कि नासत्यों की उपस्थिति प्राचीन वैवाहिक कर्मकाण्ड में अनिवार्य थी। ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त (१०/८५) में अश्विनों का वर्णन इसे सिद्ध करता है। मितानी राजा मत्तिउज से हित्ती राजकन्या (सुब्बिलुलिउम की पुत्री) के विवाह से यह सन्धि पक्की हुई थी। इसलिए नासत्यों का निर्देश इस सन्धि-पत्र में है। इस सन्धि के पूर्व ही ऋग्वेद का प्रचार उस सुदूर प्रदेश में हो चुका था।

---

१. विन्टरनित्स का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २१९।

निष्कर्ष यह है कि हित्तियों ने वेदों के इन देवताओं का ग्रहण आर्यों के पश्चिम-प्रवास के परिणामस्वरूप किया था। इनका ईरानी धर्म से कुछ लेना-देना नहीं था। ईरानी धर्म भी आर्यों की एक शाखा से ही विकसित हुआ था। अब पाश्चात्त्य विद्वान् भी इस सम्भावना के आलोक में वेदों का काल २५००-२००० ई० पू० में मानने लगे हैं।

(२) सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेषों का उत्खनन १९२२ ई० से आरम्भ हुआ। इसके दो प्रमुख स्थान हैं- सिन्ध में **मोहन-जो-दरो** तथा पंजाब में **हरप्पा।** ये दोनों स्थान अभी पाकिस्तान में हैं। भारत में भी लोथल (गुजरात), कालीबंगा (राजस्थान) इत्यादि स्थानों में इस तथाकथित हरप्पा-संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इस संस्कृति का काल ४५०० ई० पू० से १६०० ई० पू० तक कहा जाता है। यदि वैदिक युग भी इस काल में माना जाय तो हरप्पा-संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति में क्या सम्बन्ध था? क्या वे दोनों संस्कृतियाँ परस्पर परिचित थीं? अथवा इन दोनों में कालगत पौर्वापर्य था? इन दोनों संस्कृतियों के सम्बन्ध को लेकर अनेक मत प्रचलित हैं।

एक मत यह है कि दोनों स्वतन्त्र जातियों की संस्कृतियाँ थीं और वैदिक आर्यों ने ही सिन्धु-सभ्यता का विनाश किया। इन अवशेषों के उत्खनन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए सर जॉन मार्शल का कथन है कि सैन्धव सभ्यता के विनाश के एक-दो सौ वर्षों के बाद वैदिक संस्कृति का उद्गम हुआ था किन्तु हरप्पा की अत्याधुनिक खुदाइयों, बेबिलोन के तिथिक्रम में संशोधन तथा ऋग्वेद के संकेतों से भी यह सिद्ध होता है कि सैन्धव सभ्यता के ध्वंस और आर्यों के आक्रमण के मध्य कालव्यवधान नहीं होगा।[1] सर मोर्टिमर ह्वीलर जैसे विद्वान् स्पष्ट रूप से आर्यों को ही उस संस्कृति के विनाश का प्रमुख कारण मानते हैं।[2] यह स्थिति ऋग्वेद का काल १६०० ई० पू० में ले आती है।

दूसरा मत यह है कि दोनों संस्कृतियाँ एक ही जाति की थीं। वैदिक सभ्यता ग्रामीण थी और सैन्धव-सभ्यता नागरिक थी। दोनों समकालिक थीं अथवा वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत सिन्धु-घाटी की नागरिक सभ्यता का उद्‌गम हुआ। इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर डॉ० सूर्यकान्त ने संकेत किया है कि वैदिक सभ्यता का प्राण 'अश्व' था जबकि सैन्धव सभ्यता में 'अश्व' का कोई संकेत नहीं मिलता।[3] सिन्धु-सभ्यता परवर्ती या समकालिक थी तो अश्व से वह अपरिचित कैसे रह गयी? दूसरी बात सैन्धव सभ्यता में लिङ्ग-पूजा को लेकर है। ऋग्वेद में लिङ्ग-पूजा करने वालों की निन्दा है (मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। ऋग्वेद ७/२१/५)। आर्यों के पूर्व यह पूजा भारत में होती थी, शनैः शनैः आर्यों ने भी उत्तर वैदिक युग में (यजुर्वेद तथा शतपथ-ब्राह्मण के निर्देशों के अनुसार) लिङ्गपूजा अपना ली थी। इस आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि सैन्धव सभ्यता ब्राह्मण-युग की सभ्यता थी, ऋग्वेद का काल उससे पूर्व का है।

ऋग्वेद में वस्तुतः सैन्धव सभ्यता के समकालिक होने के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। शत्रुओं का नाश, इन्द्र के नेतृत्व में शत्रुओं को पराजित करना, विजय-कामना, दास-वर्ण की पराजय,

---

१. ए. एल. बाशम- **The Wonder that was India**, p. 28

२. R. Mortimer Wheeler- **The Indus Civilization** (1953)

३. डॉ० सूर्यकान्त- **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, पृ० ९७।

पणियों द्वारा आर्यों की गायों का अपहरण, पणियों की नास्तिकता (यज्ञादि न करना) इत्यादि वर्णन सैन्धव सभ्यता के लोगों से वैदिक आर्यों के निरन्तर संघर्ष का प्रमाण देते हैं। यह सम्भव है कि आर्यों से प्रथम टकराव ४००० ई० पू० के आस-पास ही हुआ हो। आर्यों की शाखाएँ क्रमशः इस सभ्यता के लोगों से संघर्ष करती रहीं। अन्ततः १६०० ई० पू० में आर्यों की अन्तिम विजय हुई और सैन्धव सभ्यता नष्ट हो गयी। इन पिछली आर्यशाखाओं में से ही कुछ पश्चिम एशिया में प्रव्रजित हो गयी और यूरोप में भी उनका प्रसार हुआ। इन सभी के मूल पुरुष 'विरोस्' या 'वीराः' (Viros) कहलाते थे।

इस पुरातात्त्विक आधार पर ऋग्वेद का काल ४००० ई० पू० में रखने में कोई संकट नहीं प्रतीत होता यद्यपि पाश्चात्त्य विद्वान् २००० ई० पू० तक ही जाने की सम्भावना प्रकट करते हैं।

(घ) भूगर्भशास्त्र पर आश्रित मत

ऋग्वेद में भूगोल और भूगर्भ-सम्बन्धी अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है जिनके आधार पर इसके काल का निर्धारण किया गया है। अन्य वैदिक ग्रन्थों के विषय में इस दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ है। यूरोपीय विद्वानों ने इस आधार पर काल-निर्णय के प्रयास का उपहास किया है। फिर भी ये तथ्य सर्वथा उपेक्षणीय नहीं हैं। आधुनिक विद्वान् वैदिक भूगोल को बहुत महत्त्व दे रहे हैं जिससे वैदिक संस्कृति के प्रचार-प्रसार का अनुशीलन होता है। इस विषय का आरम्भ डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने किया था। तदनन्तर डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने ग्रन्थ 'आर्यों का आदिदेश' में भी इस पर विचार किया है। अन्य विद्वानों के एतद्विषयक कार्य भी महत्त्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद (७/९५/२) में कहा गया है कि सबसे पवित्र नदी सरस्वती ऊँचे गिरि-शिखरों से निकलकर समुद्र में गिरती है। सरस्वती और शुतुद्रि (सतलज) नदियाँ परस्पर मिलकर गर्जन करती हुई समुद्र में गिरती थीं (ऋ० ३/३३/२)। यह समुद्र राजस्थान की मरुभूमि में था। आर्यों का निवासस्थान सप्तसिन्धु-प्रदेश में था जिसके चारों ओर समुद्र था (ऋ०९/३३/६; १०/४७/२)। आधुनिक विद्वानों नें अनुमान किया है कि पूर्वी समुद्र गंगा-यमुना की घाटी में (उत्तर प्रदेश तथा बिहार) था क्योंकि गंगा हरिद्वार के निकट ही समुद्र से मिल जाती थी। दक्षिण में राजस्थान की मरुभूमि सागर के रूप में थी। पश्चिमी समुद्र तो अभी भी है। उत्तरी सागर के विषय में भूगर्भवेत्ता कहते हैं कि बल्ख तथा फारस के उत्तर में एक विशाल सागर था जिसे एशियाई भूमध्य-सागर कहा गया है। यह सागर उत्तर में आर्कटिक समुद्र तक फैला हुआ था। वर्तमान काल के कृष्ण सागर (Black Sea), कास्पियन सागर, अराल तथा बाल्कन झील इसी के अवशेष हैं।

उत्तरी भारत में केवल सप्तसिन्धु-प्रदेश ही जल के ऊपर था और वहाँ कुछ नदियाँ (विपाशा, शुतुद्रि, वितस्ता आदि) बहती थीं। दक्षिण भारत का वर्तमान पठार समुद्र के पार था क्योंकि पूरी गंगा-घाटी समुद्र के रूप में थी। जल में शीत का आधिक्य था, उत्तरी वायु हिमालय के अधिक ऊँचा न होने के कारण उत्तरी ध्रुव से सीधी चली आती थी। यह स्थिति शीत युग (Pleistocene Period) की थी। इस युग का समय ५०००० ई० पू० से २५००० ई० पू० तक था। डॉ० सम्पूर्णानन्द का कथन है कि इस युग के दृश्यों को सप्तसिन्धु-प्रदेश में रहते हुए आर्यों ने देखा था तथा तदनुरूप कुछ ऋचाएँ रची थीं। इसके बाद क्रमशः हिमालय की ऊँचाई बढ़ी, पञ्जाब में उष्णता की वृद्धि

हुई, राजस्थान की मरुभूमि सागर से बाहर निकली, पूर्वी समुद्र गंगा-यमुना की मिट्टी के आने से खिसकता गया और आर्यलोग भी शनैः शनैः गंगा यमुना के साथ-साथ पूर्व की ओर बढ़े। इसके पूर्व आर्यों का निवास पंजाब से अफगानिस्तान तक था-वही 'सप्तसिन्धु-प्रदेश' कहलाता था। डॉ० अविनाशचन्द्र दास के अनुसार यह स्थिति ऋग्वेद की ऋचाओं को न्यूनतम २५००० ई० पू० में ले जाती है।

इस आधार को बहुत से विद्वान् शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनका कथन है कि ये विवरण तथ्याश्रित नहीं हैं, अपितु वैदिक ऋषियों की कल्पनाएँ हैं कि भारत में ऐसी भौगोलिक स्थिति थी। यदि ये बातें कभी हुई थीं तो ऋषियों ने प्राचीन परम्परा से उनका श्रवण करके उन्हें ऋचाओं में व्यक्त किया होगा। भाषाशास्त्र, पुरातत्त्व आदि के आधार पर प्राप्त वैदिक युग से इस आधार पर प्राप्त युग की संगति स्थापित करना अत्यधिक कठिन है। अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि इन भौगोलिक विवरणों की व्याख्या कैसे हो?

(ङ) पौराणिक तिथिक्रम

डॉ० कुञ्जन् राजा ने अपने ग्रन्थ-'द वेदज' में वेदों के काल-निर्णय में पौराणिक तिथिक्रम को निर्णायक माना है। पुराणों में प्राप्त तिथिक्रम का महत्त्व असीरियन, ओल्ड टेस्टामेन्ट तथा ग्रीक साहित्य में प्राप्त तिथिक्रम के निर्देश से न्यूनतर नहीं है। पुराणों तथा महाभारत के तिथिक्रम के आधार पर भारतीय ज्योतिर्विद् आर्यभट्ट (३९९ ई०) ने कलियुग का आरम्भ निश्चित किया था जो आधुनिक गणना से ३१०१ ई० पू० में हुआ था। भारतीय परम्परा में यह तिथि पौराणिक धर्म के उद्भव का काल है। प्रायः सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का विकास इस समय तक हो गया था। ऋग्वेद की ऋचाओं की समाप्ति तथा अन्य वेदों के मन्त्रों की रचना के काल में एक लम्बा अन्तराल रहा होगा। अथर्वन्, अङ्गिरस् तथा अत्रि जैसे प्राचीन ऋषिगण अपने धर्म का विधान प्राचीन आर्यों के बीच कर रहे थे। वह समय बहुत पहले होगा। अन्य राष्ट्रों में उसी समय में नयी सभ्यता और धर्म का अभ्युदय हो रहा था। ऋग्वेद का रचनाकाल इसी प्राचीनता का द्योतक है। अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क से ऋग्वेदीय सभ्यता का ह्रास होने लगा तथा अन्य वेदों के उद्भव-काल में इसका पुनरुद्धार हुआ। यह कहना तो अभी कठिन है कि कलियुग के आरम्भ से कितना पूर्व वैदिक साहित्य का उद्भव हुआ, किन्तु वैदिक युग में उन्नति और अवनति के कालों को शताब्दियों में ही अंकित किया जा सकता है। ज्योतिष के आधार पर प्राप्त होनेवाली काल-गणना का समर्थन भी इससे हो जाता है कि वैदिक सभ्यता का उद्भव ६००० ई० पू० के आस-पास हुआ हो तथा वर्तमान काल में उपलब्ध मन्त्रों में अधिकांश की रचना का काल ५००० ई० पू० से ४००० ई० पू० तक माना जाये। अन्य वेदों तथा ब्राह्मणों का काल ४००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक मानना चाहिए।[1]

निष्कर्ष

वस्तुतः वेदों का रचना-काल पिछले १५० वर्षों में इतना विवादपूर्ण विषय रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी-अपनी धारणा बना रखी है। ये धारणाएँ हठ के स्तर तक पहुँच चुकी हैं। भारतीय

---

1. Dr. C. Kunhan Raja- **The Vedas**, Andhra University, Waltair (1957), p. 38.

इतिहास के सामान्य विद्वान् ऋग्वेद की पूर्व कालसीमा १५०० ई० पू० से पहले ले जाने में इतिहास का अतिक्रमण समझते हैं। कुछ उदारमना मनीषी २००० ई० पू० तक बढ़ते हैं और भाषाशास्त्रीय एवं पुरातात्त्विक आधारों को समन्वित करने का प्रयास करते हैं। प्राचीनता के पोषक भारतीय विद्वान् ऋग्वेद के साथ अन्य वेदों को भी विश्वसभ्यता की प्रथम किरणों का प्रतीक मानकर नयी-नयी खोजों से परिवर्तन प्राप्त करने वाले कालक्रम से भी प्राचीनतर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। फिर भी अनेक आधारों से संगति बैठाकर, धार्मिक भाषा के परिवर्तन को मन्थर-गति से युक्त मानकर एवम् आर्यों की प्रव्रजन-प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर यदि वेदों का रचनाकाल ४००० ई० पू० से ३००० ई० पू० के बीच रखें तो विशेष असंगति नहीं होगी। उनके मन्त्रों का संकलन अवश्य ही परवर्ती युग में सम्भवत: २००० ई० पू० में हुआ था- उसके अनन्तर ही ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्- इनका संकलन हुआ। २००० ई० पू० से १००० ई० पू० के मध्य यह सब संकलित हो गये। १००० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच सूत्र-साहित्य (कल्प, प्रातिशाख्य) तथा निरुक्त की रचना हुई। ६०० ई० पू० में वैदिक वाङ्मय अपनी पूर्णता पर पहुँचकर लौकिक संस्कृत के लिए स्थान छोड़ चुका था- आर्यावर्त के पूर्व और मध्य में पालि तथा प्राचीन प्राकृत भाषाएँ प्रचलित हो चुकी थीं जिन्हें क्रमश: बुद्ध और महावीर ने अपने प्रवचन का माध्यम बनाया। वेदों के मूल प्रदेश में तथा कुछ पूर्व तक संस्कृत का वर्चस्व हो गया।

अध्याय-६

वेदभाष्यकार तथा वेदार्थ-पद्धतियाँ

वेदार्थ का विकास

वेदों का आविर्भाव जब भी हुआ हो, उनकी भाषा धीरे-धीरे दुर्गम हो गयी। वेदाङ्गों का विकास उनके विविध पक्षों को सुगम बनाने के लिए हुआ। इन पक्षों में कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर तो बहुत बल दिया गया किन्तु वेदार्थ-ज्ञान की रक्षा का प्रयास सीमित रूप में ही रहा। परिणामतः वेदों के मन्त्रों के अर्थ के विषय में अनेक मत प्रकट हुए जिनमें परस्पर विवाद भी होते थे। वेदार्थज्ञान का व्यवस्थित प्रयास 'निरुक्त' नामक वेदाङ्ग में हुआ है। दुर्भाग्यवश निरुक्त भी एक ही सुरक्षित रहा जिससे केवल ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों का आनुमानिक अर्थ जाना जा सकता है। निरुक्त (१/२०) में मौखिक परम्परा से वेदार्थ के आदान-प्रदान का संकेत मिलता है-

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु:। तेऽवरेभ्योऽ साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु:।''

अर्थात् पूर्वकल्प के ऋषिगण धर्म या वेद के अर्थ का प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए थे। उन्होंने धर्म (वेदार्थ) के प्रत्यक्ष अनुभव से रहित दूसरे लोगों को उपदेश (प्रवचन या अध्यापन) देकर मन्त्रों का अर्थ समझाया था। इस अवस्था तक भी मन्त्रार्थ अपने वास्तविक रूप में चलता गया। तृतीय अवस्था में अध्ययन या प्रशिक्षण से पलायन करने वाले आलसी लोगों ने सहायक ग्रन्थों के रूप में निरुक्त आदि वेदाङ्ग-ग्रन्थों के संकलन का कार्यक्रम बनाया, वहीं से मतान्तर की शृङ्खला चल पड़ी (उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदाङ्गानि च)। फिर भी लोग मूल अर्थ से बहुत दूर नहीं गये थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक शब्दों के अर्थ-संकलन के प्रारम्भिक प्रयास हुए थे किन्तु उनका आग्रह कर्मकाण्ड की व्याख्या से आवेष्टित है। यास्क के निरुक्त में वेदार्थ करने वालों के अनेक सम्प्रदायों का निर्देश है।[1] इससे संकेत मिलता है कि प्रायः १००० ई० पू० में ही वेदों का अर्थ कठिन हो गया था, लोग अर्थ के विषय में एकमत नहीं थे।

यास्क ने निरुक्त में प्रायः ६०० ऋचाओं की पूर्ण या आंशिक व्याख्या की थी, किन्तु इससे अर्थ-विषयक जिज्ञासा का आंशिक समाधान ही हो सकता था। आगे चलकर भारत में स्कन्द, सायण आदि विद्वानों ने वेदभाष्य का व्यवस्थित प्रयास किया। १८०० ई. के बाद यूरोपीय विद्वानों की रुचि भी भाषाशास्त्रीय एवं समाज-विज्ञान की दृष्टि से वेदों की ओर हुई और उन्होंने सभी वेदों तथा प्रमुख ब्राह्मण-ग्रन्थों के रूपान्तर अंग्रेजी, जर्मन एवं फ्रांसीसी भाषाओं में करते हुए वेदार्थ की सर्वथा नवीन पद्धति को जन्म दिया। उनकी दृष्टि विशुद्ध भौतिक थी, उन्हें वेदों के

१. आख्यानवादी, इतिहासवादी (ऐतिहासिका), नैदाना: नैरुक्ता:, परिव्राजका:, पूर्वे याज्ञिका:, याज्ञिका:, वैयाकरणा:, ब्राह्मणग्रन्थवादी, याज्ञिका: इत्यादि सम्प्रदाय अर्थ-विषयक मतों से सम्बद्ध थे। द्रष्टव्य-निरुक्त (चौखम्बा विद्याभवन), परिशिष्ट-२।

ज्ञानकाण्ड-विषयक मन्त्रों में भी प्राचीन आर्यों की कल्पना दिखाई पड़ी, तथ्य नहीं। आधुनिक युग में कुछ भारतीय विद्वानों ने (जैसे दयानन्द सरस्वती, अरविन्द) वेदों को बिल्कुल नये परिप्रेक्ष्य में अङ्कित करते हुए आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्याख्या की दृष्टि प्रदान की। कुल मिलाकर वेदार्थ-पद्धतियों का विचित्र समुदाय वर्तमान है। सभी पद्धतियाँ अपने-आप को मूल अर्थ का अनावरण शुद्ध रूप में करने का दावा करती हैं। इस प्रसङ्ग में तर्क से अधिक विश्वास की ही प्रधानता है।

वेद की व्याख्या को वैज्ञानिक रूप से इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है-

(क) भारतीय व्याख्या-पद्धतियाँ

प्राचीन- (१) वैज्ञानिक तथा (२) याज्ञिक।

अर्वाचीन- (१) वैज्ञानिक, (२) परम्परावादी, (३) आध्यात्मिक तथा (४) पाश्चात्त्य मत-समर्थक।

(ख) पाश्चात्त्य व्याख्या-पद्धतियाँ

(१) परम्परावादी (२) भाषाशास्त्रीय तथा (३) समन्वयवादी।

इनके विवेचन के क्रम में मुख्य व्याख्याकारों का परिचय दिया जाता है।

(क) भारतीय पद्धति-प्राचीन

(१) यास्क (८०० ई० पू०-वैज्ञानिक व्याख्याकार)

यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त के १४ अध्यायों में प्राय: ६०० ऋचाओं की पूर्ण या आंशिक व्याख्या की है। ये ऋचाएँ ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों से, वैदिक शब्दों के निगम (उदाहरण या प्रयोग) दिखाने के क्रम में, संकलित है। अपने समय में उपलब्ध सभी सम्भव साधनों का उपयोग, इनकी व्याख्याओं में, यास्क ने एक वैज्ञानिक की तटस्थता का परिचय देते हुए किया है। व्याख्याएँ बहुत संक्षिप्त हैं क्योंकि सरल तथा स्पष्ट शब्दों को यास्क ने यों ही छोड़ दिया है। कठिन शब्दों का निर्वचन, शब्दों को तोड़कर या समानान्तर शब्द देकर, यास्क ने किया है। उन्होंने कहीं-कहीं आवश्यकतावश इतिहास या समाज का भी निर्देश किया है। संक्षिप्त होने पर भी यास्क के द्वारा कुछ मन्त्रों पर की गई व्याख्या परवर्ती व्याख्याकारों के लिए मार्ग-दर्शक रही है। दुरूह वैदिक शब्दों पर किया गया विवेचन वस्तुत: अत्यधिक उपादेय है। तात्कालिक प्रचलित अर्थों एवं अर्थ-सम्प्रदायों का परिचय देकर यास्क ने वैज्ञानिक व्याख्या-पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया है।

यास्क ने अपने युग में वेदार्थ करने वाले न्यूनतम १७ सम्प्रदायों और विद्वानों के नाम लिये हैं जिनके मत परस्पर विवादी थे। उदाहरणार्थ 'नासत्या' अश्विनों का नाम है जो यूनानी आख्यानों में दिओस्कुरी (Diouskuri) नामक देवता के रूप में है। उक्त शब्द (नासत्या) को और्णवाभ नामक आचार्य 'असत्य से रहित अर्थात् सदा सत्यपालक' के अर्थ में मानते थे। आचार्य आग्रायण के अनुसार इसका अर्थ है- सत्य को आगे बढ़ाने वाले (सत्यस्य प्रणेतारौ)। यास्क सम्भावित निर्वचन देते हैं- 'नासिका-प्रभवौ बभूवतु:' अर्थात् वे नासिका से उत्पन्न हुए देवता हैं।[1] स्कन्दस्वामी इसे

(१) निरुक्त ६/१३

इतिहास या आख्यान के ज्ञाताओं का अर्थ मानते हैं।

इन विविध अर्थों से सम्बद्ध सन्देहजनक वादों का प्रभाव रहा होगा कि कुछ लोग (जैसे-कौत्स) वेदों के अर्थ को दुरूह, निरर्थक एवं परस्पर विरोधी मानकर वैदिक व्याख्या के सारे कार्यक्रम को व्यर्थ मानते थे (अनर्थका हि मन्त्राः)। किन्तु यास्क ने कौत्स के आक्षेपों का खण्डन करते हुए कहा कि यह स्थाणु (ठूँठे वृक्ष) का अपराध नहीं है कि अन्धा उसे देख नहीं पाता; यह पुरुष का ही दोष है कि उसके पास दृष्टि-शक्ति नहीं है (**नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति।** निरुक्त १/१६)। इसी प्रकार वेदार्थज्ञान के विविध साधनों के होने पर भी कोई उसे न जान पाये तथा वेद के मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा न माने तो वह व्यक्ति अपनी अज्ञता और अक्षमता का ही उद्घाटन करता है। इस प्रकार वेदों के प्रथम वैज्ञानिक व्याख्याकार यास्क ही हैं।

(२) सायण (१४ वीं शताब्दी ई., याज्ञिक व्याख्याकार)

यास्क (८०० ई० पू०) और सायण (१३१५-१३७८ ई०) के बीच न्यूनतम दो सहस्र वर्षों का अन्तर है। इस अवधि में ऋग्वेद के अनेक व्याख्याकार हुए जिनमें दो के भाष्य उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं- स्कन्दस्वामी (७ वीं शताब्दी ई०) तथा वेंकटमाधव (११०० ई०)। इनका परिचय अन्य भाष्यकारों के साथ दिया जायेगा। इन सभी ने यज्ञ-परक भाष्य की रचना की। सायण सभी भाष्यकारों के शिरोमणि हुए जिन्होंने विजयनगर-साम्राज्य के संस्थापक हरिहर के गुरु तथा अपने अग्रज माधवाचार्य की प्रेरणा से वेदों, ब्राह्मणों और आरण्यकों का भाष्य लिखे।[१] वेदानुशीलन के इतिहास में सायण का नाम सर्वोपरि है क्योंकि सर्वाधिक विपुल वैदिक साहित्य पर एकमात्र सायण ने ही भाष्य लिखे थे। इनके भाष्यों का नाम 'वेदार्थप्रकाश' है।

अपने पूर्व के सभी साधनों का सम्यक् उपयोग करने पर भी सायण का आग्रह मीमांसादर्शन की पृष्ठभूमि में वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने का था। ज्ञानकाण्डीय मन्त्रों को अद्वैतवेदान्त का सहारा लेते हुए इन्होंने समझाया था। प्रत्येक सूक्त या अनुवाक का याज्ञिक उपयोग निरूपित करना सायण की विवशता है। 'वेद का अर्थ-ज्ञान केवल यज्ञानुष्ठान के लिए होता है'-यह बात सायण की उक्तियों से अनेक स्थलों में प्रकट होती है।[२] सायण का दृढ़ विश्वास था कि वेदों का परम्परागत अर्थ यज्ञपरक ही था। जहाँ यज्ञपरक अर्थ संगत नहीं होता वहाँ सायण अद्वैतवेदान्त या आख्यान का आश्रय लेते हैं। इनका भाष्य पाण्डित्य की पराकाष्ठा है जिसमें भारतवर्ष की समस्त शास्त्रीय परम्परा का समन्वय किया गया है। पुराण, इतिहास, स्मृति, कोश, निरुक्त, व्याकरण, कल्पसूत्र, ब्राह्मण, महाभारत इत्यादि अनेक स्थलों से समुचित उद्धरण देकर सायणाचार्य ने अपने कथ्य का समर्थन किया है।

---

१. सायण ने निम्नलिखित १८ वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य लिखे- (१) तैत्तिरीयसंहिता, (२) ऋग्वेद, (३) सामवेद, (४) काण्वसंहिता, (५) अथर्ववेद, (६-७), तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा आरण्यक, (८-९), ऐतरेय ब्राह्मण तथा आरण्यक, (१०-१७) सामवेद के आठ ब्राह्मण-ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद, संहितोपनिषद् तथा वंश ब्राह्मण एवं (१८) शतपथब्राह्मण।

२. **ऋग्वेदभाष्यभूमिका**, पृ.२- अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्।

पाश्चात्य विद्वानों ने तथा कतिपय भारतीय वेदविदों ने भी सायण के वेदभाष्यों की आलोचना की है। यह जानते हुए भी कि वेद में लौकिक, याज्ञिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के मन्त्र हैं, सायण अपनी यज्ञपरक आस्था पर ही दृढ़ हैं। जर्मन विद्वान् रॉथ का कहना है कि ऋग्वेद और सायण में इतना बड़ा काल-व्यवधान है कि सायण के लिए वेदों के मूल अर्थ पर पहुँचना सम्भव ही नहीं। जिसे परम्परा-प्राप्त अर्थ कहते हैं वह वस्तुत: व्याकरण तथा निर्वचन के बल पर किया गया बहिरङ्ग-विधि से प्राप्त अर्थ है। पाश्चात्त्य पण्डितों की मुख्य आपत्ति यह है कि सायण संस्कृत के समान वैदिक भाषा के शब्दों को भी मनमाने ढंग से अनेकार्थक मानकर जहाँ-तहाँ विभिन्न अर्थ करते हैं। पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री वैदिक शब्दों की एकार्थकता का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके अनुसार ऋग्वेद एक नियत देश और काल की रचना है। अतएव शब्द का अर्थ एक प्रकरण में समान ही होगा। सायण एक अर्थ से असन्तुष्ट होकर किसी शब्द के अनेक अर्थ-विकल्प देने लगते हैं। यह अव्यवस्था सन्देहजनक है।

फिर भी पाश्चात्त्य पण्डितों का एक बड़ा वर्ग सायण के गुणों की प्रभूत प्रशंसा करता है क्योकि सभी व्याख्याओं का आधार उनके भाष्य ही हैं। कुछ ही ऐसे स्थल हैं जहाँ उनसे असहमति दिखाई जा सकती है।

(३) अन्य प्राचीन भाष्यकार

ऋग्वेद पर उपलब्ध भाष्यों में **स्कन्दस्वामी** का भाष्य प्राचीनतम है। ये गुजरात के वलभी-नगर के निवासी थे। इन्होंने निरुक्त पर भी भाष्य लिखा था। इनके शिष्य हरिस्वामी ने शतपथब्राह्मण पर भाष्य लिखा जिसका निर्माणकाल ६३८ ई० माना जाता है (कलि संवत् ३७४०)। अतएव स्कन्दस्वामी का भाष्यरचनाकाल ७वीं शताब्दी ई० का प्रथम चरण माना जा सकता है। स्कन्दभाष्य भी सामान्यत: विस्तृत तथा स्पष्ट है, प्रमाणों के साथ वेदार्थ-स्फोरण किया गया है। यह भाष्य ऋग्वेद के अर्धभाग (चतुर्थ अष्टक) तक ही मिला है। शेष भाग की पूर्ति **नारायण** तथा **उद्गीथ** नामक दो विद्वानों ने क्रमश: की है।[1] नारायण स्कन्दस्वामी के समकालिक थे, उद्गीथ परवर्ती एवं कर्नाटक के वनवासी-प्रदेश के निवासी थे। इन तीनों के भाष्यों का प्रभाव सायणभाष्य पर स्पष्ट है।

ऋग्वेद पर **माधवभट्ट** ने भी संक्षिप्त भाष्य लिखा है जो पूरी संहिता पर है। वेङ्कट के पुत्र होने के कारण इनके भाष्य का नाम '**वेङ्कटमाधवीय**' है। यह भाष्य भी सायण (१४ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्ध) के पहले का है।[2] यह भाष्य बहुत संक्षिप्त है, केवल पदों का अर्थमात्र अन्वय पर ध्यान रखते हुए किया गया है। स्वयं माधव ने कहा है- वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्दै: कतिपयैरिति। अतएव अर्थ में कोई विशेष दुराग्रह नहीं है। पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त कहीं-कहीं केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों के उद्धरण इस भाष्य में दिये गये हैं। डॉ० लक्ष्मण सरूप ने इस भाष्य का सम्पूर्ण संस्करण किया जो मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। वेङ्कटमाधव चोलराज्य के निवासी थे।

---

१. वेंकटमाधव कृत ऋग्भाष्य का आरम्भ-स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रु: सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥

२. साम्बशिव शास्त्री ने इनका समय १०५० ई० से ११५० ई० के मध्य माना है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर भट्टभास्कर ने ११वीं शताब्दी ई० में भाष्य लिखा था। इनके भाष्य का नाम 'ज्ञानयज्ञ' था। इनका निर्देश निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा ने तथा सायणाचार्य ने भी किया है। भट्टभास्कर का भाष्य विद्वत्तापूर्ण है जिसमें प्रमाण के रूप में अनेक वैदिक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये हैं। विभिन्न आचार्यों के मत भी प्रस्तुत हैं। सायण ने सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता पर ही भाष्य लिखा था।

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता पर उवट और महीधर के पाण्डित्यपूर्ण भाष्य उपलब्ध हैं।[1] **उवट** आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे। अवन्ती में निवास करते हुए भोज के शासनकाल में यजुर्वेद भाष्य की रचना इन्होंने की थी। इसलिए इनका समय ११वीं शताब्दी ई० का मध्यकाल है (भोज का राज्यकाल-१०१८ ई० से १०६० ई० तक)। उवट ने ऋक्प्रातिशाख्य, यजुःप्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा ईशोपनिषद् पर भी भाष्य लिखे थे। उवट सम्भवतः कश्मीरी थे किन्तु जीविकावश अवन्ती-क्षेत्र में बस गये थे। **महीधर** के भाष्य का नाम **'वेददीप'** है। ये काशी के निवासी थे; इनका समय १६वीं शताब्दी ई० है क्योंकि इनके तन्त्र-विषयक ग्रन्थ 'मन्त्र-महोदधि' का समय १५८८ ई० है। इन्होंने अपने वेदभाष्य में मन्त्र तथा उवटभाष्य दोनों का स्पष्टीकरण किया है। यजुर्वेद के यज्ञपरक होने से इन्होंने श्रौतसूत्रों का उद्धरण देकर मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या लिखी है। उवट-भाष्य को समझने के लिए इसका उपयोग महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता पर **हलायुध** ने **'ब्राह्मणसर्वस्व'** नामक भाष्य लिखा था। हलायुध बंगाल के अन्तिम हिन्दू-नरेश लक्ष्मणसेन (११८५-१२०५ ई०) के सभासद् थे। इस भाष्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ उन्होंने लिखे थे।[2] लक्ष्मणसेन ने इन्हें क्रमशः राजपण्डित और धर्माध्यक्ष का पद प्रदान किया था। काशी के वैदिक विद्वान् अनन्ताचार्य ने (१६वीं शताब्दी ई०) काण्वसंहिता के उत्तरार्ध (अध्याय २१-४०) पर भाष्य लिखा। इस पर महीधर का प्रभाव लगता है। कई स्थलों पर इनके भाष्य में विष्णुपरक अर्थ किया गया है। काण्वसंहिता पर आनन्दबोध का भाष्य भी उपलब्ध है जिसका केवल अन्तिम चरण (अध्याय ३१-४०) प्रकाशित है (सारस्वती सुषमा, संवत् २००९-११)।

सामवेद पर प्रथम भाष्य **माधव** का मिलता है, इस भाष्य का नाम 'विवरण' है। सामवेद के पूर्वार्चिक के भाष्य का नाम 'छन्दसिका-विवरण' और उत्तरार्चिक के भाष्य का नाम 'उत्तर विवरण' दिया गया है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद के सायण भाष्य के परिशिष्ट में इस भाष्य के कुछ अंश प्रकाशित किये। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अनुमान किया है कि ये माधव बाणभट्ट के पूर्वज तथा गुरु थे क्योंकि कादम्बरी का मङ्गलश्लोक 'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये' इत्यादि (श्लोक-१) इनके सामभाष्य के मङ्गलश्लोक के रूप में भी है। बाण ने गुरु के श्लोक का ग्रहण किया होगा।[3] सामवेद पर भरतस्वामी ने भी भाष्य लिखा था। भाष्य के अन्त में इन्होंने सूचित किया है कि होयसल-राजा रामनाथ के शासनकाल में (१२७२-१३१० ई०) श्रीरङ्ग में रहते हुए

---

१. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

२. हलायुध के ग्रन्थों में मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व तथा पण्डितसर्वस्व मुख्य हैं।

३. वैदिक साहित्य और संस्कृति (१९७३), पृ० ५५-६। यदि यह स्वीकार्य हो तो माधव का काल प्रायः ६०० ई० होगा।

पूरे सामवेद की व्याख्या मैंने की है। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। सायण के सामवेद भाष्य से ६०-७० वर्ष पूर्व ही इन्होंने इस वेद पर भाष्य लिखा। इनका भाष्य सामवेद के ब्राह्मणों पर भी है। **गुणविष्णु** ने भी बारहवीं शताब्दी ई० में सामवेद की कौथुमशाखा पर 'छान्दोग्य मन्त्रभाष्य' लिखा था। इसका प्रचार बंगाल और मिथिला में बहुत अधिक है। कलकत्ता की संस्कृत-परिषद् से यह प्रकाशित है।

अथर्ववेद पर एकमात्र सायणभाष्य ही उपलब्ध है। अपने अन्यभाष्यों के समान इसके आरम्भ में भी सायण ने विशाल भूमिका लिखी है। यह भाष्य शौनक शाखा पर है। पैप्पलाद शाखा पर किसी का भाष्य उपलब्ध नहीं है।

(ख) भारतीय पद्धति-अर्वाचीन

भारतवर्ष में विगत डेढ़ सौ वर्षों से वेदाध्ययन की रुचि विशेष रूप से बढ़ी है। प्राचीन परम्परा के विद्वान् तो अपने जन्मवंश (पारिवारिक परम्परा) तथा विद्यावंश (शिष्य-परम्परा) से वेदों के प्राचीन भाष्यों का सम्पूर्ण या आंशिक अध्ययन करते ही थे, दूसरे वर्गों में भी वेदाध्ययन की अभिरुचि बढ़ी। इसके दो कारण थे-पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धति तथा धार्मिक-सामाजिक सुधार के आन्दोलन। भारतीय विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम के शिक्षण का आरम्भ होने पर पाश्चात्त्य प्रक्रिया का सर्वथा ग्रहण किया गया। विभिन्न विदेशी विद्वानों के द्वारा जो अनुवाद, टिप्पणी, कोश आदि की रचना वेदार्थ-स्फोरण के निमित्त की गयी, उसका अध्ययनाध्यापन इस व्यवस्था में होने लगा-यहाँ विशेष रूप से ऋग्वेद का और कुछ दूर तक अथर्ववेद का ही सीमित अध्ययन होता था। विदेशियों की रुचि अन्य वैदिक ग्रन्थों में कम ही थी। यद्यपि उन्होंने अनेक वैदिक ग्रन्थों के अंग्रेजी, जर्मन या फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित कराये तथापि पाठ्यक्रम उक्त संहिताओं तक ही सीमित रहा। इस प्रकार अर्वाचीन भारतीय पद्धतियों में **परम्परावादी** एवं **पाश्चात्त्यमत समर्थक** स्थितियाँ हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०) के सामाजिक और धार्मिक सुधारों का परिणाम वैदिक अध्ययन के लिए बहुत अच्छा हुआ क्योंकि आर्य-समाज के प्रभाव से वैदिक संहिताएँ व्यापक भारतीय जनता में लोकप्रिय एवं प्रचारित हुईं। उधर योगिराज अरविन्द (१८७२-१९५० ई०) ने वेदों की विशिष्ट आध्यात्मिक व्याख्या करके बौद्धिक वर्ग में वेदों के प्रति नयी रुचि जाग्रत् की। इस प्रकार आधुनिक भारत में वेदार्थानुशीलन के चार परिदृश्य मिलते हैं।

यहाँ स्वामी दयानन्द तथा अरविन्द की व्याख्यापद्धतियों का परिचय दिया जाता है।

(१) स्वामी दयानन्द- वैज्ञानिक व्याख्या-विधि

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३ ई०) ने वेदों का प्रचार उन वर्गों में भी किया जो वेद की शिक्षा से रहित थे। अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में अपने वेद-विषयक सिद्धान्तों का उन्होंने निरूपण किया। देवतावाद का खण्डन करके उन्होंने एकेश्वरवाद का समर्थन किया। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जो तथाकथित देवतावाचक शब्द वेदों में आये हैं वे सब यौगिक होने के कारण परमेश्वर के विविध पक्षों के बोधक हैं। दयानन्द ने निरुक्त और व्याकरण के आधार पर सभी शब्दों को यौगिक या योगरूढ़ मानकर वेदमन्त्रों की व्याख्या

की। उन्होंने मन्त्रभाग को ही 'वेद' कहा; ब्राह्मण-भाग जीवोक्त वेदव्याख्यान और कर्मकाण्ड है। उनके अनुसार वेदों में इतिहास नहीं है, किन्तु ज्ञान-विज्ञान के सभी सूत्र उनमें निहित हैं। उनके अनुयायी विद्वानों ने आधुनिक विज्ञान के समस्त उपकरणों को वेदों में निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार दयानन्द की पद्धति एक ओर आध्यात्मिक (सर्वत्र ईश्वर की शक्ति दिखाने वाली) है, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक भी है।

दयानन्द के अनुयायी वैदिक विद्वानों ने अजमेर, सातारा आदि स्थानों से चारों वेदों का मूल संस्करण तथा हिन्दी भाष्य सुलभ करके वैदिक वाङ्मय का बड़ा उपकार किया है, यह आर्यसमाज का प्रभूत योगदान है। स्वयं दयानन्द ने माध्यन्दिन संहिता (शुक्लयजुर्वेद) का तथा ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के कुछ सूक्तों तक का भाष्य संस्कृत-हिन्दी में लिखा था। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीपाद सातवलेकर ने विभिन्न संहिताओं का सुन्दर संस्करण तथा चारों वेदों का सुबोध हिन्दी भाष्य भी दयानन्द-विधि से स्वयं सम्पन्न करके प्रकाशित किया। अन्य अनेक विद्वानों ने भी इस पद्धति से कार्य किये हैं। दयानन्द ने वेद में चार मुख्य विषय माने हैं- ज्ञान, विज्ञान, कर्म तथा उपासना। वेद के त्रिविध अर्थों पर भी उन्होंने बल दिया है- आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। इस पद्धति के सभी संस्करण वेदों का अर्थ देने में इन बातों का ध्यान रखते हैं।

(२) अरविन्द- आध्यात्मिक व्याख्या-विधि

योगिराज अरविन्द (१८७२-१९५० ई०) अपने युग के अनुपम साधक, विद्वान् तथा ऋषि थे। विभिन्न विषयों पर उनके मौलिक विचार प्रकाशित हैं। वेदों पर उनकी पुस्तक 'वेद-रहस्य' (On the Vedas का हिन्दी अनुवाद) बहुचर्चित है। ऋग्वेद के कतिपय अग्निसूक्तों का भी टिप्पणियों के साथ अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने प्रकाशित किया था (Hymns to Sacred Fire)। पं० कपालिशास्त्री ने अरविन्द की पद्धति से ऋग्वेद के आरम्भिक सूक्तों पर 'सिद्धाञ्जन-भाष्य' लिखा जो दो खण्डों में प्रकाशित है। पाण्डिचेरी में अरविन्द का विश्वविख्यात आश्रम है जहाँ उनके शिष्यों तथा अनुयायियों द्वारा साधना की जाती है।

अरविन्द ने वेदों के विषय में अध्यात्मवादी दृष्टि अपनायी। उनकी मान्यता है कि वैदिक युग में रहस्यवादी ऋषियों का एक सम्प्रदाय था जिसके अवशेष यूनान में आर्फिक तथा इल्यूसीनियन सम्प्रदायों में वर्तमान थे। इन्हीं में पाइथोगोरस और प्लेटो जैसे दार्शनिक हुए। वैदिक ऋषियों ने उस प्राचीन ज्ञान को रहस्य बनाकर सुरक्षित रखा जिससे अनधिकारियों के पास जाकर वह विकृत न हो जाये।

उनके अनुसार वेदमन्त्रों के दो प्रकार के अर्थ हैं- (१) यज्ञ-याग में लगे व्यक्तियों के लिए स्थूल अर्थ तथा (२) अध्यात्म-प्रवण व्यक्तियों के लिए सूक्ष्म अर्थ। सभी यज्ञ-विधानों में ये दोनों अर्थ समवेत हैं। इसीलिए यज्ञ भी बाह्य तथा आध्यात्मिक दो प्रकार के हैं। वेदार्थज्ञान के लिए किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं है। योग और तपस्या से पवित्र हृदय में वेदार्थ स्वयं स्फुरित होता है।

अरविन्द के अनुसार वेद का स्थूल अर्थ ही प्रकाशित होता है, गूढार्थ तो अध्यात्म-दृष्टि से ही प्रकट होता है। जैसे '**अग्नि**' के दो अर्थ हैं- हवनकुण्ड में प्रदीप्त अग्नि (स्थूल अर्थ) और

हृदय में प्रदीप्त इच्छाशक्ति (सूक्ष्म अर्थ)। 'सूर्य' स्थूल रूप से नभोमण्डल का प्रकाशक पिण्ड है, सूक्ष्म रूप से अन्त: प्रकाश और उच्च ज्ञान का देवता है। इस प्रकार सभी देवता एक ओर भौतिक शक्ति के प्रतिनिधि हैं तो दूसरी ओर परमात्मा की दिव्य शक्ति के अङ्ग-रूप में मनोवैज्ञानिक तत्त्व के प्रतीक हैं। वैदिक यज्ञ वस्तुत: अग्नि के नेतृत्व में होनेवाली आध्यात्मिक यात्रा के सूचक हैं। 'युद्ध' का अर्थ है आर्यों की उक्त यात्रा के मार्ग में बाधा उत्पन्न करनेवाले अन्धकार के विरुद्ध संघर्ष। 'गौ' प्रकाश है, 'अश्व' शक्ति है। अरविन्द की दृष्टि में वेद सिद्धों की वाणी है जो अध्यात्म-जगत् के रहस्यों को अनावृत करती है।

(ग) पाश्चात्त्य पद्धति-परम्परावादी

पाश्चात्त्य जगत् में वेदों का परिचय होने पर उनके प्रकाशन के साथ उनके अनुवाद की समस्या आयी जिससे वहाँ के लोग इस प्राचीन साहित्य-सम्पत्ति का रसास्वादन कर सकें। आरम्भ में भाषाशास्त्र का इतना विकास नहीं हुआ था कि उसे आधार बनाकर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अर्थ किया जा सके। ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों ने परम्परागत अर्थानुशीलन को ही प्रमाण मानकर (सायणादि भाष्यकारों को आधार बनाकर) अंग्रेजी में ऋग्वेद का अनुवाद किया।

(१) **विल्सन** (१७८४-१८६० ई०)- हॉरेस हेमन विल्सन इन परम्परावादी यूरोपीय विद्वानों में अग्रणी था। वह संस्कृत की अनेक शाखाओं का विद्वान् था। सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद उसने सायणभाष्य के अनुसार अंग्रेजी गद्य में किया जिसका प्रकाशन छह खण्डों में १८५० ई० से १८८८ ई० तक हुआ। इस अनुवाद के कई संस्करण भारत में भी हुए हैं। विल्सन सायण के भाष्य का प्रबल समर्थक था।[1] यह आश्चर्य है कि विल्सन के अनुवाद के प्रकाशन के समय तक सम्पूर्ण ऋग्वेद का मूल रूप से प्रकाशन नहीं हुआ था।[2] अनुवाद में यत्र-तत्र महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी उसने दी हैं। अपनी अन्य बीस-पच्चीस कृतियों के द्वारा उसने आधुनिक संस्कृत अनुसन्धान का मार्गदर्शन भी किया।

(२) **मैक्समूलर** (१८२३-१९०० ई०)- यूरोपीय प्राच्यविद्याविदों में सर्वाधिक व्यापक विषयों पर काम करने वाले फ्रीडरिख मैक्समूलर भारत में भी पर्याप्त लोकप्रिय हुए। उनके पिता जर्मन भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उनके गुरु यूजीन बर्नूफ (१८०१-५२ ई०) थे जिन्होंने फ्रेंच भाषा में ऋग्वेद के कुछ अंशों का अनुवाद किया था। पेरिस में उन्हीं से शिक्षा प्राप्त करते हुए मैक्समूलर को ऋग्वेद के संस्करण के प्रकाशन की प्रेरणा मिली। इनके विविध कार्यों में दो अमर हैं- (१) सायणभाष्य के साथ सम्पूर्ण ऋग्वेद का छ: खण्डों में सर्वप्रथम प्रकाशन (१८४९-७४ ई०) तथा (२) पचास भागों में पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला (Sacred Books of the East) के अन्तर्गत पूर्व के धर्मों के समस्त मौलिक साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद का सम्पादन-प्रकाशन (१८७९-१९०० ई०)।

मैक्समूलर द्वारा सम्पादित सायण-भाष्य आज भी ग्रन्थ-सम्पादन या पाठ-संशोधन के क्षेत्र

---

1. **Intro. Ṛgveda Trans.**-Sāyaṇa undoubtedly had a knowledge of his text far beyond the pretensions of any European scholar.

२. यूरोप में सर्वप्रथम कोलब्रुक ने १८०५ में On the Vedas के द्वारा वेदों के विषय में प्रामाणिक ज्ञान दिया। ऋग्वेद का प्रथम प्रकाशन (केवल प्रथम अष्टक) फ्रीडरिख रोजन ने १८३८ ई० में लन्दन से किया।

में मान-दण्ड माना जाता है। इस संस्करण की लम्बी भूमिका उनके पाण्डित्य और परिश्रम को प्रकट करती है। सायण के प्रति मैक्समूलर की श्रद्धा इन शब्दों में प्रकट हुई है- सायण के द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-विधि हमें नहीं मिलती तो इस वेद के दुरूह अर्थ की दिशा में हम एक पग भी नहीं दे सकते थे। सायण के भाष्यों को वे 'अन्धे की छड़ी' मानते थे। सायण का समर्थन करने पर भी मैक्समूलर शुद्ध परम्परावादी नहीं हैं क्योंकि भाषाशास्त्र के आधार पर विकसित व्याख्या-विधि के स्वीकरणीय परिणामों का भी वे यथास्थान प्रयोग करते हैं। वेद की व्याख्या के उनके कुछ सिद्धान्त हैं जो निम्नाङ्कित रूप से निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

उनका विचार है कि मानव जाति का वास्तविक इतिहास उसके धार्मिक विकास में निहित है और इस क्षेत्र में भारतीय साहित्य अग्रणी है क्योंकि धर्म का उद्भव तथा विकास भारतीयों के प्राचीन ग्रन्थों से अधिक स्पष्ट कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक धर्म मूलतः प्रकृतिवादी था किन्तु वैदिक ऋषि प्रकृति के बाह्य उपादानों के भीतर दिव्य, असीम एवम् अतिप्राकृत (Supernatural) तत्त्व को स्वीकार करके उसे देवता कहते थे तथा उसकी विशेष संज्ञा (नाम) रखते थे। जैसे-**इन्द्र** (इन्दु=बिन्दु=वर्षा करने वाला), **रुद्र** (गर्जनकारी), **मरुत्** (संघर्षशील), **वरुण** (सबको समेटने वाला) इत्यादि। एकदेववाद तथा बहुदेववाद के बीच उन्होंने एक नया सिद्धान्त **'हिनोथीज्म'** (Henotheism) निकाला जिसके अनुसार किसी भी एक देवता की सर्वोच्चता अनुक्रम से स्वीकृत है। जिस देवता की स्तुति की जा रही है, उसे ही श्रेष्ठ कहा जाता है। यह सिद्धान्त संसार भर में चर्चित हुआ तथा इसका खण्डन भी हुआ।

पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला के कुछ खण्डों में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का अंग्रेजी अनुवाद करके प्रकाशित किया (खण्ड ३२ तथा ४६)। इसमें उन्होंने अपने स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। मैक्समूलर ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी अपनी चिन्तनशक्ति तथा व्यापक अभिरुचि प्रकट की है।[1] ब्लूमफील्ड ने उनके विषय में कहा है कि हिन्दू लोग उन्हें 'मोक्षमूलर' कहते हैं (अर्थात् मुक्ति का प्रधान कारण)। यदि 'मोक्ष' का अर्थ 'विचारशक्ति की स्वाधीनता' हो तो निश्चित रूप से वे मोक्षमूलर (स्वतन्त्र विचारों के जन्मदाता) थे।[2] भारत के प्रति मैक्समूलर की श्रद्धा उनके एक प्रसिद्ध ग्रन्थ **'भारत से हम क्या सीखें'** (India : What it can teach us) में प्रकट हुई है।

(घ) पाश्चात्त्य पद्धति-भाषाशास्त्रीय

वेद की भाषाशास्त्रीय व्याख्या की आधारशिला वस्तुतः सर विलियम जोन्स के द्वारा निर्दिष्ट संस्कृत, ईरानी और यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के संकेत से ही रखी गयी। जोन्स ने 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की तृतीय वार्षिक भाषणमाला के क्रम में २ फरवरी, १७८६ ई० के दिन व्याख्या देते हुए कहा था कि संस्कृत भाषा की संरचना अद्भुत है, ग्रीक से अधिक पूर्ण तथा लातिन से अधिक विपुल है; यह दोनों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से परिष्कृत भी

---

१. मैक्समूलर ने बृहद्देवता, ऋक्प्रातिशाख्य, तुलनात्मक धर्म, संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाषाविज्ञान, व्याकरण, षड्दर्शन, बौद्ध दर्शन, जीवन चरित (रामकृष्ण परमहंस), आत्मकथा इत्यादि विभिन्न विषयों में स्वतन्त्र ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे। कई पुस्तकों का जर्मन अनुवाद भी उन्होंने किया।

2. M. Bloomfield- **Religion of the Veda**, p. 54.

है। जोन्स ने इन सब भाषाओं के साथ गौथिक, केल्टिक और फारसी को भी एक ही भाषा-परिवार से जोड़कर ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की आधार-शिला रखी। तदनुसार १९वीं शताब्दी में विविध यूरोपीय, ईरानी तथा भारतीय भाषाओं के प्राचीन उपलब्ध रूपों की तुलना आरम्भ हुई। इस तुलना के परिणामों के आधार पर वेदों के शब्दों का सम्बन्ध ग्रीक, लातिन, लिथुआनी, अवेस्ता इत्यादि के समान रूप वाले शब्दों से दिखाया जाने लगा। वैदिक मन्त्रों के अर्थबोध में भी यह पद्धति अपनायी गयी। १९ वीं शताब्दी के मध्य के बाद वेदार्थज्ञान में भाषाशास्त्रीय व्याख्या-प्रक्रिया बहुत प्रभावशाली रही है। कतिपय परम्परावादी व्याख्याकार भी इस पद्धति के उपयोग का लोभ संवरण नहीं कर पाते कारण यह है कि इस पद्धति के निष्कर्ष तथ्यों पर आश्रित होने के कारण वैज्ञानिक हैं, मनमाने नहीं हैं। इसी प्रक्रिया को आधार बनाकर कुछ विद्वानों ने वैदिक कोश तथा वेदों के अनुवाद सम्पादित किये हैं। इनमें मुख्य ये हैं-

(१) **रुडाल्फ रॉथ** (१८२१-९५ ई०)- वैदिक भाषाशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रान्तिपूर्ण कार्य करने वाले जर्मन विद्वान् रॉथ (Roth) भी मैक्समूलर के समान यूजीन बर्नूफ (Eugene Burnouf) के शिष्य थे। केवल २५ वर्ष की आयु में 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' (Zur Litteratur and Geschichte des Weda, Stuttgart, 1846) नामक जर्मन ग्रन्थ लिखकर उन्होंने समीक्षात्मक वैदिक अनुशीलन का आरम्भ किया। इसके तीन खण्डों में क्रमशः संहिता, प्रातिशाख्य तथा ऋग्वेद में इतिहास-तत्त्व का विवेचन है। १८५२ ई० में रॉथ ने निरुक्त का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया। रॉथ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है- **संस्कृत महाकोश** (Sanskrit Worterbuch 1852-75) जिसमें वैदिक शब्दों की समीक्षा तो उन्होंने स्वयं की, लौकिक संस्कृत के शब्दों पर टिप्पणियाँ भोतलिंक (Otto Bohtlingk) ने लिखीं। इस महाकोश को सात बड़े-बड़े खण्डों में रूस की 'इम्पीरियल अकादमी ऑफ साइन्सेज' ने पीटर्सबर्ग से प्रकाशित किया था। इसे 'पीटर्सबर्ग कोश' भी कहा जाता है।[1] वैदिक साहित्य की विशाल सामग्री का इसमें आलोडन किया गया है।

रॉथ ने वैदिक अर्थ की खोज में आगमन-विधि तथा ऐतिहासिक विधि का प्रवर्तन किया। उनकी मान्यता थी कि वेदार्थज्ञान के लिए वेद में प्रयुक्त किसी शब्द के विभिन्न स्थलों की छानबीन करने के बाद ही कोई निश्चित अर्थ प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक शब्द का अर्थ उसके विकास-क्रम के आधार पर दिया जा सकता है। उन्होंने ऋग्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के बीच बृहत् काल-व्यवधान मानकर वेद का अर्थ करने में किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की सहायता लेना हास्यास्पद बताया। सायण-जैसे भाष्यकार का तो उन्होंने सर्वथा बहिष्कार ही किया। उनके अनुसार, भाषाशास्त्र की सहायता मिले तो ऋग्वेद की ऋचाएँ अपना अर्थ स्वयं देने में समर्थ हैं। रॉथ ने यह विचार प्रकट किया है कि ''एक प्रशिक्षित यूरोपवासी ऋग्वेद के वास्तविक अर्थ तक पहुँचने में किसी ब्राह्मण भाष्यकार से अधिक समर्थ हैं क्योंकि उसका (यूरोपीय का) निर्णय देवता-विषयक पूर्वाग्रह से मुक्त होगा। उसे इतिहास-बोध है और उसका बौद्धिक क्षितिज बहुत विस्तृत है क्योंकि वह

---

(१) इसका मुनर्मुद्रण मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने कुछ दिन पूर्व किया है। इस कोश का अभी तक किसी अन्य भाषा में अनुवाद नहीं हुआ। मूल रूप से यह संस्कृत-जर्मन कोश है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (नई दिल्ली) से यह अल्पमूल्य में सुलभ है।

वैज्ञानिक वैदुष्य के सभी उपकरणों से विभूषित है।''[1]

इसी दृष्टि से रॉथ ने ऋग्वेद के उन सभी सन्दर्भों की तुलना की है जो भाव और भाषा की दृष्टि से समानान्तर हैं। अर्थ करने में प्रसङ्ग, व्याकरण और निर्वचन पर भी उन्होंने ध्यान दिया। कहीं-कहीं परम्परागत अर्थों पर भी उन्होंने विचार किया है। अवेस्ता तथा यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के अर्थों की सहायता तो उन्होंने बहुत अधिक ली है। यह साधन निश्चित रूप से परम्परागत व्याख्याकारों के पास नहीं था। इस प्रकार रॉथ ने वैदिक शब्दों की बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य में विवेचना करके अर्थानुसन्धान किया है तथा अधिसंख्यक शब्दों को भाषाशास्त्रीय अर्थ से समन्वित किया है। वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में उक्त 'शब्दकोश' का प्रभूत योगदान है।

(२) **ग्रासमान** (१८०९-७७ ई०)- रॉथ के अनुयायी हरमन ग्रासमान ने ऋग्वेद पर दो महत्त्वपूर्ण कार्य करके पर्याप्त ख्याति अर्जित की। प्रथम कार्य है ऋग्वेद का शब्दकोश (Worterbuch Zum Ṛgveda, 2 vols, 1867 and 1877)। इसमें रॉथ के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से केवल ऋग्वेद-संहिता के शब्दों का जर्मन भाषा में अर्थ किया गया है। इसी आधार पर ऋग्वेद का उन्होंने जर्मन भाषा में पद्यानुवाद भी किया जो दो खण्डों में लीपजीग से १८७६ ई० में प्रकाशित हुआ।

(ङ) पाश्चात्त्य पद्धति-समन्वयवादी

रॉथ की भाषाशास्त्रीय पद्धति ने वेदानुशीलन के इतिहास में क्रान्ति तो अवश्य की किन्तु भारतीय अर्थ-परम्परा का सर्वथा तिरस्कार कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से सभी अनुवर्ती व्याख्याकारों ने वेदार्थ-निरूपण का यह सिद्धान्त बनाया कि 'भारतीयों के भाष्य का अन्धानुकरण तो उचित नहीं है, परन्तु यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उनके पास अविच्छिन्न परम्परा का कुछ अंश तो था ही और हम पाश्चात्त्यों की अपेक्षा उनके पास भारतीय वातावरण का परिचय भी निर्विवाद रूप से अधिक था, अत: वे प्राय: ठीक अर्थ करते हैं।[2] विशेष रूप से मैक्समूलर द्वारा सायण-भाष्य (ऋग्वेद) का प्रकाशन होने के बाद तो रॉथ के अनुयायियों में भी भारतीय अर्थ-परम्परा के प्रति आकर्षण होने लगा। फिर भी भाषाशास्त्र के निष्कर्षों को भी सर्वथा त्याग देना सम्भव नहीं था। अत: पाश्चात्त्य जगत् में वेदार्थ-निरूपण की समन्वयवादी पद्धति चली। जिन भारतीयों ने पाश्चात्त्य मत का समर्थन किया था वे भी इसी पद्धति में प्रवृत्त हुए। इस क्षेत्र के कुछ प्रमुख पाश्चात्त्य विद्वान् इस प्रकार हैं-

(१) **लुडविग** (१८३७-१९१२ ई०)- अल्फ्रेड लुडविग चेक-जाति के प्राच्यविद्याविद् थे। उन्होंने छह खण्डों में ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद तथा टीका प्रस्तुत की जो प्राहा (Prague) से क्रमश: १८७६ ई० से १८८८ ई० तक प्रकाशित हुई। प्रथम दो खण्डों में ऋग्वेद का जर्मन गद्यानुवाद है, तृतीय खण्ड में इस अनुवाद की भूमिका है, चतुर्थ-पञ्चम खण्डों में अनुवाद-भाग और मूल ऋचाओं पर टीका है। षष्ठ खण्ड अनुक्रमणिका, विषय-सूची आदि के रूप में है। लुडविग ने ऋत, ब्रह्म, सत्य, माया इत्यादि वैदिक शब्दों पर विस्तृत विचार किया है। इस कृति में पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य मत का समन्वय अत्यधिक विद्वत्तापूर्ण है। १८९३ ई० में उन्होंने वैदिक साहित्य के क्षेत्र में उस समय तक सम्पन्न हुए समस्त कार्यों का आकलन करके एक ग्रन्थ की रचना की।

1. A. A. Macdonell- **A History of Sanskrit Literature**, p. 51.
२. विन्टरनित्स- **भारतीय साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद), भाग-१, खण्ड-१, पृ० ५१।

(२) **ग्रिफिथ-** ये अंग्रेज प्राच्यविद्याविशारद थे जिन्होंने चारों वेदों का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया। यद्यपि अपने को ये रॉथ का अनुयायी और शिष्य मानते थे तथापि सायण-भाष्य का भी अनुसरण अपने अनुवादों में इन्होंने पर्याप्त रूप से किया है। ऋग्वेद का अनुवाद चार खण्डों में १८८९-९२ ई० के बीच प्रकाशित हुआ था इसके अनुवर्ती संस्करणों में यह दो भागों में कर दिया गया है। वेदों के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण का भी पद्यानुवाद इन्होंने किया। बहुत वर्षों तक ये काशी के संस्कृत कालेज में प्राचार्य थे।

(३) **ओल्डनबर्ग** (१८५४-१९२० ई०)- मैक्समूलर के समान ओल्डेनबर्ग ने भी अनेक क्षेत्रों में काम किया है जैसे-बौद्ध साहित्य, वेद तथा सूत्रग्रन्थ। मैक्समूलर द्वारा सम्पादित पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला (Sacred Books of the East) के कई भागों में गृह्यसूत्रों तथा ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों का टिप्पणी-सहित अनुवाद इन्होंने ही किया। पुन: दो खण्डों में **'ऋग्वेद का पाठालोचन तथा टिप्पणी'** नामक ग्रन्थ जर्मन में लिखा जिसमें ऋग्वेद के शब्द, व्याकरण तथा उच्चारण पर विस्तृत आलोचना है (प्रकाशन, १९०९ तथा १९१२)। दो खण्डों में **'वेद का धर्म'** (Religion des Veda) लिखकर इन्होंने दिखाया कि कर्मकाण्ड को जानकर ही वैदिक धर्म का ज्ञान हो सकता है (प्रकाशन-१८९४ ई०)।

ओल्डनबर्ग का विश्वास था कि वैदिक धर्म अनिवार्यतया भारतीय धर्म है; इसका सम्बन्ध ईरानी (पारसी) धर्म से निकट का है किन्तु भारोपीय धार्मिक परम्पराओं से भी दूरवर्ती सम्बन्ध है। इनका ऋग्वेद-विषयक कार्य आज भी महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है।

(४) **गेल्डनर** (१८५२-१९२९ ई०) कार्ल एफ. गेल्डनर का नाम जर्मन भारतीविद्याविदों में ऋग्वेद के अर्थानुशीलन की दृष्टि से अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। रिचर्ड पिशल के साथ मिलकर इन्होंने **'वैदिक अध्ययन'** (Vedische Studien) नामक ग्रन्थ तीन खण्डों में लिखा। इसका प्रकाशन स्तुतगार्त से क्रमश: १८८९,९२ तथा १९०१ ई० में हुआ। इसमें कई अव्याख्यात वैदिक मन्त्रों को स्पष्ट किया गया है। इनका दृढ़ मत है कि ऋग्वेद पूर्णत: भारतीय मेधा की सृष्टि है, जिसे समझने के लिए परवर्ती भारतीय साहित्य का मनन भी आवश्यक है। एक प्रकार से ये **'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'** (महाभारत १/१/२६७) में विश्वास रखते हैं। गेल्डनर ने कहा है कि सायण किसी भी यूरोपीय विद्वान् की अपेक्षा वेदार्थ को अधिक समझते थे। इस प्रकार रॉथ के विचारों के ठीक विपरीत गेल्डनर की धारणा थी।

गेल्डनर ने ऋग्वेद-संहिता का जर्मन अनुवाद किया था जो उनकी मृत्यु के बहुत बाद हार्वर्ड ओरियंटल सीरिज (सं० ३३-३५) में अमेरिका से १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी अनुक्रमणिका १९५७ ई० में एक पृथक् खण्ड के रूप में प्रकाशित हुई।

(५) **मैकडोनल** (१८५४-?)- पाश्चात्त्य समन्वयवादी विद्वानों में आर्थर एन्थोनी मैकडोनल की प्रामाणिकता उत्कृष्ट मानी जाती है। इनके पिता भारत में उच्च सेनाधिकारी थे। मैकडोनल की शिक्षा जर्मनी के गॉटिंजन विश्वविद्यालय में हुई थी। मोनियर विलियम्स, बेन्फी, रॉथ तथा मैक्समूलर से इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। लीपजीग विश्वविद्यालय से कात्यायन कृत **'सर्वानुक्रमणी'** पर शोधकार्य करने से इन्हें पीएच० डी० की उपाधि मिली थी। बाद में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ये संस्कृत के प्रोफेसर बने।

इनका समस्त कार्य वैदिक साहित्य पर ही केन्द्रित है। वैदिक धर्म (१८८०), वैदिक देवशास्त्र (१८९७), उष: सूक्तों का अनुवाद, बृहद्देवता का संस्करण तथा अनुवाद (दो खण्ड), तुलनात्मक धर्म पर व्याख्यान, संस्कृत-अंग्रेजी-कोश, संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९००), वैदिक व्याकरण के छोटे-बड़े दो संस्करण, वेदिक इन्डेक्स (१९१२), वेदिक रीडर (ऋक्सूक्तों की चयनिका) एवं भारत का अतीत (India's Past, Oxford, 1927) इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में इनके ग्रन्थ किसी भी अन्य पाश्चात्त्य विद्वान् के ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रचलित हैं।

(६) रेनु- प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् लुई रेनु (L. Renou) ने वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध में वेद-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की है तथा वेद के अर्थ के विषय में स्वतन्त्र विचार भी दिये हैं। इनके कार्य फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हैं। इनका प्रथम मुख्य कार्य 'वेद-विषयक साहित्य सामग्री' (Bibliographie Vedique) है जो १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें तदवधि प्रकाशित समस्त वैदिक साहित्य, समालोचना आदि की सूची है।[1] वैदिक शब्दों पर विचार (१९३४-३५ तथा १९५८ में दो खण्ड), वैदिक भाषा का व्याकरण (१९५२), वैदिक कर्मकाण्ड (१९५४), सोलह उपनिषदों का विवेचन (१९४३-५६), ऋग्वेद के सोम-सूक्त (१९५३) इत्यादि इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। डॉ० देवराज चानना ने इनके एक ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद (Destiny of the Veda in India, 1965) किया है। रेनु का मत है कि वैदिक धर्म उस युग के कर्मकाण्ड तथा पुराकथा का समन्वय है। इसे ध्यान में रखकर ही वैदिक देवताओं से सम्बद्ध शब्दों का अर्थ-निरूपण करना चाहिए।

वेद से सम्बद्ध प्रमुख ग्रन्थ

वैदिक भाषा, साहित्य तथा वेदों में निहित सांस्कृतिक जीवन का अनुशीलन प्रस्तुत करने वाले शताधिक ग्रन्थ आधुनिक युग में प्रकाशित हुए हैं जिनकी भाषा अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन है। इनमें कुछ पुस्तकों की सूचना विगत पृष्ठों में दी गयी है। भारतीय भाषाओं में भी मराठी, बंगला, हिन्दी आदि में अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हैं। यहाँ कुछ प्रमुख पुस्तकों की सूची दी जाती है। इन पुस्तकों के अन्त में प्राय: वैदिक ग्रन्थों एवं सहायक ग्रन्थों की भी सूची दी गयी है। अत: उपादेयता की दृष्टि से इनका अनुशीलन करना चाहिए।

वैदिक भाषा को समझने के लिए ह्विटने का 'संस्कृत ग्रामर' (हिन्दी अनु. उत्तर प्रदेश ग्रन्थ अकादमी से प्रकाशित), मैकडोनल का 'वेदिक ग्रामर', 'वेदिक ग्रामर फॉर स्टूडेन्ट्स' (हिन्दी अनु. मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित), डॉ० रामगोपाल का 'वैदिक व्याकरण' (दो खण्ड), सिद्धान्तकौमुदी की 'स्वर-वैदिक प्रक्रिया' इत्यादि ग्रन्थ उपादेय हैं। वैदिक शब्दों का अर्थ जानने के लिए रॉथ और भोटलिंक का 'संस्कृत वोर्टरबुख' (जर्मन), मोनियर विलियम्स की 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी', डॉ० सूर्यकान्त का 'वैदिक कोश', दिल्ली से प्रकाशित 'वैदिक कोश' (स्वामी दयानन्द के अनुसार अर्थ) इत्यादि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

वेदों के प्रमुख उद्धरणों का स्रोत जानने के लिए ब्लूमफील्ड का 'वेदिक कंकर्डेन्स', जैकोब

---

१. पुणे के प्रो. रामचन्द्र दाण्डेकर ने इसी आदर्श पर वैदिक सामग्री की सूची Vedic Bibliograph Vol. I के रूप में प्रकाशित की। इसके अनुवर्ती भागों में अन्य विषयों को भी समाविष्ट किया गया है।

का 'उपनिषद्-वाक्यकोष' इत्यादि तथा पदों की स्थिति (स्रोत) जानने के लिए विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित 'वैदिक-पदानुक्रम-कोश' अत्यधिक उपादेय है। वैदिक साहित्य पर किये गये कार्यों की सूचियाँ रेनु के 'बिब्लियोग्राफी वेदिक' तथा दाण्डेकर की 'वेदिक बिब्लियोग्राफी' में प्रस्तुत हैं। विशेष रूप से दूसरे ग्रन्थ के भागों से पर्याप्त सूचना ली जा सकती है।

वैदिक साहित्य के प्राय: सभी ग्रन्थों (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्ग) के मूल का टीका सहित प्रकाशन भारत या यूरोप में हो चुका है। उपर्युक्त 'बिब्लियोग्राफी' से प्रकाशनस्थल आदि विवरण लिये जा सकते हैं। बहुत से ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद हो चुका है; हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में भी कुछ महत्वपूर्ण (विशेषत: पाठ्यक्रम में निर्धारित) ग्रन्थों तथा उनके अंशों की सुन्दर व्याख्याएँ प्रकाशित हैं। आधुनिक विद्वान् मूल ग्रन्थों के सुन्दर संस्करणों के सम्पादन-प्रकाशन में लगे हैं। तिरुपति, पुणे तथा होशियारपुर वैदिक अध्यवसाय के केन्द्र हैं।

वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों पर शताधिक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। भारतीय विद्याभवन (बम्बई) का **'वेदिक एज'**, हिलेब्रांट का **'वेदिशे मीथोलॉजी'**, मैकडोनल का **'वेदिक मिथोलॉजी'** (हिन्दी अनु.-**वैदिक देवशास्त्र** के नाम से प्रकाशित), कीथ का **'रेलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषनद्स'**, रेनु का **'वेदिक इण्डिया'**, रामगोपाल का **'इण्डिया ऑफ वेदिक कल्पसूत्राज'**, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी की **'अथर्ववेदकालीन संस्कृति'**, मैकडोनल तथा कीथ का **'वेदिक इण्डेक्स'** भार्गव का 'इंडिया इन दि वेदिक एज' इत्यादि प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। संहिताओं और ब्राह्मणों की संस्कृति के कुछ विशिष्ट पक्षों पर भी पुस्तकें हैं।

वैदिक साहित्य का इतिहास मैक्समूलर, वेबर, मैकडोनल तथा विन्टरनित्स जैसे यूरोपीय विद्वानों ने लिखा है। इनमें सूचनाएँ हैं किन्तु दृष्टि भौतिकवादी है। हिन्दी में पं. भगवद्दत्त, आचार्य बलदेव उपाध्याय इत्यादि विद्वानों के ग्रन्थ संग्रहणीय हैं। कुछ विद्वानों ने हिन्दी-अंग्रेजी में छात्रोपयोगी इतिहास भी लिखे हैं।

अध्याय-७

आदिकाव्य रामायण

वैदिक साहित्य के अवसान-काल में लौकिक संस्कृत का उपक्रम होने के समय[1] ऐसे दो महान् ग्रन्थों का उदय हुआ जिन्होंने भारतीय साहित्य तथा जन-जीवन को भी अत्यधिक प्रभावित किया। ये दो ग्रन्थ हैं- रामायण तथा महाभारत। इनमें रामायण को 'काव्य' तथा महाभारत को 'इतिहास' कहा गया है। साहित्य की इन दोनों विधाओं का उद्‌भव श्रौत कर्मकाण्ड के काल में ही हुआ था। यज्ञ के कर्मकाण्ड के क्रम में नैतिक प्रवचन की प्राचीन परम्परा रही है। वैदिक युग में सुपर्णाख्यान (नागों और गरुड़ की शत्रुता से सम्बद्ध आख्यान) प्रचलित हुआ था, ऐसी ही अन्य अनेक कथाएँ नीति की शिक्षा के क्रम से सुनायी जाती थीं। इसी प्रसङ्ग में मर्यादापुरुषोत्तम राम और योगिराज कृष्ण की कथाएँ कही जाने लगी थीं जिन्होंने, आनुषङ्गिक कथाओं को जोड़ने से, क्रमशः रामायण और महाभारत का रूप लिया। वाल्मीकि और व्यास ने इन्हें ग्रन्थ का रूप दिया।

रामायण तथा महाभारत के प्रचार-प्रसार में प्राचीन सूतों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। ये सूत ग्रामों और नगरों में आजीविका के लिए इन कथाओं को सुनाते थे। कुछ सूत सुशिक्षित एवं कवि भी होते थे। वे समय तथा आवश्यकता देखकर इन कथाओं में अपनी रचनाओं का मिश्रण करते थे। ये प्रक्षिप्तांश भी मूल आख्यान का अङ्ग बनकर दूसरी पीढ़ी में अन्य सूतों के द्वारा सुनाये जाते थे। मूल ग्रन्थ से सम्बद्ध होकर ये अंश प्रान्तीय भेद के कारण विभिन्न संस्करणों के रूप में विकसित हुए। अतएव रामायण-महाभारत दोनों ग्रन्थों के प्रान्तीय संस्करण मिलते हैं जिनसे मूल रामायण या महाभारत के स्वरूप का अनुमान कठिन कार्य है।

रामायण का परिचय

भारतीय जन-मानस में मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित राम की कथा का सर्वप्रथम विवरण 'रामायण' में ही मिलता है। यह काव्य का आदिरूप है जिसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। वाल्मीकि को भी 'आदिकवि' कहा गया है। रामायण सात काण्डों में विभक्त है- बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड। प्रत्येक काण्ड सर्गों में विभक्त है। सर्गों में रमणीय संस्कृत पद्य हैं जो अनुष्टुप्, उपजाति,

---

१. वैदिक भाषा का विकास ऋग्वेद से आरम्भ करके अन्य वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के रूप में हुआ। उपनिषदों में तो लगभग लौकिक संस्कृत का रूप प्राप्त होता है, ७०० ई० पू० में वैदिक भाषा ने संस्कृत को अपना उत्तराधिकार दे दिया। वैदिक और संस्कृत में सूक्ष्म भेद के लिए देखें- 'ऋक्सूक्तनिकर' (चौखम्बा ओरियन्टालिया) की भूमिका, पृ० ४४-५३। यास्क तथा सूत्र-ग्रन्थकारों की भाषा संस्कृत है। इस भाषा के विविध रूपों को स्थिर बनाने में पाणिनि का प्रभूत योगदान है। संस्कृत साहित्य में वैदिक साहित्य की अपेक्षा विषय-वैविध्य अधिक है, यहाँ केवल धर्म और अध्यात्म तक ही साहित्य केन्द्रित नहीं है। वैदिक साहित्य का आरम्भ जैसे ऋग्वेद के महान् परिवेश में हुआ, उसी प्रकार लौकिक संस्कृत भी रामायण और महाभारत के व्यापक और विशाल साहित्य से आगे बढ़ी।

वंशस्थ आदि सुन्दर गेयात्मक छन्दों में निबद्ध हैं। सर्वाधिक संख्या अनुष्टुप् छन्द की है जिसे 'श्लोक' भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४ सहस्र पद्य या श्लोक हैं। इसीलिए इसे 'चतुर्विंशति-साहस्री संहिता' कहते हैं।[1] रामचरित का वर्णन होने से यह धर्मग्रन्थ और आचरण का मार्गदर्शक ग्रन्थ माना गया है। परवर्ती कवियों, नाटककारों तथा गद्य-लेखकों ने रामायण की कथा का अनुहरण अपने ग्रन्थों में किया है, इसकी शैली का अनुसरण भी किया है। रामकथा का विभिन्न भाषाओं, प्रदेशों तथा विदेशों में भी जो रूपान्तर करके रामायण-ग्रन्थ लिखे गये है, उन सब का उपजीव्य यही है। रामायण की जीवनी शक्ति या स्थिरता का संकेत स्वयं इस ग्रन्थ में ही किया गया है-

> **यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।**
> **तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।** (१/२/३७)

संस्करण (विभिन्न पाठ)- भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रामायण के विविध संस्करण मिलते हैं, किसी संस्करण में सर्गों और श्लोकों की संख्या अधिक है तो किसी में कम। अभी रामायण के चार प्रसिद्ध पाठ-भेद (संस्करण) मिलते हैं-

(१) **बम्बई संस्करण (देवनागरी संस्करण)**- इसका प्रकाशन १९०२ ई० में के. पी. परब के सम्पादन में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से हुआ था। भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय संस्करण यही है; गीताप्रेस, गोरखपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ या वाराणसी से यही संस्करण प्रकाशित है। इस पर 'तिलक' (जिसे नागेश ने अपने आश्रयदाता 'राम' नामक राजा के नाम से लिखकर प्रसिद्ध किया), 'शिरोमणि' एवं 'भूषण' नामक टीकाएँ मिलती हैं।

(२) **बंगाल संस्करण**- इस संस्करण का प्रकाशन इटली के विद्वान् जी. गोरेशियो ने १८४३ ई० से १८६७ ई० तक कई खण्डों में किया था। इटालियन भाषा में इसका अनुवाद भी किया था (१८४७-५८)। इसी का फ्रेंच अनुवाद १८५४-५८ ई० में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी अनुवाद मन्मथनाथ दत्त द्वारा कलकत्ता से १८९२-९४ में एवं अंग्रेजी पद्य में आर. टी. एच्. ग्रिफिथ द्वारा अनुवाद पाँच खण्डों में १८७०-१८७४ ई. में (एक जिल्द में बनारस से १८९५ ई० में) प्रकाशित हुआ था।[2] ग्रिफिथ का अनुवाद बम्बई संस्करण पर आश्रित है।

(३) **पश्चिमोत्तर या काश्मीर संस्करण**- यह संस्करण डी. ए. वी. कालेज, लाहौर के अनुसन्धान-विभाग (रिसर्च डिपार्टमेंट) से १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें कटक की टीका भी दी गयी है।

(४) **दाक्षिणात्य संस्करण**- यह संस्करण कुम्भकोणम् (मद्रास) के मध्य विलास बुक डिपो से १९२९-३० ई० में प्रकाशित हुआ था। बम्बई संस्करण से यह प्रायः मिलता है।

प्रथम तीन संस्करणों में पर्याप्त भेद हैं। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन है कि कौन

---

१. यह मान्यता है कि गायत्री-मन्त्र (२४ अक्षर) के एक-एक वर्ण से रामायण की श्लोकसाहस्री आरम्भ होती है। इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण गायत्री-मन्त्र की पावनता से सम्पन्न है।

२. विन्टरनिट्ज- **प्राचीन भारतीय साहित्य** (हिन्दी अनुवाद), भाग-१, खण्ड-२, पृ० १५३ पाद-टिप्पणी-१।

संस्करण मूल के निकट है। श्लीगल ने बंगाल संस्करण के पक्ष में तो भोटलिंक ने बम्बई-संस्करण के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत किया है।[1] हरिवंश (अध्याय २३६) में जो रामायण-विषयक उल्लेख आये हैं उनमें बंगाल-संस्करण से अधिक सादृश्य मिलता है। आठवीं-नौवीं शताब्दी ई० के ग्रन्थों में उद्धृत 'रामायण' के अंश बम्बई-संस्करण के समीप हैं। क्षेमेन्द्र की 'रामायण-मञ्जरी' से काश्मीर-संस्करण का सामीप्य है तो भोज की 'रामायणचम्पू' बम्बई-संस्करण पर आश्रित है। वस्तुत: रामायण की मौखिक परम्परा से विभिन्न क्षेत्रों में पाठभेद हो गये जो न्यूनतम डेढ़ सहस्र वर्षों से चले आ रहे हैं। किसी संस्कृत लेखक का परिचय अपने क्षेत्र में प्रचलित रामायण से ही होना स्वाभाविक है।

इन पाठभेदों के कारण रामायण के आलोचनात्मक संस्करण की अपेक्षा विद्वानों को बहुत दिनों से थी जिसकी पूर्ति महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा ने की है।

विषयवस्तु (बम्बई संस्करण के अनुसार)

बालकाण्ड (७७ सर्ग) के आरम्भ के चार सर्गों में रामायण की रचना की पूर्वपीठिका दी गयी है कि नारद ने महर्षि वाल्मीकि को रामकथा सुनायी। नारद के लौट जाने पर वाल्मीकि जब वन में विचरण कर रहे थे तो क्रौञ्च-पक्षी के जोड़े से एक निषाद द्वारा मारे जाने पर क्रौञ्ची का विलाप सुनकर महर्षि में करुणा उमड़ आयी तथा उनके मुख से आक्रोश में वह पद्य निकल पड़ा-

> **मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:।**
> **यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम्।।** (१/२/१५)

इस श्लोक के आकस्मिक आगमन पर वाल्मीकि चकित थे कि ब्रह्मा ने आकर उनसे प्रार्थना की कि राम का आख्यान इसी रूप में वर्णित करें-कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्। ब्रह्मा ने उन्हें राम के विषय में सब कुछ जान जाने का वर दिया (सर्वं विदितं ते भविष्यति)। तब वाल्मीकि ने समाधि में स्थित होकर राम और सीता से सम्बद्ध सभी वृत्तान्तों का साक्षात्कार किया (सर्ग-३)। उन्होंने ५०० सर्गों में छह काण्डों के साथ उत्तरकाण्ड को मिलाकर रामचरित की रचना की।[2] बाद में वाल्मीकि ने सीता के पुत्रों-कुश और लव को इसे कण्ठाग्र करा दिया जो इसका गान करने लगे। उनका गान इतना मधुर होता था कि सुनने वाले लोग बीती घटनाओं का प्रत्यक्षवत् अनुभव करने लगते थे। कुश और लव के कथागान से अर्थविकृति होकर 'कुशीलव' शब्द कथागायक के अर्थ में रूढ़ हो गया। अयोध्यानरेश राम ने भी इन भाइयों का गान सभा में सुना। वही रामायण-कथा पञ्चम सर्ग से आरम्भ होती है।

एक-एक विषय का सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में विस्तृत वर्णन करते हुए क्रमश: अयोध्या में दशरथ द्वारा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान, पायस की प्राप्ति, देवताओं की प्रार्थना, रामावतार, राम की बालावस्था, विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण को ले जाने की याचना, दशरथ का कठिनाई से इसे

---

१. डॉ० सूर्यकान्त- **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, पृ० १०१।

२. **रामायण** १/४/२ चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषि:।
तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम्।।

मानना, राम को बला और अतिबला विद्याओं की प्राप्ति, ताटकावध, अस्त्रोपदेश, यज्ञरक्षा, मिथिला-प्रस्थान,[1] कौशिक वंश में विश्वामित्र के जन्म की कथा, सगर और गङ्गा की कथाएँ (सर्ग ३५-४४), अहल्या का उद्धार, जनक की यज्ञशाला में राम-लक्ष्मण तथा विश्वामित्र का पहुँचना, शतानन्द-द्वारा विश्वामित्र का इतिवृत्त-वर्णन (सर्ग ५१-६५), शिवधनुष का वृत्तान्त, रामद्वारा धनुर्भङ्ग, दशरथ का भी मिथिला आना, राम और सीता के विवाह का विस्तृत वर्णन, अयोध्या-प्रस्थान, मार्ग में परशुराम से भेंट, विष्णु के धनुष पर बाण चढ़ाकर राम द्वारा परशुराम का गर्व दूर करना तथा अयोध्या-प्रवेश के वृत्तान्त वर्णित हैं। स्पष्टत: इस काण्ड में कथा को छोड़-छोड़ कर बीच में पुराण-कथाएँ आयी हैं जो दूसरे रूपों में महाभारत एवं पुराणों में भी हैं। विश्वामित्र, वसिष्ठ, वामनावतार (सर्ग २९), कार्तिकेय (३५-३७), सगरोपाख्यान, गंगावतरण, सागर-मन्थन आदि के आख्यानों ने इस काण्ड को पौराणिक रूप दिया है।

अयोध्याकाण्ड (११९ सर्ग) में अयोध्या के राजप्रासाद की घटनाएँ, भरत की अनुपस्थिति में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, मन्थरा के परामर्श से कैकेयी (भरत की माता) द्वारा दशरथ से अपने पुत्र भरत के राज्याभिषेक एवं राम के वनवास का वर माँगना, राम का वन-गमन, दशरथ का राम के वियोग में देहावसान, भरत का लौटने पर राज्य स्वीकार न करके राम को मनाने के लिए चित्रकूट-गमन, राम द्वारा भरत के अनुरोध की अस्वीकृति तथा भरत का राम की पादुकाएँ (राज-चिह्न के रूप में) लेकर अयोध्या लौटना- ये घटनाएँ वर्णित हैं। इस काण्ड में कुछ बड़े ही महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग हैं जैसे-राम का दैव की प्रबलता दिखाना (सर्ग २२) और लक्ष्मण का पुरुषकार को बलवान् बताना (सर्ग २३), कौसल्या का स्वस्ति-वाचन (सर्ग २५) सीता की अनुगमन प्रार्थना (सर्ग २७), वनवास के दु:खों का वर्णन (सर्ग २८), भरत का संताप (सर्ग ७२), भरत का शपथ-ग्रहण (सर्ग ७५), राजा से रहित राज्य की दुर्गति का वसिष्ठ द्वारा वर्णन (सर्ग ६७)[2], राम द्वारा भरत का कुशलप्रश्न पूछने के बहाने राजधर्म का उपदेश (सर्ग १००), भरत को दार्शनिक उपदेश (सर्ग १०५), जाबालि का नास्तिक मत एवं राम द्वारा खण्डन (सर्ग १०८-९) एवम् अनसूया द्वारा पातिव्रत्य धर्म का उपदेश (सर्ग ११७)। इसके अन्तिम सर्ग में राम चित्रकूट छोड़कर दण्डकारण्य में प्रवेश करते हैं।

अरण्यकाण्ड (७५ सर्ग) में राम-लक्ष्मण-सीता का दण्डकारण्य में निवास, ऋषियों की प्रार्थना से विराध आदि राक्षसों का वध, पञ्चवटी में निवास, रावण की बहन शूर्पणखा से भेंट, खर तथा चौदह सहस्र राक्षसों का वध, शूर्पणखा के द्वारा प्रेरित होने पर रावण का छल से सीता को हर लेना, जटायु की रावण द्वारा हत्या, राम का करुण विलाप, राम की कबन्ध से भेंट तथा उसके द्वारा राम को सुग्रीव से मैत्री करने का परामर्श दिया जाना- ये वृत्तान्त वर्णित हैं। इस काण्ड में शस्त्र-धारण की अनिवार्यता पर सीता और राम का संवाद (सर्ग ९-१०), अगस्त्य की महिमा

---

१. इस स्थान पर यात्रा के क्रम में विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को विविध कथाएँ सुनाते हैं।

२. वसिष्ठ ने दशरथ की मृत्यु के बाद तुरन्त राजा के चयन की आवश्यकता दिखाते हुए अराजक जनपद की दुर्गति का निरूपण 'नाराजके जनपदे' से आरम्भ होने वाले २० पद्यों में किया। जैसे- **नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्। मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्।**

(सर्ग ११)[1] हेमन्त ऋतु वर्णन (सर्ग १६), राम का विलाप (सर्ग ६२), राम का क्रोध (सर्ग ६४) आदि उत्कृष्ट एवं मार्मिक स्थल हैं। काण्ड के अन्त में राम पम्पा-सरोवर के दर्शन करते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड (६७ सर्ग) में पम्पा-सरोवर में वसन्त ऋतु की छटा देखकर राम का सीता के वियोग में दु:खी होना, हनुमान् द्वारा राम और सुग्रीव की मैत्री कराना[2], सुग्रीव का राम को आश्वासन, राम द्वारा वालि का वध, वालि द्वारा मरते समय राम की भर्त्सना और क्षमा-याचना, वालि की भार्या तारा का विलाप और राम द्वारा सान्त्वना (सर्ग २४), सुग्रीव तथा अङ्गद का राज्याभिषेक, राम का प्रस्रवण गिरि पर चतुर्मास-यापन, वर्षा का वर्णन (सर्ग २८), शरद्-वर्णन (सर्ग ३०), लक्ष्मण का कोप, सुग्रीव का राम के समीप आकर वानर-सेना को सीता की खोज में लगाना, विभिन्न दिशाओं में वानर-सेनाओं का प्रेषण, दक्षिण दिशा में हनुमान् का जाना, अन्य दिशाओं में भेजे गये वानरों का आगमन, हनुमान् आदि द्वारा सीता का गहन अन्वेषण, संपाति से भेंट, सीता के स्थान की सूचना, सम्पाति की कथा, जाम्बवान् द्वारा हनुमान् का उद्बोधन एवं हनुमान् का सागर-लङ्घन के लिए प्रस्तुत होना- ये वृत्तान्त वर्णित हैं।

सुन्दरकाण्ड (६८ सर्ग) में हनुमान् द्वारा सागर पार करके अनेक विघ्नों को दूर करते हुए लङ्का में प्रवेश पाना, रावण के अन्त:पुर में प्रत्येक स्थल में सीता की खोज, स्त्रियों को देखकर हनुमान् का चिन्तित होना,[3] सीता की मृत्यु की आशंका, अशोक वन में अन्वेषण, सीता-दर्शन, हनुमान् का सीता को अपना परिचय देना, राम की दी हुई अँगूठी (अङ्गुलीयक) देना, सीता को आश्वस्त करना, अशोकवनिका का ध्वंस एवं राक्षसों का वध, हनुमान का बन्दी होकर रावण की सभा में जाना, विभीषण द्वारा दूतवध का निषेध, हनुमान् की पूँछ में आग लगाना, लङ्का-दहन, हनुमान् का प्रत्यावर्तन, वानरों का मधुवन-घर्षण, राम को हनुमान् द्वारा सीता की चूड़ामणि दिया जाना तथा सीता का वृत्तान्त सुनाना-ये वृत्त वर्णित हैं। इस काण्ड को 'सुन्दर' कहे जाने का कारण नायक और नायिका दोनों को संकट के विषम काल में शुभ समाचार प्राप्त होना है। हनुमान् इस काण्ड के नायक हैं जिनका एक नाम 'सुन्दर' भी है। कुछ विद्वानों का मत है कि अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक काव्यात्मक वर्णन होने से इसे 'सुन्दरकाण्ड' कहते हैं।

युद्धकाण्ड (१२८ सर्ग) में राम और रावण के बीच युद्ध का वर्णन है, सभी काण्डों की अपेक्षा यह बृहत्काय है। इसमें रावण को मारकर राम के अयोध्या लौटने एवं राज्य पाकर प्रजा को प्रसन्न करने तक की कथा है। क्रमश: राम द्वारा हनुमान् के कार्य की प्रशंसा, राम का सेना के साथ सागरतट पर पहुँचना, रावण की सभा में मन्त्रणा और विभीषण का परित्याग, राम की

---

१. इस सर्ग में अगस्त्य की कथा में ब्रह्मद्वेषी इल्वल राक्षस का आख्यान है जो ब्राह्मण वेश धरकर संस्कृत बोलता था और ब्राह्मणों को आमन्त्रण का लोभ देकर मार डालता था। इसमें 'संस्कृत भाषा' का उल्लेख है- धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वल: संस्कृतं वदन् (११/५७ पूर्वार्ध)।

२. हनुमान् की भाषा पर राम लक्ष्मण से कहते हैं-नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥ (३/३०)

३. अन्त:पुर में सोयी हुई स्त्रियों को देख हनुमान् को अपने धर्मलोप की चिन्ता हुई थी किन्तु यह कहकर अपने को उन्होंने आश्वस्त कर लिया कि सीता तो स्त्रियों के बीच ही मिलेगी, वहीं खोजी जायेगी। उनका मन इन दृश्यों में अविकृत रहा- मनो हि हेतु: सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥ (११/४३)

शरण में विभीषण का पहुँचना और रावण के वृत्तान्त का निवेदन, नल द्वारा समुद्र पर सेतुबन्ध, सेना का पार होना, रावण का गुप्तचर-प्रयोग और अपनी सेना का व्यूह-करण, अङ्गद का दूत बनकर रावण के पास जाना, युद्ध का आरम्भ, इन्द्रजित् का माया-प्रयोग, विभिन्न राक्षसों का वध, कुम्भकर्ण को जगाना, युद्ध तथा कुम्भकर्ण का वध, नरान्तक आदि राक्षसों का वध, ब्रह्मास्त्र-प्रयोग, मायासीता का वध देखकर राम की मूर्च्छा, प्रबोधन, इन्द्रजित् का होमारम्भ और लक्ष्मण द्वारा उसका वध, अन्य राक्षसों के वध के बाद रावण का युद्ध, शक्ति से लक्ष्मण की मूर्च्छा और संजीवन, राम द्वारा सूर्यपूजा (सर्ग १०५), रावण के अपशकुन तथा वध, विभीषण का अभिषेक, सीता की अग्नि-परीक्षा, ब्रह्मा द्वारा राम की स्तुति (११७), दशरथ और इन्द्र के उपदेश, सीता-सहित राम का अयोध्या लौटना, भरद्वाजाश्रम से हनुमान् को भरत के पास भेजना, राम और भरत का समागम, राम का राज्याभिषेक और प्रजा-पालन- ये वृत्तान्त मुख्यत: वर्णित हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों का कथन है कि रामायण की समाप्ति यहीं हो गयी थी। उत्तर काण्ड प्रक्षिप्त है क्योंकि उसमें रामकथा की स्थिति आख्यानों और कथाओं के बीच अत्यल्प है। इस पर आगे विचार होगा।

उत्तरकाण्ड (१११ सर्ग) में बालकाण्ड के समान अनेक इतिहास-पुराणात्मक आख्यान हैं, राम की कथा का अंश कम ही है। राम के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर अगस्त्य ऋषि रावण के वंश की कथा सुनाते हैं (सर्ग २-३४), पुन: वे हनुमान् की कथा कहते हैं। इन दोनों प्रसङ्गों में प्रक्षिप्त सर्गों के निर्देश मिलते हैं। अड़तीसवें सर्ग से पुन: कथा की मुख्य धारा मिलती है कि जनक, सुग्रीव आदि अयोध्या से अपने-अपने स्थान को लौटते हैं। तब क्रमश: सीता के सम्बन्ध में अपवाद की गुप्तचर द्वारा राम को सूचना (४३), सीता का परित्याग, पुन: राजा नृग-उर्वशी-वसिष्ठ-ययाति के आख्यान (सर्ग ५३-५९ तथा कुछ प्रक्षिप्त सर्ग), लवणासुर से पीड़ित मुनियों की रक्षा के लिए शत्रुघ्न का जाना, उस राक्षस के मारे जाने पर शत्रुघ्न का राज्याभिषेक, लव-कुश का जन्म, रामचरित की रचना और गान, शम्बूक का वध, राजसूय-यज्ञ करने की राम की इच्छा, बीच में वृत्रासुर-इल-पुरूरवा के उपाख्यान, अश्वमेध-यज्ञ का राम द्वारा अनुष्ठान, कुशलव द्वारा रामायण-गान, सीता को शपथ लेने के लिए राम का अनुरोध, शपथ लेकर सीता का पाताल-प्रवेश, ब्रह्मा द्वारा राम को आश्वासन (स्वर्गे ते संगमो भूयो भविष्यति न संशय:)[1], कौसल्या आदि के परलोक-चले जाने पर काल द्वारा राम को ब्रह्मा का संदेश देना, कुश-लव का राज्याभिषेक तथा राम का महाप्रस्थान (विष्णु के तेज से मिल जाना)- इन सब वृत्तान्तों के बाद अन्तिम सर्ग में रामायण का पाठफल कहा गया है।

इस प्रकार वर्तमान रामायण में ६४५ सर्ग हैं, २४ सहस्र से कुछ अधिक पद्य हैं। बालकाण्ड के आरम्भ में ५०० सर्ग होने की बात कही गयी है। काव्य की लोकप्रियता को देखते हुए इसकी आकार-वृद्धि स्वाभाविक है।

प्रक्षिप्त अंश- भारतवर्ष में रामायण के विभिन्न संस्करणों में पाठ-भेद होने पर भी ऐसा माना गया है कि पूरी रामायण एक ही व्यक्ति महर्षि वाल्मीकि द्वारा लिखी गयी थी जो मौखिक परम्परा से प्रचलित होने के कारण पृथक् संस्करणों में मिलती है। कुछ सर्ग या पद्य भले ही प्रक्षिप्त हैं किन्तु ऐसा नहीं माना जाता था कि पूरा-का पूरा काण्ड बाद में जोड़ा गया। यूरोपीय आलोचकों

---

१. रामायण ७/९८/१६ (पूर्वार्ध)।

ने विगत शताब्दी में रामायण का अनुशीलन करके यह निष्कर्ष निकाला कि बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं- शेष पाँच काण्ड मौलिक रामायण हैं, भले ही उनमें भी बहुत सी सामग्री प्रक्षिप्त है। इन आलोचकों में वेबर (Uber Das Rāmāyana 1870) तथा याकोबी (H. Jacobi, Das Rāmāyana, Geschichte und Inhalt, Bonn, 1893) प्रमुख हैं। जर्मन इतिहासकार विन्टरनित्स ने भी इनका समर्थन किया है।[1]

इन विद्वानों की अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ हैं-

(१) मूलकथा का सम्बन्ध बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड से नहीं है। वह अयोध्याकाण्ड से आरम्भ होकर युद्धकाण्ड में समाप्त हो जाती है।

(२) भाषा और शैली की दृष्टि से बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड समान हैं। ये इस दृष्टि से अन्य मध्यकाण्डों की अपेक्षा अवर हैं।

(३) प्रक्षिप्त काण्डों और मूलकाण्डों में कथा का परस्पर विरोध भी है।

(४) मौलिक काण्डों में राम को आदर्श पुरुष कहा गया है जबकि प्रक्षिप्त काण्डों में वे विष्णु के अवतार बताये गये हैं।

(५) प्रक्षिप्त काण्डों में पुनरुक्ति तथा विरोधी घटनाएँ मिलती हैं। बालकाण्ड में लक्ष्मण का विवाह होना कहा गया है, अरण्यकाण्ड में उन्हें अविवाहित कहा गया है (श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ३/१८/३)। युद्धकाण्ड के अन्त में रामराज्याभिषेक के बाद संक्षेप में सुग्रीव, विभीषण आदि के प्रस्थान का वर्णन है। उत्तरकाण्ड में इसे पुनः विस्तार से बताया गया है।

(६) बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में (श्लोक १९ से ९७ तक) नारद ने वाल्मीकि को जो रामकथा सुनायी उसमें मौलिक काण्डों की कथा का ही वर्णन है। महाभारत के 'रामोपाख्यान' तथा अन्य राम-काव्यों में उत्तरकाण्ड की कथा नहीं है। उत्तरकाण्ड में रामकथा से असम्बद्ध आख्यान भी बहुत से हैं जैसे- राक्षसों की उत्पत्ति, हनुमान् का बाल्यकाल, ययाति-नहुष की कथा, वृत्र-वध, उर्वशी-चरित, शम्बूक-वध इत्यादि।

(७) मौलिक काण्डों में भी बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है किन्तु ऐसे अंश अपेक्षाकृत कम हैं।

भारतीय विद्वानों ने मौलिक अंश और प्रक्षिप्त अंश के विषय में पर्याप्त विवेचन करके सारांश प्रकट किया है कि रामायण के सातों काण्ड मौलिक हैं और सभी कथाएँ प्रायः ठीक स्थान पर हैं। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में कुछ सर्ग अवश्य ही प्रक्षिप्त हैं जिन पर टीकाकारों ने टीका नहीं की है।[2]

पाश्चात्य विद्वानों की युक्तियाँ आकर्षक तथा विश्वासोत्पादक हैं किन्तु इस मन्तव्य में बड़ी त्रुटियाँ हैं। रामायण की दीर्घकालीन परम्परा में कुछ सर्ग तथा श्लोक अवश्य ही प्रक्षिप्त हुए हैं या आगे-पीछे हो गये हैं, किन्तु पूरे-पूरे काण्ड को प्रक्षिप्त कहना भ्रान्तिपूर्ण है। भारत के विभिन्न

---

१. विन्टरनित्स- **प्राचीन भारतीय साहित्य** (हिन्दी अनु०), भाग-१, खण्ड-२, पृ० १६७-६९।
२. वी. वरदाचार्य- **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद), पृ० ५६-६२।
डॉ० कपिलदेव द्विवेदी- **संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास**, पृ० १०४-६।

क्षेत्रों में जो रामायण के पृथक्-पृथक् संस्करण मिलते हैं उन सभी में सातों काण्ड मिलते हैं। किसी भी संस्करण में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को छोड़ा नहीं गया है। बालकाण्ड का मूलकथा से साक्षात् सम्बन्ध है। इक्ष्वाकु-वंश का वर्णन, दशरथ की सन्तानहीनता, पुत्रेष्टि-यज्ञ, रामादि भाइयों का जन्म, बाल-चरित, ताड़का-वध, सीता-जन्म, स्वयंवर, रामविवाह आदि प्रसङ्गों का वर्णन अनिवार्य है। अत: समस्त बालकाण्ड को प्रक्षिप्त कहना अनुचित है। बीच-बीच में आख्यानों को अवश्य जोड़ा गया होगा किन्तु वे भी शैली की दृष्टि से मिला दिये गये हैं। इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में भी सीता-निर्वासन, वाल्मीकि के आश्रम में सीता का निवास, कुश और लव का जन्म, अश्वमेध-यज्ञ, अश्व का कुश एवं लव द्वारा पकड़ा जाना, राम का सीता को देखना, सीता का भूमि-प्रवेश, राम का महाप्रस्थान आदि कथानक तो रामकथा के मौलिक अंश ही हैं। बालकाण्ड के समान यहाँ भी अनेक सर्ग आख्यानों के रूप में बड़ी कुशलता से जोड़े गये हैं। पुराणों का इन अंशों पर प्रभाव है जहाँ मूलकथा को छोड़कर लेखक अंवान्तर प्रसङ्गों में प्रवृत्त होता है। पूरे ग्रन्थ में लगभग १५० सर्ग परवर्ती हैं या उन्हें लघुकाय सर्गों में विभाजित किया गया है, जिससे मौलिक पाँच सौ सर्गों को ६४५ सर्गों में ढाला गया है।

भाषा-शैली की दृष्टि से बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को निम्नकोटि का कहना उचित नहीं हैं, इस विषय में किसी आलोचक ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। राम के अवतार को लेकर इन दोनों काण्डों को प्रक्षिप्त कहना भी हास्यास्पद है। वस्तुत: पूरी रामायण में राम को लोकनायक और आदर्श पुरुष ही कहा गया है। अवतारवाद के विकास के अनन्तर रामायण में कुछ अंश जोड़े गये हैं जिनमें राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। रामायण के मौलिक अंश में भी कुछ भाग जोड़े गये हैं। अयोध्याकाण्ड में जाबालि-जैसे नास्तिक मत का निरूपण और खण्डन अवश्य ही प्रक्षिप्त है जो रामायण के काव्यात्मक रूप से मेल नहीं खाता। इसी प्रसङ्ग में राम से कहलाया गया है कि बुद्ध चोर के समान नास्तिक मत के प्रचारक हैं-

> **यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।**
> **तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात्॥**[1]

नास्तिकों का निरसन राम से कराने के लिए ऐसे अंश जोड़े गये।

आलोचकों ने जो पुनरुक्ति और विरोध के स्थलों का निर्देश रामायण में किया है वह उनकी अदूरदर्शिता है। लक्ष्मण को अरण्यकाण्ड में जो 'अकृतदारः' (अविवाहित) कहा गया है, वह राम द्वारा शूर्पणखा की उत्सुकता बढ़ाने के लिए विनोद में कहा गया है।[2] उसका काव्यात्मक महत्त्व है। उत्तरकाण्ड में सुग्रीवादि का विस्तार से प्रस्थान-वर्णन प्रक्षिप्तांश है, युद्धकाण्ड का वर्णन ही इस विषय में पर्याप्त है। महाभारत में रामकथा संक्षिप्त रूप में दी गयी है, अतएव रामराज्याभिषेक के वाद कथा समाप्त कर दी गयी है। सीता-परित्याग का वर्णन तो बौद्ध और जैन कथा-ग्रन्थों में, रघुवंश और उत्तररामचरित जैसे ग्रन्थों में मिलता ही है। मूल रामायण में जो नारद वाल्मीकि को रामकथा सुनाते हैं वहाँ संक्षेप में मूल घटनाओं को निर्दिष्ट करते हैं। बालकाण्ड की घटनाओं

---

१. रामायण २/१०९/३४

२. तुलसीदास ने भी इसका उपयोग करते हुए राम से कहलवाया है- अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।

को न सुनाना यह निष्कर्ष नहीं देता कि वह काण्ड रामायण में था ही नहीं। जन्म और विवाह की कथा के अभाव में राम का पिता की आज्ञा से वन जाना उचित कथानक नहीं लगता।

आनन्दवर्धन ने (८५० ई.) ध्वन्यालोक में स्पष्ट कहा है कि वाल्मीकि ने सीता और राम के आत्यन्तिक वियोग तक का वर्णन करते हुए रामायण में करुण रस की पुष्टि की है- **रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः। निर्व्यूढश्च स सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।**[1] इससे स्पष्ट है कि रामायण में उत्तरकाण्ड वर्तमान था जिसे वाल्मीकि ने स्वयं रचा था।

रामायण में रामकथा से असम्बद्ध कथानक ही कुछ अंशों में प्रक्षिप्त माने जा सकते हैं। उन्हें वाल्मीकि के परवर्ती कथा-गायकों ने मौखिक परम्परा में लोकरञ्जन के लिए जोड़ा था। देवी-देवता, ऋषि-मुनि आदि से सम्बद्ध रोचक प्रसङ्ग जैसे पुराणों में जोड़े गये हैं वैसे ही रामायण में भी ये जुड़े। टीकाकारों ने भी कुछ अंशों की उपेक्षा की है।

युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्ग में रामायण के पठन, श्रवण और लेखन का भी सुन्दर फल सुनाया गया है (ये लिखन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे ६/१२८/१२०)। इस दृष्टि से इसकी प्रतिलिपियाँ होने लगी थीं। इन प्रतिलिपियों में मौलिक तथा प्रक्षिप्त अंशों का विभाजन नहीं हुआ। युद्धकाण्ड के और उत्तरकाण्ड के भी अन्त में रामायण का महत्त्व दो-दो बार सुनाने का कारण यह है कि महर्षि वाल्मीकि ने नारद से सुनी हुई कथा का विस्तार करके युद्धकाण्ड के अन्त में एक प्रकार से राम का चरित पूरा कर दिया था। वहाँ इसका फल परवर्ती भक्तों ने जोड़ा। जब सीता पति द्वारा निर्वासित होकर वाल्मीकि के आश्रम में आयी तो उन्होंने उसके दु:ख से द्रवित होकर कुछ सर्ग लिखे जिनमें राम के उत्तर चरित का वर्णन था। भक्तों ने वहाँ भी फल और माहात्म्य जोड़ दिया। रामायण मूलत: काव्य के रूप में राम तथा सीता के वृत्तान्तों के निरूपण के लिए लिखी गयी थी, इसे धार्मिक रूप तो बाद में दिया गया। उसी समय प्रक्षिप्तांशों का समावेश भी हुआ।

रामायण का काल

रामायण के रचना-काल के निर्धारण में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन्हें समझे बिना इसका निरूपण नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ में काल-विषयक कोई सूचना नहीं मिलती। इतिहास के तथाकथित विद्वानों के द्वारा इसके घटनाक्रम को ऐतिहासिक न माना जाना भी इसमें बहुत बड़ी बाधा है, वे राम को काल्पनिक काव्य-नायक मानते हैं। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर किसी निश्चित काल का पता नहीं लगता-केवल अनुमान होता है। वैदिक काल तथा महाभारत के आधार पर जो इसके विषय में कुछ अनुमान किया जाता है, वह भी आधारों के अनिश्चित काल के कारण सन्दिग्ध ही है।

भारतीय आस्था और परम्परा पुराणों के द्वारा प्रचलित हुई है जिसके अनुसार वाल्मीकि ऋषि राम और सीता के समकालिक थे अर्थात् त्रेतायुग के अन्त में आज से लाखों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे किन्तु आज के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित युग में इसे अन्धविश्वास ही कहा जायेगा। रामायण की मौलिक रचना के अनन्तर कुशीलवों (काव्यगायकों) ने इसमें इतना अंश जोड़ा है

१. ध्वन्यालोक ४/५ के बाद।

कि मौलिक काव्य और वर्तमान काव्य के रचनाकालों में शताब्दियों का अन्तर मानना स्वाभाविक है। यहाँ सम्पूर्ण काव्य के विकसित रूप को ही आधार बनाकर काल-निरूपण प्रासङ्गिक है, शुद्ध प्रक्षिप्त अंशों को ही छोड़ना उचित है।

आधुनिक युग में जर्मन विद्वान् श्लेगल ने इसे ११०० ई० पू० में तथा याकोबी ने ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के बीच रामायण की रचना मानी है। कामिल बुल्के इसे ६०० ई० पू० में स्वीकार करते हैं। मैकडोनल, काशीप्रसाद जायसवाल तथा जयचन्द्र विद्यालंकार ने इसकी मूल रचना ५०० ई० पू० में स्वीकार किया है।[1] विन्टरनित्स इसकी रचना ३०० ई० पू० में मानते हैं। इन विद्वानों की मान्यताओं के कई आधार हैं जैसे- रामायण में बौद्ध प्रभाव का अभाव, वैदिक युग की समाप्ति के बाद इसकी रचना, कोसल की राजधानी का प्रश्न, पाटलिपुत्र के विषय में रामायण का मौनधारण, विशाला और मिथिला का पार्थक्य, यूनानी प्रभाव न होना, रामायण के मौलिक अंश में राम को अवतार न मानना एवं ५०० ई० पू० की संस्कृति से साम्य।[2] इन सभी आधारों का विभाजन निम्नांकित रूप में किया जा सकता है-

(क) **महाभारत से सम्बन्ध**- रामायण के मौलिक रूप का आविर्भाव महाभारत के वर्तमान रूप में आने के पहले हो चुका था। महाभारत में वाल्मीकि को एक आदरणीय ऋषि के रूप में स्मरण किया गया है (महाभारत १/२/१८, २/७/१६, ५/८३/२७ तथा १२/२०७/४)। उनकी रामायण का भी परिचय महाभारतकार को है। रामकथा को महाभारत के वनपर्व में रामोपाख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामोपाख्यान के लेखक की दृष्टि में राम विष्णु के अवतार माने जा चुके थे (महाभारत ३/१४७/३१ तथा २७६/५)। वह लेखक उत्तरकाण्ड से भी परिचित था। महाभारत में द्रौपदी-हरण का प्रसङ्ग सीता-हरण का ही अनुकरण है क्योंकि द्रौपदी-हरण के कारण खिन्न युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए रामोपाख्यान सुनाया गया है।

राम ने जिन-जिन स्थानों का भ्रमण किया था उनमें कुछ को महाभारत में तीर्थ कहकर निर्दिष्ट किया गया है। शृङ्गवेरपुर तथा गोप्रतार ऐसे ही स्थान हैं जिन्हें महाभारत में तीर्थ कहा गया है (महाभारत ३/८५/६५ तथा ३/८४/७०)। रामायण के युद्धकाण्ड (८१/३०) का एक श्लोक द्रोणपर्व में वाल्मीकि के नाम से अविकल रूप से उद्धृत है।[3] इसके अतिरिक्त रामायण के पात्रों से महाभारत का परिचय है जबकि महाभारत के किसी पात्र का रामायण में निर्देश नहीं है। भारतवर्ष की भौगोलिक, नैतिक और सामाजिक परिस्थितियों की दृष्टि से भी रामायण का प्राचीनतरत्व सिद्ध होता है। महाभारत को वर्तमान रूप प्रायः १०० ई० पू० में मिल गया था जैसा कि अधिसंख्यक विद्वानों का मत है। रामायण को वर्तमान रूप इससे बहुत पहले मिल गया होगा।

(ख) **बौद्ध-जैन साहित्य से सम्बन्ध**- रामायण में बुद्ध का नाम नहीं है और न बौद्ध धर्म का कोई प्रभाव ही मिलता है। अयोध्याकाण्ड में जो राम के द्वारा बुद्ध की निन्दा करायी गयी है, वह अंश ही प्रक्षिप्त है। बौद्ध साहित्य पर ही रामायण का प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि

---

१. Macdonell- **A History of Sanskrit Literature**, p. 306-9. Journal of Bihar & Orissa Research Society, Vol. IV, p.262.
भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग-१, पृ० ४३२-३३।
२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी- **संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास**, पृ० १०८।
३. इस श्लोक तथा रामायण-महाभारत के पौर्वापर्य के विवेचन के लिए देखें आगे।

'दशरथजातक' में रामकथा मिलती है और उसमें युद्धकाण्ड से एक श्लोक भी यथावत् उद्धृत है (रामायण ६/१२८/१०४)-

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः।।

इसी प्रकार सामजातक में एक तापस बालक की कथा कही गई है जो दशरथ ने अयोध्याकाण्ड में (सर्ग ६३) सुनायी थी। प्रो. सिलवाँ लेवी नामक फ्रांसीसी विद्वान् का कथन है कि 'सद्धर्मस्मृत्युपस्थान' नामक बौद्ध ग्रन्थ निश्चय ही वाल्मीकि का ऋणी है क्योंकि उसमें किया गया जम्बूद्वीप-वर्णन रामायण के दिग्वर्णन के समीप है। नदियों, सागरों, देशों तथा द्वीप आदि का उल्लेख उस ग्रन्थ में रामायण के ही समान है।[1]

बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने प्रथम शताब्दी ई० में 'बुद्धचरित' महाकाव्य की रचना की थी। उनका आदर्श वाल्मीकि का ही काव्य था, वाल्मीकि के भावों तथा शब्दों का पर्याप्त अनुहरण अश्वघोष ने किया था। दूसरी शताब्दी ई० में बौद्ध लेखक कुमारलात ने 'कल्पना मण्डितिका' नामक गद्यपद्यात्मक कथा-काव्य की रचना की थी। उसमें उल्लेख है कि रामायण का सार्वजनिक पाठ होता था। चीनी स्रोतों से यह पता लगता है कि भारत के बौद्धों के बीच चौथी शताब्दी ई० में रामायण बहुत लोकप्रिय थी।

जैन आचार्य विमलसूरि (प्रथम शताब्दी ई०) ने रामायण का प्रथम रूपान्तर ११८ सर्गों में रचित प्राकृत-काव्य 'पउमचरिउ' (पद्मचरित) में किया था।[2] इससे ज्ञात होता है कि रामायण उस समय इतनी लोकप्रिय थी कि जैनों को उसका रूपान्तर करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

(ग) **भाषाशास्त्रीय आधार**- रामायण की भाषा-शैली के आधार पर याकोबी ने उसे बुद्ध के पूर्व की रचना सिद्ध किया है। इस इतिहास काव्य की भाषा प्रचलित संस्कृत है। बुद्ध ने संस्कृत के स्थान पर प्रचलित भाषा में अपना उपदेश दिया। याकोबी का मत है कि लोकप्रिय इतिहास-काव्यों की रचना किसी अप्रचलित या मृत भाषा में नहीं होती है, अपितु लोकप्रिय भाषा में ही की जा सकती है। इसलिए यह लोकप्रिय काव्य अपने मूल रूप में बुद्ध से पहले ही लिखा गया था जब संस्कृत जीवित तथा बहुप्रचलित भाषा थी।[3] किन्तु इसके विपरीत विन्टरनित्स ने कहा है कि संस्कृत भारत में अन्य प्रचलित लोकभाषाओं के साथ ही जीवित रही है, इसे लोग समझते रहे हैं किन्तु बोल-चाल में इसका व्यवहार नहीं करते। इसलिए याकोबी का तर्क उचित नहीं है।

वाल्मीकीय रामायण की भाषा बहुधा पाणिनि-सम्मत भाषा के नियमों का अतिक्रमण करती है। पाणिनि का व्यक्तित्व संस्कृत भाषा में इतना प्रभावक रहा है कि साहित्यमात्र उनके नियमों

---

१. डॉ० सूर्यकान्त- **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक** इतिहास, पृ० १०५।

२. इस काव्य में रामायण की कथाओं का परिवर्तन करते हुए कई पात्रों की व्याख्या की गई है। वानर अपने शरीर पर वानर का चिह्न रखते थे, बन्दर नहीं थे। रावण के गले में मोतियों की माला में उसके सिर के प्रतिबिम्ब पड़ते थे-वह दशमुख नहीं था इत्यादि।

३. याकोबी- **दास रामायण**, पृ० ११६ तथा आगे। विन्टरनित्स- **प्रा. भा. सा.**, भाग-१, खण्ड-२, पृ० १७९।

पर चलता रहा है। रामायण की रचना अवश्य ही पाणिनि से पूर्व हुई होगी, तभी उनके भाषा-नियमों का अतिक्रमण इसमें व्यापक रूप से मिलता है।[1]

(घ) **अन्तःसाक्ष्य**- रामायण के रचना-काल के निर्णय में इस ग्रन्थ के द्वारा दी गई सूचनाएँ बहुत अधिक महत्त्व रखती हैं। रामायण के मौलिक भाग में कोसल देश की राजधानी का नाम 'अयोध्या' है (अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता १/५/६)। बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में इसी नगरी का नाम 'साकेत' बताया गया है। यूनानी लेखकों तथा वैयाकरण पतञ्जलि ने भी 'साकेत' का ही उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण की रचना उस युग में हुई थी जब अयोध्या का नाम साकेत नहीं पड़ा था। यह बुद्ध के पूर्व की रचना है। रामायण के उत्तरकाण्ड में लव-द्वारा श्रावस्ती में राजधानी बनाये जाने का उल्लेख है (श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह ७/१०८/५)। यह निर्देश सिद्ध करता है कि रामायण-रचना के अन्तिम दिनों में श्रावस्ती का विकास हुआ, मौलिक अंश की रचना के समय यह पुरी नहीं थी।

रामायण के बालकाण्ड के ३५ वें सर्ग में राम को ठीक उसी स्थान पर गङ्गा पार करते हुए दिखाया गया है जहाँ बाद में पाटलिपुत्र की स्थापना हुई। वाल्मीकि राम की यात्रा का सूक्ष्म विवरण देते हुए भी पाटलिपुत्र या पुष्पपुरी के विषय में मौन हैं। इस नगर की स्थापना ५०० ई० पू० में हुई थी। अतः रामायण की रचना इसके पूर्व ही हो गयी थी। रामायण में मिथिला और विशाला को दो पृथक् शासकों के द्वारा शासित नगरियों के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[2] बुद्ध के समय तक दोनों राज्य एकाकार होकर 'वैशाली' का रूप ले चुके थे। यह भी रामायण के बुद्ध-पूर्व होने का प्रमाण है। रामायण के काल में भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनपर सामन्तों का राज्य था। यह राजनीतिक स्थिति बुद्ध-पूर्व भारत का संकेत करती है क्योंकि बुद्ध के काल में षोडश महाजनपदों का विकास हो चुका था जिनका ध्रुवीकरण और अधिक हो रहा था। 'अंगुत्तर-निकाय' में इन गणराज्यों का वर्णन है।

वेबर ने रामायण में दो स्थानों पर 'यवन' शब्द देखकर रामायण को सिकन्दर के आक्रमण (३२६ ई० पू०) के बाद की रचना कहा था किन्तु याकोबी और विन्टरनित्स ने इन स्थलों को प्रक्षिप्त बताकर इस मत का खण्डन किया है। वेबर ने जो दशरथजातक के आधार पर ही रामायण की रचना दिखाने का प्रयास किया था वह भी निराधार कल्पना थी। वस्तुतः दशरथजातक ही रामायण पर आश्रित है।

रामायण में कहीं भी मूर्तिपूजा की चर्चा नहीं है। मूर्तिपूजा का सीधा सम्बन्ध अवतारवाद से है जिसका विकास बुद्ध के बाद ही हुआ था। बुद्ध की प्रतिमाओं के पूजन से भारत में मूर्तिपूजा प्रचलित हुई जिसके कारण फारसी में मूर्ति को 'बुत' कहते हैं (यह 'बुद्ध' शब्द का ही अपभ्रंश है)। पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने महाभाष्य में कहा है कि मौर्य-नरेशों ने राज्य की आय बढ़ाने

---

१. इस विषय पर विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य-Dr. Satya Vrat- **The Ramayana- A Linguistic Study**, p.173-241.

२. **रामायण** १/४५/१२ कतमो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने।

१/६५/३७ एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः।

विशाला के राजा 'सुमति' थे और मिथिला नरेश 'सीरध्वज जनक' थे जो 'विदेह' भी कहे जाते थे।

के लिए मूर्तिपूजा का प्रचार किया था (मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः-महाभाष्य ५/३/९९ पर)। अतएव रामायण बुद्ध-पूर्व की कृति है।

निष्कर्ष यह है कि रामायण की रचना वैदिक साहित्य की समाप्ति अर्थात् ७०० ई० पू० और बौद्ध धर्म के उदय अर्थात् ५०० ई० पू० के बीच ही हुई थी। चौबीस सहस्र श्लोकों की संहिता भी प्रक्षिप्तों के साथ प्रायः द्वितीय शताब्दी ई० पू० में स्थिर हो चुकी थी। वर्तमान साधनों से हम यहीं तक जा सकते हैं।

रामायण का आदिकाव्यत्व

भारतवर्ष की साहित्यिक परम्परा में वाल्मीकि को 'आदिकवि' और रामायण को 'आदिकाव्य' कहा गया है। शोक से प्रेरित होकर वाल्मीकि के मुख से ही संस्कृत की प्रथम कविता निर्गत हुई थी (श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः, रघुवंश १४/७०)। इस विचित्र रचना पर स्वयं वाल्मीकि चकित थे कि ब्रह्मा ने प्रकट होकर उनसे कहा-'**ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि, तद् ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिः आर्षं ते प्रतिभाचक्षुः। आद्यः कविरसि।**'[1] महर्षि वाल्मीकि के समक्ष शब्दब्रह्म का प्रकाश आविर्भूत हो चुका था, मानवों के लिए उन्होंने शब्द-ब्रह्म के विवर्तरूप रामायण-काव्य की रचना की।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि वाल्मीकि के पूर्व की वैदिक रचनाएँ पद्यात्मक और छन्दोमयी होने पर भी स्तुति, धर्म, यज्ञ, पूजा और अध्यात्म के सन्देशों से ही आकण्ठ भरी थीं, जन-भावना और मानव-चेतना से उनका सम्बन्ध नहीं था। वाल्मीकि के मन में क्रान्तिकारी साहित्य की रचना का आन्दोलन चल रहा था कि तमसा-तीर पर 'निषादविद्धाण्डज-दर्शनोत्थः' कवि का शोक श्लोक-छन्द में फूट पड़ा, वही कालान्तर में काव्य की आत्मा के रूप में ग्राह्य हुआ। भले ही इसे भवभूति ने 'शब्दब्रह्म का विवर्त' कहा किन्तु यही कविता जन-भावना की वाहिनी बनकर लोक में नई धारा का प्रवर्तन करने में समर्थ हुई। वाल्मीकि चाहते थे कि ऐसी काव्य-रचना करें जो अमर हो, जन-जीवन से सम्बद्ध हो, चतुर्वर्ग की प्राप्ति में सहायक हो, भाव-भाषा-छन्द शैली अलङ्कार की दृष्टि से नवीन हो, लोक-रञ्जन और परलोक दोनों का साधक हो।[2] वे नायक का अन्वेषण कर रहे थे।[3] नारद से उन्होंने पूछ रखा था कि गुण, बल, चरित्र, धर्मज्ञता, कृतज्ञता, सत्यवाणी, व्रत-पालन, सर्वभूतहित, ज्ञान, सामर्थ्य आदि की दृष्टि से कौन व्यक्ति संसार में श्रेष्ठ है- **महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्।**[4] नायक के रूप में नरश्रेष्ठ राम का चयन होते ही वाल्मीकि की काव्यधारा बह चली। वैदिक गायत्री की पवित्रता प्रदान करने के लिए उनकी कविता एक-एक वर्ण पर एक-एक सहस्र श्लोकों को समर्पित करती हुई 'चतुर्विंशति-साहस्री' संहिता बन गई।

क्षेमेन्द्र ने 'रामायण-मञ्जरी' में वाल्मीकि को प्रथम तथा सर्वोपजीव्य कवि कहते हुए इन पद्यों में आदर प्रदान किया है-

---

१. उत्तररामचरित २/५ के बाद आत्रेयी का कथन।

२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी- **संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास**, पृ० १११

३. **रामायण** १/१/२-४, (४) वहीं १/१/५ (उत्तरार्ध)।

नुमः सर्वोपजीव्यं तं कवीनां चक्रवर्तिनम्।
यस्येन्दुधवलैः श्लोकैर्भूषिता भुवनत्रयी॥
स वः पुनातु वाल्मीकेः सूक्तामृतमहोदधिः।
ओङ्कार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः॥

भोज ने अपनी रामायणचम्पू में वाल्मीकि को मधुर काव्यशैली का प्रवर्तक कहा है-

मधुमय-भणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः।[१]

रामायण का सांस्कृतिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जो भी महत्त्व हो, इसका साहित्यिक मूल्य सर्वोपरि है। यह ग्रन्थ परवर्ती काव्य-रचनाओं का उपजीव्य रहा है। रामायण की कथा और शैली दोनों का ग्रहण परवर्ती रचनाओं में हुआ है। रामायण की कथा की अमरता के विषय में रामायण में ही संकेत किया गया है-

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥ (रामा. १/२/३७)

कथा का अनुहरण दो प्रकार से हुआ है- (१) सम्पूर्ण रामायण को विविध भाषाओं में आवश्यकतानुसार प्रसंगों का विन्यास करके तथा (२) रामायण के मुख्य अंशों को आधार बनाकर काव्य, नाटक या चम्पूकाव्य का रूप दे करके। प्रथम कोटि के ग्रन्थों में संस्कृत में अध्यात्मरामायण, अद्भुत- रामायण, आनन्द-रामायण, भुशुण्डि-रामायण आदि मिलते हैं जिनकी रचनाएँ विभिन्न युगों में हुई है। तमिल में कम्ब रामायण, तेलुगु में रङ्गनाथ रामायण, बंगला में कृत्तिवास रामायण, अवधी (हिन्दी) में रामचरितमानस (तुलसीदास-कृत) आदि विशालकाय ग्रन्थ रामायण की सम्पूर्ण कथा का अनुहरण करके लिखे गये। इनकी संख्या शताधिक है।

रामायण के सभी मुख्य अंशों को आधार बनाकर लिखे गये संस्कृत महाकाव्यों में भट्टिकृत **रावणवध** (भट्टिकाव्य), अभिनन्द का **रामचरित**, क्षेमेन्द्र की **रामायणमञ्जरी**, माधवभट्टकृत **राघवपाण्डवीय**, रघुनाथ कृत **रामायणसार** आदि प्रमुख हैं। कालिदास ने **रघुवंश** के कुछ सर्गों में रामकथा के रसमय प्रसङ्गों को उपन्यस्त किया है (सर्ग ९-१५)। इसी प्रकार कुमारदास ने **जानकीहरण** (२० सर्ग) में सम्पूर्ण रामकथा का संक्षिप्त काव्यरूप प्रस्तुत किया है। कृष्णमाचार्य ने अपने '**इतिहास ग्रन्थ**' (History of Classical Sanskrit Literature) में (पृ. ३०४-५) ऐसे ५४ महाकाव्यों की सूची दी है जो रामकथा पर आश्रित हैं।

इसी प्रकार रामकथा को रूपक का परिधान प्रदान करने वाले कवियों की भी लम्बी परम्परा मिलती है। भास के दो रूपक (प्रतिमा और अभिषेक) तथा भवभूति के दो रूपक (महावीरचरित तथा उत्तररामचरित) रामकथा के ही विभिन्न प्रसङ्गों पर आधृत हैं। धीरनाग की **कुन्दमाला**, राजशेखर-कृत **बालरामायण**, शक्तिभद्र-कृत **आश्चर्यचूड़ामणि**, मुरारि-रचित **अनर्घराघव**, दामोदर मिश्र का **महानाटक** (हनुमन्नाटक), जयदेव का **प्रसन्नराघव**, रामभद्र का **जानकीपरिणय**, महादेव का **अद्भुतदर्पण** इत्यादि नाटक अपनी पृथक् विशिष्टताओं के कारण रामकथाश्रित रूपकों में महत्त्व रखते हैं। रामायण पर गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पू काव्य भी दशाधिक प्राप्त हुए हैं जैसे-

---

१. रामायणचम्पू १/८।

भोजकृत **रामायणचम्पू**, विश्वनाथसिंह कृत 'रामचन्द्रचम्पू', अनन्ताचार्य कृत 'चम्पूराघव', दिवाकरकृत 'अमोघराघव' इत्यादि।[1] ये सभी रामायण की कथा का अनुहरण करते हैं।

रामकथा का **विदेश में प्रचार** भी व्यापक रूप से हुआ है। भारतीय संस्कृति की प्रव्रज्या के साथ रामायण का भी साहचर्य रहा था। सर्वप्रथम बौद्ध लोग रामकथा को तिब्बती रामायण (८ वीं शताब्दी ई.), खोतानी रामायण (नवीं श. ई.) इत्यादि के रूप में ले गये। पूर्व एशिया के राज्यों में रामकथा दो रूपों में गयी- (१) भट्टिकाव्य पर जावा के 'रामायण ककविन' के रूप में (१० वीं शताब्दी ई०) तथा (२) मूल रामकथा के विकृत रूप 'सेरी राम' के रूप में। कम्पूचिया, थाइलैण्ड, म्यानमार (बर्मा) आदि देशों में 'सेरी राम' के ही संस्करण वहाँ की भाषाओं में 'रामकेर्ति' 'रामकियेन' आदि काव्यों के रूप में प्राप्त हैं। रामकथा पर आश्रित रूपकों का अभिनय वहाँ बहुत लोकप्रिय है।[2] वस्तुतः रामकथा का भारत तथा भातरेतर देशों में ऐसा व्यापक प्रचार है कि इसका आकलन स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है।[3]

रामायण का 'आदिकाव्यत्व' इसकी **भाषा और शैली के** संस्कृत जगत् में **व्यापक अनुकरण के कारण** भी है। भोजराज ने इसी दृष्टि से कहा था कि माधुर्यपूर्ण उक्तियों का पथ आदिकवि ने समस्त कवि-समाज को दिखाया (मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः)। संस्कृत-भाषा में वाल्मीकि-द्वारा नयी अभिव्यक्ति-शैली का प्रवर्तन हुई। प्राचीन शैली स्वभावोक्ति की थी जिसमें विषय-विन्यास यथार्थ-रूप से किया जाता था। नवीन शैली में वक्रोक्ति थी जो जन-सामान्य का हृदयावर्जन कर सकती थी। जन-भाषा को काव्य-भाषा में रूपान्तरित किया गया। इस भाषा-शैली में तथ्यों का स्वाभाविक वर्णन होते हुए भी कल्पना-तत्त्व, सौन्दर्य, कला आदि के प्रकाशन का अवकाश था। किसी वस्तु के वर्णन को वाल्मीकि ने वह रूप दिया जो वैदिक भाषा में नहीं मिलता। उदाहरणार्थ वाल्मीकि के इस वर्षा-वर्णन को लें जिसमें भाव और भाषा दोनों का सौन्दर्य हैं -

> **क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।**
> **क्वचित्क्वचित्पर्वतसन्निरुद्धं रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥**[4]

यदि इसकी तुलना ऋग्वेद के पर्जन्य-सूक्त से करें तो स्पष्ट होगा कि मेघगर्जन के वर्णन के बाद भी वैदिक वर्णन वह प्रभाव और चमत्कार उत्पन्न नहीं कर पाता, जो वाल्मीकि का यह साधारण पद्य कर देता है। ऋग्वेद में उषा के सौन्दर्य का चित्रण करने वाली अनेक ऋचाएँ हैं। कहीं उषा को सूर्य की भार्या के रूप में, कहीं प्रेमिका के रूप में, तो कहीं रूपवती नर्तकी बनाकर चित्रित

---

१. कृष्णमाचार्य ने अपने इतिहास में (पृ० ५१७-१८) चम्पूकाव्यों की तथा रूपकों की (पृ० ६९४-५) लम्बी सूचियाँ दी हैं। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने **'जानकीजीवनम्'** नामक महाकाव्य (१९८९) लिखा, जिसे साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया। डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने थाईदेश की रामकथा पर आश्रित संस्कृत महाकाव्य लिखा है- **श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्** (१९९०)।

२. **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग-१ पृ० ७०१

३. देखे-डॉ० कामिल बुल्के-**रामकथा उत्पत्ति और विकास**।

४. **वाल्मीकीय रामायण** ४/२८/१७.

किया गया है किन्तु संस्कृत कवियों का प्रभात-वर्णन जब भाव-सौन्दर्य के साथ नाद-सौन्दर्य को भी अभिव्यञ्जित करता है तब चमत्कार की वृद्धि होती है। यह वाल्मीकि के द्वारा प्रवर्तित मार्ग का वैशिष्ट्य है। रामायण से वह शैली चली जो सरल, प्राञ्जल, परिष्कृत और सुगम थी। उच्चारण करते ही इसके पद्य श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते हैं।[1] वाल्मीकि का यह काव्य-मार्ग संस्कृत महाकवियों और नाट्यकारों के द्वारा स्वीकृत, सत्कृत और अनुकृत हुआ। बौद्ध महाकवि अश्वघोष तक ने इससे बहुत प्रेरणा ली और अपने दोनों महाकाव्यों में रामायण की शैली का ही अनुकरण नहीं किया अपितु रामायण के रम्य वर्णनों का भी उपयोग किया।

इस प्रकार रामायण के आदिकाव्यत्व के अनेक आयाम हैं। रामकथा का प्रवर्तन, काव्य में नायक की व्यवस्था, भावपूर्ण वर्णन, कथानक की आवश्यकता के अनुसार वर्णनों का विस्तार, अलङ्कारों का औचित्यपूर्ण निवेश, भाषा में नादगत सौन्दर्य का निवेश- यह सब कुछ वाल्मीकि ने आरम्भ किया और परवर्ती कवियों ने अपनाया।

सांस्कृतिक महत्त्व

रामायण एक अत्यन्त लोकप्रिय महाकाव्य है। भारतीय राष्ट्र की विचार-धारा तथा साहित्य को सहस्रों वर्षों तक, अन्य किसी भी ग्रन्थ की अपेक्षा, इसने अधिक प्रभावित किया है। यह काव्य और आचारशास्त्र का संयुक्त रूप है क्योंकि मानव जीवन का आदर्श इसमें प्रस्तुत किया गया है। रामायण के पात्रों तथा मनोरम शिक्षाप्रद कथाओं से प्रत्येक भारतीय का परिचय है। साधारण वार्तालाप में इसके पात्रों का दृष्टान्त दिया जाता है जैसे- राम का आदर्शभूत मानव रूप, लक्ष्मण तथा भरत की भ्रातृभक्ति, सीता का पातिव्रत्य, विभीषण की न्यायप्रियता, रावण की हठधर्मिता, कुम्भकर्ण की निद्रा इत्यादि। काव्यशास्त्रियों ने काव्योपदेश के रूप में निरन्तर यही कहा है- 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत।' रामायण काव्य होने के कारण कान्तासम्मित उपदेश से युक्त है।

रामायण में पितृभक्ति, पुत्रप्रेम, स्वामिभक्ति, प्रजावत्सलता, भ्रातृस्नेह, इत्यादि मानवीय गुणों का एवं सत्य, धर्म, सदाचार, कर्तव्यनिष्ठा आदि सामान्य गुणों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। अन्याय पर न्याय की अन्ततः विजय का निरूपण करना रामायण का प्रमुख तथा आशावादी पक्ष है। आदर्श मानव के रूप में सभी गुणों से विभूषित नायक राम का चित्रण करके वाल्मीकि ने काव्य में नायक की व्यवस्था का प्रवर्तन किया है (रामायण १/१/२-४ तथा ८-१९)। राम के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और चारित्रिक गुणों का वाल्मीकि ने सूत्ररूप में चित्रण करके पुनः उनका विस्तृत प्रदर्शन किया है[2]। इन गुणों के कारण ही भारत में तथा विदेशों में भी रामकथा का व्यापक प्रचार हुआ। इस दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण भारत के समस्त साहित्य में श्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ है।

---

१. डॉ० वी. वरदाचारी- **A History of Sanskrit Literature** (1960), p. 43.

२. राम की महत्ता दिखाते हुए वाल्मीकि ने कहा है-

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥ (रा. २/१७/१४)

वाल्मीकि ने रामायण में मानव-हृदय के सभी पक्षों का वर्णन किया है। पात्रों को उन्होंने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में प्रस्तुत किया है जिससे आज भी भारतीय संस्कार से युक्त व्यक्ति को जीवन के सभी स्तरों में दिशा-निर्देश रामायण से प्राप्त होता है। राजा के कर्तव्यों का वाल्मीकि ने व्यापक वर्णन किया है। राजा के न रहने पर प्रजा में सर्वत्र असुरक्षा तथा भय व्याप्त हो जाता है-

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः॥ (२/६७/१८)

अर्थात् राजा से रहित देश में धनी लोग सुरक्षित नहीं रहते, कृषि और गोपालन से जीविका चलाने वाले गृहस्थ भी द्वार खोल कर नहीं सो सकते। इसलिए प्रजा में शान्ति और व्यवस्था राजा का परम कर्तव्य है। रामायण की सूक्तियाँ सार्वकालिक महत्त्व रखती हैं, जैसे-**उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु; भयं भीताद् हि जायते; ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्** इत्यादि।

धार्मिक दृष्टि से रामायण को महाभारत की अपेक्षा अधिक प्रशस्त माना गया है। गायत्री-मन्त्र के २४ अक्षरों का संघटन इसके चौबीस सहस्र श्लोकों में किया गया है। स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में पाँच अध्यायों में रामायण का धार्मिक महत्त्व निरूपित किया गया है। कहा गया है-

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम्।
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम्।
(रामायणमाहात्म्य ५/६३)

रामायण-ग्रन्थ का पारायण किया जाता है, इसके लिए धार्मिक विधान हैं। रामायण की पुस्तक ऊँचे स्थान पर रखी जाती है, इसे भूमि पर रखना अशुभ मानते हैं। रामायण में उत्कृष्ट समाज और संस्कृति के चित्र भी प्राप्त होते हैं[1]।

साहित्यिक महत्त्व

रामायण संस्कृत साहित्य में आदिकाव्य के रूप में विख्यात है क्योंकि परवर्ती साहित्य को इसके द्वारा भाव, भाषा और शैली का निर्देश मिला है। माधुर्यमयी उक्तियों का आरम्भ रामायण से ही संस्कृत साहित्य में हुआ है। रामायण की भाषा सुन्दर, ललित, प्राञ्जल, प्रवाहपूर्ण तथा परिष्कारयुक्त है। भाव के अनुरूप भाषा में आरोह-अवरोह का विन्यास वाल्मीकि ने ही आरम्भ किया है। जहाँ किसी घटना का विवरण देना होता है, वहाँ वाल्मीकि पौराणिक सरलता दिखाते हैं। जैसे-

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम्।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः॥[2]

---

१. देखें- डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास की पुस्तकें-**रामायणकालीन समाज, रामायणकालीन संस्कृति** (दिल्ली)।

२. भरत का दुःस्वप्नदर्शन, **रामायण** २/६९/१

उपदेश आदि देने में भी ऐसी ही सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। जैसे-

मरणान्तानि वैराणि निर्वृतं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥[1]

लम्बे वर्णनों में वाल्मीकि अपनी भाषा को ईषत् अलङ्कृत करके शैली-सौन्दर्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। सामान्य रूप से प्रयुक्त अनुष्टुप् छन्द भी त्याग दिया जाता है तथा अन्य छन्दों का साहित्यिक मूल्य मानकर उनका प्रयोग आरम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ सुन्दरकाण्ड में हनुमान् लङ्का में जब चन्द्रोदय का अवलोकन करते हैं तब कवि का प्रकृति-प्रेम अलङ्कारों के आकर्षण में पड़कर प्रवाहित हो उठता है-

हंसो यथा राजत-पञ्जरस्थः सिंहो यथा मन्दर-कन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥
स्थितः ककुद्मानिव तीक्ष्णशृङ्गो विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः।
हस्तीव जाम्बूनदबद्धशृङ्गो विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः॥
विनष्ट-शीताम्बु-तुषारपङ्को महाग्रह-ग्राह-विनष्ट-पङ्कः।
प्रकाशलक्ष्म्याश्रय-निर्मलाङ्को रराज चन्द्रो भगवाञ्शशाङ्कः॥
शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः॥[2]

यहाँ वाल्मीकि ने उपमा के साथ अन्त्यानुप्रास का सुन्दर समन्वय किया है। एक ही उपमेय चन्द्र को उपमानों की माला पहना दी गयी है जिससे 'मालोपमा' अलङ्कार की हृदयावर्जक छटा छा गयी है।

वाल्मीकि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि प्रमुख अलङ्कारों का तो प्रयोग किया ही है, यथासंख्य-जैसे अल्प-प्रचलित अलङ्कार का भी सुन्दर निवेश किया है। किष्किन्धाकाण्ड में वर्षावर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है-

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः॥[3]

वाल्मीकि के वर्णनों में प्रकृति का विशुद्ध (अलङ्कार-रहित) चित्रण भी रमणीय है जिसमें पदशय्या तथा लालित्य-निवेश का सौन्दर्य काव्य की नई ऊँचाइयों का स्पर्श करता है। वर्षा-वर्णन का ही यह प्रसङ्ग लें जो दक्षिण भारतीय नदियों के ताम्रवर्ण जल का दृश्य प्रस्तुत करता है-

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥[4]

आदिकवि ने नगर, ग्राम, आश्रम, उपवन, पर्वत, नदी, पम्पा-सरोवर, सेना, युद्ध, ऋतु,

---

१. राम द्वारा रावण की मृत्यु के बाद विभीषण को उपदेश, रामायण ६/१११/१००.

२. रामायण ५/५/४-७।

३. रामायण ४/२८/२७।

४. रामायण ४/२८/१८।

चन्द्रोदय आदि के अत्यधिक सरस, रोचक और सजीव वर्णन किये हैं जो परवर्ती महाकाव्यों के लिए दिशा-निर्देशक बने। उनके पात्रों के लम्बे संवाद भी रोचक हैं। पात्रों के चिन्तन तथा विषय-विवेचन रामायण के विराट् परिदृश्य के अनुकूल हैं। हनुमान् का सुन्दरकाण्ड के आरम्भ में, सीता के अन्वेषण के क्रम में लङ्का के वैभव और विलास को देखना तथा नारी-दर्शन से उत्पन्न चिन्तन अपने आप में महाकाव्य हैं।[1] वस्तुतः वर्णनों की विपुलता, चिन्तनों की उदात्तता, पात्रों की विशिष्टता और विषय-वस्तु की रमणीयता से रामायण के अन्तर्गत कई महाकाव्य सज्जित हैं। यह महाकाव्यों का विपुल कोश है।

वाल्मीकि ने विपुल परिमाण में यद्यपि अनुष्टुप् छन्द (८ X ४=३२ अक्षर) का प्रयोग किया है किन्तु कहीं-कहीं सर्गों में उपजाति, वंशस्थ जैसे ललित और गेयात्मक छन्दों का भी व्यापक निवेश किया है। पाश्चात्त्य विद्वानों की धारणा है कि मूल रूप से रामायण में अनुष्टुप् छन्द ही था जिसे 'श्लोक' कहते थे। किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। संस्कृत में लक्षणा से सभी पद्यबद्ध रचना को श्लोक कहा जाता रहा है।

रस-योजना (मुख्य रस)

रामायण काव्य के रूप में है जिसका प्राण रस होता है (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)। आदिकवि भी रसवादी हैं जिन्होंने मानव-जीवन की विविध स्थितियों में विभिन्न रसों की उद्भावना अपने काव्य में की है। करुण, शृङ्गार तथा वीर रस विशेष रूप से यहाँ प्रयुक्त हैं। इनमें करुण रस प्रधान (अङ्गी) है, शेष सभी रस अङ्ग के रूप में प्रयुक्त हैं। आनन्दवर्धन ने किसी काव्यकृति में विभिन्न रसों की यथावसर योजना करने पर भी एक रस के प्रति विशेष सावधान रहने का उपदेश दिया है, वही प्रधान रस होता है-

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥[2]

वह प्रधान रस ही कवि के प्रयोजन-विशेष की सिद्धि और सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करता है। इसी दृष्टि से रामायण में करुण रस को और महाभारत में शान्त रस को प्रधान बनाया गया है जिससे इनके कवियों की अभीष्ट-सिद्धि होती है।

आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की प्रेरणा करुण रस के प्रसङ्ग से ही प्राप्त की थी क्योंकि क्रौञ्च-पक्षी के युगल में एक के मारे जाने से कवि का हृदय शोकाकुल हो उठा था, वही शोक श्लोक बन कर निर्गत हुआ था (**सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः**)[3] और उनकी बुद्धि में यह प्रेरणा हुई कि ऐसे ही वाक्यों या श्लोकों से मैं पूरी रामायण की रचना करूँ-

कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम्।[4]

---

१. रामायण ५/४-१३।
२. ध्वन्यालोक ४/५
३. रामायण १/२/४१
४. वही, १/२/४१ की अन्तिम पंक्ति।

उन्होंने अपनी शोकमयी प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए रामायण की समाप्ति सीता के आत्यन्तिक वियोग तक की कथा का समावेश करते हुए की है (निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त-वियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता)[1] राम और सीता के जीवन में प्रधान रूप से शोक ही छाया हुआ है, सुख के दिनों में भी सीता को अपने प्रियतम का शाश्वत वियोग सहना पड़ता है- यह बात वाल्मीकि के हृदय को द्रवित कर रही थी, रामायण में उन्होंने यही अङ्कित कर दी। राम को सीता का वियोग दो बार सहना पड़ा-रावण द्वारा हरण किये जाने पर और प्रजा की बात में आकर स्वयं निर्वासित कर देने पर। प्रथम स्थिति में भी राम का वियोग विप्रलम्भ शृङ्गार न होकर करुण का ही रूप लेता है जिसे आदिकवि ने अरण्यकाण्ड के सर्ग ६२-६३ में उद्‌भावित किया है। राम अपने दुर्भाग्य पर क्रन्दन करते हैं-

> न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम्।
> शोकानुशोको हि परम्पराया मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च॥
> राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननीवियोगः।
> सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि॥[2]

दूसरी स्थिति में राम, सीता और लक्ष्मण तीनों के शोक की उद्‌भावना की गयी है। (रामायण ७/४५-५०)। निरपराध सीता के निर्वासन से करुणा का सागर उमड़ पड़ा है। सीता लक्ष्मण से कहती है-

> मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण।
> धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते॥
> किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः।
> याहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती॥[3]

अतएव रामायण को करुण-रस-प्रधान बनाने का प्रयास आदिकवि ने किया है।

शृङ्गाररस के संयोग-पक्ष के प्रति वाल्मीकि की प्रवृत्ति इसी कारुण्य-प्राधान्य के कारण विशेष रूप से प्रकट नहीं होती। रावण द्वारा सीता से प्रणय-याचना के प्रसङ्ग में (५/२०) शृङ्गाररसाभास का दृश्य अवश्य मिलता है। प्रस्रवण-गिरि पर राम के निवास में वियोग शृङ्गार की उद्‌भावना प्राप्त होती है (४/२७) किन्तु इसमें भी शोक ही रति-भाव पर प्रबल हो जाता है। राम कहते हैं-

> कुटजान्पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु।
> मम शोकाभिभूतस्य कामसन्दीपनान् स्थितान्॥[4]

वाल्मीकि संयोग शृङ्गार के उपमानों का ही प्रयोग करके कृतार्थता का अनुभव करते हैं-

---

१. ध्वन्यालोक ४/५ के बाद वृत्ति-रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। इसी का अगला अंश-निर्व्यूढश्च......।

२. रामायण ३/६३/३ तथा ५।

३. रामायण ७/४८/३-४।

४. रामायण ४/२८/१४।

सुरतामर्दविच्छिन्ना: स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिका:।
पतन्ति चातुला दिक्षु तोयधारा: समन्तत:॥[1]

वीर रस का वाल्मीकि ने व्यापक प्रयोग किया है जो राम के साथ राक्षसों के विविध युद्धों में भावित हुआ है। राम को युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर और दयावीर–चारों रूपों में प्रकट किया गया है। उन्हें 'सर्वभूतहिते रत:', 'विग्रहवान् धर्म:', 'सत्यपराक्रम:' इत्यादि कहा गया है (रामायण ३/३७/९,१३)। राम और रावण के युद्ध के सातत्य का निरूपण करते हुए कवि ने कहा है–

नैव रात्रिं न दिवसं न मुहूर्तं न च क्षणम्।
रामरावणयोर्युद्धं विराममुपगच्छति॥[2]

इन सभी रसों के ऊपर करुण-रस की प्रतिष्ठा है। अन्य सभी वर्णनों से बढ़कर आदिकवि ने विलाप-प्रसङ्गों को रखा है; वह दशरथ के अन्त:पुर का विलाप हो, तारा का विलाप हो या रावण के अन्त:पुर का विलाप हो। इसीलिए भवभूति ने 'एको रस: करुण एव' का उद्घोष रामायण के प्रसङ्गों को ध्यान में रखकर किया है। आदिकवि की करुण-प्रेरणा का ही प्रतिफल तो सम्पूर्ण रामायण है।

अन्य रामायण-ग्रन्थ

वाल्मीकीय रामायण की रचना से रामकथा का प्रचार-प्रसार हुआ। इस कथा का दूसरे रूपों में भी परिवर्तन किया गया। किसी ने वेदान्त से तो किसी ने अध्यात्मवाद के विभिन्न पक्षों से राम को जोड़कर छोटे-बड़े अनेक रामायण-ग्रन्थ लिखे और उन्हें प्राचीन ऋषियों से सम्बद्ध कर दिया। यहाँ ऐसे कुछ ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है–

(क) **योगवासिष्ठ** (वासिष्ठ रामायण)– इसमें वसिष्ठ ऋषि के द्वारा राम को दिये गये आध्यात्मिक उपदेशों का संग्रह है। उपदेश सरल काव्यात्मक शैली में हैं। आख्यानों के द्वारा दर्शन के गूढ़ रहस्यों का अनावरण किया गया है। इसे छह प्रकरणों में विभक्त किया गया है, ये प्रकरण पुन: रामायण के समान सर्गों में विभक्त हैं। ये प्रकरण हैं– वैराग्य (३३ सर्ग), मुमुक्षु-व्यवहार (२० सर्ग), उत्पत्ति (१२२ सर्ग), स्थिति (६२ सर्ग), उपशम (९३ सर्ग) तथा निर्वाण (इसके पूर्वार्ध में १२८ और उत्तरार्ध में २१६ सर्ग हैं)। श्लोकों की संख्या २७६८७ है। रामायण से प्राय: चार सहस्र अधिक श्लोक होने के कारण इसे 'महारामायण' भी कहते हैं। इसमें राम का जीवन-चरित नहीं है, अपितु अद्वैत वेदान्त का निरूपण है। राम के श्रोता होने से यह रामायण-मूलक है। इसकी रचना नवीं शताब्दी ई० से बहुत पहले हो गयी थी क्योंकि इस शताब्दी में कश्मीर के कवि अभिनन्द ने इसका संक्षिप्त संस्करण प्राय: पाँच सहस्र श्लोकों में किया था। डॉ० भीखनलाल आत्रेय ने योगवासिष्ठ का समय सातवीं शताब्दी ई० माना है।

(ख) **अध्यात्म-रामायण**– इसमें रामायण की कथा को आध्यात्मिक रूप देकर प्रस्तुत किया गया है। यहाँ राम को ब्रह्म के रूप में माना गया है। रामायण के समान इसमें सात काण्ड हैं जिन्हें अध्यायों में विभक्त किया गया है। पूरे ग्रन्थ में प्राय: ४००० श्लोक हैं। पूरी कथा शिव-

---

१. रामायण ४/२८/५१। २. रामायण ६/१०७/६६। इसी सर्ग का ५२ वाँ श्लोक है–गगनं गगनाकारं सागर: सागरोपम:। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिवङ्क इसमें अनन्वयालंकार है।

पार्वती के संवाद के रूप में वर्णित है। इस रामायण को ब्रह्माण्ड-पुराण के उत्तरखण्ड का एक भाग माना गया है, तदनुसार इसके लेखक व्यास हैं। किन्तु यह ब्रह्माण्ड पुराण की वर्तमान प्रतियों में नहीं मिलता। अद्वैत वेदान्त के साथ रामभक्ति को सम्बद्ध करके इसमें इन्हें ही मोक्षमार्ग निर्दिष्ट किया गया है। अपने बाह्य रूप में महाकाव्य का, विषयवस्तु की दृष्टि से भक्ति-ग्रन्थ का और उमामहेश्वर-संवाद के कारण तन्त्र का रूप इसे प्राप्त होता है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर तथा एकनाथ के 'मराठी रामायण' पर इसका बहुत प्रभाव है। इसकी रचना रामानन्द-सम्प्रदाय के किसी विद्वान् सन्त के द्वारा १३-१४वीं शताब्दी ई० में हुई थी।

(ग) **अद्‌भुत रामायण**- यह राम की कथा के कतिपय अद्‌भुत प्रसंगों का वर्णन करने वाला ग्रन्थ २७ सर्गों में निबद्ध है। इसमें सीता के जन्म की अद्‌भुत कथा का वर्णन है कि नारद के शाप से लक्ष्मी ही सीता बनकर मन्दोदरी की पुत्री के रूप में प्रकट हुई थीं। राज्याभिषेक के बाद सहस्र सिरों वाले रावण का वध भी सीता ने काली का रूप धारण करके किया था। बृहत्तर भारत में प्रचलित रामकथा पर इसका प्रभाव बहुत अधिक है। इसकी रचना का काल अनिश्चित है किन्तु इसके लेखक वाल्मीकि माने गये हैं।

(घ) **आनन्द रामायण**- इसमें अध्यात्म-रामायण के उद्‌धरण मिलते हैं। अतएव इसकी रचना १५वीं शताब्दी ई० में मानी जाती है। इसमें वाल्मीकिरामायण के आधे प्राय: सवा बारह सहस्र श्लोक हैं। शिव-पार्वती के संवाद से रामायण-कथा प्रस्तुत की गयी है। इसमें सर्वथा नये नामवाले नौ काण्ड हैं- (१) सारकाण्ड (१३ सर्ग), (२) यात्राकाण्ड (९ सर्ग), (३) यागकाण्ड (९ सर्ग), (४) विलासकाण्ड (९ सर्ग), (५) जन्मकाण्ड (९ सर्ग), (६) विवाहकाण्ड (९ सर्ग), (७) राज्यकाण्ड (२४ सर्ग), (८) मनोहरकाण्ड (१८ सर्ग)- उपासना से सम्बद्ध, (९) पूर्णकाण्ड (९ सर्ग)। इसमें राम को ब्रह्म का स्वरूप मानते हुए उनकी उपासना के महत्त्व एवं विधि पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। राम के विषय में यहाँ विपुल सामग्री मिलती है।

रामायण की टीकाएँ

वाल्मीकीय रामायण वैष्णव सम्प्रदायों का उपास्य ग्रन्थ है, इसलिए मध्य युग में इसकी व्याख्या करना, प्रतिलिपि करना एवं पुस्तक की पूजा करना धार्मिक कृत्य का रूप ले चुका था। डॉ० आफ्रेक्ट की बृहत्सूची (कैटेलोगस कैटेलोगोरुम) में रामायण की तीस टीकाओं की सूचना दी गयी है। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी ई० के बीच ही रामायण पर प्राय: दस टीकाएँ लिखी गयीं। इनमें क्रमश: 'रामानुजीय' (१४०० ई०), वेंकटेश-कृत 'सर्वार्थसार' (१४७५ ई०), वैद्यनाथ दीक्षित की 'रामायणदीपिका' (१५०० ई०), ईश्वर दीक्षित-कृत 'विवरण' (१५२५ ई०), गोविन्दराज-कृत 'रामायण-भूषण' (१५५० ई०), अहोबल रचित 'वाल्मीकिहृदय' (१५७५ ई०), महेश्वरतीर्थ की 'रामायण-तत्त्वदीपिका' (१६०० ई०), माधवयोगि-रचित 'अमृतकटक' (१६५० ई०), राजा रामवर्मा (शृङ्गवेरपुर, उ.प्र.) के द्वारा रचित 'रामायण-तिलक' (१७०० ई०) तथा वंशीधर एवं शिवसहाय द्वारा संयुक्त रूप से रचित 'रामायण-शिरोमणि' (१८६५ ई०) विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।[१]

१. द्रष्टव्य- आचार्य बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९९०), पृ० २८-३१।

इनके अतिरिक्त अप्पय दीक्षित (१५५४-१६२६ ई०) ने 'रामायणतात्पर्यसंग्रह' में और त्र्यम्बक मखी ने 'धर्माकूत' (१७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) में रामायण के मुख्य भावों को धर्मशास्त्र की दृष्टि से स्पष्ट किया है।

भारतीय भाषाओं में रामायण का रूपान्तर इन्हीं मुख्य टीकाओं पर आश्रित हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर से दो खण्डों में हिन्दी अनुवाद-सहित प्रकाशित वाल्मीकीय रामायण का संस्करण उत्कृष्ट और सुलभ है।[1]

---

१. इस ग्रन्थ के लेखक ने पटना विश्वविद्यालय से रामायण पर दो शोधकार्य कराये हैं-१. रामायण में मानवीय सम्बन्ध (१९७९) तथा २. रामायण का दार्शनिक अध्ययन (१९८५)।

अध्याय-८

इतिहासकाव्य-महाभारत

लौकिक संस्कृत साहित्य में महत्त्व की दृष्टि से रामायण के अनन्तर महाभारत का स्थान है। विश्व-साहित्य में सबसे बड़ा ग्रन्थ महाभारत ही है जिसमें एक लाख से कुछ अधिक श्लोक हैं। यह भारत के सांस्कृतिक विषयों का विराट् कोश तथा आचार की संहिता है। महाभारत का जो बृहत्-संस्करण विकसित हुआ है उसके सम्पादक या लेखक ने अपने युग के समस्त उल्लेखनीय विषयों को इसमें समाविष्ट करने का अप्रतिम प्रयास किया है। इसीलिए यह लोकोक्ति चल पड़ी-**यन्न भारते तन्न भारते**। अर्थात् जो बातें महाभारत में नहीं हैं वे भारतवर्ष में नहीं होती हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के समस्त पक्ष इसमें निहित हैं। स्वयं महाभारत के लेखक इस तथ्य का उल्लेख करते हैं-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

(१/६२/५३)

महाभारत के लेखक का नाम व्यास (कृष्णद्वैपायन, वेदव्यास) है। वे पराशर ऋषि के पुत्र थे। उनकी माता सत्यवती थीं जिनका पालन यमुना के द्वीप में मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा हुआ था। वे वस्तुतः चेदिराज वसु की कन्या थीं। वेदव्यास को यमुनाद्वीप में जन्म के कारण 'द्वैपायन', शरीर से कृष्णवर्ण होने के कारण 'कृष्णमुनि' तथा वैदिक मन्त्रों को याज्ञिक उपयोग के लिए चार वेदों में विभक्त करने के कारण 'वेदव्यास' भी कहा गया है। महाभारत की कथा के अनुसार धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन्हीं से नियोग द्वारा उत्पन्न हुए थे। व्यास ने तीन वर्षों तक निरन्तर परिश्रम से महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की थी।[1]

स्वरूप

वर्तमान महाभारत एक लाख से अधिक श्लोकों का ग्रन्थ है। इसलिए इसे 'शत-साहस्री संहिता' भी कहते हैं। इसे अठारह पर्वों में विभक्त किया गया है जो पुनः अनेक उपपर्वों तथा अध्यायों में विभक्त हैं। मुख्य रूप से कौरवों और पाण्डवों के बीच हुए उस युद्ध का इसमें वर्णन है जिसमें कौरवों का सर्वनाश हुआ तथा अन्याय पर न्याय की विजय हुई। इस युद्ध में कौरवों के विरुद्ध पाण्डवों की ओर से मन्त्रात्मक सहायता करने वाले कृष्ण की प्रमुख भूमिका थी। अतएव कृष्ण इस ऐतिहासिक काव्य के नायक हैं। महाभारत के अठारह पर्वों के नाम इस प्रकार हैं- (१) आदि, (२) सभा, (३) वन, (४) विराट्, (५) उद्योग, (६) भीष्म, (७) द्रोण, (८) कर्ण, (९)

---

१. **महाभारत** १/५६/५२ त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥

शल्य, (१०) सौप्तिक, (११) स्त्री, (१२) शान्ति, (१३) अनुशासन[1], (१४) आश्वमेधिक, (१५) आश्रमवासिक, (१६) मौसल, (१७) महाप्रस्थानिक तथा (१८) स्वर्गारोहण। इनके परिशिष्ट के रूप में 'हरिवंश-पर्व' है जिसमें भगवान् कृष्ण का जीवनचरित वर्णित है। इस पर्व को मिलाकर ही श्लोक-संख्या एक लाख होती है।

इन पर्वों में 'शान्तिपर्व' बहुत बड़ा है (चौदह सहस्र श्लोक)। दूसरी ओर 'महाप्रस्थानिक' पर्व सबसे छोटा है (११५ श्लोक)।

संस्करण

रामायण के समान महाभारत की भी लोकप्रियता होने के कारण भारत में इसके कई संस्करण (पाठ-भेद) मिलते हैं। प्राचीन संस्करणों में निम्नलिखित तीन चर्चित हैं-

(१) **कलकत्ता-संस्करण**- यह संस्करण १८३४-३९ ई. में चार भागों में बिना किसी टीका के प्रकाशित हुआ था। इसमें हरिवंश-पर्व भी सम्मिलित है। इसका दूसरा संस्करण कलकत्ता से ही १८७५ ई. में अर्जुन मिश्र तथा नीलकण्ठ की टीकाओं के साथ प्रकाशित हुआ था।[2]

(२) **बम्बई-संस्करण**- नीलकण्ठी टीका के साथ महाभारत का यह संस्करण १८६२ ई० में बम्बई से प्रकाशित हुआ। कलकत्ता-संस्करण की अपेक्षा यह उत्कृष्ट है। वैसे दोनों संस्करणों में पाठ-विषयक मतभेद कम हैं। गीताप्रेस, गोरखपुर से यही संस्करण छह खण्डों में सुन्दर हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित है। इस संस्करण में 'हरिवंश' नहीं है। गीताप्रेस से 'हरिवंश पर्व' पृथक् ग्रन्थ के रूप में हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है।

(३) **मद्रास-संस्करण**- महाभारत के दाक्षिणात्य-पाठ का एक संस्करण मद्रास से तेलुगु-लिपि में १८५५-६० ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें 'हरिवंश-पर्व' तथा नीलकण्ठी टीका के उद्धरण भी सम्मिलित हैं।

भारतवर्ष के बाहर महाभारत का कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके विभिन्न पाठों के आधार पर एक आलोचनात्मक संस्करण का सम्पादन-प्रकाशन पुणे (महाराष्ट्र) के भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट (BORI) के तत्वावधान में २४ जिल्दों में हुआ है जो संस्कृत-शोध का एक मानदण्ड माना जाता है। सन् १९२३ ई० में विराटपर्व के प्रकाशन से इसका आरम्भ हुआ। जिसके सम्पादक उतगीकर थे। अन्य पर्वों का प्रकाशन दूसरे सम्पादकों के निर्देशन में हुआ। महाभारत का यह संस्करण वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक माना जाता है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस संस्करण की आलोचना भी की है।[3]

---

१. इस पर्व के नीतिशास्त्रीय तथा धार्मिक पक्षों पर मेरे निर्देशन में शोधकार्य सम्पन्न हो चुका है।

२. किशोरीमोहन गांगुली ने महाभारत का गद्यानुवाद अंग्रेजी में किया था जो १८८४-९६ ई० में प्रतापचन्द्र राय द्वारा प्रकाशित हुआ। मन्मथनाथ दत्त का अंग्रेजी अनुवाद १८९५-१९०५ ई० में प्रकाशित हुआ। विदेशों में महाभारत के आंशिक अनुवाद ही प्रकाशित हुए, मुख्यतः फ्रेंच और जर्मन में।

३. विभिन्न पर्वों के प्रकाशन से सम्बद्ध जानकारी के लिए देखें- A.D. Pusalker—**Studies in the Epics and Puarāṇas**, p.82-104.

महाभारत का विकास

महाभारत के सूक्ष्म परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि यह एक व्यक्ति के द्वारा एक काल में की गयी रचना नहीं है। पहले मूलकथा संक्षिप्त रूप में थी; वह क्रमशः विकसित होती गयी और अन्त में 'शतसाहस्त्री संहिता' के वर्तमान रूप में आयी। इस विषय में पाश्चात्त्य और भारतीय विद्वान् सहमत हैं। महाभारत का विकास क्रमशः जय, भारत तथा महाभारत-इस रूप में तीन विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् अवसरों पर हुआ। इनका विवरण इस प्रकार है-

(१) **जय**- महाभारत का मूलरूप 'जय' के नाम से प्रसिद्ध था (**जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।** महाभारत १/६२/२०)। महाभारत के मङ्गलश्लोक में नारायण, नर और सरस्वती को नमस्कार करके 'जय' नामक ग्रन्थ के पाठ का स्पष्ट निर्देश है-

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।

इस ग्रन्थ की रचना व्यास ने कौरवों के ऊपर पाण्डवों की विजय के वृत्त को आधार बनाकर की थी। व्यास दोनों के समकालीन थे, दोनों का सजीव वर्णन कर सकते थे। इसीलिए 'जय' को इतिहास कहा गया जो सामग्री-वृद्धि के बाद भी 'इतिहास' ही बना रहा। वर्तमान महाभारत के आदिपर्व के ६५ वें अध्याय से 'जय' की सामग्री का आरम्भ हुआ था जिसमें क्षत्रियों की उत्पत्ति का वर्णन है। बाद में 'जय' को बढ़ाने का काम दूसरे लोगों ने किया। व्यास के इस ग्रन्थ में ८८०० श्लोक थे जैसा कि निम्नांकित श्लोक से प्रकट होता है-

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥[1]

व्यास ने इस ग्रन्थ को वैशम्पायन को सुनाया था। इसमें अधर्म पर धर्म की विजय का निरूपण था। अतएव धर्मचर्चा इसकी मुख्य विषय-वस्तु थी।[2]

(२) **भारत**- द्वितीय अवस्था में जय का विस्तार 'भारत' के रूप में हुआ जिसमें २४००० (चौबीस सहस्र) श्लोक हो गये। इस ग्रन्थ में उपाख्यानों को सम्मिलित नहीं किया गया था। महाभारत में ही इस ग्रन्थ का संकेत दिया गया है-

चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥[3]

'भारत' का प्रवचन वैशम्पायन ने जनमेजय के समक्ष नागयज्ञ के अवसर पर किया था। कथा यह है कि इस नागयज्ञ में व्यास भी आये थे। जनमेजय ने व्यास से प्रार्थना की कि वे कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वृत्तान्त सुनायें। व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को आदेश दिया कि 'जय'

---

१. **महाभारत**, आदिपर्व १/८१।

२. व्यास के पाँच शिष्यों ने (जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु तथा शुक ने) 'जय' महाकाव्य के पृथक्-पृथक् संस्करण किये थे। जैमिनि के अश्वमेध-पर्व तथा वैशम्पायन की भारत संहिता को छोड़कर सभी संस्करण नष्ट हो गये। यह अश्वमेध-पर्व युधिष्ठिर द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध का वर्णन करता है।

३. **महाभारत**, आदिपर्व १/१०२-३।

नामक महाकाव्य सुनाये। उसने यह काव्य सुनाना आरम्भ किया। इस कथा-श्रवण के प्रसङ्ग में जनमेजय ने अनेक प्रश्न किये जिनका यथेष्ट उत्तर वैशम्पायन ने दिया। 'जय' में इन समस्त संवादों को मिला देने से ही 'भारत' ग्रन्थ का निर्माण हुआ। यह ग्रन्थ सम्भवतः महाभारत के आदिपर्व के ६१ वें अध्याय से आरम्भ होता था जहाँ उक्त कथा-श्रवण का वृत्त वर्णित है। इसके 'भारत' कहे जाने का कारण भरतवंशी राजाओं (कौरवों एवं पाण्डवों) के वृत्त का वर्णन है। यह वृत्त केवल युद्ध और विजय तक ही सीमित नहीं था अपितु इसमें उनसे सम्बद्ध अन्य घटनाएँ भी थीं।

(३) **महाभारत**- अन्तिम अवस्था में एक लाख से अधिक श्लोकों का 'महाभारत' ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ। इसी रूप में यह आज उपलब्ध है। 'भारत' को 'महाभारत' के रूप में परिणत करने का अवसर नैमिषारण्य नामक पवित्र स्थान (वर्तमान उत्तर प्रदेश में सीतापुर जनपद का स्थल) में होने वाला यज्ञ था जिसे शौनक ऋषि ने अनुष्ठित किया था। यह द्वादशवर्षिक सत्र था। इसके प्रवक्ता सौति नामक ऋषि थे जिन्होंने वैशम्पायन से सुने हुए 'भारत' नामक ग्रन्थ को पर्याप्त परिवर्धित करके शौनकादि ऋषियों को सुनाया था। १२ वर्षों के दीर्घ काल में सौति ने अपने श्रोताओं की जिज्ञासाओं का भी समाधान किया था। फलस्वरूप इस अन्तिम अवस्था वाले ग्रन्थ में कौरवों-पाण्डवों का पूरा इतिवृत्त तो मूलकथानक के रूप में रहा ही; अनेक संवादों के बहाने से धर्म, अध्यात्म, इतिहास, भूगोल, आख्यान, नीतिशास्त्र, आचार-विचार आदि समस्त सांस्कृतिक विषयों को इसमें समाविष्ट किया गया। इससे यह भारतवर्ष का विश्वकोश बन गया। विशालता और महत्ता ही इसके 'महाभारत' कहे जाने की पृष्ठभूमि में थी-

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते। (१/१/२७४)

महाभारत के पूना संस्करण के मुख्य सम्पादक डॉ० सुक्थनकर के अनुसार इसके उपबृंहण का कार्य मुख्यतः भृगुवंशी ब्राह्मणों ने किया था। महाभारत के अनेक उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से इनके साथ है जैसे-और्व (आदिपर्व), कार्तवीर्य (वनपर्व), अम्बोपाख्यान (उद्योगपर्व), विपुलोपाख्यान (शान्तिपर्व), उत्तङ्क (आश्वमेधिक पर्व) इत्यादि। आदिपर्व के आरम्भ के साठ अध्याय जो सौति ने जोड़े थे, उनमें प्रथम ५३ अध्यायों का सम्बन्ध भार्गवों से ही है। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे, अतः उन्होंने स्वभावतः भृगुवंश की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की थी-
तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

तृतीय अवस्था के महाभारत को नायक कृष्ण की कथा से भी अलंकृत करने के लिए 'खिल पर्व' (परिशिष्ट) के रूप में 'हरिवंश पर्व' से समन्वित किया गया। विश्व के सभी विषयों से समन्वित करने के लिए इसके मुख्य कथानक में अनेक आख्यान जोड़कर उन विषयों का विवेचन किया गया। इसे नीति और आचार की संहिता बनाने के लिए शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म के द्वारा लम्बे प्रवचनों का प्रकरण रखा गया जिससे शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व का संकलन हुआ। अन्य पर्वों में भी ऋषियों के प्रवचनों से पर्याप्त स्थान भरा गया। काव्यमय वर्णनों में इस पर रामायण का भी प्रभाव पड़ा। इसी प्रक्रिया में महाभारत का आकार बड़ा हो गया।

'जय' नामक रचना १०० पर्वों या अध्यायों में विभक्त थी जबकि सौति ने विशालकाय महाभारत को अठारह मुख्य एवं दीर्घकाय पर्वों में विभक्त किया (आदिपर्व २/८४-८५)। उपर्युक्त १०० पर्व उन्हीं के उपपर्व हुए। मुख्य पर्वों को अध्यायों में विभक्त किया गया है। वैशम्पायन कहते

हैं कि व्यास की कृति (अर्थात् महाभारत) में दो सहस्र अध्याय थे किन्तु महाभारत के वर्तमान संस्करणों में प्रायः १९२५ अध्याय मिलते हैं। आदिपर्व के द्वितीयाध्याय में विभिन्न पर्वों के श्लोकों की संख्या दी गयी है किन्तु वह महाभारत के उपलब्ध संस्करणों की श्लोकसंख्या से नहीं मिलती है।

महाभारत की विषय-वस्तु

वर्तमान महाभारत अठारह पर्वों में विभक्त है जिनमें अनेक उपपर्व मुख्य घटनाओं के शीर्षक के रूप में हैं। यहाँ पर्वों की मुख्य विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है-

(१) **आदिपर्व**- इस पर्व में १९ उपपर्व तथा २३३ अध्याय हैं। प्रथम दो उपपर्व अनुक्रमणिका तथा पर्वसंग्रह के रूप में एक-एक अध्याय वाले हैं। तीसरा पौष्य उपपर्व गद्यात्मक है जिसमें जनमेजय के सर्पयज्ञ की पृष्ठभूमि प्रस्तुत है। अगले दो उपपर्वों (पौलोम तथा आस्तीक) में महाभारत की भूमिका है। 'अंशावतरण' उपपर्व से वास्तविक कथा का आरम्भ हुआ है। शकुन्तला का आख्यान एवं पुरुवंश के राजाओं का वर्णन इसमें है। धृतराष्ट्र और पाण्डु इन दो भाइयों का अपने चाचा भीष्म द्वारा पालन, धृतराष्ट्र का अपनी पत्नी गान्धारी से १०० पुत्रों की प्राप्ति तथा पाण्डु की पत्नियों (कुन्ती एवं माद्री) से नियोग द्वारा पाँच पुत्रों का जन्म-ये घटनाएँ वर्णित हैं। कौरवों तथा पाण्डवों की शिक्षा-दीक्षा तथा विवाहादि का वर्णन भी इसी पर्व में है। इस विशाल पर्व में प्रायः नौ सहस्र श्लोक हैं।

(२) **सभापर्व**- ८१ अध्यायों के इस पर्व का विभाजन दस उपपर्वों में हुआ है। मुख्य रूप से पाण्डवों की दिग्विजय-यात्रा, जरासन्ध-वध, युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान, शिशुपाल-वध एवं जुए में अपने राज्य को युधिष्ठिर द्वारा हार जाने की कथा है। हारने के फलस्वरूप पाण्डवों को बारह वर्षों तक वन में और एक वर्ष के अज्ञातवास में रहना पड़ता है।

(३) **वनपर्व**- ३१५ अध्यायों के इस दीर्घकाय पर्व में २२ उपपर्व हैं। पाण्डवों के वनवास की घटना से सम्बद्ध यह पर्व आख्यानों से परिपूर्ण है। वनवासकाल में पाण्डव तीर्थयात्रा भी करते हैं तथा उनकी भेंट अनेक ऋषि-मुनियों से होती है। वे पाण्डवों के दुःखनाश, सान्त्वना और मनोरञ्जन के लिए विविध आख्यान सुनाते हैं। इनमें नल और राम के आख्यान प्रधान हैं। सावित्री तथा सत्यवान् की कथा भी यहाँ आयी है। महाभारत की मुख्य दो घटनाओं का यहाँ वर्णन है जिनका मुख्य युद्ध से साक्षात् सम्बन्ध है- जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का हरण एवं इन्द्र द्वारा कर्ण के कवच-कुण्डल का ले लिया जाना।

(४) **विराटपर्व**- इस पर्व में पाँच उपपर्व तथा ७२ अध्याय हैं। प्रायः २७०० श्लोक इसमें हैं। पाण्डवों के अज्ञातवास की घटनाओं का इसमें वर्णन है। पाण्डव वेश बदलकर मत्स्यराज विराट के राजप्रासाद में अज्ञात रूप से रहते हैं। यहीं द्रौपदी के प्रति आसक्त कीचक का भीम द्वारा वध होता है तथा विराट की गायों का कौरवों द्वारा हरण होने पर अर्जुन के साथ कौरवों का भीषण युद्ध होता है। कौरव पराजित होते हैं तथा पाण्डवों का परिचय विराट को मिलता है। अन्तिम उपपर्व (वैवाहिक) में विराट की पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु के साथ होता है।

(५) **उद्योगपर्व**- इसमें दस उपपर्व तथा १९६ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या प्रायः ७१००

है। इसका मुख्य वृत्त शान्ति के लिए वार्तालाप एवं युद्ध की पूर्वपीठिका की प्रस्तुति है। दोनों पक्ष मित्र-संग्रह में सन्नद्ध होते हैं। कृष्ण के पास सहायता के लिए अर्जुन और दुर्योधन दोनों जाते हैं। दुर्योधन को कृष्ण की पूरी सेना और अर्जुन को शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा वाले कृष्ण मिलते हैं। शान्ति-प्रस्ताव में पाण्डव केवल पाँच गाँव लेकर भी सन्तुष्ट होने की बात कहते हैं किन्तु दुर्योधन को स्वीकार नहीं होता। कृष्ण का शान्ति-दूत बनना भी व्यर्थ हो जाता है। कृष्ण कर्ण को जन्म-वृत्तान्त सुनाकर पाण्डवों के पक्ष में करना चाहते हैं किन्तु सफल नहीं होते। इसमें 'अम्बोपाख्यान' के रूप में पूर्वकथा सुनायी गयी है। काशिराज की पुत्री अम्बा का हरण भीष्म ने किया था। दूसरे जन्म में वही द्रुपद के घर शिखण्डी के रूप में जन्म लेती है। वह स्त्री से पुरुष बन जाती है। इस जन्म में भी भीष्म से बदला लेने की भावना उसमें है। महाभारत युद्ध की प्रस्तावना इस पर्व में सम्यक् रूप से दी गयी है।

(६) **भीष्मपर्व**- इसमें पाँच उपपर्व तथा प्राय: ६१०० श्लोक है। इसका विभाजन १२२ अध्यायों में हुआ है। युद्ध की भूमिका के रूप में कुछ भाग हैं और शेष भाग में भीष्म के सेनापतित्व में दस दिनों के भारत-युद्ध का वर्णन है। सञ्जय धृतराष्ट्र को युद्ध का समस्त वृत्तान्त दिव्य दृष्टि से देखकर बतलाता है। सभापर्व के समान इस पर्व के आरम्भ में भूगोल-वर्णन है। युद्ध के आरम्भ में कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में १८ अध्यायों का एक अंश है जिसे 'भगवद्गीता' कहते हैं।[1] इसमें कृष्ण ने अर्जुन को उत्साहित करने वाले आध्यात्मिक उपदेश दिये हैं। युद्ध के तीसरे दिन भीष्म के पराक्रम से विवश होकर कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भीष्म के वध के लिए उद्यत होते हैं। भीष्म कृष्ण की स्तुति करते हैं। अन्त में शिखण्डी को आगे करके भीष्म को रणभूमि में बाणों के प्रहार से गिराया जाता है। वे शरशय्या पर सो जाते हैं किन्तु उनकी मृत्यु नहीं होती।

(७) **द्रोणपर्व**- इस पर्व में आठ उपपर्व, २०२ अध्याय तथा प्राय: दस सहस्र श्लोक हैं। यहाँ द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में कौरवों के, पाण्डवों के साथ, पाँच दिनों के भीषण तथा अन्याय-पूर्ण युद्ध का वर्णन है। युद्ध में क्रमश: संशप्तकों, अभिमन्यु, जयद्रथ, घटोत्कच तथा द्रोणाचार्य का वध होता है। इन सभी घटनाओं पर पृथक्-पृथक् उपपर्व हैं। द्रोण के सेनापति बनने पर कर्ण भी पराक्रम दिखाता है जबकि भीष्म के समय में वह युद्ध से विरत था। अभिमन्यु के मारे जाने पर व्यास युधिष्ठिर के शोक को कम करने के लिए सोलह राजाओं का चरित सुनाते हैं (द्रोणपर्व, अध्याय ५२-७१)। कथा के भीतर कथा का यह सुन्दर निदर्शन है। द्रोण का वध छलपूर्वक होने पर उनका पुत्र अश्वत्थामा कुपित होकर नारायणास्त्र का प्रयोग करता है जिससे कृष्ण पाण्डवों की रक्षा करते हैं। द्रोणपर्व के पाठ और श्रवण का फल भी अन्त में सुनाया गया है।

(८) **कर्णपर्व**- इस पर्व में ९६ अध्याय तथा प्राय: साढ़े-पाँच सहस्र श्लोक हैं। इसका विभाजन उपपर्वों में नहीं हुआ है। कौरव-सेना का अध्यक्ष कर्ण बनता है जो दो दिनों तक (१६वें-१७वें दिन) युद्ध करके मारा जाता है। कर्ण के 'अहम्' की तुष्टि के लिए मद्रनरेश शल्य को उसका सारथि बनाया जाता है। कर्ण और शल्य का परस्पर वाग्युद्ध बड़ा रोचक रूप लेता है। दोनों एक-दूसरे के राज्य की प्रजाओं की निन्दा करते हैं।[2] उपपर्वों का अभाव यह संकेत करता है कि मूलग्रन्थ

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय २५-४२।

२. डॉ० विन्टरनित्स ने नृतत्त्वविज्ञान तथा सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से इस प्रसङ्ग को महत्त्वपूर्ण कहा है।

(जय) में कर्ण की उपेक्षा रही होगी और यह बहुत संक्षिप्त पर्व रहा होगा। विवरणों से भरने पर भी इसमें उपपर्व पूर्ववत् रहे।

(९) **शल्यपर्व**- इसमें दो उपपर्व (ह्रद-प्रवेश तथा गदापर्व), ६५ अध्याय तथा प्राय: ३७०० श्लोक हैं। इसमें भारत-युद्ध के अन्तिम (अठारहवें) दिन के युद्ध का वर्णन है जब शल्य कौरवों का सेनापति बना था।[1] शल्य का वध, दुर्योधन का गदायुद्ध और ऊरुभङ्ग इस पर्व की मुख्य घटनाएँ हैं। इस पर्व के साथ युद्ध समाप्त हो जाता है। सम्भवत: 'जय' नामक मूलग्रन्थ में उपर्युक्त चार पर्व ही रहे होंगे जिनमें पाण्डवों की विजय दिखायी गयी है। शल्यपर्व में कुछ प्राचीन आख्यान भी हैं जिनमें तीर्थों का माहात्म्य वर्णित है।

(१०) **सौप्तिक पर्व**- इसमें एक उपपर्व (ऐषीक), १८ अध्याय तथा ८१० श्लोक हैं। मुख्य कथा पाण्डवों की सोयी हुई सेना पर आक्रमण करके द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के मारे जाने की है। यह कुकर्म कौरव-सेना के तीन महारथियों (कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा) ने मिलकर किया था। इस समाचार को ये महारथी दुर्योधन को जाकर सुनाते हैं जिससे वह सन्तोषपूर्वक प्राण त्याग देता है। पाण्डव अश्वत्थामा को पकड़कर उसके सिर की मणि निकाल लेते हैं।

(११) **स्त्रीपर्व**- इसमें तीन उपपर्व (जलप्रदानिक, स्त्रीविलाप तथा श्राद्ध), २७ अध्याय तथा ८२० श्लोक हैं। श्राद्ध उपपर्व में कुन्ती युधिष्ठिर को कर्ण के जन्म का वृत्तान्त सुनाकर उसका भी श्राद्ध करने का अनुरोध करती है। इस पर युधिष्ठिर स्त्रीजाति को शाप देते हैं कि अब से स्त्रियों के मन में रहस्य की कोई बात छिपी नहीं रहेगी।[2] गान्धारी कृष्ण के वंश के विनाश का शाप देती है क्योंकि उन्होंने कौरवों का विनाश करा दिया।

(१२) **शान्तिपर्व**- यह महाभारत में बाद में जोड़ा गया पर्व प्रतीत होता है, मूल ग्रन्थों में (जय और भारत में) यह नहीं था अथवा लघुरूप में था। इसमें तीन उपपर्व हैं- राजधर्मानुशासन, आपद्धर्म तथा मोक्षधर्म। इसके वर्तमान रूप में ३६५ अध्याय तथा १४७२५ श्लोक हैं। इस दृष्टि से यह **महाभारत का सबसे बड़ा पर्व है**। महाभारत में सबसे अधिक परिवर्तन और परिवर्धन इसी पर्व में हुआ है। धार्मिक एवं दार्शनिक सामग्री सर्वाधिक इसी पर्व में है। राजधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, दण्डनीति, आपद्धर्म आदि इसमें विस्तार से विवेचित हैं। मोक्षधर्म के अन्तर्गत सृष्टि, जीव, आत्मा, कर्म, ज्ञान, पुरुषार्थ आदि आध्यात्मिक विषयों का यहाँ प्रतिपादन है। इस प्रसङ्ग में **पराशर-गीता** (अध्याय २९०-९८), **हंस-गीता** (अध्याय २९९) इत्यादि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। यह पर्व अपने आप में एक स्वतन्त्र पुराण-जैसा ग्रन्थ है। सामाजिक व्यवस्था से लेकर मोक्ष तक का इसमें प्रतिपादन है। शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म के द्वारा युधिष्ठिर आदि को दिये गये उपदेश के रूप में इस पर्व का विन्यास हुआ है।

---

१. शल्य के आत्मविश्वास पर उक्ति है- **द्रोणे च निहते कर्णे भीष्मे च विनिपातिते।**
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्॥

२. महाभारत ११/२७/२९ **पापेनासौ मया श्रेष्ठो भ्राता ज्ञातिर्निपातित:।**
अतो मनसि यद् गुह्यं स्त्रीणां तन्न भविष्यति॥

(१३) **अनुशासनपर्व**- विषय-वस्तु की दृष्टि से यह शान्ति-पर्व से मिलता है। इसमें मुख्य रूप से धर्मशास्त्रीय उपदेश हैं जो भीष्म द्वारा अपने समक्ष उपस्थित युधिष्ठिर आदि को दिये गये हैं। धर्मशास्त्रीय उपदेशों को आख्यानों से भरा गया है। इस पर्व में दो उपपर्व, १६८ अध्याय तथा दस सहस्र से कुछ कम श्लोक हैं। इसका प्रथम उपपर्व 'दानधर्म' है जो १६६ अध्यायों का होने के कारण बड़ा भाग है। दूसरा पर्व 'भीष्म का स्वर्गारोहण' है जिसमें केवल दो ही अध्याय हैं। यह मूल ग्रन्थ का भाग रहा होगा। आधुनिक आलोचकों का अनुमान है कि शान्तिपर्व मूलग्रन्थ का भाग नहीं था, किन्तु इसे प्राचीन काल में ही जोड़ा गया था। अनुशासन-पर्व तो इसके भी बाद जोड़ा गया था। ब्राह्मणों की महत्ता तथा उन्हें दान करने का जैसा वर्णन यहाँ है, वैसा महाभारत में अन्यत्र नहीं। इस पर्व के १७ वें अध्याय में शिवसहस्रनामस्तोत्र और १४९ वें अध्याय में विष्णुसहस्रनामस्तोत्र हैं जिनका पाठ आस्थावान् लोग आज भी करते हैं।

(१४) **आश्वमेधिकपर्व**- इस पर्व से महाभारत की मुख्य कथा फिर जुड़ जाती है। व्यास के आदेश से युधिष्ठिर अश्वमेध-यज्ञ करते हैं और अर्जुन एक वर्ष तक यज्ञाश्व की रक्षा करते हैं। युधिष्ठिर पापमुक्त हो पवित्र राजा के रूप में राज्य सँभालते हैं। इसके 'अनुगीता' नामक उपपर्व में दर्शनशास्त्र की भी सामग्री है। इस पर्व में ९२ अध्याय तथा प्रायः सवा चार सहस्र श्लोक हैं। दक्षिण भारतीय संस्करण में २१ अध्यायों का एक अतिरिक्त उपपर्व है- वैष्णव धर्म। इसमें वैष्णवों के क्रिया-कलापों का वर्णन है।

(१५) **आश्रमवासिकपर्व**- इसमें तीन उपपर्व, ३९ अध्याय तथा ११०० श्लोक हैं। इसका मुख्य इतिवृत्त धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी, कुन्ती और विदुर का वन में आश्रम बनाकर निवास करना है। धृतराष्ट्र पन्द्रह वर्षों तक युधिष्ठिर के परामर्शदाता बने रहे थे, तब उन्होंने वानप्रस्थ का जीवन अपनाया।

(१६) **मौसलपर्व**- यह केवल आठ अध्यायों और ३०४ श्लोकों का लघुकाय पर्व है। युधिष्ठिर के सिंहासनारोहण के ३६ वर्षों के बाद गान्धारी का शाप सत्य होता है और यादव-वंश के लोग परस्पर युद्ध करके समाप्त हो जाते हैं। कृष्ण भी एक व्याध के द्वारा भ्रमवश मारे जाते हैं। यदुवंश के विनाशक 'मुसल' के कारण ही इस पर्व का नाम पड़ा है। उस मुसल के टुकड़े के बाण से कृष्ण की मृत्यु हुई थी।

(१७) **महाप्रस्थानिक पर्व**- यह तीन अध्यायों का महाभारत का **सबसे छोटा पर्व** है जिसमें केवल ११५ श्लोक हैं। इसमें पाण्डवों की हिमालय-यात्रा का वर्णन है। हिमालय में क्रमशः द्रौपदी, सहदेव आदि गिरते जाते हैं और युधिष्ठिर उनके पतन का कारण बतलाते हैं। अन्त में वे पार्थिव शरीर से ही स्वर्ग पहुँचते हैं।

(१८) **स्वर्गारोहणपर्व**- यह केवल पाँच अध्यायों और २२० श्लोकों का छोटा-सा पर्व है इसमें युधिष्ठिर के स्वर्ग पहुँचने तथा देवदूत के साथ नरक में जाकर अपने अनुजों के करुण क्रन्दन सुनने का वृत्तान्त है। आश्वासन पाकर वे दिव्यलोक जाकर कृष्ण, अर्जुन आदि से मिलते हैं। अन्तिम अध्याय में महाभारत का माहात्म्य तथा इसके उपदेश प्रतिपादित हैं। इसे 'भारत सावित्री' (महाभारत का सार) भी कहते हैं।

इस प्रकार महाभारत अनेक ग्रन्थों, उपग्रन्थों तथा विविध उपदेशों का अक्षय कोश है। मुख्य घटना तो प्राय: एक सहस्र अध्यायों में ही समाविष्ट है किन्तु बम्बई संस्करण के अनुसार इसमें २१०९ अध्याय हैं। इसका स्वरूप संवादात्मक है, समस्त प्रतिपाद्य प्रश्नोत्तर-शैली में प्रस्तुत है। मूलकथा और युद्ध-वर्णन भी संवाद के रूप में हैं। युद्ध का निष्कर्ष पहले सुनाकर तब पूरे वृत्तान्त को अतीत घटनाओं की पुनरावृत्ति के रूप में रखा गया है।

महाभारत का काल तथा स्रोत

महाभारत का संकलन विविध कालों में होता रहा है। इस ग्रन्थ में ही इसकी रचना और प्रवचन के तीन स्पष्ट चरण दिये गये हैं। वास्तविकता यह है कि इसके अन्तिम रूप में भारतवर्ष की सारी सांस्कृतिक सम्पत्ति को समाविष्ट करने का अश्रान्त प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप इस ग्रन्थ ने विशाल आकार ग्रहण कर लिया। विशेष रूप से मनोरञ्जक सामग्री से अधिक उपदेशात्मक विषयों पर इसके परिवर्धन के क्रम में ध्यान दिया गया। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व इसी के परिणाम हैं।

महाभारत में उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण करने पर हम इसमें निम्नलिखित **सात प्रकार के विषय पाते हैं**[1] (१) मूलग्रन्थ की विषयवस्तु से आनुषङ्गिक सम्बन्ध रखने वाली या बिल्कुल सम्बन्ध न रखनेवाली दन्तकथात्मक सामग्री, जो कवियों के द्वारा जोड़ी गयी। (२) ब्राह्मणों से प्राप्त दन्तकथात्मक सामग्री, जिसमें ब्राह्मण-दर्शन, नीति, आचार-संहिता इत्यादि से सम्बद्ध उपदेशात्मक बातें ब्राह्मणों के महत्त्व को अङ्कित करने वाली थीं। (३) पुराणों के स्वरूप को प्रदर्शित करने वाली सृष्टिगत, राजवंशगत तथा भौगोलिक सामग्री, जिसके साथ स्थानीय लोककथाएँ और पुराकथाएँ, भी जुड़ गयीं। (४) विष्णु तथा शिव से सम्बद्ध कथाएँ। (५) नीतिकथाएँ, दृष्टान्त-कथाएँ, लोककथाएँ तथा आचार-सम्बन्धी कथाएँ। (६) अध्यात्मवादी काव्य-सामग्री। (७) गद्यभाग, ब्राह्मणों से सम्बद्ध कथाएँ तथा आचार-कथाएँ जो पूर्णत: या अंशत: गद्य में थीं।

इस पूरी सामग्री के संकलन में प्राचीन काल में शताब्दियाँ लग गयी होंगी। न तो किसी एक व्यक्ति की सामर्थ्य इतने बड़े कार्य को सम्पन्न करने की थी और न ही किसी नियत काल-सीमा में यह कार्य सम्पन्न हो सकता था। इसीलिए महाभारत को विकासात्मक महाकाव्य या इतिहासकाव्य कहा गया है। आज के समस्त वैज्ञानिक संसाधनों तथा शोधविधियों का उपयोग करने पर भी यह बतलाना बहुत कठिन है कि महाभारत का मूल कब रचा गया, दूसरी अवस्था कब आयी तथा इसे अन्तिम रूप कब प्राप्त हुआ। सभी स्थितियों में केवल आनुमानिक काल-निरूपण ही सम्भव है, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है। विगत सवा सौ वर्षों में इतिहास के विद्वानों ने महाभारत के काल पर बहुत विचार किया है किन्तु उनके निष्कर्षों में शताब्दियों का अन्तर है। इधर महाभारत की मूलकथा की ऐतिहासिकता पर भी विवाद उठ खड़ा हुआ है। विद्वानों का एक दल कौरवों और पाण्डवों के युद्ध को दन्तकथा या कल्पना मानता है तो दूसरा वर्ग इसमें ऐतिहासिकता की सिद्धि करता है।[2] इसका प्रभाव इस ग्रन्थ की पूर्वसीमा के निर्णय पर

---

१. डॉ० ए. डी. पुसलकर- **Studies in the Epics and Puranas** (1955), Intro. p. 21

२. देखें- S. P. Gupta and K. S. Ramachandran (Eds.)- **Mahābhārata : Myth and Reality.**

अवश्य पड़ता है।

महाभारत की पूर्व कालसीमा के विषय में वैदिक ग्रन्थों की कुछ सूचनाओं का महत्त्व है। ए. वेबर तथा ए. ए. मैकडोनल का मत था कि वैदिक युग की दो जातियों-कुरु तथा पाञ्चाल-के बीच प्राचीन संघर्ष की कथा को लेकर ही महाभारत की रचना काव्यरूप में की गयी थी। इस मत का खण्डन अनेक लोगों ने किया है। वैदिक युग में कुरु और पाञ्चाल जातियों के बीच संघर्ष का कोई निर्देश नहीं है, अपितु उनके बीच सौहार्द का सम्बन्ध ही था। वेबर ने ही शतपथ-ब्राह्मण के आधार पर यह कहा है कि दोनों अत्यन्त समृद्ध और मित्रता के बन्धन में बँधी जातियाँ थीं।[1] ऐसी अवस्था में दोनों के बीच संघर्ष की कल्पना करके उसी इतिवृत्त पर महाभारत की रचना की सम्भावना दिखाना हास्यास्पद है। सत्य इतना ही है कि वैदिक युग में कुरु-जाति का अस्तित्व था। यजुर्वेद में कुरु-पाञ्चाल दोनों जातियों का बहुधा उल्लेख है।

वैदिक ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ महाभारत के पात्रों और घटनाओं का निर्देश है जैसे-अथर्ववेद के कुन्ताप-सूक्त (२०/१२७) में परीक्षित् का नाम कुरुक्षेत्र के शासक के रूप में आया है, ब्राह्मण-ग्रन्थों में तीर्थ के रूप में कुरुक्षेत्र का निर्देश है, काठक संहिता में विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र का नाम आया है, शांखायन श्रौतसूत्र (१५/१६) में कौरवों के विनाशकारी कुरुक्षेत्र-युद्ध का निर्देश है किन्तु उसमें पाण्डवों का कोई संकेत नहीं है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३/४/४) में आचार्यों तथा ग्रन्थों की सूची में 'भारत' तथा 'महाभारत' ये दोनों नाम मिलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक वाङ्मय में बिखरे हुए आख्यानों तथा गाथाओं का संकलन करके महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के मूलग्रन्थ का स्वरूप निर्मित किया होगा जो क्रमशः आख्यानों तथा गाथाओं के परिवर्धन से वर्तमान रूप में आ गया। इसके मौलिक रूप में इतिहास और काव्य दोनों का समन्वय रहा होगा। महाभारत का मूल कथानक सम्भवतः उत्तर वैदिक काल में प्रायः १००० ई. पू. में प्रचलित होगा।[2] इसे ही महाभारत की पूर्वसीमा कह सकते हैं। भारतीय परम्परा (पौराणिक कालगणना) के अनुसार कलियुग के आरम्भ के कुछ वर्ष पूर्व ३१०० ई. पू. में महाभारत-युद्ध हुआ था। जहाँ तक महाभारत की **उत्तर कालसीमा** का प्रश्न है इसे प्रथम शताब्दी ई. पू. में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इस शताब्दी के अनन्तर एक लाख श्लोकों से समन्वित महाभारत-ग्रन्थ के अस्तित्व के प्रमाण मिलने लगते हैं।

कालविषयक प्रमाण

महाभारत के काल का निर्धारण करने के लिए निम्नाङ्कित प्रमाण महत्त्व रखते हैं-

(१) ग्यारहवीं शताब्दी ई० में कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने महाभारत की कथा का संक्षिप्त रूप 'भारतमञ्जरी' के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रो० ब्युह्लर के अनुसार यह कृति वर्तमान महाभारत की कथा से प्रायः मिलती-जुलती विषयवस्तु प्रस्तुत करती है।

(२) कुमारिलभट्ट (८ वीं शताब्दी ई. का आरम्भ) ने महाभारत के दस पर्वों का उल्लेख

---

१. A. Weber- **History of Sanskrit Literature**, p.135.

२. चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शान्तिकुमार व्यास-**संस्कृत साहित्य की रूपरेखा** (१९८२), पृ० २०।

किया है जिनमें परवर्ती माने जाने वाले १२ वें से १४ वें पर्व भी हैं। उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में आविर्भूत शङ्कराचार्य ने महाभारत को स्त्रियों और शूद्रों की स्मृति कहा है क्योंकि उस समय उन वर्गों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था।

(३) छठी शताब्दी ई. के सुबन्धु और सातवीं शताब्दी ई. के आरम्भ के बाणभट्ट ने महाभारत और उसके आख्यानों का उल्लेख किया है। ये दोनों गद्यकार 'हरिवंश' से भी पूर्णतया परिचित थे।

(४) कम्बोज प्रदेश (कम्पूचिया) में प्राप्त प्राय: ६०० ई. के एक अभिलेख में वहाँ के एक मन्दिर के लिए रामायण और महाभारत की प्रतिलिपियों को उपहार के रूप में प्रदान किये जाने का उल्लेख है। उपहार देनेवाले ने इनके निरन्तर पाठ की भी व्यवस्था की थी।[1] इससे स्पष्ट है कि महाभारत ६०० ई० तक भारत की सीमा पार करके विदेशों में भी जा चुका था। जावा और बालि द्वीप में भी महाभारत छठी शताब्दी ई. में प्रचलित था।

(५) पाँचवीं शताब्दी ई० के अनेक दानपत्रों में महाभारत के श्लोकों का उद्धरण धर्मशास्त्र मानकर दिया गया है। ४४५ ई० के एक गुप्तकालीन अभिलेख में महाभारत को 'शतसाहस्री संहिता' कहा गया है। उस काल के अनेक दानपत्रों में भी 'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्' कहकर महाभारत के वर्तमान रूप का निर्देश किया गया है। विन्टरनित्स इन तथ्यों के आधार पर यह कल्पना करते हैं कि महाभारत अपने वर्तमान रूप में अवश्य ही एक दो शताब्दी पूर्व (अर्थात् तीसरी-चौथी शताब्दी ई.) ही आ चुका होगा। इस जर्मन विद्वान् की यह कल्पना है कि महाभारत चौथी शताब्दी ई० पू० से पहले का ग्रन्थ नहीं हो सकता क्योंकि इसमें यवनों का बहुधा उल्लेख है जो सिकन्दर के आक्रमण (३२६ ई० पू०) के बाद की स्थिति को प्रकट करता है।

(६) शान्तिपर्व के सीरियन-भाषीय रूपान्तर के तीन अध्यायों का अध्ययन करके हर्तेल ने यह प्रमाणित किया है कि ५०० ई० में उपलब्ध महाभारत वर्तमान ग्रन्थ से अधिक भिन्न नहीं था। चीनी तुर्किस्तान तथा चीनी साहित्य के अनुसन्धान से यह समय कई सौ वर्ष पीछे चला जाता है।[2]

(७) यूनान का एक लेखक 'दियो क्रिसोस्तोम' (Dio Chrysostom) ५० ई० में दक्षिण भारत के पाण्ड्य-प्रदेश में आया था। उसने लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' प्रचलित था। इसमें सन्देह नहीं कि 'इलियड' से उसका तात्पर्य महाभारत से ही है, इलियड के अनुवाद का तात्पर्य नहीं (जैसा कि विन्टरनित्स ने समझा है)। यूनानी काव्य 'इलियड' के समान इसमें भी वीरगाथाएँ हैं, यही आरोप का कारण है। दक्षिण में जब एक लाख श्लोकों का महाभारत पहुँच चुका था तो उत्तर भारत में एक-दो सौ वर्ष पहले ही यह अवश्य बन चुका था। अत: महाभारत की उत्तर कालसीमा ईस्वी पूर्व में ही हो सकती है।

(८) महाभारत के वर्तमान रूप की पूर्व कालसीमा अवश्य ही बौद्ध धर्म की उत्पत्ति तथा विस्तार के रूप में मानी जा सकती है। इसका कारण यह है कि महाभारत में बौद्धधर्म के कई

---

१. डॉ० विन्टरनित्स- प्राचीन भारतीय साहित्य, भाग-१, खण्ड-२ (हिन्दी अनु.), पृ० १३८।

२. डॉ० सूर्यकान्त-संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० ११७।

सिद्धान्त मिलते हैं। यवनों के उल्लेख से यह कालसीमा और भी अधिक संकुचित हो जाती है अर्थात् ३२० ई० पू० से लेकर ईस्वी सन् के आरम्भ-काल तक महाभारत ने वर्तमान रूप लिया होगा।[1]

(९) आश्वलायनगृह्यसूत्र (३/४/४) में[2] भारत तथा महाभारत दोनों ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। मैकडोनल इस उल्लेख को महाभारत के विषय में प्राचीनतम प्रमाण मानते हैं क्योंकि यह गृह्यसूत्र ५ वीं शताब्दी ई० पू० का है।[3] भारतीय विद्वानों का कथन है कि इस समय तक भारत को महाभारत में विकसित करने का उपक्रम हो चुका था।

(१०) बौधायनगृह्यसूत्र में विष्णुसहस्रनाम (अनुशासनपर्व का एक अंश) का उल्लेख है तथा वहाँ प्रमाण के रूप में 'भगवद्गीता' का एक श्लोक (९/२६ पत्रं पुष्पं फलं तोयम्.) भी उद्धृत किया गया है। इस गृह्यसूत्र का भी समय ४०० ई० पू० माना गया है। बौधायनधर्मसूत्र (२/२/२६) में भी महाभारत की चर्चा है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ४०० ई० पू० में बनना आरम्भ हुआ था।

(११) महाभारत के शान्तिपर्व में विष्णु के अवतारों का वर्णन है किन्तु उसमें बुद्ध का उल्लेख नहीं है। भारतीय साहित्य में बुद्ध को प्राय: प्रथम शताब्दी ई० में अवतार के रूप में स्वीकार किया गया था जब महायान शाखा का विकास हुआ।

(१२) संस्कृत के प्राचीनतम ज्ञात नाट्यकार भास ने अपने छह रूपक महाभारत के विभिन्न कथांशों के आधार पर तथा एक रूपक 'बालचरित' हरिवंश के आधार पर रचा है। भास-काल विवादग्रस्त है। पाश्चात्य विद्वान् २०० ई० के आसपास इसे मानते हैं जबकि भारतीय विद्वान् गणपतिशास्त्री, ए. डी. पुसलकर आदि भास को ३०० ई० पू० तक ले जाते हैं। ऐसा सम्भव है कि भास ने महाभारत की निर्माणावस्था में ही अपने रूपक लिखे हों।

इन सभी तथ्यों का संकलित निष्कर्ष यही है कि महाभारत का मूल रूप तो वैदिक युग की समाप्ति के अनन्तर प्राय: ८०० ई० पू० में 'जय' के नाम से बन चुका था, 'भारत' की रचना भी एक-दो सौ वर्षों में अर्थात् ५०० ई० पू० के आसपास हो चुकी थी और इसी काल से महाभारत के वर्तमान रूप के निर्माण का कार्यक्रम चला होगा जो २०० ई० पू० में या १०० ई० पू० में समाप्त हो गया। वर्तमान स्थिति में इसके अतिरिक्त कुछ भी कहना कठिन है।

महाभारत की टीकाएँ

महाभारत पर ३६ टीकाओं के लिखे जाने का पता लगा है। इनमें कुछ टीकाएँ सम्पूर्ण महाभारत पर हैं, तो कुछ केवल पर्व-विशेष पर ही हैं। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस से विराटपर्व आठ टीकाओं के साथ १९१५ ई० में तथा उद्योगपर्व पाँच टीकाओं के साथ १९२० ई० प्रकाशित हुआ था। देवबोध या देवस्वामी (१०५० ई० से पहले) महाभारत के प्राचीनतम उपलब्ध टीका के प्रणेता हैं जिनकी टीका अंशतः पूना तथा बम्बई से प्रकाशित है। इनकी टीका का नाम 'ज्ञानदीपिका' है। वैशम्पायन (१०५० ई० से पहले) की टीका केवल 'मोक्षधर्म' (शान्तिपर्व) पर मिली है।

---

१. चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा शान्तिकुमार व्यास-**संस्कृत साहित्य की रूपरेखा**, पृ० २१।

२. सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैलसूत्र-भारत-महाभारत-धर्माचार्याः। ३. **हि. सं. लि.**, पृ० २४०।

इन दोनों टीकाओं का उपयोग १०५० ई० के आसपास आविर्भूत विमलबोध ने अपनी 'विषमश्लोकी' (या दुर्घटार्थप्रकाशिनी) नामक महाभारत-व्याख्या में किया था। यह टीका सम्पूर्ण महाभारत पर है। अन्य टीकाकारों में नारायण सर्वज्ञ (१२५० ई०, भारतार्थप्रकाशटीका), चतुर्भुज मिश्र (१३०० ई० भारतोपाय-प्रकाश टीका), आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१३५० ई०, पाँच पर्वों पर टीका उपलब्ध), अर्जुनमिश्र (१३५०-१४०० ई०, अर्थदीपिका), नारायण तथा वादिराज (१६ वीं शताब्दी ई०, लक्षाभरण टीका) मुख्य हैं। महाभारत के सर्वाधिक लोकप्रिय टीकाकार नीलकण्ठ हैं जिनकी टीका पूरे महाभारत पर 'भारतभावदीप' के नाम से अनेकत्र प्रकाशित है। इनका काल १६५० ई० के आसपास है।[१]

महाभारत के विशिष्ट ग्रन्थात्मक अंश

महाभारत में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण अंश हैं जिन्होंने स्वयं स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप ले लिया है अथवा जिनसे प्रेरित होकर अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ संस्कृत या अन्य भाषाओं में की गयी है। इनमें कुछ अंशों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) शकुन्तलोपाख्यान- यह आख्यान आदिपर्व (अध्याय ६८-७४) में आया है। दुष्यन्त पूरुवंश का प्रतापी राजा था जिसकी प्रजा प्रसन्न थी। उसने आखेट-क्रम में मालिनी नदी के तट पर कण्वाश्रम में प्रवेश करके शकुन्तला नाम अनुपम सुन्दरी कन्या को देखा। दोनों में परस्पर आकर्षण से गान्धर्व विवाह हो गया। कण्व की अनुपस्थिति में यह सब हुआ। दुष्यन्त शकुन्तला को बाद में ले जाने का आश्वासन देकर राजधानी लौट गया। कालान्तर में शकुन्तला को भरत नामक पुत्र हुआ। उसके बड़ा होने पर कण्व की आज्ञा से शकुन्तला पतिगृह गयी। दुष्यन्त ने अपनी पत्नी और पुत्र को एक आकाशवाणी के बाद स्वीकार किया। इस कथा का ईषत् परिवर्तन करके कवि कालिदास ने 'शाकुन्तल' नाटक लिखा।

(२) नलोपाख्यान-यह आख्यान वनपर्व (अध्याय ५३-७९) में आया है। इसे एक उपपर्व की कोटि दी गयी है। निषध-नरेश नल में विदर्भराज की पुत्री दमयन्ती के प्रति पूर्वराग उत्पन्न हुआ। नल ने एक हंस को दमयन्ती के पास भेजा कि वह नल के प्रति दमयन्ती को आकृष्ट करे। दमयन्ती भी नल के गुणों को हंस से सुनकर उसके प्रति प्रेम करने लगी। कालक्रम से उसका स्वयंवर हुआ। उसमें देवगण भी गये। नल भी जाने लगा तो इन्द्र ने उससे कहा कि तुम हम चार देवताओं (इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम) का दूत बनकर दमयन्ती के पास जाओ। नल ने संकोचवश इस याचना को स्वीकार कर लिया किन्तु दमयन्ती नल को चुनने पर दृढ़ थी। स्वयंवर में चारों देवता नल का ही रूप बनाकर उपस्थित थे। दमयन्ती यह देखकर व्याकुल हो गयी किन्तु अन्ततः उसने नल को चुन ही लिया। दोनों का विवाह हो गया। कलियुग ने नल पर आक्रमण करके उसे अनेक कष्ट दिये, दमयन्ती को उसने छोड़ दिया। बाद में अनेक संकटों से पार होकर दोनों का

---

१. महाभारत के टीकाकारों का विशेष परिचय जानने के लिए देखें- (1) Sukthankar Memorial Edn, Poona (1944), Vol. I, pp. 263-77 (2) P. K. Gode-Studies in Indian Literary History, Vol. I, Bombay (1953), p.p. 413-22. (३) आचार्य बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९९०), पृ० ६६-७०।

समागम हुआ। इस कथा के आरम्भिक अंशों पर श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' नामक महाकाव्य लिखा है।[1]

(३) **रामोपाख्यान**-यह आख्यान वनपर्व (अध्याय २७४-९१) में युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए मार्कण्डेय मुनि द्वारा सुनाया गया है। इसमें वाल्मीकीय रामायण की कथा संक्षिप्त रूप से वर्णित है। उत्तरकाण्ड वाली सीता-निर्वासन की कथा इसमें नहीं है।

(४) **सावित्र्युपाख्यान**- वनपर्व (अध्याय २९२-९९) में यह आख्यान भी मार्कण्डेय जी के द्वारा सुनाया गया है। राजा अश्वपति की पुत्री सावित्री को स्वयं वर का अन्वेषण करना था, उसने सत्यवान् का वरण किया। सत्यवान् द्युमत्सेन (शाल्वदेश के निर्वासित अन्धे राजा) का पुत्र था। विवाह हो जाने पर अपने पातिव्रत-धर्म के कारण सावित्री ने न केवल अपने पति की रक्षा यमराज से की अपितु राजा द्युमत्सेन की नष्ट आखें और राज्य भी प्राप्त करा दिया। पतिव्रता-माहात्म्य के प्रसङ्ग में दी गयी इस कथा का भारत में बहुत अधिक प्रचार है।

(५) **भगवद्गीता**- यह भीष्मपर्व (अध्याय २५-४२) में 'श्रीमद्भगवद्गीताप्रारम्भ' नामक उपपर्व के रूप में १८ अध्यायों का ग्रन्थ है जो अपने-आप में संस्कृत-भाषा की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। संसार की असंख्य भाषाओं में इसके रूपान्तर और विवेचन हुए हैं। इसे सभी उपनिषदों का सार कहा गया है। महाभारत-युद्ध के आरम्भ में पाण्डव सेनापति अर्जुन को विषाद उत्पन्न होता है, उसे उत्साहित करने के लिए भगवान् कृष्ण कर्मयोग का उपदेश देते हैं। उपदेशों की शृङ्खला इस प्रकार चलती है कि जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए आध्यात्मिक जीवन का उत्कर्ष दिखाया गया है जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का समन्वय होता है। ये तीनों मोक्षमार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं अपितु परस्पर पूरक हैं। इसीलिए इन्हें 'योग' कहा गया है जहाँ दृष्टि की समता और कर्म में कुशलता रहती है (समत्वं योग उच्यते, योगः कर्मसु कौशलम्; गीता २/४८,५०)। गीता में उन सभी सम्प्रदायों का संकलन या सामञ्जस्य दिखाया गया है जो पवित्रता तथा दर्शन की ऊँचाई के कारण उपनिषदों की कोटि में आ चुके थे। इसमें विरति के साथ प्रवृत्ति का मार्ग है, विश्राम के स्थान पर श्रम का उपदेश है, वियोग का निवारण करके योग का प्रवर्तन है। प्रत्येक अध्याय को इसीलिए 'योग' कहा गया है-अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानविभागयोग इत्यादि। निष्काम कर्म को इसमें वास्तविक जीवन-मार्ग कहा गया है (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन २/४७)। यही स्थायी शान्ति की सरणि है। ज्ञान से ही इस मार्ग की सिद्धि होती है। ज्ञान का अर्थ है सर्वत्र ईश्वर को देखना और ईश्वर में समस्त जगत् को मानना (६/३०)। अन्ततः यह ज्ञान भक्ति की परिधि में आ जाता है जहाँ मानव अपने सभी कर्मों का सम्पादन ईश्वरार्पण-भाव से करता है।[2] अन्तिम अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश

---

१. इसी प्रकार भारवि ने वनपर्व की कुछ कथा को आधार बनाकर 'किरातार्जुनीय' तथा माघ ने सभापर्व के कुछ अंशों को लेकर '**शिशुपालवध**' नामक महाकाव्य की रचना की थी। '**नैषधचरित**' को लेकर ये तीनों महाकाव्य संस्कृत में '**बृहत्त्रयी**' कहलाते हैं।

२. **गीता ५/१०** ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

दिया कि सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में रहो, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक न करो (१८/६६)। अर्जुन का विषाद दूर हो जाने से वह युद्ध में तत्पर हो गये।

गीता पर अनेक व्याख्याएँ विभिन्न दृष्टियों से लिखी गयीं। शङ्कर, रामानुज, मधुसूदन सरस्वती आदि ने संस्कृत व्याख्याएँ लिखी थीं। मराठी में सन्त ज्ञानेश्वर ने इसकी व्याख्या लिखी थी। आधुनिक विद्वानों में तिलक, अरविन्द तथा महात्मा गाँधी ने अपने-अपने ढंग से इसकी टीकाएँ की हैं। गीता में ७०० श्लोक हैं।

हरिवंश-पर्व[१]

यह महाभारत के परिशिष्ट के रूप में स्वतंत्र ग्रन्थ होने के कारण 'खिलपर्व' कहा जाता है। इसमें १६३७४ श्लोक हैं। इसे भी वैशम्पायन ने जनमेजय को सुनाया था। धार्मिक दृष्टि से पुत्र-प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ के श्रवण का माहात्म्य बताया जाता है। यह भी महाभारत के समान अनेक लेखकों की रचना के रूप में है। इसका अन्तिम पर्व (भविष्यपर्व) परिशिष्ट है और काल की दृष्टि से बहुत बाद की रचना है। इस ग्रन्थ के तीन खण्ड (पर्व) हैं- हरिवंशपर्व, विष्णुपर्व तथा भविष्यपर्व।

हरिवंशपर्व में कृष्ण के वंश (वृष्णि-अन्धक) की कथा विस्तार से वर्णित है, इसी के नाम पर पूरे ग्रन्थ का नाम दिया गया है। पुराणों के अनुसार सृष्टि का वर्णन; ध्रुव, दक्ष, वेन और पृथु के आख्यान, सूर्यवंश के वर्णन के प्रसङ्ग में विश्वामित्र और वसिष्ठ की कथा एवं चन्द्रवंश के वर्णन-क्रम में उर्वशी-पुरूरवा, नहुष, ययाति, यदु, वसुदेव तथा कृष्ण की कथाएँ वर्णित हैं। इसमें प्रसङ्ग से पृथक् हटकर प्रेतकल्प (अन्त्येष्टि तथा श्राद्ध) का वर्णन नौ अध्यायों में (१६-२४) किया गया है। **विष्णुपर्व** सबसे बड़ा भाग है जिसमें महाभारत के नायक कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन किया गया है। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न तथा पौत्र अनिरुद्ध के विवाहों का भी विस्तृत विवरण है। भागवत में निरूपित कृष्णकथा से कहीं-कहीं विवरणों में पार्थक्य है। अत: प्राचीनतम कृष्णकथा का प्रतिनिधित्व इसमें मिलता है। **भविष्यपर्व** में विविध वृत्तों का पौराणिक शैली में परस्पर असम्बद्ध विवरण है। विष्णु के अवतारों का वर्णन, शिव और विष्णु की उपासना का समन्वय एवं शिव के दो उपासकों (हंस तथा डिम्भक) की कृष्ण द्वारा पराजय की कथा के अतिरिक्त अन्त में महाभारत और हरिवंश के माहात्म्य का निरूपण है।

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने कहा है कि कृष्णद्वैपायन ने महाभारत का हरिवंश के द्वारा समापन करके शान्तरस की पुष्टि की है। इस प्रकार हरिवंश को प्राचीन काल से ही महाभारत का अंश माना गया है। आदिपर्व के द्वितीयाध्याय में जो महाभारत में १०० पर्व माने गये हैं उनमें 'हरिवंश' भी सम्मिलित है (महा. १/२/८२-८३)। हरिवंश का उपक्रम तथा उपसंहार स्पष्टत: इसे महाभारत का अभिन्न अङ्ग मानता है। इसका प्रथम शताब्दी ई. पू. तक संकलन हो चुका था।

---

१. नीलकण्ठी-टीका के साथ चित्रशाला प्रेस (पूना) से प्रकाशित; हिन्दी अनुवाद के साथ गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित।

महाभारत का मुख्य रस

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में महाभारत और रामायण के मुख्य रस पर विचार किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने कारिका दी है कि कोई काव्य व्यञ्जक शब्दों तथा व्यङ्ग्य अर्थों से समन्वित होकर विविध रसों की उद्‌भावना करता है तथापि कवि का लक्ष्य किसी एक रस को प्रधान स्थान देने का होता है।[1] वह प्रधान रस कवि के कथ्य का वाहक होता है, सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करता है। कृष्णद्वैपायन व्यास का लक्ष्य महाभारत को शान्तरस-प्रधान बनाना था।

ध्वनिकार की दृष्टि में भी महाभारत शास्त्र और काव्य दोनों के सौन्दर्य से समन्वित है (शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि महाभारते)। इसमें यादवों तथा पाण्डवों के नीरस अवसान के कारण चित्त को निर्वेद से भर देने वाली समाप्ति की व्यवस्था की गयी है। भाव यह है कि महामुनि व्यास ने वैराग्य की उत्पत्ति को अपने ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य रखा है। उनके ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य यही है कि लोग पुरुषार्थों में मोक्ष को और रसों में शान्तरस को इस रचना में मुख्य रूप से पहचानें। अन्य व्याख्याकारों ने भी न्यूनाधिक रूप से इसी रूप में इसे स्पष्ट किया है (मोक्षलक्षण: पुरुषार्थ: शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचित:; एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्याविधायिभि:)।[2] लोकनाथ (संसार के उद्धारक) महामुनि व्यास ने अज्ञान के अन्धकार में निमग्न जगत् के रक्षणार्थ उज्ज्वल ज्ञानरूप आलोक प्रदान करते हुए उसी ग्रन्थ में कहा भी है-

> यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
> तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशय:॥ (शान्तिपर्व १७४/४)

अर्थात् जैसे-जैसे इस विश्व-प्रपञ्च की असारता और मिथ्यारूपता प्रतीत होती जाती है, वैसे ही वैसे इसके विषय में वैराग्य भी होता जाता है- इसमें सन्देह नहीं है।

इस प्रकार अन्य गौण रसों से अनुगत 'शान्तरस' और अन्य गौण पुरुषार्थों (धर्मादि) से अनुगत 'मोक्ष-रूप पुरुषार्थ' यहाँ अङ्गी (प्रधान) के रूप में विवक्षित है। यही महाभारत का तात्पर्य है जो स्पष्टतया प्रतीत होता है। प्रधान रस के साथ दूसरे रस गौणप्रधान भाव से रह सकते हैं, इसमें विरोध या आश्चर्य की बात नहीं है। प्रधान रस की प्रस्तुति अन्य रसों से पहले होती है, वह बार-बार प्रबन्ध में उपलब्ध होता है। बीच-बीच में आये हुए अन्य रसों के साथ उस मुख्य रस का समावेश होने पर भी उसकी मुख्यता का विनाश नहीं होता है।[3] इसीलिए महाभारत में भी वीर, करुण, शृङ्गार, अद्‌भुत आदि जो गौण रस हैं वे अत्यन्त परिपुष्ट न होने से शान्त रस के प्राधान्य के बाधक नहीं हैं।

यह बात अवश्य है कि कभी-कभी व्यक्ति आत्मा की उपेक्षा करके जैसे अप्रधान शरीर

---

१. ध्वन्यालोक ४/५ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि: स्यादवधानवान्॥

२. ध्वन्यालोक ४/५ के बाद वृत्ति, पृ. ३४५ (विश्वेश्वर- संस्करण)।

३. ध्वन्यालोक ३/२२ की वृत्ति- प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुत: सन् पुन: पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलप्रबन्धव्यापिनो रसान्तैरन्तरालवर्तिभि: समावेशो य: स नाङ्गितामुपहन्ति।

को प्रधान मान कर सुन्दर बनाने का प्रयास करता है, उसी प्रकार महाभारत में भी वस्तुतः प्रधान 'शान्त' रस को और 'मोक्ष' पुरुषार्थ को कुछ समय के लिए छोड़कर वीरादि गौण रसों को एवं धर्मादि पुरुषार्थों को तात्कालिक (ad hoc, temporary) प्रधानता दी गयी है। किन्तु इससे वास्तविकता का निराकरण नहीं हो जाता।

यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि महाभारत का समस्त प्रतिपाद्य विषय तो 'अनुक्रमणी' (ग्रन्थारम्भ में दी गयी सूची) में क्रम से लिखा गया है, उसमें शान्तरस तथा मोक्ष की प्रधानता तो निर्दिष्ट नहीं है। इसके विपरीत महाभारत को सभी पुरुषार्थों के ज्ञान का साधन (सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वम्) तथा सभी रसों से समन्वित (सर्वरसगर्भत्वम्) उसी अनुक्रमणी के प्रसङ्ग में अभिहित किया गया है (स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते)। ऐसी स्थिति में आप शान्तरस को और मोक्ष को यहाँ प्रधान कैसे कह सकते हैं?

उत्तर दिया जा सकता है कि आप कुछ दूर तक ठीक कहते हैं। शान्तरस और मोक्ष की प्रधानता अभिधा से नहीं, अपितु व्यञ्जना द्वारा प्रकट की गयी है। यह वाक्य देखें-**भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।**[1] इस वाक्य से यह अर्थ व्यङ्ग्य रूप से विवक्षित है कि महाभारत में पाण्डवादि के चरित्र का जो वर्णन है वह सब नीरस अवसान के रूप में अविद्या का प्रपञ्चमात्र है (तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च)। परमार्थतः तो सत्यस्वरूप भगवान् वासुदेव की कीर्ति ही यहाँ गायी गयी है। अतएव परम ऐश्वर्यशाली भगवान् में ही मन की भावना रखो, असार विभूतियों (भौतिक उदय) में अनुरक्त मत रहो। अथवा नीति, विनय, पराक्रम आदि शुष्क गुणों में पूर्णरूप से अपने मन को मत लगाओ। आगे चलकर यही स्पष्ट किया गया है कि संसार की निःसारता देखो। इस बात को व्यञ्जकशक्ति से अनुप्राणित शब्द स्पष्ट निर्दिष्ट करता है। अनुक्रमणी के निम्नाङ्कित वाक्यों पर विचार करने से यह बात समझी जा सकती है-

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥
(आदिपर्व १/२५६-७)

इस प्रकार व्यास ने अपने वक्तव्य को व्यञ्जना की सहायता से प्रकट किया है कि यहाँ भगवान् वासुदेव का गुणगान ही सत्य या पारमार्थिक है, शेष बातें तो प्ररोचना के रूप में हैं। वह प्रच्छन्न किन्तु रमणीय व्यङ्ग्यार्थ आगे चलकर स्पष्ट हुआ है जब महाभारत का अवसान हो जाने पर हरिवंश के वर्णन द्वारा उपसंहार किया गया है। इस अर्थ से लोकोत्तर भगवत्-तत्त्व में प्रगाढ़ भक्ति को प्रवृत्त करते हुए व्यास ने समस्त सांसारिक व्यवहार को पूर्वपक्ष (बाधितविषय) बना दिया है। यह प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित हुआ है। महाभारत में जो देवताओं, तीर्थों और व्रतों का महत्त्व दिखाया गया है वह सब उसी परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। अन्य देवता उसी की विभूति हैं।

पाण्डवादि के चरित्र का वर्णन भी वैराग्योत्पादन के लिए किया गया है। वैराग्य मोक्ष का

---

१. **महाभारत**, आदिपर्व १/२५६ (पूर्वार्ध)।

कारण है और मोक्ष को भगवत्प्राप्ति का उपाय माना गया है (जैसा कि गीता आदि ग्रन्थों में प्रदर्शित है)। इस प्रकार परम्परा से महाभारत का समस्त काव्यार्थ परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय के रूप में है। वासुदेव को यहाँ एक व्यक्ति विशेष या पात्र-विशेष न मानकर सनातन पुरुष (ब्रह्म) ही समझना चाहिए। महाभारत के विविध भागों में यह बात निर्दिष्ट है।

निष्कर्ष यह हुआ कि महाभारत की अनुक्रमणी (प्रथम अध्याय) में जो वाक्य आये हैं वे भगवान् वासुदेव को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं की अनित्यता प्रकट करते हैं। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से मोक्ष के रूप में एक ही पुरुषार्थ महाभारत का प्रमुख प्रतिपाद्य है और काव्य की दृष्टि से तृष्णा के क्षय से उत्पन्न सन्तुष्टि-सुख की पुष्टि के रूप में शान्तरस ही उस ग्रन्थ का प्रधान रस है। आनन्दवर्धन का यह विवेचन महाभारत को अनुपम दार्शनिक और साहित्यिक प्रकर्ष प्रदान करता है। इसका शास्त्रत्व और काव्यत्व दोनों उत्कृष्ट है, परस्पर समन्वित है।

सांस्कृतिक महत्व

महाभारत का उदय निश्चित रूप से युद्ध का वर्णन करने वाले वीररस-पूर्ण काव्य के रूप में हुआ था किन्तु कालक्रम से यह भारतवर्ष की वैविध्यपूर्ण संस्कृति के विशाल दर्पण के रूप में परिवर्तित हो गया। आज यह धर्म और दर्शन के महाकोश के रूप में जाना जाता है जिससे वीररस की प्रधानता शान्तरस में परिणत हो गयी। महाभारत के सांस्कृतिक महत्त्व के अनेक पक्ष विचारणीय हैं।

(१) **पुरुषार्थ-चतुष्टय का प्रतिपादन**- महाभारत में कहा गया है कि इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चारों पुरुषार्थों का इतना व्यापक विवेचन है कि इसके अतिरिक्त कहीं भी कुछ नवीन सामग्री नहीं हो सकती-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।। (१/६२/५३)

वैशम्पायन ने इसकी प्रशंसा में कहा है कि महाभारत धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र है[१] प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन में इन पुरुषार्थों को 'चतुर्वर्ग' कहा गया था जिन्हें प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य था। इनके प्रतिपादन से महाभारत ने सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को व्याप्त कर लिया था।

'धर्म' को महाभारत में 'आचारलक्षण:' तथा 'धारणाद्धर्म:' के रूप में परिभाषित किया गया है। इसके विविध रूप दिये गये हैं जैसे- सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म। सत्य, तपस्या, दया, अहिंसा आदि सामान्य धर्म हैं। इनका पालन सभी स्थितियों में करना चाहिए। विशिष्ट धर्म के कई प्रकार हैं जैसे-राजधर्म, स्त्रीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, युगधर्म इत्यादि। आपद्धर्म संकट काल में पालनीय होता है। जो सामान्यत: अधर्म के रूप में होता है किन्तु विपत्ति

---

१. धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥
(१/६२/२३)। १/२/३८३ में पाठ.- कामशास्त्रमिदं प्रोक्तम्।

में धर्म का रूप लेता है वही आपद्धर्म है। धर्म का त्याग किसी भी स्थिति में नही करना चाहिए (न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः)।[1] अपने धर्म के लिए प्राणत्याग करने में भी संकोच नहीं होना चाहिए (स्वधर्मे निधनं श्रेयः, गीता ३/३५)। धर्म को अवसर के अनुसार परिवर्तित करने का भी विधान महाभारत में है क्योंकि सज्जन के साथ सज्जनता दिखाना यदि धर्म है, तो छली के प्रति छल का प्रयोग भी धर्म ही है-

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिँस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥ (५/३७/७)

'अर्थ' की महिमा भी महाभारत में वर्णित है। उद्योगपर्व में धन को परमधर्म कहते हुए निर्धन के जीवन को मृततुल्य कहा गया है-

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः॥ (५/७१/३१)

अर्थ के अभाव में जीवन चल नहीं सकता (प्राणयात्रापि लोकस्य बिना ह्यर्थं न सिध्यति, शान्तिपर्व ८/१७)। धनहीन व्यक्ति की सभी क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं (विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा, शान्तिपर्व ८/१८)। धन से ही कुल, धर्म आदि सम्पन्न होते हैं; 'कृश' होने का अर्थ वस्तुतः धन की कृशता है, शरीर की कृशता नहीं (शान्तिपर्व ८/२४)।

'काम' का निरूपण महाभारत के अनेक प्रसंगों में मिलता है। भीष्म ने मानव जीवन की इस सहज प्रवृत्ति को अर्थ का फल कहा है (कामोऽर्थफलमुच्यते)। किन्तु धर्ममूलक काम न होने पर वह सर्वनाश का कारण भी बन जाता है (गीता २/६२-३)। भीष्म ने धर्म को श्रेष्ठ, अर्थ को मध्यम तथा काम को दोनों से अवर कहा है-

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः॥ (शान्तिपर्व १६७/८)

काम जीवन की गतिशीलता के लिए आवश्यक होने पर संयम की अपेक्षा रखता है क्योंकि इसके अभाव में चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) दूर हो जाता है (गीता २/४४)। इसीलिए धर्म का अंकुश काम पर लगाने का उपदेश महाभारत में सर्वत्र है।

'मोक्ष' तो महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य ही है, अन्य पुरुषार्थ अङ्गमात्र हैं। शान्तिपर्व में 'मोक्षधर्म' को एक उपपर्व के रूप में दिया गया है। वैराग्य, संन्यास, धार्मिक जीवन इत्यादि का लक्ष्य 'मोक्ष' ही है जिसमें आत्मा की सांसारिक बन्धनों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, वह अपने रूप में अवस्थित हो जाता है। मोक्ष की प्रतिष्ठा के लिए इस ग्रन्थ में अनेक गीताओं का निवेश किया गया है जैसे-भगवद्गीता (भीष्मपर्व २५-४२), पराशरगीता (शान्तिपर्व २९०-९८), **हंसगीता** (शान्तिपर्व २९९), **अनुगीता** (आश्वमेधिक १६-१९), **ब्राह्मणगीता** (आश्वमेधिक २०-३४) इत्यादि। अनुगीता में मोक्ष को 'अमृत' कहा गया है-

---

१. महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व ५/६३। इसके पूर्व (५/६२) सौति धर्म को अर्थ और काम का उत्पादक कारण कहते हैं- ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

परा हि सा गतिः पार्थ यत्तद् ब्रह्म सनातनम्।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी॥
(आश्वमेधिकपर्व १९/६०)

मोक्ष-प्राप्ति के उपायों में ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यानयोग आदि की चर्चा है। गीता में सबका समन्वय किया गया है।

(२) **आचार-संहिता**- अपने युग के विभिन्न मानवों के मार्ग-दर्शन के लिए महाभारत विशाल आचार-संहिता प्रस्तुत करता है। आख्यानों के द्वारा इस विषय में कहीं मित्रसम्मित उपदेश हैं तो कहीं धर्मशास्त्र के रूप में साक्षात् कर्तव्य-निर्देश करते हुए प्रभुसम्मित उपदेश दिये गये हैं। पाप और पुण्य का विभाजन, दैव और पुरुषकार का परस्पर सम्बन्ध-निरूपण, विविध वर्णों तथा आश्रमों में रहते हुए कर्तव्य का निर्धारण-ये सभी महाभारत में प्राप्त होते हैं। अनुशासन-पर्व ऐसे विषयों का भाण्डागार है यद्यपि अन्य पर्वों में भी अवसर के अनुसार आचार-विषयक उपदेश संवादों के द्वारा दिये गये हैं। दैव (भाग्य) और पुरुषकार (उद्योग) का तारतम्य इस प्रकार प्रकट किया गया है-

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्ध्यते॥
(अनुशासनपर्व ६/७-८)

मनुष्य को अपने किये हुए कर्म का ही फल भोगना पड़ता है, अकृत कर्म का नहीं। सुख पाने के लिए सदा शुभ कर्म ही करना चाहिए।[1] शुभ कर्मों के प्रसङ्ग में दान पर बहुत बल दिया गया है। दान के पात्रों के अतिरिक्त देय पदार्थों का गहन विश्लेषण किया गया है। कन्या के विवाह के विषय में पात्रापात्र का विचार (अनुशासन, ४४), स्त्रियों की रक्षा, सम्पत्ति का उत्तराधिकार, गोसेवा की महिमा, विविध व्रतों और उपवासों का महत्त्व आदि विषय महाभारत के सम्बद्ध स्थलों में विवेचित हैं। राजाओं के लिए कर्तव्य-समूह का निर्देश शान्ति-पर्व के राजधर्म-पर्व में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। वस्तुतः भारत में ऐसा कोई मानव नहीं जिसके लिए महाभारत में आचार-विषयक उपदेश न हो।

(३) **धार्मिक महत्त्व**- महाभारत में शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों में समन्वय दिखाया गया है। इस दृष्टि से पुराणों से इसका स्पष्ट पार्थक्य है। इसमें शिव और विष्णु दोनों के सहस्रनाम स्तोत्र हैं जिनका पाठ क्रमशः शैव और वैष्णव लोग प्रतिदिन करते हैं।[1] आज सम्पूर्ण महाभारत का पाठ कोई नहीं करता किन्तु इसके कुछ प्रमुख भागों को बहुत उत्कृष्ट मानकर उनका पाठ सभी लोग करते हैं जैसे-अनुगीता, भगवद्गीता, भीष्मस्तवराज आदि। महाभारत में इस ग्रन्थ के पाठ

---

१. अनुशासन. ६/१० शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

१. अनुशासन, अध्याय १७ (शिवसहस्रनामस्तोत्र), अध्याय १४९ (विष्णुसहस्रनामस्तोत्र)।

के प्रचुर फल निरूपित है। यह ज्ञाताज्ञात समस्त पापकर्मों को श्रवणमात्र से ही नष्ट कर देता है-

अह्ना यदेन: क्रियते इन्द्रियैर्मनसापि वा।
ज्ञानादज्ञानतो वापि प्रकरोति नरश्च यत्।
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते॥ (१/६२/३८-९)

महाभारत के ज्ञान के विना सभी शास्त्रों का ज्ञाता भी 'विचक्षण' (पण्डित) नहीं कहला सकता। इसे इतना धार्मिक महत्त्व दिया गया है-

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षण:॥ (१/२/३८२)

महाभारत का धार्मिक प्रभाव पूरे भारत पर तथा आसपास के विदेशी राज्यों पर भी पड़ा है। ऊपर कहा गया है कि कम्बोज-प्रदेश के एक अभिलेख में महाभारत और रामायण के निरन्तर पाठ की व्यवस्था की सूचना मिलती है। महाभारत के श्रेष्ठ रत्न 'गीता' का पाठ तो सभी सम्प्रदायों के लोग पुण्य की दृष्टि से करते हैं।

(४) **साहित्यिक उत्कर्ष**- रामायण के समान महाभारत भी एक उपजीव्य ग्रन्थ है जिसका अनुहरण परवर्ती लेखकों और कवियों ने किया है। इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि इस उत्कृष्ट इतिहास का विकास उसी प्रकार कवियों की बुद्धि के रूप में हुआ है जिस प्रकार पञ्च महाभूतों से लोकों की सृष्टि हुई है-

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥ (१/२/३८५)

इसी प्रकार आगे भी कहा गया है-**इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते** (वहीं, ३८९)। इस काव्य की विशेषता का वर्णन कविगण मिलकर भी नहीं कर सकते-**अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे** (वही, ३९०)।

महाभारत में विविध शैलियों का प्रयोग है क्योंकि इसमें प्रतिपाद्य विषयों का बाहुल्य है जो विविध युगों में संकलित हुए हैं। सामान्यत: संकलनकारों ने शैली की एकरूपता बनाने का अत्यधिक प्रयास किया है। अत: भाषा में सरलता, रोचकता तथा प्रवाह है। भाव और रस के अनुरूप भाषा को भी परिवर्तित किया गया है। द्रौपदी के स्वयंवर में लक्ष्यवेध करने वाले राजाओं का वर्णन अलङ्कारसमन्वित है-

रूपेण वीर्येण कुलेन चैव शीलेन वित्तेन च यौवनेन।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः॥[1]

तो नीतिपूर्ण श्लोकों में विशुद्धोक्ति मिलती है-

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥[2]

---

१. महाभारत, आदिपर्व १८६/२।
२. महाभारत, उद्योगपर्व ३७/१५।

किन्तु दोनों में सरल भाषा का प्रवाह अत्यन्त हृदयावर्जक है। कहीं-कहीं समासपूर्ण पद्य भी सहज प्रवाह में आ गये हैं जो परवर्ती संस्कृत काव्यशैली के उदाहरण हैं-

धव-ककुभ-कदम्ब-नारिकेलैः कुरबक-केतक-जम्बुपाटलाभिः।
वट-वरुणक-वत्सनाभबिल्वैः सरलकपित्थप्रियालसालतालैः॥[१]

इसमें पुष्पिताग्रा-छन्द का प्रयोग है जो महाभारत के सामान्य अनुष्टुप् (या श्लोक) छन्द से भिन्न है। काव्यात्मक स्थलों में उपजाति, वंशस्थ इत्यादि छन्दों का प्रयोग भी महाभारत में मिलता है। किन्तु इन पर वैदिक प्रभाव भी है जिससे अक्षरों के ह्रस्व-दीर्घ का व्यत्यय हुआ है जैसे-

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः, शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम्।
गीतैस्तथा किन्नराणामुदारैः, शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर॥[२]

रामायण के समान महाभारत की कथाओं को लेकर भी अनेक काव्य, नाटक, चम्पू आदि लिखे गये हैं। भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपालवध और श्रीहर्ष का नैषधीयचरित प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य हैं जिन्हें 'बृहत्त्रयी' के रूप में ख्याति मिली है। ये इसी ग्रन्थ पर आश्रित हैं। क्षेमेन्द्र की भारतमञ्जरी तथा वामनभट्ट का नलाभ्युदय भी भारताश्रित महाकाव्य हैं। रूपकों में भास-कृत दूतघटोत्कच, दूतवाक्य, कर्णभार, मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र, ऊरुभङ्ग और बालचरित (हरिवंशाश्रित)-ये महाभारत से संकलित कथानक वाले हैं। इसी प्रकार कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल, भट्टनारायण का वेणीसंहार, राजशेखर का बालभारत, वत्सराज का किरातार्जुनीयव्यायोग इत्यादि भी महाभारताश्रित रूपक हैं। चम्पूग्रन्थों में त्रिविक्रमभट्ट-कृत नलचम्पू, अनन्तभट्ट-कृत भारतचम्पू, नारायणभट्ट-कृत पाञ्चाली-स्वयंवर-चम्पू, राजचूड़ामणि दीक्षित-कृत भारतचम्पू प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः महाभारताश्रित संस्कृत रचनाओं की संख्या सौ से अधिक है।[३]

महाभारत का रूपान्तर या तदाश्रित सम्पूर्ण रचनाएँ इसी नाम से भारत की सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं। इस प्रकार यह भी साहित्य के उपजीव्य के रूप में विख्यात विशाल काव्य है।

(५) **दार्शनिक उत्कर्ष**- महाभारत को शास्त्र और काव्य का समन्वय कहा गया है। काव्य की मधुर शैली में वस्तुतः यहाँ दर्शन को प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखा गया है। महाभारत के जो लोकप्रिय अंश स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं (जैसे- भगवद्गीता, सनत्सुजातीय, अनुगीता आदि), वे सभी दार्शनिक उत्कर्ष से युक्त हैं। भगवद्गीता में आध्यात्मिक जीवन के विविध पक्षों का निरूपण है तो अन्य ग्रन्थों में मोक्ष, वैराग्य आदि की महत्ता प्रदर्शित है। महाभारत में सांख्य-दर्शन (द्वैतवाद) का सम्यक् विवेचन है। कठोपनिषद् में प्रतिपादित रथ के रूपक को महाभारत के निम्न श्लोक में अच्छी तरह समझाया गया है-

---

१. महाभारत, अनुशासनपर्व १४/४६।
२. अनुशासनपर्व १४/५३।
३. महाभारत में ही कहा गया है- सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः॥ (आदि. १/९२)

रथ: शरीरं पुरुषस्य राजन्
आत्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैः
दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥[1]

इसी प्रकार परमात्मा की व्यापकता का निरूपण करते हुए शान्तिपर्व में भीष्म कहते हैं-

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो देवस्तस्मै सर्वात्मने नमः॥[2]

शान्तिपर्व में महाभारत के उपदेशों का सार बताया गया है कि वेदों का रहस्य 'सत्य' है, सत्य का रहस्य या सार 'दम' है और दम का सार 'मोक्ष' है-

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥ (शान्ति. २९९/१३)

अनुशासनपर्व के आरम्भ में 'काल' की महिमा पर प्रकाश डाला गया है कि संसार की सारी गतिविधियाँ काल के कारण ही होती हैं। भीष्म कहते हैं कि इस युद्ध में काल ने राजाओं का विनाश किया है, किसी दूसरे को दोष देना व्यर्थ है-

नैव त्वया कृतं कर्म नापि दुर्योधनेन वै।
कालेनैतत्कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः॥ (अनुशासन. १/८२)

वस्तुतः महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य दर्शन है जो मोक्ष में परिणत होता है, अन्य पार्थिव विषय तो अर्थवाद या औपचारिक वस्तु के रूप में हैं।[3]

इस प्रकार महाभारत का सांस्कृतिक पक्ष कई बिन्दुओं पर आश्रित है। इसके पात्रों की विशिष्टताओं का प्रयोग हमारे दैनिक वार्तालाप में होता है। युधिष्ठिर का धर्मप्रेम, भीम का पौरुष, अर्जुन का योद्धा-रूप, दुर्योधन का हठ, शकुनि का छल आदि विषय भारत के घर-घर में चर्चित होते हैं। लक्षणा से इन पात्रों का अर्थ उनके गुण-दोषों के रूप में गृहीत होता है। महाभारत भारतीय संस्कृति का सर्वाङ्गपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। इसीलिए बाण ने हर्षचरित में कहा है-

किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्॥[4]

महाभारत की कथा जगत्-त्रय के सभी पक्षों का स्पर्श करती है।

---

१. महाभारत, **उद्योगपर्व** ३४/६०।

२. शान्तिपर्व ४६/८६।

३. यद्यपि महाभारत के दार्शनिक प्रकरणों में सर्वत्र सांख्य-योग का विवरण है तथापि सनत्सुजातीय (५/४१-४६) जैसे लम्बे अंशों में शुद्ध वेदान्त का विवेचन है। गीता से किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ की तुलना नहीं की जा सकती।

४. **हर्षचरित** १/९

रामायण तथा महाभारत

तुलनात्मक दृष्टि

रामायण तथा महाभारत संस्कृत साहित्य के दो ऐसे अमर तथा विशाल ग्रन्थ हैं जो लौकिक संस्कृत के उदय-काल में ही रचे गये। इन दोनों ने परवर्ती संस्कृत साहित्य को बहुत प्रभावित किया है- कथाओं के उपजीव्य के रूप में भी और वर्णन (प्रतिपादन) की शैली देकर भी। दोनों को धार्मिक ग्रन्थ की कोटि प्राप्त है, दोनों में भारतीय आचार के उपदेश हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन न्यूनाधिक रूप से दोनों ग्रन्थों में हुआ है यद्यपि महाभारत अपने विशालतर आकार के कारण इस विषय में आगे बढ़ गया है। स्वयंवर द्वारा विवाह की कथा दोनों में समान रूप से मिलती है। रामायण में सीता का स्वयंवर होता है तो महाभारत में द्रौपदी का स्वयंवर है। स्वयंवर में कठिन परीक्षा का वर्णन दोनों ग्रन्थों में है। वनवास की कथा भी दोनों ग्रन्थों में वर्णित है यद्यपि दोनों में इसके निमित्तों में अन्तर दिखाया गया है। रामायण में भरत को राज्य दिलाने के लिए कैकेयी का षड्यन्त्र होता है तो महाभारत में दुर्योधन को पूरा राज्य दिलाने के लिए शकुनि का षड्यन्त्र वर्णित है।

दोनों ग्रन्थों में क्रमशः सीता और द्रौपदी के कारण महायुद्ध होता है जो एक पक्ष (हठी पक्ष) के सर्वनाश में परिणत होता है। युद्ध में माया एवं दिव्यास्त्रों का प्रयोग दोनों काव्यों में समान रूप से मिलता है। युद्ध का परिणाम धर्म या न्याय की विजय के रूप में होता है। रामायण में राम के राज्याभिषेक और अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन है तो महाभारत में भी विजेता युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होता है तथा वे अश्वमेध-यज्ञ करते हैं।

दोनों काव्य मुख्य रूप से अनुष्टुप् छन्द का तथा गौण रूप से उपजाति, वंशस्थ, पुष्पिताग्रा, शालिनी आदि छन्दों का प्रयोग करते हैं। बड़े छन्दों का प्रयोग इनमें नहीं होता है। दोनों की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है जिससे उस युग का स्मरण होता है जब संस्कृत का वाग्व्यवहार सार्वत्रिक था। दोनों काव्यों के वर्तमान रूप आख्यानों एवं मूलकथा को बढ़ाने वाले वर्णनों से भरे हुए हैं। इस प्रकार दोनों में साम्य के दर्शन किये जा सकते हैं। किन्तु कुछ ऐसे विषय भी हैं, तथा उनकी महत्ता अधिक है, जो दोनों ग्रन्थों को परस्पर पृथक् करके उनके पौर्वापर्य के विवेचन में सहायक होते हैं।

पौर्वापर्य (वैषम्य)

रामायण और महाभारत यद्यपि संस्कृत भाषा के उदयकाल में विकसित भारत के राष्ट्रीय महाकाव्य हैं तथापि इनके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों में अत्यधिक अन्तर प्राप्त होते हैं। इनके रचयिता क्रमशः वाल्मीकि और व्यास हैं। भारतीय परम्परा रामायण को 'आदिकाव्य' और महाभारत को 'इतिहास' कहती रही है। इन दोनों ग्रन्थों के परस्पर पौर्वापर्य (relative chronology) को लेकर वर्तमान युग में दो मत प्रचलित हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् महाभारत को पूर्ववर्ती कहते हैं तो भारतीय परम्परा में दीक्षित विद्वानों का आग्रह रामायण को ही प्रथम मानने का है। यह पौर्वापर्य दोनों रचनाओं के वैषम्य की व्याख्या पर आश्रित है।

यह स्पष्ट है कि महाभारत एक विकासशील रचना है जो जय, भारत तथा महाभारत-इन तीन चरणों में क्रमश: विकसित हुई। इस विकास में कितना समय लगा होगा, यह कहना कठिन है। सम्भवत: वैदिक युग के बाद ही ८०० ई० पू० में इसका निर्माण आरम्भ हो गया था तथा अन्तिम रूप भी २०० ई० पू० में या १०० ई० पू० में इसे प्राप्त हो गया था। दूसरी ओर रामायण ऐसी विकासशील रचना नहीं है। एक व्यक्ति की कवित्वशक्ति के प्रकाशन के रूप में यह संस्कृत का आदिकाव्य है, यद्यपि अन्य किसी भी लोकप्रिय संस्कृत ग्रन्थ के समान इसमें भी यत्र-तत्र प्रक्षिप्तांश हैं। जर्मन विद्वान् याकोबो ने तो पूरे उत्तरकाण्ड तथा बालकाण्ड को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का प्रयास किया था। ऐसी स्थिति में दोनों ग्रन्थों के कालगत पौर्वापर्य का प्रश्न बहुत जटिल हो गया है। फिर भी इन महाकाव्यों के अन्तिम रूपों को अपनी विवेचना का आधार बनाया जा सकता है। कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का विवेचन हम कर सकते हैं।

(१) **शैलीभेद**- रामायण की शैली परिष्कृत, सुन्दर तथा एकरूप है जबकि महाभारत की शैली अपरिष्कृत, शुष्क तथा अनेकरूप है। रामायण की कथा भी आद्यन्त जुड़ी हुई है जबकि महाभारत में कथाओं की परस्पर असम्बद्धता प्राप्त होती है, अनेक कथाओं और घटनाओं का संग्रह मिलता है। इन तथ्यों को पाश्चात्य विद्वान् महाभारत की पूर्वरचना का साधक मान लेते हैं क्योंकि उनके मत में अपरिष्कृत शैली के बाद ही शैली-परिष्कार वाली रचना का उदय होता है। किन्तु यह कल्पनामात्र है। दोनों ग्रन्थों की दो शैलियों का कारण उनका स्वरूप-भेद है। रामायण काव्य है अत: उसमें काव्योचित परिष्कृत शैली का प्रयोग हो सकता था। महाभारत एक विकासोन्मुख इतिहास-ग्रन्थ है जिससे उसमें अनेक प्रकार की शैलियों का समूह है, कुछ परिष्कृत हैं तो कुछ अनगढ़ भी है। इसके कुछ भागों में वैदिक रूप के छन्द भी हैं, तो परवर्ती गद्य भी है। अत: शैली के आधार पर इसे पूर्वरचना मानना एक विडम्बना है। शैली विषय और मनुष्य के स्वभाव से जुड़ी होती है।[1] आज यदि आवश्यकतावश कोई अनगढ़ शैली में रचना करे तो उसे कालिदास का पूर्ववर्ती नहीं मान सकते। रामायण के कवि का लक्ष्य परस्पर सुघटित और सुबद्ध काव्य की रचना करना था, जबकि महाभारत के सम्पादक का लक्ष्य प्राचीन काल से चली आने वाली सामग्री का संकलन मात्र था; यह सामग्री इतिहास-प्रधान थी। प्राचीन पुराणों में महाभारत की वर्णन-शैली ही अपनायी गयी, रामायण की काव्य-शैली नहीं।

(२) **उत्खनन-सामग्री**- विगत तीस वर्षों में पुरातत्त्व-विभाग ने महाभारत तथा रामायण से सम्बद्ध कुछ चुने हुए स्थानों का उत्खनन कराया है तथा इससे प्राप्त सामग्री के काल का निर्धारण किया है। महाभारत से सम्बद्ध स्थलों की सभ्यता रामायण से सम्बद्ध स्थानों की सभ्यता से प्राचीनतर बतायी गयी है। उत्खनन से कौरवों के या राम के काल का निर्णय तो हो ही नहीं सकता, उनसे सम्बद्ध काव्यों की रचना का काल तो बिल्कुल ही नहीं जाना जा सकता है। ग्रन्थ की रचना और उस ग्रन्थ में निर्दिष्ट सभ्यता की तथाकथित पुरातात्त्विक प्राप्ति दो पृथक् बातें हैं। इसलिए पुरातत्त्व के आधार पर हम अयोध्या या दिल्ली में विकसित प्राचीन सभ्यताओं की केवल झलक पा सकते हैं, उससे रामायण या महाभारत के काल का निर्णय नहीं कर सकते। इसकी पूर्वकल्पना

---

१. कुन्तक वक्रोक्तिजीवित १/२४ के अन्तर्गत-कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेद: समञ्जसतां गाहते। पृ० ८६ (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७७)।

का कोई दृढ़ आधार नहीं है कि अयोध्या में जो २००-३०० ई० की पुरातात्त्विक सामग्री मिली है, उसका सम्बन्ध रामायण से है अथवा दिल्ली के पुराने किले में प्राप्त १०० ई० पू० की सामग्री का सम्बन्ध पाण्डवों से ही है। अत: इस आधार पर महाभारत की पूर्वरचना की कल्पना उचित नहीं है।

(३) **महाभारत पर रामायण का प्रभाव**- उपर्युक्त दोनों आधारों की नि:सारता सिद्ध होने पर इन ग्रन्थों के पौर्वापर्य में अन्तरङ्ग प्रमाण ही महत्त्व रखते हैं। रामायण में महाभारत का कोई सूत्र या संकेत नहीं मिलता। इसके विपरीत महाभारत पर रामायण का प्रचुर प्रभाव दिखाई पड़ता है। महाभारत के वनपर्व में युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए वाल्मीकीय रामायण की पूरी कथा रामोपाख्यान (वनपर्व २९२-९९) के रूप में मार्कण्डेय मुनि के द्वारा सुनाई गई है। महाभारत के द्रोणपर्व में रामायण के युद्धकाण्ड (८१/२८) का एक श्लोक वाल्मीकि का नाम लेकर उद्धृत किया गया है-

अपि चायं पुरा गीत: श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
''न हन्तव्या: स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम॥''
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
''पीडाकरममित्राणां यत्स्यात्कर्तव्यमेव तत्॥''

इसकी द्वितीय तथा चतुर्थ पंक्तियाँ रामायण में प्राप्त हैं। रामायण में राम को आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया गया है, केवल बाल और उत्तर काण्डों में उन्हें विष्णु का अवतार दिखाया गया है। महाभारत में जो रामोपाख्यान दिया गया है उसमें राम को स्पष्टत: विष्णु का अवतार कहा गया है।[1] यह तथ्य महाभारत की अनुवर्ती स्थिति का सूचक है। यहाँ कुछ विद्वानों का परामर्श है कि रामायण की रचना भारत तथा महाभारत के बीच की स्थिति में हुई थी।

महाभारत में राम से सम्बद्ध 'शृंङ्गवेरपुर',[2] 'गोप्रतार' इत्यादि स्थानों को तीर्थ की श्रेणी में रखा गया है (वनपर्व ८४/७०,१११,८५/४१-४२)। कई प्रसङ्गों में रामतीर्थ में स्नान का पुण्य फल भी बताया गया है। हनुमान् और भीम के संवाद (वनपर्व १४७-५१) में हनुमान् को भीम का पूर्ववर्ती बताया गया है तथा उस प्रसङ्ग में हनुमान् ने भीम को संक्षिप्त रामकथा भी सुनायी है। ये सभी तथ्य यह संकेत करते हैं कि 'भारत' के लेखक रामकथा से परिचित थे, 'रामायण' से नहीं। किन्तु महाभारत के सम्पादक को 'रामायण' का भी ज्ञान था। इसीलिए 'रामायण' की रचना 'भारत' तथा 'महाभारत' के बीच माने जाने की युक्ति दी जाती है।

---

१. महाभारत, वनपर्व २७६/५ तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुज:।
विष्णु: प्रहरतां श्रेष्ठ: स तत्कर्म करिष्यति॥
हनुमान् तथा भीम के संवाद में भी राम को विष्णु का अवतार कहा गया है-
वनपर्व १४७/३१ अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबल:।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम्॥
२. वनपर्व ८५/६५ ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत्।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथि: पुरा॥

(४) **भौगोलिक सामग्री**- दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध भौगोलिक सामग्री का भी अन्तर मिलता है। रामायण के अनुसार विन्ध्य-पर्वत के दक्षिण का पूरा क्षेत्र आर्येतर जातियों और वनों से भरा था। महाभारत से पता लगता है कि दक्षिण भारत में उच्च संस्कृति थी, आर्य राजाओं का शासन भी था। दक्षिण के तीर्थों में दण्डकारण्य का उल्लेख महाभारत में उपलब्ध है (वनपर्व ८५/४१ दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत्)। इसी प्रकार गोदावरी, भीमरथी, पयोष्णी, पाण्ड्य देश के अगस्त्यतीर्थ, ताम्रपर्णी, कुमारी इत्यादि नदियों तथा तीर्थों का वर्णन है। महाभारत-युद्ध में दक्षिण के अनेक राजाओं ने भाग लिया था। रामायण के अनुसार दक्षिण भारत में प्रवेश करने वाले प्रथम आर्य राम ही थे। रामायण में एक ही विदेशी राज्य 'लङ्का' का उल्लेख है जबकि महाभारत के सभा-पर्व में अनेक विदेशी राज्यों का वर्णन है। रामायण की अपेक्षा महाभारत में विदेशी प्रभाव अधिक है। यह स्थिति महाभारत को अनुवर्ती सिद्ध करती है।

(५) **आर्यसभ्यता की शुद्धाशुद्धि**- रामायण में विशुद्ध आर्य संस्कृति का चित्रण है। राक्षसों की संस्कृति इससे भिन्न थी जिसे समाप्त करने के लिए राम का प्रयास दिखाया गया है। महाभारत में आर्यों तथा म्लेच्छों का परस्पर सम्पर्क निर्दिष्ट है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाक्षागृह का निर्माण किया था, वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में भी दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजा आये थे। म्लेच्छों की भाषा आर्यों के द्वारा समझ ली जाती थी। यह सांस्कृतिक मिश्रण महाभारत के अपरत्व का परिचायक है।

(६) **युद्धकला**- रामायण की अपेक्षा महाभारत में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। सीता के स्वयंवर में धनुष को तोड़ देना ही वीरता का मानदण्ड माना गया है जब कि द्रौपदी के स्वयंवर में लक्ष्यवेध करना वीरों की परीक्षा के लिए आवश्यक माना गया। रामायण के युद्ध में शिष्टता और धर्म का अनुशासन प्राप्त होता है जबकि महाभारत के युद्ध में छल-कपट, माया, अशिष्ट व्यवहार आदि भी मिलता है। रामायण के युद्ध में व्यूह-रचना का कोई निर्देश नहीं है, महाभारत में युद्ध के अवसर पर अनेक व्यूहों की रचना होती है। लंका के युद्ध में पाषाणों और वृक्षों का प्रयोग होता है जबकि कुरुक्षेत्र में सेनापतियों के अधीन विकसित अस्त्र-शस्त्र से युद्ध होता है। युद्ध-सम्बन्धी विषयों का यह विकास महाभारत को परवर्ती सिद्ध करता है।

(७) **नैतिक भावना**- रामायण में नैतिक भावना का उत्कर्ष प्राप्त होता है जबकि महाभारत में यह भावना अपकर्ष की ओर उन्मुख है। उपदेशों की ऊँचाई से पात्रों की गतिविधि में कोई सामञ्जस्य नहीं दिखाई पड़ता है। सीता-हरण के अनन्तर उसे कठिन अग्नि-परीक्षा देकर अपने चरित्र की शुद्धता प्रमाणित करनी पड़ती है जबकि द्रौपदी का जयद्रथ द्वारा हरण होने पर पाण्डव उसे निःसंकोच स्वीकार कर लेते हैं। रामायण की नैतिकता शुद्धतावादी है जबकि महाभारत में वह व्यावहारिक है।

(८) **सामाजिक स्थिति**- रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता, माता, भ्राता, स्वामी, मित्र आदि सभी सम्बन्धों में आदर्श स्थापित है। महाभारत की सामाजिक दशा में उदात्त और अनुदात्त दोनों चित्र मिलते हैं। विजय की सिद्धि के लिए असत्य-भाषण भी पाप की कोटि में नहीं गिना जाता। इसमें समाज के विघटन तथा पतन का निर्देश मिलता है। रामायण में शुद्ध धार्मिक स्थिति के रूप में ब्राह्मणवाद प्रतिष्ठित है, उसी से समाज नियन्त्रित होता है। दूसरी

ओर महाभारत में अनेक धर्म-सम्प्रदायों और विश्वासों का जमघट मिलता है। रामायण की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था महाभारत में बहुत शिथिल हो गयी थी।

इन सब तथ्यों का संकलित निष्कर्ष यही है कि रामायण को पूर्ववर्ती मानने में कदाचित् आपत्ति नहीं है। कम-से-कम महाभारत के वर्तमान रूप से पहले तो रामायण की रचना हो ही चुकी थी क्योंकि महाभारत वाल्मीकि तथा रामायण दोनों से परिचित है, जबकि रामायण में महाभारत का कोई निर्देश नहीं मिलता है। दोनों भारतीय साहित्य के अमर रत्न हैं। उनका प्रभाव देश-विदेश के साहित्य पर पुष्कल रूप से पड़ा है।

अध्याय-९

पुराण-साहित्य

'पुराण' का अर्थ

'पुराण' शब्द प्राचीन धार्मिक साहित्य के अर्थ में वैदिक युग से ही प्रचलित है। धर्म का अङ्ग बनाकर प्राचीन कथाओं, वंशावलियों, इतिहास-भूगोल के तथ्यों एवं सामान्यत: ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों को पुराणों में काल-क्रम से समाविष्ट कर दिया गया। महाभारत के समान 'पुराण' भी विकासशील साहित्य रहा है जिसका अन्तिम सम्पादन व्यास ने ही किया था। अथर्ववेद के अनुसार पुराण का आविर्भाव ऋक्, साम, छन्द और यजुस् के साथ ही हुआ था (**ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह** ११/७/२४)। शतपथ-ब्राह्मण (१४/३/३/१३) में 'पुराण' को वेद कहा गया है। सम्भवतः वैदिक युग के प्राचीन आख्यानों का संकलन करने के लिए एक पृथक् साहित्य-भेद का जन्म हुआ जिसे 'पुराण' कहा गया और इसका संकलन उसी समय आरम्भ हुआ जब विच्छिन्न वैदिक मन्त्रों का संहिता-करण होने लगा हो। उपर्युक्त तथ्य इस मान्यता का समर्थन करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (७/१/२) में इतिहास तथा पुराण को संयुक्त रूप से नारद ने 'पञ्चम वेद' कहा है- **इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।** बृहदारण्यकोपनिषद् (२/४/१०) में भी इतिहास-पुराण को वेदों के समान परमात्मा के निःश्वास के रूप में निर्गत कहा गया है (अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽ थर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणम्....)। इस प्रकार वेदों के समकक्ष पुराणों को प्राचीन वाङ्मय में रखा गया।

इतिहास तथा पुराण को प्राचीन साहित्य में समान स्तर पर रखा गया है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त महाभारत में भी कहा गया है- **इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।** अर्थात् वेद के अर्थ का पल्लवन इतिहास और पुराण के द्वारा करना चाहिए। वस्तुतः वेदों के क्लिष्ट कर्मकाण्ड को रोचक बनाने के लिए चार प्रकार के साहित्य आविर्भूत हुए- इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी।[1] कालक्रम से संक्षेप की दृष्टि से केवल प्रथम दो अवशिष्ट रहे। वैदिक युग में 'इतिहास' का प्रयोग प्राचीन तथा शाश्वत व्यवस्था के अर्थ में था जैसे अथर्ववेद के विराट् ब्रह्म, ज्येष्ठ ब्रह्म, इन्द्र आदि के अर्थ में। 'पुराण' का प्रयोग पुरावृत्त तथा पुरातत्त्व से सम्बद्ध सृष्टि, प्रलय, भूगोल, आकाश-मण्डल आदि के विवरण के लिए किया जाता था। 'गाथा' के अन्तर्गत प्राचीन कथाएँ निहित थीं वे नैतिक हों, वास्तविक हों या काल्पनिक हों। इन्द्र-वृत्र की कथा (ऋग्वेद २/१५), पुरूरवा-उर्वशी की कथा (ऋ० १०/९५), विश्वामित्र-नदी-संवाद में निहित कथा (ऋग्वेद ३/३३) इत्यादि ऐसी ही कथाएँ हैं। 'नाराशंसी' के अन्तर्गत वीरों की प्रशंसा, वीर-गाथा, वीरों का अभिनन्दन आदि निहित था जैसे- ययाति नाहुषः (ऋ०९/१०१/४-६), नहुषः मानवः (ऋ० ९/१०१/७-९), परीक्षित् (अथर्व० २०/१२७) इत्यादि।[2] वैदिक युग के इन पारिभाषिक शब्दों को

१. अथर्ववेद १५/६/११

२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी-संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० १००-१०१।

संक्षिप्त करके उनमें नई अर्थ-व्यञ्जना आरोपित हुई।

पुराणों में 'पुराण' शब्द को स्वीकार करके इन समस्त भेदों का अन्तर्भाव उसी में कर लिया गया। बाद में संस्कृत साहित्य में पुरानी विधाओं का पुनः उद्धार हुआ जिससे 'इतिहास' को ऐतिहासिक काव्य के रूप में, 'पुराण' केवल पौराणिक (पुरातत्त्वविषयक) ग्रन्थों के रूप में, 'गाथा' संस्कृत कथाओं के रूप में और 'नाराशंसी' रामायण, महाभारत आदि वीरकाव्यों के रूप में परिणत हुए।

आधुनिक युग में प्राप्त पुराण (अष्टादश पुराण और उपपुराण) परवर्ती हैं, वैदिकयुगीन नहीं। इन पुराणों की दृष्टि से 'पुराण' शब्द का निर्वचन कई प्रकार से किया गया है- (१) **पुराणमाख्यानं पुराणम्**- प्राचीन आख्यानों को पुराण कहते हैं। (२) वायुपुराण (१/२०३) के अनुसार प्राचीन काल में जो सजीव घटनाएँ थीं उन्हें पुराण कहते हैं- **यस्मात्पुरा ह्यनति**। (३) सायण (ऐतरेय-ब्राह्मणभाष्य की भूमिका) के अनुसार संसार की उत्पत्ति और विकासक्रम के बोधक साहित्य को पुराण कहते हैं- **जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्**। (४) पद्मपुराण में कहा गया है- **पुरार्थेषु आनयतीति पुराणम्** अर्थात् प्राचीन विषयों में जो श्रोता को ले जाता है वही पुराण है। (५) वायुपुराण (१/२५३) में कहा गया है-**पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्**। (६) मधुसूदन सरस्वती ने 'विश्वसृष्टि के इतिहास' को पुराण कहा है। (७) यास्क ने निरुक्त में जो पुराण का निर्वचन दिया है, वही अत्यधिक प्रचलित निर्वचन है- **पुरा नवं भवति** (निरुक्त ३/१९)। प्राचीन काल में जो विषय नया रहा हो वही पुराण है। यास्क की कल्पना बहुत रोचक है।

पुराणों का लक्षण

प्रमुख पुराणों तथा अमरकोश-जैसे प्राचीन ग्रन्थों में पुराण के लक्षण तथा विषयवस्तु के सम्बन्ध में यह श्लोक मिलता है-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥[1]

तदनुसार पुराण-ग्रन्थ में पाँच विषयों का प्रतिपादन होता है- (१) **सर्ग**- विश्व की सृष्टि की प्रक्रिया, (२) **प्रतिसर्ग**- प्रलय तथा पुनःसृष्टि का वर्णन, (३) **वंश**- देवताओं और ऋषियों के वंशों का वर्णन, (४) **मन्वन्तर**- प्रत्येक मनु का काल और उस काल की प्रमुख घटनाओं का निरूपण एवं (५) **वंशानुचरित**- सूर्यवंश और चन्द्रवंश में उत्पन्न राजाओं का जीवन-चरित।

यह लक्षण उस समय बना था जब इन विषयों से समन्वित पुराणों का रूप स्पष्ट हो चुका था।[2] किन्तु कालक्रम से पुराणों में अन्य अनेक विषयों का संकलन होने लगा और मूल पुराण-लक्षण अभिभूत हो गया। 'विष्णुपुराण' एकमात्र ऐसा पुराण है जिसमें ये लक्षण घटित होते हैं।

---

१. **विष्णु पुराण** ३/६/२४, **अमरकोश** १/६/५ पुराणं पञ्चलक्षणम्।
२. **भागवत** १२/७/९ में दस लक्षण हैं- **सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।**
वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥

अन्य पुराणों में ये पाँच लक्षण आंशिक रूप से ही प्राप्त होते हैं। कुछ पुराण तो इन लक्षणों का स्पर्श भी नहीं करते। वर्तमान पुराणों का स्वरूप दार्शनिक या ऐतिहासिक नहीं, अपितु धार्मिक है जिसके कारण विष्णु या शिव की भक्ति या उपासना को ही अधिकांश पुराण समर्पित हैं। तदनुकूल विषयों का ही इनमें समावेश है। विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ, पुण्यलाभ के लिए किये जाने वाले व्रत, उत्सव तथा उपवास, तीर्थ आदि का विस्तृत वर्णन प्रायः सभी पुराणों में है। अग्निपुराण में ज्योतिष, शरीरविज्ञान, व्याकरण, शस्त्र-प्रयोग, चिकित्सा, साहित्यशास्त्र आदि विषयों का भी विवरण दिया गया है।

'वंशानुचरित' के अन्तर्गत प्राचीन राजवंशों का विवरण भी कुछ पुराणों में (मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य, विष्णु, भागवत तथा गरुड़ पुराण में) मिलता है। सूर्यवंश और चन्द्रवंश के प्रथम राजाओं से आरम्भ करके इन वंशों का वर्णन महाभारत के युद्ध में भाग लेने वाले राजाओं तक चलता है। पुराणों को व्यास के द्वारा रचित माना गया है और व्यास पाण्डवों के समकालिक माने गये है; इसलिए ये राजवंश-वर्णन उस समय तक 'भूतकाल' में किये गये हैं। इसके बाद के कलियुग के राजाओं का वर्णन 'भविष्यकाल' में किया गया है। कलियुग के राजाओं की सूचियों में शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, आन्ध्र तथा गुप्त वंशों के राजाओं की सूची प्राप्त होती है। ये वंश भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इन सूचियों में कुछ असंगतियाँ अवश्य हैं किन्तु सामान्य रूप से इन्हें भारत के प्राचीन राजनीतिक इतिहास के स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्मिथ ने कहा है कि मौर्यवंश (३२६ ई० पू०-१८५ ई० पू०) के विषय में विष्णुपुराण तथा आन्ध्रवंश के विषय में मत्स्यपुराण विश्वसनीय है।[१] वायुपुराण चन्द्रगुप्त प्रथम (३२०-३३० ई०) के काल की राज्य-व्यवस्था का वर्णन करता है। राजाओं की सूचियों के अन्त में ये पुराण आभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि शूद्र तथा म्लेच्छ राजाओं की वंशावलियाँ देते हैं जो पूर्वोक्त राजाओं के समय में थे। कलियुग के भावी पतन का भी वर्णन इनमें मिलता है। इस प्रकार पाँचवीं छठी शताब्दी ई० तक का वर्णन कुछ पुराणों में भविष्यवाणी के रूप में है। यहाँ हम भविष्यपुराण को छोड़ दें जिसमें १६ वीं शताब्दी ई० तक वर्णन जोड़ा गया है।

विषय-वस्तु

साकल्य रूप से पुराणों में प्रतिपादित विषय-वस्तु का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है-

(१) धार्मिक सामग्री- किसी देवता या देवी की उपासना का विधान बताकर उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति पर पुराणों में बल दिया गया है। जिस देवता की भक्ति का विधान है उसे ही श्रेष्ठ कहकर अन्य देवताओं को गौण भी बताया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना का विशेष महत्त्व विविध पुराणों में अङ्कित है। मुख्य पुराणों में विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन या शिव और उनके परिवार की विभिन्न कथाएँ वर्णित हैं। अवतारवाद, मूर्तिपूजा और भक्ति का अत्यधिक प्रचार इनमें मिलता है। व्रतों और उपवासों के अनुष्ठान के फल दिखाकर पुराणों में जन-सामान्य को धार्मिक बनाने का प्रयास किया गया है।

---

१. V. A. Smith- Early History of India, p. 11

(२) **दार्शनिक सामग्री**- 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' के अनुसार सृष्टि, प्रलय तथा पुनःसृष्टि के दार्शनिक पक्ष को पुरातात्त्विक रूप देकर अनेक आख्यान पुराणों में प्रस्तुत किये गये हैं। जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव से सम्बद्ध करके दार्शनिक विषयों को धर्म से जोड़ा गया है।

(३) **ऐतिहासिक सामग्री**- वंश एवं वंशानुचरित के अन्तर्गत पौराणिक और वैदिक युग के ऋषियों और राजाओं की वंशावली के अतिरिक्त नन्द, मौर्य, शुंग, आन्ध्र तथा गुप्त वंश के राजाओं की सूचियाँ पुराणों में दी गयी हैं जिन पर आधुनिक इतिहासकारों को अत्यधिक विश्वास है।

(४) **भौगोलिक सामग्री**- पुराणों के 'भुवनकोश' प्रकरण के अन्तर्गत भूमण्डल का वर्णन किया गया है। पृथ्वी के सप्त सागर, सप्तद्वीप आदि के अतिरिक्त भारतवर्ष के पर्वतों, नदियों और विविध तीर्थस्थलों का वर्णन पुराणों में मिलता है। भारत की भौगोलिक एकता का निरूपण करके राजनीतिक दृष्टि से पृथक्-पृथक् राज्यों में विभक्त देश का सांस्कृतिक समन्वय करने में पुराणों का प्रभूत योगदान है।

(५) **आचार-विषयक सामग्री**- पुराणों में दान, दया, अतिथि-सेवा, सर्वधर्मसमभाव, उदार दृष्टि, व्रत के प्रति निष्ठा इत्यादि मानवीय गुणों का प्रकाशन कथाओं के द्वारा किया गया है। सद्गुणों के प्रति आकर्षण और दोषों से निवृत्ति के लिए स्वर्ग और नरक का काल्पनिक वर्णन करके जनवर्ग के नैतिक नियन्त्रण का प्रयास पुराणों में पर्याप्त रूप से किया गया है।

(६) **ज्ञान-विज्ञान की सामग्री**- कुछ पुराणों में व्याकरण, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, शरीर-विज्ञान आदि शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विषयों का संकलन है।

इस प्रकार पुराणों में विविध विषयों का संग्रह है जो जनता की शिक्षा के लिए पर्याप्त हैं। हिन्दू-धर्म का विश्वकोश ही पुराणों का प्रतिपाद्य है।

पुराणों की संख्या तथा विभाजन

पुराणों का विकास दो रूपों में हुआ है- महापुराण तथा उपपुराण। महापुराण प्राचीनतर हैं जिनकी संख्या अठारह है।[1] इस विषय में एक संग्रहश्लोक मिलता है-

> मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
> अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्॥

अर्थात् 'म' से दो पुराण- मत्स्य तथा मार्कण्डेय, 'भ' से दो पुराण- भविष्य तथा भागवत, 'ब्र' से तीन पुराण- ब्रह्म, ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मवैवर्त, 'व' से चार पुराण- विष्णु, वामन, वराह तथा वायु। पुनः 'अ' से अग्नि, 'ना' से नारद, 'प' से पद्म, 'लिं' से लिङ्ग, 'ग' से गरुड़, 'कू' से कूर्म और 'स्क' से स्कन्द- ये १८ पुराण पृथक्-पृथक् हैं। इनका विभाजन आगे दिखाया जायेगा।

उपपुराण भी संख्या में १८ कहे गये हैं- सनत्कुमार, नारसिंह, स्कान्द (या शिव), शिवधर्म, आश्चर्य, नारदीय, कापिल, औशनस, वारुण, कल्कि, कालिका, माहेश्वर, साम्ब, सौर

---

१. तुलनीय- अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

(सूर्य), पाराशर, मारीच, भार्गव तथा नन्द। यह सूची विविध पुराणों या उपपुराणों में पृथक्-पृथक् है। कहीं चण्डीपुराण, मानवपुराण, गणेशपुराण, नन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तर इत्यादि का भी उल्लेख है। इनमें अधिसंख्यक उपपुराण उपलब्ध हैं। पौराणिक सामग्री से ही इनकी भी रचना हुई है।

पुराणों का विभाजन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्राचीन और परवर्ती के रूप में होता है। प्राचीन का अर्थ 'पञ्चलक्षण' को स्वीकार करना है। तदनुसार वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णुपुराण को प्राचीन कहा गया है।[१] अन्य पुराणों में इसका अनुपालन न होने से वे परवर्ती हैं। पुराणों का अन्य विभाजन सात्त्विक, तामस और राजस के रूप में हुआ है जो क्रमशः विष्णु, शिव और ब्रह्मा या अन्य देवताओं को महत्त्व देने के आधार पर है। स्पष्ट रूप से यह विभाजन वैष्णव दृष्टिकोण का परिचायक है। इसके अनुसार पुराण इस प्रकार विभाजित हो सकते हैं-

(क) **सात्त्विक** (वैष्णव) पुराण- विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म तथा वराह।

(ख) **तामस** (शैव) पुंराण- मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, अग्नि तथा स्कन्द।

(ग) **राजस** (ब्राह्म) पुराण- ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, ब्रह्म, वामन तथा भविष्य।[२]

जहाँ तक देवताओं की प्रशस्ति का प्रश्न है, स्कन्दपुराण में दस का सम्बन्ध शिव से, चार का ब्रह्मा से और दो-दो का देवी और विष्णु से सम्बन्ध माना गया है। यह स्पष्टतः शैव दृष्टिकोण है-

अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः।[३]

मत्स्यपुराण (५३/६८-९) में कहा गया है कि **सात्त्विक** पुराणों में विष्णु का, **राजस** पुराणों में ब्रह्मा का, **तामस** पुराणों में अग्नि और शिव का एवं **संकीर्ण** पुराणों में सरस्वती तथा पितरों का माहात्म्य अधिक दिखाया गया है।[४]

इन परम्परागत विभाजनों से अधिक सन्तोषप्रद वर्गीकरण आधुनिक दृष्टि से महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने किया है जो पुराणों की विषय-वस्तु की गम्भीर समीक्षा पर आश्रित है।[५] उन्होंने विषय-वस्तु के आधार पुराणों को निम्नाङ्कित छह वर्गों में रखा है-

(१) **प्रथम वर्ग** में समस्त वाङ्मय के कोश (विश्वकोश) का रूप धारण करने वाले **गरुड़, अग्नि** तथा **नारद** पुराण रखे जा सकते हैं। इनमें संस्कृत भाषा के ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सभी श्रेष्ठ ग्रन्थों का सार प्रस्तुत है जैसे- आयुर्वेद, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, संगीत, ज्योतिष आदि। अन्य पौराणिक विषय भी इनमें निहित हैं।

---

१. Dr. A.D. Pusalker- **Studies in the Epics and Puranas** (1955), Intro. XLVIII.

२. **पद्मपुराण**, उत्तरखण्ड २६३/८१-४ (उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत)।

३. **स्कन्दपुराण**, केदारखण्ड, १।

४. सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते॥

५. जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, खण्ड-१४, पृ० ३३०-७।

(२) **द्वितीय वर्ग** में **पद्म, स्कन्द** तथा **भविष्य** पुराण हैं जो मुख्य रूप से तीर्थों और व्रतों की विवेचना करते हैं। इन पुराणों की मौलिक सामग्री बार-बार किये गये संशोधनों और संस्करणों के कारण लुप्तप्राय हो गयी है।

(३) **तृतीय वर्ग** के पुराणों में दो बार सामान्य संशोधन किये गये थे। इनमें **ब्रह्म, भागवत** तथा **ब्रह्मवैवर्त** पुराण आते हैं। इन पुराणों में मौलिक रचना ग्रन्थ के बीच में है तथा उसके दोनों ओर अतिरिक्त सामग्री का संकलन दो-दो बार किया गया।

(४) **चतुर्थ वर्ग** ऐतिहासिक पुराणों का है जिसमें **ब्रह्माण्ड** तथा लुप्त हो चुका **वायु** पुराण ये दोनों निहित हैं। हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि वायुपुराण के द्वितीय खण्ड का कुछ भाग एक हस्तलेख में सुरक्षित है, शेष भाग नष्ट हो चुका है। वर्तमान वायुपुराण ब्रह्माण्डपुराण में समाहित है (?)।

(५) **पञ्चम वर्ग** में साम्प्रदायिक पुराणों की गणना करायी गयी है- **लिङ्ग, वामन** तथा **मार्कण्डेय**। लिङ्गपुराण में शिव के प्रतीक के रूप में लिङ्गपूजा का महत्त्व निरूपित है, वामन पुराण शैव-सम्प्रदाय का धर्मग्रन्थ है, तो मार्कण्डेय में देवी का महत्त्व अङ्कित है।

(६) **षष्ठ वर्ग** में शास्त्रीजी ने उन पुराणों को रखा है जो प्राचीन थे किन्तु इतनी बार संशोधित हुए कि इनका स्वरूप नष्ट हो गया। इनमें **वराह, कूर्म** तथा **मत्स्य** पुराण हैं। विष्णु के इन अवतारों के द्वारा ही सम्पूर्ण प्रवचन की अपेक्षा इन पुराणों में की जाती है किन्तु वराह द्वारा वराहपुराण के केवल आधे भाग का ही प्रवचन हुआ है, मत्स्यपुराण में मत्स्य केवल तृतीयांश से ही सम्बद्ध हैं और कूर्मपुराण का अष्टमांश मात्र कूर्म-प्रोक्त है।

इस विभाजन में भी कुछ असंगतियाँ हैं किन्तु अद्यावधि किये गये विभाजनों में यह सन्तोषप्रद है। विष्णुपुराण को इसमें स्थान नहीं दिया गया है क्योंकि 'पञ्चलक्षण' पर सर्वाधिक खरा उतरने के कारण यह प्राचीनतम रूप में है।

पुराणों का रचनाकाल

पुराण एक विकासशील साहित्य है। वैदिक युग के अनन्तर ही पुराण-विद्या का आरम्भ हुआ तथा कालक्रम से इसमें विविध सामग्री जुड़ती गयी। व्यास ने आरम्भ में इस ज्ञान को क्रमबद्ध किया। उन्होंने अपने शिष्य लोमहर्षण को यह ज्ञान दिया। लोमहर्षण की शिष्य-परम्परा में यह ज्ञान पल्लवित-पुष्पित होता गया। सभी शिष्यों ने मूलगुरु व्यास के नाम पर ही पुराणों में अतिरिक्त सामग्री का संयोजन किया। सभी पुराण-संशोधक 'व्यास' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार 'व्यास' एक नाम नहीं रहकर कथावाचकों, संशोधकों और व्याख्याताओं का पर्याय बनकर विकासात्मक पौराणिक साहित्य के रचयिता के रूप में आया। फिर भी इस साहित्य का समापन-काल तो कुछ होना ही चाहिए।

पुराणों के राजवंश-वर्णनों में ६०० ई० के पूर्व तक के राजाओं का ही निरूपण हुआ है अतएव कुछ विद्वानों का मत है कि पुराण ५०० ई० में अवश्य ही अपने वर्तमान रूप में आ गये थे। फिर भी इस विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। दूसरी ओर प्राचीन धर्मसूत्रों तथा महाभारत में पुराणों का उल्लेख है जिससे पुराणों की रचना का आरम्भ प्रायः ६०० ई० पू० में माना जा सकता है।

इन ११०० वर्षों के अन्तराल में पौराणिक साहित्य का शनैः शनैः विकास होता रहा था।

बाल गङ्गाधर तिलक ने पुराणों की रचना का समापन-काल दूसरी शताब्दी ई. माना है।[१] पुराणों में राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करने वाले पार्जिटर ने कहा है कि पुराण अपने मूल रूप में प्रथम शताब्दी ई० में ही आ गये थे। किन्तु सामग्री का परिवर्धन-उपबृंहण आगे भी होता रहा था। आधुनिक भारतीय विद्वानों ने पुराणों के रचना-काल के विषय में पर्याप्त अनुसन्धान किया है जिनमें डॉ. आर. सी. हाजरा का योगदान बहुमूल्य है। उन्होंने प्राचीनतम महापुराणों में मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य, भागवत तथा कूर्म को रखा है। विष्णुपुराण की रचना उन्होंने तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई. में मानी है किन्तु ब्रह्माण्ड तथा मार्कण्डेय पुराण (तृतीय से पञ्चम शताब्दी के बीच) उसके पूर्व निर्मित हो चुके थे। वायुपुराण प्रायः ५०० ई० में, भागवतपुराण ६०० ई० में तथा कूर्मपुराण ७०० ई० में लिखा गया। उनका मत है कि हरिवंश की रचना ४०० ई० में तथा अग्निपुराण प्रायः ८०० ई० में लिखा गया[२]। इसमें कुछ सामग्री पूर्व की भी है और कुछ बाद की भी। अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय अंश रहने के कारण इसके रचनाकाल में रुचि काव्यशास्त्र के विद्वानों को भी रही है। इसीलिए डॉ० सुशील कुमार दे ने इस पुराण के अलंकार-प्रकरण को भामह-दण्डी के बाद किन्तु आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पूर्व का बताया है।[३] पी. वी. काणे इस पुराण को ७०० ई० के पश्चात् तथा उसके काव्यशास्त्रीय अंश को ९०० ई० का स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु तथा भागवत पुराणों में गुप्तकाल तक के राजाओं की सूची दी गयी है इसलिए गुप्त-काल में प्रायः ४००-४५० ई० के बीच इनका अन्तिम संस्करण हो गया था। गुप्त-नरेश संस्कृत के बहुत बड़े संरक्षक थे, अतएव उनके काल में पुराणों का विपुलांश अपना अन्तिम रूप ले रहा था। बाणभट्ट (६००-६५० ई०) ने अपने गाँव में वायुपुराण के वाचन का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय पुराण के देवीमाहात्म्य के आधार पर ही बाण ने 'चण्डीशतक' की तथा भवभूति ने 'मालतीमाधव' के कुछ भाग की रचना की है। अतः ये पुराण भी ६ठी शताब्दी ई० में प्रचलित थे।

डॉ० हाजरा ने नारदीय पुराण को दशम शताब्दी ई० में, स्कन्दपुराण को अष्टम शताब्दी ई० में एवं गरुड़ तथा ब्रह्मपुराण को दशम शताब्दी ई० में रचित माना है। ब्रह्मवैवर्तपुराण की रचना ७०० ई० में हो गयी थी किन्तु इसे वर्तमान रूप १६०० ई० में प्राप्त हुआ था।[४] इससे स्पष्ट है कि पुराणों का रचना-काल एक निश्चित कालखण्ड में नहीं रखा जा सकता। यह विकासशील साहित्य है। अल-बिरुनी (१००० ई०) नामक अरब यात्री ने अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष का इतिहास' (तारीखुल हिन्द) में अठारह पुराणों का उल्लेख इस क्रम से किया है- आदि, मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, वायु, नन्द (महादेव के सेवक), स्कन्द, आदित्य, सोम, साम्ब, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, तार्क्ष्य (गरुड़), विष्णु, ब्रह्म तथा भविष्य।[५] इनकी सूची उस अरब-यात्री ने लोगों से

१. गीतारहस्य, पृ० ५६६

२. R. C. Hazra- **Puranic Records on Hindu Rights and Customs** (1940), p. 160 ff.

३. सुशील कुमार दे- **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद), पृ० ९१-२।

४. **Indian Culture**, Vol. IV, p.73 ff.

५. **India by AL- Biruni**, National Book Trust (1983), p.60

सुनकर दी है जिससे पुराणों और उपपुराणों का भी इस सूची में संग्रह हो गया है। उसने स्वयं मत्स्य, आदित्य तथा वायुपुराण के अंश देखे थे। जो भी हो, १००० ई० के आसपास पुराणों का उपपुराणों के साथ पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इनका आरम्भ ५०० ई० पू० में एक पृथक् साहित्य के रूप में हुआ किन्तु इनकी आकार-वृद्धि धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होती गयी। अष्टादश महापुराणों से जब साहित्यिक परितोष नहीं हुआ तब उपपुराणों का भी क्रम चला। इस प्रकार चार लाख श्लोकों में महापुराण तथा अन्य अनेक लाख श्लोकों में परवर्ती उपपुराण का विपुल साहित्य विकसित हुआ।

पुराणों का परिचय

पुराणों में जो इनका क्रम दिया गया है उसी के आधार पर यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है-

(१) **ब्रह्मपुराण**- इसे 'आदिपुराण' भी कहते हैं। प्राचीन माने गये सभी पुराणों में इसका उल्लेख है। मान्यता है कि व्यास ने इसे सर्वप्रथम लिखा था। कुछ पुराणों में (विष्णु, शिव, भागवत, नारद, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय तथा देवीभागवत में) इसकी श्लोक संख्या दस सहस्र कही गयी है जब कि लिङ्ग, वराह, कूर्म, मत्स्य और पद्मपुराण के अनुसार इसमें तेरह सहस्त्र श्लोक हैं। बम्बई से प्रकाशित संस्करण में १३,७८७ श्लोक हैं। नैमिषारण्य में समागत ऋषियों को सूत लोमहर्षण ने इसका प्रवचन किया था। न्यूनाधिक रूप से अन्य पुराणों के समान इसमें जगत् की सृष्टि, मनु की उत्पत्ति, उनके वंश का वर्णन, देवों, देव-योनियों तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति, पृथ्वी का भूगोल, नरक तथा स्वर्ग का वर्णन है। इस पुराण के बड़े भाग में तीर्थों का माहात्म्य दिया गया है, विशेष रूप से उत्कल-प्रदेश के पवित्र स्थलों और मन्दिरों का सूक्ष्म वर्णन है। शिव-पार्वती के विवाहादि आख्यानों के साथ शैव तीर्थों का भी विवरण दिया गया है। कृष्ण की बाललीला तथा अद्‌भुत कर्मों के वर्णन (अध्याय १८०-२१२) के अतिरिक्त विष्णु के अवतारों का वर्णन, श्राद्धकर्म, वर्णाश्रम-धर्म एवं विष्णुपूजन की गरिमा का वर्णन अन्तिम कुछ अध्यायों में है। इसमें कुल २४५ अध्याय हैं।

इसका एक परिशिष्ट सौर उपपुराण है जिसमें १२५० ई० के लगभग बने कोणार्क के सूर्य-मन्दिर का भी उल्लेख है।

(२) **पद्मपुराण**- यह विशाल पुराण ६४१ अध्यायों तथा ४८००० श्लोकों का है। मत्स्यपुराण के अनुसार इसमें ५५ सहस्र तथा ब्रह्मपुराण के अनुसार ५९ सहस्र श्लोक थे। यह पाँच खण्डों में विभक्त है- सृष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, स्वर्गखण्ड, पातालखण्ड तथा उत्तरखण्ड। नैमिषारण्य में इसका प्रवचन सूत उग्रश्रवा के द्वारा किया गया था। उग्रश्रवा लोमहर्षण के पुत्र थे। सृष्टिखण्ड में कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति और उनसे पूरे ब्रह्माण्ड की रचना का वर्णन है। इस खण्ड में पाँच पर्व हैं जिनमें क्रमशः सृष्टि-वर्णन, सूर्य-चन्द्रवंश-वर्णन, देवासुर-संग्राम, तीर्थ-माहात्म्य, राज-वंशावली, रामायण-कथा, तारकासुर-वध इत्यादि निरूपित है। भूमिखण्ड में सोमशर्मा की कथा देकर उसी का प्रह्लाद के रूप में पुनर्जन्म बताया गया है। पुनः तीर्थों की पवित्रता दिखाते हुए आख्यानों द्वारा सिद्ध किया गया है कि पत्नी, पुत्र आदि भी तीर्थ हैं। विष्णुभक्ति, च्यवन ऋषि की कथा एवं विष्णु-शिव की एकता का भी निरूपण यहाँ है। स्वर्गखण्ड में देव, भूत आदि लोकों

का विवरण एवं प्रसिद्ध आख्यान हैं जिनमें शकुन्तला और उर्वशी के आख्यान भी हैं। कर्मकाण्ड पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। पातालखण्ड में नागलोक की कथा के प्रसंग में रावण का उल्लेख होने से रघुवंश पर आश्रित रामकथा दी गयी है। राम के अश्वमेध तथा वाल्मीकि के आश्रम का वर्णन करने के अनन्तर राधा-कृष्ण की कथा भी निर्दिष्ट है। वाल्मीकि के आश्रम में ही व्यास द्वारा अष्टादश पुराणों की रचना का वर्णन है। उत्तरखण्ड सबसे बड़ा भाग है जिसमें विष्णुभक्ति पर बहुत बल दिया गया है। माघ और कार्तिक मासों का माहात्म्य भी यहाँ वर्णित है। शिव-पार्वती-संवाद के रूप में राम तथा कृष्ण की कथाएँ देते हुए यहाँ 'भगवद्गीता' की महत्ता भी अङ्कित हुई है। राधा को लक्ष्मी कहा गया है। इस उत्तरखण्ड का परिशिष्ट 'क्रियायोगसार' है जिसमें विष्णुभक्ति की समर्थक सामग्री का आधिक्य है तथा माधव और सुलोचना की मनोरम प्रेमकथा दी गयी है।

इस पुराण में विष्णुभक्ति के अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है जैसे- राधा, शालग्राम-शिला और तुलसी का महत्त्व। मत्स्यपुराण से मिलने वाली सृष्टिकथा इसमें प्राचीन है, राजवंश-वर्णन भी प्राचीन ही है किन्तु बहुत सी परवर्ती धार्मिक सामग्री है जिससे कुछ विद्वान् ५ वीं शताब्दी ई० से १५ वीं शताब्दी ई० तक इसका विकास-काल मानते हैं।

(३) विष्णुपुराण- अन्य पुराणों की अपेक्षा इस पुराण में मौलिक सामग्री अधिक विश्वसनीयतापूर्वक सुरक्षित है। 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' के प्राचीन स्वरूप की इसमें रक्षा की गयी है। रामानुज (१०१७-११३७ ई०) ने इसे प्रमाण-ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। इसमें विष्णु को परमदेवता के रूप में निरूपित किया गया है। यह पुराण छह खण्डों में विभक्त है, अध्यायों की संख्या १२६ है। यद्यपि पुराणों में इसकी श्लोक संख्या २३ या २४ सहस्र कही गयी है किन्तु इसके मुद्रित संस्करणों में प्राय: ६००० ही श्लोक मिलते हैं। इसके प्रवक्ता पराशर तथा श्रोता मैत्रेय कहे गये हैं। इसमें अवतारों के वर्णनों के द्वारा विष्णु की स्तुति है किन्तु विष्णुभक्तों के द्वारा किये गये व्रतों या उपवासों का, वैष्णव उत्सवों तथा मन्दिरों का कोई वर्णन नहीं है। इसके प्रथम भाग (अंश) में सृष्टि का वर्णन, देव-राक्षस-मनु आदि की उत्पत्ति और समुद्र-मन्थन के विवरण के अनन्तर महान् विष्णुभक्त ध्रुव तथा प्रह्लाद के चरित वर्णित हैं। द्वितीय अंश में पृथ्वी, नरक, सूर्य तथा ग्रहों का वर्णन है। इस प्रसंग में भारतवर्ष का, राजा भरत का तथा विष्णु-भक्ति की दृष्टि से सर्वात्म-दर्शन का भी विवरण है। तृतीय अंश में मनुओं तथा मन्वन्तरों, व्यास द्वारा वेदों के विभाजन, वेदशाखाओं, वर्णाश्रमों, जन्म और विवाह संस्कारों के वर्णन के अनन्तर जैन-बौद्ध आदि नास्तिकों के उद्भव की कथाएँ दी गयी हैं। चतुर्थ अंश में, वायु-पुराण से मिलती-जुलती सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं की सूची दी गयी है। इसमें उर्वशी, ययाति, राम तथा महाभारत की कथाएँ भी हैं। अन्त में मगध, शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुङ्ग आदि वंशों के राजाओं का वर्णन करके कलियुग के बर्बर राजाओं के अनीतिपूर्ण शासन का विनाश करने के लिए कल्कि-अवतार की भविष्यवाणी है। पञ्चम अंश में हरिवंशानुसार कृष्ण-कथा तथा षष्ठ अंश में चारों युगों का वर्णन करके बन्धन-मोक्ष का वैष्णव-दर्शन के अनुसार विवेचन है।[1]

---

१. इस पुराण पर डॉ० सर्वानन्द पाठक ने 'विष्णुपुराणकालीन भारत' (चौखम्बा प्रकाशन) नामक उत्कृष्ट कार्य किया है। यह पुराण हिन्दी-अनुवाद के साथ गीता प्रेस से प्रकाशित है।

(४) **वायुपुराण**- इसमें विशेष रूप से शिव का वर्णन होने से बहुधा इसे 'शिवपुराण' से अभिन्न समझा जाता है, किन्तु शिवपुराण एक पृथक् ग्रन्थ है। वायुपुराण में ११२ अध्याय तथा प्रायः ग्यारह सहस्र श्लोक हैं। एक समय यह मगध-क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय था, 'गया-माहात्म्य' नामक अंश तथा बाणभट्ट के द्वारा अपने ग्राम में इसके वाचन का निर्देश ऐसा संकेत देते हैं। डॉ० पार्जिटर ने इसका समर्थन किया है। यह चार भागों (पादों) में विभक्त है- प्रक्रियापाद (अध्याय १-६), उपोद्घातपाद (७-६४), अनुषङ्गपाद (६५-९९) तथा उपसंहारपाद (१००-११२)। इस पुराण में सृष्टिक्रम, भूगोल, खगोल, युगों, ऋषियों तथा तीर्थों का वर्णन एवं राजवंशों, ऋषिवंशों, वेद की शाखाओं, संगीतशास्त्र तथा शिवभक्ति का विस्तृत निरूपण है। शिव के ध्यान में लीन योगियों तथा शिवलोक की प्राप्ति पर पर्याप्त सामग्री दी गयी है। शिवभक्ति का आद्योपान्त विवेचन होने पर भी दो अध्याय वैष्णव मत के प्रतिपादक हैं जो प्रक्षिप्त लगते हैं। इसमें भी पुराण के पञ्चलक्षण मिलते हैं। पितरों और श्राद्ध का इसमें विस्तृत विवरण है (७१-८६)।[१]

कुछ सूचियों में 'शिवपुराण' को अष्टादश-पुराणों में रखा गया है, वायुपुराण को ही 'शिवपुराण' मानकर कई लोग इसका अर्थ कर लेते हैं किन्तु यह भ्रम है। 'शिवपुराण' एक पृथक् ग्रन्थ है जिसे डॉ० पुसलकर ने एक निबन्ध में उपपुराण सिद्ध किया है।[२] वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित 'शिवपुराण' में सात खण्ड और २४००० श्लोक हैं। खण्डों को 'संहिता' कहा गया है जो क्रमशः इस प्रकार हैं- विद्येश्वर (२५ अध्याय), रुद्र (१८७), शतरुद्र (४२), कोटिरुद्र (४३), उमा (५१), कैलास (२३) तथा वायवीय (७६) संहिताएँ। शिवोपासना का यह विश्वकोश है। शिव और शिवभक्तों की कथाओं के साथ शिवपूजा की वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक पद्धतियों का इसमें पूर्ण विवरण है। यह पण्डित पुस्तकालय, काशी से भी हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित है।

(५) **भागवतपुराण**- पुराण-साहित्य में सर्वाधिक प्रचलित कृति भागवतपुराण ही है। इसका पारायण विष्णुभक्तों के द्वारा किया जाता है, इस पर अनेक संस्कृत व्याख्याएँ हुई हैं तथा अनेक भाषाओं में इसके रूपान्तर हैं।[३] रामायण के समान इसका व्यापक प्रचार है। भक्तिरस का आधारग्रन्थ और धर्म का रसमय स्वरूप होने के कारण इसे अनुपम प्रसिद्धि प्राप्त है। अन्य पुराणों की अपेक्षा इसकी भाषा-शैली अत्यधिक परिष्कृत, लालित्यपूर्ण, कवित्वमय एवं प्रौढ़ है। शिक्षित ब्राह्मणों के घर में वेद या अन्य पुराण भले ही न मिलें, भागवतपुराण अवश्य मिलेगा। विभिन्न अवसरों पर किसी फल के उद्देश्य से इस पुराण का सप्ताह-वाचन-पारायण होता है। इसे सभी दर्शनों का सार (निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्) तथा विद्वानों का परीक्षास्थल कहा गया है (विद्यावतां भागवते परीक्षा)। यहाँ श्रीकृष्ण को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् बताया गया है।

इस पुराण का विभाजन १२ स्कन्धों में हुआ है। पूरे ग्रन्थ में ३३५ अध्याय तथा अठारह सहस्र श्लोक हैं। **प्रथम स्कन्ध** में इस पुराण की उत्पत्ति की कथा विस्तृत रूप से दी गयी है कि

---

१. इस पुराण का हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशन साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से हुआ है।

२. Epics and Puranas (1955), p. 31-41.

३. गीता प्रेस, गोरखपुर से इसके पृथक्-पृथक् हिन्दी और अंग्रेजी अनुवादों के साथ सुलभ संस्करण प्रकाशित हैं।

परीक्षित् को शुकदेव जी ने सुनायी थी, बाद में इसे नैमिषारण्य में सूत ने ऋषि-मण्डली के समक्ष सुनाया। **द्वितीयस्कन्ध** में विराट् पुरुष, देवताओं की सकामोपासना, सृष्टिक्रम तथा भागवत के दस लक्षणों का वर्णन है। तृतीयस्कन्ध में उद्धव का विदुर को कृष्णलीलाओं का वर्णन सुनाना, मैत्रेय का विदुर को सृष्टिक्रम सुनाना, वराहावतार की कथा, हिरण्याक्ष-वध, कपिल का जन्म और सांख्य-दर्शन की उत्पत्ति आदि विषय हैं। चतुर्थस्कन्ध में स्वायम्भुव मनु की कन्याओं की वंश-परम्परा, दक्ष और शिव की कथा; ध्रुव, राजा वेन, राजा पृथु तथा पुरञ्जन के आख्यान एवं दस प्रचेताओं के वृत्त वर्णित हैं। **पञ्चमस्कन्ध** में गद्य का भी प्रयोग है जिसमें प्रियव्रत आदि राजाओं के वृत्तान्त के अतिरिक्त भूगोल-वर्णन है। **षष्ठस्कन्ध** में अजामिल, दक्ष तथा उनकी सन्तति, विश्वरूप तथा वृत्रासुर का वध एवं दिति-अदिति की कथाएँ मुख्य रूप से आयी हैं। **सप्तमस्कन्ध** में प्रह्लाद की कथा दस अध्यायों में वर्णित है, शेष भाग में वर्णाश्रम-धर्म का विवेचन है। **अष्टमस्कन्ध** में विभिन्न मन्वन्तरों की कथाएँ, गजेन्द्र-मोक्ष, समुद्र-मन्थन, बलि-वामन-कथा एवं मत्स्यावतार वर्णित हैं। **नवमस्कन्ध** में सूर्य तथा चन्द्र वंशों के राजाओं का वर्णन, भरतवंशवर्णन, एवं पांचाल-मगध आदि के राजाओं के वर्णन हैं। इस प्रसंग में हरिश्चन्द्र, राम, परशुराम, दुष्यन्त आदि की कथाएँ मुख्य हैं।

दशमस्कन्ध इस पुराण का बृहत्तम भाग (९० अध्याय) है। सर्वाधिक लोकप्रिय भी यही भाग है। इसमें कृष्णजन्म से लेकर उनकी पूरी जीवन-कथा है, लीलाओं का वर्णन है।[1] **एकादशस्कन्ध** में यादवों के विनाश का तथा कृष्ण-उद्धव-संवाद के अन्तर्गत अनेक धार्मिक-दार्शनिक विषयों का वर्णन है। अन्त में कृष्ण का स्वलीलासंवरण (मृत्यु) वर्णित है। **द्वादशस्कन्ध** में कलियुग के राजाओं तथा इस युग के धर्म का वर्णन करके वेदों और पुराणों का विभाजन, भागवत पुराण की विषय-वस्तु तथा अन्य पुराणों के श्लोकों की संख्या निर्दिष्ट है।

कुछ विद्वान् 'भागवत' से **'देवीभागवत'** पुराण का ग्रहण करते हैं (भगवत्या इदं भागवतम्)। इसमें देवी या शक्ति की महिमा वर्णित है। इसमें भी बारह स्कन्ध तथा १८ सहस्र श्लोक हैं। अध्यायों की संख्या केवल ३१८ है। भागवत जहाँ दर्शनपरक है, वहाँ देवीभागवत तन्त्रानुसारी है। भागवत का रचनाकाल जहाँ छठी शताब्दी ई० से १० वीं शताब्दी ई० तक माना गया है, वहाँ देवीभागवत के वर्तमान रूप को ९ वीं से ११ वीं शताब्दी ई० तक बताया जाता है। कहा गया है कि प्रथम शताब्दी ई० से ही तन्त्र का व्यापक प्रचार होने लगा था, 'राधा' की पूजा इसी का परिणाम थी। भागवत में तो राधा की चर्चा नहीं है किन्तु इस देवीभागवत की देवियों में वे अन्यतम हैं। इसमें मङ्गला देवी, षष्ठी देवी तथा मनसा देवी की कथाएँ मुख्य रूप से वर्णित हैं। इसके मूल रूप में परिवर्तन, बंगाल में, किया गया था।[2]

(६) नारद (बृहन्नारदीय) पुराण[3]- यह 'नारद' उपपुराण से भिन्न महापुराण है। पुराण के लक्षण इसमें नहीं हैं- वैष्णव धर्म के उत्सवों और व्रतों का इसमें व्यापक विवरण है। इसके दो खण्ड हैं- पूर्व (१२५ अध्याय) तथा उत्तर (८२ अध्याय)। इसमें प्रायः १८ सहस्र श्लोक हैं।

---

१. इस स्कन्ध में कृष्ण की रासलीला का लम्बा वर्णन है किन्तु राधा का उल्लेख नहीं है।

२. इसका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में गीता प्रेस से प्रकाशित है।

३. नारदपुराण संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद के रूप में 'कल्याण' के विशेषांक में प्रकाशित है।

इसके विषयों में मोक्ष, धर्म, नक्षत्र एवं कल्प का निरूपण; व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, गृहविचार, मन्त्रसिद्धि, पुराण-विषयानुक्रमणिका (९२-१०९), वर्णाश्रम-धर्म, श्राद्ध, प्रायश्चित्त एवं भक्तिद्वारा मोक्ष-प्राप्ति का विवरण मुख्य है। सूत-शौनक संवाद के रूप में इसकी रचना है जो नारद और सनत्कुमार के बीच संवाद पर आश्रित है। पापकर्मों की एक सूची १४ वें अध्याय में दी गयी है और उन पापों के दण्ड के रूप में विभिन्न नरकों का भी वर्णन है। नारद बार-बार विष्णुभक्ति को मोक्ष का एकमात्र साधन दिखाते हैं। इसके ४० अध्यायों में रुक्माङ्गद राजा का उदात्त चरित वर्णित है जिसने एकादशी व्रत को तोड़ने की अपेक्षा अपने पुत्र के वध का पाप स्वीकार किया। ऐसी अर्थवादात्मक कथाएँ पुराणों में बहुधा दी गयी हैं।

(७) मार्कण्डेयपुराण- यह प्राचीनतम पुराणों में अन्यतम है क्योंकि इसके कुछ भागों में न विष्णु का महत्त्व-वर्णन है, न शिव का। इसमें इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि वैदिक देवताओं की महत्ता दिखाई गई है। पार्जिटर का कथन है कि इसके प्राचीनतम भाग तीसरी शताब्दी ई. या उससे भी पूर्व के हैं। इन अंशों में मार्कण्डेय ऋषि अपने शिष्य क्रौष्टिकि को पुराण के लक्षणों में स्थापित विषयों (सृष्टि, मन्वन्तर, वंशावली आदि) का उपदेश देते हैं। इस पुराण में १३८ अध्याय तथा प्राय: सात सहस्र श्लोक मिलते हैं। इसका आरम्भ महाभारत की कथा के विषय में चार प्रश्नों से होता है जैसे द्रौपदी पाँच पाण्डवों की पत्नी क्यों बनी, उसके पुत्र युवावस्था में क्यों मरे इत्यादि। इनका उत्तर आख्यानों के द्वारा जैमिनि को चार ज्ञानी पक्षियों ने दिया। महाभारत के समान यहाँ भी आख्यानों के अतिरिक्त गृहस्थधर्म, श्राद्ध, दिनचर्या, नित्यकर्म, व्रत, उत्सव आदि के विषय में शुद्ध उपदेशात्मक अंश हैं (अध्याय २९-३५)। योग के विषय में भी एक प्रकरण है (अध्याय ३६-४३)। आख्यानों में अनसूया नामक पतिव्रता की कथा है जिसने अपने पति को ऋषि के शाप से बचाने के लिए सूर्योदय होना ही रोक दिया था। इस पुराण में दुर्गा-माहात्म्य (सप्तशती) के रूप में एक स्वतन्त्र प्रकरण है (अध्याय ८१-९३) जिसे बाद में जोड़ा गया माना जाता है। यह बहुत लोकप्रिय धार्मिक पुस्तक है जिसका पाठ शक्तिपीठों में तथा गृहस्थों के घरों में भी होता है।[1]

(८) अग्निपुराण- अग्नि के द्वारा वसिष्ठ को उपदेश इसमें दिये जाने के कारण इसे अग्निपुराण कहा गया है। यह भारतीय संस्कृति तथा विद्याओं का महाकोश है जिसमें भारतीय वाङ्मय के उत्कृष्ट ग्रन्थों और विषयों का रोचक सार-संकलन है। पुराणों में दिये गये विवरणों के अनुसार तो इसमें पन्द्रह सहस्र चार सौ श्लोक थे किन्तु वर्तमान अग्निपुराण में ३८३ अध्याय तथा प्राय साढ़े ग्यारह सहस्र श्लोक हैं। इसमें विष्णु के अवतारों का वर्णन है। राम और कृष्ण के वर्णन में यह रामायण, महाभारत तथा हरिवंश का अनुसरण करता है। प्रारम्भ में वैष्णव ग्रन्थ का स्वरूप लेने पर भी यह प्रधानत: शैव धर्म का ग्रन्थ है जिसमें शिवलिङ्ग, दुर्गा, गणेश, सूर्य आदि की रहस्यात्मक पूजा-पद्धतियों का वर्णन है। देव-प्रतिमाओं के निर्माण और उनकी प्राण-प्रतिष्ठा की विधियाँ भी यहाँ वर्णित हैं। पुराणों के लक्षण-विषयों के अतिरिक्त इसमें भूगोल, गणित और फलित ज्योतिष, विवाह और मृत्यु की धार्मिक क्रियाएँ, शकुनविद्या, वास्तुविद्या, दिनचर्या, नीतिशास्त्र, युद्धविद्या, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, काव्य, व्याकरण, कोशनिर्माण आदि नाना विषयों

---

१. 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में इस पुराण का भी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित है।

पर प्रकाश डाला गया है।[1] विश्वकोशात्मकता इस पुराण की विशिष्टता है।

(९) भविष्यपुराण[2]- इसके नाम से ही प्रकट है कि यह भविष्य की घटनाओं से सम्बद्ध पुराण है। इसका प्रतिसंस्करण अनेक बार होता रहा है। ऑफ्रेख्त ने १९०३ ई० में एक लेख के द्वारा इस पुराण को 'साहित्यिक प्रपञ्च' की संज्ञा दी थी। वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से प्रकाशित भविष्यपुराण में अनेक नये तथ्यों का समावेश है। फिर भी आपस्तम्ब धर्मसूत्र के तृतीयाध्याय में इसके प्राचीन रूप की चर्चा होने से इसे प्राचीन माना जा सकता है, सामग्री का परिबृंहण चाहे जितना होता रहा हो। नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित भविष्यपुराण में दो खण्ड हैं- पूर्वार्ध (४१ अध्याय) तथा उत्तरार्ध (१७१ अध्याय)। स्पष्टत: उत्तरार्ध में बहुत अधिक सामग्री जोड़ी गयी है। अग्निपुराण के अनुसार इसकी श्लोकसंख्या १५ सहस्र है। नारदीय पुराण में इसकी विषय-सूची दी गयी है जिसे पाँच पर्वों में विभक्त किया गया है- ब्राह्मपर्व, विष्णुपर्व, शिवपर्व, सूर्यपर्व तथा प्रतिसर्ग पर्व। इसमें मुख्यत: ब्राह्मण-धर्म, आचार, वर्णाश्रम-धर्म आदि का वर्णन है। नाग-सम्बन्धी कुछ कथाएँ नागपञ्चमी-व्रत के वर्णन के क्रम में दी गयी हैं। शाकद्वीप में सूर्यपूजा की पद्धति पर एक पूरा प्रकरण है जिसमें भोजक और मग इन दो सूर्य-पूजकों का विवरण है। स्त्रियों की स्थिति तथा वर्ण-व्यवस्था पर इस पुराण में नया प्रकाश दिया गया है। इसके मुख्य भागों का रचनाकाल (अंग्रेजी शासनकाल के विवरण वाले प्रक्षिप्तांशों को छोड़कर) ५०० ई० से १२०० ई० के बीच दिखाया गया है।[3] यद्यपि इसका उद्‌भव अन्य पुराणों के समान ई० पू० में ही हो चुका था। प्रक्षिप्तांश मुख्यत: प्रतिसर्ग पर्व में हैं।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण- यह वैष्णव पुराण है जिसमें श्रीकृष्ण के चरित का वर्णन करते हुए वैष्णव धर्म का विवरण दिया गया है। राधा-कृष्ण की लीला का सरस वर्णन होने से यह पुराण कृष्णमूलक वैष्णव सम्प्रदायों का उपजीव्य है। राधा को यहाँ सृष्टि की आधारभूत शक्ति और कृष्ण को बीज कहा गया है (सृष्टेराधारभूता त्वं बीजरूपोऽहमच्युत:)। पुराणों के अनुसार इसकी श्लोकसंख्या १८ सहस्र है। इसके चार खण्ड हैं- ब्रह्म, प्रकृति, गणेश तथा श्रीकृष्ण जन्म। **ब्रह्मखण्ड** में सृष्टिवर्णन है, श्रीकृष्ण ने ही परमात्मा के रूप में सृष्टि रचना की है। **प्रकृतिखण्ड** में मूल-प्रकृति का वर्णन है। कृष्ण की आज्ञा से प्रकृति पाँच देवियों के रूप में बदल जाती है- दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा। इस खण्ड में इन देवियों से सम्बद्ध अनेक कथाएँ तथा उनकी पूजा-विधियाँ वर्णित हैं। **गणेशखण्ड** में गणेश को कृष्ण का अवतार बताकर उनका विवरण है। **श्रीकृष्णजन्मखण्ड** सबसे बड़ा है। कृष्ण-लीलाओं, उनके युद्धों तथा गोपियों के प्रति उनके अनुराग का इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रसंगवश इसमें भक्ति, सदाचार, योग, नारी-धर्म, अतिथि-सेवा, माता-पिता की महिमा, आयुर्वेद, भक्ष्याभक्ष्य-नियम, शकुन-विद्या तथा पाप-पुण्य का भी विवेचन है। अनेक माहात्म्य भी इसमें संकलित है।[4]

---

१. इस पुराण का हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में प्रकाशित है।

२. इस पुराण का हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में प्रकाशित है। इस पर एक उत्कृष्ट शोध-ग्रन्थ डॉ० राजकुमार अरोड़ा ने लिखा है- **Historical and Cultural Data from the Bhaviṣya Purana**- Sterling Publishers, N. Delhi (1972).

३. डॉ० अरोड़ा का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० १६-२०। इसका अन्तिम प्रक्षेप १८५० ई० में हुआ।

४. यह पुराण भी हिन्दी-अनुवाद के रूप में 'कल्याण' के विशेषांक में प्रकाशित है।

(११) लिङ्गपुराण- इसमें शिवोपासना के विविध रूपों का तथा शिवलिङ्ग की पूजा का विशेष रूप में विवरण दिया गया है। यहाँ शिव से ही सृष्टि-रचना का वर्णन है। विष्णु के अवतारों के समान इस पुराण में शिव के अठाइस अवतारों की कथाएँ दी गयी हैं। लिङ्ग की पूजा से चतुर्वर्ग की प्राप्ति इसमें बतायी गई है। इस पुराण में ११ सहस्र श्लोक तथा १६३ अध्याय हैं। इसे पूर्व और उत्तर दो भागों में विभक्त किया गया है। पूर्वभाग में शिव द्वारा सृष्टि का तथा वैवस्वत मन्वन्तर से कृष्ण के काल तक के राजवंशों का वर्णन है। कई स्थलों पर शिव को विष्णु से बड़ा बताया गया है। उत्तर भाग में शैवतन्त्रों के अनुसार पशु, पाश और पति का वर्णन है। इस भाग में कई अध्याय गद्यात्मक हैं। इसमें काशी तथा समीपवर्ती क्षेत्रों का विवरण है (अध्याय ९२)। योग का वर्णन इसमें व्यासभाष्य (छठी शताब्दी ई.) के आधार पर है। इसका काल आठवीं-नवीं शताब्दी माना गया है। पुराण के लक्षणों पर यह खरा नहीं उतरता। शिव-सम्बन्धी व्रतों तथा अनुष्ठानों का व्यापक वर्णन करने के कारण यह शैव सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ है।

(१२) वराहपुराण- इसमें विष्णु के वराह अवतार का वर्णन है। पाताल लोक से पृथ्वी का उद्धार करके वराह ने इस पुराण का प्रवचन किया था। यह वैष्णव पुराण है तथापि इसमें शिव, दुर्गा तथा गणेश की कथाएँ दी गयी हैं। पुराणों के अनुसार इसमें २४ सहस्र श्लोक हैं किन्तु वर्तमान संस्करणों में केवल ग्यारह सहस्र के आसपास श्लोक मिलते हैं जो २१७ अध्यायों में विभक्त हैं। इसमें सृष्टि, वंशावली आदि की संक्षिप्त चर्चा है किन्तु मुख्य रूप से विष्णुभक्तों के लिए संकलित स्तोत्रों तथा पूजाविधियों का यह संग्रह-ग्रन्थ है। मातृ-पूजा और देवियों की पूजा (अध्याय ९०-९५), गणेश की कथा तथा स्तोत्र, श्राद्ध (अध्याय १३ से आगे), प्रायश्चित्त (अ. ११९ से), देवप्रतिमा के निर्माण की विधि (१८१ से), मथुरामाहात्म्य (१५२-६८), नचिकेता की कथा (अध्याय १९३-२१२) इत्यादि इस पुराण के विशिष्ट स्थल हैं। नचिकेता की कथा में कठोपनिषद्-जैसे दार्शनिक विचार इसमें नहीं हैं, अपितु स्वर्ग और नरक के वर्णन को ही अधिक स्थान दिया गया है। विष्णु-सम्बन्धी व्रतों में प्रत्येक मास में द्वादशी-व्रत का माहात्म्य दिखाया गया है। इस पुराण के कुछ अध्याय गद्यात्मक भी हैं। डॉ. हाजरा ने कहा है कि इसमें युगधर्म, व्रत, पूजा तिथि और श्राद्ध से सम्बद्ध सामग्री ८०० ई० की है किन्तु कर्मविपाक, नरक, दान तथा स्त्रीधर्म-विषयक बातें १०००. ई० का संकेत देती हैं। मथुरा आदि का वर्णन इसी काल में संकलित हुआ था।

(१३) स्कन्दपुराण- भगवान् शिव के पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य) के नाम पर आश्रित यह पुराण सबसे बड़ा है। इसमें इक्यासी सहस्र श्लोक हैं। इसका विभाजन दो प्रकार से (संहिताओं में और खण्डों में) मिलता है। संहिताओं की संख्या छह है- सनत्कुमार, सूत, शंकर, वैष्णव, ब्राह्म तथा सौर। इनमें सूतसंहिता महत्त्वपूर्ण है, इसमें छह सहस्र श्लोक हैं। शिवपूजा की वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों विधियों का इसमें विवरण है। इस संहिता पर माधवाचार्य ने 'तात्पर्य-दीपिका' नामक विस्तृत टीका लिखी है (आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि में प्रकाशित)। यह संहिता स्वयं चार खण्डों में विभक्त है जिनमें शिवमहिमा, हठयोग, मुक्ति, अद्वैत वेदान्त से शिव का समन्वय आदि वर्णित हैं। इसके अन्त में दो गीताएँ भी हैं- ब्रह्मगीता (१२ अध्याय) तथा सूतगीता (८ अध्याय)।

खण्डक्रम से इसमें सात खण्ड हैं- माहेश्वर खण्ड, वैष्णवखण्ड, ब्रह्मखण्ड, काशीखण्ड,

अवन्तीखण्ड (रेवाखण्ड), नागरखण्ड (तापीखण्ड) तथा प्रभासखण्ड। इन खण्डों को पुनः माहात्म्यों तथा उपखण्डों में विभक्त किया गया है। इनमें काशीखण्ड बहुत महत्त्व का है। काशी के तथा आसपास के शिव-मन्दिरों एवं पूजा-विधियों का इसमें सूक्ष्म वर्णन है। अनेक कथाएँ भी इसमें दी गयी हैं। इसी खण्ड में 'गङ्गासहस्रनाम' स्तोत्र भी है। अन्य खण्डों में विभिन्न स्थलों से सम्बद्ध पूजा तीर्थों का और आख्यानों का वर्णन है। विन्टरनित्स का कथन है कि मूल स्कन्दपुराण नष्ट हो गया है तथा अनेक ग्रन्थ इस पुराण के अङ्ग बनकर विकसित हुए हैं। इसकी एक प्राचीन पाण्डुलिपि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल से मिली थी। यह गुप्तलिपि में थी तथा इसका काल ७ वीं शताब्दी ई. कहा गया। किन्तु यह भी प्राचीन पुराण का भाग नहीं है क्योंकि इसमें शिव-सम्बन्धी आख्यानों का ही प्राचुर्य है, 'पञ्चलक्षण' का निर्देश नहीं मिलता। अपने अव्यवस्थित संकलन के कारण इसका स्वरूप परवर्ती है किन्तु अपने विराट् आकार के कारण यह पुराण-साहित्य में विलक्षण ग्रन्थ माना जाता है।[1]

(१४) **वामनपुराण**- इसमें विष्णु के वामनावतार के वर्णन से ग्रन्थारम्भ होता है तथा कई अध्यायों में (२४-३२) विष्णु के आवतारों का सामान्य वर्णन है। किन्तु इसका एक बड़ा भाग शिवलिङ्ग की पूजा, गणेश-कार्तिकेय के आख्यान तथा शिवपार्वती के विवाह से सम्बद्ध है। सृष्टि आदि पाँच पौराणिक विषयों में शायद ही किसी का वर्णन इसमें है। अतएव यह पुराण अपने मूल रूप में नहीं मिलता है। मत्स्यपुराण (५३/५४ तथा आगे) में इस पुराण के विषय तथा विस्तार पर जो सूचनाएँ हैं वे भी इसमें नहीं मिलती हैं। इसमें ९५ अध्याय तथा दस सहस्र श्लोक हैं। इसका विभाजन चार संहिताओं में हुआ है- माहेश्वरी, भागवती, सौरी तथा गाणेश्वरी। वैष्णवपुराण होने पर भी इसमें उदारता है। डॉ. हाजरा के अनुसार इसे अन्तिम रूप ९ वीं-१० वीं शताब्दी ई० में मिला था क्योंकि कर्म-विपाक, वर्णाश्रम-धर्म, व्रत, विष्णुपूजा आदि प्रकरण इसी काल में जोड़े गये थे।[2]

(१५) **कूर्मपुराण**- विष्णु के कूर्म अवतार का इसमें वर्णन है। विष्णु ने इस अवतार में समुद्र-मन्थन में मुख्य भूमिका ग्रहण की थी। इसमें कहा गया है कि इस पुराण की चार संहिताएँ हैं-ब्राह्मी, भागवती, सौरी और वैष्णवी। किन्तु कूर्मपुराण के नाम से अभी केवल प्रथम (ब्राह्मी) संहिता ही मिलती है जिसमें छह सहस्र श्लोक हैं। नारदपुराण के अनुसार इसमें १७ सहस्र श्लोक थे। वर्तमान ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है जिनमें क्रमशः ५१ और ४४ अध्याय हैं। इसके आरम्भ में राजा इन्द्रद्युम्न की कथा है जो अगले जन्म में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ। उसे कूर्मरूप में विष्णु ने इस पुराण का उपदेश दिया। शिव और विष्णु की अभिन्नता पर इस पुराण में बहुत बल दिया गया है। शिव की शक्ति (देवी) की आठ सहस्र नामों से यहाँ स्तुति की गयी है (१/११-१२)। इस पुराण में 'पञ्चलक्षण' भी मिलते हैं। इसके उत्तरभाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य दिखाया गया है। ईश्वरगीता तथा व्यासगीता के नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ भी इसमें सम्मिलित हैं। डॉ. हाजरा के अनुसार कूर्मपुराण 'पाञ्चरात्र' मत का प्रतिपादक प्रथम पुराण है। इसका रचना-काल षष्ठ शतक ई. है किन्तु कुछ भाग ९ वीं-१० वीं शताब्दी में भी जोड़े गये।

---

१. इस पुराण का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' के विशेषांक में प्रकाशित है।

२. 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में हिन्दी अनुवाद प्रकाशित।

(१६) **मत्स्यपुराण**- प्राचीनता तथा वर्ण्यविषय के विस्तार की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण पुराण है। पञ्चलक्षण की संगति होने से इसे प्राचीन माना गया है। पुराणों में यद्यपि इसकी श्लोक संख्या उन्नीस सहस्र कही गयी है किन्तु इसके वर्तमान संस्करणों में २९१ अध्याय तथा १४००० श्लोक मिलते हैं। इसमें जलप्रलय का वर्णन है जिससे सभी प्राणियों की रक्षा मत्स्यरूपधारी विष्णु ने की थी। यह वर्णन आरम्भ के कुछ अध्यायों में है। मत्स्य और मनु के संवाद के रूप में पुराण का प्रकाशन हुआ है। इसमें पितरों, तीर्थयात्रा, भुवनकोश, दान-माहात्म्य, राजधर्म, श्राद्ध तथा गोत्र-प्रवरों का विस्तृत वर्णन है। इसके बहुत बड़े अंश में (अध्याय २१५-२७) राजधर्म का वर्णन है जो राजशास्त्र के अपेक्षित विषयों के विवेचन से सम्पन्न है। व्रत (५४-१०२), प्रयाग-माहात्म्य (१०३-१२), काशी-माहात्म्य (१८०-५), नर्मदा-माहात्म्य (१८६-९४), शकुन-विचार (२२८-३८), देवप्रतिमा और मन्दिर-निर्माण (२५८-७०), दान (२७४-८९) आदि पर लम्बे प्रकरण हैं। धार्मिक विषयों की दृष्टि से इसे शैव या वैष्णव दोनों कहा जा सकता है। इसमें कलियुग के राजाओं की सूची दी गयी है। स्मिथ का कथन है कि आन्ध्र-नरेशों की जो सूची इस पुराण में दी गयी है, वह बहुत विश्वसनीय है।

डॉ० हाजरा ने इसका रचनाकाल ३ री शताब्दी ई० के उत्तरार्ध या चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध में माना है। पी. वी. काणे इसकी उत्तरकाल सीमा छठी शताब्दी ई. तक मानते हैं। इस पुराण का एक उत्कृष्ट संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ गीता प्रेस से दो खण्डों में प्रकाशित है जो मूलत: 'कल्याण' के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था।

(१७) **गरुड़पुराण**- यह एक वैष्णवपुराण है। इस पुराण को स्वयं विष्णु ने गरुड़ के समक्ष सुनाया था, गरुड़ ने कश्यप के समक्ष इसका प्रवचन किया। पुराण के पाँच लक्षणों में कुछ का समावेश इसमें है जैसे-सृष्टि, मन्वन्तर, सूर्य-चन्द्र-वंशावली। किन्तु इसका विपुलांश विष्णुपूजा, वैष्णव व्रत, प्रायश्चित तथा तीर्थ-माहात्म्य को ही समर्पित है। शक्ति-पूजा तथा पञ्चदेवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश) की उपासना की विधि भी इसमें वर्णित है। गरुड़पुराण पुर्वखण्ड और उत्तरखण्ड में विभक्त है जिनमें क्रमश: २२९ तथा ३५ अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या १८ सहस्र श्लोक हैं।

अग्निपुराण के समान इसका पूर्वखण्ड विश्वकोशात्मक है जिसमें रामायण-महाभारत-हरिवंश की विषय-वस्तु, सृष्टिक्रम, ज्योतिष, शकुन, सामुद्रिकशास्त्र, छन्द, आयुर्वेद, व्याकरण, रत्न-परीक्षा, नीतिशास्त्र, दर्शन आदि का समावेश है। इसका उत्तरखण्ड 'प्रेतकल्प' कहलाता है। इसमें मृत्यु के अनन्तर जीव की गतियों का; नरक, यमलोक, प्रेतस्वरूप, मनुष्य की आयु, मरणासन्न व्यक्ति के लक्षण, श्राद्ध आदि का लम्बा वर्णन है। इस खण्ड का वाचन, मृत्यु के अनन्तर, मृतक के घर में किया जाता है। गरुड़पुराण की रचना हाजरा ने नवम शताब्दी ई. में मानी है। इसका उद्भवस्थान मिथिला है क्योंकि 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के अनेक श्लोक इस पुराण में कुछ परिवर्तनों के साथ आये हैं। इसके १०७ वें अध्याय में 'पराशरस्मृति' का सार प्रस्तुत है।

(१८) **ब्रह्माण्डपुराण**- नारदपुराण तथा मत्स्यपुराण में इसकी विषयसूची दी गयी है जिससे ज्ञात होता है कि इसमें १०९ अध्याय तथा १२ सहस्र श्लोक हैं। मत्स्यपुराण (अध्याय ५३) के अनुसार ब्रह्माण्ड के महत्व का वर्णन करने के लिए ब्रह्मा ने जिस पुराण का उपदेश दिया और

जिसमें भविष्य एवं कल्पों का वृत्तान्त विस्तार से दिया गया वह 'ब्रह्माण्डपुराण' है। नारदपुराण के अनुसार इसमें चार पाद (खण्ड) थे- प्रक्रिया, अनुषङ्ग, उपोद्घात तथा उपसंहार। किन्तु वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से प्रकाशित संस्करण में केवल प्रक्रिया तथा उपोद्घात पाद ही हैं। इस पुराण में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जगत्) का सांगोपांग विवरण है। इसके अन्तर्गत विश्व का पौराणिक भूगोल एवं खगोल-वर्णन भी है। उपोद्घात पाद में क्षत्रियों के वंशों का वर्णन भी है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इस पुराण का उपदेश वायु ने व्यास को दिया था। 'अध्यात्मरामायण' को ब्रह्माण्डपुराण का अंश माना जाता है किन्तु किसी प्रतिलिपि में यह उपलब्ध नहीं है, अपितु एक पृथक् ग्रन्थ ही है। इस पुराण में नचिकेता की कथा को विकृत रूप देकर 'नासिकेतोपाख्यान' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे भी पुराण से पृथक् ग्रन्थ मानना चाहिए। ब्रह्माण्डपुराण की रचना ४०० ई० तथा ६०० ई० के बीच हो गयी थी।

पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व

पुराणों ने प्राय: दो सहस्र वर्षों से भारतीय जन-जीवन को बहुत प्रभावित किया है, औपचारिक शिक्षा से वञ्चित जनता में पारम्परिक ज्ञान का वितरण किया है, उसे नैतिक दृष्टि से आदर्शोन्मुख बनाकर भारतीय राष्ट्र के लिए समर्पण-भावना में निरत बनाया है तथा आस्तिकवाद की व्यवस्था में रखकर सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँध रखा है। पुराणों का धार्मिक, ऐतिहासिक, शैक्षणिक, नैतिक आदि दृष्टियों से इतना महत्त्व है जितना किसी साहित्य-प्रकार का नहीं हो सकता। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार किया जाता है-

(१) **धार्मिक महत्त्व**-पुराणों की सर्वोपरि महत्ता आस्तिकवाद के समर्थन के कारण है। उनमें अनेक देवताओं का वर्णन है। सभी देवताओं की समानता की घोषणा करने पर भी एक देवता की महत्ता दिखाना सभी पुराणों का लक्ष्य रहा है। विशेष रूप से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश तथा सूर्य की उपासना-पद्धतियों का प्रामाणिक बोध पुराणों से होता है। इन्हीं के आधार पर परवर्ती कर्मकाण्ड-ग्रन्थों का विकास हुआ है। विन्टरनित्स का कथन है कि धर्म के इतिहास की दृष्टि से वे अमूल्य है और केवल इसी दृष्टि से उनका अध्ययन होना चाहिए जो आज तक नहीं हो सका है। ये पुराण हिन्दू-धर्म के सभी अङ्गों और स्तरों का - पुराण-कथाओं, मूर्तिपूजा, सेश्वरवाद और एकेश्वरवाद, ईश्वर-भक्ति, दर्शन और पूर्वाग्रह, उत्सव और त्योहार, तथा आचार का किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा हमें कहीं अधिक गहन ज्ञान प्रदान करते हैं।[1] हिन्दू-धर्म की सर्वाधिक स्पष्ट रूपरेखा पुराणों में अङ्कित है। सनातन-धर्म पुराणों को वेदों से बढ़कर महत्त्व देता है। नारदपुराण में (उत्तर. २४/१७) इन्हें वेदों से अधिक प्रामाणिक कहा गया है क्योंकि वेद अपने प्रचार और व्याख्या के लिए पुराणों पर आश्रित हैं-

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥

(२) **ऐतिहासिक महत्त्व**- पुराणों में महाभारत-युद्ध के पूर्व के राजाओं की वंशावली तो श्रुति-परम्परा के आधार पर दी ही गयी है, इसके बाद के राजाओं में परीक्षित् से लेकर पद्मनन्द

१. विन्टरनित्स- प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी अनु०), भाग-१, खण्ड-२, पृ० १९६

का इतिहास भी ज्ञात अभिलेखों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। यह कालखण्ड भारतीय इतिहास के लिए अभी तक अज्ञात ही है। तथाकथित ऐतिहासिक काल के भी कुछ राजवंशों का विवरण (भविष्यवाणी के रूप में) पुराणों में प्रस्तुत है। मौर्य-वंश के लिए विष्णुपुराण, आन्ध्रवंश के लिए मत्स्यपुराण तथा गुप्त-वंश के लिए वायुपुराण अत्यधिक प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं, ऐसा पार्जिटर तथा स्मिथ जैसे अंग्रेज इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है।[1] इनके अन्त में पुराणों ने भारत की दुर्दशा करने वाले कुछ विदेशी और बर्बर जातियों के राजवंशों का भी उल्लेख किया है जैसे-आभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि। इसलिए कुछ कालों के इतिहास के अनावरण के लिए एकमात्र स्रोत के रूप में पुराणों का महत्त्व है।

(३) **शैक्षणिक महत्त्व**- भारतवर्ष की जनता प्राचीन काल में अधिकांशत: औपचारिक शिक्षा से वञ्चित रहती थी। वेदों की शिक्षा तो अत्यधिक सीमित थी। फिर भी हमारे देश की जनता को सर्वथा मूर्ख, अविवेकी या असंस्कारी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पुराणों के उपदेश उसे सुलभ थे। पुराणों की कथाओं का आयोजन मुख्य-मुख्य क्षेत्रों में होता था जिन्हें सारी जनता भेद-भाव छोड़कर सुनती थी। इन कथाओं में अनौपचारिक शिक्षण की व्यवस्था थी। यही कारण है कि कतिपय पुराणों में नीति, दर्शन, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, वास्तुविद्या, आयुर्वेद, व्याकरण, ज्योतिष, शरीर-विज्ञान आदि शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन किया गया। परिणामत: अक्षर-ज्ञान से रहित जनता भी पुराणों के माध्यम से, केवल श्रवण द्वारा, शिक्षा-संस्कार पाती थी। कथा-कहानियों के द्वारा उसे अपने जीवन को आदर्शमय बनाने का सुन्दर अवसर मिलता था। आज के सभी शिक्षा-साधनों से भी वह परिणाम नहीं निकल रहा है जो पुराणों की साधारण कथा उत्पन्न करती थी।

(४) **नैतिक महत्त्व**- पुराणों ने मनुष्य की क्रियाओं को धार्मिक रूप प्रदान करके उन्हें पाप और पुण्य के रूप में विभाजित किया था। यद्यपि वैदिक युग से ही यह कार्यक्रम आरम्भ हो गया था तथा धर्मसूत्रों में इसकी व्यापक व्यवस्था मिलती है किन्तु इस व्यवस्था में विश्वास उत्पन्न करने का कार्य पुराणों ने ही किया था। इसके लिए अनेक रोचक आख्यान बने जिनमें पापकर्म के लिए दण्ड और पुण्यकर्म के लिए पुरस्कार के विवरण दिये गये। इसी प्रसङ्ग में स्वर्ग और नरक का विस्तृत वर्णन कई पुराणों में किया गया। इसका परिणाम हुआ कि भारतीय जनता, आज की जड़वादी संस्कृति के आगमन के पूर्व तक, पुराण-श्रवण के कारण आदर्श जीवन यापन करती थी जिसकी प्रशंसा चीनी तथा पश्चिमी यात्रियों ने मुक्तकण्ठ से की है। नरक की यातना के भय से अनैतिक तथा पापकर्मों से दूर रहना एवं स्वर्गादि फलों से आकृष्ट होकर व्रत-उपवास, दया-दान आदि कर्मों में रुचि होना सामान्य भारतीय का जीवन-दर्शन था। इसी दृष्टिकोण का साक्षात्कार हमें इस प्रसिद्ध श्लोक में होता है-

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

---

१. Pargiter- **The Purāṇa Texts of the Dynasties of the Kali Age**, London, (1913). V. A. Smith- **Early History of India**.
विन्टरनित्स- **प्राचीन भारतीय साहित्य**, भाग-१, खण्ड-२, पृ० १९०-२।

(५) **भौगोलिक महत्त्व**- अनेक पुराणों में 'भुवनकोश' प्रकरण देकर समस्त भूमण्डल का यथासाध्य ज्ञान देने का प्रयास किया गया है। विदेशों के वर्णन में भले ही कल्पना या गतानुगतिक सूचनाओं का आश्रय लिया गया हो किन्तु भारत के भूगोल का निरूपण करने में पौराणिक सूचनाएँ प्राय: प्रामाणिक हैं। इनमें न केवल भारत के विभिन्न भूभागों का अपितु उसकी नदियों, पर्वतों, झीलों, वनों, मरुस्थलों, नगरों, प्रदेशों एवं जातियों का भी अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ विवरण प्रस्तुत है। वायु, मत्स्य और मार्कण्डेय पुराणों में भौगोलिक विवरण बड़े हैं जबकि विष्णुपुराण में यह संक्षिप्त है।[१] पुराणों की सूचनाओं के आधार पर भारत के विभिन्न क्षेत्रों के भूगोल का अध्ययन आज लोकप्रिय शोधकार्य है जो इनके भौगोलिक महत्त्व का परिचायक है।[२]

(६) **राष्ट्रीय एकता का निरूपण**- पुराणों में सम्पूर्ण भारत की एकता का सफल प्रयास किया गया है। विष्णुपुराण, भागवतपुराण आदि में भारतवर्ष की महिमा का गान किया गया है जहाँ जन्म लेने के लिए देवता भी उत्सुक रहते हैं-

गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात्॥
(विष्णुपुराण २/३/२४)

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि:।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न:॥
(भागवतपुराण ५/१९/२१)

इस प्रकार भारत में जन्म लेने का महत्त्व दिखाकर पुराणों ने राष्ट्रीय गौरव तथा अस्मिता का निरूपण किया है। सभी प्रदेशों में रहने वाले भारतीयों को एक सांस्कृतिक सूत्र में पुराणों ने युगों से बाँध रखा है। राजनीति की दृष्टि से एक शासन में निबद्ध न रहने वाला भारत सांस्कृतिक और धार्मिक एकबद्धता में अवस्थित है, यह पुराणों का बहुत बड़ा योगदान है।

तीर्थयात्रा पर पुराणों ने बहुत बल दिया है। ये तीर्थ भारतवर्ष के विभिन्न भागों में अवस्थित हैं। कुछ तीर्थ तो भारत की वर्तमान सीमा के बाहर हैं जैसे-कैलास पर्वत, मानसरोवर इत्यादि। सुदूर दक्षिण के निवासी हिमालय एवं कश्मीर जैसे उत्तरवर्ती क्षेत्रों के तीर्थों की यात्रा अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं तो उत्तर के निवासी कुमारी-क्षेत्र (कन्याकुमारी), रामेश्वरम् आदि दाक्षिणात्य तीर्थों की यात्रा करना चाहते हैं। भारत की पवित्र नदियों, सरोवरों और पर्वतों की स्थिति पूरे देश में व्याप्त है जहाँ स्नान-दर्शन-यात्रा की महिमा पुराणों में वर्णित है। इनके प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न करके पुराणों ने सम्पूर्ण भारत के लिए उदार दृष्टिकोण निर्मित करने में पूरी शक्ति लगा दी है। ये पुराण क्षेत्रीयता को राष्ट्रीयता में और संकीर्णता को उदारता में परिणत करते हैं।

(७) **सामाजिक महत्त्व**- पुराणों में भारतीय समाज की व्यवस्था का न केवल चित्रण है, अपितु आदर्श समाज बनाने की व्यापक विधियाँ वर्णित हैं। वर्णाश्रम के गुण-कर्म, विविध

---

१. डॉ. विमल चरण लाहा-प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (हिन्दी अनु), उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ से प्रकाशित (१९७२), पृ. १

२. डॉ. भानुरत्न पाठक ने पटना विश्वविद्यालय से मेरे निर्देशन 'पुराण-साहित्य में मगध' पर शोध-कार्य सम्पन्न किया है। देखें-डॉ. सर्वानन्द पाठक, 'विष्णुपुराण का भारत' (चौखम्बा प्रकाशन)।

संस्कार, पारिवारिक सम्बन्ध, राजधर्म, स्त्रीधर्म, गुरु-शिष्य के बीच सम्बन्ध इत्यादि के विवरण हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि पूरे समाज के लिए पुराण आचार-संहिता प्रदान करते हैं।

(८) **दार्शनिक महत्त्व**- कुछ पुराणों में अद्भुत दार्शनिक सामग्री मिलती है। सृष्टि के क्रम का रोचक वर्णन करते हुए प्रायः सभी पुराण जगत् की उत्पत्ति का दार्शनिक विवेचन करते हैं। सामान्य रूप से सांख्य-दर्शन के सृष्टिक्रम को मूल सृष्टि की व्याख्या करने के लिए स्वीकार किया गया है किन्तु यत्र-तत्र वेदान्त के मायावाद, सर्वेश्वरवाद इत्यादि की भी युगपत् चर्चा है।[1] विष्णुपुराण में विष्णु को ही प्रधान (अव्यक्त), व्यक्त और काल भी कहा गया है।[2] शैवपुराणों में परमात्मा को 'शिव' कहकर ये सारी बातें उन्हीं पर आरोपित हैं। पृथ्वी जब जीवों के निवास के योग्य हो गयी तब ब्रह्मा के मानस-पुत्रों का आगमन हुआ। इस प्रकार सृष्टि की दार्शनिक व्याख्या की गयी है। भागवतपुराण दर्शन के विविध पक्षों का समन्वय करके भक्ति-दर्शन का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन करता है जिससे 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की उक्ति प्रचलित है।[3] पुराणों के दार्शनिक स्थलों के विवेचन के लिए पर्याप्त शोधकार्य का अवकाश है।

(९) **साहित्यिक महत्त्व**- पुराणों में यद्यपि सरल, परिमार्जित तथा स्वाभाविक संस्कृत भाषा का प्रयोग है जो अनेक युगों की जन-प्रचलित वाग्धाराओं का प्रतिनिधित्व करती है किन्तु कुछ पुराणों में काव्यमयी अभिव्यक्ति मिलती है। गद्य-पद्य दोनों का मिश्रित रूप साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भागवत पुराण के साहित्यिक सौन्दर्य के अनुशीलन का प्रयास इधर के कुछ ग्रन्थों में हुआ है जिससे पुराणों के साहित्यिक मूल्य पर प्रकाश पड़ता है।

कुल मिलाकर पुराण-साहित्य भारतवर्ष की ऐसी सम्पत्ति है जिसका मूल्याङ्कन करना आज अत्यन्त आवश्यक है।

---

१. A. D. Pusalker- **Studies in the Epics and Purāṇas**, p. 20-21.

२. विष्णुपुराण १/२/१८ व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च।

३. भागवत-दर्शन पर देखें- Dr. S. Bhattacharya- **The Philosophy of Śrīmad-Bhāgavata**, 2 Vols. Visva-Bharati, Santiniketan (1962).

अध्याय-१०

महाकाव्य-साहित्य तथा कालिदास के महाकाव्य

महाकाव्यों का उद्भव

'काव्य' शब्द संस्कृत भाषा में बहुत प्राचीन है जिसे 'कवि के कर्म' के रूप में जाना जाता है- **कवेः कर्म काव्यम्** (कवि+ण्यत्)। यह 'कवि' शब्द 'कु' अथवा 'कव्' धातु (भ्वादि आत्मनेपद-कवते) से बना है जिसका अर्थ है- ध्वनि करना, विवरण देना, चित्रण करना इत्यादि। तदनुसार, शब्दों के द्वारा किसी विषय का आकर्षक विवरण देना या चित्रण करना काव्य है। इस साहित्य-विधा का उद्भव वैदिक सूक्तों से ही मिलता है जिनमें स्तुतिपरक नाराशंसियों, दान-स्तुतियों, संवाद-सूक्तों तथा देवताओं (विशेष रूप से उषा) के वर्णनों का महत्त्व काव्यात्मक शैली के लिए है। रामायण और महाभारत जैसे आर्ष-काव्य इस साहित्य-विधा के भास्कर हैं जिन्होंने परवर्ती काव्यों को विषय-वस्तु, वर्णन-विधि तथा भाषा-शैली भी दी है। फिर भी संस्कृत काव्यों की व्यवस्था एक कलात्मक सम्पूर्ण कृति के रूप में है जो अपेक्षाकृत अल्प स्थान में ही जीवन के विपुल आयाम को भरकर पाठक का हृदयावर्जन करे। कालिदास, अश्वघोष आदि कवि अवश्य ही रामायण से प्रभावित हुए किन्तु वाल्मीकि के लम्बे वर्णनों तथा महारण्याकार चित्रणों की अपेक्षा उन्हें लघुकाय, प्रभावशाली तथा चमत्कारी निर्देशों में ही काव्य (कविकर्म) की सफलता प्रतीत हुई। तात्पर्य यह है कि 'विकासशील महाकाव्य' का परिवर्तन 'कलात्मक महाकाव्य' में हो गया।

वाल्मीकि से कालिदास की रचना तक आने में काव्य-कला को कई शताब्दियाँ लगीं। इस बीच में अनेक कवि हुए, अनेक काव्य-कृतियाँ रची गयीं किन्तु वे भारतीय परिवेश की ऊष्मा में शनैः शनैः विलीन हो गयीं। जिस प्रकार कोई कवि अपनी अभ्यासावस्था की रचनाओं की उपेक्षा करके उनके शीर्षक मात्र का या एकाध स्फुट पंक्तियों का स्मरण रखता है उसी प्रकार इन शताब्दियों में लिखी गयी कविताएँ भी परवर्ती युगों में स्मरणीयमात्र रह गयीं। सुभाषित-संग्रहों में या परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ पद्य या कवियों के नाम स्मरण किये गये। यह कहना भी कठिन है कि प्रसिद्ध परवर्ती कवियों की रचनाओं में उन अज्ञात प्राचीन कवियों की लुप्त रचनाओं का शब्दानुहरण या अर्थानुहरण हुआ है या नहीं।

यह निर्दिष्ट होता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में ही पाणिनि, वररुचि तथा पतञ्जलि वैयाकरण होने के अतिरिक्त कवि भी थे जिनकी चर्चा परवर्ती साहित्य-ग्रन्थों में है। **पाणिनि** ने 'पातालविजय' तथा 'जाम्बवतीजय' नामक दो महाकाव्य लिखे थे किन्तु यह निश्चित नहीं कि ये दोनों पृथक् काव्य थे या एक ही काव्य के दो नाम थे।[1] राजशेखर के नाम से यह पद्य जल्हण

१. विन्टरनित्स- **भारतीय साहित्य का इतिहास**, भाग-३, खण्ड-१ (हिन्दी अनु०), पृ० ४६-७।

रचित[1] 'सूक्ति-मुक्तावली' (१२४७ ई.) में उद्धृत है-

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥

रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' पर नमिसाधु ने टीका लिखी थी (१०६८ ई०)। उसमें पाणिनि के 'पातालविजय' से कुछ उद्धरण दिये गये हैं जिनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं किन्तु उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य तथा कल्पना है। पाणिनि के नाम से जो पद्य मिले हैं[2] उनमें प्रायः उपजाति-छन्द का प्रयोग है। पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त इस छन्द की प्रशंसा महाकवि क्षेमेन्द्र (११ वीं शताब्दी ई०) ने अपने 'सुवृत्ततिलक' नामक पुस्तक में की है-

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

'सदुक्तिकर्णामृत' नामक सुभाषित ग्रन्थ में (लेखक-श्रीधरदास, १२०५ ई०) क्रमशः सुबन्धु, रघुकार (कालिदास), दाक्षीपुत्र (पाणिनि), हरिचन्द्र (गद्यकार), आर्यशूर, भारवि तथा भवभूति का एक साथ कवि-गण में उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि को वैयाकरण-कवि के रूप में १२ वीं-१३ वीं शताब्दी ई० तक लोग स्मरण रखे हुए थे। भोज-रचित व्याकरण 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की टीका (कृष्णलीलाशुकरचित) में पाणिनि के कई पद्य उदाहरण के रूप में दिये गये हैं।

वररुचि के नाम से सुभाषित पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत', 'सुभाषितावलि' (१५ वीं शताब्दी ई०), तथा 'शार्ङ्गधरपद्धति' (१३६३ ई०) जैसे संग्रह-ग्रन्थों में संकलित हैं। पतञ्जलि ने 'वाररुचं काव्यम्' की चर्चा की है (महाभाष्य ४/३/१९१)। 'कृष्णचरित' नामक काव्य में वररुचि के काव्य का नाम 'स्वर्गारोहण' दिया गया है-

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥[3]

डॉ० भण्डारकर ने 'कथासरित्सागर' में दी गयी कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि को पाटलिपुत्र के राजा नन्द (४ थी शताब्दी ई० पू०) का समकालिक माना है। इन्हीं का गोत्र नाम 'कात्यायन' था जिन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रों पर वार्तिक की रचना की थी। वररुचि के अनेक पद्य

---

१. जल्हण की सूक्तिमुक्तावली को कहीं-कहीं 'सुभाषितमुक्तावली' भी कहा गया है। इसमें संस्कृत कवियों की प्रशंसा में राजशेखर के अनेक पद्यों का महत्त्वपूर्ण संकलन है।

२. **निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।**
धारानिपातैः सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥
ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरप्यधिकं चकार॥ इत्यादि।

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय-**संस्कृत साहित्य का इतिहास** (१९९०), पृ० १३४ पादटिप्पणी-१ में उद्धृत।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत हैं[१]। इनके एक काव्य का नाम 'कण्ठाभरण' था।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में काव्य-साहित्य की बहुमूल्य सम्पदा का उल्लेख किया है जिससे १५० ई० पू० में वर्तमान काव्य-रचना की स्थिति का अनुमान होता है। 'वाररुच काव्य' के अतिरिक्त उन्होंने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का, 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक नाट्य-रचनाओं का एवं अनेक ऐसे पद्यों का निर्देश किया है जिनमें स्तुतिपरक, प्रेमविषयक या उपदेशात्मक विषयों का उपनिबन्धन काव्यशैली में है। पतञ्जलि ने अपने पद्यात्मक उद्धरणों में मालती, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका-जैसे लौकिक छन्दों का प्रयोग किया है। कीलहॉर्न ने इन छन्दों के आधार पर पतञ्जलि के काल के साहित्यिक परिवेश की प्रशंसा की है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि रामायण के युग के बाद संस्कृत काव्यधारा लौकिक काव्य का रूप लेने की दिशा में बहुत आगे बढ़ रही थी। पिङ्गलमुनि के छन्दःसूत्र में अनेक लौकिक छन्दों की व्यवस्था की गयी है जिनके नाम साहित्यिक सौन्दर्य से अनुप्राणित हैं। कुछ नाम छन्दों की स्वतः प्रवृत्ति, लय तथा गति पर आधृत हैं-मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, वेगवती आदि। कुछ नाम पशु-पक्षियों की चेष्टा पर आश्रित हैं- शार्दूलविक्रीडित, अश्वललित, हरिणीप्लुता, भ्रमरविलसित आदि। कुछ नामों में सुन्दरियों के अभिधान अङ्कित हैं जैसे-तन्वी, रुचिरा, प्रमदा, प्रमिताक्षरा, मञ्जुभाषिणी, मालिनी, पुष्पिताग्रा, चित्रलेखा, विद्युन्माला, वसन्ततिलका, स्रग्धरा,शिखरिणी आदि। जर्मन-विद्वान् याकोबी ने कहा है कि इन छन्दों का ईसापूर्व उद्भव संस्कृत काव्य की निरन्तरता एवं प्राचीनता का द्योतक है।

महाकाव्य-लक्षण- संस्कृत भाषा में महाकाव्य के नाम से जब पर्याप्त ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी तभी समीक्षकों का ध्यान इस काव्य-प्रकार के लक्षण देने की दिशा में गया। लक्ष्य का अनुसरण करने वाले लक्षण बने। भामह ने अपने काव्यालंकार (१/१८-२३) में, दण्डी ने काव्यादर्श (१/१४-२२) में, अग्निपुराण (अध्याय ३३७) में, रुद्रट ने काव्यालंकार (१६/७-१९) में तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (६/३१५-२५) में महाकाव्य के वर्णनात्मक लक्षण दिये।[२] इन सभी लक्षणों में महाकाव्यों के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग का वर्णन किया गया है। इनमें विश्वनाथ-कृत लक्षण व्यापक तथा अन्तिम होने के कारण महत्त्वपूर्ण एवं स्पष्ट भी है। प्रायः इस लक्षण का उपयोग किया जाता है।

वस्तुतः महाकाव्य के लक्षणों में कुछ आवश्यक या महत्त्वपूर्ण है। इनमें कथानक, नायक और रस से सम्बद्ध बातें हैं। कुछ लक्षण बहिरङ्ग अथवा केवल विषय-निर्वाह के लिए अपेक्षित हैं, परवर्ती महाकाव्य इन्हीं पर अधिक ध्यान देते हैं। कथानक की दृष्टि से महाकाव्य किसी प्रसिद्ध या ऐतिहासिक घटना पर आश्रित होते हैं, काल्पनिक इतिवृत्त का अवकाश इनमें नहीं होता। अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों को बुद्ध तथा उनके परिवार से सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर

---

१. प्राकृत-व्याकरण-ग्रन्थ 'प्राकृतप्रकाश' तथा गुप्तकालीन भाण 'उभयाभिसारिका' के लेखक कोई अन्य वररुचि थे।

२. महाकाव्य का लक्षण देनेवाले अन्य ग्रन्थों में भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण (५/१२६-३७), वाग्भट्ट कृत काव्यानुशासन (गद्य में लक्षण) तथा हेमचन्द्र-कृत काव्यानुशासन (अध्याय-८) भी हैं।

लिखा। कालिदास का 'रघुवंश' रामायण या पुराणों की कथाओं पर तथा 'कुमारसम्भव' शिव-पार्वती के विवाह की प्रसिद्ध कथा पर आश्रित है। 'किरातार्जुनीय' आदि तीनों बृहत्त्रयी-महाकाव्य महाभारत की घटनाओं पर आश्रित हैं। आधुनिक युग के महाकाव्य भी इस नियम पर चलते हैं। विश्वनाथ का कथन है- **इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्**। कथानक पाँच सन्धियों से युक्त (सुघटित) होना चाहिए।

नायक के विषय में विश्वनाथ ने तीन विकल्प दिये हैं- किसी देवता का नायक होना (तत्रैको नायकः सुरः), 'धीरोदात्त' के गुणों से युक्त[1] अच्छे वंश का क्षत्रिय नायक हो (सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः) अथवा एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा नायक हों (एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा)। क्रमशः 'कुमारसम्भव' (शिव), नैषधीयचरित (नल) और रघुवंश (एक वंश के अनेक राजा) इन विकल्पों के उदाहरण हैं। सम्भवतः 'राजतरङ्गिणी' को भी तृतीय कोटि में रखा जा सकता है क्योंकि एक वंश के तो नहीं, किन्तु एक प्रदेश पर शासन करनेवाले अनेक राजाओं को यहाँ नायक बनाया गया है।

रस की दृष्टि से शृङ्गार, वीर अथवा शान्त रस को प्रधान रस बनाकर अन्य सभी रसों को अङ्ग के रूप में रखा जाना चाहिए (शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते। अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः)। 'नैषधीयचरित' में शृङ्गार की, 'किरातार्जुनीय' और 'शिशुपालवध' में वीर की एवं 'रघुवंश' और 'राजतरङ्गिणी' जैसे अनेकनायकों वाले महाकाव्यों में शान्तरस की प्रधानता है।

महाकाव्यों में कतिपय औपचारिक लक्षण होते हैं जैसे-(१) यह सर्गों में विभक्त होता है। (२) सर्ग में एक छन्द का प्रयोग रहता है किन्तु अन्त में छन्द का परिवर्तन होता है अर्थात् सर्गान्त में कुछ दूसरे छन्दों का प्रयोग हो। (३) सर्गों की संख्या न्यूनतम आठ होनी चाहिए, वे न बहुत बड़े हों न बहुत छोटे (नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह)। (४) महाकाव्य के आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वचन या सीधा वस्तुनिर्देश रहता है (आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा)। (५) कथावस्तु में चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन हो; उनमें से किसी एक फल की प्राप्ति अन्त में दिखायी जाती है। (६) सर्ग के अन्त में भावी कथा का वर्णन होता है। (७) महाकाव्य में निम्नलिखित विषयों का यथासाध्य वर्णन रहता है- सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, गोधूलिवेला, अन्धकार, दिन, प्रभात, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, युद्ध, प्रस्थान, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रजन्म, उन्नति आदि। संस्कृत के कुछ महाकाव्यों में तो इन विषयों का संक्षिप्त वर्णन प्रायः पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए किया गया है किन्तु अनेक महाकाव्य मूलकथा से अधिक इन्हीं वर्णनों से भरे हैं। (८) ग्रन्थ का नाम कवि, कथानक, नायक या प्रतिनायक के नाम पर रखा जाता है। (९) सर्गों का नाम उसके कथानक के आधार पर दिया जाता है। जैसे-शिशुपालवध का प्रथम सर्ग 'कृष्णनारद-संवाद' के नाम से प्रचलित है।

लक्ष्य ग्रन्थों को ध्यान में रखकर ये लक्षण बने हैं। विश्वनाथ के समय (१३५० ई०) तक शताधिक महाकाव्य लिखे जा चुके थे, इसीलिए उन्होंने व्यापक लक्षण दिये हैं कि सभी महाकाव्यों के स्वरूपों का ग्रहण हो सके। बाद के महाकाव्य तो इन्हीं लक्षणों को आधार बनाकर लिखे गये।

---

१. दशरूपक २/४-५ **महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।**
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥

शैलीगत विकास- संस्कृत महाकाव्यों का विकास दो पृथक् मार्गों से हुआ है जिन्हें क्रमश: 'सुकुमार' और 'विचित्र' मार्ग कहा जाता है। आरम्भ में महाकाव्य सुकुमार मार्ग पर ही चलते रहे, क्रमश: वे विचित्र मार्ग पर चल पड़े। युगों का अन्तर या कविस्वभाव का अन्तर इस परिवर्तन का कारण था।

'सुकुमार मार्ग' को रसमयी पद्धति भी कहते हैं। इस मार्ग के महाकाव्यों में कथानक के सरस अंशों को विशेष रूप से सरल तथा प्रसादगुणपूर्ण शैली में निरूपित करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, अश्वघोष आदि कवियों में यही पद्धति मिलती है। ये कवि अनावश्यक विस्तार में नहीं जाते और न कथानक को ही छोड़कर वर्णनों में बहते हैं। सुकुमार-मार्गी कवियों ने रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर अलंकारों का उतना ही प्रयोग किया है जितना, पृथक् प्रयत्न किये बिना, वे स्वयमेव काव्य में समाविष्ट हो सकते थे। आनन्दवर्धन ने इस प्रसङ्ग में अलङ्कारों के निवेश पर कहा है-

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध: शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य: सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत:॥[1]

अर्थात् रसादि ध्वनि में जिस अलङ्कार की रचना रस के द्वारा ही आक्षिप्त-रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके, वही अलङ्कार मान्य है। ऐसा न होने से अलङ्कार भारवत् हो जाते हैं, काव्य-सौन्दर्य को शास्त्रीय शुष्कता प्रदान करते हैं।

सुकुमार-मार्ग का वर्णन करते हुए कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित (१/२५-२९) में कहा है- "कवि की अम्लान प्रतिभा से उत्पन्न, नूतन शब्दार्थ से कोमल, अनायास सम्पादित स्वल्प और मनोरम अलङ्कारों से युक्त, भावों की नैसर्गिकता के प्राधान्य से आहार्य (कृत्रिम) के कौशल को हीन बनाने वाला, रस-भाव आदि परमार्थ (काव्य के वास्तविक लक्ष्य) के ज्ञाता सहृदयों के चित्त के अनुरूप होने के कारण सुन्दर (रसादिपरमार्थज्ञ-मन: संवादसुन्दर:), अनालोचित (अभिनव) वर्णन की रमणीयता से आनन्द की सृष्टि करने वाला (अविभावित-संस्थान-रामणीयक-रञ्जक:), ब्रह्मा के कौशल से सम्पन्न सृष्टि-रचना के अतिशय (सौन्दर्यादि) के समान मनोरम यह सुकुमारमार्ग है जहाँ प्रतिभा के कारण सब कुछ नया-नया ही प्रतीत होता है।" यही वह मार्ग है जिस पर श्रेष्ठ कविगण चले जैसे खिले हुए कुसुमों से भरे वनमार्ग पर भ्रमर चलते हैं-

सुकुमाराभिध: सोऽयं येन सत्कवयो गता:।
मार्गेणोत्फुल्ल-कुसुम-काननेनेव षट्पदा:॥[2]

इस मार्ग पर प्राचीन कविगण चले, उनका अनुकरण गुप्तकाल के अभिलेखों में हुआ और परवर्ती कश्मीरी कवियों ने (बिल्हण आदि ने) इसे आत्मसात् किया।

'विचित्र मार्ग' के रूप में पाण्डित्यपूर्ण शैली संस्कृत महाकाव्यों में मिलती है। इस मार्ग का प्रवर्तन समय की साहित्यिक मान्यता, युग का वातावरण तथा सामाजिक रूढ़ियों के कारण हुआ। सुकुमार मार्ग जन-सामान्य के हृदयावर्जन के लिए था किन्तु विचित्र-मार्ग विद्वानों के

---

१. **ध्वन्यालोक** २/१६।
२. **वक्रोक्तिजीवित** १/२९।

आकर्षणार्थ विकसित हुआ। छठी शताब्दी ई. में संस्कृत का सामान्य प्रयोग नहीं रहा अतः सामान्य जनता के लिए संस्कृत महाकाव्य लिखने का कोई औचित्य नहीं रहा। विद्वानों में संस्कृत के प्रति गहन निष्ठा थी किन्तु वे शास्त्रीय वैदुष्यपूर्ण भाषा से ही प्रभावित हो सकते थे। फलतः महाकाव्यों को नई दिशा में प्रवृत्त होना पड़ा जिसे अलङ्करण पद्धति या 'विचित्र-मार्ग' कहा गया। इस मार्ग में मूल कथानक के सौन्दर्य के अनावरण की अपेक्षा आनुषङ्गिक वर्णनों का प्राधान्य हो गया जिनमें कविगण अपने वैदुष्य का प्रकर्ष प्रकट करके पण्डितों से प्रशंसा प्राप्त कर सकें। इस मार्ग के प्रवर्तक भारवि थे, उनका अनुसरण माघ ने किया। इन दोनों कवियों ने अपने महाकाव्यों में मूल कथावस्तु को बीच में छोड़कर प्रसक्तानुप्रसक्त वर्णनों में अपने को बाँध लिया और जब यथेष्ट वर्णन हो गये तब पुनः कथानक के सूत्र का अनुसन्धान करके अपनी रचनाएँ पूरी की।

इस विचित्र-मार्ग या अलङ्कृत पद्धति में भाषा और विषय दोनों क्षेत्रों में विशेषता रहती है। भाषा-शैली की दृष्टि से इसमें अलंकारों का अत्यधिक निवेश रहता है; कविगण एक अलंकार से असन्तुष्ट हो, हारादि में जटित अनेक मणियों के समान, अपनी रचना में अलंकारों का निरन्तर निवेश करते हैं।[1] इस पद्धति में चित्रकाव्य तक कवि पहुँच जाते हैं। श्लेषालङ्कार के प्रयोग से यह शैली दुरूह हो जाती है। प्रासाद और माधुर्य के स्थान पर यहाँ ओज को प्रमुख स्थान मिलता है जिसमें समासयुक्त पदों का प्राचुर्य रहता है। विषय की दृष्टि से विचित्रमार्गी कवि कथानक की चिन्ता नहीं करते। भारवि ने अल्प कथानक को वर्णनों से भरकर अठारह सर्गों का महाकाव्य बना लिया जब कि सुकुमारमार्गी कालिदास ने रघुवंश के १९ सर्गों में दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश तथा क्रमशः अग्निवर्ण तक की अनेक पीढ़ियों का रसमय वर्णन किया। उन्होंने रसमय प्रसङ्गों की पहचान करके उन्हीं का विस्तार किया, साधारण वर्णनों से दूर ही रहे। भारवि, माघ आदि के वर्णन प्रयत्न-निर्वर्त्य हैं, उनकी अनिवार्यता नहीं थी। संस्कृत महाकाव्यों के विकास में प्रौढित्व की अभिवृद्धि हुई तो रसात्मकता का ह्रास होता गया।[2] किन्तु संस्कृत महाकवियों के समक्ष वाल्मीकि की रसमयी पद्धति तथा भारवि की अलङ्कृत पद्धति दोनों विद्यमान थीं। अपनी रुचि के अनुसार उन्होंने इनमें किसी एक को अपनाया। कुछ कवियों ने (श्रीहर्ष आदि ने) दोनों के समन्वय का भी सफल प्रयास किया।

यहाँ मुख्य कवियों तथा उनकी महाकाव्य-रचनाओं का विवेचन किया जाता है।

कालिदास

संस्कृत-साहित्य के श्रेष्ठ कवि तथा नाट्यकार कालिदास के काव्यगत उत्कर्ष की समीक्षा को छोड़कर उनके विषय में सब कुछ विवादास्पद है। उनका जीवन-वृत्त कतिपय दन्तकथाओं के रूप में है, स्थान और काल की खींच-तान आज भी चल रही है, उनके मूल स्थान और कर्मक्षेत्र को लेकर आज भी इतिहासकारों में विवाद है, काल को लेकर शताब्दियों का अन्तराल माना जा रहा है तथा 'कालिदास' के नाम से संस्कृत में कई रचनाओं का निरूपण किया गया है। राजशेखर (९००ई०)

१. वक्रोक्तिजीवित १/३५ अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्॥

२. कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष- इन कवियों में विचित्र मार्ग की दृष्टि से क्रमशः विकास माना जाता है तो सुकुमार मार्ग की दृष्टि से वास्तविक कविता का पतन होता गया।

ने शृङ्गार-रस की रचना करने वाले 'कालिदास' नाम वाले तीन कवियों का निर्देश किया है-

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

सम्प्रति कालिदास के नाम से प्रायः ४० रचनाओं का निर्देश मिलता है किन्तु इनमें मूल एवं प्राचीन कालिदास की सात रचनाएँ ही प्रमाण-सिद्ध हैं। इनमें दो महाकाव्य हैं- कुमारसम्भव तथा रघुवंश। इनके अतिरिक्त तीन नाटक हैं- मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशकुन्तल। कालिदास ने दो गीतिकाव्य (खण्डकाव्य) भी लिखे थे- ऋतुसंहार तथा मेघदूत। अन्य रचनाएँ परवर्ती कवियों के द्वारा लिखी गयी हैं जैसे- शृङ्गारतिलक, श्रुतबोध, राक्षसकाव्य आदि।

जीवन-वृत्त-कालिदास के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। उन्हें परम्परा से विक्रमादित्य नामक राजा की सभा के नवरत्नों में अन्यतम माना गया हैं किन्तु जिन रत्नस्वरूप कवियों-विद्वानों की गणना उनके साथ की गई है (जैसे-धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शङ्कु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, वराहमिहिर तथा वररुचि), वे विभिन्न कालों के हैं या अस्पष्ट काल वाले हैं। विक्रमादित्य की पहचान भी कठिन है। 'भोज-प्रबन्ध' नामक नितान्त काल्पनिक कथा-ग्रन्थ (ले. वल्लालसेन, १६ वीं शताब्दी ई०) में धारानरेश भोज (१०००-५५ ई०) की राजसभा में संस्कृत के सभी कवियों को दिखाया गया है जिनमें कालिदास मुख्य थे। एक किंवदन्ती यह भी है कि कालिदास सिंहल-नरेश कुमारदास (५०० ई०) के मित्र थे, उनका अन्तिम समय लंका में ही बीता जहाँ एक वेश्या ने धनलोभ में उनकी हत्या करा दी। एक किंवदन्ती के अनुसार कालिदास बालावस्था में अत्यन्त मूर्ख थे। पण्डितों ने षड्यन्त्र करके उस समय की श्रेष्ठ विदुषी किन्तु ज्ञानगर्विता विद्योत्तमा का विवाह उनसे करा दिया। मौन शास्त्रार्थ में कालिदास से विद्योत्तमा की पराजय दिखायी गयी किन्तु विवाह के अनन्तर पत्नी से अपमानित हो कालिदास ने काली की उपासना की और पुनः विदुषी पत्नी के पास, विद्यामण्डित होकर, पहुँचे। पत्नी ने पूछा-अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः (अर्थात् वाणी में कुछ विशिष्टता आ गयी क्या)? इस पर कालिदास ने प्रश्न के प्रथम तीन शब्दों से आरम्भ करके क्रमशः **कुमारसम्भव** (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा), **मेघदूत** (कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा) और **रघुवंश** (वागर्थाविव संपृक्तौ) नामक काव्यों की रचना की।

इन किंवदन्तियों में इतिहास का अंश नहीं अपितु मनोरञ्जन की क्षमता अवश्य है। उनके ग्रन्थों के अनुशीलन से परोक्षतः यह ज्ञात होता है कि कालिदास जन्म से ब्राह्मण तथा शिवभक्त थे। उनमें धार्मिक सहिष्णुता थी क्योंकि शिव के अतिरिक्त विष्णु आदि अन्य देवताओं की वन्दना भी उन्होंने की है। शिव के अष्टमूर्ति-रूप की चर्चा कालिदास ने विशेष रूप से की है।[1] ब्रह्मा, विष्णु और शिव को कालिदास एक ही परमेश्वर के कार्यभेद से भिन्नरूप मानते हैं।[2] यद्यपि शैवधर्म

---

१. **रघुवंश** २/३५ अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः।
अभिज्ञान १/१ प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।
अपने तीनो रूपकों के मङ्गलश्लोक में कवि ने शिव-वन्दना की है।

२. **कुमारसम्भव** ७/४४ एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥

रघुवंश १०/१६ नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने॥

के किसी विशेष सम्प्रदाय से कालिदास को जोड़ने में डॉ० मिराशी कठिनाई मानते हैं किन्तु डॉ. भगवत शरण उपाध्याय ने, शिव के नामों में 'पशुपति' (कुमार. ६/९५ तथा मेघदूत १/३६), 'भूतनाथ' (रघुवंश २/५८) एवं 'भूतेश्वर' (रघुवंश २/४६) का प्रयोग देखकर, उन्हें पाशुपत-सम्प्रदाय से सम्बद्ध माना है।[1] किन्तु यह कोई दृढ़ आधार नहीं है। वस्तुतः धर्म के विषय में कालिदास की दृष्टि उदार थी। ब्राह्मण-धर्म के उदात्त पक्षों में उनकी आस्था थी।

रघुवंश (सर्ग ६ तथा १३) एवं मेघदूत (पूर्वभाग) में भारत के भौगोलिक वर्णनों से अनुमान होता है कि कालिदास ने भारत की विस्तृत यात्रा की थी। उनके भौगोलिक वर्णन यथार्थ और स्वाभाविक हैं। हिमालय और उज्जयिनी के प्रति उनका विशेष आकर्षण था किन्तु कोई संकीर्ण क्षेत्रीय भावना उनमें नहीं मिलती। कालिदास का भौतिक जीवन सुखमय था। उनके ग्रन्थों में जीवन के कष्ट, निर्धनता आदि के वर्णनों का अभाव रहने से अनुमान होता है कि उन्हें अर्थ-कष्ट नहीं था। उन्हें राज-कुलों से परिचय तथा सम्बन्ध था। उन्होंने विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था जैसे-वेद, दर्शन, उपनिषद्, रामायण-महाभारत, पुराण, चिकित्साशास्त्र, संगीत, ज्योतिष, व्याकरण, छन्द आदि। जीवन को आनन्दमय देखना कालिदास का जीवन-दर्शन था। स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन करने पर भी वे कामुक जीवन को श्रेयस्कर नहीं मानते। आध्यात्मिक और तपोमूलक प्रेम ही उनकी दृष्टि में आदर्श प्रेम है, शारीरिक सौन्दर्य पर आश्रित प्रेम वास्तविक नहीं होता।

कालिदास के **निवास-स्थल** के रूप में काशी (विद्योत्तमा के स्वयंवर की दन्तकथा के आधार पर), बंगाल ('दास' उपाधि के कारण), विदर्भ (पीटर्सन का मत), विदिशा (राजधानी कहने तथा समीपवर्ती छह स्थलों का विवरण देने से), अयोध्या (रघुवंश में इसके प्रति आकर्षण दिखाने से), मिथिला (उच्चैठ ग्राम में दुर्गा के मन्दिर के कारण), कश्मीर (प्रो. लक्ष्मीधर कल्ला का मत), गढ़वाल (मन्दाकिनी के तट पर)[2] तथा उज्जयिनी का विवेचन किया गया है। आधुनिक विद्वानों ने अपनी रुचि, मेधा और युक्तियों के आधार पर उपर्युक्त क्षेत्रों में किसी एक को कालिदास का जन्म स्थान या कर्मक्षेत्र माना है। इनमें सर्वाधिक युक्तियाँ और मान्यता उज्जयिनी के पक्ष में है। प्रोफेसर मिराशी, झाला तथा अरविन्द का कथन है कि कालिदास ने यद्यपि अनेक नगरों और प्रदेशों का वर्णन किया है तथापि उज्जयिनी के प्रति उनका अद्भुत आकर्षण है।

मेघ का मार्ग रामगिरि से अलकापुरी तक दिखाते हुए वे उसे 'वक्रः पन्थाः' (टेढ़ा रास्ता) होने पर भी उज्जयिनी भेजते हैं तथा वहाँ का लम्बा-चौड़ा वर्णन करते हैं। कुल ११ श्लोकों में उज्जयिनी की अपार सम्पत्ति, शिप्रा नदी के तट की वायु, प्राचीन कथाएँ, महाकाल मन्दिर, सन्ध्या की आरती में वेश्याओं के नृत्य, रात्रि में प्रियतमों से मिलने के लिए जानेवाली अभिसारिकाएँ इत्यादि के वर्णन कवि ने किये हैं। ऐसा हृदयावर्जक वर्णन उन्होंने केवल अलकापुरी का ही किया है। स्मरणीय है कि अलका दिव्य नगरी है जिसके वर्णन में कवि यथार्थ को छोड़कर कल्पनालोक में प्रविष्ट हो गया है। किन्तु उज्जयिनी के वर्णन में वास्तविकता है, कवि के अपने अनुभव हैं। अधिसंख्यक विद्वान् इसी मत के समर्थक हैं। कवि का जन्मस्थान जहाँ भी हो, अपने जीवन का एक मुख्य अंश उन्होंने महाकाल की सेवा में उज्जयिनी में रहकर बिताया था। उनका अनुभव

१. डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी-**कालिदास**, पृ० २३३ तथा डॉ० भगवत शरण उपाध्याय-**कालिदास का भारत**, भाग-२ (१९६४), पृ० १६३।

२. डॉ० अच्युतानन्द घिल्डियाल- **कालिदास और उनका मानवीय साहित्य**, पृ० ४०-७।

व्यापक था, भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा उन्होंने अवश्य की थी।

कालिदास का काल[1]

भारतवर्ष की यह विलक्षणता रही है कि गणित में काल-गणना की उत्कृष्ट सुविधा होने पर भी तथा इतिहास का सम्यक् बोध रहने पर भी साहित्यकारों ने अपने आविर्भाव-काल के विषय में मौन-धारण किया है। यहाँ व्यक्ति से अधिक उसकी रचनाओं को महत्त्व दिया गया है। इसके फलस्वरूप किसी साहित्यिक के आविर्भाव-काल को जानना प्रत्यक्ष-साधनों से सम्भव नहीं है। किसी साहित्यकार ने अपने विषय में कुछ लिखा तो इतना ही कि ग्रन्थ की पुष्पिका में अपना नाम, गोत्र, माता-पिता या गुरु का नाम दे दिया। नाटकों की प्रस्तावना में कहीं-कहीं लेखक-विषयक सूचना मिल जाती है किन्तु अपने स्थितिकाल के विषय में लेखकों का मौन-धारण आधुनिक इतिहासकारों के लिए विवाद का कारण बन गया है।

कालिदास के काल का निर्धारण करने में सर्वप्रथम पूर्वसीमा और उत्तर-सीमा का निश्चय करना आवश्यक है। इन सीमाओं के भीतर ही उनके काल पर विवाद का अवकाश है, बाहर जाकर नहीं। कालिदास के समय की **पूर्वसीमा** के निश्चय में उनके नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से सहायता मिलती है। इस नाटक का नायक शुङ्ग-वंशीय राजा अग्निमित्र है। अग्निमित्र मौर्यवंश का उच्छेद करके मगध-साम्राज्य को छीनने वाले सेनापति पुष्यमित्र (शुङ्गवंश का संस्थापक) का पुत्र था। पुष्यमित्र के काल में महाभाष्यकार पतञ्जलि हुए थे जिन्होंने उसे अश्वमेध भी कराया था। इतिहासकारों के अनुसार पुष्यमित्र का शासनकाल १८५ ई० पू० में आरम्भ हुआ था। अग्निमित्र का काल १५० ई० पू० माना जाता है। अत: कालिदास इसके बाद ही हुए थे।

कवि की **उत्तरकाल-सीमा** भी निश्चित है। सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध के दो प्रमाण ऐसे हैं जिनमें कालिदास का नाम है। प्रथम प्रमाण बाण[2] के 'हर्षचरित' के आरम्भ में दी गयी कालिदास-प्रशस्ति है। बाण हर्षवर्धन (६०६-४८ ई०) के सभाकवि थे। द्वितीय प्रमाण अंकित तिथि के रूप में कर्नाटक राज्य में स्थित ऐहोल-शिलालेख में प्राप्त होता है। इसमें जैन कवि रविकीर्ति ने अपने को कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी कहा है-

> **येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।**
> **स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारवि-कीर्तिः॥**
> (पद्यसङ्ख्या-३७)

इस शिलालेख का समय ५५६ शकाब्द अर्थात् ६३४ ई. है। इसके अतिरिक्त उत्तरकाल सीमा को कुछ कम करने का प्रयास किया जा सकता है क्योंकि ४७३ ई० में उत्कीर्ण मन्दसोर-अभिलेख

---

१. डॉ० मिराशी- **कालिदास**, पृ० १-३८; डॉ० भगवतशरण उपाध्याय - **कालिदास का भारत**, खण्ड-२, पृ० २१९-३४; डॉ० शिवप्रसाद भारद्वाज - **कालिदास-दर्शन** (१९७५), पृ० ८-६७; डॉ० राजबली पाण्डेय- **विक्रमादित्य** (पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित '**कालिदास-ग्रन्थावली**' के परिशिष्ट में प्रथम निबन्ध), पृ० १-१०।

२. **हर्षचरित** १/१६ **निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।**
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

(पट्टवायश्रेणि के द्वारा निर्मित सूर्यमन्दिर की प्रशस्ति) की भाषा-शैली पर कालिदास का स्पष्ट प्रभाव सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार कालिदास १५० ई० पू० से लेकर ४५० ई० तक अर्थात् ६०० वर्षों के बीच कहीं सिद्ध किये जा सकते हैं।

उपर्युक्त कालसीमा की मर्यादा का पालन करने वाले मत भी दुर्भाग्यवश अनेक हैं-(क) ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी का मत, (ख) प्रथम शताब्दी ई. पू. का मत, (ग) तृतीय शताब्दी ई. का मत, (घ) चतुर्थ शताब्दी ई. के उत्तरार्ध का मत, (ङ) पञ्चम शताब्दी ई. का मत। षष्ठ शताब्दी ई० में मानने वाले विद्वानों का मत अब सर्वथा निरस्त हो चुका है। इनमें कुछ मतों के समर्थक एक-दो ही विद्वान् हैं। सम्प्रति दो मतों के बीच संघर्ष रह गया है- (ख) तथा (घ)। इसलिए विशेष विवादों में न जाकर हम इन्हीं की समीक्षा करेंगे।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत

विक्रम संवत् के प्रवर्तक कोई विक्रमादित्य अवश्य ही प्रथम शताब्दी ई० पू० में रहे होंगे क्योंकि विक्रम संवत् ५७ ई० पू० से आरम्भ होता है। कालिदास अपने ग्रन्थों में इसी राजा विक्रमादित्य का संकेत करते हैं जैसे-'विक्रमोर्वशीय' का नायक विक्रम को बनाना, उसके प्रथम अङ्क में 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' (विक्रमोर्वशीय १/७ के बाद) कहना, 'शाकुन्तल' की एक प्रतिलिपि में (काल १६४२ ई०) प्रस्तावना में विक्रमादित्य साहसाङ्क का 'रसभाव-विशेष-दीक्षागुरु' के रूप में नामतः निर्देश मिलना तथा उसके भरतवाक्य में राजनीतिक अर्थ में 'गण' (=गणराष्ट्र) शब्द का प्रयोग मिलना - ये तथ्य सिद्ध करते हैं कि इस संवत् को पहले 'साहसाङ्क' नामक राजा ने 'गण-संवत्' के रूप में चलाया था। बहुत दिनों तक यह इसी नाम से प्रचलित था जैसे दशपुर पट्टवाय श्रेणि के अभिलेख में - मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये (पद्यसं- ३४)। कालान्तर में इसे 'विक्रम-संवत्' कहा गया। गणराष्ट्र की कल्पना समाप्त होने पर मालव-गण के प्रमुख व्यक्ति विक्रमादित्य से यह संवत् जुड़ गया।

मालव-जाति सिकन्दर के आक्रमण (३२६ ई० पू०) के समय पंजाब में रहती थी। मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम काल में मध्य-भारत में जाकर उपनिवेशों में रहने लगी। इस मालव-गण ने उन विदेशी शकों को पराजित किया था जो अवन्ति-प्रदेश तक पहुँच गये थे। शकों को मालव-गण ने सिन्धु-प्रदेश तक खदेड़ दिया था जिससे पुनः एक-डेढ़ सौ वर्षों तक शक इधर नहीं आये। शकों को पराजित करने के कारण मालव-गण को 'शकारि' कहा गया। इसी विजय के उपलक्ष्य में गण-संवत् का आरम्भ हुआ था। इस गण के मुख्य पुरुष उस समय साहसाङ्क विक्रमादित्य थे। उन्हीं की प्रशस्ति करते हुए कालिदास 'शाकुन्तल' की प्रस्तावना में कहते हैं- ''इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।''

इसका समर्थन जैन-परम्परा से भी होता है। मेरुतुङ्गाचार्य की 'पद्यावली' से पता लगता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को शकों से मुक्त करा दिया था। यह घटना महावीर के निर्वाण के ४७० वें वर्ष में (अर्थात् ५२७-४७०=५७ ई० पू०) घटी थी। विक्रम-संवत् उसी समय से चला। इसका समर्थन 'प्रबन्धकोश' तथा शत्रुञ्जय-माहात्म्य

से भी होता है।[1]

कथासरित्सागर में बृहत्कथा की परम्परा सुरक्षित है। उससे ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य परमारवंशी थे। उन्होंने म्लेच्छो (शकों) का उन्मूलन किया तथा महाकाल-मन्दिर की स्थापना की थी। वे सूर्यवंशीय तथा शैव थे। कालिदास स्वयं शैव थे तथा रघुवंश में सूर्यवंशी राजाओं का ही वर्णन उन्होंने किया। जे. सी. झाला का तर्क है कि गुप्तनरेश वैश्य और वैष्णव थे, अत: उनके राज्यकाल में कालिदास की स्थिति उचित नहीं।[2] इस प्रकार जो लोग विक्रमादित्य को प्रथम शताब्दी ई. में मानने में संकोच करते हैं उन्हें प्रमाण-द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता है।

'विक्रमादित्य' की उपाधि गुप्त-नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी धारण की थी। किन्तु कालिदास से सम्बद्ध विक्रमादित्य को गुप्तनरेश नहीं माना जा सकता। इस विषय में निम्नांकित तथ्य ध्यातव्य हैं- (१) गुप्त-नरेशों का अपना वंशगत संवत् था, किसी भी अभिलेख में उन्होंने विक्रम-संवत् का प्रयोग नहीं किया है। (२) वे वस्तुत: मगध-नरेश थे, उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। अयोध्या और उज्जयिनी उनके प्रान्तों की राजधानी थी। कालिदास से सम्बद्ध विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे। (३) उज्जयिनी के विक्रम का नाम ही 'विक्रमादित्य' था, गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की उपाधि विक्रमादित्य थी। इसलिए कालिदास से सम्बद्ध विक्रमादित्य गुप्त-नरेश नहीं हो सकते।[3]

कालिदास और अश्वघोष के पौर्वापर्य को लेकर विवाद खड़ा है। दोनों कवियों के भावों में कहीं-कहीं साम्य मिलता है । यह कहना सम्भव है कि कालिदास की रचना-शैली की लोकप्रियता देखकर अश्वघोष ने उनका अनुकरण किया। कालिदास के प्रभाव का ही परिणाम था कि दार्शनिक अश्वघोष काव्यरचना में लगे और उसे धर्म-प्रचार का साधन बनाया। अश्वघोष ने बुद्धचरित (३/१३-२४) में सिद्धार्थ को देखकर कपिलवस्तु की स्त्रियों के कौतूहल का वर्णन किया है। कालिदास ने इसी प्रकार के प्रसङ्ग का दो ग्रन्थों में चित्रण किया है- रघुवंश (७/५-१५) तथा कुमारसम्भव (७/५६-६८)। इनमें सात पद्य तो दोनों महाकाव्यों में अविकल रूप से समान हैं। यदि कालिदास ने इस प्रसङ्ग का निरूपण अश्वघोष के अनुकरण पर किया होता तो वे दो बार इसका प्रदर्शन करके अपनी अधमर्णता प्रकट नहीं करते अपितु उसे छिपाते। कालिदास के भाव-सौन्दर्य की रक्षा अश्वघोष से नहीं हो सकी है।[4]

पण्डित सूर्य नारायण व्यास (उज्जयिनी के प्रसिद्ध ज्योतिषी तथा कालिदास-समारोह के प्रवर्तक) ने बीस प्रमाणों से कालिदास को प्रथम शताब्दी ई. पू. में सिद्ध किया है।[5] उनमें मुख्य तर्क यह है कि कालिदास शुङ्गकालीन परिस्थितियों के सूक्ष्म ज्ञाता हैं जैसे-रानी का हीनवर्ण भाई होना, द्वैराज्य की स्थापना, पुष्यमित्र का अश्वमेध, सिन्धु के तीर पर पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र के साथ यूनानी सेना का युद्ध इत्यादि। 'मेघदूत' में विदिशा के नागरिकों की विलासिता और 'रघुवंश' में लम्पट अग्निवर्ण के वर्णन के व्याज से वे विलासी शुङ्ग-शासक देवभूति का शासन-

---

१. डॉ. राजबली पाण्डेय का उक्त लेख, पृ.१-२ तथा शिवदत्त भारद्वाज-**कालिदास-दर्शन**, पृ. ४०-१।
२. **कालिदास-दर्शन**, पृ. ४१।
३. आचार्य बलदेव उपाध्याय-**संस्कृत साहित्य का इतिहास** (१९९०), पृ. १४९।
४. आचार्य बलदेव उपाध्याय का उक्त ग्रन्थ, पृ. १५०।
५. **कालिदास-दर्शन**, पृ. ४३-६ में सारांश उद्धृत।

काल सूचित करते हैं। विदिशा को कालिदास 'राजधानी' कहते हैं- **तेषां दिक्षु प्रथित-विदिशालक्षणां राजधानीम्।**[1] गुप्तकाल में विदिशा राजधानी नहीं थी। दूसरी बात यह है कि इस नगरी के समीप अवस्थित 'नीच'-पर्वत में कालिदास इस नगरी के कामुकों द्वारा पण्यस्त्रियों के साथ विलास का उल्लेख करते हैं। गुप्तकाल में इस पर्वत की गुफा में वाराह मन्दिर का निर्माण हो चुका था। अतएव यदि वे गुप्तकाल में होते तो यहाँ विलास का वर्णन नहीं कर सकते थे।[2]

'शाकुन्तल'-नाटक में वर्णित सामाजिक तथा आर्थिक दशा का अनुशीलन भी हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि कालिदास बौद्ध धर्म से प्रभावित उस युग के कवि थे जब हिन्दू देवी-देवताओं के विषय में श्रद्धा-विहीन विचार प्रचलित थे।[3] इस नाटक की नान्दी में कवि ने शिव की आठ 'प्रत्यक्ष' मूर्तियों का वर्णन करके देवता-विषयक अविश्वास दूर करने का प्रयास किया है। इसी नाटक के षष्ठ अङ्क में ब्राह्मण के लिए यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान आवश्यक बताया गया है, भले ही उस यज्ञ में पशु-हिंसा होती हो। बौद्धों ने हिंसा के कारण यज्ञ की निन्दा की थी किन्तु शाकुन्तल का एक पात्र कहता है कि यज्ञों में पशुहिंसा करने वाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु होता है, इसलिए कुल-परम्परा से आगत कर्म का परित्याग उचित नहीं है (शाकुन्तल ६/१)। अत: बौद्ध-धर्म उस समय ह्रासोन्मुख था, वैदिक धर्म का पुन: उदय हो रहा था। यह काल शुङ्ग-नरेशों के कुछ ही बाद का अर्थात् प्रथम शताब्दी ई. पू. का था।

इस मत को स्वीकार करने वाले विदेशी विद्वानों में सर विलियम जोन्स, पीटर्सन इत्यादि भी थे। आधुनिक विद्वानों ने इस मत में अरुचि दिखाकर चतुर्थ शताब्दी ई. वाले मत का समर्थन किया है उनमें विन्टरनित्स, कीथ आदि प्रमुख हैं।

चतुर्थ शताब्दी ई. का मत

कालिदास को चतुर्थ शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में, विशेष रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में (३७५ ई०-४१४ ई०), मानने वाले विद्वानों का आधिक्य है। भारतीय इतिहास के सभी विद्वान् गुप्त-काल को स्वर्ण-युग कहकर संस्कृत साहित्य के चतुरस्र विकास का युग मानते हैं। कालिदास इसी युग के प्रतिष्ठित कवि थे। इस मत के समर्थक विद्वानों ने निम्नलिखित तथ्य और तर्क प्रस्तुत किये हैं-

कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य को 'शकाराति' अर्थात् शकों का विनाशक कहा गया है (ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीता: शकारातिना)।[4] चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व किसी राजा की उपाधि विक्रमादित्य सिद्ध नहीं होती। उसने भी शकों का उच्छेद किया था। अत: कालिदास इसी गुप्त-नरेश के राज्यकाल में थे। प्रो. मिराशी कहते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३९५ ई० के लगभग काठियावाड़ के शकवंशीय क्षत्रपों का समूल उच्छेद करके उस प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया था। यह बात शिलालेख और मुद्राओं से प्रमाणित हो चुकी है। उसकी राजधानी उज्जयिनी

---

१. मेघदूत १/२६

२. इस युक्ति की सूचना मुझे डॉ. प्रभाकर नारायण कवठेकर (केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड के भूतपूर्व अध्यक्ष) से मिली है।

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, उक्त ग्रन्थ, पृ. १५०।

४. अभिनन्द कृत रामचरित का पद्यांश, मिराशी- **कालिदास**, पृ. १ पर उद्धृत।

थी। विद्वानों और कवियों का वह बहुत आदर करता था। राजशेखर की काव्यमीमांसा (अध्याय-१०) में उद्‌धृत इस पद्य से अनुमान होता है कि उसने स्वयं भी कालिदास, भर्तृमेण्ठ इत्यादि कवियों के समान उज्जयिनी में काव्य-विषयक परीक्षा दी थी-

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
इह कालिदास - मेण्ठावत्रामरसूरभारवयः।
हरिचन्द्र-चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

राजशेखर के अनुसार राजा के कवि होने पर सब लोग काव्य-रचना करने लग जाते हैं तथा उन्हें राजा का आश्रय मिलता है। अतः इसी चन्द्रगुप्त के आश्रय में कवि कालिदास रहे होंगे।

अतिरिक्त प्रमाण- इस मत की पुष्टि में विद्वानों ने समय-समय पर अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं-

(१) कालिदास की रचनाओं में जो ब्राह्मण-सभ्यता, धर्म का उत्कर्ष, सुख-शान्ति[1], समृद्धि, राजनीतिक स्थिरता, कला-कौशल का उन्नयन तथा व्यापार आदि की प्रगति के चित्र मिलते हैं वे गुप्तकाल में कवि के यथार्थ अनुभव पर आश्रित हैं। इसी युग में ब्राह्मण-धर्म का वर्चस्व बढ़ रहा था।

(२) अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई.) के महाकाव्यों के अनेक भावों को कालिदास ने अपनी कृतियों में परिष्कृत करके प्रस्तुत किया है। जैसे-

(क) सौन्दरनन्द ४/४२ सोऽनिश्चयात्रापि ययौ न तस्थौ।
कुमारसम्भव ५/८५ शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥[2]

(ख) 'बुद्धचरित' के तृतीय सर्ग में नगर-मार्ग में जाते हुए सिद्धार्थ को देखकर कपिलवस्तु की पौराङ्गनाओं की उत्सुकता की तुलना 'रघुवंश' के सप्तम सर्ग में वर्णित अज को तथा 'कुमारसम्भव' के सप्तम सर्ग में वर्णित शिव को देखकर नगर-कामिनियों के कौतूहल से की गयी है।[3]

(३) जैकोबी, कीथ आदि पाश्चात्य विद्वान् कालिदास के ग्रन्थों जामित्र, उञ्छ आदि शब्दों को यूनानी भाषा का बताकर यह प्रभाव ४०० ई. के आसपास का सिद्ध करते हैं।

(४) गुप्तनरेशों का प्रच्छन्न निर्देश रघुवंश के षष्ठ सर्ग में मगधराज और अवन्तिनाथ के वर्णनों में है क्योंकि उनकी दो राजधानियाँ थीं- पाटलिपुत्र और उज्जयिनी। पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने 'रघुवंश' के दिलीप को चन्द्रगुप्त का, रघु को कुमारगुप्त का और अज को स्कन्दगुप्त का प्रतीक

---

१. **रघुवंश** ६/७५

अस्मिन्नृपे शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥

२. यह भाव वस्तुतः रामायण (२/४०/४६ से लिया गया है-

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा॥

३. इस पर कालिदास की ही मौलिकता दिखायी जा चुकी है (प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत)।

बताकर कालिदास को पाँचवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में माना है। इन नरेशों के वैवाहिक सम्बन्धों को भी उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देशक कहा है।[1] पण्डित रामावतार शर्मा ने गुप्-धातु के प्रति कालिदास के अधिक आकर्षण को गुप्त-वंशीय राजाओं के प्रति भक्ति का परिणाम बताया है। रघु की दिग्विजय का वर्णन किसी पुराण में नहीं है, अतः कालिदास ने समुद्रगुप्त की दिग्विजय से ही इसके वर्णन की प्रेरणा ली होगी। वस्तुतः कालिदास ने महाभारत से यह वर्णन लिया था, समुद्रगुप्त की दिग्विजय से नहीं।

(५) कालिदास ने हूणों का उल्लेख किया है (रघुवंश ४/६८) कि रघु द्वारा हूण-नरेशों के मारे जाने से उनकी स्त्रियों ने इतना रोदन किया कि उनके कपोल लाल हो उठे। हूणों का आक्रमण गुप्तकाल से पूर्व नहीं हुआ था। यह तर्क वस्तुतः सारहीन है क्योंकि महाभारत (१/५५/१-३) तथा विविध पुराणों में हूणों की चर्चा है। कालिदास ने इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हूणों की चर्चा की है। हूण लोग द्वितीय शताब्दी ई. पू. में ही भारत के पश्चिमी भाग में विद्यमान थे।

(६) प्रो. मिराशी ने क्षेमेन्द्रकृत 'औचित्यविचारचर्चा' में निर्दिष्ट 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नामक नाटक (अनुपलब्ध) के आधार पर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के द्वारा अपने सभापण्डित कालिदास को कुन्तलनरेश की राजसभा में दूत बनाकर भेजे जाने का प्रमाण दिया है। इसी घटना के प्रसङ्ग में कालिदास ने यह नाटक लिखा था। भोज के 'शृङ्गारप्रकाश', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भी एक श्लोक उद्धृत है जिससे कालिदास के दूत बनकर जाने का संकेत मिलता है। कुन्तलेश्वर के रूप में वाकाटक-नरेश द्वितीय प्रवरसेन की पहचान की गयी है।[2] मिराशी जी कालिदास के ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित राजनीतिक परिस्थितियों को भी गुप्त-नरेशों के काल से जोड़ते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक वाकाटक-नरेश रुद्रसेन (द्वितीय) और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावतीगुप्ता के विवाह-काल में लिखा गया। वाकाटक-राजसभा में मेघदूत की एवं कुमारगुप्त के जन्मोत्सव पर कुमारसम्भव की रचना हुई होगी।[3]

(७) वात्स्यायन के 'कामसूत्र' (४/१/३४) का पूरा प्रभाव कालिदास के 'शाकुन्तल' के एक श्लोक पर मिराशी ने दिखाया है। विवाहिता स्त्री के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए वात्स्यायन ने कहा है- श्वश्रू-श्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता। भोगेष्वनुत्सेकः। परिजने दाक्षिण्यम्। नायकापचारेषु किञ्चित्कलुषिता नात्यर्थं निवदेत्। इन सूत्रों में बिखरे विचारों को कालिदास ने व्यवस्थित रूप देकर अभिज्ञानशाकुन्तल (४/१७) में कण्व से शकुन्तला को उपदेश दिलाया है-

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।

---

१. पं० चन्द्रबली पाण्डेय-कालिदास, पृ० १८-१९।

२. वासुदेव विष्णु मिराशी-कालिदास, पृ० ३४।

३. यह युक्ति कल्पनाश्रित है। कालिदास का दूत बनना और प्रवरसेन की राजसभा में रहना अत्यन्त परवर्ती संकेतों से सिद्ध नहीं हो सकता।

वात्स्यायन का काल तृतीय शताब्दी ई. का मध्य माना गया है, अतः कालिदास इस काल के बाद हुए होंगे।[1]

(८) कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' (२/१७) में नाट्यशास्त्रकार के रूप में भरत मुनि का उल्लेख किया है- **मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः**। भरत का काल प्रथम शताब्दी ई० से तृतीय शताब्दी ई० के बीच मानने वाले लोग कालिदास को चतुर्थ शताब्दी ई० में मानते हैं। यह तर्क असंगत है क्योंकि नाट्यशास्त्र के लेखक भरत बहुत प्राचीन हैं; नाट्यशास्त्र में समय-समय पर परिवर्तन-परिबृंहण होते रहे हैं। उसे अन्तिम रूप तृतीय शताब्दी ई० में मिला। इस काल से बहुत पहले भरत का नाम प्रचलित था। संस्कृत नाट्य-रचना का इतिहास चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से मिलता है, उस समय से ही नाट्यकार भरत के नियमों पर चलते थे।

(९) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'कालिदास का भारत' में सांस्कृतिक सामग्री के आधार पर कालिदास को चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का समकालिक सिद्ध किया है। कालिदास की रचनाओं में यत्र-तत्र भास्कर्य एवं दूसरी कलाओं के ऐसे वर्णन मिलते हैं जो गुप्त-युग की उपलब्ध प्राचीन सामग्री से सामञ्जस्य रखते हैं। 'मयूर-पृष्ठाश्रयी गुह' (रघुवंश ६/४) का उल्लेख कालिदास ने किया है, यह गुप्त-नरेशों का राजचिह्न था। शेषशायी विष्णु (भोगिभोगासनासीनम्, रघुवंश १०/७), प्रभामण्डल (स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे, रघुवंश ३/५०), जालयुक्त अंगुलियों वाला हाथ (जालग्रथिताङ्गुलिः करः, शाकुन्तल ७/१६) इत्यादि को गुप्त-युग की मूर्तियों और चित्रों में देखा जा सकता है।

वस्तुतः इन युक्तियों का विध्यात्मक महत्त्व नहीं है। साहित्य में वर्णन होने पर, कवि की कल्पना के अनन्तर ही, कला में किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को स्थान मिलता है। मयूरपृष्ठ पर कार्तिकेय का वर्णन तो पुराणों की देन है। जालीदार अंगुलियों का वर्णन बुद्धचरित में भी है- जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम् (बुद्धचरित १/६०)। इस आधार पर अश्वघोष को गुप्तकाल में नहीं रखा जा सकता।

कालिदास को चतुर्थ शताब्दी ई. में सिद्ध करने वाले तर्क अखण्डनीय नहीं है तथापि इनका महत्त्व है। बड़े विद्वानों ने कई दशकों तक परिश्रम करके इन्हें प्रस्तुत किया। आज इतिहास के सभी देशी-विदेशी विद्वान् इनकी परीक्षा किये बिना इन्हें स्वीकार कर लेते हैं।[2] फिर भी प्रथम शताब्दी ई० पू० के मत का समर्थन भी नये-नये तर्कों से किया जा रहा है। अतः इसी मत को संस्कृत के विद्वान् स्वीकार करते हैं।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास का आविर्भाव सिद्ध करने के लिए उनकी भाषा-शैली पर ध्यान देना आवश्यक है। कालिदास रामायण-महाभारत की शैली के समीप हैं। प्रतिभा-मण्डित परिष्कार उनमें अवश्य है किन्तु गुप्तकालीन समासयुक्त पदावली (जैसे-हरिषेण की समुद्रगुप्त-

---

१. भावहरण की यह युक्ति कालिदास को पूर्ववर्ती भी सिद्ध कर सकती है। वात्स्यायन ने ही कालिदास की पंक्तियों का खण्डशः अनुहरण किया होगा। यह भी सम्भावना है कि दोनों ने एक ही स्रोत से भाव-ग्रहण किया हो। **कालिदास-एक अनुशीलन** (देवदत्त शास्त्री), पृ० २८।

२. कालिदास को चतुर्थ शताब्दी ई. में मानने वाले विद्वानों के प्रमुख तर्कों का खण्डन डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' में पृ० १४०-६ पर किया है।

प्रशस्ति की पदावली) से उनकी शैली बहुत दूर है। उनमें कतिपय अपाणिनीय प्रयोग हैं[1] जो उनकी प्राचीनता के साधक हैं। गुप्तकाल में किसी कवि में पाणिनि के व्याकरण के नियमों का अतिक्रमण करने का साहस नहीं था। कालिदास ने वैदिक शब्दों का (जैसे- परमेष्ठी, पेलव, धिष्ण्य आदि) तथा वैदिक छन्द का (शाकुन्तल ४/८ 'अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः') भी प्रयोग किया है। गुप्तयुग में अथवा ईसा के बाद की शताब्दियों में भी ऐसा सम्भव नहीं था। गुप्तकाल में संस्कृत का प्रचार भले ही किया गया हो किन्तु जन-सामान्य में संस्कृत का प्रचार नहीं था। इसीलिए विद्वानों को आकृष्ट करने वाली क्लिष्ट शैली चल पड़ी थी। कालिदास की भाषा इस स्थिति से बहुत दूर है। उसमें उस युग की भाषा का रूप मिलता है जब संस्कृत जन-सामान्य से बहुत दूर नहीं हुई थी।

यह दिया जा चुका है कि अपने 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास शुङ्गवंशी राजाओं के विषय में ऐसे तथ्य देते हैं जो कवि की उनसे आसन्नता सिद्ध करते हैं। शुङ्गनरेश (१५० ई. पू.) कालिदास से बहुत पहले नहीं हुए थे। पाण्ड्य-राजा का वर्णन कालिदास ने दक्षिण के श्रेष्ठ राजा के रूप में किया है (रघुवंश ६/६०, ६३)। रघुवंश (४/४९) में रघु की विजय भी पाण्ड्य-नरेश पर दिखायी गयी है (तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे)। पाण्ड्यों का राज्य प्रथम शताब्दी ई.पू. में था, चतुर्थ शताब्दी ई. में उनका राज्य समाप्त हो चुका था। अतः कालिदास गुप्तकालीन नहीं।

उत्तराधिकार के नियम, विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति पर अधिकार, चोरी के लिए दण्ड आदि का जो वर्णन कालिदास ने किया है वह ई. पू. के नियमों से सामञ्जस्य रखता है, गुप्तकालीन विधान-संहिता से नहीं। बौद्धधर्म के द्वारा प्रबल विरोध होने पर भी, सहज कर्म को न छोड़ने की जो विधि शाकुन्तल (६/१) में दी गयी है वह भी ई. पू. की ही स्थिति है।

ये समस्त परिस्थितियाँ कालिदास को प्रथम शताब्दी ई. पू. में मानने को विवश करती हैं।

कालिदास के महाकाव्य[2]

कालिदास ने दो महाकाव्य लिखे थे- कुमारसम्भव तथा रघुवंश। इनके साथ मेघदूत को मिलाकर 'लघुत्रयी' कहते हैं। यह संज्ञा तब पड़ी थी जब कविता की दिशा पाण्डित्य-मण्डित महाकाव्यों की ओर बढ़कर स्थिर हो गयी थी। इस क्रम में क्रमशः किरातार्जुनीय (भारवि-कृत), शिशुपालवध (माघकृत) एवं नैषधीयचरित (श्रीहर्षकृत) को 'बृहत्त्रयी' की संज्ञा मिली क्योंकि शास्त्रीय प्रौढ़ता की दृष्टि से ये महाकाव्य विद्वानों के लिए शास्त्रवत् आदरणीय थे। कालिदास के काव्य तो हृदय-पक्ष को द्रवित करने में समर्थ थे, विद्वानों के लिए इसलिए ये 'लघु' थे।

---

१. **रघुवंश** ९/६१ 'पातयामास' का तोड़कर प्रयोग, १३/३६ में इसी प्रकार 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार', 'दाश्वान्', 'कामयान', आदि प्रयोग, कुमारसम्भव (सर्ग ३) में 'त्रियम्बकं' प्रयोग।

२. कालिदास के गीतिकाव्यों तथा रूपकों का परिचय एवं विवेचन उन विधाओं के प्रसङ्ग में ही दिया जायेगा। कालिदास ने क्रमशः ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, मेघदूत, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना की थी।

(१) **कुमारसम्भव**[1]- यह महाकाव्य कालिदास की प्रारम्भिक रचना है जिसमें कवि ने शिव-पार्वती के विवाह, कुमार कार्तिकेय के जन्म एवं उनके द्वारा तारकासुर के वध की कथा उपन्यस्त की है।हिमालय की पुत्री पार्वती ने तपस्या के द्वारा शिव को प्राप्त किया था। इस महाकाव्य में यद्यपि १७ सर्ग हैं किन्तु प्रथम आठ सर्गों को ही कालिदास की रचना माना जाता है, शेष सर्ग कथा की पूर्ति करने के लिए किसी परवर्ती कवि ने लिखकर जोड़े थे। आठ सर्गों में शिव-पार्वती के विवाह तथा दाम्पत्य जीवन तक का ही वर्णन है, कुमार कार्तिकेय का जन्म ११ वें सर्ग में वर्णित है। अतः आठ सर्ग तक की कथा में शीर्षक का समर्थन नहीं होता। किन्तु १७ सर्गों की कथा से भी यही बात प्रकट होती है क्योंकि तब तारकासुर के वध तक का वर्णन शीर्षक का समर्थन कैसे करेगा? काव्यशास्त्र के आचार्यों ने प्रथम आठ सर्गों से ही उद्धरण दिये हैं, मल्लिनाथ की संजीवनी टीका वस्तुतः सात सर्गों तक ही है, अष्टम सर्ग पर उनकी टीका दोषपूर्ण है। अष्टम सर्ग शिव-पार्वती के केलि-वर्णन से सम्बद्ध है, अतएव यह परवर्ती विद्वानों के बीच विवाद का विषय बना है।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहा है कि महाकवियों ने भी देवताओं के सम्भोग का वर्णन किया है किन्तु अपनी प्रतिभा से इस दोष को दबा दिया है। इसीलिए ग्राम्य-दोष (फूहड़पन) नहीं माना जाता। इस प्रसङ्ग में कुमारसम्भव के अष्टमसर्गस्थ देवी-सम्भोग का ही उदाहरण उन्होंने दिया है- **महाकवीनामप्युत्तम-देवता-विषय-प्रसिद्धसम्भोग-शृङ्गार-निबन्धाद् अनौचित्यं शक्ति-तिरस्कृतं ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते** यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्।[2] किन्तु मम्मट इसे अनुचित मानते हैं क्योंकि अपने माता-पिता के सम्भोगशृङ्गार-वर्णन के समान उत्तम देवता के विषय में रति का वर्णन अशिष्टता है- **रतिःसम्भोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं पित्रोः** सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।[3] स्पष्टतः उनका संकेत कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग की ओर है। अतः इसके अष्टम सर्ग के कालिदास-रचित होने में सन्देह नहीं।

किंवदन्ती है कि कुमारसम्भव के अष्टमसर्ग की रचना के अनन्तर शिव के शाप से कालिदास रुग्ण हो गये, आगे उस महाकाव्य की रचना छोड़ देनी पड़ी। रघुवंश में 'जगतः पितरौ पार्वती परमेश्वरौ' की वन्दना करके वे शापमुक्त हुए। नवम से सप्तदश सर्गों की रचना मल्लिनाथ (१५वीं शताब्दी ई.) के बाद किसी ने की होगी। मल्लिनाथ के पूर्ववर्ती अरुणगिरिनाथ ने भी आठ सर्गों तक की ही टीका लिखी है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से ये परवर्ती सर्ग मौलिक (आठ) सर्गों की अपेक्षा हीनतर हैं। काव्यशास्त्रियों ने उनकी उपेक्षा की है। केवल सीताराम कवि ने 'संजीवनी' नाम से उन सर्गों की व्याख्या की है जो बहुत बाद की है। अष्टम सर्ग के अन्त में कवि ने एक प्रकार से काव्य का उपसंहार कर दिया है कि भगवान् शिव के दिन-रात स्त्री-सम्पर्क के १५० वर्ष ऐसे बीते मानों एक ही रात समाप्त हुई हो। तथापि उनकी तृष्णा उसी प्रकार शान्त नहीं

---

१. मल्लिनाथ की संजीवनी टीका (सर्ग १-७) तथा सीतारामकृत संजीवनी (सर्ग ८-१७) सहित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित। श्याम नारायण पाण्डेय ने इसका हिन्दी पद्यानुवाद किया था।

२. **ध्वन्यालोक** ३/६ के अन्तर्गत, पृ० १७६ (विश्वेश्वर- संस्करण)।

३. **काव्यप्रकाश** ७/६२ के अन्तर्गत, पृ० ३६३ (विश्वेश्वर-संस्करण)।

हुई जिस प्रकार समुद्र के भीतर वर्तमान जलराशि से बड़वाग्नि शान्त नहीं होती।[1] विन्टरनित्स ने कहा है कि ऐसे कुछ श्लोक या प्राय: एक सर्ग रहा हो जिसमें कार्तिकेय की विलक्षण उत्पत्ति दी गयी हो। ऐसी स्थिति में विस्तृत रूप से कार्तिकेय-जन्म से सम्बद्ध पौराणिक आख्यान एवं तारकासुर के वध का वर्णन करने का कोई औचित्य नहीं रह गया था। आगे के सर्गों को जोड़ने वाले कवि ने छोटे सर्ग बनाये हैं किन्तु शैली की समानता रखी है।

'कुमारसम्भव' का शीर्षक यदि आठ सर्गों के द्वारा समर्थित नहीं होता तो सत्रह सर्गों का काव्य इस विषय में अतिव्याप्ति-दोष से ग्रस्त हो जाता है। वास्तविकता यह है कि कालिदास ने कुमार कार्तिकेय के जन्म की परिस्थितियों का ही निरूपण इस महाकाव्य में किया है। कुमार के वास्तविक जन्म का विवरण देना उनका लक्ष्य नहीं था; 'सम्भव' शब्द सम्भावना की ही ध्वनि देता है, वास्तविक जन्म को प्रकाशित नहीं करता। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी ने कहा है कि कालिदास वागर्थ की परस्पर स्पर्धा को पार्वती और परमेश्वर (शिव) की क्रीड़ा का रूप देकर शब्दार्थ-साहित्य को काव्य मानते थे। कुमारसम्भव (६/७९) में अङ्गिरा ऋषि कहते हैं- **तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि।** अर्थात् आप (हिमालय) शिव से अपनी पुत्री का उसी प्रकार अटूट सम्बन्ध कर दीजिए जिस प्रकार वाणी (शब्द) का अर्थ से हुआ है। रघुवंश (१/१) में भी पार्वती को वाक् और शिव को अर्थ का प्रतीक मानकर दोनों की उन्होंने वन्दना की है। कालिदास वागर्थ के साहित्य (कुन्तक के अनुसार 'परस्पर स्पर्धा') पर इस प्रकार मोहित थे कि उन्होंने कुमारसम्भव की रचना अष्टमसर्ग तक करने की योजना बनाकर इसका प्रतिपादन किया। तदनुसार वाग्रूपा पार्वती और अर्थरूप शिव की परस्पर केलिस्पर्धा एवं योग के द्वारा रस-रूप स्कन्द (कार्तिकेय) के जन्म की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं गयीं। रस तो अवाच्य होता है, ध्वनि से ही गम्य है; अत: कवि ने वागर्थ का परिणय कराकर अदृश्य रसस्कन्द का जन्म सहृदय पाठकों के द्वारा अनुमान किये जाने के लिए छोड़ दिया है।[2]

इस विषय में 'विवरण' टीका के लेखक नारायण पण्डित ने कहा है कि कुमारसम्भव काव्य का लक्ष्य पार्वती द्वारा शिव के चित्त का आकर्षण-मात्र था[3] जिसकी पूर्ति अष्टम सर्ग के अन्त में हो जाती है। अत: अष्टमसर्गान्त कुमारसम्भव की रचना में कोई सन्देह नहीं। इस ध्वनिरूप प्रतीकात्मक महाकाव्य का भौतिक अर्थ मानकर ही किसी कवि ने कथा-पूर्ति के लिए परवर्ती सर्ग जोड़े हैं। इन सर्गों की भाषा मूलकाव्य से निकृष्ट है, उनमें परस्पर घटना-सामञ्जस्य का अभाव है, कहीं अश्लील और अपप्रयोग हैं, पुनरुक्तियों की भरमार है।[4] फिर भी कुछ विद्वानों ने तर्क दिये हैं कि पूरा 'कुमारसम्भव' (१-१७ सर्ग) कालिदास की ही कृति है, इसके महाकाव्यत्व का

---

१. **कुमारसम्भव** ८/९१ समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शम्भोः।
शतमगमदृतूनां सार्धमेका निशेव॥

२. **भोजकृत शृङ्गारप्रकाश - एक अध्ययन**, मूल लेखक- डॉ० वी. राघवन् (हिन्दी अनुवादक-डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री), पृ० ११६, पाद-टिप्पणी-२।

३. **कुमारसम्भव** २/५९ **उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः।
शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत्॥**

४. कृष्णमाचार्य- **Hist. of class. Skt. Literature** (1974), p. 115, fn. 1.

निर्वाह तभी होता है, इन प्रक्षिप्त सर्गों में भी काव्य-चमत्कार पूर्ववत् ही है इत्यादि।

'कुमारसम्भव' के **प्रथम सर्ग** में हिमालय का भव्य वर्णन १५ श्लोकों में करके हिमालय से मेना के विवाह, पार्वती के जन्म और सौन्दर्य, नारद-द्वारा शिव-पार्वती के विवाह की चर्चा तथा पार्वती द्वारा शिव की आराधना का वर्णन कवि ने किया है। **द्वितीय सर्ग** में तारकासुर से पीड़ित देवताओं के द्वारा ब्रह्मा की प्रार्थना है। ब्रह्मा कहते हैं कि सृष्टि के व्यापार में लगे मुझसे तो उसका वध नहीं हो सकता किन्तु आप लोग शंकर के चित्त को पार्वती के रूप द्वारा आकृष्ट कर सकें तो आपका कार्य हो जायेगा क्योंकि उनका पुत्र ही तारक-वध कर सकता है। **तृतीय सर्ग** में देवगण शिव के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए कामदेव का उपयोग करते हैं जो शिव के समाधि-स्थल पर वसन्त ऋतु को फैलाकर शिव पर बाण चलाता है। शिव अपने नेत्रज अग्नि से उसे भस्मसात् करते हैं-

> **क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।**
> **तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥** (३/७२)

चतुर्थ सर्ग में कामदेव की पत्नी (रति) विलाप करती है (नववैधव्यमसह्यवेदनम्)। इसमें कवि ने वियोगिनी (वैतालीय) छन्द का प्रयोग किया है। वसन्त रति को सान्त्वना देता है फिर भी पति की चिता पर वह जल जाना चाहती है। आकाशवाणी से पति के पुनर्मिलन की बात जानकर वह रुक जाती है (तदिदं परिरक्ष शोभने, भवितव्यप्रियसंगमं वपुः। रविपीतजला तपात्यये, पुनरोघेन हि युज्यते नदी ३/४४)।

पञ्चम सर्ग इस महाकाव्य का श्रेष्ठ सर्ग है। इसमें शिव को प्रसन्न करने के लिए पार्वती की तपस्या तथा ब्रह्मचारी के वेश में समागत शिव के द्वारा पार्वती के प्रेम की परीक्षा का वर्णन है। अन्य सभी उपायों से असाध्य शिव को तपस्या ही द्रवित करती है। शिव-पार्वती का रमणीय संवाद दिया गया है जिसमें शिव के एक-एक तर्क का उत्तर पार्वती देती जाती है। अन्त में शिव कहते हैं कि तुम्हारी तपस्या से खरीदा गया मैं दास बन गया हूँ-

> अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
> क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
> अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
> क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥ (५/८६)

पार्वती का सारा क्लेश शिव के एक वाक्य से मिट गया।

षष्ठ सर्ग में शिव का सन्देश लेकर सप्तर्षिगण हिमालय के पास जाते हैं, हिमालय पार्वती का वाग्दान करते हैं (आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम् ६/८७)। शिव को सप्तर्षियों से यह बात ज्ञात हुई तो पार्वती के समागम की उत्सुकता में तीन दिन उन्होंने बड़े कष्ट से बिताये (पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्गमयदद्रिसुता-समागमोत्कः ६/९५)। **सप्तम सर्ग** में शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इस प्रसङ्ग में विवाहपूर्व पार्वती का शृङ्गार एवं शिव की बारात को देखने के लिए उत्सुक नारियों की चेष्टाओं का रमणीय चित्रण किया गया है। इस प्रसङ्ग में आये सात पद्य रघुवंश के सप्तम सर्ग में भी यथावत् दिये गये हैं। स्त्रियाँ वर-वधू की अनुरूपता पर टिप्पणी करती हैं-

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत्॥[1]

अर्थात् सुन्दरता में एक-दूसरे से बढ़े-चढ़े हुए इस जोड़े का यदि विवाह नहीं होता तो हम यही समझते कि ब्रह्मा ने इन दोनों का रूप गढ़ने में जो परिश्रम किया था वह व्यर्थ ही था। अष्टम सर्ग में (रथोद्धता छन्द में) विवाह के अनन्तर शिव-पार्वती के विलास तथा कामशास्त्रानुकूल आमोद-प्रमोद का वर्णन है।

अन्य सर्गों के प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं- शिव-पार्वती का विहार-यात्रा करते हुए कैलास-गमन (९), कार्तिकेय (कुमार, स्कन्द) का गर्भ में आना (१०), कुमार का जन्म तथा बालावस्था (११), कुमार का सेनापति बनना (१२), कुमार का सैन्य-संचालन (१३), देव-सेना का प्रयाण (१४), देवासुर-सेनाओं का संघर्ष (१५), युद्धवर्णन (१६) तथा तारकासुर का वध (१७)।

इस महाकाव्य में कालिदास ने अपनी सौन्दर्य-भावना का पूरा प्रकर्ष दिखाया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इससे पर्याप्त उदाहरण दिये हैं।[2] इससे ध्वनिकाव्य के दृष्टान्त के रूप में इसके पद्यों की महत्ता अङ्कित होती है। इसमें भाषा की सहजता, वर्णनों की रमणीयता (जैसे- हिमालय-वर्णन, उमारूप वर्णन), रस की उद्‌भावना (जैसे-रति विलाप, शिव-पार्वती-विलास), अर्थगौरव से युक्त सामान्य उक्तियों का प्राचुर्य (जैसे- एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः १/३, विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् २/५५, शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ५/३३ , प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ६/८५ इत्यादि), उपमाओं की सरलता, तपस्या से असाध्य-सिद्धि की सांस्कृतिक भावना इत्यादि उत्कृष्ट उपादान निहित हैं।

(२) **रघुवंश**[3]-यह उन्नीस सर्गों का महाकाव्य है जिसमें १५६९ श्लोक हैं। इसमें सूर्यवंश के दिलीप आदि ३० राजाओं का वर्णन है। इसी वंश में राम का आविर्भाव हुआ था। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम तथा कुश का विस्तार से किन्तु अन्य राजाओं का संक्षिप्त रूप में विवरण है। अन्तिम राजा अग्निवर्ण की विलासिता का वर्णन करते हुए कालिदास ने इस महान् वंश का पतन दिखाया है। उपर्युक्त छह राजाओं का वर्णन करने में कवि ने १७ सर्ग लगाये, अठारहवें सर्ग में अतिथि (कुश का पुत्र) आदि २२ राजाओं का उल्लेख मात्र कर के पूरा उन्नीसवाँ सर्ग अग्निवर्ण के कामुक जीवन के चित्रण में उन्होंने लगा दिया। इस महाकाव्य में भारतवर्ष के एक प्रख्यात राजवंश की प्रगति और पतन दोनों का चित्र अंकित करके महाकवि ने अपना राजनीति-दर्शन

---

१. **कुमारसम्भव** ७/६६ तथा **रघुवंश** ७/१४।

२. **कुमारसम्भव** ३/२० (अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः), **ध्वन्यालोक** ३/१६ के अन्तर्गत। **कुमार.** ७/१९ (पत्युः शिरश्चन्द्रकलामलेन), **ध्वन्या.** ३/४० में। **कुमार.** ६/८४ (एवंवादिनि देवर्षौ), **ध्वन्या.** २/२२, ३/३३, ४/४। **कुमार.** १/४९ (सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन), **ध्वन्या.** ४/७। **कुमार.** ३/५३ (वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती), **ध्वन्या.** ४/७ इत्यादि।

३. इसका प्रथम प्रकाशन ए. एफ. स्टेंजलर (१८०७-८७ ई.) ने लैटिन अनुवाद के साथ लन्दन से १८३२ ई. में किया था। शंकर पण्डित ने बम्बई संस्कृत सीरिज में अंग्रेजी अनुवाद के साथ १८६९ ई. में तथा जी. आर. नन्दरगीकर ने मल्लिनाथी व्याख्या, अनेक टिप्पणियों एवं अंग्रेजी अनुवाद के साथ बम्बई से प्रकाशित किया था। पुनर्मुद्रण-मोतीलाल बनारसीदास।

प्रकट किया है कि प्रजा-रञ्जन से राजा का उत्कर्ष होता है तथा प्रजा की उपेक्षा से विध्वंस की प्राप्ति होती है। ऐन्द्रियिक सुख राजा को ही नहीं, उसके विमल वंश को भी ध्वस्त कर देता है।

सूर्यवंश के राजाओं के वर्णन में कालिदास ने वाल्मीकीय रामायण में दी गयी वंशावली का अनुसरण न करके वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में वर्णित वंशावली का ग्रहण किया है। इस विषय पर शंकर पण्डित ने अपने रघुवंश-संस्करण में विवेचना की है।[1] सम्भव है इन पुराणों तथा कालिदास ने एक ही स्रोत से इस वंशावली का प्रयोग किया होगा। इस महाकाव्य में यद्यपि विस्तार की दृष्टि से राम का वर्णन अधिक सर्गों में है तथापि प्रारम्भिक राजाओं में अनन्य राज्य-विस्तार करने वाले रघु के नाम पर कवि ने इसे 'रघुवंश' का शीर्षक दिया। प्राचीन भारत में राज्य-विस्तार के लिए दिग्विजय करना राजा का उत्कर्ष माना जाता था। रघु के प्रताप की चर्चा कवि ने बार-बार की है।[2] गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वान् रघु की दिग्विजय के वर्णन पर समुद्रगुप्त की, प्रयाग-प्रशस्ति में निर्दिष्ट, दिग्विजय-यात्रा का प्रभाव मानते हैं किन्तु कालिदास वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों में निरूपित भूगोल से या पाण्डवों की दिग्विजय से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। रघुवंश में वर्णित प्रथम राजा दिलीप का वर्णन इसलिए किया गया है कि रघु की ऊपरी पीढ़ी की तपस्या और पुरुषार्थ दोनों का सम्यक् अङ्कन करके इस महान् राजा की पृष्ठभूमि दी जा सके।

'रघुवंश' के **प्रथम सर्ग** में रघुवंशियों की सामान्य प्रशंसा करते हुए कालिदास ने राजा का आदर्श प्रस्तुत किया है। वे आजीवन शुद्ध चरित्रवाले, फलप्राप्ति-पर्यन्त कर्म करने वाले, समुद्र तक फैली पृथ्वी के पालक, स्वर्गतक अपना रथ ले जाने वाले, विधिपूर्वक यज्ञ-सम्पादक, याचकों को मुँह-माँगा दान करने वाले, अपराधानुसार दण्ड देनेवाले, अवसरानुकूल काम करने वाले, दान के लिए धन का संग्रह करने वाले, सत्य की रक्षा के लिए मितभाषी, केवल यश के लिए (राज्य हड़पने के लिए नहीं) विजय करने वाले और केवल सन्तानोत्पादन के लिए विवाह करने वाले राजा थे।[3] राजाओं के जीवन में आश्रम-व्यवस्था इस प्रकार होती थी-

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (६)

इस वंश में प्रथम राजा मनु थे। उन्हीं के वंश में दिलीप हुए जो अनेक गुणों से सम्पन्न थे। उनकी पत्नी मगधवंश की राजकुमारी सुदक्षिणा थी। सन्तानहीन होने के कारण दिलीप अपने कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचे और उन्होंने अपने दुःख का वर्णन किया। आश्रम का इस प्रसङ्ग में भव्य वर्णन किया गया है (४९-५३)। वसिष्ठ ने राजा को कामधेनु की पुत्री नन्दिनी (गौ) की सेवा का उपदेश दिया। तदनुसार राजा पत्नी-सहित वहीं रहकर नन्दिनी की सेवा में लग गये।

द्वितीय सर्ग में राजा दिलीप के द्वारा नन्दिनी की सेवा का वर्णन है। इक्कीस दिनों की सेवा से प्रसन्न होकर नन्दिनी ने राजा की परीक्षा ली। वन में नन्दिनी पर एक सिंह ने आक्रमण किया और राजा को लौट जाने के लिए कहा। राजा ने नन्दिनी के स्थान पर अपने आप को समर्पित कर दिया और सिंह से प्रार्थना की कि वह नन्दिनी को छोड़ दे। सिंह और दिलीप का हृदयावर्जक

१. कृष्णमाचार्य के 'इतिहास' में पृ. ११४ पर पूर्ण उद्धरण।
२. **रघुवंश** ४/१२, १५, ३०, ३९, ४९ इत्यादि।
३. **रघुवंश** १/५-७ इन गुणों के उदाहरण कवि ने रघुवंशी राजाओं में दिये हैं।

संवाद कवि ने प्रस्तुत करते हुए दिलीप के चरित्र की उदात्तता दिखायी है (२/३४-५८)। दिलीप की परीक्षा लेकर नन्दिनी ने उन्हें पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। रानी सुदक्षिणा ने गर्भ धारण किया। **तृतीय सर्ग** में रघु का जन्म, संस्कारानुष्ठान एवं विद्याप्राप्ति, दिलीप द्वारा अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान, इन्द्र के द्वारा अश्वापहरण के कारण रघु का इन्द्र पर आक्रमण, इन्द्र का आशीर्वाद तथा रघु का राज्याभिषेक वर्णित है। दिलीप तपस्यार्थ वन चले गये क्योंकि इस वंश के राजाओं का नियम था कि अवस्था बीतने पर वे वन जाते थे।[1]

चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय का मनोरम वर्णन अनुष्टुप् छन्द में है (अनुष्टुप् छन्दसां माता)। रघु वस्तुतः राजा थे इसे कवि ने निर्वचन से पुष्ट किया है-

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥[2]

दिग्विजय के क्रम में रघु का प्रताप आगे चलता था, उसके बाद सेना का कोलाहल चलता था, उसके पीछे धूल उड़ती थी और अन्त में रथ आदि की सेना दिखायी पड़ती थी, मानो चार भागों में विभक्त होकर उनकी सेना चलती हो-

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद् रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः॥[3]

पूर्व दिशा के राज्यों को जीतते हुए रघु समुद्र-तट तक पहुँच गये, वङ्गीय नरेशों को हराकर रघु ने अपना जयस्तम्भ गङ्गासागर के द्वीपों में गाड़ दिया। पुनः वे कलिङ्ग, महेन्द्रपर्वत आदि होते हुए कावेरी के तट पर पहुँचे। उनकी सेना आगे मलयाचल की उस तराई में पहुँची जहाँ काली मिर्च की झाड़ियों में हरे सुग्गे उड़ रहे थे (मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः, ४६)। रघु के प्रताप को सूर्य से भी अधिक सिद्ध करते हुए कवि ने कहा है-

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (४९)

दक्षिण भारत के निसर्गसुन्दर प्रदेश का इस प्रसङ्ग में कवि ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। रघु की सेना क्रमशः पश्चिम दिशा में गयी। सिन्धु नदी, हूण-नरेश, कम्बोज-प्रदेश तथा हिमालय का वर्णन करके पुनः रघु को असम-प्रदेश में लौहित्य-नद पार करते हुए दिखाया गया है (चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः, ८१)। इस प्रकार समस्त पृथ्वी (भारत) को रघु ने आक्रान्त कर दिया।

पञ्चम सर्ग में रघु से सम्बद्ध अनेक घटनाओं का काव्यात्मक वर्णन है। ब्रह्मचारी कौत्स अपने गुरु वरतन्तु को दक्षिणा देने के लिए रघु से चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ माँगता है। अतः कोषरहित रघु इन्द्र पर आक्रमण करते हैं, उनका कोष धन से भर जाता है और प्रसन्न कौत्स उन्हें पुत्र होने का आशीर्वाद देते हैं। अज का जन्म होता है, वह अपने पिता के ही समान है-

---

१. **रघुवंश** ३/७० गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।
२. **रघुवंश** ४/१२। ३. **रघुवंश** ४/३०।

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्।।[1]

विदर्भराज भोज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर में अज को बुलाया तो रघु ने अज को सेना के साथ विदर्भ की राजधानी में भेजा। मार्ग की कुछ घटनाएँ भी यहाँ वर्णित हैं। अन्त के कुछ श्लोकों में (६६-७४) अज को जगाने के लिए सूतपुत्रों के द्वारा गाया गया 'प्रभात-गीत' बहुत मनोरम है।

रघुवंश का **षष्ठ-सर्ग** 'इन्दुमती-स्वयंवर' के रूप में उत्कृष्ट सर्ग है। विदर्भ राज्य की राजधानी में इन्दुमती से विवाह के इच्छुक भारत के विविध प्रदेशों से (मगध, अङ्ग, अवन्ती, अनूप, शूरसेन, कलिङ्ग, उरगपुर के पाण्ड्य) राजा आये हुए थे। इन्दुमती को प्रतिहारी सुनन्दा सबके समक्ष ले जाकर एक-एक की विशेषता का वर्णन करती है किन्तु इन्दुमती किसी का वरण नहीं करती। इस स्थिति का वर्णन कालिदास ने उपमा देकर (इन्दुमती को राजमार्ग पर अट्टालिकाओं के समक्ष संचारित की जाने वाली दीपशिखा कहकर) किया है-

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।।[2]

राजा लोग निराश होते गये। अन्त में अज का वरण इन्दुमती ने कर लिया। इस पर कवि ने कहा है- **न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदालिः।**[3] खिले हुए (मञ्जरित) आम्रवृक्ष के पास जाकर भ्रमर-पंक्ति किसी दूसरे वृक्ष पर जाने की कामना नहीं करती।

सप्तम सर्ग में अज और इन्दुमती का विवाह, प्रतिस्पर्धी राजाओं से युद्ध और अज की विजय का वर्णन है। इस सर्ग के आरम्भ में अज को देखने के लिए विदर्भ की नारियों की उत्सुकता का भव्य वर्णन है जो कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग से अविकल गृहीत है। रघु ने अज का स्वागत किया। **अष्टम सर्ग** अत्यन्त कारुणिक है जिसमें इन्दुमती की असामयिक मृत्यु पर अज का विलाप वर्णित है। कुमारसम्भव के रति-विलाप (सर्ग-४) के समान यहाँ भी वियोगिनी (वैतालीय) छन्द का प्रयोग है। आरम्भ में रघु के योगबल से ब्रह्मलीन होने का वर्णन है (तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ८/२४)। उपवन-विहार के समय इन्दुमती के ऊपर नारद के हाथ से एक माला गिर पड़ी जिससे उसका निधन हो गया, अज रोने लगे (विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ८/४३)। यह विलाप ही इस सर्ग में मुख्य स्थान रखता है (४४-६९)। इसके पद्य करुणा-पूर्ण हैं जैसे-

गृहिणी सचिवः सखी मिथः, प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना, हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।। (६७)

वसिष्ठ के सन्देश से अज को सान्त्वना मिली। अपने पुत्र दशरथ की बालावस्था का ध्यान करके उन्होंने प्रिया का चित्र देख-देख कर किसी प्रकार आठ वर्ष बिताये। गंगा-सरयू के संगम पर उन्होंने प्राण त्याग दिये।

---

१. रघुवंश ५/३७। २. रघुवंश ६/६७।
३. रघुवंश ६/६९।

नवम सर्ग में कवि ने द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग करके इसके चतुर्थ चरण में यमकालङ्कार का आकर्षक निवेश किया है (इस प्रयोग का अनुसरण माघ ने शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग में किया)। दशरथ के आखेट का इस सर्ग में वर्णन है, जिसमें मुनि-पुत्र (श्रवणकुमार) का वध हो गया। मुनि ने दशरथ को वृद्धावस्था में पुत्र-वियोग के कारण मृत्यु होने का शाप दिया। इस सर्ग के मध्य में वसन्त का सुन्दर वर्णन है जैसे-

> कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
> इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥ (२६)

दशमसर्ग में दशरथ-द्वारा पुत्रेष्टि-यज्ञ किये जाने का वर्णन है जिससे राम आदि चारों भाइयों का जन्म होता है। इस सर्ग के आरम्भ में देवताओं के द्वारा भगवान् विष्णु की सुन्दर स्तुति है (१६-३२) जो छन्द और भाव की दृष्टि से कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग की ब्रह्मा-स्तुति से तुलनीय है। इस स्तुति में दार्शनिकता का प्राचुर्य है-

> अभ्यास - निगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
> ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये॥ (२३)
> बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥ (२६)

विष्णु ने प्रसन्न होकर राम के रूप में अवतीर्ण होने का वचन दिया और कौसल्यानन्दन के रूप में वे प्रकट हुए। चारों भाई चार पुरुषार्थों के अवतार जैसे थे। एकादश सर्ग में सीता-स्वयंवर, रामादि के विवाह और परशुराम के साथ संवाद का वर्णन करके द्वादश सर्ग में राम-वनवास, सीता-हरण, युद्ध और रावण-वध की कथा कवि ने शीघ्रता से कही है किन्तु कहीं भी इस त्वरा से उद्वेग नहीं होता। सर्गान्त में सूचना दी गयी है कि राम पुष्पकविमान से अयोध्या के लिए चल पड़े (रघुपतिरपि जातवेदो विशुद्धां प्रगृह्य प्रियां .... भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम्, १२/१०४)।

त्रयोदश सर्ग में कवि ने राम की यात्रा का वर्णन किया। लंका से अयोध्या लौटते समय राम सीता को मार्ग के पवित्र और रमणीय स्थलों का परिचय देते जाते हैं। इस प्रसङ्ग में दो वर्णन बहुत भव्य हैं-समुद्र-वर्णन (२-१७) तथा गङ्गा-यमुना का संगम-वर्णन (५४-५७)। संगम के वर्णन में मालोपमालङ्कार का विस्तृत प्रयोग करते हुए राम सीता को कहते हैं- पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः। सर्ग के अन्त में सभी भाइयों का समागम सूचित किया गया है। चतुर्दश सर्ग राम के राज्याभिषेक तथा सीता-परित्याग की घटनाओं से सम्बद्ध है। राम 'लोकापवादो बलवान्मतो मे' (४०) कहकर निरपराध सीता को छलपूर्वक निर्वासित कर देते हैं। सीता लक्ष्मण को कहती है-

> वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
> मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ (६१)

सीता वाल्मीकि के आश्रम में पहुँच गयी। उधर लक्ष्मण से सीता के सन्देश को सुनकर राम रोने लगे (बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः, ८४)। उन्होंने सीता की स्वर्णमूर्ति को अपने साथ बैठाकर अश्वमेध-यज्ञ किया।

पञ्चदश सर्ग में शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर के वध का, सीता के दो पुत्र (कुश और लव) के होने का, शम्बूक-वध का, राम के यज्ञ में कुश और लव द्वारा रामायण-गान का, सीता के पाताल-प्रवेश का एवं राम द्वारा कुश को कुशावती और लव को शरावती राज्य देकर स्वयं स्वर्ग चले जाने का वर्णन है। इस प्रकार रघुवंश में रामावतार की कथा कुछ विस्तार से दी गयी है (सर्ग १०-१५)। **षोडश सर्ग** के आरम्भ में कुश के राजप्रमुख होने और अयोध्या नगरी की दुर्दशा का वर्णन है। कुश ने कुशावती को छोड़कर पुनः अयोध्या को राजधानी बना लिया जिससे उस नगरी की शोभा हो गयी। इस एक ही सर्ग में नगर के उजड़ने और बसने का सुन्दर वर्णन है। कुश के जल-विहार तथा आभूषण के खो जाने का भी इसमें चित्रण है। नागराज कुमुद अपनी बहन कुमुद्वती को कुश के लिए समर्पित करते हैं। कुश की अनेक रानियाँ होने पर भी कुमुद्वती से उनका विवाह होता है।

सप्तदश सर्ग में कुमुद्वती से अतिथि नामक पुत्र होने का वर्णन है। युद्ध में कुश के मारे जाने पर कुमुद्वती सती हो गयी, अतिथि का राज्याभिषेक हुआ। उनके राज्यकाल का आदर्शमय वर्णन इस सर्ग में कवि ने किया है। **अष्टादश सर्ग** में अतिथि के बाद की अनेक पीढ़ियों के राजाओं का संक्षिप्त वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। वे हैं- निषध, नल, नभ, पुण्डरीक, क्षेमधन्वा, देवानीक, अहीनगु, पारियात्र, शिल, उन्नाभ, वज्रणाभ, शंखण, व्युषिताश्व, विश्वसह, हिरण्यनाभ, कौसल्य, ब्रह्मिष्ठ, पुत्र, पुष्य, ध्रुवसन्धि तथा सुदर्शन। सुदर्शन का विवाह अनेक राजकुमारियों से कराया गया था। **अन्तिम** (एकोनविंश) **सर्ग** में राजा सुदर्शन के पुत्र अग्निवर्ण की कामुकता का चित्रण है, वह कभी प्रजा को दर्शन नहीं देता था। अनेक रानियों के प्रति प्रेम करने से उसे क्षयरोग हो गया। वैद्य भी उसे बचा न सके। मन्त्रियों ने गुप्त रूप से उपवन में ही उसे जला दिया-

> **तं गृहोपवन एव संगताः, पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।**
> **रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः, संभृते शिखिनि गूढमादधुः॥** (५४)

उसकी गर्भवती पटरानी को सिंहासन पर बैठाया गया। इस प्रकार रघुवंश की समाप्ति हुई है।

रघुवंश में **महाकाव्य के लक्षण** घटित होते हैं क्योंकि इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध है, नायक के रूप में एकवंशीय अनेक राजा हैं जो अपने प्रजारञ्जक तथा आदर्शभूत गुणों के कारण प्रजा में लोकप्रिय हैं। एक नायक राम तो विष्णु के अवतार ही हैं क्योंकि देवताओं की प्रार्थना पर दाशरथि बनकर पृथ्वी में प्रकट होते हैं। रस की दृष्टि से कई विद्वानों ने इसमें वीर रस का प्राधान्य बताया है क्योंकि ये नायक युद्ध, धर्म, दान आदि की दृष्टि से वीर हैं, तदनुकूल कर्म करते हैं किन्तु कवि का मुख्य कथ्य संसार की असारता दिखाना है। सभी सूर्यवंशी राजा मोक्ष की प्राप्ति के लिए उत्सुक रहते हैं; कोई वन जाते हैं, कोई योग-साधना करते हैं, जीवन के चतुर्वर्ग को पाकर ही रहते हैं। अग्निवर्ण के वर्णन के द्वारा कवि ने असारता का प्रतिपादन विशेष रूप से किया है। अतः राजाओं के वर्णन में कवि का यथार्थ और आदर्श दोनों पर ध्यान रखना यह अंकित करता है कि कल्हण (राजतरङ्गिणी) के समान अनेक नरेशों के चित्रण में कवि का मुख्य उद्देश्य शान्तरस का उद्भावन है जिसके अङ्ग के रूप में वीररस (रघु की दिग्विजय, राम की विजय), शृङ्गाररस (अज और इन्दुमती का प्रेम, अग्निवर्ण का अन्तःपुर-वर्णन), करुणरस (अजविलाप, सीता-परित्याग) आदि हैं।

महाकाव्योचित अनेक वर्णन भी इसमें औचित्य की मर्यादा के अनुसार आये हैं। दिलीप की गोसेवा (सर्ग-२), दिग्विजयवर्णन (सर्ग-४), स्वयंवर (सर्ग-६), वसन्तवर्णन (सर्ग-९), विष्णुस्तुति (सर्ग-१०), समुद्रवर्णन (सर्ग-१३), नगरवर्णन (सर्ग-१६), अन्तःपुर विहार (सर्ग-१९) आदि संयम-पूर्वक प्रतिपादित हैं। कालिदास की रसमयी पद्धति में समस्त वर्णन रस के सहायक हैं, उद्वेजकता उनमें कहीं नहीं है। यद्यपि इस महाकाव्य में सूर्यवंश की ३० पीढ़ियों के राजाओं का वर्णन है तथापि घटनाओं को सजाने में कवि ने अपनी सुरुचि का ऐसा भव्य प्रदर्शन किया है कि कहीं भी असंगति नहीं प्रतीत होती। लंका से अयोध्या की यात्रा का वर्णन पूरे एक सर्ग में हुआ है तो निषध से लेकर सुदर्शन तक की २१ पीढ़ियों के राजाओं के वर्णन में भी एक सर्ग को पर्याप्त समझा गया है। न यात्रा-वर्णन वाले सर्ग में वैरस्य की अनुभूति होती है और न ही कई पीढ़ियों के वर्णन वाले सर्ग में कोई त्वरा प्रतीत होती है। पूरे काव्य को पढ़ते हुए कहीं रिक्त स्थान का या निरर्थक किये जा रहे वर्णन का आभास नहीं मिलता।

कालिदास का काव्यगत वैशिष्ट्य

कालिदास के इन दोनों महाकाव्यों के आधार पर उनकी काव्यशास्त्रीय विशिष्टताओं का अवलोकन किया जा सकता है। उन्हें केवल प्रशंसा के लिए कविकुलगुरु, कविताकामिनीविलास या कनिष्ठिकाधिष्ठित नहीं कहा गया है। भारतीय संस्कृति के प्रति गहन निष्ठा रखने वाले कवि ने आनन्द को जीवन-दर्शन मानकर इसके साधन के रूप में काव्य-रचना की। इसी आनन्द को उन्होंने दोनों महाकाव्यों में विस्तार प्रदान किया। शब्दों के मिथ्याडम्बर में न जाकर उन्होंने प्रसाद गुण से पूर्ण ललित पदावली का निवेश किया जो **'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः'** (सूखी लकड़ी को शीघ्र पकड़ने वाली अग्नि के समान जो गुण चित्त को सहसा व्याप्त कर ले वही प्रसाद है) के नियम से अकस्मात् हृदय को आवर्जित कर लेती है। उनकी कविता-शैली में समासों का अल्पत्व, पदों का समुचित स्थान पर निवेश, अनुप्रास न रहने पर भी अनुपम नाद-सौन्दर्य एवं भावों का सहसा स्फुरण- ये विशिष्ट गुण तो आपाततः (बहिरङ्ग दृष्टि से) ही प्रकट होते हैं। इन गुणों के लिए उदाहरण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं, किसी पद्य को लिया जा सकता है। जैसे-

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं, नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥[1]

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः, पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना, न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥[2]

प्रथम उद्धरण में सिंह राजा दिलीप को एक साधारण गाय के लिए प्राणत्याग न करने का परामर्श देता है तो द्वितीय उद्धरण में ब्रह्मचारी के वेश में आये हुए शिव तपस्विनी पार्वती को तपस्या से विरत कर रहे हैं। प्रसङ्ग समझने पर भाव का सौन्दर्य अपनी प्रतिभा के अनुसार सरलता से ग्रहण किया जा सकता है, शब्द की सजावट और छन्द का माधुर्य पाठक को इन्हें गाने के लिए विवश कर देंगे।

---

१. रघुवंश २/४७। २. कुमारसम्भव ५/४५।

ब्रह्मा तथा विष्णु की स्तुतियों में दर्शन की गम्भीर वीथियों में विचरण करके भी कालिदास भक्ति की स्रोतस्विनी में भक्तों को अवगाहन का निमन्त्रण देते प्रतीत होते हैं-

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥[1]

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥[2]

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥[3]

कालिदास की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से जो शब्दालंकार आ जाते हैं, वही पाये जाते हैं। यमक या अनुप्रास भरने का पृथक् प्रयास कवि ने कहीं नहीं किया। जैसे-

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते, जायाप्रतिग्राहित-गन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां, यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥[4]

इसमें पकार का प्राचुर्य रखकर भी 'पत्नी-प्रतिग्राहित' नहीं कहा; पुनः ''धनो धेनु'' में भी अनुप्रास है।

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी, वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गाद्, उद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः॥[5]

भाषा के सौन्दर्य का निदर्शन रघुवंश के नवम सर्ग में स्वाभाविक यमक के निवेश में विशेष रूप से मिलता है-**यमवतामवतां च धुरिस्थितः** (१), **शमरतेऽमरतेजसि पार्थिव** (४), **तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ, न न महीनमहीनपराक्रमम्** (५), **तमुदयाय न वा नवयौवना, प्रियतमा यतमानमपाहरत्** (७) इत्यादि। आरम्भ से लेकर ५४ पद्यों में यह यमक-प्रयोग अबाध-रूप से चलता रहा है।

व्यञ्जना द्वारा भावों की अभिव्यक्ति में कालिदास अतुलनीय हैं। ध्वनिकार ने कुमारसम्भव को इस दृष्टि से बहुत महत्त्व दिया है। पार्वती की शालीनता, संकोच एवं शिव से विवाह किये जाने की मौन स्वीकृति को इस पद्य में अत्यधिक कुशलता से कवि ने अभिव्यक्त किया है-

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ (कुमारसम्भव ६/८४)

देवर्षि अङ्गिरा इस प्रकार जब बोल रहे थे तब पार्वती अपने पिता (हिमालय) के पास मुँह नीचा करके (संकोचपूर्वक) बैठी खिलौने के रूप में लिये गये कमल की पंखुड़ियों को गिन रही थी। यहाँ वाच्यार्थ से अधिक व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार है।

---

१. कुमारसम्भव २/१३। २. कुमारसम्भव २/१५। ३. रघुवंश १०/२४।
४. रघुवंश २/१ 'पत्नी' के स्थान पर 'जाया' का प्रयोग कवि की शब्द-साधना (शब्दपाक) का परिचायक है। ५. रघुवंश २/३०

हिमालय के घर में आकाश से उतरते हुए सप्तर्षि-गण के वेग की व्यञ्जना कालिदास ने इसी प्रसङ्ग में की है-

ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुख-द्वाःस्थ-वीक्षिताः।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानल - निश्चलैः॥ (कुमार. ६/४८)

अर्थात् चित्र में अङ्कित अग्नि की स्थिर लपटों के समान अपने (निश्चल) जटा-भार को लिये हुए वे ऋषि-गण बड़े वेग से हिमालय के भवन में उतरे; द्वाररक्षक लोग उन्मुख होकर उन्हें देखते रहे। उपमान के रूप में चित्राङ्कित अग्नि की ऊपर उठती लपटों का उल्लेख है। ये लपटें स्थिर हैं। ऋषिगण ऐसे वेग से आ रहे थे कि उनकी जटाएँ न केवल ऊपर की ओर सीधी खड़ी थीं, अपितु निश्चल भी थीं। ऊपर से नीचे उतरने के अत्यधिक वेग में जटाओं की निश्चलता अद्भुत कल्पनाशक्ति, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का परिचय देती है। अल्पवेग में जटाएँ हिल-डुल सकती थीं।

व्यञ्जना की परिणति **रस-परिपाक** में होती है। कालिदास रससिद्ध कवि हैं। रस की आवश्यकता के अनुरूप ही शब्दार्थ-प्रयोग करने का कौशल उनकी प्रतिभा का अविभाज्य अङ्ग है। उनका प्रिय रस शृङ्गार है (शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु)। सम्भोग शृङ्गार का वर्णन कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग तथा रघुवंश के अन्तिम सर्ग में मुक्त-रूप से मिलता है-

चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम्।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम्॥[1]

कण्ठसक्त-मृदु-बाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम्॥[2]

करुण-रस के उद्भावन में कुमारसम्भव का रतिविलाप और रघुवंश का अजविलाप परस्पर विरुद्ध धरातल पर रहकर भी अत्यन्त द्रावक हैं। सीता का निर्वासन-प्रसङ्ग भी अत्यन्त कारुणिक है। अजविलाप का एक पद्य इस प्रकार है-

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥[3]

'आज मेरा धैर्य छूट गया, सारा आनन्द जाता रहा, गाना-बजाना समाप्त हो गया, ऋतुएँ फीकी पड़ गयीं, पहनना-ओढ़ना निरर्थक हो गया और शय्या भी सूनी हो गयी।' इसी प्रकार रति के विलाप के क्रम में पद्य है-

शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति, प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥[4]

वीररस के प्रयोग में कालिदास पौराणिक अनुष्टुप्-छन्द का आश्रय लेते हैं। रघु की दिग्विजय का प्रसङ्ग हो या राम द्वारा रावण के मारे जाने का- सर्वत्र अपनी स्वाभाविक वैदर्भी शैली में कवि अत्यन्त संक्षेप में प्रतिपाद्य की स्थापना करते हैं। राम-रावण के बीच संग्राम का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं-

---

१. कुमारसम्भव ८/८। २. रघुवंश १९/२९। ३. रघुवंश ८/६६। ४. कुमारसम्भव ४/३३।

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद् द्वयोरपि।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव॥[1]

अलङ्कारों का प्रयोग कालिदास उतना ही करते हैं जितना रस-परिपाक के लिए उद्वेजक न हो, स्वाभाविक रूप से वे आ जायें और जिनके लिए पृथक् प्रयास करना न पड़े (अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य:)। उनकी रचनाओं में अनायास आनेवाले अलङ्कारों में उपमा का व्यापक प्रयोग है; अन्य अलङ्कार हैं- रूपक, अतिशयोक्ति, दीपक, व्यतिरेक, विभावना, निदर्शना, दृष्टान्त, विरोधाभास, परिणाम, यमक आदि। केवल उक्तिवैचित्र्य और पाण्डित्य का प्रदर्शन करने वाले अलङ्कार कालिदास की कृतियों में नहीं हैं।

अर्थान्तरन्यास के द्वारा कालिदास ने अपने काव्यों को विभूषित किया है, इससे सामान्य उक्तियाँ उनके द्वारा बहुधा प्रयुक्त हैं जैसे-

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो: किरणोष्विवाङ्क:॥[2]

'अनन्त रत्नों को उत्पन्न करने वाले हिमालय में एक दोष हिम हुआ तो क्या हुआ? उसकी शोभा नष्ट नहीं हुई। गुणों के समूह में एक दोष वैसे ही छिप जाता है जैसे चन्द्र-किरणों में उसका कलङ्क।' कुछ अन्य उदाहरण हैं- क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चै:शिरसां सतीव (कुमार. १/१२), विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा: (कुमार. १/५९), प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु (कुमार. ३/१), आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्ना: समाधिभेदप्रभवो भवन्ति (कुमार. ३/६३), प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता (कुमार. ५/१),न धर्मवृद्धेषु वय: समीक्ष्यते (कुमार. ५/१६), शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् (कुमार. ५/३३), न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् (कुमार. ५/४५), क्लेश: फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते (कुमार. ५/८६), वृत्तं हि महितं सताम् (कुमार. ६/१२), क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् (कुमार. ६/१३), स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेष: (कुमार. ७/२२), प्रतिबध्नाति हि श्रेय: पूज्यपूजाव्यतिक्रम: (रघु. १/७९), क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति (रघु. ३/२९), पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते (रघु. ३/६२), भिन्नरुचिर्हि लोक: (रघु. ६/३०), विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया (रघु. ८/४६), परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् (रघु. ८/८५), तेजसां हि न वय: समीक्ष्यते (रघु. ११/१), अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभव: (रघु. १२/३३) इत्यादि। इन सामान्य उक्तियों में कालिदास के जीवन-दर्शन की झलक अच्छी तरह मिलती है।

अतिशयोक्ति अलङ्कार का प्रयोग कालिदास ने निम्नांकित पद्य में असम्बन्ध में सम्बन्ध का निरूपण करते हुए किया है-

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यन्तरुच: स्मितस्य॥
(कुमार. १/४४)

अर्थात् पार्वती के ताम्रवर्ण ओष्ठों पर छाये शुभ्र स्मित (मुस्कुराहट) की तुलना तभी हो सकती

१. रघुवंश १२/९३। २. कुमारसम्भव १/३।

है यदि (लाल) किसलय पर श्वेत पुष्प खिले या मूँगे पर मोती रखा जाये। उपमान की अपेक्षा उपमेय की श्रेष्ठता के रूप में व्यतिरेक अलङ्कार[1] का प्रयोग पार्वती के मुख के वर्णन में कवि ने किया है जो चन्द्र और कमल दोनों से बढ़कर है क्योंकि चन्द्र में कमल के गुण नहीं है और कमल में चन्द्र के गुण नहीं-

> चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते, पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
> उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला, द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥
> (कुमार. १/४३)

सम्भावना के रूप में उत्प्रेक्षा अलङ्कार का प्रयोग कुमारसम्भव के उसी स्थल में पार्वती की सामान्य सुन्दरता दिखाने के लिए कवि ने किया है। ब्रह्मा ने मानो सारे उपमान-पदार्थों को पार्वती के विभिन्न अङ्गों में सजाकर पृथ्वीमात्र की सारी सुन्दरता को एक साथ उपस्थित देखने की इच्छा से उसकी रचना की थी-

> सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
> सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ-सौन्दर्य-दिदृक्षयेव॥
> (कुमार. १/४९)

इसी प्रकार विरोधाभास के सुन्दर प्रयोग ब्रह्मा तथा विष्णु की स्तुतियों में किये गये हैं जैसे-

> जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
> जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥ (कुमार. २/९)

बिना पर्याप्त कारण के कार्य की समुत्पत्ति के रूप में होने वाले विभावनालङ्कार का निम्नलिखित उदाहरण हृदयावर्जक है-

> अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम्।
> अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे॥ (कुमार. ६/५४)

हिमालय ने सप्तर्षियों को कहा कि आपका अकस्मात् प्राप्त दर्शन मुझे ऐसा लग रहा कि बिना मेघ के आये ही वृष्टि हो गयी हो या बिना फूल निकले ही फल लग गये हों।

उपमान और उपमेय के अभेददर्शन के रूप में रूपकालङ्कार का कालिदास ने कुमारसम्भव के इस पद्य में मनोरम निवेश किया है। लता-रूपी वधुओं से वृक्ष-रूपी पुरुषों ने कोमल शाखा-रूपी भुजाओं के आलिङ्गनों की प्राप्ति की-

> पर्याप्त-पुष्पस्तबक-स्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठ-मनोहराभ्यः।
> लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखा-भुजबन्धनानि॥
> (कुमार. ३/३९)

---

१. इस अलङ्कार का एक रोचक प्रयोग ध्वनि के रूप में रघुवंश में रघु की दिग्विजय के प्रसङ्ग में हुआ है जिसमें रघु को सूर्य से बढ़कर दिखाया गया है-

> दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
> तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (रघु. ४/४९)

उपमालङ्कार के प्रयोग में कालिदास की विशिष्टता के कारण लोकोक्ति चल पड़ी है- **उपमा कालिदासस्य।** उनकी अभिव्यक्ति के शृङ्गार के रूप में उपमाएँ यत्र-तत्र विन्यस्त हैं। उपमा का उद्देश्य है कवि की कल्पना के नेत्रों के समक्ष विद्यमान वस्तुस्थिति को पाठकों के लिए सुगम बनाना। कवि के लिए जो वस्तुस्थिति परिचित है वह पाठकों को अपरिचित है। अतएव पाठकों के लिए सामान्य रूप से सुगम विषयों को लाकर कवि अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल होता है, पाठक उन विषयों से कवि द्वारा प्रस्तुत विषयों की कल्पना कर लेते हैं।

कालिदास ने सर्वाधिक प्रयोग इसी अलङ्कार का किया है। उपमा के साथ सादृश्य-मूलक सभी अलङ्कारों का ग्रहण हो जाता है जिनमें अप्रस्तुत-विषय की योजना होती है। यहाँ कवि-द्वारा प्रयुक्त कुछ उपमाओं का उक्त महाकाव्यों के सन्दर्भ में अवलोकन कर सकते हैं। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में स्वयंवर में आये हुए राजाओं के समक्ष वरणार्थ इन्दुमती संचरण करती है; जिस राजा के समक्ष पहुँचती है उसका मुख आशा के आलोक से दीप्त होता है किन्तु आगे बढ़ जाने पर उस राजा का मुख विवर्ण (फीका) हो जाता है। इन्दुमती की तुलना संचारिणी दीपशिखा से की गयी है। राजमार्ग पर अवस्थित जिस भवन के आगे से दीपशिखा निकल जाती उस भवन का रंग उड़ जाता है, वहाँ अन्धकार हो जाता है-

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ, यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे, विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
(रघुवंश ६/६७)

कुमारसम्भव में पार्वती के पास पूर्वजन्म की विद्याओं के स्वयम् आ जाने की उपमा देते हुए कवि ने कहा है कि जैसे शरत्काल में हंस गंगा में आ जाते हैं या रात में जड़ी-बूटियों में अपनी चमक आ जाती है उसी प्रकार तीव्र बुद्धि वाली पार्वती ने जैसे ही पढ़ना शुरू किया कि उसके पूर्वजन्म की विद्याएँ चली आयीं-

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गा महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपवेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः॥
(कुमार. १/३०)

रघुवंश में सुदक्षिणा और दिलीप के बीच नन्दिनी के विराजमान होने की तुलना की गयी है- **दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या** (रघु. २/२०) अर्थात् जैसे दिन और रात्रि के बीच सन्ध्या विद्यमान हो। कुमारसम्भव में कामदेव के वाण चलाने पर शिव का धैर्य वैसे ही टूट गया जैसे चन्द्रोदय होने पर सागर की स्थिति होती है, उसमें तरङ्गें उठने लगती हैं-

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥
(कुमार. ३/६७)

रघुवंश-महाकाव्य उपमाओं का विपुल भाण्डागार है जिसमें काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक, व्याकरणगत और वेदगत उपमाएँ परोसी गयी हैं। इसके आरम्भ से ही उपमाओं का आगमन होने लगता है- **वागर्थाविव सम्पृक्तौ ..... पार्वतीपरमेश्वरौ** (१/१)। पार्वती तथा शिव परस्पर वाणी

और अर्थ के समान संयुक्त हैं, नाम मात्र के लिए पृथक् है। मनु सभी राजाओं में उसी प्रकार प्रथम थे जैसे ओङ्कार वेदमन्त्रों में प्रथम है- **आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव** (१/११)। दिलीप की योजनाएँ फल से ही जानी जाती थीं जैसे पुरातन संस्कारों को कार्य देखकर जान पाते हैं- **फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव** (१/२०)। यहाँ दार्शनिक उपमान है। एक अन्य दार्शनिक उपमा में कहा गया है कि जैसे सांख्य-दर्शन में बुद्धि (महत्तत्त्व) का कारण अव्यक्त (मूल प्रकृति) को कहा गया है वैसे ही सरयू-नदी का उद्‌गम मानसरोवर (ब्राह्मं सरः) से हुआ है-**ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति** (१३/६०)।

नन्दिनी (गौ) के मार्ग पर सुदक्षिणा (दिलीप की पत्नी) उसी प्रकार चल रही थी जिस प्रकार श्रुति के अर्थ पर स्मृति चलती है। यहाँ लिङ्ग का भी ध्यान रखा गया है-**मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्** (रघु. २/२)। व्याकरण से सम्बद्ध दो उपमाएँ इस प्रकार हैं-

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्‌क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्॥ (१२/५८)

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥ (१५/७)

इन शास्त्रीय उपमाओं से कहीं बढ़कर कालिदास ने लौकिक उपमाएँ दी हैं जो पाठक का हृदय आवर्जित कर लेती हैं। शरभङ्ग ऋषि के आश्रम के वृक्ष उनके पुत्रों के समान हैं क्योंकि पिता के न रहने पर पुत्र जिस प्रकार अतिथियों की सेवा करते हैं उसी प्रकार ऋषि के अभाव में अतिथि सेवा का भार वृक्ष सँभालते हैं-

तस्यातिथीनामधुना सपर्या, स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु। (१३/४६)

चित्रकूट पर्वत के चारों ओर मन्दाकिनी पृथ्वी (नायिका) के गले में मुक्ता की माला-जैसी लग रही है-

मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः। (१३/४८)

गङ्गा की मुख्य धारा यमुना की कृष्णाभ तरङ्गों से इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो रही है कि उसकी उपमा कालिदास ने चार पद्यों में दी है (१३/५४-७)। एक पद्य इस प्रकार है-

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥ (१३/५४)

कालिदास ने छन्दःप्रयोग की दृष्टि से गेय छन्दों का अधिक उपयोग किया है। उनका सर्वाधिक प्रिय उपजाति छन्द है जो रघुवंश के नौ सर्गों में (२, ५, ६, ७, १३, १४, १६, १८ तथा १९) मुख्य छन्द है, कुमारसम्भव में भी सर्ग १, ३, ७ का यह मुख्य छन्द है। दूसरा स्थान उन्होंने पौराणिक छन्द अनुष्टुप् (श्लोक) छन्द को दिया है। रघुवंश में छह सर्गों (१, ४, १०, १२, १५ तथा १७) का यह मुख्य छन्द है। कुमारसम्भव के द्वितीय तथा षष्ठ सर्गों में भी यह छन्द मुख्यतः प्रयुक्त है। सर्ग भर में प्रयुक्त अन्य छन्दों में वंशस्थ (रघु. ३ तथा कुमार. ५), रथोद्धता (रघु. ११,

कुमार. ८), वैतालीय या वियोगिनी (रघु. ८, कुमार. ४) तथा द्रुतविलम्बित (रघु. ९) हैं। सर्गान्त में कवि ने मालिनी, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका, हरिणी, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी और महामालिनी छन्दों का प्रयोग किया है। रघुवंश के नवम सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग है।[1]

---

१. कालिदास के काव्यगत वैशिष्ट्य के अन्य पक्षों को गीतिकाव्य तथा रूपक के प्रसङ्ग में विवेचित किया जायेगा।

अध्याय-११

विकास काल के महाकाव्य

(१) अश्वघोष

जीवनवृत्त-बौद्ध महाकवि अश्वघोष महान् धर्मप्रचारक, दार्शनिक तथा उच्चकोटि के विद्वान् भी थे। इनकी रचनाओं के अन्त में यह वाक्य मिलता है-**आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्**। इससे यह स्पष्ट होता है कि इनकी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' था। ये साकेत (अयोध्याक्षेत्र) के निवासी थे। ये बौद्ध भिक्षु तथा आचार्य थे जिन्हें भदन्त, महाकवि और महावादी (महान शास्त्रार्थी) भी कहा जाता था। यद्यपि अश्वघोष का सम्बन्ध संस्कृत की पुरातन परम्परा से हटकर क्रान्तिकारी बौद्धधर्म के साथ था, तथापि संस्कृत-कवियों के समान इन्होंने अपने को आत्म-प्रकाशन से दूर रखा है। इसीलिए इनके विषय में उक्त अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त कोई अन्य स्पष्ट प्रमाण नहीं है। बाह्य साक्ष्यों में संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री नगण्य है; अतएव इनके विषय में अधिकांशतः चीनी और तिब्बती साहित्य से ही तथ्य प्राप्त होते हैं। बौद्ध साहित्य में इनका नाम भक्ति और श्रद्धा से लिया गया है, जिसके फलस्वरूप इनके साथ अनेक किंवदन्तियाँ भी जुड़ गयी हैं।[१]

अश्वघोष मूल रूप से साकेत के निवासी थे किन्तु सम्राट् कनिष्क के सम्पर्क के कारण ये पुरुषपुर (पेशावर) में रहने लगे थे। उनकी माता का नाम मिलता है, पिता का नहीं। इस पर विमल चरण लाहा ने अनुमान लगाया है कि उस समय ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परिवारों में मातृसत्ता का प्रचलन था। किन्तु वस्तुतः अश्वघोष माता के प्रति स्नेहातिशय के कारण 'सुवर्णाक्षीपुत्र' कहलाना पसन्द करते थे। अश्वघोष को सभी विद्वानों ने मूलतः ब्राह्मण माना है। डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य का मत है कि बौद्ध भिक्षु बनने के पूर्व ये शैव मतानुयायी थे। इस महाकवि ने अपने ब्राह्मण होने का परिचय अपनी कृतियों में कई स्थलों पर दिया है। यज्ञभूमि का निर्माण, यज्ञ में मन्त्रपाठपूर्वक आहुति देना इत्यादि विषयों का सूक्ष्म वर्णन इन्होंने किया है। आरम्भ में ब्राह्मण-धर्म से सम्बद्ध विभिन्न ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन इन्होंने किया था, बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने पर उससे सम्बद्ध ग्रन्थों का भी पारायण किया एवं धर्म-प्रचारक बने। 'राष्ट्रपालचरित' (अश्वघोष-रचित ग्रन्थ) के चीनी संस्करण से ज्ञात होता है कि अश्वघोष सामान्य व्यक्ति का परिधान रखकर किसी वाद्य-यन्त्र का प्रयोग करते हुए नास्तिकों को बौद्धधर्म में दीक्षित करते थे।[२] इस कार्य में वे तर्क का बहुत उपयोग करते थे। उनके ज्ञान की परिधि व्यापक थी जिसकी प्रशंसा हुएनत्सांग तथा इत्सिंग ने की है। बौद्धधर्म के त्रियानों (श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान या महायान) के अतिरिक्त वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों का उन्होंने सम्यक् अध्ययन

---

१. अश्वघोष पर दो अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ हैं- (I) **Aśvaghoṣa** by B. C. Law, Calcutta (1946) (ii) **Aśvaghoṣa, A Critical Study** by B. Bhattacharya, Santiniketan (1976)

2. Dr. **Bhattacharya-Aśvaghoṣa, A Critical Study**, p.10

किया था जिससे अपनी कृतियों में अनेक आख्यान उन्होंने उद्धृत किये हैं। भगवद्गीता का उनके 'सौन्दरनन्द' काव्य पर प्रभूत प्रभाव है। कर्मयोग (सौन्दरनन्द १७/१९), अभ्यासयोग (१६/२०), इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य: (१३/३०) आदि गीता से लिये गये हैं। रामायण से अश्वघोष ने भाषा, भाव, छन्द, शैली, प्रकृति-वर्णन आदि लिये हैं।

अश्वघोष को बौद्धधर्म में दीक्षित करने वाले बौद्ध आचार्य के विषय में कुछ मतभेद है। डॉ० लाहा ने कहा है कि स्थविर पार्श्व अथवा उनके शिष्य पुण्ययश ने अश्वघोष को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था।[1] अनुमान यह होता है कि ये तीनों समकालिक थे। पार्श्व बहुत वृद्ध थे, अतएव अश्वघोष को उनकी सेवा का अधिक अवसर नहीं मिला। उनके शिष्य पुण्ययश को ही वे अपना गुरु मानने लगे होंगे। अश्वघोष के ग्रन्थों से अनुमान किया गया है कि वे युवावस्था में विलासपूर्ण जीवन-यापन करते होंगे। इसीलिए नन्द के विषय में उन्होंने कहा है कि जो पहले कामासक्त था, वही अब मुक्ति की चर्चा करता है।[2] इस दृष्टि से अश्वघोष के दीक्षा-गुरु का महत्त्व है कि उन्होंने एक विद्वान् के विलासपूर्ण जीवन को वैराग्य में परिणत कर दिया।

अश्वघोष के धर्म को लेकर भी विवाद है। कुछ विद्वान् उन्हें हीनयानी और कुछ महायानी सिद्ध करते हैं। उनकी रचनाओं में दोनों सम्प्रदायों के लक्षण मिलते हैं, यही इस विवाद का कारण है। वैशाली की द्वितीय संगीति में (बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद) बौद्धधर्म स्थविरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों में विभक्त हो गया था।[3] स्थविरवाद (हीनयान) सम्प्रदाय के लोग बुद्ध के मानवीय स्वरूप के रक्षक थे, वे बुद्ध की प्रतिमा नहीं पूजते थे। अशोक के समय भी बौद्धों में मूर्तिपूजा नहीं थी।[4] ईस्वी सन् के कुछ पूर्व बौद्धों में करुणामय देवताओं की पूजा आरम्भ हुई (जैसे-शाक्यमुनि, पूर्वबुद्ध, अनागत बुद्ध, मैत्रेय बोधिसत्त्व आदि)। भक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा, बुद्ध लोकोत्तर हो गये। यह कल्पना महासांघिकों में हुई। यही परिवर्तन क्रमश: महायान के रूप में आ गया। कश्मीर के कुण्डनवन विहार में कुषाण-नरेश कनिष्क के संरक्षण में चतुर्थ बौद्ध संगीति सम्पन्न हुई जिसके अध्यक्ष वसुमित्र थे। अश्वघोष इसके उपाध्यक्ष बने थे।[5] इस संगीति का बौद्ध धर्म के इतिहास में बड़ा महत्त्व है क्योंकि इसके बाद ही महायान का प्रसार बड़े वेग से हुआ।

यह एक सत्य है कि अश्वघोष सर्वास्तिवादी आचार्य पार्श्व के शिष्य थे। तदनुसार इनकी दीक्षा हीनयान-सम्प्रदाय में ही हुई थी। किन्तु अपने विचारों को प्रगतिशील बनाकर इन्होंने महायान के प्रवर्तन में बहुमूल्य योगदान किया था। इसका प्रमाण इनकी कृतियों में कई स्थानों पर मिलता है। सौन्दरनन्द में राजा शुद्धोदन के कुल में जन्म होने के निश्चय के साथ बोधिसत्त्व के पृथ्वी पर उतरने का उल्लेख है (२/४८)। बुद्धचरित (१/९) में मायादेवी के पार्श्व से लोक-कल्याणार्थ

---

१. Dr. B. C. Law- **Aśvaghoṣa**, p. 6.

२. सौन्दरनन्द १८/५८ अहो बताश्चर्यमिदं विमुक्तये
करोति रागी यदयं कथामिति।

३. राहुल सांकृत्यायन-**पुरातत्त्व-निबन्धावली**, पृ० १२१।

४. आचार्य नरेन्द्रदेव-**बौद्धधर्म-दर्शन**, पृ० १०३।

५. H. Kern- **Manual of Indian Buddhism**, p. 121.

बुद्ध के जन्म का वर्णन है। महायान मत के अनुसार ही अश्वघोष बुद्ध को स्वयम्भू (बु. च. १६/६४), जगत्पति (बु. च. १६/६९), महायान-समाश्रित (बु. च. १६/७५) तथा सर्वधर्माधिप कहते हैं। इसी प्रसङ्ग में वे कहते हैं कि इस उत्कृष्ट महायान (बोधिसत्त्वयान) धर्म का सबके कल्याण के लिए सभी बुद्धों ने प्रचार किया है। हीनयान के अनुसार निर्वाण, अर्हत्त्व तथा बुद्धत्व का वर्णन करते हुए इन्होंने महायान के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का भी परिचय दिखाया है।

आधुनिक विद्वानों में कीथ[1] तथा विन्टरनित्स[2] का कथन है कि अश्वघोष पहले हीनयान की सर्वास्तिवादी शाखा को मानते थे किन्तु कालान्तर में बुद्ध की उद्धारक शक्ति के सिद्धान्त से प्रभावित होकर महायान-सम्प्रदाय की ओर उन्मुख हो गये। डॉ० जॉनस्टन इन्हें महासांघिकों में बहुश्रुतिक सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं।[3] डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का भी यही मत है। इन्हें महायानी मानने वाले अन्य विद्वानों में हरप्रसाद शास्त्री, नरेन्द्रदेव, राधाकृष्णन्, चन्द्रधर शर्मा, कृष्णमाचार्य आदि प्रमुख हैं। दूसरी ओर विमल चरण लाहा, राहुल सांकृत्यायन तथा हरिदत्त शास्त्री इन्हें सर्वास्तिवादी कहते हैं। सबसे अन्तिम तथा समन्वयवादी दृष्टिकोण डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य का है जिनके अनुसार अश्वघोष न तो कट्टर हीनयानी थे और न विकसित महायानी। दोनों यानों से तटस्थता के कारण उनकी अधिक प्रसिद्धि हुई।[4] वे किसी ऐसे हीनयानी उपनिकाय में थे जो क्रमश: महायान की ओर अग्रसर हो रहा था। उनके काव्यग्रन्थों में हीनयान के अन्तिम चरण और महायान के प्रारम्भिक चरण का समन्वय प्राप्त होता है। बुद्ध की भक्ति इन्हें महायान की ओर खींचती है तो नैतिक उपदेशों की व्यापकता इनके हीनयानी रूप का प्रकाशन करती है। इसीलिए इन्हें दोनों सम्प्रदायों में अभ्यर्हित माना गया है।

'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार अश्वघोष अस्सी वर्षों तक जीवित रहे थे। इस बात का समर्थन या खण्डन कहीं नहीं है। अत: 'स्वत: प्रमाण' मानकर इसे स्वीकार किया जा सकता है।[5]

रचनाएँ- अश्वघोष के नाम से अनेक रचनाएँ प्रचलित हैं जिनमें काव्य, दर्शन तथा धर्म-प्रचार-विषयक ग्रन्थ भी हैं। डॉ० लाहा ने इन सभी प्रचारित ग्रन्थों का लेखक एक ही अश्वघोष को नहीं माना है। कुछ रचनाएँ तो बहुत बाद की भी हैं। इनमें अश्वघोष की प्रमाणसिद्ध काव्यकृतियाँ चार हैं- (१) बुद्धचरित जो मूलत: २८ सर्गों का महाकाव्य था किन्तु अभी संस्कृत में अधूरा ही प्राप्त है, (२) सौन्दरनन्द- १८ सर्गों का पूर्णत: उपलब्ध संस्कृत महाकाव्य, (३) शारिपुत्रप्रकरण- नौ अङ्कों का रूपक जो अंशत: प्राप्त है तथा (४) राष्ट्रपालनाटक जो केवल चीनी भाषा में अनुवाद मात्र में सुरक्षित गेय नाटक है। इसके कुछ उद्धरण संस्कृत ग्रन्थों में मिलते हैं।

---

१. **कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद), पृ० ७०.

२. M. Winternitz- **History of Indian Literature** (Vol. II), p. 257.

३. E. H. Johnston- Intro. of Buddhacarita, p.31.

४. Bhattacharya- Aśvaghoṣa, A Critical Study, p. 13. (५) वहीं, पृ० १३।

अश्वघोष की प्रक्षिप्त रचनाओं के दो वर्ग हैं- (क) संस्कृत में प्राप्त (जिनका तिब्बती-चीनी अनुवाद प्राप्त या अप्राप्त है) तथा (ख) तिब्बती या चीनी या दोनों भाषाओं में केवल अनुवाद के रूप में उपलब्ध कृतियाँ। प्रथम वर्ग में **वज्रसूची** (जाति-प्रथा पर व्यंग्य करने वाला ग्रन्थ, ९७३-८१ ई० के बीच चीनी अनुवाद), गण्डीस्तोत्रगाथा (सुन्दर गेय काव्य, बुद्ध और संघ की स्तुति २९ पद्यों में), नैरात्म्यपरिपृच्छा (महायान तत्त्वमीमांसा का ग्रन्थ), त्रिदण्डमाला (भाषणकला की शिक्षा देने वाला ग्रन्थ, राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत के पोखंग मठ में प्राप्त) और शतपञ्चाशत्कस्तोत्र (वस्तुतः मातृचेट की रचना, तिब्बती अनुवाद में अश्वघोष रचित कहा जाना) हैं। द्वितीय वर्ग में १६ ग्रन्थ हैं जिनमें **महायान-श्रद्धोत्पादशास्त्र** प्रमुख है। यह कृति चीन और जापान में बहुत लोकप्रिय है। सुजुकी के अनुसार इसे परमार्थ नामक विद्वान् उज्जयिनी से चीन ले गया था। इस वर्ग में **सूत्रालंकार-शास्त्र** नामक ग्रन्थ भी है जिसका चीनी अनुवाद कुमारजीव (३४४-४१३ ई०) ने किया था। इसका फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित है (हूवर-कृत)। वस्तुतः ये रचनाएँ कवि अश्वघोष-कृत नहीं है।

अश्वघोष का समय- अश्वघोष सामान्य रूप से कुषाण-नरेश कनिष्क के समकालिक थे। कनिष्क तथा अश्वघोष के सम्बन्ध के विषय में कई कथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा में निर्दिष्ट है कि कनिष्क ने मगध-राज्य पर आक्रमण करके राजा के समक्ष दो माँगें रखीं- एक तो बुद्ध के भिक्षा-पात्र की और दूसरे कवि अश्वघोष को पुरुषपुर में ले जाने की। अत्यधिक कष्ट से मगधराज ने दोनों के विषय में सहमति दी।[1] तदनुसार अश्वघोष पाटलिपुत्र छोड़कर कनिष्क के साथ कश्मीर चले गये जहाँ बौद्ध धर्म की संगीति का संचालन भी उन्होंने किया। चीनी परम्परा में अश्वघोष को कनिष्क का आध्यात्मिक उपदेशक तथा चरक को उनका राजवैद्य कहा गया है।[2] बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द में सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन के व्यक्तित्व तथा शासन-प्रबन्ध के वर्णन में सम्राट् कनिष्क के व्यक्तित्व एवं राज्य-व्यवस्था की झाँकी अश्वघोष ने दी है।[3] शारिपुत्र-प्रकरण की पाण्डुलिपि से भी यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष कनिष्क के समकालिक थे।

कनिष्क का समय सिल्वाँ लेवी, ओल्डनबर्ग, फर्गूसन, रैप्सन आदि पाश्चात्य विद्वान् एवं रमेशचन्द्र मजूमदार, भगवतशरण उपाध्याय, जयचन्द्र विद्यालङ्कार आदि भारतीय विद्वान् प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में मानते हैं। वे ७८ ई० से प्रचलित शक-संवत् को भी कनिष्क के द्वारा ही आरम्भ किया गया बताते हैं। अतः अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ई० है।

बुद्धचरित- यह अश्वघोष-कृत २८ सर्गों का महाकाव्य है किन्तु पूरा ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। संस्कृत में प्रथम सर्ग के आरम्भिक कुछ श्लोक (सप्तम श्लोक तक) तथा चौदहवें सर्ग के ३२ वें श्लोक से ग्रन्थ के अन्त तक का भाग नहीं मिलता। चीनी और तिब्बती भाषा में पूरे महाकाव्य का अनुवाद सुरक्षित है जिनके आधार पर ई० एच. जॉनस्टन ने इसका अंग्रेजी

---

१. **Indian Antiquary (1903)**, p. 382 and Krishnamachariar- **History of Classical Sanskrit Literature**, p. 125

२. **Journal Asiatique (1896)**, p. 447.

३. सौन्दरनन्द २/७ तथा २०

अनुवाद करके उपलब्ध मूल भाग के सम्पादन एवं विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित कराया।[1] मूल भाग को संस्कृत में पूरा न देखकर अमृतानन्द नामक नेपाली पण्डित ने इसमें चार सर्ग नवीन रचना करके जोड़ दिये थे (सर्ग १४-१७)। इसी को 'बुद्धचरित' के रूप में १७ सर्गों का महाकाव्य मानकर ई. बी. कॉवेल ने १८९३ ई० में कैम्ब्रिज से प्रकाशित किया था। इस संस्करण के अन्तिम ४ सर्ग जब चीनी अनुवाद से नहीं मिले तब इस संस्करण की प्रामाणिकता पर सन्देह होने लगा। नेपाल-दरबार में सुरक्षित वंग-लिपि में १३०० ई० के आस-पास लिखित पाण्डुलिपि के आधार पर डॉ० जॉनस्टन ने अपना संस्करण प्रकाशित किया। इस पाण्डुलिपि का पता सर्वप्रथम महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लगाया था।

संस्कृत में प्राप्त बुद्धचरित बुद्ध के जन्म से लेकर बुद्धत्व की प्राप्ति तक का ही प्रतिपादन करता है। शेष भाग में धर्मचक्रप्रवर्तन से लेकर बुद्ध के महापरिनिर्वाण एवं अशोक के द्वारा स्तूप-निर्माण तक का वर्णन है। जॉनस्टन के द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद पर आश्रित हिन्दी रूपान्तर को आधार बनाकर जबलपुर के पं. रामचन्द्रदास शास्त्री ने सम्पूर्ण बुद्धचरित को संस्कृत में रूपान्तरित किया है।[2]

बुद्धचरित का चीनी अनुवाद (फो-शो-हिंग-त्सन-किंग) धर्मक्षेम नामक भारतीय भिक्षु ने ४१४ से ४२१ ई० के बीच किया था। यह अनुवाद चीनी त्रिपिटक के एक संस्करण (ताई-शो-इसाइक्यो) में प्राप्त है। यह अनुवाद मूल ग्रन्थ का स्वाधीन रूपान्तरण है क्योंकि काव्यात्मक अंशों का संक्षिप्त तथा दार्शनिक अंशों का विवरण-प्रधान अनुवाद इसमें किया गया है। इसलिए बुद्धचरित के भावगत सौन्दर्य का इससे अनुमान नहीं हो सकता। इसका **तिब्बती-अनुवाद** क्षितीन्द्रभद्र (अथवा महीन्द्रभद्र) एवं मतिराज के द्वारा सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० में हुआ था। यह अनुवाद नेपाल-दरबार वाली पाण्डुलिपि से सामञ्जस्य रखता है। इसमें श्लोकों की संख्याएँ भी निर्दिष्ट हैं, अतः आलोचनात्मक दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है।

इस महाकाव्य के संस्कृत में उपलब्ध भाग की सर्गानुसार कथा इस प्रकार है-सिद्धार्थ का जन्म (१), अन्तःपुर-विहार (२), रोगी तथा वृद्ध आदि को देखकर संवेग की उत्पत्ति (३), स्त्रियों द्वारा सिद्धार्थ को मोहने की चेष्टा तथा सिद्धार्थ द्वारा उनकी उपेक्षा (४), सिद्धार्थ का घर से अभिनिष्क्रमण (५), सिद्धार्थ को छोड़कर सारथि छन्दक का नगर आना (६), गौतम (सिद्धार्थ) का तपोवन-प्रवेश (७), अन्तःपुर की नारियों का विलाप (८), कुमार का अन्वेषण (९), बिम्बसार का आगमन (१०), काम की निन्दा (११), सिद्धार्थ का अराड ऋषि के आश्रम में जाना तथा धर्मोपदेश ग्रहण करना (१२), मार (कामदेव) का बुद्ध की तपस्या में विघ्नोत्पादन, दोनों का युद्ध तथा मार की पराजय (१३) एवं बुद्धत्व की प्राप्ति (१४)। चौदहवें सर्ग के प्रथम ३१ पद्य तक ही संस्कृत में बुद्धचरित मिला है जबकि इस सर्ग में अनुवादों में १०८ श्लोक हैं।

---

१. मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित। संस्कृत में उपलब्ध बुद्धचरित में प्रथम सर्ग के आरम्भिक सात श्लोक तथा २४ वें श्लोक के अन्तिम भाग से ४० वें श्लोक तक नष्ट हैं।

२. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से दो भागों में प्रकाशित। सम्पूर्ण बुद्धचरित का प्रथम हिन्दी रूपान्तर प्रो. सूर्यनारायण चौधरी द्वारा पूर्णिया से १९४३ ई० में प्रकाशित।

अनुवाद मात्र में प्राप्त सर्गों का कथानक इस प्रकार है- धर्मचक्रप्रवर्तन (१५), अनेक शिष्यों की दीक्षा (१६), महाशिष्यों की प्रव्रज्या (१७), अनाथपिण्डद की दीक्षा (१८), पिता-पुत्र-समागम (१९), जेतवन-स्वीकार (२०), प्रव्रज्या-स्रोत-वर्णन (२१), गौतम का आम्रपाली के उपवन में जाना (२२), आयु पर अधिकार करने के प्रकार का वर्णन (२३), लिच्छवियों पर गौतम की अनुकम्पा (२४), निर्वाण-पथ पर गौतम का अभियान (२५), महापरिनिर्वाण (२६), निर्वाण की प्रशंसा (२७) तथा धातु-विभाजन एवं स्तूपों का निर्माण (२८)।

मध्य एशिया में प्राप्त खण्डित पृष्ठों के आधार पर जर्मन विद्वान् एफ. वेलर ने बर्लिन से १९५३ ई० में एक पुस्तक प्रकाशित की। इन खण्डित पृष्ठों में बुद्धचरित के तृतीय सर्ग के श्लोक १६-२९ तथा षोडश सर्ग के श्लोक २०-३६ मिले हैं। चतुर्दश सर्ग के बाद का यह एकमात्र संस्करण है। बुद्धचरित संस्कृत में उपलब्ध प्रथम महाकाव्य है जिसमें बुद्ध का जीवन अङ्कित है। जो लोग कालिदास को गुप्त-युग में मानते हैं उनकी दृष्टि से यह संस्कृत का प्रथम महाकाव्य है। कीथ इसे सौन्दरनन्द के अनन्तर रचित मानते हैं।[1]

सौन्दरनन्द- यह अश्वघोष-रचित पूर्णतः संस्कृत भाषा में उपलब्ध महाकाव्य है। इसमें अठारह सर्ग हैं जिनमें बुद्ध द्वारा अपने सौतेले भाई नन्द को उसकी पत्नी सुन्दरी के प्रेमपाश से मुक्त करके विलासमय जीवन से धर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। नन्द और सुन्दरी का परस्पर प्रेम इसमें संयोग शृङ्गार रस के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति करता है तो सुन्दरी और नन्द के विलापों में विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना मिलती है। महाकाव्य का उत्तरार्ध प्रायः दर्शन के विचारों से भरा है जिसमें अश्वघोष की दार्शनिकता और कवित्व के युगपत् दर्शन होते हैं। महाकाव्य शान्तरस-प्रधान है। कवि ने इस काव्य की रचना का उद्देश्य यही बताया है कि मोक्ष-धर्म के पदार्थों से भरी यह कृति लोगों को लोक में रमाने के लिए नहीं, अपितु चित्त-शान्ति के लिए निर्मित हुई है; काव्य तो इसका साधन मात्र है, साध्य नहीं। जिस प्रकार कड़वी दवा को ग्राह्य बनाने के लिए मधु का मिश्रण किया जाता है उसी प्रकार मोक्ष-धर्म से भिन्न जो कुछ भी इस महाकाव्य में ललित वस्तु दी गयी है, वह काव्य-धर्म के निर्वाहार्थ साधन-रूप में प्रस्तुत है। काव्य-रचना कवि का प्रधान उद्देश्य नहीं है।[2]

इस महाकाव्य का शीर्षक सुन्दरी और नन्द के आधार पर पड़ा है। नन्द की भार्या का नाम 'सुन्दरी' था (लक्ष्म्या च रूपेण च सुन्दरीति ४/३)। सुन्दरी में आसक्त (सौन्दर) नन्द की इसमें कथा है। किन्तु अश्वघोष ने इसके नायक को 'सुन्दरनन्द' कहा है। नन्द उसका व्यक्तिवाचक नाम था, अत्यन्त रूपवान् होने के कारण उसे 'सुन्दर' उपाधि मिली थी-**नन्दो नाम सुतो जज्ञे** (२/५७), **यो नाम सुन्दरोपपदं दधे** (२/५८)। इस प्रकार 'सुन्दरनन्द' पर आश्रित यह महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' (अण्-प्रत्यय से निष्पन्न) कहा गया है। अठारहवीं शताब्दी की पाण्डुलिपियों में

---

१. काव्य की दृष्टि से इसके प्रथम पाँच सर्ग, अष्टम सर्ग और त्रयोदश सर्ग उत्कृष्ट हैं।

२. **सौन्दरनन्द १८/६३** इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥

तथा अमरकोश की तीन टीकाओं में इसे 'सौन्दरानन्द' कहा गया है, स्पष्टतः यह अशुद्ध नाम है क्योंकि इसे 'आनन्द' नामक वैदेह मुनि से (जिनका इस महाकाव्य में अल्प योगदान है) मुख्यतः सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। सुन्दरनन्द की दीक्षा ही मुख्य कथानक है।

सौन्दरनन्द महाकाव्य केवल संस्कृत में ही मिला है, इसके रूपान्तर तिब्बती या चीनी भाषा में नहीं हुए थे। ललित पक्ष के अत्यधिक निवेश के कारण सम्भवतः मोक्षधर्म-प्रवण बौद्धों ने इसके प्रति उपेक्षा दिखायी। अश्वघोष का बुद्धचरित उन्हें अपने धर्म के अधिक अनुकूल लगा जिससे उसके रूपान्तर हो गये। इसलिए सौन्दरनन्द भारतीय काव्य-परम्परा के निकट है, बुद्धचरित से अधिक प्रौढ़ एवं सुघटित महाकाव्य है। इसकी रचना अश्वघोष ने बुद्धचरित के बाद की थी। बुद्धचरित के उत्तरार्ध में काव्यात्मकता का निवेश अश्वघोष नहीं कर सके थे किन्तु इसमें अन्त तक दर्शन और काव्य का समान मिश्रण है जिससे अन्यमनस्क लोगों का हृदयावर्जन और मोक्ष-धर्म के प्रति आकर्षण अधिकाधिक हो सकता था।

इस महाकाव्य की मुख्यतः दो पाण्डुलिपियाँ नेपाल-नरेश के पुस्तकालय से ही प्राप्त हुई हैं। पहली पाण्डुलिपि तालपत्र पर ३५ पत्रों की है जो १२ वीं शताब्दी की नेवारी लिपि में अङ्कित है। १८९८ ई० में हरप्रसाद शास्त्री ने इसे देखा था तथा १९१० ई० के अपने संस्करण में इसी को उन्होंने मुख्य आधार बनाया था। यह पाण्डुलिपि जीर्णावस्था में मिली थी, अशुद्धियाँ भी इसमें अनेक थीं। इसके पाठ का संशोधन कई विद्वानों ने किया, जॉन्सटन ने १९२८ ई० के अपने संस्करण में इसका भी प्रयोग किया था। दूसरी पाण्डुलिपि कागज पर ७३ पत्रों की है, यह अठारहवीं शताब्दी की नेवारी लिपि में है। हरप्रसाद शास्त्री ने १९०७ ई० में इसे देखा था। यह अधिक शुद्ध और सुरक्षित पाण्डुलिपि है। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया से प्राप्त एक पत्रे के रूप में भी एक पाठ-परम्परा प्राप्त है, बुद्धचरित के उपर्युक्त दो पत्रों के साथ यह पत्रा मिला था। इसमें चतुर्थ सर्ग के अन्तिम आठ श्लोक और पञ्चम सर्ग के प्रथम छह श्लोक हैं। यह मूल पाण्डुलिपि (जिसमें प्रायः ७५ पृष्ठ रहे होंगे) का १५ वाँ पृष्ठ है।

सुन्दरनन्द (या नन्द) बुद्ध का सौतेला भाई था। दोनों की प्रकृति परस्पर भिन्न थी। नन्द आरम्भ से ही सांसारिक, भोगासक्त और विलासी प्रकृति का व्यक्ति था। कामवासना के पङ्क में निमग्न नन्द[१] का उद्धार करने के लिए बुद्ध एवं आनन्द आदि शिष्यों को जो श्रम करना पड़ा, उसी का वर्णन इस महाकाव्य में कवि ने किया है। इसके विभिन्न सर्गों में मुख्य कथानक इस प्रकार है-

गौतम बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु का वर्णन (१), राजा शुद्धोदन का वर्णन, गौतम तथा नन्द का जन्म (२), गौतम की बुद्धत्व-प्राप्ति (३) इन तीन सर्गों में बुद्धचरित के पूर्वार्ध का सार प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ सर्ग में नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी का विहार-वर्णन करके कवि ने बुद्ध का भिक्षार्थ नन्द के घर पर आगमन दिखाया है। बुद्ध बिना भिक्षा ग्रहण किये जब लौट जाते हैं तो नन्द को लज्जा होती है और वह बुद्ध से क्षमा-याचना के निमित्त जाने की अनुमति

---

१. सौन्दरनन्द ४/७

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ॥

पत्नी से माँगता है। पंचम सर्ग में बुद्ध द्वारा नन्द को दीक्षा दे दी जाती है, वह कषाय-ग्रहण कर लेता है। षष्ठ सर्ग में सुन्दरी का कारुणिक विलाप और सप्तम सर्ग में सुन्दरी के वियोग में नन्द का विलाप वर्णित है। अष्टम सर्ग में एक श्रमण नन्द को उपदेश देता है और स्त्री-संसर्ग के दोषों का वर्णन करता है। नवम सर्ग में वह श्रमण प्राचीन काल के राजाओं का दृष्टान्त देकर अभिमान की निन्दा करता है। दशम सर्ग में बुद्ध नन्द को स्वर्ग ले जाते हैं तथा एक बन्दरी से उसे सुन्दरी की तुलना करने के लिए कहते हैं, पुनः उसे एक सुन्दरी अप्सरा दिखाते है। नन्द कहता है कि इसके समक्ष तो मेरी पत्नी बन्दरी जैसी ही है। उन अप्सराओं के प्रति नन्द लालायित हो जाता है। बुद्ध कहते हैं कि इनकी प्राप्ति के लिए तपस्या अनिवार्य है। एकादश सर्ग में आनन्द नामक भिक्षु अप्सरा की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाले नन्द का उपहास करता है। द्वादश सर्ग में नन्द बुद्ध के पास जाकर निर्वाण-प्राप्ति का उपाय पूछता है। वे विवेक का मूल्य बताते हैं।

आगे के सर्गों में बुद्ध के उपदेश क्रमशः दिये गये हैं-शील और इन्द्रिय-संयम का महत्त्व (१३), इन्द्रिय-जय के लिए आवश्यक कार्य (१४), मानसिक शुद्धि की विधि (१५), आर्य-सत्यों का वर्णन (१६), नन्द को अमृतत्व की प्राप्ति (१७) तथा परम ज्ञान का उपदेश (१८)।

सौन्दरनन्द पर शैली की दृष्टि से रामायण तथा कालिदास की रचनाओं का तो प्रभाव है ही, गीता का विषय की दृष्टि से प्रभूत प्रभाव है। गीता के १८ अध्यायों के समान इसमें अठारह सर्ग हैं। जिस प्रकार गीता में कर्तव्यपथ से च्युत अर्जुन को कृष्ण ने उपदेश दिये हैं उसी प्रकार बुद्ध ने भोग-विलास में लिप्त अपने भाई नन्द को उपदेश देकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त किया है। अर्जुन और नन्द दोनों के चरित्र में गुरुभक्ति और शरणागति है।[1] कर्मयोग, अभ्यासयोग आदि का ग्रहण स्पष्टतः यहाँ गीता से किया गया है। सौन्दरनन्द का परवर्ती साहित्य पर भी पुष्कल प्रभाव है। इसके नैतिक उपदेश नीतिशास्त्रीय ग्रन्थों में शब्द-परिवर्तन करके दिये गये हैं। इसके अष्टम सर्ग में स्त्री-निन्दा करते हुए कहा गया है कि वे अपनी मधुर वाणी से आकृष्ट करती हैं किन्तु अपने तीक्ष्ण चित्त से प्रहार भी करती है; उनकी वाणी में मधु और हृदय में हलाहल भरा रहता है-

वचनेन हरन्ति वल्गुना, निशितेन प्रहरन्ति चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां, हृदये हालहलं महद् विषम्॥[2]

यह भाव संस्कृत के नीति-साहित्य में कई स्थलों पर दुहराया गया है। कहीं तो शब्द बदले गये हैं और कहीं ये ही शब्द हैं। पञ्चतन्त्र के मित्रभेद-तन्त्र में (१/१८९) यही श्लोक प्रायः इन्हीं शब्दों में उद्धृत है। वहाँ भी स्त्री-विघ्न का ही प्रसङ्ग है। पुनः क्षीरस्वामी ने 'अमरकोश' की टीका में, भर्तृहरि ने 'शृङ्गारशतक' में और वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' में इसे ठीक इसी रूप में दिया है। 'हितोपदेश' के मित्रलाभ में तथा चाणक्य-राजनीतिशास्त्र में इसे छन्द बदलकर रखा गया है।

इसी प्रकार सौन्दरनन्द के पन्द्रहवें सर्ग में एक श्लोक का अंश हैं- **निलीन इव हि व्याघ्रः कालो विश्वस्तघातकः** (१५/५३)। संस्कृत साहित्य में व्याघ्र को 'व्याघ्री' बनाकर जरावस्था

---

१. तुलनीय-गीता २/६४ सौन्दर. १३/४०; गीता ११/१४ सौन्दर. १८/२९; गीता ११/४४ सौन्दर. १८/४०-१; गीता ११/३३ सौन्दर १८/१-२२; गीता ६/१६-७ सौन्दर. १४/१९।

२. सौन्दरनन्द ८/३५।

का भय दिखाया गया है– व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती। यह चाणक्य-नीतिशास्त्र (४/४१), वैराग्य शतक (पद्य ३८), शार्ङ्गधरपद्धति (पद्य ४०९३) तथा गरुड़पुराण (१११/१०) में भी आया है। आचार-दर्शन का जितना व्यापक प्रदर्शन इस महाकाव्य में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। सम्भव है इनमें अनेक भाव अश्वघोष को पूर्व-विद्वानों से मिले हों।

साहित्यिक वैशिष्ट्य– अश्वघोष को संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक कवियों में गिना जाता है जब संस्कृत काव्य में जटिलता का समावेश नहीं हुआ था। पौराणिक शैली का सर्वत्र प्रचार था। इसलिए, बौद्धकवियों की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार, अश्वघोष ने भी अपने युग की सरल अल्पसमासयुक्त पदावली अपना कर अपनी बातों से सुललित भाषा में काव्य-रचना की। उनकी **कविता-रीति** कालिदास के समान वैदर्भी ही है जिसे कालान्तर में काव्यशास्त्रियों ने इस रूप में लक्षित किया–

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥[1]

अश्वघोष के दोनों काव्यों में पूर्वार्ध काव्य-प्रधान है, उत्तरार्ध दर्शन-प्रधान हैं। यह बात अवश्य है कि बुद्धचरित के उत्तरार्ध में (जैसा वह तिब्बती-चीनी अनुवादों में मिला है) शुष्क दार्शनिक उपदेश तथा विवरण हैं जबकि सौन्दरनन्द के उत्तरार्ध में भी दर्शन के विषयों को सहजग्राह्य उपमाओं के द्वारा ललित बनाकर प्रस्तुत किया गया है। काव्य-प्रधान अंशों में तो अश्वघोष इस प्रकार तन्मय होकर कवित्व और लालित्य का अभिव्यञ्जन करते हैं मानो वे अपने धर्म-विषयक लक्ष्य को भूल गये हों।

बुद्धचरित के सप्तम सर्ग में सिद्धार्थ के तपोवन-प्रवेश के समय (तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे) का मनोहारी चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है–

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः।
लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षूंषि सर्वाश्रमिणां जहार॥[2]

भाषा की सरलता के अतिरिक्त पदावृत्ति द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करने की इस पद्य में प्रचुर क्षमता है। इसी के आगे कवि ने सिद्धार्थ के तपोवन-प्रवेश का प्रभाव दिखाया है–

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तः।
शष्पाणि हित्वाभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च॥[3]

इन पद्यों पर कालिदास का प्रभाव अवश्य है किन्तु प्रस्तुति अश्वघोष की अपनी है। सौन्दरनन्द के पूर्वार्ध में बुद्धगत गौरव के प्रसङ्ग के अभाव में कवि ने नन्द और सुन्दरी के परस्पर आकर्षण और करुण-मूलक विप्रलम्भ के सुन्दर चित्र अङ्कित किये हैं। नन्द और सुन्दरी परस्पर इतने आसक्त थे कि एक के बिना दूसरे की शोभा उसी प्रकार नहीं होती थी जिस प्रकार रात्रि के बिना चन्द्रमा और चन्द्रमा के बिना रात्रि नहीं शोभती (अन्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ४/७)।

१. साहित्यदर्पण ९/२-३।
२. **बुद्धचरित** ७/२।
३. **वही** ७/५।

अश्वघोष की भाषा-शैली में भावों के अनुगमन की अनुपम शक्ति है। वे कुछ भी कहते हैं तो सहजता और स्वाभाविकता के आलोक में भाषा का विन्यास करते हैं। अनेक वाक्यों के समुच्चय के रूप में शुद्धोदन के आत्म-संयम का चित्रण निम्नाङ्कित पद्य में किया गया है-

तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे।
वशीव कञ्चिद् विषयं न भेजे पितेव सर्वान् विषयान्ददर्श॥[1]

समान पदों के विन्यास का आकर्षण उनकी पदावली को कहीं-कहीं ललित बनाकर प्रस्तुत करता है। जैसे सौन्दरनन्द में बुद्ध का उपदेश पाकर नन्द कहता है-

न मे प्रियं किञ्चन नाप्रियं मे न मेऽनुरोधोऽस्ति कुतो विरोध :।
तयोरभावात्सुखितोऽस्मि सद्यो हिमातपाभ्यामिव विप्रयुक्त :॥[2]

इसी प्रकार की समान पदावली का निवेश 'यथासंख्य' अलङ्कार का प्रयोग करते हुए बुद्धचरित के इस पद्य में किया गया है जिसमें शुद्धोदन की आत्मशुद्धि का वर्णन है-

सस्नौ शरीरं पवितुं मनश्च तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च।
वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपौ शान्तिसुखं च हार्दम्॥[3]

अर्थात् उन्होंने शरीर-शुद्धि के लिए तीर्थों के जल से और मन को पवित्र करने के लिए गुण-रूपी जल से स्नान किया। वेदोपदिष्ट सोम रस का और आत्म-जन्य हार्दिक शान्ति-सुख का उन्होंने पान किया। 'सस्नौ' के दो करण और 'पपौ' के दो कर्म एक ही साथ मिल गये।

अश्वघोष के दोनों महाकाव्य शान्तरस-प्रधान हैं। मोक्ष-धर्म को एकमात्र प्रतिपाद्य मानकर अन्य रसों को अङ्ग बनाया गया है। काव्य व्याजमात्र है, मोक्ष मूल विषय है। सौन्दरनन्द के अन्त में अश्वघोष कहते हैं-

प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति॥[4]

बौद्ध धर्म के सुन्दर नैतिक उपदेशों के प्रतिपादन में शान्तरस की उत्कृष्टता का अवलोकन किया जा सकता है। आर्य-सत्यों के संकलित उपदेशों में सार-रूप में दिया गया यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है-

बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम्।
दुःखक्षयो निःशरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्गः॥[5]

इस प्रकार बाध, प्रशम, निःशरण और त्राण के रूप में चार आर्यसत्यों को यहाँ समझाया गया है। अश्वघोष गृहस्थों के लिए भी मोक्ष-धर्म को सुलभ कहते हैं (प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः)। तपस्या के लिए सिद्धार्थ के दृढ़ संकल्प में शान्तरस की यह उद्‌भावना दर्शनीय है-

---

१. बुद्धचरित २/५२।
२. सौन्दरनन्द १७/६७।
३. बुद्धचरित २/३७।
४. सौन्दरनन्द १८/६४। ५. सौन्दरनन्द १६/४।

निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले, विजने वायतने गिरौ वने वा।
विचराम्यपरिग्रहो निराशः, परमार्थाय यथोपपन्न-भैक्षः॥[१]

अन्य रसों में अश्वघोष ने शृङ्गार के दोनों रूपों तथा करुण का रमणीय चित्रण किया है। सुन्दरी और नन्द के परस्पर आकर्षण में संयोग शृङ्गार के अनेक दृश्य मिलते हैं इस पद्य में व्याकरण के कठिन प्रयोग करते हुए भी कवि ने रस-भङ्ग से अपने को निकाल लिया है-

अन्योन्यसंरागविवर्धनेन, तद् द्वन्द्वमन्योन्यमरीरमच्च।
क्लमान्तरेऽन्योन्यविनोदनेन, सलीलमन्योन्यममीमदच्च॥[२]

कालिदास के समान यहाँ परिष्कार और आनन्द-निमग्नता नहीं है। ऐसा लगता है, अश्वघोष संयोग शृङ्गार को सूचित कर रहे हों और कवित्व की इतिश्री अभिधा द्वारा कुछ भावों के विन्यास को ही मान रहे हों। कवित्व को साधन रूप में प्रयुक्त करने वाले कवि से अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती। किन्तु कहीं-कहीं भावों के निरूपण में कवि की शक्ति अपने लक्ष्य का अतिक्रमण भी कर बैठती है, वे भाव शृङ्गार से ही सम्बद्ध क्यों न हों-

शातोदरीं पीनपयोधरोरूं स सुन्दरीं रुक्मदरीमिवाद्रेः।
काक्षेण पश्यन्न ततर्प नन्दः पिबन्निवैकेन जलं करेण॥[३]

सुन्दरी के सौन्दर्य को देखकर नन्द की अतृप्ति का निरूपण किया गया है।

सौन्दरनन्द में वियोग शृङ्गार के चित्र षष्ठ सर्ग में सुन्दरी के विलाप में सुलभ हैं। शब्दक्रीड़ा में कवि ने यहाँ अपने को समर्पित कर दिया है-

सा पद्मरागं वसनं वसाना, पद्मानना पद्मदलायताक्षी।
पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मीः, शुशोष पद्मस्रगिवातपेन॥[४]

नन्द के वियोग में सुन्दरी की दशा धूप में सूखी कमल-माला-जैसी हो गयी थी। करुण-रस का उद्‌भावन बुद्धचरित के अष्टम सर्ग में 'अन्तःपुर-विलाप' के प्रसङ्ग में बहुत मार्मिक रूप में हुआ है। सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के अनन्तर प्रासाद में स्त्रियाँ विलाप करती हैं-

कुलेन सत्त्वेन बलेन वर्चसा
श्रुतेन लक्ष्म्या वयसा च गर्वित :।
प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं
कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति॥[५]

सिद्धार्थ अपने कुल, पराक्रम, बल, तेज, विद्या, शोभा और अवस्था से गौरवान्वित हैं। वे दूसरों को दान करने के लिए बने हैं, याचना के लिए नहीं। आज वे दूसरों से भिक्षा किस प्रकार माँगेंगे? अपने पुत्र राहुल को निर्ममता से त्याग देने वाले सिद्धार्थ की प्रवृत्ति पर यशोधरा रोकर कहती है-

अभागिनीं यद्यहमायतेक्षणं शुचिस्मितं भर्तुरुदीक्षितुं मुखम्।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः॥[६]

---

१. बुद्धचरित ५/१९। ३. सौन्दरनन्द ४/११ ३. सौन्दरनन्द ४/४१।
४. सौन्दरनन्द ६/२६ ५. बुद्धचरित ८/५७। ६. बुद्धचरित ८/६७।

अर्थात् यदि स्वामी के विशाल नेत्रों और पवित्र मुस्कान वाले मुख को देखने के लिए मैं अभागिन हूँ, तो क्या यह मन्दभाग्य राहुल भी अपने पिता की गोद में लोट-पोट करने के योग्य नहीं है?

अश्वघोष ने अपने काव्यों में अलंकार-योजना भी बड़े कौशल से की है। उपमा के प्रति उनका विशेष आकर्षण है। अन्य अलङ्कारों में अनुप्रास, यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, वक्रोक्ति, एकावली आदि प्रमुखता से प्रयुक्त हैं। ये अलङ्कार कहीं सहज हैं तो कहीं 'प्रयत्न-निर्वर्त्य' भी हैं। सौन्दरनन्द में कपिलवस्तु-नगर का वर्णन मालोपमा से युक्त है-

संनिधानमिवार्थानामाधानमिव तेजसाम्।
निकेतमिव विद्यानां संकेतमिव सम्पदाम्॥[1]

इसी महाकाव्य के निम्नाङ्कित पद्य को उपमा का सुन्दर उदाहरण बताते हुए कालिदास और अश्वघोष के पौर्वापर्य का निश्चायक कहा गया है-

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुराग: पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरँस्तरङ्गेष्विव राजहंस :॥[2]

नन्द एक ओर बुद्ध के प्रति श्रद्धा से खिँचा जा रहा था तो दूसरी ओर स्त्री-प्रेम उसे खींच रहा था; इस अनिश्चय की स्थिति में न वह जा पा रहा था, न ठहर ही रहा था। तरङ्गों में तैरने वाले राजहंस-जैसी स्थिति में वह पड़ा था। कालिदास ने 'मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः' की उपमा ऐसे ही प्रसङ्ग में पार्वती के लिए दी है।

बुद्धचरित के तृतीय सर्ग में मार्ग पर सिद्धार्थ को जाते हुए देखने वाली नगर-स्त्रियों का वर्णन मिलता है (१३-२४)। इस प्रसङ्ग के समान वर्णन कालिदास ने भी कुमारसम्भव (सर्ग-७) और रघुवंश (सर्ग-७) में किया है। अश्वघोष कहते हैं कि नगर की स्त्रियों में सिद्धार्थ को देखने के लिए ऐसा संघर्ष होने लगा कि खिड़कियों पर अशान्ति फैल गयी- वातायनेष्वप्रशमो बभूव (३/१८)। इस प्रसङ्ग में खिड़कियों से झांकने वाली स्त्रियों के अनेक मुखों की तुलना प्रासादों में साटे गये कमल-समूहों से की है-

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि॥[3]

सौन्दरनन्द के दर्शन-प्रधान सर्गों में कवि ने उपमाओं की निरन्तर वर्षा की है। कहीं सीधे उपमान हैं तो कहीं दृष्टान्त के रूप में दिये गये हैं। जैसे एक स्थान पर कवि कहते हैं कि बीती हुई ऋतु पुनः लौट जाती है, क्षीण चन्द्रमा फिर बढ़ जाता है। किन्तु नदियों का जल और मनुष्यों का यौवन चले जाने के बाद फिर लौटता नहीं-

ऋतुर्व्यतीत : परिवर्तते पुन :
क्षयं प्रयात : पुनरेति चन्द्रमा :।

---

१. सौन्दरनन्द १/५३। २. सौन्दरनन्द ४/४२ तुलनीय-कुमारसम्भव ५/८५ शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ। ३. बुद्धचरित ३/१९। इसी उपमा को कवि ने पुनः दुहराया है- (३/२१)- मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां बद्धाः कलापा इव पङ्कजानाम्।

गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं
नदीनां च नृणां च यौवनम्।।[1]

बौद्ध दर्शन के बहुत से पदार्थ जैसे-विवेक, शील, इन्द्रिय-संयम, वितर्क-प्रहाण, आर्यसत्य, मोक्ष आदि विषय एक-एक सर्ग में कथावाचक के समान विभिन्न उपमाओं के द्वारा समझाये गये हैं। निर्वाण को समझाते हुए अश्वघोष कहते हैं कि जैसे निर्वाण-प्राप्त (बुझा हुआ) दीपक न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है और न किसी दिशा-विदिशा में जाता है अपितु तेल समाप्त होने पर शान्ति प्राप्त करता है; ठीक उसी प्रकार निर्वाण-प्राप्त पुरुष पृथ्वी, आकाश या दिशा-विदिशा में नहीं जाता है, क्लेशों का नाश हो जाने से वह केवल शान्ति प्राप्त करता है (सौन्दरनन्द १६/२८-९)।

रूपकालङ्कार का दोनों महाकाव्यों के दो पृथक् प्रसङ्गों से उद्धरण दिया जाता है। सौन्दरनन्द में सुन्दरी और नन्द के प्रीति-प्रसङ्ग में नन्द-रूपी सूर्य के उदय से सुन्दरी-रूपी कमलिनी के विकसित होने का रूपक इस प्रकार आया है-

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नत-पद्मकोशा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण।।[2]

दूसरी ओर बुद्धचरित में सिद्धार्थ के जन्म के समय मुनि की भविष्यवाणी में कई रूपक हैं जिनमें यह उत्कृष्ट है-

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम्।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः।।[3]

यह बालक आगे चलकर ऐसी उत्तम धर्म-रूपी नदी बहायेगा जिसमें प्रज्ञा-रूप जल-प्रवाह होगा, अचल शील के रूप में खड़ा तट (वप्र) होगा, समाधि-रूपी शीतलता रहेगी, व्रत-रूपी चक्रवाक होंगे। तृष्णा से दुःखी संसारी जीव उस नदी का जल पीयेंगे।

बुद्धचरित के निम्नाङ्कित पद्य में अश्वघोष ने 'एकावली' का सुन्दर प्रयोग किया है-

कश्चित्सिषेवे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित्।
कश्चिद्धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चकार हिंसाम्।।[4]

अर्थात् शुद्धोदन के राज्य में किसी व्यक्ति ने इन्द्रिय-तृप्ति के लिए काम का सेवन नहीं किया, काम-प्राप्ति के लिए किसी ने अर्थ की रक्षा नहीं की, अर्थ के लिए किसी ने धर्म नहीं किया और धर्म के लिए किसी ने हिंसा नहीं की। यहाँ परिसंख्यालंकार भी है। अर्थान्तरन्यास के रूप में अश्वघोष ने अनेक सूक्तियाँ दी हैं जैसे- व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः (सौ. ८/३१), प्रमदानामगतिर्न विद्यते (सौ. ८/४४), सर्वस्य लोके नियतो विनाशः (बु. ३/५९), वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुः, न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम् (बु. ८/३५), तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं, न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया (बु.११/५९)। इन सूक्तियों में भाषा की सरलता तथा अर्थ का गौरव निहित है।

अश्वघोष ने मुख्य रूप से उपजाति और अनुष्टुप् का प्रयोग रामायण एवं कालिदास के प्रभाव से किया है। सर्गों की रचना इन्हीं छन्दों में प्रायः हुई है। कहीं-कहीं वैतालीय और औपच्छन्दसिक

---

१. सौन्दरनन्द ९/२८ २. सौन्दरनन्द ४/४। ३. बुद्धचरित १/७१। ४. बुद्धचरित २/१४।

में भी सर्ग हैं जैसे सौन्दरनन्द का अष्टम सर्ग और बुद्धचरित का पञ्चमसर्ग। सर्गों के अन्त में शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित जैसे लम्बे छन्द हैं।

अश्वघोष का वैदुष्य- अश्वघोष अनेक शास्त्रों के पण्डित थे। मूलतः ब्राह्मण होने के कारण वैदिक धर्म की सूक्ष्म प्रक्रियाओं से तो इनका परिचय था ही, बौद्ध-धर्म में दीक्षा के अनन्तर उससे सम्बद्ध उस युग की समस्त रचनाओं का उन्होंने अनुशीलन किया था। इसीलिए **व्याकरण** (सौन्दर. १/१५, ४४-५, ४७, ४९-५०, ५१, ५६; २/१०, २२, २६-४४; बु. २/१६, ३३, ३५, ४४, ८/२५ इत्यादि), **दर्शन** (सौ. १६/५-११, २८-९, ३५; १७/६६-७; बुद्ध. ९/६०, ११/५९, १२/७०, ७८-८०, **पुराण** (बुद्ध. ४/१६-२०, ७२-८०, ११/१३-६, सौ. १/५९ तथा सप्तम सर्ग), **राजनीति** (सौ. १/६०; बुद्ध. २/५५), **नीतिशास्त्र** (सौ. २/९, ३/३२-३, ९/३३, ४३, ४४, ४६, बुद्ध. ४/७०, ८/३५, ११/४७, ५२), **आयुर्वेद**, **कामशास्त्र** इत्यादि विविध शास्त्रों का ज्ञान उन्होंने अपने महाकाव्यों में दिखाया है। वस्तुतः उन्होंने जो व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है, वह स्वतन्त्र अनुशीलन का विषय है।

वे मुख्यतः धर्म-प्रचारक थे जो शास्त्रार्थ द्वारा, कथाओं के द्वारा और धर्म के नियमों का साक्षात् निर्देश करके बौद्ध धर्म के प्रति सामान्य जनता का ध्यान आकृष्ट करते थे। आर्यशूर के समान उन्होंने भी यह संकल्प किया था-

> स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
> धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।[1]

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्हें, कथावाचक के समान, नाना शास्त्रों को रमणीय रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने पाण्डित्य और कवित्व का प्रकर्ष दिखाना था। पाण्डित्य से विद्वानों पर और कवित्व से सामान्य जनता पर उनका प्रभाव स्थापित होता था। इसलिए वे कवि और दार्शनिक दोनों की विशिष्टताओं से सम्पन्न थे।

सौन्दरनन्द के कुछ सर्गों में जहाँ अश्वघोष का कवित्व अधिक प्रबल है और जहाँ कामशास्त्रीय ज्ञान का भी उपयोग है जैसे-

> परस्परोद्वीक्षणतत्पराक्षं परस्परव्याहृतसक्तचित्तम्।
> परस्पराश्लेषहृताङ्गरागं परस्परं तन्मिथुनं जहार॥[2]

तो वही कवि आगे चलकर प्रेय की सरिता को श्रेय के सागर में विलीन कर देता है, दोनों का परस्पर सन्धिस्थल विदित नहीं होता। इन्द्रियों से उत्पन्न भय को उन्होंने शत्रु, अग्नि, सर्प और वज्रपात के सम्भाव्य भय से बढ़ा-चढ़ा दिखाकर 'व्यतिरेक' अलङ्कार का प्रयोग किया है; ये तो कभी-कभी प्रहार करते हैं जबकि अपनी इन्द्रियाँ निरन्तर मारने लगी हैं-

> भेतव्यं न तथा शत्रोर्नाग्नेर्नाहेर्न चाशनेः।
> इन्द्रियेभ्यो यथा स्वेभ्यस्तैरजस्रं हि हन्यते॥[3]

दर्शन के इस आचारपरक उपदेश में भी कवित्व दूर नहीं जाता। इसी प्रकार प्रथम आर्यसत्य

---

१. आर्यशूर-जातकमाला १/४ २. सौन्दरनन्द ४/९ ३. सौन्दरनन्द १३/४१।

'दुःखसत्य' को चित्त और शरीर से ही उत्पन्न दिखाने के लिए उन्होंने अपने प्रिय काव्योपादान 'उपमा' का उपयोग किया है-

> आकाशयोनिः पवनो यथा हि, यथा शमीगर्भशयो हुताशः।
> आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च, दुःखं तथा चित्तशरीरयोनि॥[1]

राग-द्वेषादि दोषों के भय से विद्वान् व्यक्ति शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विषयों का त्याग कर देते हैं, इसे स्पष्ट करने के अश्वघोष उपमा देते हैं कि तस्करों के भय से लोग रात में प्रिय व्यक्ति के लिए भी द्वार नहीं खोलते-

> यथा हि भीतो निशि तस्करेभ्यो, द्वारं प्रियेभ्योऽपि न दातुमिच्छेत्।
> प्राज्ञस्तथा संहरति प्रयोगं, समं शुभस्याप्यशुभस्य दोषैः॥[2]

सामान्यतः दर्शन के गूढ़-रहस्यात्मक विषयों को अश्वघोष सरल, हृदयग्राही साधनों से ही स्पष्ट करते हैं किन्तु कहीं-कहीं कवित्व के चक्र में दुरूहता और प्रतीकात्मकता का भी निवेश कर देते हैं जैसे बुद्धचरित के इस पद्य में-

> एकं विनिन्ये स जुगोप सप्त, सप्तैव तत्याज ररक्ष पञ्च।
> प्राप त्रिवर्गं बुबुधे त्रिवर्गं, जज्ञे द्विवर्गं प्रजहौ द्विवर्गम्॥[3]

अर्थात् राजा शुद्धोदन ने एक (मन) को वश में किया, सात (शरीर के सप्त धातुओं या राज्य के सात अंगों) की रक्षा की, सात (राजा के सात दुर्गुणों) को त्याग कर पाँच (तत्त्वों या पाँच उपायों) की रक्षा की; त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) को प्राप्त किया और त्रिवर्ग (शत्रु, मित्र और उदासीन) को समझ लिया; द्विवर्ग (नीति-अनीति) को समझ लिया एवं द्विवर्ग (काम तथा क्रोध, राग-द्वेष) को छोड़ दिया।

अश्वघोष व्याकरण-शास्त्र के पण्डित थे। धातुरूपों और लकारों के प्रयोग से वे यह बात सिद्ध करते हैं। लिट् लकार के प्रति उनका अद्‌भुत आकर्षण है जिससे अकेले सौन्दरनन्द में इस लकार का ४६० बार प्रयोग है। सुन्दरी के विलाप से सम्बद्ध इसी एक पद्य में इस लकार के १२ प्रयोग हैं-

> रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ, बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
> चकार रोषं विचकार माल्यं, चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम्॥[4]

इसके उत्तरार्ध में उपसर्ग के प्रयोग से धात्वर्थ-परिवर्तन का सौन्दर्य प्रकट किया गया है जो आगे दिये जा रहे श्लोक में सुतराम् परिलक्षित होगा-

> प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
> आपन्नान् परिजग्राह निजग्राहास्थितान् पथि॥[5]

केवल ग्रह धातु के चार उपसर्गों के साथ प्रयोग को यहाँ प्रदर्शित किया गया है- अनुग्रह (कृपा करना), विग्रह (युद्ध), परिग्रह (स्वीकरण, अपनाना) तथा निग्रह (नियन्त्रण)। इससे भी बढ़कर

---

१. सौन्दरनन्द १६/११। २. सौन्दरनन्द १०/१९। ३. बुद्धचरित २/४१।
४. सौन्दरनन्द ४/३४। ५. सौन्दरनन्द २/१०।

'मीयते' का चार पृथक् अर्थों में यह प्रयोग अश्वघोष के व्याकरण-पाटव का परिचायक है-

> **यत्र स्म मीयते ब्रह्म, कैश्चित्कश्चित्र मीयते।**
> **काले निमीयते सोमो, न चाकाले प्रमीयते॥**[1]

कपिलवस्तु में ब्रह्म का चिन्तन (मीयते, मा धातु-मापना) होता था, किसी के द्वारा कोई मारा नहीं जाता था (मीयते, मी=हिंसा), समय-समय पर सोम को निचोड़ा जाता था (निमीयते, नि+मि=निचोड़ना, प्रस्तुति), कोई असमय में मरता नहीं था (प्रमीयते, प्र+मीङ्= प्राणत्याग)। इसी प्रकार अश्वघोष ने 'अजीजिपत्' को जप् तथा जि धातुओं के लुङ्लकार में एवं 'अदीदिपत्' को दा तथा दो धातुओं के लुङ्लकार में प्रयुक्त किया है। यह प्रवृत्ति अवश्य ही परवर्ती कवियों की ओर उन्हें ले जाती है, कालिदास में ऐसी यान्त्रिकता नहीं है।

कतिपय बौद्ध शब्दों का अश्वघोष ने प्रयोग किया है जैसे- प्रतिवेध, इञ्जित, प्रश्रब्धि, प्रवेरित, मैत्रा (मैत्री के स्थान पर) इत्यादि। बौद्ध-संकर-संस्कृत के स्वच्छन्द युग में होकर भी अश्वघोष ने संस्कृत भाषा के अतिक्रमण का वैसा प्रयास नहीं किया जैसा उनके समसामयिक ललितविस्तर, लङ्कावतारसूत्र आदि ग्रन्थों में मिलता है। अश्वघोष संस्कृत महाकवियों में महत्त्व रखते हैं।[2]

(२) भारवि

'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के रचयिता के रूप में संस्कृत महाकाव्यों के इतिहास में भारवि विख्यात हैं। इन्होंने महाकाव्य के विचित्र मार्ग का प्रवर्तन किया जिसमें भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर ही अधिक बल रहता है। पाण्डित्य-प्रकर्ष की अभिव्यक्ति और मूल विषय का त्याग करके लम्बे वर्णनों में उलझ जाना इस मार्ग की विशिष्टता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अश्वघोष में भी थी किन्तु वे विषय का त्याग नहीं करते थे। भारवि के बाद के कवियों ने दोनों को अपनाया। इसलिए भारवि का एक विशिष्ट स्थान है।

जीवन वृत्त- संस्कृत के अन्य महान् कवियों के समान भारवि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदन्तियों और अप्रामाणिक सूचनाओं का समुदाय प्राप्त होता है। दण्डी के द्वारा रचित (?) 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का कुछ अंश प्राप्त हुआ है जिसका एक कथासार भी है। उसमें भारवि के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचना दी गयी है। कहा गया है कि भारवि दण्डी के प्रपितामह थे और उनका वास्तविक नाम 'दामोदर' था। भारवि के पिता का नाम नारायणस्वामी था। कुछ विद्वानों का कथन है कि उक्त दामोदर भारवि के अनुज थे और दण्डी इन्हीं दामोदर के प्रपौत्र थे। दामोदर ने भारवि को माध्यम बनाकर राजा विष्णुवर्धन से सम्पर्क किया था।[3] भारवि को वहाँ 'महाशैव' कहा गया है। किरातार्जुनीय में भारवि ने शिव की महिमा का वर्णन भी किया है। भारवि के मित्र विष्णुवर्धन

---

१. सौन्दरनन्द १/१५।

२. अश्वघोष की काव्यकृतियों पर आश्रित सांस्कृतिक जीवन तथा Philosophy of Asvaghosa शीर्षक शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में पटना विश्वविद्यालय से १९८४ तथा ८७ में स्वीकृत हो चुके हैं।

३. अवन्तिसुन्दरीकथासार, श्लोक-१२३ **स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवो गिराम्।**
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

की पहचान विद्वानों ने सत्याश्रय (चलुक्यनरेश पुलिकेशिन् द्वितीय) के अनुज के रूप में की है (६१५ ई० के लगभग)।

'किरातार्जुनीय' के द्वितीय सर्ग के श्लोक 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' (३०) को लेकर कई कथाएँ प्रचलित हैं जिनमें भारवि का भी योगदान कहा गया है। भारवि को सभी विद्वान् दाक्षिणात्य मानते हैं। सारदारञ्जन राय ने भारवि द्वारा समुद्र में सूर्यास्त-वर्णन के कारण भारवि को पश्चिम समुद्र (अरब सागर) के तट का निवासी सिद्ध किया है।

भारवि का समय- भारवि का समय मुख्यत: बहिरङ्ग प्रमाणों पर ही आश्रित है। अपनी एकमात्र रचना 'किरातार्जुनीय' में ऐसा कोई संकेत इन्होंने नहीं दिया है जिससे इनके काल का निश्चय हो सके। बहिरङ्ग प्रमाणों में सबसे महत्त्वपूर्ण 'ऐहोल शिलालेख' है जो कर्नाटक राज्य के बादामी जिले में मेगुती नामक ग्राम के निकट एक पहाड़ी पर बने जैनमन्दिर की बाहरी दीवार पर अङ्कित है। इसका समय ६३४ ई० (शक-संवत् ५५६) है। रविकीर्ति नामक कवि ने इस मन्दिर (जिनवेश्म) का निर्माण करके कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के श्लोक रच कर इसमें उत्कीर्ण कराये थे। उनमें अन्तिम (३७ वाँ) पद्य इस प्रकार है-

> येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
> स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

यहाँ रविकीर्ति ने अपने आपको काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की कीर्ति का आश्रय लेने वाला कहा है। स्पष्टत: भारवि ६३४ ई० तक पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे। इस प्रसिद्धि की अवधि के विषय में विद्वानों ने अनुमान किये हैं। कीथ का मत है कि उन्हें ५५० ई० के आसपास माना जा सकता है। सारदारञ्जन राय ने उक्त संकेत से १५०-२०० वर्ष पूर्व अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० में भारवि को मानने का सुझाव दिया है। किन्तु अन्य स्रोतों से इस विषय पर अधिक स्पष्टता प्राप्त होती है।

दण्डि-कृत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के एक अंश का उद्धार जी. हरिहरशास्त्री ने निम्नाङ्कित रूप में किया है जिसमें दामोदर द्वारा भारवि के माध्यम से विष्णुवर्धन नामक राजा की कृपा प्राप्त करने का निर्देश है- यत: कौशिककुमारो (दामोदरो) महाशैवं महाप्रभावं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्माणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।[1] विष्णुवर्धन चालुक्य-नरेश सत्याश्रय (पुलिकेशिन्-द्वितीय) का अनुज था, उसने सेनापति के रूप में नर्मदा-तट पर हर्षवर्धन को पराजित किया था। उसी ने गोदावरी जिले में पिष्टपुर को राजधानी बनाकर पूर्वी चालुक्य-वंश की स्थापना ६१५ ई० में की थी। भारवि से मित्रता के कारण विष्णुवर्धन ने उन्हें अपना सभा-पण्डित बनाया था। इस प्रकार ६१५ ई० के आसपास भारवि का भी समय माना जा सकता है। ६३४ ई० में उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि के कारण रविकीर्ति ने उनका उल्लेख किया।

भारवि के समय के निर्धारण का एक अन्य सूत्र भी उक्त 'अवन्तिसुन्दरीकथा' से प्राप्त होता है। काञ्ची के पल्लव-नरेश सिंहविष्णु (शासनकाल ५७५-६००ई०) ने भी भारवि को आश्रय दिया था। बाद में सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्रविक्रम ('मत्तविलासप्रहसन' का लेखक) के आश्रय में भी भारवि रहे। भारवि को मनोरथ नामक पुत्र था। यही मनोरथ दण्डी के पितामह थे। यह सूचना

१. कृष्णामाचार्य के 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृ० १४१ पर उद्धृत।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' से प्राप्त होती है। एक दानपत्र से भी भारवि के काव्य का सम्बन्ध प्राप्त होता है। कोंकण के गङ्ग-नरेश अविनीत का पुत्र दुर्विनीत (समय ५८० ई०) था जिसने 'बृहत्कथा' (गुणाढ्य-कृत पैशाची भाषा में निबद्ध लोककथा-संग्रह) का संस्कृत रूपान्तर 'शब्दावतार' के नाम से किया था तथा किरातार्जुनीय के १५ वें सर्ग (चित्रकाव्य से पूर्ण सर्ग) की व्याख्या भी लिखी थी। यह दानपत्र 'मैसूर आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट (१९१६)' में पृष्ठ ३६ पर मुद्रित है- "श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन"।[1] इन सूत्रों से यह अनुमान हो सकता है कि भारवि का ५५० ई० से ६२० ई० के बीच होगा।

अष्टाध्यायी की वृत्ति 'काशिका' (६६०ई०) में जयादित्य ने किरातार्जुनीय के एक पद्यखण्ड (३/१४) 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' का उद्धरण दिया है।[2] महाकवि माघ ने अपने 'शिशुपालवध' की रचना स्पष्टतः भारवि के महाकाव्य की ख्याति से प्रेरित होकर प्रतिस्पर्धा में ही की थी। माघ का समय ६७५ ई० के आसपास माना जाता है। अतः भारवि को इन रचनाओं के कुछ पूर्व उक्त कालावधि में रखा जा सकता है। बाण द्वारा अपने हर्षचरित की प्रस्तावना में भारवि का उल्लेख न होना कुछ विद्वानों को खटकता है किन्तु इसे दो कारणों से स्पष्ट किया जा सकता है। पहली बात यह है कि बाण के समय (७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) में उत्तरभारत में भारवि अधिक विख्यात नहीं हुए होंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बाण के आश्रयदाता महाराज हर्षवर्धन के शत्रु पुलिकेशिन् के अनुज की राजसभा में भारवि थे। अतः बाण ने उनका उल्लेख नहीं किया।[3]

किरातार्जुनीय- यह भारवि की एकमात्र उपलब्ध कृति है। विचित्र मार्ग या कलावाद का प्रवर्तन करने वाले इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं। इसका कथानक महाभारत के वनपर्व के कुछ अध्यायों पर आश्रित है। वनवास-काल में अर्जुन द्वारा कौरवों पर विजय-प्राप्ति के लिए हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या करने, किरात-वेश में आये हुए शिव से युद्ध करने एवं प्रसन्न हुए शिव से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति की मुख्य कथा इसमें निरूपित है। इसीलिए इसका शीर्षक है- किरातार्जुनीय। किरातः (किरातवेशधारी शिवः) च अर्जुनश्च=किरातार्जुनौ (द्वन्द्वसमास)। तावधिकृत्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयम् ('द्वन्द्वाच्छः' से छ अर्थात् ईय प्रत्यय)। इसके कई सर्ग मुख्य कथा को छोड़कर कलात्मक वर्णनों में लगाये गये हैं। १५ वें सर्ग में युद्ध के क्रम में चित्रकाव्य की छटा दिखायी गयी है।

इस महाकाव्य में सर्गों की कथा इस प्रकार है-द्वैतवन में वनेचर का आकर युधिष्ठिर को दुर्योधन की प्रजा-पालन-नीति का वर्णन सुनाना, द्रौपदी का उत्तेजनापूर्ण भाषण (सर्ग-१); युधिष्ठिर और भीम का वार्तालाप, भीम द्वारा द्रौपदी का समर्थन करते हुए पराक्रम की महत्ता दिखाना, युधिष्ठिर का प्रतिवाद (सहसा विदधीत न क्रियाम्), व्यास का आगमन (सर्ग-२); व्यास द्वारा अर्जुन को शिव की आराधना करके पाशुपतास्त्र प्राप्त करने का उपदेश, योग-विधि का निरूपण

---

१. कृष्णमाचार्य के 'हिस्ट्री.' में पृ० १४८, पाद-टिप्पणी में उद्धृत।
२. काशिका (१/३/२३)- 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' सूत्र की व्याख्या में उद्धृत।
३. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी- संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० १८४।

करके व्यास का अन्तर्धान होना, व्यास द्वारा प्रेषित यक्ष के साथ अर्जुन का प्रस्थान (सर्ग-३); इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन का पहुँचना, शरद् ऋतु का मनोरम वर्णन (सर्ग-४); हिमालय का वर्णन तथा यक्ष का अर्जुन को इन्द्रिय-संयम का उपदेश (५); अर्जुन की तपस्या, विघ्न डालने के लिए इन्द्र द्वारा प्रेषित अप्सराओं का आगमन (६); गन्धर्वों तथा अप्सराओं के विलासों का वर्णन, वन-विहार, पुष्पचयन (७); गन्धर्वों और अप्सराओं की उद्यान क्रीड़ा तथा जल-क्रीड़ा का मोहक वर्णन (८); सायंकाल, चन्द्रोदय, मान, मानभङ्ग, दूती-प्रेषण, सुरति तथा प्रभात का वर्णन (९); अप्सराओं की चेष्टाएँ, उनकी विफलता (सर्ग-१०); मुनि-रूप में इन्द्र का आगमन, इन्द्रार्जुन-संवाद, इन्द्र का अर्जुन को शिवाराधना का उपदेश (११); अर्जुन की तपस्या, तपस्वियों का शिव को प्रेरित करना, अर्जुन को देवताओं का कार्यसाधक जानकर 'मूक' नामक दानव का शूकर रूप में अर्जुन वध के लिए आगमन, किरातवेशधारी शिव का आगमन (१२); शूकर (मूक दानव) पर शिव और अर्जुन दोनों का बाण-प्रहार, दानव की मृत्यु, बाण के विषय में शिव के अनुचर तथा अर्जुन का विवाद (१३); सेना-सहित शिव का आगमन और सेना के साथ अर्जुन का युद्ध (१४); युद्ध का चित्रकाव्य के रूप में वर्णन (१५); शिव और अर्जुन का अस्त्रयुद्ध, मल्लयुद्ध (१६); शिव और उनकी सेना के साथ अर्जुन का युद्ध (१७); बाहुयुद्ध के बाद शिव का अपने मूल रूप में प्रकट होना, इन्द्रादि का आगमन, अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति, इन्द्रादि द्वारा भी अर्जुन को विविध अस्त्रों का प्रदान, अर्जुन का युधिष्ठिर के पास आगमन (सर्ग-१८)।

स्पष्टतः इस महकाव्य में प्रकृति-वर्णन, क्रीड़ादि-वर्णन एवं युद्ध-वर्णन के द्वारा मुख्य कथानक का विस्तार किया गया है। इस महाकाव्य का आरम्भ 'श्रियः' शब्द से होता है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द भी प्रयुक्त है। इस प्रकार माङ्गलिक शब्द का आदिमध्यावसान में प्रयोग करके महाकाव्य को मङ्गलमय बनाया गया है। कलावादी भारवि ने सुन्दर हृदयावर्जक संवादों, काल्पनिक चित्रों तथा रमणीय वर्णनों से इसे भरकर नवीन दिशा का प्रवर्तन किया है। शृङ्गार चेष्टाओं के वर्णनों में मुक्तक काव्य की चित्रात्मकता इसमें उन्होंने भरी है। चतुर्थ से एकादश सर्ग तक के अन्तराल को ऐसे ही वर्णनों से भरा गया है। युद्ध का लम्बा वर्णन भी महाकाव्य की विशालता को भले ही रेखाङ्कित करे, उसमें कविता की आत्मा तिरोहित हो गयी है। इस महाकाव्य के नायक अर्जुन धीरोदात्त कोटि के हैं। वीर रस प्रमुख है, शृङ्गार रस अङ्ग के रूप में है। इस महाकाव्य पर मल्लिनाथ ने टीका लिखी है, १५ वें सर्ग पर दुर्विनीत ने भारवि के काल में ही टीका लिखी थी। माघ ने इस काव्य की सभी विशिष्टताओं का अनुकरण करके 'शिशुपालवध' की रचना की। इस महाकाव्य के प्रथम तीन सर्ग बहुत लोकप्रिय हैं। इनमें मुख्य रूप से भारवि का राजनीति-ज्ञान प्रकट हुआ है।

भारवि का साहित्यिक वैशिष्ट्य-भारवि मुख्य रूप से कलावादी कवि हैं जिनका ध्यान काव्य के बहिरङ्ग पर अधिक रहा है। अर्थपक्ष में गम्भीरता तथा सार्वजनीनता का निवेश भी उन्होंने किया है। चित्रकाव्य का प्रयोग करने वाले वे प्रथम संस्कृत कवि हैं। कृत्रिम भाषा का प्रयोग करते हुए उन्होंने यह प्रकट किया है कि संस्कृत काव्य कितना दुरूह हो सकता है। किन्तु ऐसी शब्द-क्रीड़ा उनके काव्य में सीमित है, केवल १५ वें सर्ग में चित्रकाव्य है और ५ वें सर्ग में यमक का प्रयोग है। सामान्यतः भारवि वैदर्भी रीति के कवि हैं जिसमें अल्पसमासों का प्रयोग होता है। व्याकरणशास्त्र के दुरूह नियमों के प्रति कवि की अभिरुचि अवश्य है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की

प्रवृत्ति भी भारवि में बहुत अधिक है। किन्तु इस समस्त कृत्रिमता के मध्य उनमें भावों को अभिव्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता है जो सामान्य स्थलों में विपुल रूप से प्राप्त होती है। भावों के अनुसार ही इन्होंने काव्य-कला का प्रयोग किया है, अर्थगौरव से पूर्ण सामान्य उक्तियों में प्रसादगुण है तो चित्रात्मक वर्णनों में ओजगुण के प्रयोग में भी कवि को संकोच नहीं है। अनेक अलंकारों और छन्दों का निवेश भी कवि ने भावों की आवश्यकता के अनुरूप ही किया है। इनकी शैली के विषय में जितना अन्य विद्वानों ने कहा है, उससे न्यूनतर स्वयं भारवि ने नहीं कहा। इससे प्रकट होता है कि कवि अपनी भाषा-शैली के प्रति पूर्ण जागरुक है।

भारवि के विषय में कुछ उक्तियाँ प्रचलित हैं जैसे-भारवेरर्थगौरवम्, भारवेरिव भारवेः, प्रकृतिमधुरा भारविगिरः (अभिनन्द), नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः (मल्लिनाथ) इत्यादि। इनमें भारवि की शैली की स्वाभाविक मधुरता के अतिरिक्त बाह्य-रूक्षता तथा अन्तःसरसता एवं अर्थगौरव की प्रशंसा की गयी है। इन पर विचार किया जायेगा। स्वयं भारवि ने अपने काव्य के विविध प्रसङ्गों में वचोविन्यास के विशिष्ट गुणों का निर्देश किया है जैसे-

(१) स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं
विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे। (किरातार्जुनीय १/३)

वनेचर शब्द-सौष्ठव तथा औदार्य (अर्थसम्पत्ति) से शोभा पाने वाली निश्चित अर्थ से युक्त वाणी का प्रयोग कर रहा था। वाणी में शब्द की सामर्थ्य तथा अर्थ की समग्रता तो हो ही, विषय-वस्तु प्रमाण-सिद्ध हो अर्थात् असत्य न हो।

(२) स्फुटता न पदैरपाकृता, न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां, न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥
(किरात. २/२७)

यहाँ भीम की वाणी की प्रशंसा में युधिष्ठिर कहते हैं कि तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कौन है (प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः, २/२८) जिसके शब्दों में स्फुटता (स्पष्टता) हो, अर्थ-गौरव (अर्थ का प्राचुर्य) विद्यमान हो, बातों में पृथगर्थता (पुनरुक्ति का अभाव या परस्पर विरोध का अभाव) हो और शब्दों की परस्पर आकांक्षा (सामर्थ्य) भी उपस्थित हो। भाषा के इन गुणों का भारवि ने उपदेश ही नहीं दिया है, पालन भी किया है।

(३) विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥
(किरात. १४/३)

यहाँ अर्जुन किरातवेशधारी शिव से कहते हैं कि परस्पर असंकीर्ण वर्णों के आभूषण से युक्त, सुनने में सुखद (श्रुतिकटु-दोष से रहित), शत्रुओं के मन को भी प्रसन्न करने वाली तथा प्रसाद-गुण एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त वाणी पुण्यकर्म के बिना प्रवृत्त नहीं होती। काव्य में भी ऐसी भाषा-शैली वाञ्छनीय है। इसी क्रम में अर्जुन आगे भी कहते हैं-

(४) स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः॥
(किरात. १४/५)

अर्थात् कुछ लोग वाणी की वाच्यार्थ-सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं, तो दूसरे विद्वान् केवल उक्ति (अर्थात् शब्द-सामर्थ्य) की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के पृथक्-पृथक् विचारों की स्थिति में सभी लोगों को प्रसन्न करने वाली (शब्दार्थसमन्वित वाणी) अत्यन्त दुर्लभ होती है। भारवि ने ऐसी ही वाणी को काव्य का उत्कर्ष समझा है।

कहीं-कहीं भारवि ने शास्त्रीय वैदुष्य का प्रदर्शन करते हुए सामान्य विषयों को भी गम्भीर रूप दे दिया है। किरातार्जुनीय के सत्रहवें सर्ग में वाणों के आधार पर अर्जुन की विजय-कामना की तुलना वैयाकरणों की शब्दाश्रित अर्थस्फोरण-कामना से की गयी है। यह पद्य भारवि की अर्थगम्भीरता का उत्कर्ष प्रस्तुत करता है-

संस्कारवत्त्वाद् रमयत्सु चेतः प्रयोग-शिक्षागुण-भूषणेषु।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे।।
(किरात. १७/६)

भारवि की काव्यशैली सामान्यतः वैदर्भी है, जिसमें समाससाहित्य या अल्पसमासता रहती है किन्तु कालिदास की शैली के समान कोमलता, पदलालित्य और परिष्कार का इसमें अभाव है। पाण्डित्य और कवित्व दोनों के प्रति समान आकर्षण के कारण भारवि भावों के सौन्दर्य पर तो ध्यान रखते हैं किन्तु शब्दों की मधुरता का बलिदान इनके पाण्डित्य के निकषोपल पर हो जाता है। राजनीति-जैसा शुष्क विषय हो या शरद्-वर्णन-जैसा सरस विषय आये, भारवि की भाषा-शैली रूक्षता नहीं छोड़ती। यही कारण है कि मल्लिनाथ ने इनकी वाणी को 'नारिकेलफलसम्मित' कहा है। नारियल ऊपर से रूक्ष ही नहीं, परस्पर रेशों के संघटन के कारण अभेद्य भी होता है, उसकी अन्तःसरसता ऊपर से नहीं जानी जा सकती। वही बात भारवि के काव्य के बहिरङ्ग में (भाषा-शैली में) निहित है। किन्तु ऊपरी रेशों को दूर हटाकर जब भावों के सौन्दर्य का साक्षात्कार किया जाता है तो चित्त प्रसन्न हो जाता है। बहिरङ्ग प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ है, तो अन्तरङ्ग चित्त को द्रवित करता है। द्रौपदी के उत्तेजक भाषण में कवि ने दोनों क्षमताएँ दिखायी हैं जैसे-

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।।
(किरात . १/३६)

शब्दों में यमक का प्रयोग और भावों में युधिष्ठिर को उपालम्भ-ये दोनों समान रूप से निविष्ट हैं। 'आप इन दोनों भाइयों (नकुल-सहदेव) की वर्तमान दुर्दशा देखकर भी अपने धैर्य और संयम को छोड़ नहीं पाते-आश्चर्य की बात है।' इस उपालम्भ की पराकाष्ठा तब होती है जब द्रौपदी युधिष्ठिर को धनुष छोड़कर हवन-कार्य में जीवन बिताने का व्यङ्ग्य करती है (विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् १/४४)। पात्रों के अनुरूप ओजस्विता और शमन का आधान करने में भारवि की प्रवीणता अनुपम है। द्रौपदी तथा भीम के ओजःपूर्ण वचन पाठक को उत्तेजित करते हैं तो युधिष्ठिर और व्यास के वचनों में शान्ति का निवेश है। इनमें कवि की नीतिकुशलता सर्वत्र प्रकट हुई है। राजा का आदर्श युधिष्ठिर की दृष्टि में मृदुता और उग्रता का यथावसर प्रयोग ही है-

समवृत्तिरुपैति मार्दवं, समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा, स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥
(किरात. २/३८)

'किरातार्जुनीय' के चतुर्थ सर्ग में शरद्-ऋतु का भव्य वर्णन करते हुए इसी शैली में कवि ने कतिपय सुन्दर शब्दचित्र अङ्कित किये हैं। वर्षा के कारण जो मार्ग पहले टेढ़े-मेढ़े थे, अब शरद् में खेतों का जल सूख जाने से सीधे हो गये है; उन मार्गों पर समीपवर्ती (अगल-बगल) पौधों को बैल खा गये है; गाड़ियों के पहियों के चिह्न (लीक) बन जाने से कहीं-कहीं उन मार्गों पर कीचड़ घनी हो गयी है और लोगों के निरन्तर आने-जाने से अब वे मार्ग स्पष्ट दिखायी पड़ रहे हैं-

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां, वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः।
रथाङ्गसीमन्तित-सान्द्रकर्दमान्, प्रसक्तसम्पात-पृथक्कृतान्पथः॥
(किरात. ४/१८)

इसी प्रकार हरे-हरे सुग्गों के अपनी लाल चोंचों से धान की पीली बालियों को लेकर उड़ने में कवि ने इन्द्रधनुष के सौन्दर्य की उपमा दी है-

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः, शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला, धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥
(किराता. ४/३६)

इस महाकाव्य के पञ्चम सर्ग में द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग करते हुए कवि ने 'यमक' अलङ्कार का ऐसा प्रयोग किया है कि माघ इसके अनुकरण के लिए उत्सुक हो उठे। हिमालय का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं-

पृथुकदम्ब-कदम्बक-राजितं ग्रथित-माल-तमाल-वनाकुलम्।
लघु-तुषार-तुषारजलश्च्युतं धृत-सदान-सदानन-दन्तिनम्॥[1]

अर्थात् यह हिमालय बड़े-बड़े कदम्ब पुष्पों के समूह से शोभित है, पंक्तियों में निबद्ध तमालवनों से भरा है, यहाँ बूँद-बूँद करके हिमजल चू रहा है और सुन्दर मुखवाले (सदानन) मतवाले (सदान) हाथियों को यह धारण करता है। इस प्रसङ्ग में एक पद्य पाद-यमक के रूप में है- **सकलहंसगणं शुचि मानसम्** (सभी हंस-गणों से युक्त पवित्र मानसरोवर) तथा **सकलहं सगणं** शुचिमानसम् (अपनी पत्नी पार्वती से विवाद किये हुए, प्रथम आदि गणों के साथ, पवित्र मनवाले भगवान् शिव को)। इन दोनों को हिमालय धारण करता है (५/१३)।

इसी सर्ग में एक प्रसिद्ध उपमा प्रयुक्त है[2] जिसमें यक्ष अर्जुन को समझाता है कि यहाँ स्थल-

---

१. किरात. ५/९, तुलनीय-शिशुपालवध ६/२

नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुट-पराग-परागत-पङ्कजम्।
मृदुलतान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

२. अलंकार की दृष्टि से वस्तुतः इसमें 'निदर्शना' है जहाँ उपमान तथा उपमेय के असम्भव धर्म के योग से प्रतिबिम्बन ध्वनित होता है। सादृश्यमूलक होने से भारवि की अप्रस्तुत-योजना का इसे प्रकृष्ट उदाहरण कहा गया है।

कमलों के पराग आँधी (वात्या, चक्रवात) के द्वारा इस प्रकार उड़ाये जाते हैं कि आकाश मण्डलाकार बन जाता है और स्वर्ण से निर्मित छत्र का रूप धारण कर लेता है-

उत्फुल्ल-स्थल-नलिनी-वनादमुष्म
दुद्धूतः सरसिज-सम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता
दाधत्ते कनकमयातपत्र-लक्ष्मीम्॥ (किरात. ५/३९)

इस उपमान के कारण कवि को 'आतपत्र-भारवि' भी कहा गया है।

पञ्चम सर्ग में कवि ने अनेक छन्दों के प्रयोग की क्षमता भी दिखायी है। जैसे- द्रुतविलम्बित (१-१६), औपच्छन्दसिक (१७), क्षमा (१८), प्रमिताक्षरा (२०), प्रभा (२१), रथोद्धता (२२), जलधरमाला (२३), प्रहर्षिणी (२६), जलोद्धतगति (२७), वसन्ततिलका (२८-३०), पुष्पिताग्रा (३२), शालिनी (३६), वंशपत्रपतित (४३), मालिनी (५२)। भारवि के द्वारा प्रयुक्त वंशस्थ छन्द की प्रशंसा क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में की है। इस छन्द का उपयोग कवि ने प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, चतुर्दश-इन सर्गों में मुख्य छन्द के रूप में किया है। मुख्य छन्द के रूप में इन्होंने वियोगिनी (सर्ग-२), उपजाति (सर्ग-३, १६, १७), प्रमिताक्षरा (सर्ग-६), प्रहर्षिणी (सर्ग-७), स्वागता (सर्ग-९), पुष्पिताग्रा (सर्ग-१०), अनुष्टुप् (सर्ग-११ तथा १५), उद्गता (सर्ग-१२), औपच्छन्दसिक (सर्ग-१३ में ३४ वें पद्य तक, ३५ से ७० तक रथोद्धता) का प्रयोग किया है, सर्गान्त में छन्द के परिवर्तन की पद्धति भी रखी है। अठारहवें सर्ग में भी पञ्चम सर्ग के समान अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। छन्दों के वैविध्य का प्रदर्शन संस्कृत कवियों में सर्वप्रथम भारवि ने ही इस परिमाण में किया है। यह उनके पाण्डित्य और विचित्र मार्ग के प्रवर्तन का परिचायक है।

अलङ्कारों का स्वाभाविक तथा परिश्रम साध्य-प्रयोग भी भारवि के काव्य में प्रचुर रूप से मिलता है। कुछ उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।[1] हिमालय-वर्णन के प्रसङ्ग में 'रूपक' का निम्नांकित पद्य में बहुत सुन्दर प्रयोग है-

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः
शय्या नवानि हरिचन्दन-पल्लवानि।
अस्मिन् रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः॥ (किरात. ५/२८)

अर्थात् यहाँ शोभासम्पन्न लताकुञ्ज ही भवन हैं, ओषधियाँ (जड़ी-बूटियाँ) दीपक हैं, हरिचन्दन (कल्पवृक्ष) के नये-नये पल्लव शय्या हैं; रति के श्रम को दूर करने वाले कमल वन-जन्य समीरण सुरसुन्दरियों को स्वर्ग का स्मरण करने ही नहीं दे रहे हैं। भाव यह है कि हिमालय में प्राप्त भोग-सामग्री स्वर्ग से भी बढ़कर है।

प्रयत्न-साध्य अलङ्कारों में अर्थालङ्कार नहीं, अपितु शब्दालङ्कार ही हैं जो 'चित्रकाव्य'

---

१. उत्प्रेक्षा (२/१०, ११, ३/८), अतिशयोक्ति (३/६०), श्लेष (१/२४), एकावली (१/१२), समासोक्ति (२/३६; ३/६०, आदि अलंकारों के सुन्दर प्रयोग भारवि ने किये हैं।

के रूप में प्रयुक्त हैं। इस दृष्टि से शिव और अर्जुन के विचित्र युद्ध का वर्णन करने के लिए पञ्चदश-सर्ग नियुक्त किया गया है। इस सर्ग में कहीं एकाक्षर पद्य है (श्लोक-१४), कहीं दो अक्षरों का पद्य है (५, ३८); कहीं पादादि-यमक है (१०), तो कहीं पाद के आदि-अन्त में यमक है (८, मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयत:); कहीं गोमूत्रिकाबन्ध है (१२), तो कहीं सर्वतोभद्र है (२५); कहीं पूर्वार्ध और उत्तरार्ध एक ही है (१६ तथा ५०); कहीं एक ही श्लोक सीधा-उलटा एक समान है (१८ तथा २०)[1], कहीं चारों पादों की एकरूपता से महायमक है (५२ विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा:- चारों पादों में यही है); कहीं दो अर्थों वाले (१६, ५०), कहीं तीन अर्थों वाले (४२) और कहीं चार अर्थों वाले पद्य भी हैं (५२)। इस प्रकार भारवि ने प्रयत्नसाध्य चित्रालङ्कार का व्यापक रूप से इस सर्ग में प्रयोग किया है।

यहाँ एकाक्षर (केवल एक व्यञ्जन 'न') प्रयोग वाले पद्य का उदाहरण दिया जाता है-

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ (किरात.१५/१४)

अर्थ इस प्रकार है- (**नानानना:**) हे अनेक मुखवाले शिवसैनिको, (**ऊननुन्न:**) निकृष्ट व्यक्ति के द्वारा आहत पुरुष (**ना न**) वस्तुत: पुरुष नहीं है। (**नुन्नोन:**) जिसने न्यूनता को नष्ट कर दिया है ऐसा (**ना ननु अना**) पुरुष वस्तुत: पुरुष से भिन्न अर्थात् देवता है। (**न-नुन्नेन:**) जिसका स्वामी अनाहत या अक्षत है वह (**नुन्न: अनुन्न:**) आहत होने पर भी आहत नहीं है। (**नुन्ननुन्ननुत्**) अत्यधिक आहत व्यक्ति को क्षति पहुँचाने वाला (**न अनेना:**) अपराध-मुक्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार पूर्वार्ध की आवृत्ति उत्तरार्ध के रूप में होने से दो-दो अर्थ निकलते हैं-

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारबाणो ऽ युगलोचनस्य।
घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणो युगलोचनस्य॥
(किरात. १५/५०)

'इधर त्रिलोचन शिव का शक्ति-सम्पन्न (ससार) और ध्वनियुक्त बाण अर्जुन के घने बाण-समूह को छिन्न-भिन्न करके व्याप्त हुआ और उधर द्विलोचन अर्जुन का बाण घने अर्जुन वृक्ष, बाणवृक्ष और सुपारी (पूग) के वनों को चीर कर व्याप्त हुआ।' एक पद्य में जो चारों चरण समान हैं वहाँ- **विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा:** (पद्य-५२)- के चार अर्थ इस प्रकार हैं- (१) जगतीश-मार्गणा: विकाशम् ईयु:=पृथ्वीपति अर्जुन के बाण विस्तार को प्राप्त हुए। (२) जगति ईशमार्गणा: विकाशम् ईयु:=संसार में शिव के बाण वि-काश (विषम गति) को प्राप्त हुए अर्थात् बिखर गये, टूट गये। (३) जगती-श-मार-गणा: विकाशम् ईयु:=संसार को दु:ख देने वाले (जगतीं श्यन्ति तनूकुर्वन्ति इति) दानवों को मार डालने वाले शिवगण प्रसन्न हुए। (४) जगतीश-मार्गणा: वि-काशम् ईयु:=जगती के स्वामी शिव को ढूँढ़ने वाले (मार्गणा:) देवादि-समूह पक्षियों के स्थान पर (वि=पक्षी, काश=स्थान) अर्थात् आकाश में आ गये।

---

१. किरात. १५/१८ **वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे।**
यात किं विदिशो जेतुं तुंजेशो दिवि किंतया॥
प्रथम पाद का उलटा द्वितीय पाद एवं तृतीय पाद का उलटा चतुर्थ पाद है।

इस प्रकार भारवि ने बौद्धिक व्यायाम के रूप में चित्रालङ्कार का प्रयोग करके संस्कृत भाषा की उस क्षमता का प्रकर्ष दिखाया है जो संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं है। शब्द-विश्लेषण-शास्त्र (व्याकरण) का इसमें प्रभूत योगदान है।

अर्थगौरव (भारवेरर्थगौरवम्)- भारवि की शास्त्रगत व्युत्पत्ति के अतिरिक्त लोकानुभव का प्रकृष्ट परिचय उनकी सूक्तियों में प्राप्त होता है। उनके सुभाषित शास्त्रों के पाण्डित्य से मण्डित तथा व्यापक अनुभूतियों से समन्वित हैं। उनमें नीति, राजनीति तथा सामान्य जीवन से सम्बद्ध सूक्तियों का भाण्डागार है। इन सभी में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार निहित है। इन सूक्तियों में 'अर्थगौरव' की महत्ता अङ्कित करके सहृदय समीक्षकों ने एक उक्ति प्रचलित कर दी है- भारवेरर्थगौरवम्। अर्थगौरव वह काव्यगुण है जिसमें अल्पतम शब्दों में व्यापक अर्थ को प्रकाशित करने की क्षमता प्रकट हो। भारवि की सूक्तियों में यह गुण प्रचुर परिमाण में विद्यमान है।

यहाँ कुछ सामान्य सूक्तियों के उद्धरण दिये जाते हैं-

(१) **हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः** (१/४)-ऐसी वाणी दुर्लभ है जो हितकर होने के साथ मन के अनुकूल भी हो।

(२) **समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः** (१/८)-नीचों की संगति की अपेक्षा बड़े लोगों से विरोध कहीं अच्छा है क्योंकि उससे ऐश्वर्य की सिद्धि होती है।

(३) **अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता** (१/२३)-बलवान् व्यक्तियों से विरोध करने पर अन्त तो कष्टकर होगा ही।

(४) **वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि** (८/३७)-प्रेम में गुण बसते हैं, किसी भौतिक पदार्थ में नहीं।

(५) **आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः** (११/१२)-इन्द्रियों के विषय तो अपनी प्राप्ति के ही समय अच्छे लगते हैं, अन्तिमावस्था में वे सन्ताप ही देते हैं।

(६) **सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्** (११/११)- संसार में सौन्दर्य की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु गुणों की प्राप्ति बहुत कठिन है।

(७) **सहसा विदधीत न क्रियाम्** (२/३०)-बिना विचारे अर्थात् अकस्मात् कोई काम नहीं करना चाहिए।

(८) **अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः** (११/८)- अपने बान्धव को कोई न भी पहचान पाये, तथापि उसे देखकर मन में प्रबल हर्षोद्रेक होता ही है।

(९) **दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम्** (१०/४०)- किसी उद्देश्य का अन्तिम परिणाम क्या होगा, यह जानना कठिन है।

(१०) **आत्मवर्गहितमिच्छति सर्वः** (९/६४)-सभी लोग अपने वर्ग का हित चाहते हैं।

(११) **यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः** (८/४)-कामी जन सर्वदा गुणों की क्रमशः अधिकता की खोज करते रहते हैं (उपस्थित गुणों से सन्तुष्ट नहीं होते)।

(१२) **मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि** (३/५३)-ईर्ष्याग्रस्त व्यक्तियों के चित्त सज्जनों के प्रति भी द्वेष-युक्त ही रहते हैं।

(१३) **वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः** (९/१६)-सभी लोग निरापद स्थान पर रहना चाहते हैं।

भारवि राजनीति के विशिष्ट ज्ञाता हैं। इसलिए तद्विषयक सूक्तियाँ भी उन्होंने अनेकानेक दी हैं। जैसे-**प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः** (३/१७ युद्ध में विजय की प्राप्ति पराक्रम पर ही आश्रित होती है), **तेजोविहीनं विजहाति दर्पः** (१७/१६ निस्तेज व्यक्ति के पास स्वाभिमान कहाँ से होगा?), **अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः** (१/३३ क्रोध-शून्य व्यक्ति का न मित्र ही आदर करता है और न शत्रु ही उससे डरता है), **व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः** (१/३० वे मूर्ख अवश्य ही पराजय पाते हैं जो मायावियों के प्रति माया का प्रयोग नहीं करते), **प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया** (२/२१ बड़े राजाओं का यह स्वभाव है जिसके कारण वे दूसरों के अभ्युदय को सह नहीं पाते)।

किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग में नीति से पूर्ण अनेक पद्य हैं जैसे-**ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः** (२/५) अर्थात् विद्वान् लोग किसी की वाणी के गुणों का ग्रहण करते हैं, वे यह नहीं देखते कि यह किस वक्ता की वाणी है (स्त्री की बात है या पुरुष की)। अर्थगौरव से सम्पन्न यह पद्य बहुधा उद्धृत किया जाता है-

> **विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।**
> **स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः।**
> (किरात. २/३)

नीतिशास्त्र बहुत दुर्गम है, फिर भी इसमें लोग प्रवेश करते ही हैं क्योंकि इसमें प्रवेश करने के लिए गुरुओं ने मार्ग बनाये हैं। जलाशय में प्रवेश करने के लिए सोपान बना दिये जाने पर सभी लोगों का अवगाहन सरल हो जाता है वैसे ही भयावह नीतिशास्त्र की स्थिति है। किन्तु वह व्यक्ति दुर्लभ होता है जो कृत्य (नीतिशास्त्र पक्ष में-करने योग्य कार्य, जलाशय पक्ष में-स्नानादि) के लिए उचित मार्ग बताये। नीतिक्षेत्र में उस व्यक्ति का महत्त्व है जो समय पर कर्तव्य के विषय में सही परामर्श दे। जलाशय के पक्ष में वह व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है जो जलाशय में सोपान बना दे, स्नान करने वाले तो अनेक होंगे।

(३) भट्टि

दक्षिण भारत में यदि भारवि छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में अपनी कीर्ति-कौमुदी से सम्पन्न थे तो उसी काल में पश्चिम भारत भट्टि की यशःसुरभि से सुवासित था। अपने महाकाव्य 'रावणवध' में इन्होंने व्याकरण और अलङ्कारशास्त्र को कसकर भरा है। उदाहरणों के द्वारा व्याकरण सिखाने का इनका उद्देश्य इस महाकाव्य के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इनका महाकाव्य अपने मूल नाम से कम ही जाना जाता है, लेखक के नाम के आधार पर इसे प्रायः 'भट्टिकाव्य' ही कहा जाता है।

जीवनवृत्त तथा समय- भट्टि के जीवन से सम्बद्ध केवल दो सूचनाएँ प्राप्त हैं। पहली सूचना स्वयं भट्टिद्वारा इस काव्य में दी गयी है कि उन्होंने वलभी (गुजरात) में इस काव्य की रचना की

जहाँ श्रीधरसेन-नामक राजा राज्य कर रहे थे-

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेन-नरेन्द्र-पालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥ (भट्टिकाव्य २२/३५)

सम्भवतः श्रीधरसेन की प्रार्थना पर भट्टि ने ऐसे काव्य की रचना की जो व्याकरण तथा अलङ्कार की शिक्षा के लिए उपयुक्त हो। उक्त पद्य के उत्तरार्ध से यह संकेत प्राप्त होता है। वलभी में श्रीधरसेन नामक चार राजा हुए हैं जो ५०० ई० से ६४१ ई० के मध्य थे। भट्टि किस श्रीधरसेन के आश्रित थे, इसके स्पष्टीकरण के लिए दूसरी सूचना का आश्रय लेना पड़ता है। श्रीधरसेन द्वितीय का एक शिलालेख ६१० ई० का मिला है जिसमें भट्टि-नामक किसी व्यक्ति को राजा द्वारा भूमि दिये जाने की चर्चा हैं। यदि इसी व्यक्ति को भट्टिकवि माना जाये तो इनका समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध (५५० ई० से ६१० ई०) माना जा सकता है।

भट्टि ने इस काव्य की प्रशंसा में यह पद्य दिया है-

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥
(भट्टिकाव्य २२/३४)

अर्थात् यह काव्य व्याख्या से ही समझा जा सकता है; बुद्धिमानों के लिए तो यह अत्यधिक आनन्द का विषय है किन्तु मेरी विद्वत्प्रियता के कारण मूर्ख जन इसमें मारे ही गये (उनका प्रवेश यहाँ नहीं हो सकता)। इस पद्य का भामह ने कुछ विकृत ढंग से अनुकरण किया है और क्लिष्ट काव्य के प्रति उदासीनता दिखायी है।[1] भट्टिकाव्य को लक्षित करके ही उन्होंने व्यङ्ग्य किया है। भामह का समय प्रायः ६०० ई० माना जाता है। सम्भव है, भट्टि और भामह समकालिक हों तथा वे एक-दूसरे को जानते हों।

भट्टिकाव्य (रावणवध)[2]- यह भट्टिकवि की एक मात्र उपलब्ध रचना है। इसका मूल नाम 'रावणवध' है किन्तु लेखक के नाम से (भट्टिकाव्य) यह अधिक प्रसिद्ध है। रामायण की सम्पूर्ण कथा पर आश्रित २२ सर्गों का यह महाकाव्य है। इसमें १६२४ पद्य हैं। रामजन्म से आरम्भ करके राज्याभिषेक तक की कथा इसमें दी गयी है। इस काव्य को स्वरूप की दृष्टि से चार काण्डों या भागों में विभक्त किया गया है-

(१) प्रकीर्णकाण्ड- इसमें प्रथम पाँच सर्ग हैं जिनमें रामजन्म से लेकर सीताहरण तक की कथा वर्णित है। व्याकरण के प्रकीर्ण विषयों का प्रयोग होने पर भी प्रधान रूप से कृत्-प्रत्ययों

---

१. भामह- काव्यालङ्कार २/२०

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्॥
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥

२. जयमङ्गला टीका के साथ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से १८८७ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित; मल्लिनाथ की टीका तथा हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्बा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित; S. P. Narang — A Critical study of Bhaṭṭikāvya (Delhi).

का निरूपण इस काण्ड में है।

(२) **अधिकारकाण्ड**- इसमें षष्ठ से नवम सर्ग तक अवस्थित हैं जिनमें बालि-वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक, अशोक-वन-वृत्तान्त तथा हनुमान् का निग्रह वर्णित है। इस काण्ड में व्याकरण के कतिपय अधिकारों का निरूपण है जैसे-द्विकर्मक धातु, तच्छील में होने वाले कृत्प्रत्यय, आत्मनेपद, अनभिहित (कारक, विभक्ति), णत्व-षत्व आदि।

(३) **प्रसन्नकाण्ड**- दशम से त्रयोदश तक चार सर्ग इसी के अन्तर्गत हैं। यहाँ सीताभिज्ञान का रामद्वारा दर्शन, विभीषण का आगमन और सेतुबन्ध वर्णित हैं। एक प्रकार से रामायण के सुन्दरकाण्ड का आनन्ददायक कथानक यहाँ निरूपित है। दशम सर्ग अलंकारों पर, एकादश माधुर्य गुण पर, द्वादश भाविक (किसी घटना का प्रत्यक्ष रूप में वर्णन) पर है; त्रयोदश सर्ग के पद्य प्राकृत-संस्कृत दोनों भाषाओं में समान हैं। इसे 'भाषासम' कहा जाता है।

(४) **तिङन्तकाण्ड**- इस काण्ड में १४ वें से २२ वें सर्ग तक हैं। युद्ध से लेकर रामराज्याभिषेक तक की घटनाएँ इसमें वर्णित हैं। इस काण्ड के नौ सर्गों में क्रमशः लिट्, लुङ्, लृट्, लङ्, लट्, लिङ्, लोट्, लृङ् और लुट् के प्रयोग किये गये हैं। भट्टि ने कथानक को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि एक सर्ग में एक ही लकार का आद्यन्त प्रयोग हो।

इस काव्य की रचना का उद्देश्य अश्वघोष के काव्यों के समान है जहाँ आनन्द और लाभ का समन्वय किया गया है। एक ओर काव्य का आनन्द लिया जाये और दूसरी ओर व्याकरण के नियमों तथा प्रयोगों को आत्मसात् किया जाये-भट्टि ने यही लक्ष्य रखा था। भाषा को सजाने का साधन तो व्याकरण अवश्य है किन्तु भट्टि ने भाषा पर बहुधा व्याकरण को इतना प्रभावी बना दिया है कि कहीं-कहीं धातुरूप-पाठ का भ्रम होता है जैसे लङ्का में पहुँचे हुए वानरों के क्रियाकलाप के वर्णन में लिट् लकार के रूपों से भरे इस पद्य को लें-

भ्रेमुर्ववल्गुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुप्लुविरे निषेदुः।
आस्फोटयाञ्चक्रुरभिप्रणेदू रेजुर्ननन्दुर्वियुः समीयुः॥[1]

इसी प्रकार काव्य के आरम्भ में दशरथ का वर्णन करते हुए अनेक लघुवाक्य लुङ्लकार के 'सिच्' वाले रूपों से भरकर एक ही पद्य में कवि ने छोड़ रखे हैं-

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनपारीत् सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च॥ (१/३)

यहाँ अध्यैष्ट (अध्ययन किया), अयष्ट (यज्ञ किया), अपारीत् (तृप्त किया), सममंस्त (आदर किया), व्यजेष्ट (जीत लिया), अरंस्त (रम गया), न्यवधीत् (मार दिया)- ये सभी लुङ् के प्रयोग हैं जिनमें च्लि-विकरण का सिच्-आदेश है।

व्याकरण के कतिपय प्रयोग प्रसन्नकाण्ड में भी हैं जहाँ अलङ्कारों का प्राचुर्य है, पदों का लालित्य है जैसे निम्नाङ्कित पद्य में 'चक्रवाल यमक' का निवेश है तो 'नपुंसके भावे क्तः' सूत्र के व्यापक उदाहरण भी हैं-

---

१. भट्टिकाव्य १३/२८।

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा, विलसितं ह्रसितं स्मर-भासितम्।
न समदाः प्रमदा हतसंमदाः, पुरहितं विहितं न समीहितम्॥ (१०/६)

व्याकरण को मुख्य प्रतिपाद्य मानते हुए भट्टि ने कहा है कि इसे शब्दशास्त्र के नियमरूपी नेत्रों से सम्पन्न व्यक्ति ही ग्रहण कर सकते हैं, उनके लिए यह दीपक के समान है किन्तु व्याकरण-ज्ञान से रहित अन्धों के लिए तो यह हाथ में लिये गये दर्पण के तुल्य है जिसमें अपना भी मुख दिखाई नहीं पड़ेगा, दूसरों को क्या देखना-

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥ (२२/३३)

साहित्यिक वैशिष्ट्य- व्याकरण के प्रति अत्यधिक अभिनिवेश होने पर भी भट्टि ने अश्वघोष के ही समान कहीं-कहीं काव्य की ऊँचाई का आदर्श भी प्रस्तुत किया है। प्रसन्नकाण्ड में तो साहित्यिक उत्कर्ष का निरूपण है ही, अन्यत्र भी भावपूर्ण स्थलों में भट्टि वैयाकरणत्व छोड़कर कवि बन जाते हैं। अतिप्रसिद्ध रामकथा को अपने काव्य का कथानक बनाते हुए वे उन स्थलों के प्रति जागरूक हैं जहाँ पाठक उनसे भावान्वित, सुन्दर और प्रभावपूर्ण कविता की अपेक्षा रख सकता है।

सीता-परिणय की पूर्वपीठिका में शरदृतु का मनोरम वर्णन भट्टि ने द्वितीय सर्ग में १९ श्लोकों में किया है। प्रातःकाल में भ्रमर को, कुमुद्वती-सम्पर्क से दूषित होने के कारण, पद्मिनी अपने पास सटने नहीं दे रही है। वह भ्रमर पर कुपित है, मानिनी स्त्री अपने प्रेमी को दूसरे के साथ देख नहीं सकती-

प्रभात - वाताहति - कम्पिताकृतिः
कुमुद्वती - रेणु - पिशङ्ग - विग्रहम्।
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी
न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम्॥ (२/६)

इसमें कवि ने अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों का प्रयोग किया है। कुपिता नायिका से उपमा भी दी गयी है। शरद्-वर्णन का उपसंहार करते हुए भट्टि ने निषेध-मूलक एकावली अलङ्कार का प्रयोग करके शरत्सुषमा की रमणीयता दिखायी है-

न तज्जलं यन्न सुचारु - पङ्कजं
न पङ्कजं तद् यदलीन - षट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥ (२/१९)

वह जल नहीं जिसमें सुन्दर कमल न हों, वह कमल नहीं जिस पर भ्रमर बैठे न हों, वह भ्रमर नहीं जो अस्पष्ट गुञ्जन नहीं कर रहा है और वह गुञ्जन भी नहीं है जो मन को खींच नहीं लेता। इस प्रकार कवि ने प्रकृति के सुरम्य चित्र अङ्कित किये हैं।

इस महाकाव्य के बारहवें सर्ग में विभीषण की मन्त्रणा के रूप में बहुत सुन्दर नीति-प्रद उपदेश दिये गये हैं। एक पद्य में विभीषण कहता है कि सीताहरण के कारण राम सन्तप्त हैं और

बन्धुओं के मारे जाने से इधर हम भी सन्तप्त हैं। जैसे तप्त लोहे से तप्त लोहे को जोड़ा जाता है वैसे सन्तप्त पक्षों के बीच सन्धि कर लें, सीता को छोड़ दें-

रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो, वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तस्य तप्तेन यथायसो नः, सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम्॥ (१२/४०)

विभीषण 'आसन'-नीति (चुपचाप बैठकर बल बढ़ाना) का उपदेश बड़े संयत रूप में करता है-

शक्नोति यो न द्विषतो निहन्तुं, विहन्यते नाप्यबलैर्द्विषद्भिः।
स श्वावराहं कलहं विदध्यादासीत दुर्गादि विवर्धयँश्च॥ (१२/३३)

जो विजयार्थी राजा स्वयं निर्बल होने के कारण शत्रु का नाश नहीं कर पाता तथा अपने दुर्बल शत्रु के द्वारा नाश किये जाने के योग्य न हो तो उसे कुत्ते और शूकर के समान[1] आपस में किसी से उसका कलह करा देना चाहिए तथा स्वयं दुर्गादि साधनों को बढ़ाकर 'आसन' नीति अपना ले।

त्रयोदश सर्ग में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के समान पदों का निवेश करके पद्य लिखे गये हैं जिन्हें 'भाषासम' के अन्तर्गत रखा गया है। इन पद्यों में समासों का प्राचुर्य है जैसे-

अरविन्दरेणु-पिञ्जर-सारस-रव-हारि-विमल-बहु-चारुजलम्।
रवि-मणि-संभव-हिम-हर-समागमाबद्ध-बहुल-सुरतरु-धूपम्॥

(भट्टिकाव्य. १३/१९)

भारवि के समान भट्टि ने भी 'महायमक' का प्रयोग एक ही पाद को चारों पादों में रखकर भिन्न अर्थ देते हुए किया है-**बभौ मरुत्वान् विकृतः समुद्रः** (१०/१९)।

दशम सर्ग में एक पद्य 'यमकावली' का उदाहरण है जैसे-

न गजा नगजा दयिता दयिता
वि-गतं विगतं ललितं ललितम्।
प्रमदा प्र-मदाऽऽ महता महता
म- रणं मरणं समयात्समयात्॥ (१०/९)

दशम सर्ग में यमक के अनेक भेद तो उदाहृत हैं ही, अर्थालंकारों में क्रमशः दीपक, रूपक, उपमा तथा उसके अनेक भेद, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, वार्ता, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदार, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, उपमारूपक, तुल्ययोगिता, निदर्शन, विरोध, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि- इन अलंकारों के उदाहरण दिये गये हैं (१०/२३-७१)।

---

१. **श्वावराहं कलहम्**- चाण्डाल यदि शूकर को मारने में स्वयं समर्थ न हो तो उस पर कुत्ते को ललकार देता है। कुत्ता या शूकर कोई भी इस युद्ध में मरे, चाण्डाल को लाभ ही होता है कि उसे मृत पशु का मांस मिल जाता है। इसी प्रकार आसन-नीति अपनाकर ऐसा कलह अपने शत्रुओं के बीच करा दे तो विजिगीषु राजा का लाभ ही होता है।

भट्टि के द्वारा प्रमुख रूप से अनुष्टुप् (सर्ग ४-९ तथा १४-२२), उपजाति (सर्ग १, २, ३, ११, १२), आर्यागीति (सर्ग-१३) तथा पुष्पिताग्रा (सर्ग-१०) छन्द का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं इन्होंने प्रहर्षिणी, रुचिरा, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, मालिनी, मन्दाक्रान्ता आदि का भी निवेश किया है। व्याकरण और अलङ्कारों को भरने के कारण स्थान-स्थान पर इन्हें छन्द-परिवर्तन करने पड़े हैं। विविध छन्दों का प्रयोग करने में इन्हें समान रूप से निपुणता प्राप्त है।

भट्टिकाव्य की महत्ता शास्त्र के तुल्य मानी गयी है। संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसे अष्टाध्यायी और अमरकोश के परस्पर समन्वित परिणत फल के रूप में माना गया है-

अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता।
भट्टिकाव्यं गणेशश्च त्रयीयं सुखदास्तु वः।।[1]

निर्णयसागर प्रेस के संस्करण की भूमिका में भट्टिकाव्य की प्रशंसा में कहा गया है-

व्याकृत्या कोश - छन्दोभ्यामलङ्कृत्या रसेन च।
पञ्चकेनान्वितं काव्यं भट्टिकाव्यं विराजते।। (श्लोक-७)

अर्थात् व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार और रस-इन पाँचों से समन्वित भट्टिकाव्य शोभायुक्त है। अन्य उपादानों के विषय में सत्य जो भी हो, व्याकरण की तो सभी प्रक्रियाओं का भरपूर प्रयोग भट्टि ने किया है। राम के चारु चरित्र के वर्णन में सभी उपादान स्वयमेव आ जाते हैं।

(४) कुमारदास

'जानकीहरण' नामक महाकाव्य के रचयिता कुमारदास के स्थान के विषय में मतभेद होने पर भी अधिसंख्यक प्रमाण उन्हें सिंहल (लङ्का) का निवासी सिद्ध करते हैं। उनका काव्य सिंहली भाषा में शब्दशः अनुवाद के रूप में सुरक्षित है। इस काव्य की प्रतियाँ भी सिंहल से ही प्राप्त हुई हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार सिंहल के एक राजा (५१७-२६ ई०)[2] से इनकी अभिन्नता स्थापित की गयी है जिसमें महाकवि कालिदास को इनका मित्र कहा गया है। यह अप्रामाणिक है, इसमें सत्य यही है कि कालिदास से कुमारदास बहुत प्रभावित थे। राजशेखर ने तो किंवदन्ती के अनुसार कुमारदास तथा मेधाविरुद्र को जन्मान्ध बताया है (काव्यमीमांसा, अध्याय-४)।[3] उन्होंने 'रघुवंश' से टक्कर लेने वाला महाकाव्य 'जानकीहरण' को बताने के लिए एक श्लेषयुक्त पद्य दिया है-

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः।।[4]

वस्तुतः कुमारदास एक कवि थे, राजा नहीं। कीथ ने काशिका वृत्ति (६५० ई० के आस-पास)

---

१. निर्णय सागरप्रेस- संस्करण (भट्टिकाव्य-प्रस्तावना), श्लोक-३।

२. इस काल के राजा का नाम 'कुमार धातुसेन' था, कुमारदास नहीं।

३. काव्यमीमांसा (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्), पृ० २७ यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।

४. सूक्तिमुक्तावली ४/८६।

का प्रभाव कुमारदास पर बताया है, दूसरी ओर वामन (८०० ई०) ने उनके एक प्रयोग पर टिप्पणी दी है। इसलिए इनका समय ६५०-७०० ई० के बीच मानना युक्तियुक्त है। माघ पर भी कुमारदास का प्रभाव कीथ ने बताया है। काशिकावृत्ति का काल कुछ पहले मानकर कई विद्वानों ने कुमारदास को ६२० ई० के आस-पास वर्तमान माना है। दन्तकथाओं में परस्पर तारतम्य न होने एवं जानकी-हरण की पाण्डुलिपियों में असंगति के कारण इनके विषय में प्रामाणिक सूचना पाने में कठिनाई है।

जानकीहरण- कुमारदास की केवल एक ही रचना मिली है, जो 'जानकीहरण' महाकाव्य है। इसमें बीस सर्ग हैं। इसका प्रकाशन स्थविर धर्माराम ने कोलम्बो से १८९१ ई० में, हरिदास शास्त्री ने कलकत्ता से १८९३ ई० में तथा नन्दरगीकर ने बम्बई से १९०७ ई० में (केवल दस सर्ग) किया। प्रथम दोनों संस्करणों में क्रमश: १५ और १४ सर्ग थे। १६ वें सर्ग का सम्पादन डॉ० बार्नेट ने लन्दन से किया था। पाण्डुलिपि-सामग्री के प्राप्त होने से अब पूरा काव्य मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद से १९६६ ई० में पण्डित व्रजमोहन व्यास के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है।

जानकीहरण की सर्गानुसार कथा इस प्रकार हैं- अयोध्या, दशरथ तथा उनकी रानियों का वर्णन (सर्ग १); रावण के चरित्र का बृहस्पति द्वारा वर्णन (२); राजा दशरथ की जलकेलि तथा सन्ध्या-वर्णन (३); रामादि भाइयों का जन्म (४); ताड़का एवं सुबाहु का वध (५); राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र का जनकपुर-गमन, जनक से भेंट (६); राम और सीता का प्रेम एवं विवाह (७); सीता और राम का शृंगार (८); विवाह के बाद भाइयों का अयोध्या पहुँचना (९); दशरथ द्वारा राजनीति पर प्रवचन, रामवनगमन, सीताहरण (१०); राम-हनुमान् की मित्रता, बालिवध तथा वर्षा-वर्णन (११); शरद् ऋतु के आरम्भ में लक्ष्मण का सुग्रीव को डाँटना, सुग्रीव की क्षमा-याचना, पर्वत-वर्णन (१२); लङ्कादहन (१३); सेतुबन्ध (१४); अङ्गद का रावण की सभा में जाना (१५); राक्षसों के विलास का वर्णन (१६); युद्ध-वर्णन, राम की विजय (१७-२०)।

महाकाव्यों की अलङ्कारवादी प्रवृत्ति के युग में इसकी रचना हुई थी अतएव अलङ्करण और लम्बे वर्णनों का इसमें प्राधान्य है; फिर भी ये वर्णन कथानक को छोड़ते नहीं। ये कथा के अङ्ग हैं। भारवि के समान इसमें भी चित्रकाव्य के प्रति बहुत आकर्षण दिखायी पड़ता है; तदनुसार यमक के अनेक भेद, गोमूत्रिकाबन्ध, मुरजबन्ध, सर्वतोभद्र, एकाक्षर श्लोक आदि इसमें प्रयुक्त हैं। अठारहवें सर्ग में डटकर चित्रकाव्य दिखाया गया है। सन्ध्या, सूर्यास्त, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि का अलंकृत वर्णन कवि के प्रकृति-प्रेम का सूचक है।

भावों के वर्णन में कवि की सहज प्रवृत्ति कहीं-कहीं चित्त को हठात् खींच लेती है जैसे बालक-रूप राम का यह चित्रण स्वाभाविक शिशुलीला का रूप प्रस्तुत करता है-

> **न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रत:।**
> **निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीक-निलीनमर्भक:।।** (४/८)

'राम यहाँ नहीं है, कहाँ गये' इस प्रकार जब स्त्रियाँ खेल-खेल में पूछने लगीं, तो उनके सामने शिशु (राम) ने अपनी हथेलियों से मुँह ढँक लिया और अपने को झूठ-मूठ में छिपा लिया। वसन्त ऋतु में रात्रियाँ छोटी होने लगती हैं और दिन बड़े होने लगते हैं। कुमारदास ने इस प्रकृति-विपर्यय पर कल्पना की है कि शिशिर-रूपी प्रियतम के वियोग से रात्रि क्षीण हो गयी और ग्रीष्म की असह्य

ऊष्मा से थककर दिन की गति धीमी हो गयी है -

प्रालेयकालप्रियविप्रयोग-ग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्त-क्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण॥ (३/१३)

अर्थ के सौन्दर्य के साथ भाषा को भी सुन्दर बनाने का प्रयास कुमारदास ने बहुत किया है जैसे-ततः सलीलं सलिलं विभिन्दन्नेवं वदन्नेव वराङ्गनाभिः (३/३२), अन्यापि कन्या जितसिद्धकन्या तादृग्गुणा तस्य बभूव देवी (१/४२), हरिर्हारि हितं वाक्यं जगाद गदनाशनः (२/१९) इत्यादि। प्रसाद और माधुर्य का निवेश इनमें यथायथ देखा जा सकता है। लम्बे स्रग्धरा-छन्द में ओज गुण का भी अर्थानुकूल निवेश देखा जा सकता है-

उत्फुल्लोद्धूतपक्ष-च्युतिहिमकणिका-वृष्टिरावासयष्ट्यां
दृष्ट्वा मार्तण्डधामोदयमुदितमुदोज्जृम्भते ताण्डवार्थी॥ (३/८०)

भारवि के समान कुमारदास ने अर्थान्तरन्यास का प्रयोग करते हुए कुछ मनोरम सूक्तियाँ भी दी हैं जैसे- **सज्जनेषु विहितं हि यच्छुभं, सद्य एव फलबन्धि जायते** (८/८५)= सज्जनों के प्रति किया गया शुभकर्म शीघ्र ही सुन्दर फल देता है। पतिप्रसादोन्नतयो **हि योषितः** (९/४)=पति को प्रसन्न रखना ही स्त्रियों का उत्कर्ष है। कुलस्त्रियो भर्तृजनस्य **भर्त्सने परं हि मौनं प्रवदन्ति साधनम्** (९/६)= पति के द्वारा डाँटे जाने पर कुलवधुओं के लिए मौन धारण करना ही उत्तम साधन है।

कुमारदास ने कालिदास का अनुकरण करते हुए जानकीहरण के अष्टम सर्ग में राम और सीता का सम्भोग-शृङ्गार प्रदर्शित किया है जो अत्यन्त अशालीन एवं मर्यादाविरुद्ध है। 'सिद्धरस' काव्य के लिए यह प्रसंग खटकता है। इसी प्रकार कौशल्या के रूप-वर्णन में सामान्य नायिका के समान चित्रण है-

दृष्टौ हतं मन्मथबाणपातैः शक्यं विधातुं न निमील्य चक्षुः।
ऊरू विधात्रा नु कृतौ कथं तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः॥ (१/२९)

'बुद्धिमान् लोगों को यह समझना कठिन था कि ब्रह्मा ने उसकी जंघाओं को कैसे बनाया। यदि आँखें खोलकर बनाते तो कामदेव के बाणों से मारे जाते और आँखें मूँद कर वैसा बनाना ही सम्भव नहीं था- इस प्रकार बुद्धिमान् लोक चक्कर में थे।'

यमक के द्वारा भी अर्थ-सौन्दर्य उत्पन्न करने में कुमारदास की विशिष्टता है जैसे-

अतनुना तनुना घनदारुभिः स्मरहितं रहितं प्रदिधक्षुणा।
रुचिरभाचिर-भासितवर्त्मना प्रखचिता ख-चिता न न दीपिता॥

'सुन्दर कान्तिवाली बिजली से मार्गों को प्रकाशित करने वाले बलशाली कामदेव ने बादल-रूपी लकड़ियों से विरही प्रेमी को जलाने की इच्छा से आकाश-रूपी चिता प्रस्तुत करके उसमें आग लगा दी है।' ए. बी. कीथ ने कुमारदास की प्रशंसा में कहा है- ''सौन्दर्य सम्भवतः कुमारदास की प्रधान विशेषता है; उनकी कविता में प्रसादयुक्त शैली में ध्वनि और छन्द के सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त की गई सुरुचिपूर्ण कल्पनाएँ बहुलता से पाई जाती हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य कोई

भाषा उक्त प्रकार के सौन्दर्य को उत्पन्न कर ही नहीं सकती।''[1]

कुमारदास ने भी प्रमुख रूप से अनुष्टुप् (सर्ग २, ६, १०), उपजाति (१, ३, ७) वंशस्थ (५, ९, १२), वैतालीय (४), रथोद्धता (८), द्रुतविलम्बित (११), प्रमिताक्षरा (१३) इत्यादि का एवं गौण रूप से शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता आदि लोकप्रिय छन्दों का प्रयोग किया है।

(५) माघ

शिशुपालवध-नामक महाकाव्य के रचयिता महाकवि माघ का स्थान संस्कृत महाकवियों में विशेष महत्त्व रखता है। परम्परा से इन्हें विद्वानों ने श्रेष्ठ महाकाव्य का प्रणेता माना है-**काव्येषु माघः**। भारवि के द्वारा प्रवर्तित विचित्र-मार्ग को माघ ने बहुत ऊँचाई पर पहुँचाया तथा भारवि से आगे बढ़ने का सफल प्रयास किया। इनके विषय में उक्तियाँ भी बहुत अधिक प्रचलित हैं। माघ की चर्चा अनेक दन्तकथाओं एवं तन्मूलक कथाग्रन्थों में भी हुई है। सौभाग्यवश इनका काल भी अधिक विवादास्पद नहीं है।

जीवनवृत्त-माघ के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में प्रामाणिक और अर्धप्रामाणिक साधनों का अस्तित्व है। प्रामाणिक साधन स्वयं माघ-द्वारा शिशुपालवध के अन्त में दिया गया कवि का स्ववंश-वर्णन है जिसमें पाँच पद्य हैं। अर्धप्रामाणिक साधन कुछ कथा-ग्रन्थ हैं जिनमें माघ के विषय में प्रचलित प्राचीन दन्तकथाओं को समाविष्ट किया गया है। ये हैं- बल्लालसेनकृत 'भोजप्रबन्ध' (१६ वीं शताब्दी), मेरुतुङ्ग नामक जैन कवि द्वारा रचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' (१३६० ई०), प्रभाचन्द्र-कृत प्रभावकचरित (१२०० ई०) तथा जैन ग्रन्थ 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह'। इन चारों में माघ कवि का संक्षिप्त जीवन-चरित दिया गया है। इन कथा-ग्रन्थों में सम्पूर्ण वृत्त को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि रोचकता का निवेश इनका मुख्य लक्ष्य है। फिर भी इनसे कुछ महत्वपूर्ण सूत्र निकाले जा सकते हैं।

'शिशुपालवध' के अन्त में जो कविवंशवर्णन दिया गया है उसके अनुसार माघ के पितामह सुप्रभदेव थे जो राजा वर्मलात (या श्रीवर्मल) के सर्वाधिकारी अर्थात् दीवान थे। वे पुण्यात्मा, अनासक्त तथा सात्त्विक वृत्ति के पुरुष थे-

> **सर्वाधिकारी सुकृताधिकारी श्रीवर्मलाख्य(त)स्य बभूव राज्ञः।**
> **असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा॥**
>
> (पद्य-१)

सुप्रभदेव के पुत्र का नाम 'दत्तक' था जो अत्यन्त उदार, क्षमाशील, कोमल स्वभाव के एवं धर्मपरायण थे (तस्याभवद् दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः, पद्य-३)। इन्हें लोग 'सर्वाश्रय' भी कहते थे क्योंकि सबकी सहायता के लिए वे तत्पर रहते थे। वे वस्तुतः इस युग के युधिष्ठिर (अजातशत्रु) थे। दत्तक के पुत्र महाकवि माघ थे जिन्होंने महाकवियों की ख्याति पाने की लिप्सा से इस महाकाव्य की रचना की-

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ), हिन्दी अनु०, पृ० १४९।

श्रीशब्दरम्यकृत - सर्गसमाप्तिलक्ष्म
लक्ष्मीपतेश्चरित-कीर्तन-मात्रचारु।
तस्यात्मजः सुकविकीर्ति-दुराशयादः
काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम्।। (पद्य-५)

कथा-ग्रन्थों में माघ के विषय में कहानियाँ हैं। 'भोजप्रबन्ध' में धारा नगरी में भोज के समय में माघ के विपन्नावस्था में निधन का वृत्तान्त दिया गया है। वे पहले बहुत सम्पन्न थे किन्तु याचकों को दान करते रहने से श्रीहीन हो गये एवं धारा में अपने मित्र भोज के पास पहुँचे। भोज की आर्थिक सहायता इनके पास तक नहीं पहुँच सकी। इस कथा में माघ की अनुपम दानशीलता का निरूपण है। सातवीं शताब्दी ई० के किसी राजा भोज से माघ की मैत्री थी, यह परम्परा प्रचलित रही होगी। माघ की उदारता 'वंश-वर्णन' से भी सिद्ध है। 'प्रबन्धचिन्तामणि' में उक्त कथा की बातों के अतिरिक्त भी कुछ सूचना मिलती है। माघ के जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि वे पहले तो वैभवशाली रहेंगे किन्तु अन्ततः दरिद्र हो जायेंगे। यह स्थिति होकर ही रही क्योंकि वे बड़े दानी निकले। उनकी मृत्यु 'पादशोथ'-रोग से हुई। माघ श्रीमाल (भिन्नमाल) नामक नगर के रहने वाले थे। यह नगर उस समय गुर्जर राज्य की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध था। वहाँ के सम्पन्न व्यक्तियों में माघ की गणना होती थी, सम्पन्नता किंवदन्ती का विषय बन गयी थी। इस कारण कहीं-कहीं उन्हें श्रेष्ठिन् (सेठ) भी कहा जाता था। जैनों के बीच उनकी कथाएँ बहुत प्रचलित थीं।

'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में उनके द्वारा एकमात्र महाकाव्य लिखे जाने का एक अद्भुत कारण बताया गया है। कथा दी गयी है कि माघ काव्य-रचना करके जब अपने पिता को दिखाते तो पिता उन्हें उत्साहित करने के स्थान पर काव्य की निन्दा करते। इस पर माघ ने पूरा काव्य लिखकर उसे रसोईघर में रख दिया। जब वह पुस्तक प्राचीन पाण्डुलिपि के समान लगने लगी तब माघ ने उसे अपने पिता को दिखाया। पिता ने यत्र-तत्र अवलोकन करके आनन्द से सिर हिलाते हुए कहा कि यही वास्तविक कविता है, तुम भी इसी के समान लिखा करो। माघ ने जब वस्तुस्थिति बतलायी तब पिता ने शाप दिया कि तुमने मुझसे छल किया है, अतः तुम्हारी काव्य सीमा यहीं तक होगी, अब तुम कुछ लिख नहीं पाओगे। इसके बाद उनके पिता की मृत्यु हो गयी और अपार धन के स्वामी बन जाने से माघ का जीवन विलासमय हो गया। वस्तुतः वे काव्य-रचना में असमर्थ हो गये। किन्तु इस काव्य ने माघ को देश-देशान्तर में विख्यात कर दिया।

माघ का निवासस्थान श्रीमाल या भिन्नमाल नामक नगर में था। यह नगर अभी माउंट आबू से ४० मील पूर्व जोधपुर प्रमण्डल (राजस्थान) में अवस्थित है। इसकी प्रसिद्धि गुर्जरों की प्राचीन राजधानी (छठी से नवीं शताब्दी ई० तक) होने के कारण थी।[१] चीनी यात्री हुएनत्सांग ने इस नगर का वर्णन किया है। स्कन्दपुराण के श्रीमालमाहात्म्य में इसकी महत्ता अङ्कित है। यहाँ के श्रेष्ठ ब्राह्मण वास्तुकला का अध्ययन करते थे। शिशुपालवध के तृतीय सर्ग में माघ ने जो द्वारकापुरी का वर्णन किया है उस पर इस नगर के वास्तविक अनुभव का प्रभाव है। सूर्य की पूजा से इस नगर का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहाँ की झील के निकट जगत्स्वामी सूर्य के मन्दिर की एक विशालकाय

---

१. Dr. B. C. Law- **Historical Geography of Ancient India**, p. 311

भग्न मूर्ति मिली है जो इस नगर का प्राचीनतम अवशेष है। माघ भी सूर्य-पूजक थे जिसके कारण इस महाकाव्य के एकादश सर्ग में उन्होंने सूर्य का वर्णन अन्य सभी कवियों की अपेक्षा अधिक किया है।[१] श्रीमाल (भीनमाल) में संस्कृत विद्या का महान् केन्द्र था, अनेक विद्याएँ यहाँ पढ़ायी जाती थीं। इसी नगर में शक-संवत् ५५० (६२८ ई०) में ब्रह्मगुप्त ने अपने ज्योतिष-ग्रन्थ 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' की रचना समाप्त की थी। जैन-धर्म और दर्शन की अनेक पुस्तकों के लेखक हरिभद्रसूरि (७०० ई०) की साहित्यिक गतिविधि का भी केन्द्र यही नगर था। हुएनत्सांग ने यहाँ बौद्धों के निवास की भी चर्चा की है। इस प्रकार भिन्नमाल नगर में रहकर माघ ने जैनों और बौद्धों के ग्रन्थों का भी परिचय प्राप्त किया था। जैनों की उदारता तथा बौद्ध-सिद्धान्तों के परिचय का संकेत शिशुपालवध में स्पष्ट रूप से मिलता है।

वर्मलात नामक राजा इसी नगर में रहते थे। माघ के पितामह उनके प्रधानमन्त्री थे। माघ का परिवार बहुत धनाढ्य था, सभी किंवदन्तियाँ इस तथ्य की सूचना देती हैं। जगत्स्वामी सूर्य के मन्दिर के ये लोग उपासक थे। माघ अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे, राजाश्रित होने के कारण अनेक शास्त्रों के अध्ययन की सुविधा इन्हें प्राप्त थी।

माघ का समय- यह कहा जा चुका है कि शिशुपालवध के अन्त में स्वयं माघ द्वारा दिये गये 'वंश-वर्णन' के अनुसार इनके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलात के सर्वाधिकारी (प्रधानमन्त्री या दीवान) थे। राजा वर्मलात का एक शिलालेख मिला है जिसे 'वसन्तगढ़-शिलालेख' कहते हैं। इसमें ६८२ संवत् का उल्लेख है।[२] इसे विक्रम संवत् मानकर वर्मलात एवं सुप्रभदेव का काल ६२५ ई० सिद्ध किया जाता है (श्रीवर्मलातनृपतिः पतिरवनेरधिकबलवीर्यः, श्लोक-३)। इस आधार पर सुप्रभदेव की तीसरी पीढ़ी में होनेवाले माघ को ६७५ ई० के अनन्तर माना जा सकता है। अधिसंख्यक विद्वान् ७०० ई० के आसपास ही माघ को स्वीकार करने के पक्षधर हैं।

माघ के पद्यों का उद्धरण १०० वर्षों के भीतर ही दिया जाने लगा था। सर्वप्रथम वामन ने (८०० ई०) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में (४/३/१०) अतिशयोक्ति-अलङ्कार के उदाहरण में शिशुपालवध का 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहा.' (३/८) पद्य उद्धृत किया है। प्रायः इसी काल में आविर्भूत राजा अमोघवर्ष (८१४ ई०) के आश्रित कवि नृपतुंग ने कन्नड़ ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में माघ को कालिदास के समकक्ष माना है। कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५ ई०-८८४ ई०) के आश्रित कवि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में शिशुपालवध के दो पद्य (रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः ३/५३; त्रासाकुलः परिपतन्. ५/२६) विभिन्न प्रसङ्गों में उद्धृत किये हैं।[३] सोमदेव (९६० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'यशस्तिलकचम्पू' में भी माघ का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि माघ की ख्याति ८०० ई० के आसपास दूर-दूर तक फैल गयी थी जिससे कश्मीर-नरेश जयापीड के सभाकवि वामन ने इनका उद्धरण दिया।

---

१. शिशुपालवध ११/४४-६७।

२. वसन्तगढ लेख, श्लोक ११- द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे।
जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुंगवैः॥

३. ध्वन्यालोक २/२७ के अन्तर्गत दोनों पद्यों का उद्धरण क्रमशः श्लेषध्वनि और उत्प्रेक्षा ध्वनि के प्रसङ्ग में।

शिशुपालवध के निम्नलिखित पद्य में आये हुए 'न्यास' शब्द को लेकर भी माघ के काल पर विचार किया गया है-

> अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
> शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ (२/११२)

इसमें राजनीति की तुलना शब्द-विद्या से की गई है और विशेषणों को श्लेषपूर्ण रखा गया है। मल्लिनाथ ने व्याकरण-परक व्याख्या करते हुए 'वृत्ति' का अर्थ काशिका (वामन जयादित्य रचित) तथा 'न्यास' का अर्थ 'वृत्तिव्याख्यान ग्रन्थ विशेष' समझाया है। तदनुसार लोगों ने जिनेन्द्रबुद्धि-रचित 'काशिका-विवरण-पञ्जिका' (या न्यास) को माघ से पहले का दिखाकर माघ का समय ७०० ई० के बाद माना है क्योंकि इस न्यास का समय ही ७०० ई० है। किन्तु काशिका के पूर्व भी वृत्तियाँ लिखी गयी थीं जिनकी व्याख्याएँ 'न्यास' के नाम से जानी जाती थीं। बाणभट्ट ने (६२० ई०) भी हर्षचरित में व्याकरण के 'न्यास' की चर्चा की है- कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि।[1] इससे स्पष्ट है कि 'न्यास' का तात्पर्य जिनेन्द्रबुद्धि की काशिका व्याख्या नहीं, अपितु पूर्ववर्ती न्यास ही है। इससे माघ के समय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। माघ का समय ६५० ई० से ७०० ई० के बीच माना जा सकता है।

शिशुपालवध- यह माघकवि की एकमात्र कृति २० सर्गों के महाकाव्य के रूप में है। देवर्षिनारद के द्वारा इन्द्र का सन्देश द्वारकापुरी में कृष्ण को मिलता है जिसमें शिशुपाल के अत्याचार से जगत् की रक्षा की प्रार्थना है। कृष्ण को इसी समय युधिष्ठिर का आमन्त्रण मिलता है कि राजसूय-यज्ञ में आयें। इस कर्तव्य संकट की स्थिति में कृष्ण बलराम और उद्धव से मन्त्रणा करते हैं। बलराम तो शिशुपाल पर आक्रमण का प्रस्ताव देते हैं किन्तु उद्धव बड़ी गम्भीर विवेचना से यह स्थापित करते हैं कि युधिष्ठिर के यज्ञ में सेना-सहित जाना उचित होगा। वहीं दुष्टता करने पर शिशुपाल को मारा जाये। तदनुसार कृष्ण इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करते हैं तथा मार्ग में विविध दृश्यों को देखते हुए वहाँ पहुँचते हैं। यज्ञ में भीष्म द्वारा कृष्ण का सम्मान होने पर शिशुपाल कुपित होता है और उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार करता है। कृष्ण उसका वध कर देते हैं। इस मूल कथानक को माघ ने कलात्मकता और विविध वर्णनों का प्रयोग करके बड़ा बना दिया है जिसमें किरातार्जुनीय की अपेक्षा बड़े-बड़े सर्गों में विभक्त १६४५ पद्य हैं, पन्द्रहवें सर्ग में ३४ प्रक्षिप्त श्लोक अतिरिक्त हैं जिनकी व्याख्या मल्लिनाथ ने नहीं की है। पाँच पद्य कविवंश-वर्णन के हैं उन्हें लगाकर माघ की रचना १६५० पद्यों की है।

सर्गानुसार इसका वर्ण्य विषय इस प्रकार है- (सर्ग १) देवर्षि नारद का द्वारका में आगमन, श्रीकृष्ण द्वारा उनका सत्कार, नारद द्वारा शिशुपाल के पूर्वजन्मों तथा उसके अत्याचारों का वर्णन, शिशुपाल को मारने के लिए प्रेरित करना। (सर्ग २) श्रीकृष्ण, बलराम और उद्धव की मन्त्रणा, बलराम का शिशुपाल पर आक्रमण का प्रस्ताव किन्तु उद्धव का नीतिपूर्ण प्रस्ताव कि इस विषय में शीघ्रता न करके युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सेना-सहित भाग लें। (सर्ग ३) द्वारका से श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान; नगरी, सेना और समुद्र का वर्णन। (सर्ग ४) रैवतक पर्वत का

---

१. **हर्षचरित** (डॉ० जगन्नाथ पाठक का संस्करण), पृ० १४७-४८।

वर्णन।[1] (सर्ग ५) रैवतक पर सैन्य-शिविर की स्थापना। (सर्ग ६) छह ऋतुओं का द्रुतविलम्बित छन्द में 'यमक' का निवेश करते हुए वर्णन। (सर्ग ७) वन-विहार-वर्णन। (सर्ग ८) जलक्रीड़ा-वर्णन। (सर्ग ९) सन्ध्या, चन्द्रोदय तथा शृङ्गार-विधान का वर्णन। (सर्ग १०) पान-गोष्ठी एवं रात्रि-विहार का वर्णन। (सर्ग ११) प्रभात-वर्णन। (सर्ग १२) श्रीकृष्ण का पुनः प्रस्थान तथा यमुना नदी का वर्णन। (सर्ग १३) श्रीकृष्ण और पाण्डवों का मिलना, नगर-प्रवेश तथा दर्शक नारियों की चेष्टाओं का, अश्वघोष और कालिदास से प्रतिस्पर्धा करते हुए, वर्णन। (सर्ग १४) युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का प्रस्ताव, श्रीकृष्ण की पूजा तथा भीष्म-द्वारा उनकी स्तुति। (सर्ग १५) शिशुपाल का कोप और उसके पक्ष के राजाओं का युद्ध के लिए सन्नद्ध होना। (सर्ग १६) शिशुपाल के दूत का श्रीकृष्ण के समक्ष उभयार्थक शब्दों का प्रयोग, सात्यकि का उत्तर, दूत का पुनः शिशुपाल के पराक्रम का वर्णन करना। (सर्ग १७) श्रीकृष्ण के पक्ष के राजाओं का कोप, सेना की प्रस्तुति तथा प्रस्थान। (सर्ग १८) सेनाओं का घोर युद्ध। (सर्ग १९) चित्रालङ्कार से पूर्ण पद्यों के द्वारा व्यूह-रचना एवं विचित्र युद्ध का वर्णन। (सर्ग २०) श्रीकृष्ण और शिशुपाल का शस्त्र-युद्ध, दिव्यास्त्र-युद्ध तथा वाग्युद्ध; शिशुपाल के अपशब्दों से कुपित कृष्ण द्वारा सुदर्शनचक्र से शिशुपाल का शिरश्छेदन, शिशुपाल के तेज का विजयी कृष्ण में प्रवेश।

स्पष्टतः यह कथानक महाभारत के सभापर्व (अध्याय ३५-४३) से लिया गया है जिसमें युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल के मारे जाने की कथा है। श्रीमद्भागवतपुराण के दशम स्कन्ध (अध्याय ७१-७५) में भी शिशुपाल की कथा प्रायः वैसी ही है, जैसी इस महाकाव्य में वर्णित है। इसलिए बहुत से विद्वान् भागवतपुराण को ही इस महाकाव्य का उपजीव्य (स्रोत) बताते हैं। किन्तु इसमें कुछ अन्तर भी कवि ने रखा है जो प्रायः उपक्रम के अन्तर्गत हैं। भागवतपुराण में नारद कृष्ण को पाण्डवों के द्वारा होने वाले यज्ञ की सूचना देते हैं और जरासन्ध के कारावास से एक दूत आकर कृष्ण से निवेदन करता है कि कारावास से राजाओं को छुड़ाइये। इन दोनों कार्यों में प्राथमिकता देने के विषय में कृष्ण उद्धव का परामर्श लेते हैं। महाकाव्य में नारद इन्द्र का सन्देश लाते हैं कि शिशुपाल का वध करके जगत् का उद्धार करें। इसमें उद्धव के साथ बलराम से भी मन्त्रणा की जाती है। दोनों कथानकों में कृष्ण के इन्द्रप्रस्थ-गमन का वर्णन है।

भागवत में कृष्ण की यात्रा में आनर्त, सौवीर, मरु तथा कुरुक्षेत्र को पार करने के वर्णन के साथ पर्वत, पुर, ग्राम, व्रज और आकरों का भी वर्णन है; कृष्ण दृषद्वती तथा सरस्वती नदियों को पार करते हैं, पांचाल एवं मत्स्यदेश को भी वे लाँघते हैं। इस महाकाव्य में द्वारका से इन्द्रप्रस्थ जाने में कोई भौगोलिक उपादान न देकर केवल रैवतक पर्वत तथा यमुना नदी का वर्णन है। बीच के स्थान को साहित्यिक वर्णनों से भरा गया है। वस्तुतः तृतीय सर्ग से एकादश सर्ग के कथानक को कालिदास की पद्धति से एक ही सर्ग में रखा जा सकता था किन्तु माघ को भारवि से प्रतिस्पर्धा थी जिसके कारण ये परम्परागत वर्णन बीच में रखे गये।

भारवि के काव्य के समान इस महाकाव्य में भी कथानक और चरित्र-चित्रण का विशेष

---

१. रैवतक पर्वत अभी गिरनार पर्वत के नाम से विख्यात है जहाँ यादवों का क्रीड़ास्थल था। यहाँ अशोक तथा रुद्रदामन् के शिलालेख मिले हैं, पर्वत पर जैन तथा ब्राह्मण धर्म के अनेक मन्दिर हैं। गुजरात में जूनागढ़ के पार्श्व में यह अवस्थित है।

महत्त्व नहीं है। वर्णनों और संवादों की विशालता से इस महाकाव्य को भरा गया है। भाषा की क्लिष्टता के प्रति माघ का विशेष आकर्षण है जिससे १९वें सर्ग में किरातार्जुनीय के १५ वें सर्ग की प्रतिस्पर्धा में चित्रकाव्य का व्यापक सन्निवेश किया गया है। भारवि के द्वारा अप्रयुक्त चक्रबन्ध का भी इसमें प्रयोग है।

महाकाव्यत्व-माघ-रचित शिशुपालवध महाकाव्य के लक्षणों को सर्वाधिक ग्रहण करने वाला महाकाव्य है। इसीलिए विद्वानों के बीच एक लोकोक्ति है- **काव्येषु माघः कवि-कालिदासः।** अर्थात् कवि की दृष्टि से कालिदास श्रेष्ठ हैं किन्तु काव्य (महाकाव्य) के लेखन में माघ उत्कृष्ट हैं। अलङ्कारवादी महाकवियों में भी माघ अग्रणी हैं क्योंकि प्रौढ़ पाण्डित्य के साथ कथानक को विचित्र मार्ग पर ले जाने की क्षमता इनमें सर्वाधिक है। कृष्ण के द्वारा शिशुपाल के मारे जाने का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध है, महाभारत और भागवतपुराण पर आश्रित है। महाकाव्य में प्रसिद्ध सज्जनाश्रय वृत्त रहता है (इतिहासोद्‌भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्)। इसके नायक कृष्ण हैं जो यदुपति तथा विष्णु के अवतार (जगन्निवासः) हैं। उनमें देवता के गुण हैं यद्यपि वे जगत् के त्राण के लिए (शासितुं जगत्) मानव रूप धारण किये हुए हैं। शिशुपाल का वध उनके कर्तव्य के रूप में है। वे अतिथिप्रिय है, नारद के प्रति शिष्टाचार का अनुपम प्रदर्शन उन्होंने किया है। कृष्ण को सर्वत्र कवि ने अपने कर्तव्य के प्रति उत्साहयुक्त दिखाया है। इस महाकाव्य का प्रधान रस वीर है जिसके समर्थन के लिए सेना-प्रयाण और वास्तविक युद्ध का वर्णन किया गया है। अन्य रसों में शृङ्गार, हास्य, अद्‌भुत, भयानक इत्यादि का स्वाभाविक रूप से निवेश हुआ है। ये महाकाव्य के प्रमुख उपादान हैं।

महाकाव्य के गौण उपादानों का निवेश शिशुपालवध में अधिक परिमाण में मिलता है। 'श्रियः' इस मङ्गलप्रद शब्द से आरम्भ होने वाले इस महाकाव्य में वस्तुनिर्देश के रूप में ही उपक्रम हुआ है, आशीर्वाद या नमस्कार द्वारा नहीं। माघ कृष्ण के भक्त हैं, इसलिए उन्होंने पूरे ग्रन्थ में कृष्ण की महिमा गायी है। इसके सर्ग छन्दों के नियम का पालन करते हैं कि पूरा सर्ग एक छन्द में हो और सर्गान्त में एक-दो पद्य दूसरे छन्दों में हों। प्रथम सर्ग में वंशस्थ है, द्वितीय सर्ग में अनुष्टुप्, तृतीय सर्ग में उपजाति है; पंचम सर्ग में वसन्ततिलका है तो षष्ठ सर्ग द्रुतविलम्बित छन्द का है। सबके अन्त में छन्द परिवर्तित होते रहे हैं। चतुर्थसर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग है। ऐसा लक्षणकारों की मान्यता के अनुरूप है।

यहाँ परम्परागत वर्णनों का इतना प्राचुर्य है कि प्रायः दस सर्गों तक मूल कथानक व्याहत हो गया है (सर्ग ३-१२)। इस रिक्त स्थान को कृष्ण की सेना की द्वारका से इन्द्रप्रस्थ तक की यात्रा के वर्णन से भरा गया है। किन्तु इस यात्रा में भौगोलिक स्थानों का वर्णन नहीं, अपितु नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, जल-विहार, सन्ध्या, चन्द्रोदय, रात्रि-विहार, प्रभात, नदी-इनके वर्णन जमकर किये गये हैं। तृतीय सर्ग में जो कृष्ण द्वारकापुरी से चलते हैं तो त्रयोदश सर्ग में ही इन्द्रप्रस्थ पहुँच पाते हैं-कथानक तभी विच्छिन्नावस्था से निकलकर मूल स्थिति में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णनों का अवसर निकालने के लिए माघ ने कथानक का विच्छेद किया। कवि ने युद्ध-वर्णन को भी बहुत लम्बा खींचा है। अपनी प्रौढ़ता, वर्णन-वैपुल्य, भाषा और शैली का चमत्कार, पाण्डित्य-प्रकर्ष आदि उपादानों के समावेश के कारण माघ ने इस महाकाव्य के द्वारा इस काव्य-प्रकार को उत्कर्ष प्रदान किया है। शिशुपाल-जैसे दुष्ट के वध से कृष्ण द्वारा धर्म की स्थापना इस

काव्य का सुरम्य फल है। मल्लिनाथ ने इस महाकाव्य की संक्षिप्त विशिष्टता का निरूपण इस प्रकार किया है-

> नेतास्मिन् यदुनन्दनः स भगवान् वीरप्रधानो रसः
> शृङ्गारादिभिरङ्गवान् विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना।
> इन्द्रप्रस्थ-गमाद्युपाय-विषयश्चैद्यावसादः फलं
> धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्ति-संसेवनात्॥[1]

साहित्यिक वैशिष्ट्य- संस्कृत साहित्य में एकमात्र माघ ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने काल तक विकसित महाकाव्यों के सभी उत्कृष्ट गुणों का समावेश अपनी रचना में किया है। कालिदास का काव्य-सौन्दर्य और अभिव्यञ्जना भी इनमें है तो भारवि का अर्थगौरव एवं भट्टि का शब्दशास्त्रानुराग भी इनमें वर्तमान है। काव्य के अन्तरङ्ग भेद उत्तम, मध्यम और चित्रकाव्य के रूप में मम्मट-द्वारा कालान्तर में किये गये। माघ ने तीनों के उदाहरण अपनी रचना में पहले ही से प्रस्तुत कर रखे थे। कलापक्ष और भावपक्ष-दोनों को सजाने-सवाँरने की प्रवृत्ति माघ में पुष्कल रूप से है। तभी तो इन्होंने जीवन में दैव और पुरुषार्थ के समन्वय के समान काव्य-जगत् में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व स्थापित किया-

> नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
> शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥[2]

अर्थमात्र के चमत्कार में या शब्दमात्र में काव्य की इयत्ता समझने वाले एकाङ्गी विद्वानों को माघ ने भामह आदि के ही समान हेय माना है। चित्रालंकारों में वे भले ही शब्द पक्ष पर बल देने लगते हैं, तथापि इसे उनका स्वाभाविक अभिनिवेश नहीं मानना चाहिए। भारवि की प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने के लिए तथा चित्रकाव्य का समावेश करने के लिए माघ ने शिशुपालवध के १९ वें सर्ग में एकाक्षर, द्व्यक्षर, सर्वतोभद्र, मुरजबन्ध, प्रतिलोमयमक (३३-३४), गोमूत्रिकाबन्ध, समुद्गयमक (५८), अर्धप्रतिलोम-यमक (८८) तथा चक्रबन्ध (१२०) जैसे श्रमसाध्य चित्रकाव्यों का प्रयोग किया है। द्व्यक्षर पद्यों की तो यहाँ भरमार ही है (६६, ८४, ८६, ९४, ९८, १००, १०२, १०४, १०६)।

चित्रकाव्य के अन्तर्गत प्रतिलोम यमक वहाँ होता है जहाँ किसी श्लोक के अन्तिम अक्षर से लौटते हुए पूर्व की ओर उसे पढ़ें कभी-कभी इससे नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है (जैसे ३३ वें का प्रतिलोम ३४ वाँ पद्य है), किन्तु कहीं-कहीं वही अर्थ हुआ है जैसे-

> विदितं दिवि केऽनीके तं यातं निजिताजिनि।
> विगदं गवि रोद्धारो योद्धा यो नतिमेति न॥[3]

अर्थात् जो योद्धा (भगवान् कृष्ण) कभी शत्रुओं के समक्ष विनत नहीं होते (यो योद्धा नतिं न एति), जो युद्धों को अच्छी तरह जीत चुकी (निजिताजिनि) सेना में (अनीके) पहुँचे हुए हैं (यातम्) तथा स्वर्ग में भी विख्यात हैं (दिवि विदितम्) ऐसे निरामय (अगदम्) कृष्ण को इस पृथ्वी पर

---

१. ल्लिनाथ कृत सर्वंकषा-टीका, मंगलश्लोक, सं० ७।
२. शिशुपालवध २/८६।
३. शिशुपालवध १९/९०।

को दिखलाने के लिए सर्वप्रथम मेरे ही पास आये हो-कामियों के प्रसाधन (परिधान-आभूषणादि) की सफलता अपने प्रिय व्यक्ति को दिखाने पर ही आश्रित होती है (३३); अन्य स्त्री से प्राप्त रति-चिह्नों को जैसे नखक्षतों को कपड़े से और दन्तक्षत-युक्त अधर को हाथ से ढँककर तो मुझसे छिपाने की चेष्टा कर रहे हो किन्तु सभी दिशाओं में फैलने वाली, अन्य स्त्री सम्पर्क को प्रकट करने वाली, गन्ध को तुम कैसे छिपा सकते हो? (३४)''

इन शृङ्गारपूर्ण स्थितियों के विपरीत सूर्य के वर्णन में (११/४१,४३) तथा यज्ञ के वर्णन में (१४/१८-५२) गम्भीर कर्मकाण्ड का वातावरण प्रदर्शित किया गया है। राजा युधिष्ठिर ने आचरण से पवित्र, वेदाविरुद्ध (पुराणादि) शास्त्रों को धारण करने वाले, वर्ण-संकरता से रहित (सत्कुलोत्पन्न), शुद्ध (अपशब्द-रहित) ब्राह्मण-गण को पुस्तकों के सहित गोष्ठी करते हुए सुना-

शुद्धमश्रुतिविरोधि बिभ्रतं, शास्त्रमुज्ज्वलमवर्णसङ्करैः।
पुस्तकैः सममसौ गणं मुहु-र्वाच्यमानमशृणोद् द्विजन्मनाम्॥ (१४/३७)

भगवान् कृष्ण और नारद के संवाद के आरम्भ में शिष्टाचार के वाक्यों के आदान-प्रदान का प्रसङ्ग अत्यधिक आकर्षक है, व्यवहार-ज्ञान देनेवाला है। कृष्ण नारद को कहते हैं कि आपके दर्शन जिसे हो जाते हैं उसके तीनों कालों की योग्यता प्रकट होती है; उसके वर्तमान का पाप नष्ट होता है, भूतकाल के शुभाचरण के फलस्वरूप दर्शन हुआ है और भविष्य में शुभ होने वाला है, यह बात निश्चित है-

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः, शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं, व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥ (१/२६)

माघ के **पाण्डित्य और कवित्व** के विषय में कई प्रशस्तियाँ विख्यात हैं। इनके शब्द-भाण्डागार के विषय में कहा गया है- **नवसर्गगते माघे नव शब्दो न जायते (विद्यते)** अर्थात् माघकाव्य में नौ सर्ग समाप्त कर लेने पर संस्कृत में कोई नया शब्द जानने को रह ही नहीं जाता।[1] एक अर्थ के लिए माघ ने यथाशक्ति पुनः उसी नाम और आख्यात की आवृत्ति नहीं की है। उदाहरणार्थ एकादश सर्ग में सूर्य का वर्णन ४३ वें पद्य से आरम्भ करके अन्त तक (६७ वें पद्य तक) किया गया है। किन्तु कहीं भी सूर्य के किसी एक नाम को दुहराया नहीं गया है-वासराणां विधातुः (४३), अर्कः (४४), विवस्वान् (४५), अतुहिनरुचिना (४६), बालसूर्यः (४७), सप्तसप्तिः (४८), भास्करेण (४९), तपन (५०), अहिमरोचिः (५१), दिनकर (५२), भानोः (५३), रवि (५४), हरिदश्वः (५६), भास्वता (५७), घर्मभानुः (५८) इत्यादि। माघ ने धातुरूपों के प्रयोग स्वाभाविक रूप से किये हैं, भट्टि के समान कृत्रिम सायास प्रयोग नहीं। जैसे-अचूचुरत् (१/१६), विरेजिरे (१/२१), अभ्युपेयुषी (१/२४) क्वसु प्रत्यय), न्यधायिषाताम् (१/१३ धा+लुङ् चिण्-कर्मवाच्य), अपूपुजत् (१/१४), निवेशयामासिथ (१/३४), उपाजिहीथाः (१/३७ हा+लङ् थास्), अकारि तथा अशिश्रियत् (१/४६), भूतकाल में समुच्चयार्थक लोट् लकार का प्रयोग (१/५१) अनुचकम्पिरे (१/६१), दुःखाकरोति (२/११ डाच्-प्रत्यय) इत्यादि। ये प्रयोग

---

१. यह प्रशस्ति वस्तुतः बृहत्त्रयी के विषय में है, किन्तु उत्तरार्ध ही प्रसिद्ध हो गया-

नवसर्गे किराते च नवसर्गे च नैषधे।
नवसर्गगते माघे नवशब्दो न जायते॥

अपृथग्यत्लनिर्वर्त्य हैं, स्वयमुपस्थित हैं तथा शब्दों पर कवि के अधिकार को सिद्ध करते हैं।

माघ की एक अन्य प्रशस्ति है- **माघे मेघे गतं वयः**। अर्थात् माघकाव्य के अध्ययन में और मेघदूत का आनन्द लेने में सारी आयु बीत गई। मेघदूत की रसमयता का आस्वादन काल की अपेक्षा करता है तो शिशुपालवध में माघ द्वारा प्रकट किये गये वैदुष्य एवं कवित्व का अनुसन्धान भी बहुकालापेक्षी है। इन दोनों काव्यों के समीचीन अनुशीलन तथा आस्वादन में यदि किसी विद्वान् का पूरा जीवन लग जाये तो आश्चर्य की बात नहीं, उसे अन्य किसी ग्रन्थ के अवगाहन की आवश्यकता भी नहीं होगी क्योंकि शास्त्र और कवित्व का परिणत फल-ललित एवं गम्भीर दोनों दृष्टियों से -यह शिशुपालवध है। इसमें युवजनोचित शृङ्गार भी है तो मानवोचित भक्ति भी है।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः- माघ-विषयक प्रशस्तियों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें एक साथ कालिदास, भारवि और दण्डी (या श्रीहर्ष) के साथ-माघ की महत्ता का निरूपण किया गया है। पूरा पद्य इस प्रकार है-

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः (नैषधे) पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

अर्थात् महाकवि कालिदास की विशिष्टता उपमा के कारण है, भारवि का प्रधान गुण अर्थगौरव है, दण्डी (या नैषधचरित) की विशिष्टता पदलालित्य के कारण है तो माघ में तीन गुणों का समन्वित प्रयोग प्रमुख वैशिष्ट्य है। परम्परा से समीक्षकों ने यही व्यख्या की है कि माघ में ये सारी विशिष्टताएँ (उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य) वर्तमान हैं। यह तात्पर्य नहीं है कि माघ उन कवियों से बढ़कर हैं; यदि वे कवि अपनी विशिष्टताओं से सम्पन्न हैं तो माघ इनका समन्वय करते हैं। माघ ने बाण के समान सर्वाङ्गपूर्णता का लक्ष्य रखा है कि अपने समय तक प्रचलित काव्य-गत वैशिष्ट्यों का समावेश वे अपनी रचना में कर लें जिससे किसी महत्त्वपूर्ण गुण के अभाव में उनका काव्य न्यून प्रतीत न हो। इसके लिए स्वाभाविक, हृदयावर्जक और उदात्त कल्पना से समागत उपमाओं का, पद की श्रुति-सुखद शय्या (पद-लालित्य) का और सामान्य उक्तियों के रूप में अर्थगौरव का निवेश उनके महाकाव्य में प्राप्त होता है।

उपमा का प्रयोग सामान्यतः प्रस्तुत विषय को (जो कवि की कल्पना-रूपी आँखों के समक्ष रहता है), पाठकों के लिए सुगम बनाने के लिए किया जाता है। यह कवि की प्रतिभा पर आश्रित है कि वह पाठकों को किस अप्रस्तुत विषय के द्वारा विषय को सुगम बनाये। इस प्रसङ्ग में कवि कभी-कभी अपने पाण्डित्य को दिखाते हुए शास्त्रीय उपमान भी देता है। कालिदास भी इस लोभ का संवरण नहीं कर सके। वैसे उनकी उपमाएँ सामान्य जीवन की ही हैं। माघ की सामान्य उपमाओं में यह बहुत प्रसिद्ध है जिसके कारण उन्हें 'घण्टामाघ' का विरुद प्राप्त हुआ है-

उदयति विततोर्ध्व-रश्मि-रज्जा
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बि-घण्टा-
द्वय-परिवारित-वारणेन्द्र-लीलाम्॥ (४/२०)

रैवतक पर्वत पर सूर्योदय का दृश्य है। लम्बी-लम्बी और ऊपर की ओर रस्सी के समान फैली हुई किरणों वाले सूर्य के उदय एवं चन्द्रमा के अस्त होने के समय यह पर्वत लटकने वाले दो

घण्टाओं (स्वर्ण तथा रजत से निर्मित) से युक्त गजराज के सदृश शोभा पा रहा है।

निम्नांकित पद्य में रैवतक पर्वत से निकलकर समुद्र तक जाने वाली नदियों की तुलना पिता की गोद में निःशङ्क क्रीड़ा करने वाली उन पुत्रियों से की गयी है जो अपने पति-गृह चली जा रही हैं; पिता (रैवतक) पक्षियों के कलरव के माध्यम से रो रहे हैं। यह मार्मिक उपमा है जिसमें पुत्री-वियोग की व्यथा वर्णित है-

अपशङ्कमङ्क - परिवर्तनोचिता-
श्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥ (४/४७)

यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से उत्प्रेक्षा है जो सादृश्य-मूलक अलङ्कार होने के कारण सामान्यतः 'उपमा' द्वारा गृहीत होती है। इसी प्रकार नारद के शुभ्र मुखमण्डल के ऊपर भूरी-पीली जटाओं की तुलना माघ ने हिमालय की तुषार-मण्डित भूमि पर उगी किन्तु पककर पीली बन गयी लताओं से की है-

दधानमम्भोरुह-केसर-द्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचि-रोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रतती-ततीरिव॥ (१/५)

नारद हिमालय के रूप में वर्तमान लग रहे थे।

शास्त्रगत उपमाओं में माघ से आगे बढ़ने की कल्पना भी नहीं हो सकती। आयुर्वेद, वेद, व्याकरण आदि शास्त्रों के अवगाहन से ही इन उपमाओं का सौन्दर्य जाना जा सकता है। द्वितीय सर्ग से कुछ उपमाएँ दी जाती हैं-

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः॥ (२/९१)

स्वयं क्रियाशून्य होने पर भी सर्व-समर्थ (विभु) विजिगीषु राजा के , दूसरों द्वारा सम्पादित कार्य (अर्थाः) उसी प्रकार गुण बन जाते हैं जिस प्रकार स्वयं कुछ न करने वाले, विभु आकाश के, दूसरे (पटहादि) के द्वारा उत्पादित शब्द, गुण बनते हैं। वैशेषिक दर्शन के ज्ञाता ही इसका आनन्द ले सकते हैं।

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्॥ (२/९६)

उद्धव कहते हैं कि आप यह न समझें कि शिशुपाल अकेला है, आसानी से जीता जा सकता है। जिस प्रकार राजयक्ष्मा अनेक रोगों का समूह होता है, उसी प्रकार वह भी अनेक राजाओं का समूह है; उसकी सहायता करने के लिए सभी आ जायेंगे, आप किस-किस को मार पायेंगे? व्याकरण-गत उपमाएँ अनेक हैं। राजनीति की तुलना शब्दविद्या से की गयी है- **शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा** (२/११२)। इस प्रकार लौकिक और शास्त्रीय दोनों कोटि की अप्रस्तुत-योजना माघ ने उदात्त रूप से की है।

अर्थगौरव- कतिपय शब्दों से उत्पन्न होने वाला अर्थगौरव उसी प्रकार व्यापक प्रभाव डालता है जैसे सात ही स्वरों से उत्पन्न गान का व्यापक और विविध-रूपों का होता है (२/७२)।

दार्शनिक उपमानों के प्रयोग में तो अर्थ-गाम्भीर्य का एक महत्त्वपूर्ण रूप दिखाई पड़ता ही है। सामान्य उक्तियों की व्यापकता में अर्थगौरव परिस्फुरित होता है। कालिदास तथा भारवि ने ऐसी असंख्य उक्तियाँ दी हैं जो अर्थान्तरन्यास के निवेश के कारण जीवन के प्रत्येक चरण में उपयोगी हैं। इनमें नीतियों के समावेश के कारण भारवि विख्यात हैं (भारवेरर्थगौरवम्)। माघ के अर्थान्तरन्यास भी, भारवि की प्रतिस्पर्धा के कारण, बड़े व्यापक अर्थ-निवेश से सम्पन्न हैं। कुछ उदाहरण हैं- (१) **गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः** १/१४ महात्मा लोग अपुण्यात्माओं के घर पर प्रेम से आना नहीं चाहते। (२) **श्रेयसि केन तृप्यते** १/२९ मंगलमय कार्य में कौन तृप्त हो सकता है? (३) **सदाभिमानैकधना हि मानिनः** १/६७ मानी (मनस्वी) लोगों का एकमात्र धन स्वाभिमान ही होता है। (४) **ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि** २/१२ सारभूत तत्त्व को जानने पर भी अकेला व्यक्ति अपने कर्तव्य के निर्धारण में संशय-युक्त रहता है। (५) **महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः** २/१३ बड़े लोग स्वभाव से ही कम बोलते हैं। (६) **क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः** २/४३ बार-बार विरोध करने वाले को कोई नहीं सह सकता। (७) **सर्वः स्वार्थं समीहते** (२/६५) सभी लोग अपना स्वार्थ देखते हैं। (८) **नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते** ५/४२ मनस्वी लोग दूसरे की गन्ध को भी नहीं सहते। (९) **शास्त्रं हि निश्चितधियां क्व न सिद्धिमेति** ५/४७ निश्चित बुद्धि वाले व्यक्तियों का शास्त्र सर्वत्र सफल होता है। (१०) **मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्यः** ५/४९ बलवान् व्यक्ति मूर्ख भी क्यों न हो, उसे बलपूर्वक वश में नहीं किया जा सकता। (११) **समय एव करोति बलाबलम्** ६/४४ समय के प्रभाव से ही कोई बली या निर्बल होता है। (१२) **परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः** ६/४५ शत्रु से उत्पन्न पराजय अत्यधिक दुःसह होता है। (१३) **भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः** ७/१ महापुरुषों की (सेवा का) कोई प्रयास व्यर्थ नहीं जाता। (१४) **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः** ४/१७ जो प्रत्येक क्षण में नवीन प्रतीत हो वही सुन्दरता का स्वरूप है। (१५) **क्षतसकलविपक्षस्तेजसः स स्वभावः** ११/५९ सभी विपक्षियों का नष्ट करना तेज का स्वभाव ही है। इत्यादि।

पदलालित्य- पदों का श्रुतिमधुर विन्यास पदलालित्य है जो कोमल कान्त पदावली से या सानुप्रास पदों से निष्पन्न होता है। दण्डी, कालिदास आदि प्रथम कोटि के पदलालित्य का प्रयोग करते हैं तो श्रीहर्ष, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि का पदलालित्य अनुप्रासों पर आश्रित है; परवर्ती युग में यही कोटि अधिक लोकप्रिय हुई। माघ ने दोनों विधाओं का सफल प्रयोग किया है, दोनों में संगीतात्मकता का आनन्द है। षष्ठ सर्ग के यमक-युक्त पद्यों में लालित्य का प्राचुर्य है। वसन्त काल में मधुकर-गुञ्जन का ध्वनिमय चित्र कवि ने इस प्रकार खींचा है-

> **मधुरया मधुबोधितमाधवी-मधुसमृद्धिसमेधित-मेधया।**
> **मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद-ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥** (६/२०)

इसी प्रकार रैवतक-पर्वत के वर्णन में माघ ने पद-लालित्य का यमक-युक्त मधुर सन्निवेश किया है जिसमें देवाङ्गनाओं के राक्षसोपद्रव से रहित होकर निवास का वर्णन है-

> **राजीव-राजी-वशलोल-भृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम्।**
> **कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम्॥** (४/९)

शब्द और अर्थ की परस्पर प्रतिस्पर्धा के रूप में पदलालित्य का निवेश निम्नाङ्कित पद्य में देखा जा सकता है जिसमें समुद्र द्वारा भगवान् कृष्ण का अभिनन्दन किये जाने का वर्णन है-

तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्ग-शय्या-शयमम्बुराशिः।
प्रत्युज्जगामेव गुरु-प्रमोद-प्रसारितोत्तुङ्ग-तरङ्ग-बाहुः॥ (३/७८)

प्रलय-काल के बान्धव तथा उत्सङ्ग (गोद) रूपी शय्या पर (=क्षीरसागर के मध्यभाग में) शयन करने वाले उन कृष्ण भगवान् को आया हुआ देखकर समुद्र अतिशय हर्ष से तरङ्ग-रूप बाँहों को फैलाकर मानों उनका स्वागत करने लगा।[1]

आधुनिक समीक्षकों ने 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' की व्याख्या अन्य प्रकार से करते हुए यह प्रकट किया है कि माघ में 'त्रयो गुणाः' का अर्थ उपर्युक्त तीनों गुणों की उपस्थिति नहीं, अपितु ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इन तीन काव्य-गुणों की स्थिति है। उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य ऐसी विशिष्टताएँ जो न्यूनाधिक रूप से सभी कवियों में रहती हैं, तब माघ में इनकी उपस्थिति से प्रशस्तिकार का तात्पर्य क्या होगा? अवश्य ही प्रशस्तिकार ने माघ के पृथक् वैशिष्ट्य का निरूपण करना चाहा है। अन्य कवियों में जहाँ एक या दो गुण रहते हैं, माघ में तीनों काव्यगुण युगपत् वर्तमान रहते हैं, रसधर्म के रूप में नहीं अपितु अपने गौण अर्थ में अर्थात् शब्दार्थवृत्ति के रूप में।[2]

तदनुसार ओज गुण का सौन्दर्य देखा जा सकता है।

हृदयमरिवधोदयादुदूढ-द्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलक-पुलोमजा- कुचाग्र -द्रुतपरिरम्भ-निपीडन-क्षमत्वम्॥ (१/७४)

इसी प्रकार प्रसाद-गुण का सौन्दर्य द्वारका की ललनाओं के द्वारा कृष्ण के अवलोकन में उदाहरणीय है-

यां यां प्रियां प्रैक्षत कातराक्षी, सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्या-स्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः॥ (३/१६)

माधुर्य-गुण प्रभात-वर्णन (एकादश सर्ग) के निम्नाङ्कित पद्य में पूर्णतः विकसित रूप में द्रष्टव्य है। हवा बहने का वर्णन करने वाले इस पद्य पर मुग्ध होकर मल्लिनाथ ने कहा है कि आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित दसों प्राचीन गुण इसमें वर्तमान हैं-

विकच-कमल-गन्धैरन्धयन् भृङ्गमालाः
सुरभित-मकरन्दं मन्दमावाति वातः।
प्रमद-मदन-माद्यद्-यौवनोद्दाम-रामा-
रमण-रभस-खेद-स्वेद-विच्छेद-दक्षः॥ (११/१९)

विकसित कमलों की गन्धों से भ्रमर-पंक्तियों को अन्धा बनाने वाला वह प्रातः पवन मकरन्द को सुरभित करते हुए मन्द-मन्द बह रहा है जो हर्ष और काम से उन्मत्त तथा युवावस्था के कारण

---

१. स्वागत का अन्य प्रकार भी देखें- लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः।
आस्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः॥ (३/८१)

२. **काव्यप्रकाश** ८/६६ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
८/७१ गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।

अनियन्त्रित (उद्दाम) सुन्दरियों के रति-वेग की थकावट से उत्पन्न स्वेद (पसीने) को दूर करने में समर्थ है।

माघ का पाण्डित्य[१]

व्युत्पत्ति को आचार्यों ने 'काव्यहेतु' कहा है क्योंकि काव्य में अनेक शास्त्रों के पाण्डित्य और लोकानुभव के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। महाकवि माघ का पाण्डित्य तथा लौकिक ज्ञान इतना व्यापक था कि इनकी तुलना केवल बाणभट्ट से की जा सकती है। माघ ने अपने काव्य में वेद, वेदाङ्ग, कर्मकाण्ड, पुराण, काव्यशास्त्र, दर्शन, राजनीति, आयुर्वेद, संगीत, नीतिशास्त्र, पाकशास्त्र, ज्योतिष, कामशास्त्र आदि विविध शास्त्रों से सम्बद्ध अपने प्रकर्ष को प्रकट किया है। अन्य कवियों के समान इन शास्त्रों का निर्देश करते समय उन्होंने कृत्रिमता का निवेश नहीं किया है, इन्हें स्वाभाविक रूप में ही ग्रहण किया है। किसी शास्त्र को निकृष्ट कहकर हँसी उड़ाने की श्रीहर्ष-वाली प्रवृत्ति भी उनमें नहीं है। प्राय: प्रत्येक पद्य उनकी शास्त्रगत वैदुषी का परिचायक है। काव्यहेतु के इस उपादान का उन्होंने भरपूर (अन्य कवियों से अधिक) प्रयोग किया है जिससे उनका काव्य शास्त्रों का अखाड़ा बन गया है। किन्तु ये शास्त्र-निर्देश निमन्त्रित नहीं है, स्वभावत: समागत हैं। कवि का वैदुष्य और कवित्व साथ-साथ चलते हैं।

वैदिक स्वरों में उदात्त प्रधान होता है। किसी पद में एक अक्षर उदात्त होने पर अन्य अक्षर अनुदात्त हो जाते हैं, इसे 'निघात' कहते हैं। माघ ने शिशुपाल की प्रशंसा करते हुए कहा- **निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव** (२/९५)= वह शत्रुओं को एकपद में (तत्काल) निहत कर देता है जैसे अन्य स्वरों को उदात्त स्वर। व्याकरण-शास्त्र में महाभाष्य के पस्पशाह्निक का वही महत्त्व है जो राजनीति में गुप्तचर (स्पश) का- **शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा** (२/११२)। समुच्चय के अर्थ लोट् लकार का भूतकाल में प्रयोग (१/५१), अभिज्ञा-अर्थ में भूतकाल में लृट् लकार का प्रयोग (१/६८ विलंघ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति), उपसर्ग द्वारा धातु के निहित अर्थ के द्योतन का संकेत (१०/१५ धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम्) इत्यादि उनके व्याकरण-ज्ञान को निर्दिष्ट करते हैं। शिशुपाल की आज्ञा की तुलना व्याकरण की परिभाषा से सटीक रूप में की गयी है-

> **परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं, विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठाम्।**
> **न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्, परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा॥** (१६/८०)

अत्यन्त सीमित अक्षरों वाली होने पर भी सम्पूर्ण विषय को व्याप्त करने वाली प्रामाणिकता से सम्पन्न (प्रतिष्ठां गता) एवं गौरवपूर्ण जिस राजा की आज्ञा परिभाषा के समान है, कहीं से भी बाधित नहीं होती। उन्नीसवें सर्ग में सुहृद्, स्वामिन्, पितृव्य, भ्रातृ और मातुल शब्दों के निपातन से युक्त पाणिनीय व्याकरण के समान युद्ध क्षेत्र को वर्णित किया गया है जहाँ योद्धा लोग अपने इन सम्बन्धियों को निपातित कर रहे थे (१९/७५)।

चतुर्दश सर्ग में राजसूय-यज्ञ के अनुष्ठान का वर्णन करते हुए माघ ने कर्मकाण्ड में अपनी पटुता प्रदर्शित की है। इसमें ऋत्विजों के द्वारा किये गये कर्मों का युधिष्ठिर पर कर्तृत्वारोप सांख्य

---

१. 'महाकवि माघ का वैदुष्य' इस शीर्षक के शोध-प्रबन्ध पर मेरे निर्देशन में पी एच्. डी. उपाधि मिल चुकी है (पटना विश्वविद्यालय)।

के पुरुष के समान दिखाया गया है (१४/१९)। अनुवाक्या और याज्या का ऋत्विजों द्वारा प्रयोग (१४/२०), सामवेद का गान, मन्त्रों में ऊह का उपयोग (१४/२३), स्वर द्वारा समस्त पदों में स्वर का बोध (१४/२४), यज्ञ में ऋत्विजों की शास्त्र-निपुण बुद्धि और यजमान की सम्पत्ति में परस्पर स्पर्धा के कारण अपचार का अभाव (१४/३२) इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। प्रथम सर्ग में शिशुपाल के पूर्वजन्मों का तथा चतुर्दश सर्ग में विष्णु के अवतारों का वर्णन करके माघ ने पौराणिक ज्ञान में अपनी व्युत्पत्ति प्रकट की है।

योग-दर्शन के मुख्य लक्ष्य 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' (प्रकृति-पुरुष-विवेक), मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा ये चार चित्तपरिकर्म, अविद्या-अस्मिता आदि पञ्चक्लेश तथा सबीज एवं निर्बीज समाधि का एक ही साथ उल्लेख करके माघ ने न केवल योगदर्शन का अपना ज्ञान दिखाया है अपितु रैवतक-पर्वत को भोग-भूमि के अतिरिक्त मोक्षभूमि के रूप में चित्रित किया है-

> मैत्र्यादिचित्त - परिकर्मविदो विधाय
> क्लेश-प्रहाणमिह लब्ध-सबीज-योगाः।
> ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
> वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्॥ (४/५५)

नारद जब श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं तब उन्हें सांख्य-दर्शन के अनुरूप विकारों से ऊपर, प्रकृति से पृथक् तथा पुरातन पुरुष के रूप में प्राचीन दार्शनिकों के द्वारा गृहीत मानते हैं।[1] नास्तिक दर्शनों में बौद्ध-सिद्धान्त के कतिपय गूढ़ विषयों की चर्चा माघ अत्यन्त सहज भाव से करते हैं जैसे-

> सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्ध-पञ्चकम्।
> सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥ (२/२८)

'सन्धि आदि सभी कार्यों में [सहाय, साधनोपाय, देशकालविभाग, विपत्तिप्रतीकार एवं कार्यसिद्धि-इन] पाँच अङ्गों को छोड़कर राजाओं के लिए कोई दूसरा मन्त्र उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार बौद्धों के लिए सभी कार्यात्मक शरीरों में [रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार-इन] पाँच स्कन्धों से भिन्न कोई 'आत्मा' नामक तत्त्व नहीं होता।'

राजनीति का वर्णन तो शिशुपाल-वध के द्वितीय सर्ग में पूरे विस्तार से किया गया है। इसमें उग्रवाद और सौम्यवाद दोनों पक्षों का निरूपण है। बलराम तत्काल आक्रमण के पक्षधर हैं, तो उद्धव विचार-पूर्वक अवसर निकालने का परामर्श देते हैं। दोनों पक्षों में अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं। राजनीति के षड्गुण (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव), तीन शक्तियाँ (प्रभु, मन्त्र, उत्साह), तीन सिद्धियाँ (इन तीनों के फल) तथा तीन उदय (वृद्धि, क्षय, स्थान)-इनका संकेत एक ही पद्य में किया गया है (२/२६); मन्त्र-भेद की आशङ्का (२/२९), युद्ध के दो लक्ष्य (आत्मोदय, पर-दुर्बलता), पौरुष की प्रधानता, अविवेक से क्षति, उत्साह और प्रज्ञा दोनों का प्रयोग, प्रमाद से क्षति, गुप्तचर का महत्त्व इत्यादि विषय इस प्रसङ्ग में विवेचित हैं।

वैद्यकशास्त्र (आयुर्वेद) का गहन ज्ञान माघ प्रकट करते हैं। 'दण्ड से साध्य शत्रु के प्रति

---

१. शिशु. १/३३ उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथंचन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥

साम का प्रयोग उसी प्रकार हानिकारक है जैसे स्वेदन से साध्य अपक्व ज्वर (चढ़ता बुखार) को जल से शान्त करना हानिकारक है (२/५४)'। 'राजयक्ष्मा रोग जैसे अनेक रोगों का समूह होता है वैसे ही शिशुपाल भी अनेक राजाओं का समूह है' (२/९६)। शक्ति के अनुसार व्यायाम जैसे लाभदायक है, वैसे शक्ति के प्रतिकूल व्यायाम क्षयरोग का कारण है (२/९४)। शिशुपाल ने प्रकुपित रोग के समान जिन-जिन विकारों को प्रकट किया, कृष्ण ने योग्य वैद्य के समान उनमें प्रत्येक का उचित उपायों द्वारा शमन कर दिया (२०/७६)।

संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का माघ ने सहज भाव से उपयोग किया है जिससे उनकी संगीतज्ञता ज्ञात होती है। नारद अपनी वीणा को देख रहे थे[1] क्योंकि उसमें वायु के घर्षण से व्यवस्थित भेद प्राप्त करने वाले श्रुति-मण्डलों से युक्त स्वरों के द्वारा ग्राम-विशेषों की मूर्च्छनाएँ प्रकट हो रही थीं। एकादश सर्ग के आरम्भ में प्रात:काल गाये जाने योग्य षड्ज-स्वर को अन्य स्वरों से पृथक् करके , पञ्चम और ऋषभ का वर्जन करते हुए, गीतों के गान का वर्णन है (११/१)। इसी प्रकार माघ ने ज्योतिष (२/२), कामशास्त्र (पूरा दशम सर्ग), पाकशास्त्र (२/५५) इत्यादि विषयों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है। युद्धविद्या का भी निवेश अन्तिम सर्गों में व्यापक रूप से उन्होंने किया है। इसी दृष्टि से यह काव्य 'शास्त्रकाव्य' के रूप में प्रसिद्ध है।

माघ के छन्द: प्रयोग- माघ ने छन्दों का वैविध्य प्रदर्शित किया है। सर्ग के मुख्य छन्द भी इन्होंने सभी सर्गों में पृथक् रखे हैं। केवल अनुष्टुप् का प्रयोग दो सर्गों में है (२, १९)। अन्य सर्गों में वंशस्थ (१), उपजाति (३), वसन्ततिलका (५), द्रुतविलम्बित (६), पुष्पिताग्रा (७), प्रहर्षिणी (८), प्रमिताक्षरा (९), स्वागता (१०), मालिनी (११), वंशस्थ और इन्द्रवंशा की उपजाति (१२), मंजुभाषिणी (१३), रथोद्धता (१४), उद्‌गता (१५), वैतालीय (१६), रुचिरा (१७), शालिनी (१८), औपच्छन्दसिक (२०)-ये पृथक्-पृथक् मुख्य छन्द हैं। चतुर्थसर्ग में २२ छन्दों का प्रयोग है। पृथ्वी, प्रभा, तोटक, आर्या, शिखरिणी, हरिणी, स्रग्धरा, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित का भी इन्होंने प्रयोग किया है। स्रग्विणी का अन्त्यानुप्रासयुक्त यह सुन्दर प्रयोग माघ की शैली का भी उदाहरण प्रस्तुत करता है-

> **वर्जयन्त्या जनैः संगमेकान्ततः**
> **तर्कयन्त्या सुखं संगमे कान्ततः।**
> **योषयैव स्मरासन्नतापाङ्गया**
> **सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया॥** (४/४२)

माघ और भारवि की तुलना- भारवि के द्वारा प्रवर्तित अलंकार-पद्धति का माघ ने अनुसरण किया तथा इसे प्रौढ़ता दी। भावों की अभिव्यक्ति, चित्रकाव्य, अलंकार-प्रयोग, विषय-व्यवस्थापन आदि में माघ भारवि से आगे हैं। छन्दों की योजना एवं वर्णनों की विपुलता में भी भारवि को माघ ने पृष्ठभूमि में डाल दिया है। भारवि के काव्य से पद-पद पर प्रतिस्पर्धा करने वाले माघ ने अपने महाकाव्य को श्रेष्ठतर बनाने का भूरि-भूरि प्रयास किया है।

भारवि ने 'किरातार्जुनीय' में शिव का गुणगान किया है तो माघ ने विष्णु के अवतार कृष्ण

---

१. शिशु. १/१० रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः॥

का माहात्म्य 'शिशुपालवध' में वर्णित किया है। परवर्ती कवि रत्नाकर ने पुनः शिव की महिमा गाकर अपने महाकाव्य 'हरविजय' में माघ को पराजित करने का निष्फल प्रयास किया। माघ अपनी पद्धति में अग्रणी ही रहे। भारवि तथा माघ दोनों ने महाभारत से ही अपने ग्रन्थों के कथानक लिये, 'श्री' शब्द से काव्यों का आरम्भ किया और संवाद से प्रथम सर्ग का प्रवर्तन किया। माघकाव्य में कृष्ण-नारद-संवाद है तो भारवि के काव्य में युधिष्ठिर और वनेचर का संवाद है। दोनों संवाद ही महाकाव्य की मुख्य घटनाओं को प्रवर्तित करते हैं। वनेचर की सूचना से यदि पाण्डवों को शक्ति-संग्रह के लिए प्रयत्न करने के क्रम में अर्जुन को शिव से पाशुपतास्त्र पाने के लिए तपस्या करनी पड़ती है तो नारद के वाक्यों को सुनकर कृष्ण भी शिशुपाल-वध के लिए प्रस्तुत होते हैं। दोनों महाकाव्यों में द्वितीय सर्ग राजनीति-वर्णन से भरे हैं। भारवि शरद्-वर्णन करते हैं तो माघ षड् ऋतु-वर्णन करते हैं। भारवि हिमालय के वर्णन को उदात्त बनाते हैं तो माघ रैवतक-जैसे साधारण पर्वत को उदात्त वर्णन से सनाथ करते हैं। भारवि सर्ग ५ को और माघ सर्ग ४ को विविध छन्दों से भर देते हैं। यहाँ भारवि ने १६ और माघ ने २२ छन्दों का प्रयोग किया है। भारवि के काव्य में द्रौपदी तथा भीम युधिष्ठिर को उत्तेजित करते हैं तो माघकाव्य में कृष्ण को नारद और बलराम उत्तेजित करते हैं। युधिष्ठिर को व्यास का सत्परामर्श मिलता है तो कृष्ण को उद्धव का।

दोनों महाकाव्यों में पुष्पावचय (क्रमणः सर्ग ८ तथा ७), जलक्रीड़ा (उभयत्र सर्ग ८), प्रभात-वर्णन (सर्ग ९ तथा माघ में सर्ग ११), सन्ध्या एवं चन्द्रोदय (उभयत्र सर्ग ९), शिबिर-सन्निवेश (क्रमशः सर्ग ७ तथा ५), सुरत-पानगोष्ठी (क्रमशः सर्ग ९ तथा १०), नायक को देखकर स्त्रियों की चेष्टाएँ (क्रमशः सर्ग १० तथा १३), युद्ध-वर्णन (भारविकाव्य में सर्ग १४ तथा १५; माघकाव्य में सर्ग १५, १७-१९), चित्रालंकार (भारवि-१५, माघ १९) इत्यादि का प्रयोग है किन्तु प्रत्येक स्थल पर भारवि से माघ आगे बढ़ जाते हैं। जिस प्रकार भारवि ने नायक अर्जुन के अपमानार्थ शिव के दूत का प्रयोग किया है (सर्ग १३), उसी प्रकार माघ ने भी नायककृष्ण के अपमानार्थ शिशुपाल के दूत से कृष्ण का वाद-विवाद दिखाया है (सर्ग १६)।

भारवि ने अपने काव्य के सर्ग छोटे रखे हैं जबकि माघकाव्य के सर्ग उनसे बड़े हैं। अर्थगौरव से भरे अर्थान्तरन्यासात्मक सूक्तियों को छोड़कर माघ भारवि से बहुत आगे हैं। जिस मार्ग का आरम्भ भारवि ने किया उसे माघ ने परिणति पर पहुँचा दिया। कथा-प्रवाह में भारवि ने अवरोध उत्पन्न करके जैसे विभिन्न वर्णनों का विन्यास किया वैसे ही माघ ने इस व्यवस्था में कथासूत्र का १० सर्गों तक पूर्ण परित्याग कर दिया। पण्डितों और समीक्षकों को यह पद्धति आकर्षक लगी। इसीलिए उन्होंने कहा-**तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः**। भारवि की शोभा माघ के उदय के पूर्व तक ही है। माघ का उदय होने पर सूर्य की किरणें जैसे मन्द हो जाती हैं वैसे भारवि की शोभा भी मन्द हो गयी।[1]

---

१. शिशुपलवध पर अनेक टीकाएँ हैं जिनमें वल्लभदेव कृत 'सन्देहविषौषधि', मल्लिनाथ-कृत 'सर्वङ्कषा', भरतमल्लिक-कृत 'सुबोधा' तथा दिनकरमिश्र-कृत 'सुबोधिनी' मुख्य हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से राम प्रताप त्रिपाठी का एवं चौखम्बा विद्याभवन से हरगोविन्द शास्त्री का हिन्दी-अनुवाद पूरे ग्रन्थ पर प्रकाशित है।

अध्याय-१२

अपकर्ष काल के महाकाव्य

मध्यकाल काल के प्रमुख महाकवि (७०० ई०-११५० ई०)

इस युग के महाकवियों ने विभिन्न पौराणिक तथा धार्मिक विषयों पर महाकाव्य लिखे। ऐतिहासिक विषयों को लेकर भी महाकाव्य-रचना हुई। उनकी चर्चा यथास्थान की जायेगी। इस युग के कवियों को अधिक प्रसिद्धि नहीं मिली क्योंकि ११५० ई० से १२०० ई० के बीच आविर्भूत महाकवि श्रीहर्ष की प्रसिद्धि से ये पार्श्वभूमि में चले गये। यहाँ कुछ प्रमुख कवियों एवं उनकी रचनाओं का परिचय दिया जाता है।

(क) शिवस्वामी (८००-८५० ई०)-कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५-८८४ ई०) में मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर नामक कवियों को विशेष ख्याति मिली थी। राजतरङ्गिणी (५/३९) में इस बात का उल्लेख कल्हण ने जनश्रुतियों के आधार पर किया है-

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

शिवस्वामी उस युग के प्रसिद्ध कवि थे। इनके पिता का नाम अर्कस्वामी था। ये स्वयं शैवमतावलम्बी थे किन्तु चन्द्रमित्र नामक बौद्ध आचार्य की प्रेरणा से इन्होंने बौद्ध-साहित्य में प्रसिद्ध एक अवदान (नीतिकथा) को लेकर 'कप्फिणाभ्युदय' नामक महाकाव्य २० सर्गों में लिखा। मम्मट ने इस महाकाव्य का एक पद्य (१/२४ उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्.) ध्वनि के उदाहरण में दिया है। अवदान-शतक में वर्णित श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् के विरुद्ध ईर्ष्या-भाव रखने वाले दक्षिण के एक राजा कप्फिण के बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने की घटना का इसमें काव्यात्मक वर्णन है। इस छोटी घटना को भारवि तथा माघ की अलंकृत पद्धति में ढालकर कवि ने फैलाया है। किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग के समान यहाँ भी एक गुप्तचर प्रसेनजित् के लोकप्रिय शासन का समाचार कप्फिण की राजसभा में लाता है जिससे सामन्त लोग घबरा उठते हैं (सर्ग ३)। युद्ध-परिषद् की बैठक होती है (४), राजदूत प्रसेनजित् के पास भेजा जाता है (५)। इसके अनन्तर विषय-वस्तु कथानक से पृथक् हो गयी है-विद्याधर राजा को मलय पर्वत पर ले जाता है (६), सेना-निवेश (७), षड्ऋतु (८), पुष्पचयन (९), जलक्रीड़ा (१०), सूर्यास्त (११), चन्द्रोदय (१२), पानगोष्ठी (१३), शृंगारक्रीड़ा (१४), प्रभात (१५), तथा सेना-प्रयाण (१६) का वर्णन बीच में किया गया है। १७ वें से १९ वें सर्ग तक लम्बे युद्ध का वर्णन है। २० वें सर्ग में कप्फिण के धर्म-परिवर्तन से महाकाव्य की समाप्ति होती है। स्पष्टतः इसके वर्णनों पर माघ का प्रबल प्रभाव है। सुभाषित-संग्रहों में इस महाकाव्य के पद्य प्रचुरता से मिलते हैं।

(ख) रत्नाकर (८००-८५० ई.)-अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में रत्नाकर को भी शिवस्वामी के समान ही ख्याति मिली थी। रत्नाकर ने अपना वार्धक्य उनके शासनारम्भ में व्यतीत किया होगा।

इनके पिता का नाम अमृतभानु था। ये कश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड (७७९-८१३ ई०) के भी आश्रित थे। इस राजा की एक उपाधि 'बालबृहस्पति' थी जिसका निर्देश रत्नाकर के महाकाव्य हरविजय के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में मिलता है। (इति बालबृहस्पत्यनुजीविनो राजानक रत्नाकरस्य कृतौ)। रत्नाकर की दो उपाधियाँ थीं- राजानक तथा वागीश्वर। रत्नाकर की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं- हरविजय, वक्रोक्तिपञ्चाशिका तथा ध्वनिगाथापञ्जिका। फिर भी 'हरविजय' के कारण इन्हें ख्याति मिली।

हरविजय- यह संस्कृत भाषा का विशालतम महाकाव्य है जिसमें पचास सर्ग तथा ४३२१ पद्य हैं। इसमें शिव से अन्धकासुर के जन्म तथा शिव द्वारा ही उसके संहार की कथा वर्णित है। लघुकाय कथा होने के कारण एवं वर्णनों से फैलाव करने के कारण इसमें कथा-प्रवाह प्रायः समाप्त है। दूसरे प्रसंगों से अनेक सर्ग भरे हुए हैं। ग्यारह सर्गों में अन्धकासुर के वध के लिए शिव के मन्त्रियों का परामर्श, तेरह सर्गों में शिव-गणों का विहार तथा सात सर्गों में शिव के दूत और अन्धकासुर का संवाद वर्णित है। युद्ध-वर्णन में ही ग्यारह सर्ग (३९-४९) लगे हुए हैं। ये वर्णन ही ग्रन्थ के विस्तार के कारण हैं। भारवि की प्रतिस्पर्धा में जिस प्रकार माघ ने काव्य लिखा उसी प्रकार माघ की प्रतिस्पर्धा में यह काव्य लिखा गया था। माघ ने 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' काव्य लिखा तो रत्नाकर ने 'चन्द्रार्धचूडचरिताश्रयचारु' रचना की। दोनों अपने इष्ट देवों की विजयगाथा के गायक कवि हैं। अल्प कथानक को इतना विस्तार देनेवाला कवि संस्कृत में दूसरा कोई नहीं। चित्रालङ्कार का निवेश इसमें बड़े-बड़े छन्दों में भी किया गया है, ४३ वें तथा ४६ वें सर्ग इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इस महाकाव्य की चर्चा राजतरङ्गिणी (५/३४) में की गयी है, क्षेमेन्द्र ने रत्नाकर के द्वारा प्रयुक्त वसन्ततिलका-छन्द की प्रशंसा की है और कश्मीरी विद्वान् राजानक अलक ने इसकी प्रथम व्याख्या लिखी (१००० ई०)। सूक्ति-संग्रहों में भी 'हरविजय' के पद्य बहुधा उद्धृत किये हैं। सब कुछ होने पर भी इसकी उपेक्षा हस्तलिखित प्रतियों की विरलता से सूचित होती है।

रत्नाकर ने माघ के समान अपने महाकाव्य को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का अत्यधिक प्रयास किया है। चित्रकला, संगीत और नृत्य का शास्त्रानुकूल विवेचन एवं विश्लेषण भी कवि ने किया है। कवि ने अपने ग्रन्थ के विषय में गर्वोक्ति की है कि इसमें प्रसाद, माधुर्य, ओज, श्लेष, यमक, लालित्य, चित्रालंकार आदि सब कुछ है। इसे पाकर न केवल राजा में अपितु बृहस्पति के चित्त में भी शङ्का उत्पन्न हो जाती है-

> ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहरा
> विकट-यमक-श्लेषोद्धार-प्रबन्ध-निरर्गलाः।
> असदृशमतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
> न खलु नृपतेश्चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते॥

माघ के समान शास्त्रीय उत्कर्ष का भी प्रदर्शन रत्नाकर ने किया है। षष्ठ सर्ग में प्रायः २०० पद्यों में शिव की स्तुति की गयी है जिनमें एक-एक पद्य शास्त्रगत पाण्डित्य से विभूषित है।[1] सांख्य-

---

१. कवि ने षष्ठ सर्ग में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का और ४७ वें सर्ग की 'चण्डिका-स्तुति' में शाक्त दर्शन का ज्ञान प्रकट किया है।

दर्शन के अनुसार शिव की स्तुति इस प्रकार है-

> प्रकृतेः पृथक् प्रकृतिशून्यतां गतः
> प्रतिषिद्ध-वस्तु-गत-धर्म-निष्क्रियः।
> पुरुषस्त्वमेव किल पञ्चविंशकः
> स्फुटचूलिकार्थ - वचनैर्निगद्यसे॥ (६/१८)

यहाँ सांख्यदर्शन के प्राचीन आचार्य पञ्चशिख को 'चूलिक' कहा गया है। इनका महाकाव्य अलंकृत-पद्धति का अन्तिम ग्रन्थ है, भारवि और माघ द्वारा प्रवर्तित शैली इसके आगे नहीं जा सकी। रत्नाकर ने इस ग्रन्थ में प्रतिज्ञा की है कि इसे पढ़ने वाला अकवि भी कवि बन जाता है तथा कवि क्रमशः महाकवि हो जाता है-

> **हरविजय-महाकवेः प्रतिज्ञां, शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे।**
> **अपि शिशुरकविः कविः प्रभावाद् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण॥**

(ग) **अभिनन्द** (८५० ई०)- इस नाम के कवि के द्वारा रचित दो भिन्न काव्यों की प्राप्ति हुई-रामचरित तथा कादम्बरीकथासार। इनमें रामचरित के कवि ने अपने को शतानन्द का पुत्र कहा है (शातानन्देर्यथाधुना), जबकि दूसरे अभिनन्द (कादम्बरीकथासार तथा योगवासिष्ठसार के लेखक) के पिता प्रख्यात नैयायिक जयन्तभट्ट ('न्यायमञ्जरी' के लेखक) थे। इनके प्रपितामह शक्तिस्वामी गौडदेश से कश्मीर जाकर बस गये थे। शक्तिस्वामी कश्मीर-नरेश ललितादित्य मुक्तापीड के मन्त्री थे। 'रामचरित' महाकाव्य के रचयिता अभिनन्द का सम्बन्ध भी गौडदेश से था। इसी से दोनों की अभिन्नता का भ्रम होता है।

'रामचरित' के कर्त्ता अभिनन्द के आश्रयदाता हारवर्ष युवराज (पालवंश में उत्पन्न) थे। अनुमान किया गया है कि देवपाल का ही दूसरा नाम हारवर्ष था। अतएव इनका काल ८५० ई० के आसपास हो सकता है। 'रामचरित' के पद्यों का सूक्तिसंग्रहों एवम् अलङ्कार-ग्रन्थों में पर्याप्त उद्धरण मिलता है। भोज ने (११ वीं शताब्दी) अपने 'शृङ्गारप्रकाश' तथा 'सरस्वती-कण्ठाभरण' इन दोनों ग्रन्थों में अभिनन्द के पद्यों को उद्धृत किया है। इसी युग के सोड्ढल ने 'उदयसुन्दरी-कथा' (गायकवाड़-संस्करण, पृ० १५७) में कालिदास और बाण के समकक्ष अभिनन्द की प्रशंसा की है-

> वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दमर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे।
> रसेश्वरं नौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि॥

क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में अभिनन्द को सरस अनुष्टुप् छन्द में रचना करने वाला कहा है।

'रामचरित' में किष्किन्धाकाण्ड से युद्धकाण्ड तक की रामायण-कथा का संक्षिप्त काव्यमय वर्णन है।[1] यह ३६ सर्गों का महाकाव्य है किन्तु अपूर्ण ही है।[2] इस महाकाव्य में कालिदास की रसमयी पद्धति का उद्धार हुआ है, वैदर्भी शैली में माधुर्य तथा प्रसाद गुणों का समावेश करते

---

१. इस महाकाव्य का प्रथम प्रकाशन गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज (बड़ौदा) से १९३० ई० में हुआ था।
२. इसमें चार सर्ग जोड़कर भीम नामक कवि ने ४० सर्ग कर दिये हैं।

हुए कवि ने स्वाभाविकता का प्रदर्शन किया है। रामायण की कथा का कहीं-कहीं परिवर्तन भी इसमें किया गया है।

'कादम्बरीकथासार' में जयन्तभट्ट के पुत्र अभिनन्द ने बाण की कादम्बरी का पद्यमय स्वच्छन्द रूपान्तर किया है। इसमें आठ सर्ग हैं। इसमें युगानुरूप कृत्रिम शैली का प्रयोग किया गया है। इस अभिनन्द का समय प्राय: ९०० ई० है।

(घ) **क्षेमेन्द्र** (१०००-७५ ई०)[१]- अनेक विषयों में रचना करने वाले क्षेमेन्द्र (अन्य नाम- व्यासदास) कश्मीर के रत्न थे। साहित्य की शिक्षा उन्होंने अभिनवगुप्त से पायी थी। वे जन्म से शैव थे किन्तु बाद में वैष्णव धर्म की ओर उनकी प्रवृत्ति हो गयी थी। उन्होंने बौद्ध-धर्म का भी अध्ययन किया था जिसका प्रभाव उनकी परवर्ती रचनाओं पर है। कश्मीर के राजा अनन्त (१०२८-१०६३ ई०) एवं उसके पुत्र कलश (१०६३-८९ ई०) के राज्यकाल में क्षेमेन्द्र का मुख्य कार्यकाल था। उन्होंने 'भारतमञ्जरी' की रचना १०३७ ई० में तथा 'दशावतारचरित' की रचना १०६६ ई० में की थी। अत: उनका जन्म १००० ई० के आसपास माना जा सकता है। क्षेमेन्द्र का युग अशान्ति और भ्रष्टाचार से भरा था, जिसे सुधारने के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं को साधन बनाया। वे स्वयं मन्त्रियों के वंश में उत्पन्न थे।

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ चार श्रेणियों में रखे गये हैं- (१) **महाकाव्य**-रामायणमञ्जरी, भारतमञ्जरी, बृहत्कथामञ्जरी, दशावतारचरित तथा अवदानकल्पलता। (२) **उपदेशात्मक काव्य**- कलाविलास, समयमातृका, चारुचर्याशतक, सेव्यसेवकोपदेश, दर्पदलन, नर्ममाला, देशोपदेश तथा चतुर्वर्गसंग्रह। (३) **काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ**- कविकण्ठाभरण, औचित्यविचारचर्चा तथा सुवृत्ततिलक। (४) **प्रकीर्ण**- लोकप्रकाशकोश, नीतिकल्पतरु तथा व्यासाष्टक। इस प्रकार इनकी १९ कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनकी रचना के लिए उन्होंने लम्बी आयु भी पायी थी। १०७५ ई० के आसपास उनकी मृत्यु हुई होगी।

क्षेमेन्द्र के महाकाव्यों में प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थों के नवीन काव्य-रूपान्तर ही हैं। **रामायणमञ्जरी** (काव्यमाला में प्रकाशित, १९०३ ई०) तथा **भारतमञ्जरी** (काव्यमाला में १८९८ ई० में प्रकाशित) इन दोनों महाकाव्यों को क्षेमेन्द्र ने अपनी युवावस्था में ही पूरा किया था (१०३७ ई०)। वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत की मुख्य कथाओं का इनमें संक्षेपण है। इनसे मूल पाठ के निर्णय में सहायता मिलती है। इनमें क्षेमेन्द्र ने युगानुरूप प्रसादपूर्ण शैली का आश्रय लिया है। **बृहत्कथामञ्जरी** (काव्यमाला में प्रकाशित) प्राचीन पैशाची-कथाग्रन्थ गुणाढ्य-कृत 'बृहत्कथा' (वड्डकहा) का द्वितीय संस्कृत रूपान्तर है जो अठारह लम्बकों में विभक्त है। इन सभी काव्यों में क्षेमेन्द्र ने मुख्यतः अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है।

बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता (या अवदानकल्पलता)[२] भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र- **क्षेमेन्द्र और उनका समाज** (१९८४), पृ० ८। इस ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र के कलाविलास, समयमातृका, देशोपदेश और नर्ममाला का हिन्दी अनुवाद भी है। प्रकाशक-उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (लखनऊ)। डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी-**क्षेमेन्द्र**, साहित्य अकादमी, दिल्ली, १९८३ ई०; Dr. Suryakant—**Kṣemendra Studies**, Oriental Book Agency, Poona, 1955.

२. मिथिला संस्कृत विद्यापीठ, दरभंगा से १९५९ ई० में २ खण्डों में प्रकाशित।

कथाओं का पद्यात्मक वर्णन है। महायान-धर्म के अनुसार बोधिसत्त्वों के शुभ्र चरित्र (अवदान) इसमें दिये गये हैं। इनमें षट् पारमिताओं (पूर्णताओं) का निरूपण है। इस काव्य में १०८ पल्लव (कथाएँ) हैं जिनमें अन्तिम कथा क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र द्वारा पिता की मृत्यु के बाद जोड़ी गयी है। ग्रन्थ की माङ्गलिक पूर्ति ही इसका उद्देश्य रहा होगा। इस महाकाव्य का तिब्बती भाषा में पद्यानुवाद १२७२ ई० में प्रस्तुत किया गया। अनुवादक का नाम 'सोन्तोन् लोच्छव' दिया गया है।

दशावतारचरित (काव्यमाला में प्रकाशित, १८९२ ई०, पुनर्मुद्रण १९८३ ई०) में क्षेमेन्द्र ने दस सर्गों में विष्णु के दस अवतारों का वर्णन किया है।[1] इसके अन्त में पाँच श्लोकों में कवि ने स्ववंश-वर्णन किया है और अन्त में इसका रचनाकाल लौकिकाब्द ४१ (अर्थात् १०६६ ई०) दिया है। यह क्षेमेन्द्र की अन्तिम रचना थी। इसमें १७६४ पद्य हैं। अवतारों के वर्णन में एक सौ से कम ही पद्य हैं किन्तु वामन (२२३ पद्य), राम (२९४ पद्य) तथा कृष्ण (८७३ पद्य) के वर्णन विस्तृत हैं। इस काव्य में कवि ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। विषय के अनुसार प्रसाद गुण का प्रयोग करते हुए भी क्षेमेन्द्र ने इसमें यत्र-तत्र ओजस्विता का आधान किया है। कल्कि-अवतार के प्रसंग में कलियुग के कुछ दृश्यों पर क्षेमेन्द्र की दृष्टि गयी है-

सप्तवर्षासु नारीषु पुरुषा दशवत्सराः।
तनयाञ्जनयिष्यन्ति ह्रस्वाः स्वल्पबलायुषः॥ (१०/३३)
म्लेच्छाच्छादित-सर्वाशा कृपणाक्रन्द-नादिनी।
मेदः-कर्दमिनी क्लेदं रक्तैर्यास्यति मेदिनी॥ (१०/३५)

अर्जुन द्वारा शिव की स्तुति का वर्णन इस प्रकार है-

दर्पोद्धत-त्रिपुर-कानन-पावकाय
भक्तार्ति-ताप-तुहिन-द्युति-मण्डलाय।
संसार-घोर-तिमिरोत्कट-भास्कराय
तुभ्यं त्रिधाम-शबलाय नमः शिवाय॥ (८/४७६)

(ङ) **मङ्ख (मङ्खक ११००-५० ई०)**- कश्मीर के निवासी मंख ने 'श्रीकण्ठचरित' नामक महाकाव्य भगवान् शङ्कर के द्वारा त्रिपुर-नाश के कथानक को लेकर २५ सर्गों में लिखा। इसकी रचना कवि ने अपने स्वर्गीय पिता के आदेश से की थी। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री 'रुय्यक' (११२५ ई०, 'अलंकार-सर्वस्व' एवं काव्यप्रकाश पर 'संकेत'-टीका के रचयिता) मंख के साहित्यिक गुरु थे। गुरु-शिष्य दोनों ही कश्मीर-नरेश जयसिंह (११२९-५० ई०) के सभा-पण्डित थे। इसलिए इनका काल बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

श्रीकण्ठचरित[2] वस्तुतः शिशुपालवध के आदर्श पर वर्णन-विस्तर करने पर भी चित्रालंकार से रहित प्रसाद-गुण-पूर्ण रचना है। मूल कथानक (त्रिपुर-संहार) छोटा है किन्तु महाकाव्य की पूर्ति के लिए कैलास (सर्ग ४), शिव (५), वसन्त (६), दोला-विहार, पुष्पावचय,

---

१. इसका मूल-सहित हिन्दी अनुवाद भी चौखम्बा से प्रकाशित हो चुका है।
२. काव्यमाला सं. ३. में १८८७ ई० में प्रकाशित।

जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पान गोष्ठी, प्रभात इत्यादि (७-१६) का वर्णन किया गया है। ये परम्परागत वर्णन शैली की दृष्टि से नवीन हैं किन्तु इनमें प्रतिपाद्य परम्परागत हैं। युद्ध-विषयक पराक्रम, शिव की सेना की व्यवस्था, दैत्यों की व्याकुलता, युद्ध तथा त्रिपुर-दाह अनुवर्ती सर्गों में वर्णित है। इस महाकाव्य में कुछ नये विषय हैं जैसे-प्रथम सर्ग में प्रार्थनाएँ, द्वितीय-तृतीय सर्गों में सज्जनों और दुष्टों के वर्णनों में नैतिक विषयों का विन्यास[1] तथा पच्चीसवें सर्ग में समकालिक कश्मीरी कवियों का साहित्यिक वर्णन। इनकी शैली का उदाहरण निम्नांकित पद्य में देखा जा सकता है जिसमें कहा गया है कि कवियों की रमणीय उक्तियों में दोष तुरन्त पकड़ा जाता है जैसे धुले वस्त्र में काजल का छोटा सा चिह्न-

> **सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां, सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते।**
> **अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा, विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः॥** (२/२९)

मङ्खक ने वर्णनों में माघ का और शैली में कालिदास का सफल अनुकरण किया है। कीथ ने इसके अन्तिम सर्ग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है क्योंकि इसमें जयसिंह की राजसभा में मङ्खक के भाई अलङ्कार-द्वारा आयोजित एक कवि-गोष्ठी का रमणीय वर्णन है। यहाँ कश्मीर के साहित्यिक परिवेश का हृदयावर्जक चित्रण मिलता है।

(च) **कविराज तथा द्विसन्धान-काव्य की परम्परा-** बारहवीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में कदम्ब राजा कामदेव (११८२-९७ ई०) के आश्रित कवि माधवभट्ट ने एक द्विसन्धान-काव्य (दो कथाओं का अर्थ देनेवाला) लिखा, जिसका नाम 'राघवपाण्डवीय' है। माधवभट्ट की उपाधि 'कविराज' थी किन्तु यही उनका मुख्य नाम हो गया।

कविराज-रचित राघवपाण्डवीय[2] १३ सर्गों का महाकाव्य है जिसमें ६६८ पद्य हैं। इसके प्रत्येक पद्य के दो अर्थ हैं- एक रामायण से सम्बद्ध और दूसरा महाभारत से सम्बद्ध। राम और रावण के स्थान पर दूसरे पक्ष में युधिष्ठिर और दुर्योधन हैं। इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने अपने आश्रयदाता 'कामदेव' का नाम दिया है। महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह करने के लिए अनेक वर्णन भी इसमें किये गये हैं जैसे-मृगया, पर्वत, वन, सागर, शृंगार, मुनि, स्वर्ग-नरक, युद्धयात्रा, विजय, विवाह, मन्त्रणा आदि। श्लेष-द्वारा दो पृथक् अर्थों के निवेश का एक उदाहरण इस प्रकार है-

> **स लक्ष्मणोन्नीत-समृद्धिरुघच्छत्रुघ्न-संपद्-भरतैधितश्रीः।**
> **ज्यायान् विरेजे क्रमशोभिरामः कौमारमासाद्य वयः कुमारः॥** (१/६७)

रामायण-पक्ष में अर्थ है- लक्ष्मण से जिनकी समृद्धि बढ़ी है, उदीयमान शत्रुघ्न-रूपी सम्पत्ति से युक्त भरत से जिनकी श्रीवृद्धि हुई है, ऐसे बड़े भाई राजकुमार राम क्रमशः शोभायुक्त कुमारावस्था को पाकर सुशोभित हुए। **महाभारत-पक्ष में** बाण के चिह्न (लक्ष्मण) से जिसकी समृद्धि का अनुमान हो सकता है (उन्नीत), बढ़े हुए (उद्यत) शत्रुओं को नष्ट करने वाली शक्ति से युक्त भरत (दुष्यन्त-पुत्र) के समान जिसकी शोभा बढ़ी हुई है, ऐसे बड़े भाई सुन्दर (अभिराम) राजकुमार

---

१. तुलनीय- साहित्यदर्पण ६/३१९ क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
२. काव्यमाला में १८९७ ई० में प्रकाशित, शशधरकृत टीका सहित।

(युधिष्ठिर) कुमारावस्था पाकर सुशोभित हुए।

रामायण तथा महाभारत को मिलाने में गंगा और सागर को मिलाने का पराक्रम कवि ने वर्णित किया है जो भगीरथ से या कविराज से ही संभव है-

> श्रीमद् रामायणं गङ्गा, भारतं सागरो महान्।
> तत्संयोजनकार्यज्ञौ, कविराज-भगीरथौ।। (१/३९)

कविराज ने अपनी शैली की प्रशंसा प्रकारान्तर से समुद्र-वर्णन के क्रम में की है कि रस, योजना (planned style), भाव-गाम्भीर्य, प्रसाद, अर्थ-गौरव एवं ध्वनि से युक्त कविता उन्होंने की है-

> सरसं बहुयोजनाधिवासं धृत-गाम्भीर्यमनुज्झित-प्रसादम्।
> स महार्थमुपासदत्समुद्रं ध्वनिभाजं सुकवेरिव प्रबन्धम्।। (७/१०)

उनकी रचना में भाषा का सौन्दर्य अविस्मरणीय है। प्रसाद, माधुर्य और लालित्य के साथ वक्रोक्ति का प्रयोग कविराज की विशिष्टता है। उन्होंने गर्वोक्ति की है कि इस वक्रोक्ति-प्रयोग में सुबन्धु और बाण के अतिरिक्त केवल कविराज ही हैं, चौथा कोई नहीं-

> सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
> वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।। (१/४०)

संस्कृत भाषा में अनेक कथाओं को एक साथ निरूपित करने की परम्परा काव्यों में चली है। इसे 'द्विसन्धानकाव्य' कहा जाता है। इसके पद्यों में श्लेष द्वारा दो या दो से अधिक अर्थ लेकर उतने ही नायकों से सम्बद्ध कथाएँ निकलती हैं। ऐसे काव्यों की परम्परा कब से चली है यह कहना कठिन है। प्राचीनतम द्विसन्धानकाव्य भट्टभीम (या) भौमक-रचित 'रावणार्जुनीय' है (काव्यमाला ६८ के रूप में १९०० ई० में प्रकाशित)। इसमें २७ सर्ग हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्ततिलक (३/४) में इसका उल्लेख शास्त्रकाव्य के रूप में किया है, अतः इसका समय ११ वीं शताब्दी ई० से पूर्व है। इस पर भट्टि का प्रचुर प्रभाव है क्योंकि अष्टाध्यायी के क्रम से इसमें व्याकरण के प्रयोग दिखाये गये हैं। इसमें एक साथ रावण एवं कार्तवीर्य अर्जुन की कथाएँ दी गयी हैं। धनञ्जय-रचित द्विसन्धान-काव्य 'राघवपाण्डवीय' है जिसकी रचना ११२३ ई० तथा ११४० ई० के बीच हुई थी। धनञ्जय जैन कवि थे जिनका अन्य नाम श्रुतकीर्ति भी था। यह काव्य भी काव्यमाला में १८९५ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इनका समय १० वीं शताब्दी ई० से पूर्व माना गया है क्योंकि भोज (१०००-५० ई०) ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में धनञ्जय और दण्डी के द्विसन्धान-काव्यों का उल्लेख किया है। राजशेखर के नाम से 'सूक्तिमुक्तावली' में इनकी प्रशस्ति मिलती है-**द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः।** ऐसी स्थिति में कुछ विद्वान् इनकी रचना को प्राचीनतम मानते हैं; सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि इसी काव्य को 'द्विसन्धानकाव्य' की संज्ञा दी गयी है, अन्य काव्य अपने नामों से विख्यात हैं।

इसी प्रकार का काव्य हरदत्त सूरि-रचित 'राघवनैषधीय' (काव्यमाला सं. ५७ के रूप में १८९६ ई० में प्रकाशित) है। इसमें राम और नल की कथाएँ एक साथ चलती हैं। भट्टोजिदीक्षित ने (१६५० ई०) में इसका उल्लेख किया है। चालुक्य सोमदेव (११२०-३८ ई०) के सभापण्डित विद्यामाधव ने 'पार्वतीरुक्मिणीय' नामक काव्य नौ सर्गों में लिखा। जैन कवि सन्ध्याकरनन्दी

ने 'रामपालचरित' नामक श्लिष्ट काव्य लिखा, जिसमें भगवान् राम तथा ग्यारहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में विद्यमान राजा रामपाल का वर्णन एक साथ किया है। रामचन्द्र ने इसी प्रकार 'रसिकरञ्जन' में शृङ्गारपरक तथा वैराग्यपरक अर्थ प्रत्येक पद्य में भरे हैं। इनका समय १५४२ ई० माना जाता है। इसके कवि अयोध्या के निवासी लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। वेङ्कटाध्वरी (१६ वीं शताब्दी ई०) ने 'यादवराघवीय' नामक काव्य केवल ३०० पद्यों में लिखा। यह विलोम काव्य है जिसे सामान्य क्रम से पढ़ने पर राम-परक और उलटकर (विलोम क्रम से) पढ़ने पर कृष्णपरक अर्थ निकलता है।

विजयनगर के राजा वेंकट (१५८६-१६१४ ई०) के सभा-पण्डित चिदम्बर ने तीन कथाओं को एक साथ प्रस्तुत करने का प्रयास '**राघव-पाण्डव-यादवीय**' काव्य में किया। राम, युधिष्ठिर और कृष्ण को नायक बनाकर यहाँ अर्थ निकलते हैं। इसमें केवल तीन सर्ग हैं। इसी कवि ने 'पञ्चकल्याणचम्पू' की भी रचना की थी जिसमें एक ही साथ राम, कृष्ण, शिव, विष्णु तथा सुब्रह्मण्य (कार्तिकेय) के विवाह का वर्णन किया गया है। इन सबसे आगे मेघविजय उपाध्याय नामक जैन कवि का '**सप्तसन्धान**' महाकाव्य है जो नौ सर्गों का है। इसमें कृष्ण और बलराम के अतिरिक्त पाँच तीर्थंकरों (ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर) का वर्णन साथ-साथ चलता है।

ऐसी कृतियाँ आधुनिक युग के लिए हास्यास्पद तथा क्लिष्ट भले ही कही जायें किन्तु संस्कृत-भाषा की विचित्र क्षमता का एवं योगज शब्दों की अर्थवत्ता का इनसे बड़ा प्रमाण कोई नहीं मिल सकता। जैन कवियों में अभी भी इस प्रकार के चित्रकाव्य या श्लिष्टकाव्य की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका कारण है निश्चिन्तता तथा स्वान्तःसुखाय रचना की प्रवृत्ति। दूसरों का हृदयावर्जन करना इनका उद्देश्य कभी नहीं हो सकता।

श्रीहर्ष (११५०-१२०० ई०)

भारवि और माघ के साथ श्रीहर्ष का नाम संस्कृत के महान् कवियों के रूप में लिया जाता है। इन तीनों के महाकाव्य 'बृहत्-त्रयी' के नाम से विशिष्ट रूप में जाने जाते हैं। इनका महाकाव्य 'नैषधीयचरित' (या नैषधचरित) अलंकृत और रसमयी (अर्थात् विचित्र और सुकुमार) दोनों पद्धतियों का समन्वय करता है। भारवि द्वारा प्रवर्तित चित्रालङ्कार की प्रवृत्ति इसमें नहीं है। फिर भी कल्पना-जन्य वर्णनों का प्राचुर्य इस काव्य को भारवि और माघ के काव्यों से आगे बढ़ा देता है- **उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।**

जीवन-वृत्त- सौभाग्य वश श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित के सर्गान्त-पद्यों में अपना बहुत परिचय दिया है जिसमें परिवार-विषयक सूचनाएँ भी हैं तो कवि के ज्ञानोत्कर्ष का भी निरूपण है। श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी था-

श्रीहर्षं कविराज-राजि-मुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्। (१/१४५)

कान्यकुब्ज (कन्नौज)-नरेश जयचन्द्र उनके आश्रयदाता थे (ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् २२/१५३)। कश्मीर के बड़े-बड़े विद्वानों ने उनके ग्रन्थों की प्रशंसा की थी

(काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा- १६/१३१)। इन्होंने खण्डनखण्डखाद्य आदि कई ग्रन्थ लिखे थे जिनका निर्देश कई सर्गों के अन्त्य पद्यों में मिलता है। चिन्तामणि-मन्त्र का जप करके उन्होंने सिद्धि और विद्वत्ता पाई थी (तच्चिन्तामणि-मन्त्रचिन्तन-फले १/१४५)।

श्रीहर्ष ने इस महाकाव्य को जान-बूझकर (सायास) क्लिष्ट बनाया था जिससे कोई दुष्ट इसके साथ खिलवाड़ न करे।[1] इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि उन्हें अपने पाण्डित्य का गर्व था और दूसरा यह कि उन्हें आलोचकों से घृणा थी। विद्वानों का वे आदर और दम्भी विद्वानों का तिरस्कार भी करते थे। दम्भी लोग उनका अपमान करते थे-

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरस-पुरुषानादर-भरैः। (२२/१५०)

उनके विषय में संस्कृत पण्डितों के बीच कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जो रोचक किन्तु अप्रामाणिक हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार श्रीहीर को नैयायिक उदयनाचार्य ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था; श्रीहर्ष ने पिता का प्रतिशोध उदयन को हराकर लिया।[2] दूसरी किंवदन्ती के अनुसार काव्यप्रकाशकार मम्मट उनके मातुल थे। श्रीहर्ष जब अपने काव्य की रचना करके अपने मामा को दिखाने पहुँचे तो उन्होंने श्रीहर्ष को हतोत्साह करते हुए कहा कि इसे तुम पहले लाते तो काव्य-प्रकाश के दोष-प्रकरण के लिए मुझे उदाहरण ढूँढ़ने का प्रयास करना नहीं पड़ता, सभी उदाहरण यहीं मिल जाते। श्रीहर्ष के क्षुब्ध होने पर नैषधीयचरित के एक पद्य 'तव वर्त्मनि वर्ततां शिवम्.' (२/६२) को दिखाया गया जिसमें एक अभीष्ट अर्थ (तुम्हारे मार्ग में कल्याण वर्तमान रहे) के अतिरिक्त पद-भेद से (तव वर्त्म निवर्ततां शिवम्) एक अनिष्ट अर्थ भी निकलता है- तुम्हारा मार्ग शुभ से रहित हो जाये।

वस्तुतः उदयन, मम्मट और श्रीहर्ष में काल का बहुत अन्तर है। अतः कल्पना-प्रवण पण्डितों ने मनोरञ्जन के लिए इन्हें गढ़ा होगा।

रचनाएँ- नैषधीयचरित के सर्गान्त पद्यों में श्रीहर्ष की निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख है- स्थैर्यविचारप्रकरण (सर्ग ४), श्रीविजयप्रशस्ति (५), खण्डनखण्डखाद्य (६), गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति (७), अर्णववर्णन (९), छिन्दप्रशस्ति (१७), शिवशक्तिसिद्धि (१८) तथा नवसाहसाङ्कचरितचम्पू (२२)। इनके अतिरिक्त खण्डनखण्डखाद्य में 'ईश्वराभिसन्धि' का उल्लेख है। इस प्रकार इस महाकाव्य को लेकर श्रीहर्ष की दस रचनाएँ थीं। अभी केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं- नैषधीयचरित (महाकाव्य) तथा **खण्डनखण्डखाद्य** (वेदान्त-ग्रन्थ जिसमें अन्य मतों का खण्डन है)। कुछ अप्राप्त ग्रन्थों के शीर्षकों से लगता है कि श्रीहर्ष विभिन्न राजाओं के यहाँ रहे थे, सम्भवतः स्वाभिमान के कारण एक स्थान पर ठहर नहीं सके। अन्ततः विजयचन्द्र की सभा में गये। उनकी स्तुति में श्रीहर्ष का निम्नाङ्कित पद्य प्रसिद्ध है-

---

१. नैषधीय. २२/१५२ **ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,**
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।

२. खण्डनखण्डखाद्य में कई स्थानों पर उदयन के मतों का खण्डन मिलता है।

गोविन्द-नन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥

अर्थात् हे नवयुवतियो! केवल गोविन्द का पुत्र होने (गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र, पक्षान्तर में- कृष्णपुत्र प्रद्युम्न) के कारण तथा शारीरिक सौन्दर्य से इस राजा को तुमलोग कामदेव समझने की भूल मत करो। दोनों में बहुत अन्तर है क्योंकि कामदेव (स्मर) संसार की विजय के लिए स्त्रियों को अस्त्र बनाता है (अस्त्रीकरोति) जबकि यह राजा संसार की विजय के क्रम में अस्त्रधारी व्यक्ति को स्त्री (कातर) बना देता है। इस प्रकार के स्फुट पद्य भी श्रीहर्ष से सम्बद्ध हैं।

काल तथा मूल स्थान- श्रीहर्ष के काल पर सर्वप्रथम ब्यूलर (Dr. Buhler) ने विचार किया था।[१] उनका आधार राजशेखर सूरि (१३४८ ई०) रचित 'प्रबन्धकोष' में दिया गया विवरण है। राजशेखर ने सूचना दी है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के राजा जयन्तचन्द्र (जयचन्द) के आश्रित कवि थे। जयन्तचन्द्र (११६३-११९४ ई०) और कुमारपाल (११४३-११७४ ई०) दोनों समकालिक थे। इस पर ब्यूलर ने निष्कर्ष निकाला है कि 'नैषधीयचरित' की रचना ११६३ ई० और ११७४ ई० के बीच हुई होगी। जयचन्द्र विजयचन्द्र के पुत्र थे। श्रीहर्ष पिता और पुत्र दोनों के समय में विद्यमान थे। ये राजा गहड़वाल क्षत्रिय कहलाते थे। कान्यकुब्ज-नरेश के नाम से इनकी प्रसिद्धि थी किन्तु श्रीहर्ष के समय में इनकी राजधानी काशी में थी। यहीं श्रीहर्ष मुख्यतः जयचन्द्र की राजसभा में १२ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। विजयचन्द्र के विषय में इन्होंने 'विजयप्रशस्ति' लिखी थी।

श्रीहर्ष के मूल निवास के विषय में विविध मत हैं। कुछ लोग कान्यकुब्ज-नरेश जयन्तचन्द्र का सभासद् होने के कारण इन्हें कन्नौज का मूल निवासी मानते हैं। दूसरे विद्वान् इन्हें इनकी 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' तथा 'नवसाहसाङ्कचरित' के आधार पर वंग-देश (बंगाल) का निवासी कहते हैं। नैषधचरित में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दों के आधार पर भी इन्हें वंगदेशीय सिद्ध करने का प्रयास हुआ है। तीसरा पक्ष कश्मीर का है। किंवदन्ती के अनुसार मम्मट के भागिनेय एवं स्वयं श्रीहर्ष द्वारा कश्मीर में इनकी परीक्षा की चर्चा होने के कारण (काश्मीरैर्महिते १६/१३१) कश्मीर में इनका निवास माना गया है। किन्तु उपर्युक्त 'प्रबन्धकोष' के आधार पर इनका कश्मीरी होना सिद्ध नहीं होता। श्रीहर्ष ने बहुत लम्बी यात्रा करके अपने ग्रन्थ की परीक्षा कश्मीर में करायी थी जहाँ उन्हें बहुत सम्मान मिला था। कश्मीर से सम्मान पाकर ही श्रीहर्ष ने अपना महाकाव्य जयचन्द्र को दिखलाया था।

इस मत-भेद की स्थिति में श्रीहर्ष का मूल स्थान निश्चित करना कठिन है। बहुसंख्यक विद्वान् उन्हें मध्यदेशीय अर्थात् उत्तर-प्रदेश का निवासी मानते हैं अर्थात् कान्यकुब्ज-नरेशों की दोनों राजधानियों (कन्नौज और काशी) के बीच किसी स्थान के वे निवासी थे। दुःख का विषय है कि अपने पाण्डित्य का और रचनाओं का व्यापक उल्लेख करने वाले श्रीहर्ष अपने जन्मस्थान

---

१. जर्नल ऑफ बॉम्बे ब्रांच ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, भाग-१०, पृ० ३१ तथा आगे; भाग ११, पृ० २७९ तथा आगे भी (१८७५ ई०)।

के प्रति मौन रह गये।

नैषधीयचरित[1]-महाकवि श्रीहर्ष-रचित एकमात्र उपलब्ध काव्य के रूप में नैषधीयचरित (या नैषधचरित) भारतीय विद्वानों के बीच अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसमें नल और दमयन्ती के परस्पर प्रणय एवं परिणय का कथानक है जो महाभारत के वनपर्व से संकलित है। किन्तु उनका सम्पूर्ण आख्यान इसमें नहीं है, विवाह के अनन्तर जो नल-दमयन्ती को कलि के कारण संकट झेलने पड़े वे इसमें वर्णित नहीं हैं। इस महाकाव्य में अल्प कथानक को लम्बे-लम्बे २२ सर्गों में फैलाया गया है जिसमें कवि की कल्पना-शक्ति और तर्क-प्रवणता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके केवल दो सर्ग छोटे हैं (सर्ग १३ में ५६ पद्य और सर्ग १९ में ६७ पद्य), अन्यथा सभी सर्गों में १०० से अधिक ही पद्य हैं, कई सर्गों में १५० से भी अधिक पद्य हैं तथा सर्ग १७ में २२२ पद्य हैं। वस्तुतः आकार-प्रकार की दृष्टि से भी यह बृहत्-त्रयी के अन्य काव्यों से (किरातार्जुनीय १८ सर्ग; शिशुपालवध २० सर्ग) बड़ा है।

सर्गानुसार इसमें कथा इस प्रकार है- (सर्ग १) नल-दमयन्ती का एक दूसरे के गुणों को सुनकर परस्पर अनुरक्त होना; नल का वन-विहार, एक हंस को पकड़ना किन्तु दयावश छोड़ देना। (२) हंस की कृतज्ञता तथा दमयन्ती का गुणवर्णन, नल के अनुरोध पर हंस का दमयन्ती के पास कुण्डिनपुरी जाना। (३) हंस का दमयन्ती के समक्ष नल का गुणवर्णन, दमयन्ती की नल-विषयक अनुरक्ति तथा हंस का नल के पास प्रत्यावर्तन। (४) दमयन्ती की विकलता, चन्द्रोपालम्भ, उसके पिता भीमसेन द्वारा स्वयंवर का निर्णय। (५) इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण द्वारा नल को दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजना। (६) अदृश्य रूप में नल का दमयन्ती के पास पहुँचना और उसके सौन्दर्य का निरीक्षण। (७) दमयन्ती का नख-शिख-वर्णन। (८) नल का प्रकट होकर देवताओं का सन्देश दमयन्ती को सुनाना तथा उन चारों देवताओं में किसी एक को वरण करने का आग्रह करना। (९) नल-दमयन्ती-संवाद, दमयन्ती का देवताओं को वरण न करने का निश्चय और नल को स्वयंवर में आने के लिए राजी करना। (१०) दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन। (११-१२) सरस्वती द्वारा स्वयंवर में आये हुए राजाओं का परिचय दिया जाना। (१३) इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण के अतिरिक्त नल का श्लेषयुक्त पञ्चार्थ-प्रतिपादक श्लोकों में सरस्वती द्वारा वर्णन।[2] (१४) दमयन्ती द्वारा देवताओं की स्तुति, देवताओं द्वारा दमयन्ती को श्लेष समझने की शक्ति देना, वास्तविक नल का वरण और देवताओं का आशीर्वाद। (१५) विवाह का उपक्रम। (१६) विवाह-संस्कार, भोजन तथा नल का अपनी राजधानी लौटना। (१७) देवताओं का लौटना, मार्ग में कलि की सेना से भेंट, कलि द्वारा चार्वाक-सिद्धान्त का वर्णन, देवताओं द्वारा खण्डन, नल के विवाह की बात सुनकर कलि का नल को राज्यच्युति और दमयन्ती-वियोग का शाप देना। (१८) नल और दमयन्ती का

---

१. सर्वप्रथम बिब्लियोथिका इण्डिका में दो भागों में प्रकाशित १८३६ तथा १८५५ ई०। निर्णयसागर प्रेस से नारायणी-टीका सहित प्रकाशित १८९४ ई०। दो मुख्य ग्रन्थों में समीक्षा-1. Dr. A. N. Jani- **A Critical Study of Naiṣadha carita**, 2. डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल- **नैषध-परिशीलन**।

२. चारों देवता नल का ही रूप धारण किये हुए थे अतः सरस्वती ऐसे श्लोक बोलती थी कि पाँचों के पक्ष में अर्थ निकले। इसे 'पञ्चनली' कहते हैं। श्लिष्ट महाकाव्यों की प्रक्रिया में श्रीहर्ष ने इस सर्ग की रचना की थी।

विहार। (१९) प्रभात काल में वैतालिक द्वारा नल को जगाना, सूर्योदय तथा चन्द्रास्त का वर्णन। (२०) नल और दमयन्ती का प्रेमालाप। (२१) नल द्वारा विष्णु, शिव, वामन आदि देवताओं की प्रार्थना। (२२) सन्ध्या और रात्रि का वर्णन, चन्द्रोदय एवं दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन, ग्रन्थ-समाप्ति।

नैषधीयचरित के सर्गान्त पद्यों में कवि ने अपना परिचय दिया है तथा ऐसा भाव प्रकट किया है कि सर्ग को आगे भी वे बढ़ा सकते थे, विस्तार के भय से सर्गान्त कर रहे हैं। बहुत से विद्वानों ने इस महाकाव्य को अधूरा कहा है। तदनुसार आगे के सर्ग या तो लिखे नहीं जा सके या लुप्त हो गये। सत्रहवें सर्ग में कलि ने नल को राज्यच्युत और दमयन्ती से पृथक् करने की प्रतिज्ञा की है, किन्तु इन घटनाओं को इस महाकाव्य में नहीं दिखाया गया है। इसी आधार पर बहुत से लोगों ने नैषधचरित की अपूर्णता की कल्पना की है।[1] किन्तु यह बात असंगत है। श्रीहर्ष ने नायक के संकटों को न दिखाकर इसे शृंगार-प्रधान महाकाव्य बनाने का कार्यक्रम रखा था। करुण-रस इसमें बाधक होता। इसके टीकाकार नारायण ने भी यह सूचना दी है कि २२ सर्गों का नैषधीयचरित पूर्ण महाकाव्य है (इदानीं काव्यसमाप्तिं चिकीर्षुः श्रीहर्षो नायकमुखेनाशिषमाशास्ते २२/१४८ का अवतरण)। नैषधचरित की प्राचीनतम प्रति विद्याधर की है, उसमें भी २२ सर्ग ही हैं। सभी पाण्डुलिपियों में २२ सर्ग तक ही पाठ है। ग्रन्थ-समाप्ति की सूचना कवि ने २२ वें सर्ग के अन्त में देते हुए मङ्गलश्लोक लिखे हैं। फिर भी कुछ लोगों ने महाकाव्य के शीर्षक के आधार पर, महाभारत में दिये गये नलोपाख्यान के आधार पर तथा काव्यप्रकाश के टीकाकार अच्युताचार्य के द्वारा इसमें १०० सर्गों के होने के निर्देश के कारण इस महाकाव्य को अधूरा कहा है। कीथ ने ऐसे लोगों का उपहास किया है जो इस आशा में हैं कि कभी इसकी आगे की पाण्डुलिपि मिल जायेगी।[2]

नैषधीयचरित में 'खण्डनखण्डखाद्य' की और खण्डनखण्डखाद्य में 'नैषधीयचरित' का उल्लेख होने से यह अनुमान होता है कि दोनों ग्रन्थों की रचना श्रीहर्ष ने साथ-साथ की होगी। इस महाकाव्य पर २३ व्याख्याओं के अस्तित्व का उल्लेख ऑफ्रेख्त (Aufrecht) ने 'संस्कृत-ग्रन्थों की बृहत्सूची' (Catalogus Catalogurum) में किया है। चाण्डू पण्डित की नैषधदीपिका-टीका १२९६ ई० में लिखी गयी थी। इस टीकाकार ने अपने पूर्ववर्ती विद्याधर नामक विद्वान् के द्वारा लिखी गयी टीका का उल्लेख किया है।[3] इससे इस महाकाव्य के प्रति टीकाकारों का आकर्षण प्रायः अपने रचनाकाल से ही प्रकट होता है। इसकी टीकाओं में नारायण-रचित नैषधीय-प्रकाश (निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित), जिनराज-कृत सुखावबोध, मल्लिनाथ कृत जीवातु (चौखम्बा संस्कृत सीरिज से हिन्दी व्याख्या सहित १९५४ में प्रकाशित), चारित्रवर्धन-कृत तिलक, नरहरिकृत-दीपिका, विद्याधरकृत साहित्यविद्याधरी- ये विशेष प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार टीकाओं की

---

१. कृष्णमाचारी का इतिहास-ग्रन्थ (HCSL) पृ० १७९-८०।

२. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी रूपान्तर), पृ० १७५।

३. निर्णय सागर संस्करण की भूमिका, पृ० १५ की पादटिप्पणी सं. ३ पर उद्धरण-

टीकां यद्यपि सोपपत्तिरचनां विद्याधरो निर्ममे
श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गम्भीरतां भारती।

दृष्टि से यह बहुत लोकप्रिय महाकाव्य रहा है।

साहित्यिक वैशिष्ट्य- कालिदासोत्तर कलावादी कवियों में श्रीहर्ष सर्वोत्तम हैं जिन्होंने सुकुमार-मार्ग की सरसता और विचित्र-मार्ग की प्रौढि का समन्वय करके एक अद्भुत महाकाव्य की रचना की। दूरारूढ कल्पनाओं के साथ गम्भीर चिन्तन का, अलङ्कारों के साथ ध्वनि का एवं शास्त्रगत पाण्डित्य के साथ लोकानुभव का समन्वय करने में श्रीहर्ष की प्रतिभा अद्वितीय है। भारवि ने जिस महाकाव्य -पद्धति का प्रवर्तन किया और माघ ने जिसे आगे बढ़ाया उसे आंशिक रूप से ही श्रीहर्ष ने स्वीकार किया; वर्णनों की विपुलता में श्रीहर्ष उन कवियों से आगे बढ़ गये- एक-एक विषय पर पर्याप्त कल्पना का निवेश उन्होंने किया। उदाहरण के लिए प्रथम सर्ग में नल का वन-विहार (१/७४-११५) या द्वितीय सर्ग का कुण्डनपुर-वर्णन (२/७३-१०५) द्रष्टव्य है जो पूर्ववर्ती दोनों कवियों के वन विहार-वर्णन या नगर-वर्णन की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और नयी कल्पनाओं से समन्वित है। महाकाव्य के आरम्भ में राजा नल का वर्णन (१/१-३०) बिल्कुल नये ढंग का जिसमें श्लेष के द्वारा शास्त्रीय प्रौढि कवि ने दिखायी है, कल्पना की ऊँचाई तो है ही। जैसे-

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी
त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया
नव-द्वय-द्वीप-पृथग्जयश्रियम्॥ (१/५)

उस नल के जिह्वाग्र पर सदा नृत्य (निवास) करने वाली विद्या ने [व्याकरण आदि छह] अङ्गों से गुणित होकर विस्तार को प्राप्त करने वाली त्रयी (वेद विद्या) के समान मानो अठारह द्वीपों की विजयलक्ष्मी को पृथक्-पृथक् जीतने की इच्छा से अष्टादश संख्या को प्राप्त कर लिया था।

तृतीय सर्ग का हंस-दमयन्ती-संवाद, चतुर्थ सर्ग का चन्द्रोपालम्भ, नवम सर्ग का नल-दमयन्ती-संवाद, षोडश सर्ग का भोजन-वर्णन आदि अपने-अपने क्षेत्र के उत्कृष्ट स्थल हैं। हंस दमयन्ती को अपनी विशिष्टता समझाता है कि मेरे ऊपर पाश आदि कोई उपाय नहीं चल सकता, मैं दिव्य पक्षी हूँ। केवल एक ही 'नर' मुझे पकड़ सकता है जो 'विरलोदय' (कठिनाई से आविर्भूत होनेवाला) है। यहाँ वि-र (रकार से रहित) और लोदय (ल से युक्त) 'नर' (अर्थात् नल) का विशिष्ट अर्थ देकर कवि ने हंस द्वारा 'नल' का निर्देश कराया है-

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादित-पौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य॥ (३/२०)

इसमें अनुप्रासयुक्त पद-लालित्य की अतिरिक्त सुषमा है। इसी प्रकार चन्द्रोपलम्भ का उपक्रम करते हुए सरलतम भाषा में श्रीहर्ष विलक्षण कल्पना का चमत्कार दिखाते हैं-

निविशते यदि शूकशिखा पदे, सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः॥ (४/११)

यदि पैर के (कठोर) तलवे में शूक (गेहूँ, धान आदि का महीन रेशा) की नोक घुस जाती है, तो वह कितनी पीड़ा नहीं पहुँचाती? तब सुकुमार शरीर वाली दमयन्ती के कोमल हृदय में पूरी

तरह घुस कर जो महीधर (राजा, पर्वत) बैठा हुआ है, उसकी पीड़ा कैसी होगी! इस प्रसंग में दमयन्ती की विरहव्यथा का वर्णन कवि ने एक सौ से अधिक पद्यों में किया है जो अत्यन्त मार्मिक हैं। अन्त में मन्त्री और वैद्य का समान भाषा में उपचार-वर्णन प्राप्त होता है कि 'नलद' (वैद्य के लिए 'खस' की जड़ का प्रयोग; मन्त्री के लिए- नल को दान करना) के अतिरिक्त दमयन्ती की रक्षा का कोई उपाय नहीं है, ऐसी बात राजा को दोनों एक ही वाक्य में कहते हैं।

> कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
> द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
> देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
> स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः॥ (४/११६)[1]

श्रीहर्ष में विविध भावों को अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। भाव कितना भी गहन क्यों न हो, अपनी कल्पना तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति के कारण कवि उसे अनायास प्रकट कर लेता है। निम्नांकित पद्य में भवितव्यता के साथ मानवीय इच्छा का सम्बन्ध दिखाते हुए नल के द्वारा हंस के पकड़े जाने की कथा का उपक्रम श्रीहर्ष करते हैं-

> अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा, यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
> तृणेन वात्येव तयानुगम्यते, जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ (१/१२०)

कामपीड़ित नल को हंस पकड़ने का कौतुक क्यों हुआ? या नल की सेना को देखकर भी हंस सो क्यों गया? इसी का समाधान यहाँ दिया गया है कि अवश्य होनेवाली भवितव्यता में ब्रह्मा की इच्छा जिस ओर दौड़ती है, मनुष्य का पराधीन चित्त भी उसी ओर दौड़ जाता है जैसे विवश तृण आँधी की ओर चला जाता है।

हंस को जब नल पकड़ लेता है तब हंस की उक्तियों में कवि ने आक्रोश और करुणा दोनों की अभिव्यक्ति की है-

> पदे-पदे सन्ति भटा रणोद्भटा, न तेषु हिंसारस एष पूर्यते?
> धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं, कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि॥ (१/१३२)

संसार में पद-पद पर युद्ध में प्रचण्ड पराक्रम करने वाले सैनिक हैं, उनसे तुम्हारा हिंसानुराग क्या नहीं पूरा होता? तुम्हारे इस निन्दित पराक्रम को धिक्कार है जो इस कृपापात्र दीन पक्षी पर प्रयुक्त हो रहा है।

> मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
> गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ (१/१३५)

अपनी माँ का एकमात्र पुत्र मैं ही हूँ, वह (माँ) वृद्धता से पीड़ित है; मेरी हंसी को नया प्रसव हुआ है, वह पतिव्रता है। उन दोनों (माँ और पत्नी) की जीविका चलाने वाला मैं ही हूँ। हे देव, उस हंस को मारते हुए क्या तुम्हें करुणा नहीं रोकती?

नैषधचरित का मुख्य रस शृङ्गार है। स्वयं कवि ने 'शृङ्गारभङ्ग्या' (१/१४५) तथा

---

१. श्लेष द्वारा द्विसन्धान का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

'शृङ्गारामृतशीतगुः' (११/१३०) का प्रयोग इस महाकाव्य के लिए किया है। उसने रसों के प्रवाह से इस महाकाव्य को निरन्तर भरा है- **अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ** (२०/१६२)। रस-निष्पत्ति के लिए सर्वथा नव-नव अर्थों का सर्जन उसने किया है-**एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्** १९/६७)। शृङ्गार का सम्भोग-पक्ष नल-दमयन्ती के समागम (सर्ग १८) में पूर्णतया चित्रित है तो वियोग-पक्ष को दमयन्ती की दृष्टि से चतुर्थ-सर्ग में व्यापक रूप से अंकित किया गया है। संयोग-शृङ्गार का एक चित्र इस प्रकार है जिसमें नल-दमयन्ती के समान आनन्द का वर्णन है-

> **स्वेन भावजनने स तु प्रियां, बाहुमूल-कुच-नाभि-चुम्बनैः।**
> **निर्ममे रत-रहः-समापना-शर्मसार-सम-संविभागिनीम्॥** (१८/११६)

वियोग-शृङ्गार के उद्भावन में चतुर्थ सर्ग का व्यापक चन्द्रोपालम्भ तो है ही, प्रथम सर्ग में नल का वर्णन भी पूर्वराग के रूप में उसी कोटि का है जैसे-

> **मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।**
> **विलेपनस्याधिकचन्द्रभागता-विभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्॥** (१/५१)

दमयन्ती के विरहजन्य निःश्वास को नल मिथ्या-विषाद ('वह वस्तु चली गयी' बहुत दुःख है) का अभिनय करके छिपा लेता था; इसी प्रकार अपने शरीर की पाण्डुता को यह कहकर छिपा लेता था कि चन्दन में कर्पूर का अंश अधिक पड़ गया है। हंस के विलाप में करुण-रस का उद्भावन अच्छी तरह हुआ है। सर्ग १२-१३ में स्वयंवर में आये हुए राजाओं के वर्णन में वीर रस का प्रयोग है। सर्ग १६ में शृङ्गार पर आश्रित हास्य-रस का भी चित्रण है जहाँ नल की बारात में गये लोगों का भोजन-व्यापार विस्तार से वर्णित है। जैसे-

> **घृतप्लुते भोजनभाजने पुरः, स्फुरत्पुरन्ध्रि-प्रतिबिम्बिताकृतेः।**
> **युवा निधायोरसि लड्डुकद्वयं, नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम्॥** (१६/१०३)

युवक के समक्ष घी से चिकने चमकीले भोजन-पात्र में सुन्दरी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। उस युवक ने प्रतिबिम्ब के वक्ष पर दो लड्डू रखकर उन्हें नख से कुरेदना आरम्भ कर दिया और अन्ततः उस सुन्दरी के समक्ष ही लड्डुओं को निर्दयतापूर्वक मसल दिया। ऐसे अनेक वर्णन हैं।

नैषधीय-चरित की विशिष्टता है कि वर्णनों की लम्बाई होने पर भी कहीं उद्वेग नहीं होता; क्योंकि कथानक कहीं-न कहीं सम्बद्ध रहता है। वर्णनों में भी श्रीहर्ष ने रसोद्भावन को मुख्य लक्ष्य रखा है। इसीलिए आरम्भ में ही कवि ने नल की कथा को रसों से ऐसा परिपूर्ण बताया है कि अमृत का भी तिरस्कार हो जाता है- **रसैः कथा यस्य सुधावधीरणी, नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः** (१/२)। अपनी शैली को श्रीहर्ष ने प्रच्छन्न रूप से 'वैदर्भी' बताया है; नल या नैषध (निषध-नरेश) काव्य है और वैदर्भी रीति है जिसमें उदारता आदि सभी गुण हैं। नैषध के आकर्षण का विषय यही वैदर्भी (दमयन्ती, रीति) है-

> **धन्यासि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।**
> **इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥** (३/११६)

हे वैदर्भि (दमयन्ती! वैदर्भी रीति!) तुम अपने उदार गुणों के कारण धन्य हो, क्योंकि तुमसे नैषध (काव्य, नल) जैसा धीरोदात्त पुरुष (या महाकाव्य) आकृष्ट हो गया। इससे बढ़कर चन्द्रज्योत्स्ना की प्रशंसा क्या होगी कि विशाल सागर को वह अत्यन्त चञ्चल कर देती है?

अलङ्कारों का ऐसा स्वाभाविक **निवेश** इस महाकाव्य में किया गया है कि महाकाव्य अलङ्कारमय ही हो गया है। श्लेष तो सर्वत्र विद्यमान है। नारायणी टीका में विभिन्न अर्थों का स्फोरण किया गया है। अलङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति आदि पूरे महाकाव्य में बिखरे पड़े हैं। कवि पर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का विशिष्ट प्रभाव है क्योंकि वे 'वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति' का चमत्कार सर्वत्र दिखाते हैं। किसी वस्तु को व्यङ्ग्योक्तियों से वक्रतापूर्वक वे निरूपित करते हैं। १७ वें सर्ग में कलि की उक्तियों में ब्राह्मण-धर्म, पौरोहित्य, पातिव्रत्य, पाखण्ड आदि पर निर्मम व्यंग्य किया गया है। उत्प्रेक्षालङ्कार को बड़े कौशल से परम्परागत अप्रस्तुत-योजना में भी नवीन रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है-

> हतसारमिवेन्दुमण्डलं, दमयन्तीवदनाय वेधसा।
> कृतमध्यबिलं विलोक्यते, धृतगम्भीर-खनी-ख-नीलिम॥ (२/२५)

ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख के निर्माण के लिए चन्द्रमा का सार-भाग निकाल लिया है, इसलिए चन्द्रमा में छिद्र हो गया है और उसके मध्य से आकाश की नीलिमा दिखाई देती है, चन्द्रमा का वह कलङ्क नहीं है।

वक्रोक्ति से पूर्ण एक श्लोक में कवि कहते हैं कि आकाश में तारे कामदेव के बाण जैसे लगते हैं जो देवताओं और अप्सराओं के लिए छोड़े गये हैं। कामदेव को 'पञ्चशर' (पाँच बाणों वाला) कहा गया है, उसमें 'पञ्च' शब्द वस्तुतः 'प्रपञ्च' या विस्तार का वाचक है जैसा कि 'पञ्चानन' शब्द में है-

> मोहाय देवाप्सरसां विमुक्तास्ताराः शराः पुष्पशरेण शङ्के।
> पञ्चास्यवत् पञ्चशरस्य नाम्नि, प्रपञ्चवाची खलु पञ्चशब्दः॥[1]

हंस दमयन्ती से जब अपनी इच्छा प्रकट करने का अनुरोध करता है और कहता है कि यदि लङ्का-पुरी जाने की भी लालसा हो तो कहो, मैं पूरी कर दूँगा-तब दमयन्ती श्लेषयुक्त वाक्य का प्रयोग करती है- **चेतो न लङ्कामयते मदीयम्** (३/६७)। इसके तीन अर्थ निकलते हैं- (१) मेरा चित्त लंका की ओर नहीं जा रहा है। (२) मेरा चित्त नल की कामना करता है (नलं कामयते) तथा (३) यदि नल नहीं मिले तो मेरा चित्त अग्नि को चाहता है (चेतोऽनलं कामयते), मैं जल मरूँगी।

जिस **अर्थ-गौरव** (अर्थान्तरन्यास) के लिए भारवि आदि प्रसिद्ध हैं उस क्षेत्र में भी श्रीहर्ष अग्रणी हैं। कुछ प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार हैं- क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः (१/१०२ भाग्यवान् व्यक्ति को अपनी भोग-सामग्री कहाँ नहीं मिलती?), आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः (५/१०३) मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता (९/८), चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः (९/५६ योग्य व्यक्ति से योग्य का मेल अच्छा लगता है), कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते (५/६ कौन व्यक्ति अपने किये कर्म का फल यहाँ नहीं भोगता), प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः (३/९१ दुःख समय की प्रतीक्षा नहीं करता), कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते (३/१७ अपने कारण से ही कार्य को गुण प्राप्त होते हैं), ब्रुवते हि फलेन साधवो, न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् (२/४८ सज्जन फल द्वारा अपनी उपयोगिता प्रकट करते हैं, कहकर नहीं)। कुछ बातें दृष्टान्तों के द्वारा अच्छी तरह प्रकट की गयी हैं जैसे-

---

१. नैषधीयचरित २२/१८।

तृप्तं हि तृप्ताय न वारिधारा, स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा (३/९३ जल से जो तृप्त हो चुका है उसे सरस, सुगन्धित और शीतल जलधारा भी अच्छी नहीं लगती), पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंस-कुलावतंस ३/९४ हे हंसश्रेष्ठ, पित्त से दूषित जीभ पर चीनी भी तिक्त लगती है)।

नैषधे पदलालित्यम्- श्रीहर्ष के काव्यगत वैशिष्ट्य के अनेकानेक उपादानों में इनके पद-लालित्य का बहुत आदर है। प्रसाद गुण और माधुर्यगुण तो इनकी कृति में प्राचुर्य प्राप्त किये ही हुए हैं, सानुप्रास श्रुतिमधुर पदावली का विन्यास पद-पद पर मिलता है चाहे प्रथम पद्य को ही क्यों न रखें-निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि (१/१)। शृङ्गार तथा अन्य कमनीय रसों से यह महाकाव्य इस प्रकार अनुस्यूत है कि श्रुटि-कटु पद इसके पास फटकते ही नहीं। छन्दों के चयन में भी सतर्कता रखने के कारण इनके काव्य में अपूर्व संगीत का आनन्द मिलता है। पदलालित्य श्रीहर्ष के श्लोकों का स्वाभाविक गुण है जिसे लाने के लिए इन्हें पृथक् प्रयास करना नहीं पड़ता। किसी भी विषय को स्थापित करने में यह गुण स्वयमेव चला आता है। अन्य कवियों के द्वारा लाये गये यमक का परिश्रम यहाँ नहीं है। जैसे दमयन्ती के नयन-वर्णन का यह प्रसङ्ग लें-

नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते, विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥ (२/२३)

हंस दमयन्ती को अपने सुन्दर शरीर का कारण बतलाता है-

स्वर्गापगा-हेम-मृणालिनीनां, नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं, कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते॥ (३/१७)

अनुप्रास स्वयं लुढ़कते चलते हैं, यहाँ ऐसा प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में दमयन्ती की यह उक्ति लें जो पदलालित्य के साथ अर्थ-गौरव के लिए भी महत्त्वपूर्ण है-

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु, मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराज-पाणि-ग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा॥ (३/५९)

'मन जिसे कभी छोड़ नहीं रहा है, वह मनोरथ (इच्छा, मन का रथ) कण्ठ के पथ पर चले तो कैसे चले? कोई विवेकशील बालिका चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की इच्छा को कैसे प्रकट करेगी? (दूसरा अर्थ-हे पक्षिराज, कोई बालिका अपने पाणिग्रहण की इच्छा कैसे व्यक्त करे?)

हंस अपनी सत्यवादिता और सहृदयता का प्रकाशन करते हुए अनुप्रास की वर्षा करता है-

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेश-लोकेशय-लोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञ-रसज्ञतोपज्ञ-समज्ञमज्ञम्॥ (३/६४)

नैषधीयचरित के एकादश सर्ग (जो वसन्ततिलका छन्द में है) में पदलालित्य के अनेक उदाहरण हैं। जैसे-

(१) तत्रावनीन्द्र-चय-चन्दन-चन्द्र-लेप-
नेपथ्य-गन्धवह-गन्धवह-प्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्ग-शरानुसारी
संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः॥ (११/५)

(२) लोकेश-केशव-शिवानपि यश्चकार
शृंङ्गार-सान्तर-भृशान्तर-शान्त-भावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषु-पञ्चकेन
संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः॥ (११/२५)

पदलालित्य के कुछ अन्य उदाहरण हैं- दिनमयमयं कालः भूयः प्रसूय तथा रविः (१९/४६), सानन्दाः कुरुविन्द-सुन्दर-करस्यानन्दनं स्यन्दनम् (१५/९२), यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः (१४/८३), कलसं जलसंभृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः (२/६५)[1], क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ (२/६४), नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता, करम्बिताङ्गी मकरन्द-शीतलैः (१/८५)।

नल-दमयन्ती की क्रीड़ा से सम्बद्ध सर्वथा सरल पद-सौन्दर्यमय यह पद्य श्रीहर्ष की शैली और रसपेशलता का प्रकृष्ट दृष्टान्त है-

न स्थली न जलधिर्न काननं, नाद्रिभूर्न विषयो न काननम्।
क्रीडिता न सह यत्र तेन सा, सा विधैव न यया यया न वा॥ (१८/८४)

अनुप्रास-रहित पद-लालित्य से यह पूर्ण है।

नैषधं विद्वदौषधम् (श्रीहर्ष का पाण्डित्य)- श्रीहर्ष अनेक शास्त्रों के प्रखर विद्वान् थे। इनका 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्लिष्टतम ग्रन्थों में अन्यतम है। अपनी व्युत्पत्ति का प्रदर्शन इन्होंने नैषधीयचरित महाकाव्य में भी किया है, इस विषय में कतिपय दन्तकथाएँ प्रचलित हैं जैसे सरस्वती ने आग्रह करके श्रीहर्ष से ऐसा काव्य लिखवाया जिसमें उनके पाण्डित्य का पूर्ण प्रदर्शन न हो, दूसरे विद्वान् इसे समझ सकें। इसमें श्रीहर्ष के दुर्धर्ष वैदुष्य का परिचय मिलता है। कवि ने स्वयं भी इस महाकाव्य में प्रयत्नपूर्वक ग्रन्थियाँ निविष्ट की हैं क्योंकि कुछ पण्डितम्मन्य लोग इसके साथ खिलवाड़ करने का षड्यन्त्र कर सकते थे। श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना करके शास्त्र की ग्रन्थियों के समान इस काव्य की ग्रन्थियों को शिथिल करने के अनन्तर ही सज्जन रसिक रस-तरङ्गों का अवगाहन कर सकता है-

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्ध-गुरु-श्लथीकृत-दृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्य-रसोर्मि-मज्जन-सुख-व्यासज्जनं सज्जनः॥ (२२/१५२)

राजशेखरसूरि के प्रबन्धकोष में श्रीहर्ष की एक उक्ति संकलित है जिसमें उन्होंने कहा है कि मेरी वाणी सुकुमार प्रमेय वाले साहित्य के क्षेत्र में तथा दृढ़ न्यायशास्त्र की ग्रन्थियों से पूर्ण तर्क-क्षेत्र में समान क्रीड़ा करती है।[2] वस्तुतः इस काव्य में भी कवि ने अपने इस वचन का निरन्तर पालन किया है जिससे नैषधीयचरित एक ओर रसात्मकता के प्रकर्ष पर है तो दूसरी ओर वैदुष्य के भी

---

१. इस पद्य (२/६५) के अनन्तर ६६, ६७, ७२ तथा ७३ में असंदष्ट यमक का प्रयोग है।
२. नैषधीयचरित (निर्णयसागर-संस्करण) की भूमिका में उद्धृत-

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।

शिखर पर विराजमान है।

जिन विद्वानों को अपने पाण्डित्य के अभिमान के रूप में कोई रोग हो तो उनका अहंकार-निवारण इस महाकाव्य के आनन्द के अनावरण के क्रम में अवश्य हो जाएगा। 'भागवतपुराण' के विषय में जिस प्रकार 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की उक्ति प्रचलित हुई, उसी प्रकार उक्त सन्दर्भ में 'नैषधं विद्वदौषधम्' यह उक्ति चल पड़ी। इस महाकाव्य में विशेष योग्यता पाना विविध शास्त्रों के अवगाहन का परिचायक है। इसमें व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि दर्शनों के कठिन सिद्धान्तों का यत्र-तत्र वर्णन है। इन्हें जानने वाला पाठक ही इस महाकाव्य का आनन्द ले सकता है। कई शास्त्रों पर जो कवि ने व्यङ्ग्य किया है उसे समझना परिश्रम-साध्य है, पाश्चात्त्य समीक्षकों ने इसीलिए इस काव्य की निन्दा की है कि इसमें भावपक्ष दुर्बल है, कलापक्ष प्रबल। सत्य यह है कि यह काव्य एक विशिष्ट वर्ग के पाठकों को रस की तरङ्गों में निमग्न करने का लक्ष्य रख कर लिखा गया है। इसके कुछ शास्त्रीय प्रसङ्गों के उदाहरण दिये जाते हैं-

(१) **व्याकरण**-हंस नल की प्रशंसा करते हुए उसे 'प्रथमा व्यक्ति' कहता है जिसमें स्वौजस् (अपने बल, सु+औ+जस् विभक्तियाँ) के विलास से अनेक अनाम-पद (शत्रु स्थानों को) अभिभूत करने की क्षमता है जैसे प्रथमा विभक्ति 'सु औ जस्'- इन तीनों के विकारों से अनेक नाम-पदों (सुबन्त शब्दों) को सिद्ध करती है-

> **क्रियेत चेत्साधु-विभक्तिचिन्ता, व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।**
> **या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्॥** (३/२३)

यहाँ श्लेष द्वारा व्याकरण-परक अर्थ भी निर्दिष्ट है। अन्य स्थान पर पाणिनि के एक सूत्र 'अपवर्गे तृतीया' (२/३/६) पर व्यङ्ग्य करते हुए कहा गया है कि अपवर्ग (मोक्ष) के लिए तृतीया प्रकृति (=स्त्री-प्रकृति और पुरुष-प्रकृति से भिन्न नपुंसक) ही उपयुक्त होती है, स्त्री-पुरुष तो काम-विषय में लगे रहते हैं-

> **उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।**
> **अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥** (१७/७०)

(२) **न्याय**- न्यायदर्शन के आचार्य गोतम (या गौतम) पर व्यङ्ग्य करते हुए उनके मुक्ति-सिद्धान्त की निन्दा की गयी है। न्याय-दर्शन में मुक्ति (अपवर्ग) का लक्षण है- **तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः, सकल-विशेषगुणोच्छेदो मुक्तिः** अर्थात् आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि सभी गुणों का नाश ही मोक्ष है। श्रीहर्ष चार्वाक द्वारा कहलवाते हैं कि यदि ऐसी बात है तो मोक्ष में आत्मा पाषाणवत् हो जाती है, यह शास्त्रकार की मूर्खता है; इसीलिए न्यायसूत्रकार 'गोतम' (सबसे बड़े बैल या मूर्ख) कहे गये-

> **मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।**
> **गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥** (१७/७५)

(३) **वैशेषिक**- इस दर्शन में 'अन्धकार' को प्रकाशाभाव कहकर विवेचन किया गया है। श्रीहर्ष व्यङ्ग्य करते हैं कि इसीलिए वैशेषिक-दर्शन को औलूक-दर्शन कहते हैं कि उलूक

ही अन्धकार-तत्त्व का विवेचन कर सकता है-

> **ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां, वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।**
> **औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्, क्षमं तमस्तत्त्व-निरूपणाय॥ (२२/३५)**

वैशेषिक दर्शन के परमाणु-वाद का प्रतिपादन करते हुए तृतीय सर्ग के अन्त में हंस कहता है कि हे दमयन्ति, तुम्हारा और नल के [परमाणु-भूत] मन मनसिज (कामदेव) के शरीर का निर्माण करने में उसी प्रकार तत्पर हो जाएँ जिस प्रकार दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक का निर्माण करते हैं-

> **अन्योन्य-संगम-वशादधुना विभातां**
> **तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्-विलासे।**
> **स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्त-**
> **मादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम्॥ (३/१२५)**

(४) **अद्वैतवेदान्त**- तेरहवें सर्ग में सरस्वती पञ्चार्थक पद्यों के द्वारा नल-रूप-धारी चार देवताओं (इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण) और वास्तविक नल का भी वर्णन करती है। इसके अन्त में कहा गया है कि दमयन्ती हेय चार पक्षों के समक्ष, वास्तविक नल के विषय में संशय होने के कारण, केवल पञ्चमकोटि (नल) पर उसी प्रकार श्रद्धा नहीं कर पा रही थी जैसे विभिन्न (सांख्यादि) मतों के होने से लोग वास्तविक तथा सबसे अधिक सत्य अद्वैत-तत्त्व पर श्रद्धा नहीं रख पाते हैं। इसमें श्रीहर्ष अद्वैत का पक्ष लेते हैं-

> **साक्षुं प्रयच्छति न पक्ष-चतुष्टये तां**
> **तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।**
> **श्रद्धां दधे निषधराड्-विमतौ मताना-**
> **मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥ (१३/३६)**

इसी प्रकार **'हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तम्'** (३/४) इत्यादि श्लोक में कवि ने योग तथा वेदान्त दोनों का प्रयोग किया है।

(५) **नास्तिक मत**- सरस्वती के स्वरूप का निरूपण करते हुए एक ही पद्य में कापालिक-दर्शन, शून्यवाद, विज्ञानवाद और साकारविज्ञान (सौत्रान्तिक)-इन चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है-

> **या सोमसिद्धान्तमयाननेव, शून्यात्मतावादमयोदरेव।**
> **विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव, साकारता सिद्धिमयाखिलेव॥ (१०/८८)**

"जो सरस्वती मानो सोमसिद्धान्त (कापालिक मत, पूर्णचन्द्र) रूपी मुख वाली, शून्यतावाद-रूपी उदरवाली (क्षीण उदर-युक्त), विज्ञान-सामस्त्य-रूपी चित्तवाली (अर्थात् विशिष्ट ज्ञान से भरी) और साकार ज्ञान (सुन्दर आकृति) से भरे अवयवों वाली थी।" चार्वाक की दृष्टि से सभी दर्शनों का खण्डन १७ वें सर्ग में किया गया है जिसके कुछ पद्य ऊपर दिये गये हैं।

इसी प्रकार **'नास्ति जन्यजनकव्यतिभेद;'** (५/९४) में सांख्य के सत्कार्यवाद का, **'कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते'** (३/१७) में वैशेषिक का (कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते), **'मखं हि मन्त्राधिकदेवभावे'** (१४/७३) में मीमांसा-सम्मत देवशरीरवाद का, प्रथम सर्ग में वर्णित अश्व-

संचालन में अश्वशास्त्र का, 'मुदैव देवः कविना बुधेन च' (१/१७) में ज्योतिष का प्रतिपादन मिलता है।

श्रीहर्ष ने लोक-तत्त्व का भी वर्णन किया है। लोगों के बीच प्रचलित हास-परिहास (सर्ग १६), नये मुहावरे (मुँह बन्द करना- जनानने कः करमर्पयिष्यति ९/१२५), लोक-शैली का प्रयोग (अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न ३/१५), लोक भाषा के शब्द-प्रयोग (इंगाल, विरुद, धोरणि, लगति) इत्यादि के द्वारा श्रीहर्ष का काल विशेष रूप से लक्षित होता है।

श्रीहर्ष ने केवल १९ लोकप्रिय छन्दों का प्रयोग किया है। सामान्य रूप से वे सर्गों में उपजाति (७ सर्गों में), वंशस्थ (५ सर्गों में), अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, स्वागता (प्रत्येक का दो-दो सर्गों में), द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय और हरिणी (प्रत्येक का एक-एक सर्ग में) का प्रयोग करते हैं। न्यूनाधिक रूप से पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, पुष्पिताग्रा, शिखरिणी, शार्दूल-विक्रीड़ित (इसका प्रत्येक सर्ग के अन्त में) और स्रग्धरा का भी प्रयोग है।

परवर्ती तथा विविध काव्य

संस्कृत भाषा में महाकाव्य-लेखन कवियों के कौशल-प्रदर्शन का मुख्य साधन रहा है। परिणामतः प्रत्येक शताब्दी में शताधिक महाकाव्य एवम् अन्य काव्यों की रचना हुई है। यह प्रक्रिया बीसवीं शताब्दी में भी चल रही है जबकि युगानुरूप विषय-वस्तु को लेकर भी काव्य-रचना हो रही है। महाकाव्य-लेखन की प्रक्रिया में कुछ तो परम्परागत महाकाव्य हैं, कुछ जैन महाकाव्य हैं। कुछ ऐतिहासिक विषयों पर रचित महाकाव्य हैं तथा कुछ प्राकृत महाकाव्य हैं। कुछ प्रकीर्ण काव्यों की भी चर्चा इस प्रसंग में की जाती है। यहाँ ऐतिहासिक काव्यों को छोड़कर (जिनका विवरण अगले अध्याय में दिया जायेगा) अन्य प्रकारों की प्रवृत्तियों एवं प्रमुख कृतियों का परिचय दिया जाता है।

(क) परम्परागत काव्य

इसके अन्तर्गत रामायण, महाभारत या पुराणों की कथाओं पर आश्रित महाकाव्यों की गणना होती है। स्पष्टतः अपनी-अपनी दृष्टि से कवियों ने कुछ प्रसिद्ध तथा समस्यामूलक कथानकों को इस विधा का विषय बनाया है। गुजरात के पट्टनवंशीय कवि वस्तुपाल ने १६ सर्गों का 'नरनारायणानन्द'[1] नामक काव्य १६ सर्गों में लिखा जिसमें अर्जुन (नर के अवतार) तथा कृष्ण (नारायण के अवतार) की मैत्री का वर्णन है। वस्तुपाल चालुक्य-नरेश वीरधवल (१२१९-३९ ई.) के प्रधानमन्त्री थे। उदारता के लिए ये प्रसिद्ध थे। कवियों के आश्रयदाता तथा अनेक काव्यों के रचयिता वस्तुपाल की मृत्यु १२४१ ई. में गिरनार (शत्रुंजय-तीर्थ) की यात्रा के क्रम में हुई थी। इनका महाकाव्य 'शिशुपालवध' के आदर्श पर रचा गया है, अतएव लम्बे वर्णनों से भरा है। स्वयं जैन होने पर भी वैष्णवभाव से पूर्ण काव्य की रचना कवि की विशालहृदयता का परिचायक है। इस काव्य में अर्जुन द्वारा सुभद्रा के हरण, यादवों की गिरनार-पर्वत पर क्रीड़ा आदि का रमणीय निरूपण है। इसके पद्य माधुर्य-पूर्ण हैं जैसे-

---

१. गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज में बड़ौदा से १९१६ ई. में प्रकाशित।

सरसी निजं सरसिजैरभितः, सुरभीकृतं सरसमेव जलम्।
पथिकव्रजाय ददतीव मुहुर्विमलं सहंस-रव-तीर-वती॥ (४/३४)

वेदान्तदेशिक (वेङ्कटनाथ १२६८-१३६९ ई.) रामानुज-सम्प्रदाय के महान् विद्वान् तथा कवि थे जिन्होंने प्रायः सवा सौ छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे। ये काञ्ची के निवासी थे। इन्हें 'कवि-तार्किक-सिंह' की अन्वर्थ उपाधि मिली थी। इनकी अलौकिक शक्तियों के विषय में अनेक दन्तकथाएँ हैं। 'तत्त्वमुक्ताकलाप' (रामानुज-दर्शन का पद्यात्मक प्रतिपादन), 'हंस-सन्देश' (दूतकाव्य) तथा 'यादवाभ्युदय' (महाकाव्य) इनकी विख्यात रचनाएँ हैं। 'पादुकासहस्र' (राम की खड़ाऊँ की स्तुति में एक सहस्र पद्य), 'संकल्पसूर्योदय' (प्रतीकात्मक नाटक), 'शतदूषणी' (शांकर वेदान्त पर १०० दोषों का आरोप करने वाला दार्शनिक ग्रन्थ) आदि इनकी अन्य कृतियाँ हैं।

'यादवाभ्युदय' महाकाव्य भगवान् कृष्ण की समस्त लीलाओं से सम्बद्ध २४ सर्गों की रचना है। इन लीलाओं का क्षेत्र वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका है। भारतवर्ष के अन्य स्थानों का भी प्रसङ्गवश वर्णन है। इसके एक सर्ग में रासलीला का वर्णन है। वेदान्तदेशिक मुख्यतः कलापक्ष के कवि हैं अतः अलङ्कारों के प्रति उनकी विशेष रुचि है। दार्शनिक तत्त्वों से भी काव्य को उन्होंने भरा है।

अन्य परम्परागत काव्यों में अभिनन्द कृत 'रामचरित' (९वीं शताब्दी ई० रामकथा, ३६ सर्ग), वासुदेव-कृत (९०० ई०) 'युधिष्ठिर-विजय' (८ सर्ग), कृष्णलीलाशुक (बिल्वमंगल, १२ वीं श.)-कृत 'गोविन्दाभिषेक' (कृष्णकथा, ८ सर्ग), कवि कर्णपूर कृत (११८५ ई०) 'पारिजात-हरण' (१८ सर्ग), अमरचन्द्र (१२६० ई०) कृत 'बालभारत', वासुदेव (१३२० ई०) कृत 'नलोदय', साकल्यमल्ल (१३३० ई०) कृत 'उदारराघव' (१८ सर्ग), वामनभट्ट बाण (१४०० ई०) कृत 'रघुनाथचरित' (३० सर्ग) तथा 'नलाभ्युदय' (८ सर्ग), शिवसूर्य (१४५० ई०)-कृत 'पाण्डवाभ्युदय' (८ सर्ग), सलुव नरसिंह (१४६० ई०) कृत 'रामाभ्युदय' (२४ सर्ग), नीलकण्ठ (१६५० ई०)-कृत 'शिवलीलार्णव' (२२ सर्ग) तथा 'गङ्गावतरण' (८ सर्ग), श्रीनिवास (१६६० ई०)-कृत 'भूवराहविजय' (वराहावतार-कथा, ८ सर्ग) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनमें कई अप्रकाशित हैं। आधुनिक युग में भी ऐसे महाकाव्यों की रचना हुई है जैसे- बदरीनाथ झा कृत राधापरिणय (२० सर्ग), उमापतिद्विवेदी-कृत 'पारिजातहरण' (२२ सर्ग), रामसनेहीदास-कृत 'जानकीचरितामृत' (१०८ अध्याय), रेवाप्रसाद द्विवेदी-कृत 'सीताचरित' (१९६८ ई. १० सर्ग), अभिराजराजेन्द्रमिश्र-कृत 'जानकीजीवन' (१९८९ ई., २१ सर्ग) इत्यादि। २० वीं शताब्दी के महाकवियों में विषय-वस्तु पर अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति मिलती हैं, कलापक्ष का अनावश्यक भार ये अपने काव्यों पर नहीं डालते। फिर भी आधुनिक रुचि के पाठकों का हृदयावर्जन करने के लिए अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य उपादानों का निवेश इनमें अवश्य होता है।

(ख) जैन काव्य

संस्कृत भाषा में जैन कवियों ने भी अनेक महाकाव्य लिखे हैं। यद्यपि जैन धर्म के प्रारम्भिक आगम तथा धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखे गये थे, किन्तु प्रथम शताब्दी ई० में जैनों ने प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया। तदनुसार तर्कशास्त्र

(न्याय), जीवनचरित, तत्त्वदर्शन आदि विषयों से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये। जैनों ने अपने तीर्थङ्करों से सम्बद्ध महाकाव्य तथा स्तोत्र-ग्रन्थ भी लिखे। जैनों द्वारा लिखे गये महाकाव्यों की कतिपय विशिष्टताएँ हैं जैसे- वर्णाश्रम-धर्म की उपेक्षा, केवल तीर्थङ्करों और धर्म-सिद्ध पुरुषों को नायक बनाना, केवल जैन पुराणों (आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंश) पर आश्रित कथाओं को आधार बनाना, धर्माभिवृद्धि का उद्देश्य, काम और अर्थ की कथाओं से धर्मकथा की ओर कथानक का विकास इत्यादि।

जैन महाकाव्यों में **जटासिंहनन्दी** (या जटिल)-रचित **'वराङ्गचरित'** प्राचीन महाकाव्य है। १९३८ ई० में माणिक चन्द जैन ग्रन्थमाला (सं.४०), बम्बई से इसका प्रकाशन डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के सम्पादकत्व में हुआ था। इसका रचनाकाल ७०० ई० के कुछ पूर्व माना गया है। इसमें वरांग नामक पुण्यपुरुष का जीवन काव्य-शैली में वर्णित है। वरांग बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्ण के समकालीन थे। इसमें ३१ सर्ग हैं, कुछ सर्ग कथा को छोड़कर केवल जैन धर्म के उपदेश में लगाये गये हैं। प्रतीत होता है कि कवि ने अश्वघोष को अपना आदर्श माना था। १४ वीं शताब्दी ई० में **वर्धमान** कवि ने भी 'वराङ्गचरित' की रचना की जिसमें केवल १५ सर्ग हैं। इस प्रकार वरांग बहुत प्रसिद्ध पात्र रहे हैं। **वीरनन्दी** ने **'चन्द्रप्रभचरित'** नामक महाकाव्य १८ सर्गों में लिखा। इनका समय ९७०-७५ ई० के आसपास माना गया है। वाराणसी मण्डल में स्थित चन्द्रपुरी में उत्पन्न आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित इसमें वर्णित है। कवि मुख्यत: कालिदास की शैली से प्रभावित हैं। महाकाव्य के लक्षणों का अत्यधिक अनुसरण करने वाले इस काव्य की पर्याप्त प्रसिद्धि है।

असग नामक जैन कवि ने **'शान्तिनाथ-चरित'**, एवं **'वर्धमान-चरित'** नामक दो महाकाव्यों की रचना की। प्रथम काव्य में सोलहवें तीर्थंकर-शान्तिनाथ-का और द्वितीय में चौबीसवें तीर्थंकर-वर्धमान महावीर- का जीवन-चरित वर्णित है। द्वितीय काव्य अधिक सुन्दर है, इसकी प्रशस्ति से इसका समय संवत् ९१० प्राप्त होता है जिसे शक-संवत् मानकर ९८८ ई० इसका रचनाकाल माना गया है।[१] वर्धमान चरित में १८ सर्ग हैं जिनमें केवल अन्तिम दो सर्ग महावीर के जीवन से सम्बद्ध हैं, अन्य सर्गों में उनके पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं। जैन धर्म के २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन पर आश्रित **'पार्श्वनाथचरित'** महाकाव्य १२ सर्गों में **वादिराज** (११ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने लिखा। वादिराज अनेक तर्कशास्त्रीय ग्रन्थों के भी प्रणेता थे जैसे- न्यायविनिश्चयविवरण एवं प्रमाणनिर्णय। ये चालुक्य-नरेश जयसिंह की राजसभा में थे। इस महाकाव्य की रचना शक-संवत् ९६४ (अर्थात् १०४२ ई०) में हुई थी। वादिराज के विषय में यह पद्य उनके पाण्डित्य का सूचक है-

वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥
(एकीभावस्तोत्र, पद्य-२६)

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय-**सं. सा. इतिहास**, पृ० २४४; कुछ लोगों ने उक्त तिथि को विक्रम-संवत् मानकर असग का काल ८५३ ई० बताया है।

जैनों की अन्य महाकाव्य-रचनाओं में महासेन-कृत 'प्रद्युम्नचरित' (१४ सर्ग), माणिक्यचन्द्र (११६० ई०)-कृत 'शान्तिनाथचरित', वाग्भट्ट (प्रथम) कृत 'नेमिनिर्वाणकाव्य', अभयदेव (१२२१ ई०) कृत 'जयन्तविजय', अमरचन्द्र (१२५० ई०) कृत 'पद्मानन्द महाकाव्य' (ऋषभदेव का जीवन चरित, १९ सर्ग)[1], जिनपाल उपाध्याय-कृत 'सन्तकुमार महाकाव्य' (२४ सर्ग, सनत्कुमार चक्रवर्ती का जीवन), माणिक्यचन्द्र सूरि (१२१९ ई०) का 'पार्श्वनाथचरित' (१० सर्ग, ६७७० श्लोक), भवदेवसूरि (१२५५ ई०) का 'पार्श्वनाथचरित' (आठ सर्ग, ६०७४ श्लोक), विनयचन्द्र सूरि (१२६८ ई०) का 'मल्लिनाथचरित' (आठ सर्ग), चन्द्रतिलक (१२५७ ई०) का 'अभयकुमारचरित' (राजगृह के राजकुमार की कथा, १२ सर्ग), जिनप्रभसूरि (१३०० ई०) का 'श्रेणिकचरित' (१८ सर्ग, महावीर के समकालिक मगध नरेश श्रेणिक की कथा, कातन्त्रव्याकरण के प्रयोगों का प्रदर्शक काव्य), हेमविजयगणि (१७ वीं शताब्दी) कृत 'विजयप्रशस्तिकाव्य' (२१ सर्गों में तीन प्रभावक मुनियों का जीवन चरित), कविराजमल्ल (१६ वीं शताब्दी) कृत 'जम्बूस्वामिचरित', सर्वानन्द कवि कृत 'जगडूचरित' (गुजरात के जगडूशाह नामक व्यापारी की उदारता का वर्णन, १९२५ ई० में अम्बाला से प्रकाशित, सात सर्ग) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ अप्रकाशित भी हैं।[2]

जैन महाकाव्यों में **हरिचन्द्र** (या हरिश्चन्द्र)- रचित **'धर्मशर्माभ्युदय'** अधिक प्रसिद्ध है। हरिचन्द्र जाति के कायस्थ और धर्म से जैन थे। वे अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे। शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित का इन पर प्रभाव था। इनके काव्य की एक पाण्डुलिपि १२३० ई० की मिली है, अतः हरिचन्द्र का समय १२०० ई० के आसपास माना जा सकता है। हरिचन्द्र की एक अन्य कृति 'जीवन्धरचम्पू' भी है जिसका आधार वादीभसिंह-कृत 'गद्यचिन्तामणि' तथा 'क्षत्रचूड़ामणि' है। वादीभसिंह का समय ११ वीं शताब्दी है।

'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य में २१ सर्ग हैं।[3] इसमें १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित वर्णित है। जैनों के 'उत्तरपुराण' (९वीं शताब्दी ई० के संस्कृत जैन कवि गुणभद्र की रचना) से संकलित कथानक को हरिचन्द्र ने स्वयंवर, विन्ध्याचल, ऋतु, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि के वर्णनों से सरस और रुचिर बनाया है। इसका मुख्य रस 'शान्त' है। कवि ने अपने आप को रस-ध्वनि के मार्ग का सार्थवाह कहा है-

स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त॥
(प्रशस्ति पद्य सं. ७)

हरिचन्द्र वर्णनों के विस्तार में विचित्र मार्ग का किन्तु भाव-सौन्दर्य में सुकुमार मार्ग का आश्रय लेते हैं। इनकी सुन्दर कल्पना का एक उदाहरण है-

---

१. अमरचन्द्र के विषय में अनेक आख्यान प्रभावकचरित तथा प्रबन्धकोष में आये हैं।
२. विशेष विवरण देखें- आ. बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २३९-५६।
३. काव्यमाला में १८८८ ई० में प्रकाशित।

अस्ताचलात् काल-वलीमुखेन, क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे।
उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभिः॥ (१४/२२)

जब कालरूपी वानर ने मधु के छत्ते के समान सायंकाल में सूर्य-बिम्ब को अस्ताचल से उखाड़कर फेंक दिया तब उस छत्ते से उड़ने वाले काले भौरों के रूप में अन्धकार से यह आकाश निरन्तर (अविच्छिन्न रूप से) भर गया। इस उत्प्रेक्षा में नवीनता है।

जैन कवियों ने लघुकाव्यों की भी व्यापक रचनाएँ की हैं, जिनमें धनेश्वर सूरि का 'शत्रुञ्जयमाहात्म्य', सकलकीर्ति का 'सुदर्शन-चरित', वादिराज का 'यशोधर-चरित', जयशेखर का 'जैनकुमारसम्भव', चारित्रसुन्दरगणि का 'महीपाल-चरित' और धनदराज का 'त्रिशतीशृङ्गार' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(ग) प्राकृत महाकाव्य

संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा में भी समानान्तर रचनाएँ होती रही हैं। संस्कृत के समीक्षकों ने इन पर भी अपनी दृष्टि रखी है। महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा ऐतिहासिक काव्यों की रचना में प्राकृत कवि भी संस्कृत कवियों के समान समस्त काव्योपादानों का प्रदर्शन करते रहे हैं जिससे बाण, दण्डी आदि की दृष्टि में भी इनका महत्त्व रहा है। संस्कृत विद्वानों के द्वारा बहुधा चर्चित दो काव्यों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) **प्रवरसेन** का **'सेतुबन्ध'** महाकाव्य प्राकृत काव्यों में प्राचीनतम तथा अग्रणी है। प्रवरसेन तथा उनके काव्य का निर्देश बाण ने हर्षचरित की प्रस्तावना (श्लोक १४) में इस प्रकार किया है-

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

प्रवरसेन राजा थे जिन्हें कुछ लोगों ने कश्मीर-नरेश प्रवरसेन (द्वितीय) से और अन्य लोगों ने वाकाटक-नरेश प्रवरसेन (द्वितीय) से अभिन्न मानने का सुझाव दिया है। वाकाटक-वंशीय प्रवरसेन के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह हुआ था। यदि यही प्रवरसेन 'सेतुबन्ध' के रचयिता थे तो इनका समय पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध (लगभग ४२५-४५० ई०) माना जा सकता है।

'सेतुबन्ध' १५ आश्वासों में निबद्ध प्राकृत महाकाव्य है। इसमें माहाराष्ट्री प्राकृत भाषा का प्रयोग है जिससे इसकी प्रशंसा दण्डी ने 'काव्यादर्श' (१/३४) में इस प्रकार की है-

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

इस महाकाव्य में १५ आश्वास हैं जैसा कि प्राकृत-महाकाव्यों को विभाजित किया जाता है (साहित्यदर्पण ६/३२६ प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन् सर्गा आश्वाससंज्ञकाः)। इसमें कथा केवल युद्धकाण्ड की है अर्थात् सागर पर सेतु बनाने से लेकर रावणवध तक का वृत्तान्त इसमें वर्णित है। महाकाव्योचित उपकरणों से कथा का विस्तार किया गया है। आरम्भिक आश्वासों में शरद,

रात्रिशोभा, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के वर्णन हैं। इसका अन्य नाम 'रावणवहो' भी है जिससे प्रेरित होकर परवर्ती 'गउडवहो' आदि काव्य लिखे गये हैं। इस महाकाव्य के दशम सर्ग में राक्षसियों का सम्भोग-वर्णन है जिसका प्रभाव परवर्ती रामकथाश्रित काव्यों पर है- भट्टिकाव्य (सर्ग ११), जानकीहरण (सर्ग ८), अभिनन्द कृत रामचरित (सर्ग १८), रामायण काकविन (जावा की रामायण) तथा कम्बरामायण (तमिल भाषा की रामायण)।[1]

(२) वाक्पतिराज का '**गउडवहो**' दूसरा महत्त्वपूर्ण प्राकृत काव्य है। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें १२०९ गाथाएँ (प्राकृत पद्य) हैं। इसके रचयिता कन्नौज के राजा यशोवर्मा के सभाध्यक्ष थे। यशोवर्मा की गौडनरेश के ऊपर विजयप्राप्ति का वर्णन इस काव्य में है। वाक्पतिराज के कथन से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध नाट्यकार भवभूति से यह कवि बहुत प्रभावित था।[2] सम्भवत: वह भवभूति का शिष्य रह चुका था। इस महाकाव्य की रचना उसने ७२५ ई० में की थी। जैन-परम्परा के अनुसार यह काव्य कारागार में लिखा गया था। कश्मीर-नरेश ललितादित्य (७२४-७६० ई०) ने यशोवर्मा को ७३४ ई० में पराजित किया था। अतएव यह काव्य इस घटना के पूर्व ही निर्मित हो चुका होगा क्योंकि कवि ने अपने आश्रयदाता की पराजय का कोई संकेत इसमें नहीं दिया है।

'**गउडवहो**' में कवि ने अल्प घटना को महाकाव्योचित वर्णनों से सजाया-सँवारा है। एक स्थान पर विन्ध्यवासिनी देवी के पूजा-विधान का चित्रण किया गया है। कवि ने स्वीकार किया है (गाथा ८००) कि उसने भास, रघुकार (कालिदास), सुबन्धु तथा हरिश्चन्द्र के काव्यों से प्रेरणा ली है किन्तु उसके मुख्य प्रेरक भवभूति ही हैं। यह काव्य ऐतिहासिक घटनाओं से अधिक प्रशस्ति में निरत है; इसमें ग्राम्य जीवन का चित्रण है जो अन्य पूर्ववर्ती काव्यों में अत्यल्प रूप में है।

उपर्युक्त दोनों काव्य आर्या छन्द में हैं जिसे प्राकृत में 'गाथा' कहते हैं।

(घ) प्रकीर्ण काव्य

इसके अन्तर्गत छोटे काव्यग्रन्थों की परम्परा मिलती है। विविध कवियों ने नीति, उपदेश, अन्योक्ति, शृङ्गार आदि विषयों से सम्बद्ध प्रकीर्ण काव्य-रचना की है। इनमें विशाल चित्रपट न रखकर छोटे परिवेश का चित्रण किया गया है।

नीतिविषयक काव्यों में 'चाणक्यनीति' का प्रमुख स्थान है। इसकी छह वाचनाओं की स्थिति है जिनका विस्तृत अध्ययन डॉ० लुडविक स्टर्नबाख ने सम्पन्न करके कई शोध-निबन्धों में प्रकाशित किया है।[3] इसकी प्रथम वाचना 'वृद्धचाणक्य' है जिसमें आठ अध्याय तथा १२४ श्लोक हैं। यह चाणक्यनीति का सरल और प्राचीन संस्करण है। द्वितीय वाचना '**चाणक्य-नीतिदर्पण**' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिसमें १७ अध्याय तथा ३३३ (किसी संस्करण में ३३६) पद्य हैं। अनुष्टुप् के अतिरिक्त लम्बे छन्दों में भी पद्य हैं। इसके कुछ पद्य महाभारत तथा मानव

---

१. इस महाकाव्य का भूमिका-सहित हिन्दी-अनुवाद (डॉ० रघुवंश-कृत) बम्बई से प्रकाशित है।

२. गउडवहो ७९९- भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु॥

३. विश्वेश्वरानन्द इंडोलॉजिकल सीरीज (सं. २७, २८ तथा २९), होशियारपुर (१९६३)।

धर्मसूत्र में भी हैं। तृतीय वाचना 'चाणक्यनीतिशास्त्र' है जिसमें १०८ पद्य हैं। श्लोक संख्या की मांगलिकता से तथा इसकी प्रस्तावना में चाणक्य के मूल सूत्र का निर्देश (मूलसूत्रं प्रवक्ष्यामि चाणक्येन यथोदितम्) होने से विद्वानों ने इसे प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। चतुर्थ वाचना '**चाणक्यसार-संग्रह**' है जिसमें ३०० श्लोक हैं। इसे तीन शतकों में विभक्त किया गया है। इसमें राजनीति और लोकनीति दोनों का उपदेश है। पञ्चम वाचना '**लघुचाणक्य**' है जिसमें आठ अध्याय तथा ९१ श्लोक हैं। यह पुस्तक १८२५ ई० में यूनानी भाषा में रूपान्तरित होकर प्रकाशित हुई थी जिससे यूरोप में बहुत प्रसिद्ध हुई। षष्ठ वाचना '**चाणक्यराजनीतिशास्त्र**' है। इसमें आठ अध्याय और ५१२ श्लोक हैं। यह भारत में प्रसिद्ध नहीं था किन्तु तिब्बती 'तन्यूर' में रूपान्तरित होकर नवम शताब्दी में ही संकलित हो चुका था। चाणक्य के नीतिश्लोकों का यह सर्वाधिक लोकप्रिय संग्रह है। इसमें दो अध्याय (४-५) राजनीति से सम्बद्ध हैं। इन सभी पुस्तकों में व्यापक नीति का सरल शैली में निरूपण है। उपदेशकाव्यों में **दामोदर गुप्त**-कृत '**कुट्टनीमत**' अग्रणी है। दामोदर कश्मीर-नरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के प्रधान अमात्य थे। उस युग के राजा का चारित्रिक पतन अन्य लोगों के अपकर्ष का भी कारण बन चुका था। इस विशृङ्खल समाज को परिष्कृत करने के उद्देश्य से कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें विकराला नामक कुट्टनी के द्वारा एक नयी रूपवती वेश्या मालती को प्रशिक्षित किया जाता है कि कामियों से वह धन ठग सके। इस प्रकार यह कामशास्त्रीय काव्य बन गया है। इसमें १०५९ पद्य आर्या-छन्द में हैं। इसके उद्धरण मम्मट तथा रुय्यक द्वारा दिये गये हैं। मालती की विरह-दशा का चित्रण इस ललित पद्य में हुआ है जिसे 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत किया गया है-

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥ (१०३)

काव्यमाला के तृतीय गुच्छक में इसका मूलमात्र प्रकाशित है। इसकी नवीन संस्कृत व्याख्या (पं. मनसुखराम त्रिपाठी कृत) तथा हिन्दी अनुवाद (अत्रिदेव विद्यालंकार कृत, १९६१) भी प्रकाशित है।

क्षेमेन्द्र ने भी कई उपदेशकाव्य लिखे थे। इनके '**कलाविलास**' (काव्यमाला के प्रथम गुच्छक में प्रकाशित) में १० सर्ग हैं जिनमें क्रमशः दम्भ, लोभ, काम, वेश्यावृत्त, कायस्थचरित, मद, गायन, सुवर्णकार आदि का वर्णन है। '**दर्पदलन**' में उच्च कुल, धन, विद्या, सौन्दर्य आदि से उत्पन्न दर्प की असारता प्रदर्शित है। '**चारुचर्या**' में सदाचार का प्रतिपादन है, पूर्वार्ध में नीति और उत्तरार्ध में उसके समर्थक आख्यान दिये गये हैं। '**चतुर्वर्गसंग्रह**' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रशंसा की गयी है। '**सेव्यसेवकोपदेश**' के ६१ पद्यों में सेवक की दीनता और प्रभुओं के दुर्व्यवहारों का रोचक वर्णन है। '**समयमातृका**' की रचना १०५० ई० में हुई थी। इसमें आठ समय (परिच्छेद) हैं जिनमें कलावती नामक वेश्या को नापित-गुरु के द्वारा दिये गये वेश्या-सिद्धान्तों का निरूपण है। '**देशोपदेश**' आठ उपदेशों में विभक्त है जिनमें दुर्जन, कंजूस, वेश्या, कुट्टनी, विट, गौडदेशीय छात्रों का दम्भ, वृद्ध सेठ की युवती स्त्री तथा वैद्य, भट्ट, कवि आदि का क्रमशः वर्णन है। सभी व्यक्तियों को हास्य-विषय बनाया गया है। '**नर्ममाला**' में तीन परिच्छेद हैं जिनमें राजकर्मचारियों पर व्यङ्ग्य किया गया है। ये काव्य काव्यमाला के

विभिन्न गुच्छकों में प्रकाशित हैं।[1]

इसी प्रकार संस्कृत में कवियों के विलास के रूप में कई अन्योक्ति-काव्य (जैसे-अन्योक्तिशतक, अन्यापदेशशतक), शास्त्रकाव्य (जैसे-हलायुध-कृत कविरहस्य, वासुदेव कृत वासुदेव-विजय), श्लेषकाव्य (जैसे-वासुदेव रचित युधिष्ठिरविजय, राक्षसकाव्य, सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित) इत्यादि अनेक काव्य-प्रकार रचे गये हैं। वस्तुत: न तो काव्यों के विषयों की कमी है, न उनके प्रकारों की। संस्कृत पद्यकाव्य की विशालता दुरवगाह है।

१. इन काव्यों में तात्कालिक समाज का मनोरंजक चित्रण है। देखें-डॉ० मोतीचन्द्र का 'क्षेमेन्द्र-कालीन समाज'।

अध्याय-१३

ऐतिहासिक काव्य

संसार की प्राचीनतम संस्कृति के धारक भारतवर्ष में आधुनिक दृष्टि पर खरा उतरने वाला एक भी ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मिलता है जिसमें तिथियों तथा घटनाओं का विश्वसनीय क्रमबद्ध विवरण हो। पाश्चात्त्य विद्वानों ने यह आक्षेप लगाया है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव रहा है यद्यपि इसका निराकरण भी उनमें से ही कुछ विद्वानों ने किया है। वस्तुतः भारतवर्ष में इतिहास-दृष्टि का रूप कुछ भिन्न रहा है। भारतीय इतिहासकारों ने क्रमिक तिथिक्रमों और घटना-चक्रों को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना व्यक्तिगत जीवन के उत्कर्ष, नैतिक आदर्श तथा राष्ट्र के अभ्युदय से सम्बद्ध क्रिया-कलापों को उन्होंने महत्त्वपूर्ण समझा है। जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को महापुरुषों की जीवनियों में प्रदर्शित करते हुए राष्ट्र का सांस्कृतिक उत्थान करना ही यहाँ इतिहास का लक्ष्य रहा है, न कि शुष्क तथ्यों को क्रम से सजाकर रखना। इसी दृष्टि से हमारे प्राचीन ग्रन्थ रामायण, महाभारत, पुराण आदि 'इतिहास' हैं। इतिहास की भारतीय धारणा और पाश्चात्त्य धारणा में स्पष्ट अन्तर है। तथाकथित ऐतिहासिक काव्य जो संस्कृत में मिलते हैं वे भारतीय धारणा के इतिहास को ही प्रस्तुत करते हैं।

इतिहास के पक्षबिन्दु

आधुनिक या पाश्चात्त्य दृष्टि से भी भारत में इतिहास-रचना के कुछ समर्थक तथ्य प्राप्त होते हैं। भारतीयों की इतिहास-विषयक रुचि का प्रमाण वैदिक ऋषियों की सूची, महाभारत तथा पुराणों में दी गयी वंशावली एवं विभिन्न परिवारों में सुरक्षित वंशवृक्ष के अभिलेख अवश्य ही प्रस्तुत करते हैं। हुएनसांग ने कहा है कि भारत में प्रत्येक नगर के पुरावृत्त का विवरण रखा जाता था। भारत में जिस प्रकार परिवारों में वंशवृक्ष को सुरक्षित रखा जाता है, पश्चिम के लोग उससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं।[1] उत्तराधिकार-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में इस प्रकार के वंशवृक्षों का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक मठ में वहाँ के पूर्ववर्ती आचार्यों तथा महन्तों का क्रमिक विवरण सुरक्षित रखा जाता है। बौद्ध तथा जैन मठों में तो आचार्यों के जीवन-चरित तथा धार्मिक सम्प्रदाय के इतिहास भी निबद्ध किये गये हैं।

भारतीयों की इतिहास-बुद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण उनके अभिलेखों से मिलता है जो पाषाण-फलकों, स्तम्भों, मन्दिरों, गुफाओं तथा ताम्रपत्रों पर अंकित हैं। इनमें कहीं-कहीं राजाओं के वंशवृक्ष के साथ किसी घटना का समय तक अंकित किया गया है। विविध राजाओं के कल्याण-कार्यों का उल्लेख, उनके युद्धों का विवरण तथा व्यक्तिगत गुणों का परिचय भी इनमें अधिसंख्यक अभिलेखों की विशेषता रही है।

१. एम्. विन्तर्नित्स- संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी), भाग ३, खण्ड १, पृ० ११५।

इतिहास के विपक्षबिन्दु

भारतीयों में इतिहास की अभिरुचि तो अवश्य रही है किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों की समीक्षा की अभिरुचि का अभाव रहा है। कारण यह है कि इतिहास के लेखक राजाश्रित दरबारी कवि या धर्मप्रवण व्यक्ति रहे हैं। दरबारी कवियों का कार्य यही था कि आश्रयदाता का गुणगान करें, उनकी झूठी प्रशंसा करें और उनके पूर्वजों के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करें।[1] इस प्रसंग में वे अघटित घटनाओं की भी कल्पना कर लेते थे या तिल का ताड़ बना देते थे। जहाँ तक धर्मप्रवण इतिहासकारों का सम्बन्ध है वे प्रधान रूप से अपने धर्म की प्रशंसा में, अपने सम्प्रदाय की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही इतिहास-लेखन करते थे।

ऐतिहासिक रचनाएँ भारत में पौराणिक पृष्ठभूमि और काव्य की शैली का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हुई हैं। वर्ण्य राजा या नायक - उपनायक को जब तक किसी देवता से जोड़ नहीं लिया जाता, तब तक कवि को सन्तोष नहीं होता। बाण ने हर्षचरित में अपने वंश को सरस्वती से जोड़ने का अद्भुत प्रयास किया है। राजतरङ्गिणी- जैसे अत्यधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ में भी पौराणिक सामग्री का अभाव नहीं है। काव्यशैली के कारण केवल रोचक किन्तु काल्पनिक वर्णन तक ही इनमें हो, ऐसी बात नहीं ; अतिशयोक्तियों से भी ऐतिहासिक रचनाओं को भरने का प्रयास कविगण करते रहे हैं। तथ्यों की अतिरञ्जना प्राय: सर्वत्र की गयी है। जिस प्रकार पुराणों में सृष्टि के आरम्भ से ही विषय-वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इतिहास-ग्रन्थों में भी अपने धर्म का या राजवंश का सम्बन्ध सृष्टि के आरम्भ से जोड़ा जाता है। तदनुसार तथ्य और काल्पनिक कथा का मिश्रण करके ही इतिहास की घटनाओं को परोसा गया है।

शिलालेखों में जो प्रशस्तियाँ प्राप्त होती हैं वे प्राय: काव्यात्मक ही हैं। काव्यांश और तथ्य-भाग को पृथक् करने के लिए कोई हंस ही समर्थ हो सकता है। आलङ्कारिक काव्य के विकास की दृष्टि से इन प्रशस्तियों का बहुत महत्त्व है किन्तु इतिहास-लेखन में अगतिक-गत्या इनकी सहायता ली जाती है। फिर भी इतिहास की दृष्टि से गिरनार-शिलालेख (१५० ई०), नासिक का प्राकृत-अभिलेख (१४९ ई०), समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तम्भलेख (३५० ई०), स्कन्दगुप्त का गिरनार-शिलालेख (४५७ ई०), वत्सभट्टि की मन्दसोर-प्रशस्ति (४७३ ई०), रविकीर्ति का ऐहोल-शिलालेख (६३४ ई०) इत्यादि अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। इनका काव्यगत महत्त्व तो उत्कृष्ट है ही।

इतिहास की उपेक्षा के कारण[2]

पाश्चात्य या आधुनिक दृष्टि से जो इतिहास की धारणा स्वीकृत की गयी है उसकी उपेक्षा भारत में कई कारणों से मानी जाती है। उनमें मुख्य है भारतीय मनोवृत्ति। उसके अनुसार असत् संसार के प्रपञ्च की अपेक्षा पारलौकिक विषयों में अधिक आस्था रखी गयी है। उन्हीं के चिन्तन में हमारा साहित्य प्रमुख रूप से लगा है। यदि किसी ग्रन्थ में तात्कालिक राजनीति या समाज का

१. तुलनीय- Aurel Stein - **The Rājataraṅgiṇī**, Eng. Trans. Vol. I, p. 31 ff.
२. ए० बी० कीथ - **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी), पृ० १८०-४; डॉ० सूर्यकान्त - **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, पृ० २५८-९

चित्रण किया गया तो उसकी उपेक्षा की गयी। 'मृच्छकटिक' जैसे रूपक को इसीलिए प्राचीन भारत में सम्मान नहीं मिला क्योंकि इसमें समाज की यथार्थता प्रकट हुई है। दूसरी ओर उदात्त चरित्र से सम्पन्न ग्रन्थों का बहुत सम्मान किया गया।

वैदिक युग के अनन्तर भारतीय समाज में ऐसी भावना प्रबल हो गयी कि भौतिक समृद्धि जीवन का लक्ष्य नहीं है। अतएव सांसारिक जीवन की क्रियाओं की चर्चा करना साहित्य के लिए वाञ्छनीय नहीं। दृश्यमान जगत् असार है, परलोक या मोक्ष ही जीवन वास्तविक उद्देश्य है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर साहित्यकारों ने बड़े-बड़े राजाओं के क्रिया-कलापों की भी उपेक्षा कर दी। अशोक और समुद्रगुप्त जैसे राजाओं पर एक भी काव्य न लिखा जाना इसका प्रमाण है। हर्षवर्धन पर बाणभट्ट ने एक आख्यायिका लिखी जिसमें उनके जीवन-चरित पर ध्यान नहीं दिया गया है, उनकी प्रशस्ति ही की गयी। इतिहास का निर्माण करनेवाले व्यक्तियों पर कवियों की दृष्टि नहीं गयी ; राम, कृष्ण तथा अन्य दिव्य पुरुषों के चरित-वर्णन में उन्होंने काव्य की सफलता मान ली।

एक ही कवि के पुराण-विषयक काव्य को महत्त्व दिया गया जबकि इतिहास-विषयक रचना की उपेक्षा हुई। श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' की अनेक प्रतिलिपियाँ हुईं और इस पर अनेक टीकाओं की रचना हुई, दूसरी ओर उसी कवि की 'विजय-प्रशस्ति' और 'नवसाहसाङ्कचरितचम्पू' को भुला दिया गया। इतिहास-विषयक काव्य-रचना में इतिवृत्तात्मक शुष्क तथ्यों को जानने में कोई रुचि पाठक-वर्ग नहीं लेता था, उसे ध्वनि-गत चमत्कार या काव्य के द्वारा शास्त्र-बोध में ही रुचि थी। अतएव लेखक-पाठक दोनों की उपेक्षा इस प्रकार के ग्रन्थों की विरलता का कारण है।

ए० बी० कीथ ने इस प्रसंग में कर्म-सिद्धान्त तथा दैवी सिद्धियों में विश्वास को भी कुछ दूर तक इतिहास की उपेक्षा का कारण कहा है। 'कर्म-सिद्धान्त' के अनुसार मनुष्य के सभी कार्य तथा उसके जीवन की घटनाएँ उसके पूर्वजन्म के संचित कर्मों का फल हैं। तदनुसार कोई भी घटना कभी भी हो सकती है। भारतीय दर्शन के इस सिद्धान्त ने ऐतिहासिक घटनाओं को लिपिबद्ध करने से लोगों को विमुख कर दिया। कर्म-सिद्धान्त के साथ 'नियतिवाद' भी जुड़ा है। सब कुछ नियति से निर्धारित होता है, नियति का कार्य बुद्धि से अगम्य तथा भविष्य-दृष्टि से बाहर है। ये दोनों दृष्टिकोण (कर्म-सिद्धान्त तथा नियतिवाद) यद्यपि तर्कसंगत हैं किन्तु इनके साथ जो दैवी शक्तियों का हस्तक्षेप और आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास - ये दो अलौकिक विषय जोड़ दिये गये हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टि को पराभूत कर देते हैं। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन इन तीनों धर्मों में यह व्यवस्था पायी जाती है कि तपस्या द्वारा यौगिक शक्तियाँ पाकर प्राकृतिक घटनाओं को प्रभावित किया जा सकता है। तदनुसार हमारी ऐतिहासिक रचनाएँ इन अलौकिक बातों से भरी हुई हैं।

विशेष की अपेक्षा सामान्य को महत्त्व देने के कारण भी प्राचीन इतिहास-दृष्टि प्रभावित हुई है। यह प्रवृत्ति ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में मिलती है जैसे-दर्शन, काव्य, इतिहास, नीति आदि। यहाँ किसी सिद्धान्त का विकासात्मक अध्ययन करने की सामग्री तो मिल जाती है, किन्तु सिद्धान्तों के इतिहास में किसी को कोई अभिरुचि नहीं है। माधवाचार्य (१४ वीं शताब्दी ई०) के 'सर्वदर्शनसंग्रह'- जैसे ग्रन्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों का इतिहास नहीं दिया गया, अपितु विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन में ही रुचि दिखायी गयी है। सिद्धान्तों का विकास कैसे हुआ, यह जानने

की रुचि किसी को नहीं थी। उद्भूत मतों में दोष क्या हैं, यही सबकी रुचि का विषय था।

इन असंगतियों के होने पर भी संस्कृत साहित्य कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्यों से सम्पन्न है जिनका काव्यगत मूल्य तो उत्कृष्ट है ही, इतिहासगत मूल्य भी सन्तोषजनक है। इतिहास के निर्माता पुरुषों का जीवन-चरित एवं व्यक्तिगत गुणों का विवरण देते समय कुछ कवियों ने अवश्य ही उनमें नायकोचित गुणों का निवेश कल्पना से भी किया है, अतिशयोक्तियों की भी अनवरत वृष्टि की है तथापि उनका महत्त्व नवीन साहित्य-प्रकार के प्रसार में अवश्य ही रहा है।

ऐतिहासिक काव्यों का आरम्भ वस्तुतः अश्वघोष से होता है जिन्होंने गौतम बुद्ध के जीवन-चरित पर '**बुद्धचरित**' नामक महाकाव्य २८ सर्गों में लिखा। बुद्ध का जीवन इतिहास और धर्म दोनों का समन्वित रूप था क्योंकि वे छठी शताब्दी ई० पू० के इतिहास-निर्माता पुरुष थे तो एशिया के बड़े भूभाग में प्रचलित एक महान् धर्म के प्रवर्तक भी थे। इस ग्रन्थ का विवरण महाकाव्य के प्रसङ्ग में दिया जा चुका है। महाकवि बाणभट्ट ने '**हर्षचरित**' के रूप में ८ उच्छ्वासों की आख्यायिका (गद्यकाव्य) लिखी जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि की आत्मकथा, हर्ष के पूर्वजों का इतिवृत्त तथा हर्ष के राज्यकाल की आरम्भिक विपत्तियों का वर्णन है यद्यपि सर्वत्र अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं का प्राचुर्य है। इस ग्रन्थ का विवरण गद्यकाव्य के प्रसङ्ग में दिया जायेगा। वाक्पतिराज का '**गउड़वहो**' प्राकृत भाषा का ऐतिहासिक काव्य है जिसमें कन्नौज के राजा यशोवर्मा के द्वारा किसी गौड़-राजा के वध की कथा है। वाक्पतिराज और भवभूति इसी यशोवर्मा के द्वारा आश्रित कवि थे। 'राजतरङ्गिणी' में उल्लेख है कि कश्मीर नरेश ललितादित्य ने यशोवर्मा से सन्धि की थी किन्तु बाद में इस सन्धि का भङ्ग होने से उसे समूल नष्ट कर दिया।[1] यह घटना ७४० ई० के आसपास हुई थी। इस काव्य का वर्णन विगत अध्याय में किया गया है।

'**आर्यमञ्जुश्रीकल्प**' के रूप में बौद्ध-सम्प्रदाय (महायान) से सम्बद्ध एक ऐतिहासिक काव्य मिला है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। इस ऐतिहासिक ग्रन्थ का अनुसन्धान १९२५ ई० में डॉ० टी० गणपति शास्त्री ने किया था। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने सर्वप्रथम इसे इतिहास-ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की। इसमें प्रायः ७०० ई० पू० से ७७० ई० तक के सम्राटों का इतिहास दिया गया है। इसका रचनाकाल ८०० ई० माना गया है।

इन प्राथमिक ग्रन्थों के द्वारा नियमित ऐतिहासिक महाकाव्यों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत होती है। यहाँ प्रमुख महाकाव्यों का परिचय दिया जाता है।[2]

(१) पद्मगुप्त (परिमल)-कृत नवसाहसाङ्कचरित

पद्मगुप्त का उपनाम 'परिमल' था। वे धारानरेश परमारवंशीय वाक्पतिराज (द्वितीय) तथा उनके अनुज सिन्धुराज के आश्रित कवि थे। वाक्पतिराज (द्वितीय) के बाद धारा का राज्य (मालव-

---

१. राजतरङ्गिणी ४/१४४ कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादि-सेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥
४/१३८ सोऽभूत्सन्धिर्यशोवर्म-ललितादित्ययोरिति।
४/१४० यशोवर्मनृपं तं तु समूलमुदपाटयत्।

२. विशेष विवरण देखें- Dr. Chandra Prabha—Historical Mahā-Kāvyās in Sanskrit (1976)

राज्य) सिन्धुराज को मिला था। इसी राजा का नाम 'नवसाहसाङ्क' था जिसका चरित इस कवि के महाकाव्य में वर्णित है। वाक्पतिराज का अन्य नाम मुञ्ज था जिसकी शत्रुता भोज (सिन्धुराज के पुत्र) के साथ थी। अनेक कथाओं में इस शत्रुता का विवरण है (देखें-भोजप्रबन्ध)। पद्मगुप्त धारा में कहीं बाहर से आकर बस गये थे। इनके पिता मृगांकदत्त थे। वाक्पतिराज मुञ्ज को ९९४ ई० के आसपास राजा तैलप ने मार दिया था और तब सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) राजा बने। सिन्धुराज की मृत्यु १०११ ई० में हुई थी और राजा भोज धारानरेश बने थे। इस आधार पर पद्मगुप्त का समय १० वीं शताब्दी ई० का अन्तिम चरण और ११ वीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जा सकता है। सभी इतिहासकार मानते हैं कि पद्मगुप्त ने १००५ ई० में अपने महाकाव्य 'नवसाहसाङ्कचरित' की रचना की थी। यह सिन्धुराज का राज्यकाल था (९९४-१०११ ई०)। पद्मगुप्त शैवधर्म के अनुयायी थे और सम्भवत: कश्मीर के निवासी थे।

'नवसाहसाङ्कचरित'[1] १८ सर्गों का महाकाव्य है। इसमें नागों के शत्रु वज्राङ्कुश को पराजित करके धारा-नरेश सिन्धुराज के द्वारा नागराज शङ्खपाल की कन्या शशिप्रभा से विवाह करने का ललित वर्णन है। मूल कथानक को परीकथाओं के समान आश्चर्यजनक घटनाओं से भरा गया है। कथानक के कपोलकल्पित होने पर भी उल्लिखित नाम एवं प्रधान घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। कवि का यह प्रयास अवश्य ही अपने आश्रयदाता के कीर्ति-प्रसार के लिए था। जिस वज्रांकुश को सिन्धुराज ने मारा था वह आर्येतर शासक था जिसकी राजधानी वैरागढ (या वज्रगढ) में थी। शंखपाल बस्तर के चक्रकोट्य का शासक था। वहाँ के राजा नागवंशी कहलाते थे। शंखपाल की पुत्री शशिप्रभा से ही सिन्धुराज का विवाह हुआ था। परीकथाओं में जिस प्रकार किसी असुर को मारने की शर्त पर राजकुमारी का विवाह किसी राजकुमार से होता है उसी प्रकार की कथा यहाँ भी प्रस्तुत की गयी है।

इस महाकाव्य का मुख्य रस 'शृङ्गार' है जो सिन्धुराज और शशिप्रभा के पूर्वराग से लेकर उनके वास्तविक समागम तक छाया हुआ है। काम के रूप में पुरुषार्थ की प्राप्ति काव्य का फल है। कालिदास के सुकुमार मार्ग का उद्धार पद्मगुप्त ने किया जिससे इन्हें 'अभिनव कालिदास' कहा गया है। उपमा के चमत्कार और कल्पना की निर्बन्ध गति इनकी विशिष्टता है। प्रकृति का रम्य चित्रण भी इन्होंने कालिदास के ही समान किया है। साहित्य-रस की प्रशंसा कवि ने इस प्रकार की है-

नमोऽस्तु साहित्यरसाय तस्मै, निषिक्तमन्तः पृषतापि यस्य।
सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वर्णतां याति च दुर्जनस्य॥ (१/१४)

उस साहित्य-रस को नमस्कार है जिसके एक कण से भी अन्तःकरण यदि भींग जाये तो सज्जनों का मुख सुवर्णता (चमत्कारपूर्णता, सुन्दर रंग) पा लेता है और दुष्टों के मुख को विवर्ण (मलिन) कर देता है। यहाँ 'रस' में श्लेष है जो पारद का भी अर्थ देता है। पारद का एक कण भी सुवर्ण- निर्माण में समर्थ है।

---

१. इसका प्रथम प्रकाशन वामन इस्लामपुरकर के सम्पादन में बम्बई संस्कृत सीरीज में १८९५ ई० में हुआ था। १९६३ई० में विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला में जितेन्द्रचन्द्र भारतीय के हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिका के साथ यह प्रकाशित है।

वाक्पतिराज की प्रशंसा में कवि कहता है-

सरस्वती-कल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम् ।
यस्य प्रसादाद् वयमप्यनन्य-कवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः ॥ (१/७)

पद्मगुप्त ने इस काव्य में उपजाति छन्द का कई सर्गों में प्रयोग किया है (१, ९, १४, १७)। अनुष्टुप् का भी चार सर्गों में प्रयोग है (२, ६, ११, १६)। अन्य छन्दों में वंशस्थ, पुष्पिताग्रा, रथोद्धता, वैतालीय, उद्गता, वसन्ततिलका आदि प्रमुख रूप से सर्गों में प्रयुक्त हैं। कवि ने कुल १९ छन्दों का प्रयोग किया है। ग्यारहवें सर्ग के अन्त में कवि ने परमार-वंश का भी वर्णन किया है। काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी इसका ऐतिहासिक मूल्य अन्यून है।

(२) बिल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित[१]

काश्मीर-निवासी बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' नामक महाकाव्य १८ सर्गों में प्रायः १०८५ ई० में लिखा। इसके अन्तिम सर्ग में कवि ने आत्म-वृत्तान्त भी दिया है। कश्मीर-नरेश गोपादित्य ने बिल्हण के पूर्व पुरुष प्रपितामह मुक्तिकलश को मध्यदेश से लाकर कश्मीर में बसाया था (१८।७३)। बिल्हण के पितामह राजकलश तथा पिता ज्येष्ठकलश थे। माता का नाम नागदेवी था। बिल्हण अपने तीन भाइयों में मध्यम थे। अपने कवित्व के प्रदर्शनार्थ बिल्हण ने विभन्न प्रदेशों की यात्रा की, कई राजाओं के पास रहे[२]; इस यात्रा का विवरण उन्होंने दिया है। वे क्रमशः वृन्दावन, मथुरा, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी, डाहल, धारा, गुजरात, अनहिलवाड़, सोमनाथ तथा कल्याण गये थे। मथुरा में पण्डितों को तथा डाहल में राजा कर्ण के सभाकवि गङ्गाधर को उन्होंने पराजित किया था। अनहिलवाड़ के चौलुक्य कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (१०६४-९४ ई०) के पास वे कुछ दिन रहे। अन्ततः कल्याण के चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे। इस राजा ने बिल्हण का बहुत सत्कार किया तथा 'विद्यापति' की उपाधि प्रदान की। आजीवन बिल्हण वहीं रह गये। इसी राजा के जीवन पर उन्होंने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्य लिखा।

अपनी जन्मभूमि कश्मीर के प्रति बिल्हण की गर्व-पूर्ण ममता थी। काश्मीर की तात्कालिक राजधानी प्रवरपुर (श्रीनगर) से तीन कोस की दूरी पर स्थित उत्तुङ्ग चैत्योंवाले 'जयवन' नामक स्थान के निकट 'खोनमुख' गाँव में उनका जन्म हुआ था।[३] यह स्थान केसर और अंगूर के लिए प्रसिद्ध था-

एको भागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते
द्राक्षामन्यः सरस-सरयू-पुण्ड्रक-च्छेद-पाण्डुम् ।

---

१. प्रथम प्रकाशन जी० ब्यूलर द्वारा बम्बई संस्कृत सीरीज में (१८७५ ई०); 'संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद के साथ सुन्दर संस्करण विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ३ खण्डों में प्रकाशित (१९६४)।

२ बिल्हण ने कलश के राज्यकाल (१०६२-८० ई०) में ही कश्मीर छोड़ दिया था।

३. इसे आजकल 'खुनमोह' कहते हैं। Stein— Rājataraṅgiṇī Note I. 90, Vol. I p. 16

कश्मीर में विद्यागोष्ठियों, व्याख्यान-सभाओं तथा कवितालोचनों की अविच्छिन्न परम्परा की चर्चा बिल्हण ने की है। वे स्वयं अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे जिसका वर्णन इस प्रकार उन्होंने किया है-

साङ्गो वेदः फणिपतिदृशा शब्दशास्त्रे विचारः
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा या च साहित्यविद्या।
को वा शक्तः परिगणयितुं श्रूयतां तत्त्वमेतत्
प्रज्ञादर्शे किमिव विमले नास्य संक्रान्तमासीत्।।

बिल्हण की कविताओं का व्यापक प्रचार हुआ था जैसा कि उन्होंने स्वयं अत्यन्त प्राञ्जल भाषा में कहा है-

ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति नो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः।
विद्वान्मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्री पुमान्वा
यत्रोन्मीलत्पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति।।

विक्रमाङ्कदेवचरित की रचना १०८८ ई० से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि इस वर्ष में राजा विक्रमादित्य ने जो नर्मदातट का अभियान किया था उसका वर्णन कवि ने इसमें नहीं किया है।[१] राजतरङ्गिणी (७/९३७) के उल्लेख से प्रकट होता है कि कश्मीरनरेश हर्ष (१०८४-११०१ ई०) के शासन-काल तक बिल्हण जीवित थे और चालुक्यनरेश विक्रमादित्य षष्ठ की राजसभा में ही थे। इस प्रकार इनका स्थिति काल १०५०-११०० ई० अर्थात् ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

बिल्हण के नाम से तीन रचनाएँ मिलती हैं। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्य के अतिरिक्त **'कर्णसुन्दरी'**[२] नामक नाटिका इन्होंने चालुक्य-राजसभा में रहकर ही लिखी थी। इसमें चालुक्य-नरेश भीमदेव के पुत्र कर्णदेव का विद्याधर-राजकुमारी के साथ प्रणय और अन्ततः महारानी की अनुमति से विवाह का वर्णन है। इनकी तीसरी रचना 'चौरपञ्चाशिका' (या चौरीसुरत-पञ्चाशिका) नामक सुन्दर गीतिकाव्य है। इसमें कवि ने किसी प्रणयी द्वारा अपनी प्रियतमा के स्मरण में ५० पद्य वसन्ततिलका छन्द में लिखे हैं।[३] सूक्तिमुक्तावली तथा सुभाषितावली में बिल्हण के नाम से बहुत से पद्य संकलित हैं। उपर्युक्त प्रचार की दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि बिल्हण के स्फुट पद्य बहुत स्थानों पर मिलें।

'विक्रमाङ्कदेवचरित' बिल्हण को अमर बनाने वाला १८ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य है। कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ के ऐतिहासिक चरित का इसमें वर्णन है। चालुक्य-वंश के मूल पुरुष की उत्पत्ति ब्रह्मा के चुलुक (चुल्लू) से होती है। इन्द्र ने प्रातःकाल ब्रह्मा से निवेदन किया कि देवों के शत्रुओं का विनाश करनेवाला वीर पुरुष उत्पन्न करें तो ब्रह्मा ने अपने

१. ए० बी कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी), पृ० १९२।
२. काव्यमाला सं० ७ में प्रकाशित।
३. गीतिकाव्य के प्रसङ्ग में इसका वर्णन किया जायेगा।

जलपूर्ण चुल्लू पर नेत्र गड़ाये (सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच, ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि (१/४६)। उससे एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने चालुक्यवंश चलाया। अनेक राजाओं के निर्देश के अनन्तर आहवमल्ल (१०४०-६९ ई०) का नाम कवि लेता है। इस राजा का दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल भी था (तस्मादभूदाहवमल्लदेवः, त्रैलोक्य-मल्लापरनामधेयः १/८७)। उसने सभी दिशाओं की विजय करके कल्याण में राजधानी बनायी। शिव की आराधना से उन्हें तीन पुत्र हुए- सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह। द्वितीय सर्ग के अन्त में प्रथम दो पुत्रों के शैशव संस्कारों का वर्णन है। जयसिंह का जन्म तृतीय सर्ग में वर्णित है। विक्रमाङ्कदेव की योग्यता देखकर उसके पिता उसे ही राजा बनाना चाहते हैं किन्तु वह अग्रज के समक्ष राजा बनना अस्वीकार कर देता है। अतएव सोमेश्वर को राजा बनाया जाता है, विक्रमाङ्क शासन का वास्तविक भार लेता है। वह दिग्विजय के लिए निकलकर चोल, केरल, सिंहल आदि राज्यों को जीत लेता है। उसके पिता की मृत्यु हो जाती है तथा अग्रज (सोमेश्वर) अनेक दोषों से भर जाता है। (सर्ग ४)। विक्रमाङ्कदेव क्रमशः दक्षिण भारत में अपनी विजय-पताका पहराते हुए अपने विरुद्ध आनेवाली सोमेश्वर की सेना को परास्त करके उसे बन्दी बना लेता है। वह स्वयं कल्याण का राजा बनकर अपने अनुज को दक्षिण भारत के वनवासमण्डल का राजा बना देता है (सर्ग-६)। इस प्रकार आरम्भिक सर्गों में विक्रमादित्य (नायक) की विजय-यात्राओं तथा कल्याण-राज्य की प्राप्ति का वर्णन है। नायक राजकुमारी चन्दलदेवी के स्वयंवर में जाकर वधू के रूप में उसे ले आता है। अष्टम सर्ग से काव्यगत वर्णन आरम्भ होते हैं-वसन्त ऋतु (सर्ग८), पुष्पचयन, स्नान, मधुपान (९-११), पुनः स्नान दृश्य के वर्णन में पूरा सर्ग (१२) लगाना, वर्षा-वर्णन (सर्ग १३)। १४ वें सर्ग से पुनः राजनीतिक तथ्य आरम्भ होते हैं। विक्रमाङ्क का अनुज जयसिंह उपद्रव करने लगता है जिससे उसके दमनार्थ विक्रमाङ्क सेना लेकर प्रस्थान करता है, जयसिंह हारकर भाग जाता है (१४-१५)। सोलहवें सर्ग में शरद् ऋतु तथा नायक के द्वारा मृगया किये जाने का वर्णन है। सोहलवें सर्ग में विक्रमाङ्क के राज्य की सुख-शान्ति का वर्णन है। उसने कई भवन, प्रासाद और मन्दिर बनवाये। चोल-राज्य के उपद्रव का दमन तथा काञ्ची पर नायक का अधिकार वर्णित है। अन्तिम सर्ग में कवि अपने वंश तथा जीवन का रोचक वर्णन करता है।

इस काव्य में इतिहास तथा काव्यात्मक वर्णनों का रमणीय समन्वय है। छह ऋतुओं का वर्णन कवि ने उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। महाकाव्य के बीच में परम्परागत वर्णनों को अत्यन्त कुशलता से निविष्ट किया गया है। प्रथम सर्ग के आरम्भ में जो काव्य-विषयक प्रस्तावना दी गई है, वह बिल्हण के विचारों और प्रतिभा का परिचय देती है। विष्णु, शिव, लक्ष्मी, पार्वती, गणेश तथा सरस्वती की वन्दना विविध पद्यों में करके काव्य का उदार मङ्गलाचरण किया गया है। काव्य-प्रस्तावना का उपक्रम वैदर्भी रीति की प्रशंसा से होता है-

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य, सरस्वती-विभ्रम-जन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति, सौभाग्य-लाभ-प्रतिभूः पदानाम्॥ (१/९)

अर्थात् जो श्रवणामृत (शब्द-माधुर्य) के लिए बिना मेघ की वर्षा है, सरस्वती की जन्मभूमि है तथा पदों के लिए सौष्ठव-प्राप्ति की प्रतिभू (जमानत देनेवाली guarantor)है, वह वैदर्भी रीति किसी-किसी कवि में ही आविर्भूत होती है।

बिल्हण इस प्रकार स्वयं वैदर्भी रीति के प्रयोक्ता होने की सूचना देते है, इसमें अनुप्रास के बिना ही पद-लालित्य की सर्जना में वे कुशल हैं। अपनी रचना-शैली की प्रशंसा में वे पुनः कहते हैं-

रसाध्वनेरध्वनि ये चरन्ति, संक्रान्त-वक्रोक्ति-रहस्य-मुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु, कुर्वन्तु शेषाः शुक-वाक्य-पाठम्॥ (१/२२)

"वक्रोक्ति के मर्म को समझने वाले जो लोग रसध्वनि के मार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे ही हमारे काव्यों को समझें; शेष लोग तो शुक (तोते) के समान इनके शब्दों का पारायण-मात्र करें।" जो राजा कवियों का सम्मान करना जानते हैं, उनका ही यश पृथ्वी पर रह जाता है। वैसे तो अनेक राजा पृथ्वी में हुए किन्तु उनके नाम कौन जानता है? इस प्रकार अपने आश्रयदाता विक्रमाङ्कदेव की प्रशंसा कवि ने की है-

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे, कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां, जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्॥ (१/२६)

कवि को अपनी जन्मभूमि कश्मीर (शारदा-देश) के प्रति ऐसी भावना है कि कुङ्कुम के केसर और काव्य-विलास केवल वहीं अंकुरित होते हैं; अन्यत्र इनका प्ररोह उसने देखा ही नहीं यद्यपि उसने दूर-दूर तक यात्राएँ कीं-

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां, भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥ (१/२१)

यहाँ 'शारदादेश' में श्लेष है - शारदा का आदेश (सरस्वती की कृपा), शारदा-देश (कश्मीर)। इसके बिना अन्यत्र (अन्य उपाय से, दूसरे स्थान पर) काव्य का अङ्कुरण सम्भव नहीं है।

अपनी प्रसाद-पूर्ण शैली तथा वक्रोक्ति-पूर्ण अर्थ-व्यञ्जना के कारण बिल्हण का स्थान संस्कृत कवियों में अमर है। ऐतिहासिक कथानक का आश्रय लेकर भी उन्होंने रसपूर्ण काव्य-धारा प्रवाहित की है जिससे इस कोटि के महाकाव्यों में 'विक्रमाङ्कदेवचरित' निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

(३) कल्हण की राजतरङ्गिणी

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में सर्वाधिक दीर्घकाल के इतिहास पर अपेक्षाकृत प्रामाणिक सूचना देने के कारण 'राजतरङ्गिणी' का स्थान अग्रगण्य है। इसमें कश्मीर-राज्य का इतिहास सुदूरवर्ती प्राचीन काल से लेकर कल्हण के अपने समय तक (११५० ई०) प्रस्तुत है। कल्हण ने बहुत प्रयत्न से इतने लम्बे युग के विषय में सूचनाओं का संकलन करके उन्हें प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपना जीवन-वृत्त बिल्हण के समान विस्तार से नहीं दिया है किन्तु इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं।

कल्हण के पिता चणपक (चम्पक) कश्मीर के राजा हर्षदेव (१०८९-११०१ ई०) के एक विश्वसनीय अनुजीवी थे। वे आदर्श स्वामिभक्त थे जो दुःख-सुख में राजा के साथ रहते थे। हर्षदेव

की हत्या के बाद उन्होंने राजकार्य से संन्यास ले लिया था। कल्हण ने अपने पितृव्य कनक का भी उल्लेख किया है जिसने राजा हर्षदेव को प्रसन्न करने के लिए संगीत की शिक्षा ली थी। कल्हण का परम्परागत घर परिहासपुर में था। वहाँ अवस्थित एक बुद्धमूर्ति को हर्ष अपने धर्मोन्माद में आकर तोड़ना चाहता था, तब कनक ने ही उसे ऐसा न करने का परामर्श दिया। कल्हण अपने पिता के समान शिवभक्त थे किन्तु बौद्ध मत से भी श्रद्धा रखते थे। उनके वर्णनों से लगता है कि ब्राह्मण धर्म तथा बौद्धधर्म के बीच सौमनस्य वर्तमान था। क्षेमेन्द्र उनके पूर्व ही बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में वर्णित कर चुके थे।

कल्हण का जन्म ११०० ई० के आसपास हुआ था। उनका मूल नाम 'कल्याण' था। उन्होंने कश्मीर की राजनीति से पृथक् रहकर, 'अलकदत्त' नामक विशेष पुरुष[1] के आग्रह से कश्मीर के विकीर्ण ऐतिहासिक अभिलेखों को संकलित करके 'राजतरङ्गिणी' की रचना का उपक्रम किया। कल्हण ने रामायण, महाभारत, रघुवंश, मेघदूत, हर्षचरित तथा वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' का अध्ययन किया था। बिल्हण के महाकाव्य का भी उन्होंने उपयोग किया था। मङ्ख ने स्पष्ट रूप से कहा है कि कल्हण की परिष्कृत शैली में बिल्हण की कविता के सभी गुण प्रतिबिम्बित हैं। राजतरङ्गिणी की रचना कवि ने ११४८ ई० में आरम्भ करके तीन वर्षों में पूर्ण की थी। इसकी रचना सुस्सल के पुत्र जयसिंह के राज्यकाल (११२८-११५९ ई०) में हुई थी, फिर भी कवि ने जयसिंह के प्रति कोई प्रशंसापूर्ण वाक्य नहीं दिया है।

कश्मीर के इतिहास में कल्हण का युग राजनीतिक संघर्षों से पूर्ण था। हर्षदेव ने कश्मीर राज्य को संघटित करने का प्रयास किया था किन्तु अपने ही दोषों से जनता में घृणास्पद बन गया। उच्चल तथा सुस्सल इन दो भाइयों के नेतृत्व में जन-विद्रोह हुआ जिसमें हर्ष मारा गया।[2] दोनों ने राज्य को बाँट लिया। सुस्सल को लोहर-प्रदेश मिला। उच्चल कश्मीर का राजा बना। अब दोनों भाइयों के बीच संघर्ष चलने लगा। उच्चल ११११ ई० में मारा गया, सुस्सल राजा बना। किन्तु उसे भी षड्यन्त्रों का सामना करना पड़ा। हर्ष के पौत्र भिक्षाचर ने विद्रोह किया जो दबा दिया गया। दूसरी ओर डामर-भूमिपतियों के प्रधान गर्गचन्द्र ने भी सुस्सल के विरोध में आन्दोलन किया किन्तु इसे भी दबा दिया गया। गर्गचन्द्र बन्दी बना और मारा गया। सुस्सल को पुनः भिक्षाचर के विद्रोह का सामना करना पड़ा। भिक्षाचर कुछ दिनों के लिए राजा बन गया (११२०-२१ ई०) किन्तु सुस्सल ने पुनः राज्य पा लिया। राज्य में गृहयुद्ध छिड़ गया; इस संकटकाल में सुस्सल ने अपने पुत्र जयसिंह को राजा बना दिया (११२७ ई०) किन्तु शासन स्वयं करता रहा। उसी वर्ष सुस्सल षड्यन्त्र के कारण मारा गया।

जयसिंह के राज्यकाल के आरम्भिक दिन संकटपूर्ण थे। उसने गर्गचन्द्र के पुत्र पञ्चचन्द्र की सहायता ली जिससे भिक्षाचर के उपद्रवों को शान्त किया जा सका। जयसिंह ने डामरों के बीच परस्पर कलह का वातावरण प्रस्तुत किया तथा अन्य कूटनीति-कार्यों में लगा। उसका शासनकाल बाद में शान्तिपूर्ण रहा (श्रीकण्ठचरित, सर्ग-२५)। जयसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र गुल्हण

---

१. इस व्यक्ति का उल्लेख मङ्ख के श्रीकण्ठचरित (२५/७८-८०) में मिलता है। मङ्ख ने कल्हण का नाम 'कल्याण' दिया है, लोकभाषा में उन्हें 'कल्हण' कहा जाता था।

२. राजतरङ्गिणी के सप्तम तरङ्ग की समाप्ति हर्ष की मृत्यु के वर्णन से होती है।

को लोहर का शासक बनाया। सन् ११०१ ई० के बाद का वृत्तान्त राजतरंगिणी के अष्टम तरङ्ग की विषय-वस्तु है जिसे कल्हण ने पूरा विस्तार दिया है क्योंकि इन घटनाओं के वे स्वयं साक्षी थे।

'राजतरङ्गिणी'[1] कल्हण की एकमात्र रचना है। इसका विभाजन आठ तरङ्गों में हुआ है। इसमें ७८२६ श्लोक हैं जो मुख्यत: अनुष्टुप् छन्द में हैं। इस प्रकार यह अन्य ऐतिहासिक काव्यों से भिन्न है जहाँ काव्य का उत्कर्ष अनेक गीतिमय छन्दों में प्रकट किया गया है। आठवाँ तरङ्ग सबसे बड़ा (३४४९ श्लोक) है, उसके बाद सातवाँ तरङ्ग (१७३२ श्लोक) है। प्रारम्भ के छह तरङ्ग लघुकाय हैं। 'राजतरङ्गिणी' में कलियुग के आरम्भ से ११५० ई० तक के कश्मीर का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास काव्य-रूप में वर्णित है। इस प्रकार २५०० वर्षों का इतिहास निरूपित है किन्तु अन्तिम ४०० वर्षों की घटनाएँ तिथिक्रम से युक्त हैं। कवि जैसे-जैसे अपने काल की ओर बढ़ता गया है, वैसे-वैसे उसके वर्णनों में प्रामाणिकता और विस्तार की अभिवृद्धि होती गयी है। प्रथम चार तरङ्गों में राजाओं के वर्णन पौराणिक-जैसे हैं जबकि पञ्चम तरङ्ग से, अवन्तिवर्मा के शासनकाल (८५५ ई०-८८३ ई०) से, वास्तविक इतिहास का आरम्भ होता है जो अष्टम तरङ्ग में कवि द्वारा अपने युग के (११०१-११५० ई०) विस्तृत वर्णन से समाप्त होता है।

कल्हण ने कहा है कि इस ग्रन्थ की रचना में प्राचीन ग्यारह ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा नीलमतपुराण की सहायता ली गयी है—

दृग्गोचरं पूर्वसूरि-ग्रन्था राजकथाश्रया: ।
मम त्वेकादश गता मतं नीलमुनेरपि ।। (१/१४)

इन ग्रन्थों में आज केवल नीलमतपुराण ही उपलब्ध है। अन्य ग्रन्थों की छानबीन कल्हण ने अच्छी तरह की थी। सुव्रत पण्डित का ग्रन्थ दुष्ट वैदग्धी से तीव्र होने के कारण उपयोगी नहीं था; क्षेमेन्द्र की 'नृपावली' रमणीय थी किन्तु इसका कोई अंश निर्दोष नहीं था (१/३१)। हेलाराज के 'पार्थिवाली' ग्रन्थ से अनेक राजाओं के नाम उन्हें मिले फिर भी उन्होंने शिलालेख, दानपत्र, प्रशस्ति आदि अन्य उपकरणों के आधार पर अपने ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाया। इतिहासकार की निष्पक्ष दृष्टि की कल्हण ने प्रशंसा की है—

श्लाघ्य: स एव गुणवान् रागद्वेष-बहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ।। (१/७)

वही गुणी इतिहासकार श्लाघ्य है जिसकी वाणी, न्यायाधीश (स्थेय) के समान, अतीत

---

१. राजतरङ्गिणी की पहली खोज मूरक्राफ्ट ने १८२३ ई० में देवनागरी-लेख के रूप में की थी। त्रायर ने इसका फ्रेंच अनुवाद किया। ब्यूलर को १८७५ ई० में शारदा-लिपि में यह पुस्तक मिली जिसका प्रथम संस्करण १८९२ ई० में हुआ। ऑरेल स्टीन ने १९०० ई० में अंग्रेजी अनुवाद भूमिका और टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया। हिन्दी में रघुनाथ सिंह ने ४ खण्डों में मूल सहित संस्करण किया है (काशी)। केवल अंग्रेजी अनुवाद आर० एस० पण्डित द्वारा १९३५ ई० में तथा केवल हिन्दी अनुवाद नीलम अग्रवाल द्वारा १९६८ ई० में प्रकाशित हुआ। होशियारपुर से २ खण्डों में मूल ग्रन्थ का समीक्षात्मक संस्करण प्रकाशित।

घटनाओं के निरूपण में राग और द्वेष से मुक्त है। इसलिए कल्हण में संकीर्णता तथा एकपक्षीयता नहीं है। स्वयं प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुयायी शैव होने तथा तन्त्रों के समर्थक होने पर भी दुष्ट तान्त्रिकों के अत्याचारों की निन्दा उन्होंने खुलकर की है। बौद्धधर्म के अहिंसा-तत्त्व की प्रशंसा में भी वे मुखर रहे हैं। महाराज अशोक के धर्म-कार्यों की एवं कश्मीर-नरेशों के द्वारा बौद्ध विहारों के निर्माण की चर्चा उन्होंने प्रशंसात्मक शब्दों में की है। ललितादित्य शैव मतानुयायी राजा थे जिन्होंने तुषार-देश (तोखारा) के निवासी 'चंकुण' को अपना मन्त्री बनाया था। चंकुण ने अपने नाम पर अष्टम शताब्दी ई० में 'चंकुण-विहार' का निर्माण कराया था जहाँ मगध से लायी गयी विशाल बुद्ध-मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया गया था। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देकर कल्हण ने उदार इतिहासकार की भूमिका निभायी है।

अपनी जन्मभूमि के निवासियों की कटु आलोचना करने में भी कल्हण पीछे नहीं है। उन्होंने कश्मीरियों की भीरुता, मिथ्या-भाषण, संग्राम से पलायन-प्रवृत्ति, परस्पर कलह, विद्रोह, पक्षपात, दुराग्रह, क्षुद्रता, वञ्चकता इत्यादि दुर्गुणों का विशेष रूप से वर्णन किया है। उनके अनुसार राजपूत और विदेशी लोग अपने राजाओं को धोखा नहीं देते किन्तु कश्मीरी कर्मचारी अपने आश्रयदाताओं को धोखा देने में लज्जा का अनुभव नहीं करते। राजकर्मचारी वहाँ लोभी, क्रूर और राजद्रोही हो गये थे। कल्हण ने इस प्रकार इतिहास के वर्णन में कल्पना का आश्रय न लेकर ठोस यथार्थ का आलम्बन लिया है, राग-द्वेष से अपने को दूर रखा है।

राजतरङ्गिणी के आरम्भिक चार तरङ्गों में जो राजवंशों का वर्णन है वह बहुधा पौराणिक स्वरूप का है, जनश्रुतियों तथा अपरीक्षणीय वंशावलियों पर आश्रित है। **प्रथम तरङ्ग** के आरम्भ में ही कल्हण ने कहा कि कश्मीर के आरम्भिक ५२ शासकों का उल्लेख पहले की किसी वंशावली में नहीं है; फिर भी नीलमत पुराण के आधार पर उन्होंने उनका उल्लेख किया है। तदुसार गोनन्द प्रथम से यह वर्णन आरम्भ हुआ है। प्रथम चार राजाओं के नाम उन्हें मिले किन्तु अनुवर्ती ३५ राजाओं के नाम अभिलेखों के नष्ट हो जाने से नहीं मिल सके। फिर आठ राजाओं के बाद (इनके नाम दिये गये हैं) बौद्ध मतानुयायी अशोक का शासन-काल आया। उसने श्रीनगरी बसायी, अनेक विहार बनवाये। तब क्रमशः जलौक और दामोदर राजा बने। इनके बाद कश्मीर हुष्क, जुष्क और कनिष्क जैसे म्लेच्छों के हाथों में चला गया। उन्होंने भी नगर बसाये एवं मठ-चैत्य आदि बनाये। तब एक बौद्ध-विरोधी राजा अभिमन्यु (प्रथम) हुआ जिसने 'महाभाष्य' का प्रचार किया। उसके बाद गोनन्द (द्वितीय) राजा बना जिसने कश्मीर की परम्परागत पूजाविधि का उद्धार किया। इसके बाद अनेक राजाओं के क्रम में शिवभक्त मिहिरकुल राजा बना, वह बहुत क्रूर तथा उद्दण्ड था। राजाओं के द्वारा कश्मीर में अनेक नगर बसाये जाते रहे। युधिष्ठिर के द्वारा गोनन्दवंश का अन्त हुआ। **द्वितीय तरङ्ग** में कश्मीर के बाहर का प्रतापादित्य राजा बनता है। उसके बाद से कश्मीर में आन्तरिक कलह आरम्भ होता है। इस वंश में छह राजा होते हैं, अन्तिम राजा आर्यराज स्वेच्छा से सिंहासन छोड़कर तपस्या करते हुए जीवन त्याग देता है। **तृतीय तरङ्ग** में गोनन्दीय-वंश का पुनः उद्धार होता है। इसमें मेघवाहन से लेकर बालादित्य तक १० राजा शासन करते हैं।[1] **चतुर्थ तरङ्ग** में कर्कोट-राजवंश का शासन वर्णित है। जिसमें दुर्लभवर्धन, प्रतापादित्य, चन्द्रापीड,

१. इस वंश के रणादित्य का शासन-काल कल्हण ने ३०० वर्षों का माना है। यह विचित्र स्थिति है। इसीलिए दस राजाओं का राज्यकाल ५८९ वर्ष कहा गया है।

तारापीड, मुक्तापीड (ललितादित्य) आदि राजा हुए। ललितादित्य का शासनकाल बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने कान्यकुब्जनरेश यशोवर्मा को पराजित करके मारदिया था। उसके बाद दुर्बल राजाओं की परम्परा चली किन्तु उसका पौत्र जयापीड बलवान् शासक सिद्ध हुआ। इस वंश का शासनकाल २५४ वर्षों तक रहा।

पञ्चम तरङ्ग में उत्पलवंशीय राजाओं का ऐतिहासिक कालक्रम तिथि-सहित दिया गया है। ८५५ ई० में अवन्तिवर्मा का अभिषेक होता है जिसका राज्यकाल आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के कारण प्रसिद्धि पाता है। उसकी मृत्यु त्रिपुरेशतीर्थ में होती है (८८३ ई०)। अन्य ११ राजाओं का राज्यकाल ९३९ ई० में समाप्त होता है। इनमें कई राजा दो या तीन बार शासनतन्त्र को अन्तरालों के बाद सँभालते हैं। अन्तिम राजा सुरवर्मा कुछ दिनों के लिए शासन करता है, उसका सेनापति उसे हटा देता है। इसी बीच में रानी सुगन्धा का एक प्रेमी यशस्कर राजा बनाया जाता है। इस प्रकार उत्पल-वंश का अन्त हो जाता है। **षष्ठ तरङ्ग** में यशस्कर (९३९-९४८ ई०) से लेकर रानी दिद्दा (९८०-१००३ ई०) तक का वर्णन है। यशस्कर का काल शान्ति-व्यवस्था से युक्त था किन्तु उसके बाद तीन राजा दुर्बल सिद्ध हुए। एक मन्त्री का पुत्र क्षेमगुप्त राजा बना (९५०-५८ ई०)। उसका विवाह लोहर-वंश की दिद्दा से हुआ। दिद्दा का कश्मीर के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध हुआ। क्षेमगुप्त का पुत्र अभिमन्यु (द्वितीय) अल्पावस्था में राजा बना। उसे दिद्दा का पूर्ण संरक्षण प्राप्त हुआ। अभिमन्यु की मृत्यु ९७२ ई० में हो गयी और उसका पुत्र नन्दिगुप्त राजा बना। दिद्दा ने तान्त्रिक प्रयोग करके उसे और उसके उत्तराधिकारी त्रिभुवनगुप्त को भी मरवा दिया (९७३ ई० तथा ९७५ ई०)। तब दिद्दा का अन्तिम पौत्र भीमगुप्त राजा बना (९७५-८० ई०)। दिद्दा की राज्यतृष्णा ने तुङ्गनामक खश (दिद्दा का प्रेमी) के द्वारा उसे भी मरवा दिया। वह स्वयं शासक बनी तथा २३ वर्षों तक राज्य करती रही (९८०-१००३ ई०)। तुङ्ग प्रधान मन्त्री बना। दिद्दा ने मृत्यु के पूर्व अपने भतीजे संग्रामराज को राज्य दे दिया और इस प्रकार कश्मीर में लोहरवंश का शासन आरम्भ हुआ।

सप्तम तरङ्ग में लोहरवंश के प्रायः एक सौ वर्षों के शासनकाल का वर्णन है (१००३ ई०-११०१ ई०)। इस वंश में संग्रामराज (१००३-१०२८ ई०), हरिराज (केवल २२ दिनों का राज्य), अनन्त (१०२८-६३ ई०), कलश (१०६३-८९ ई०), उत्कर्ष (कारागार में मृत्यु) तथा हर्ष (१०८९-११०१ ई०)- ये छह राजा हुए। हर्ष को अपने पिता कलश से विवाद था। हर्ष पिता को मारना चाहता था, इसी से कलश ने अपने कनिष्ठ पुत्र उत्कर्ष को राजा बनाया था। उत्कर्ष को हर्ष ने बन्दी लिया। अनन्त को भी अपने पुत्र के संघर्ष के कारण आत्महत्या करनी पड़ी थी। हर्ष अत्याचारी तथा निर्दय शासक था। उसने उच्चल तथा सुस्सल के पिता मल्ल को क्रोध में मार डाला। इन दोनों भाइयों ने हर्ष पर आक्रमण किया; उसे भागना पड़ा किन्तु वह अन्ततः पकड़ा गया। उसे छलपूर्वक मार दिया गया।

अष्टमतरङ्ग में कल्हण के अपने युग की घटनाएँ वर्णित हैं (११०१-११५० ई०)। राजसिंहासन के लिए होने वाले संघर्ष और छल-प्रपञ्च की रोमांचकारी घटनाएँ इसमें दी गयी हैं। उच्चल (११०१-११ ई०) से लेकर जयसिंह (११२८-५९ ई०) तक के शासन का इसमें वर्णन है। इसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

साहित्यिक वैशिष्ट्य

कल्हण ने अपने को कवि माना है। इस महाकाव्य के आरम्भ में उन्होंने कहा है कि कवि की वाणी अमृतरस का भी तिरस्कार करती है। अमृत को केवल पीनेवाला ही अमर होता है जब कि कवि की वाणी से स्वयं कवि तथा वर्णनीय पात्र दोनों अमर बन जाते हैं–

वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
येनायाति यशःकाये स्थैर्यं स्वस्य परस्य च॥ (१/३)

उन्होंने अपने युग के राजाओं के परस्पर संघर्ष को देखा था, अव्यवहित पूर्ववर्ती राजा हर्ष के दुष्कर्मों और अत्याचारों के विषय में सुना था। इनसे उन्हें विरक्ति हो गयी थी और उन्होंने शान्तरस को इस काव्य में मुख्य स्थान दिया।[1] काव्य को अनावश्यक सौन्दर्य से भरना उन्हें पसन्द नहीं था। इसीलिए उनकी रचना वैदर्भी शैली में वर्णन-परक अनुष्टुप्-छन्द का प्रयोग बहुल-रूप से प्रकट करती है। गति तथा प्रवाह से सम्पन्न भाषा-शैली का प्रयोग कल्हण की मुख्य विशिष्टता है।

कवि अपने काव्य के पात्रों को किसी वर्ग में न रखकर व्यक्तिगत विशिष्टताओं के साथ चित्रित करते हैं। वे ऐतिहासिक पात्र हैं जिनमें यथार्थता विद्यमान है। हास्यास्पद, नीच, उग्र, शान्तिप्रिय, प्रजापालक, स्वार्थी तथा उदात्त-सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण उन्होंने इस काव्य में किया है। एक ओर निर्दय और दुराचारिणी किन्तु चतुर और कर्मठ रानी दिद्दा का सजीव चित्रण कल्हण ने किया है (६/१७६ तथा आगे) तो दूसरी ओर भद्र किन्तु अयोग्य शासक अनन्त का भी रूप उन्होंने प्रस्तुत किया है (७/१४२ तथा आगे)। अत्यन्त साधारण पदों से अपने छल-प्रपञ्च और तिकड़म के बल पर उच्च पद पर आसीन हो जाने वाले चरित्र भी उनकी रचना में स्थान पाते हैं। कायस्थ भद्रेश्वर ऐसा ही पात्र है (७/३९ तथा आगे)। पहले वह बाजार में माली का काम करता था। फिर मांस-विक्रेता और इन्धन-विक्रेता बना। जीविका के लिए वह राजपुरुषों की कलम-दावात लेकर उनके पीछे-पीछे दौड़ता था। दिद्दा के प्रधानमन्त्री का वह सहायक बन गया और अन्त में स्वयं प्रधानमन्त्री बना। ऐतिहासिक सत्य के अनावरण के कारण कल्हण ने कई पात्रों के रहस्यों और दुर्गुणों को प्रकट किया है। हर्ष ने कल्हण के परिवार को पद और सम्मान दिया था किन्तु वे उस राजा के दुष्कृत्यों का वर्णन करने में नहीं चूकते हैं (७/८६९)।

कल्हण ने अनेक प्रासङ्गिक घटनाओं का वर्णन तन्मयता से किया है जिससे उनकी वर्णन-क्षमता पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम तरङ्ग के अन्त में राजा युधिष्ठिर के दुःखद अन्त का वर्णन हो (१/३६८), या द्वितीय तरङ्ग में अधिक तुषारपात के कारण पड़े दुर्भिक्ष का वर्णन हो (२/१९), अथवा डाकिनियों के द्वारा सन्धिमती को जीवित करने का चित्रण हो (२/८२ तथा आगे)- सभी काव्यगत वैशिष्ट्य से सम्पन्न हैं। इसी प्रकार हर्ष के संघर्षों, युद्धों और दुःखद अन्त का चित्रण (७/१५३९, १६१६, १७००), भिक्षाचर की कष्टप्रद मृत्यु और लोहरवंश की समाप्ति (८/१७०२, १८१४), उच्चल की हत्या (८/३०९) आदि के वर्णन मार्मिक और प्रभाव उत्पन्न करनेवाले हैं। सप्तम तरङ्ग में जब कल्हण हर्ष की आकृति और विशिष्टताओं का वर्णन करते हैं तो रामायण

---

१. राजतरङ्गिणी १/२३

की शैली अपना लेते हैं-

> प्रसन्नसिंहविप्रेक्षी नीचश्मश्रुच्छटाञ्चितः ।
> वृषस्कन्धो महाबाहुः श्यामलौहितविग्रहः ।।
> व्यूढवक्षो क्षाममध्यो मेघघोषगभीरवाक् ।
> सोऽमानुषाणामपि तत्प्रतिभा-भङ्गकार्यभूत् ।। (७/८७७-८)

अर्थात् वह राजा प्रसन्न सिंह के समान अपनी आँखें घुमाकर देखता था, उसकी लम्बी दाढ़ी शोभायुक्त थी, उसके कन्धे साँढ़ के समान पुष्ट थे, उसकी भुजाएँ लम्बी थीं, उसके शरीर का रंग काला और लाल का मिश्रण-युक्त था; चौड़ी छाती, पतली कमर, वज्र के समान गम्भीर आवाज से युक्त उस राजा के सामने देवता भी अपनी प्रतिभा खो बैठते थे।

इतना उदात्त वर्णन करके भी कल्हण उसके दोषों का निरूपण करते हुए उसे कुत्ते की उपमा देते हैं-

> अल्पापकारमपि पार्श्वगतं निहन्ति
> नीचो न दूरगमहागसमप्यरातिम्।
> श्वा निर्दशत्युपलमन्तिकमापतन्तं
> तत्त्यागिनं न तु विदूरगमुग्ररोषः।। (७/१२०४)

" वह नीच राजा निकटवर्ती मनुष्य की हत्या, अल्प अपकार करने पर भी, कर देता है जब कि अपने दूरस्थ शत्रुओं के महापराधी होने पर कुछ नहीं करता। कुत्ता क्रोध में आकर अपने ऊपर फेंके गये पत्थर को तो दाँत से कटता है, किन्तु उन पत्थरों को फेंकनेवालों का कुछ नहीं बिगाड़ता।"[1] यहाँ दृष्टान्त देकर काव्य-सौन्दर्य और इतिहास-सत्य का सुन्दर समन्वय कल्हण ने किया है।

संसार की असारता का निरूपण कवि ने इस पद्य में दिखाया है कि कोई व्यक्ति दूसरे के अपकार के लिए जिस उपाय की सृष्टि करता है उसका विनाश उसी उपाय से होता है। अग्नि आँखों को अन्धा करनेवाले जिस धूम को उत्पन्न करती है, वही धूम मेघ बनकर जल द्वारा उसी अग्नि को शान्त कर देता है-

> योऽयं परापकरणाय सृजत्युपायं
> तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः।
> धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्नि-
> र्भूत्वाम्बुदः स शमयेत्सलिलैस्तमेव।। (४/१२५)

इस प्रकार सजीव उपमाओं और दृष्टान्तों से कवि ने अपने कथ्य का समर्थन किया है।

---

१. हर्ष के विषय में कल्हण ने लिखा है कि अधिकार का इतना उपयोग किसी ने नहीं किया और ऐसा लज्जाजनक अन्त भी किसी का नहीं हुआ (७/१७१३)। यह वही हर्ष था जिसके रचित गीतों को सुनकर शत्रुओं की आँखों से भी आँसुओं की धारा बहने लगती थी और बृहस्पति भी उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं (७/९४१-२)

कल्हण को दैव की महिमा पर अटूट विश्वास था। इसीलिए उन्होंने किसी भी घटना में विधाता की इच्छा को कारण माना है और शान्तरस का समर्थन किया है। पुनर्जन्म, कर्मफल, पुण्य-पाप आदि दार्शनिक विषयों में उनकी दृढ आस्था थी। शकुनों तथा दैवी क्रियाओं में भी वे विश्वास रखते थे।

कवि-कल्पना, रस, अलङ्कार तथा भावों का सुन्दर समन्वय राजतरङ्गिणी की विशिष्टता है। निम्नाङ्कित पद्य में करुण-भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति कल्हण ने की है-

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः पर-गृह-प्रेष्यावसन्नः सुहृत्
दुग्धा गौरशनाद्यभाव-विवशा हम्बारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्॥

अर्थात् जिसने भूख से व्याकुल पुत्र को, परगृह में सेवारत पत्नी को, आपत्ति में पड़े हुए मित्र को , दुही जाने के बाद चारे के अभाव में रँभाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में मरणोन्मुख माता-पिता को तथा शत्रु-द्वारा जीत लिये गये अपने स्वामी को देख लिया है, उसे नरक में भी इससे अधिक अप्रिय दृश्य देखने को क्या मिलेगा? इस प्रकार कश्मीर के उथल-पुथल-भरे इतिहास और जनता की दुर्दशा का चित्रण इस पद्य का प्रतिपाद्य है।

राजतरङ्गिणी भारतीय साहित्य में एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसे भले ही काव्यात्मक रूप दिया गया हो किन्तु वह इतिहास की ही दृष्टि से लिखी गयी है। भारत में इतिहास को नैतिक शिक्षा का साधन माना गया है। कल्हण ने महाभारत के प्रभाव के कारण इस दिशा में भी 'राजतरङ्गिणी' को मोड़ा है। इसमें उन राजाओं की कथाओं पर बल है जिनका अन्त वैराग्य या अन्य कारणों से दुःखमय हुआ है। इससे कल्हण का नीतिशास्त्री-रूप प्रकट होता है। शक्ति और सम्पत्ति की अस्थिरता, सारी कीर्तियों की क्षणिकता, पापियों को लोक-परलोक में मिलने वाला दण्ड इत्यादि नैतिक विषयों को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने में कवि की दृढ आस्था है। इस प्रकार वैज्ञानिक इतिहास के साथ इतिहास की भारतीय कल्पना का सामञ्जस्य कल्हण ने किया है। इसीलिए राजाओं तथा मन्त्रियों के कार्यों की समीक्षा (निन्दा या प्रशंसा) उन्होंने धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र के नियमों के आधार पर ही की है- यथार्थ को आदर्श की कसौटी पर कसने का यह श्लाघ्य प्रयास है अन्यथा शुष्क या नीरस इतिहास अग्राह्य होता।

राजतरङ्गिणी की परम्परा

कल्हण की राजतरङ्गिणी की परम्परा को कुछ कवियों ने आगे बढ़ाकर इसी नाम से ग्रन्थ लिखे। तदनुसार १५वीं-१६वीं शताब्दी तक का कश्मीरेतिहास-लेखन प्रक्रान्त रहा। जोनराज ने (मृत्यु १४५९ ई०) कश्मीर के राजाओं का इतिहास कल्हण की शैली में ही सुल्तान जैनुल-आब्दीन के शासनकाल (१४१७-६७ ई०) तक पहुँचाया। लेखक की मृत्यु हो जाने के कारण इसे उसके शिष्य श्रीवर ने 'जैनराजतरङ्गिणी' के रूप में १४५९ ई० से १४८६ ई० तक का इतिहास लिखा। ये दोनों ग्रन्थ कल्हण की रचना से निम्न कोटि के हैं । पुनः प्राज्यभट्ट और उनके शिष्य

शुक ने 'राजावलिपताका' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें अकबर द्वारा कश्मीर को अपने राज्य में मिला लेने तक की घटनाओं का वर्णन है (१४८६ ई०-१५८६ ई०)।[१]

(४) अन्य ऐतिहासिक काव्य

१२ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जल्हण ने **'सोमपाल-विलास'** नामक काव्य की रचना की थी जिसमें कश्मीर के निकटवर्ती राजपुरी के राजा सोमपाल का जीवनवृत्त वर्णित है। इस राजा ने सुस्सल के साथ युद्ध किया था (राजतरङ्गिणी ८/६२१ तथा आगे)। जल्हण की चर्चा महाकवि मंख ने श्रीकण्ठचरित में (२५/७५) की है। जयानक नामक कवि ने उत्तरी भारत के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान के जीवनवृत्ताश्रित **'पृथ्वीराजविजय'** महाकाव्य प्राय: ११९१-९३ ई० में लिखा। जयानक को कश्मीरी माना जाता है। वह पृथ्वीराज की राजसभा में भी रह चुका था। इस महाकाव्य की शैली 'विक्रमाङ्कदेवचरित' की शैली के समान है। इसपर जोनराज ने संस्कृत व्याख्या १४५० ई० और १४७५ ई० के बीच लिखी थी। 'पृथ्वीराजविजय' की पाण्डुलिपि ब्यूलर के द्वारा १८७६ ई० में कश्मीर से ही प्राप्त की गई थी। १२ वें सर्ग के अन्त में पाण्डुलिपि खण्डित है, अत: यह कहना कठिन है कि इसमें कितने सर्ग और थे। इसका प्रथम प्रकाशन पं० गौरीशंकर हीरानन्द ओझा के सम्पादन में १९४१ ई० में हुआ, जोनराज की व्याख्या भी इसमें मुद्रित है।

जैनमुनि **हेमचन्द्र** (१०८८-११७२ ई०) ने **'कुमारपालचरित'** अनहिलवाड़ के चालुक्य-नरेश कुमारपाल के सम्मान में ११६३ ई० के आसपास लिखा था। हेमचन्द्र जैन लेखकों में सर्वाधिक प्रौढ़ माने गये हैं जिन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि दी गयी थी। अहमदाबाद के निकट 'धुन्धुक' ग्राम में इनका जन्म हुआ था। मूल नाम चंगदेव था किन्तु जैनधर्म में दीक्षित होने पर ये 'हेमचन्द्र' कहे गये। चालुक्य-नरेश जयसिंह सिद्धराज का संरक्षण इन्हें प्राप्त हुआ था जिसके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल को इन्होंने जैनधर्म की दीक्षा दी थी। उसी राजा के विषय में उक्त महाकाव्य इन्होंने लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने **'बालभारत'** (१९ सर्गों में महाभारत-विषयक काव्य), **त्रिषष्टि-शलाका-पुरुषचरित** (१० सर्गों में ६३ श्रेष्ठ जनों का जीवनवृत्त), **प्रमाणमीमांसा**, **सिद्धहेमचन्द्र** या **हैमशब्दानुशासन** (व्याकरणग्रन्थ), **काव्यानुशासन** (काव्यशास्त्र), **अभिधानचिन्तामणि** (कोशग्रन्थ), **छन्दोऽनुशासन**, **देशीनाममाला** (प्राकृत कोश) इत्यादि कई ग्रन्थ लिखे।

कुमारपालचरित २८ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य है जिसमें हेमचन्द्र ने दो भाषाओं का प्रयोग किया है ; प्रथम २० सर्ग संस्कृत में है, शेष आठ प्राकृत में। इसीलिए इसे **'द्व्याश्रयमहाकाव्य'** भी कहा जाता है। संस्कृत-भाग में संस्कृत व्याकरण के और प्राकृत-भाग में प्राकृतव्याकरण के नियमों के उदाहरण भट्टिकाव्य की शैली में दिये गये हैं। इन भागों में क्रमश: २४३९ तथा ७४२ पद्य हैं। संस्कृत भाग का प्रकाशन दो खण्डों में (१९१५, १९२१ ई०) तथा प्राकृत-भाग का एक खण्ड में १९३६ ई० में हुआ था। इस महाकाव्य में एक ही साथ इतिहास, काव्य और व्याकरण तीनों विषयों की प्रस्तुति है। अनहिलवाड़ के शासकों का इतिवृत्त इसमें वर्णित

---

१. कल्हण की राजतरङ्गिणी के प्रथम संस्करण (कलकत्ता, १८३५ ई०) के साथ ये सभी ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे। इनका सुन्दर संस्करण विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान (होशियारपुर) से कई खण्डों में हुआ है।

है जो मूलराज के वर्णन से आरम्भ होता है (सर्ग १-६)। मूलराज की छठी पीढ़ी में जयसिंह सिद्धराज हुआ जिसका वर्णन ११ वें सर्ग से किया गया है। १५वें सर्ग में कुमारपाल को राज्य की प्राप्ति होती है। कुमारपाल जयसिंह के भतीजे (त्रिभुवनपाल) का पुत्र है। १७वें सर्ग में रात्रि-वर्णन विस्तार से किया गया है। २० वें सर्ग में कुमारपाल के धर्मकार्यों का विवरण है जैसे- पशुबलि का निषेध आदि। प्राकृत भाग अणहिलपट्टन के वर्णन से आरम्भ होता है जिसका राजा कुमारपाल है। राजा की दिनचर्या, राजा का जिन-मन्दिर-गमन, राजोद्यान तथा षड्ऋतुवर्णन (सर्ग ३-५), राजा की मल्लिकार्जुन पर विजय का समाचार, शयन, प्रातः जागना, चिन्तन आदि का वर्णन इन सर्गों में मिलता है। मुख्य रूप से यह अंश धार्मिक विषयों से पूर्ण है। इस महाकाव्य को 'शास्त्रकाव्य' कहा गया है क्योंकि हेमचन्द्र के व्याकरण-ग्रन्थ और काव्यशास्त्र-ग्रन्थ के नियमों को उदाहृत करना इसका लक्ष्य है।

सोमेश्वरदेव-कृत '**कीर्तिकौमुदी**' नामक महाकाव्य वस्तुपाल नामक एक उदार मन्त्री की प्रशस्ति के रूप में है। वस्तुपाल गुजरात के बघेला राज वीरधवल एवं उनके पुत्र वीसलदेव के मन्त्री थे। वस्तुपाल की दानशीलता एवं धार्मिक कार्यों के कारण कई कवियों ने उनके विषय में काव्य लिखे। 'कीर्तिकौमुदी' उन काव्यों में अन्यतम है। सोमेश्वर अणहिलपाटन के चालुक्यवंशी राजाओं के कुलपुरोहित थे। वे वस्तुपाल के आश्रित कवि तथा मित्र थे। वस्तुपाल-द्वारा निर्मित आबू एवं गिरनार के जैनमन्दिरों में वस्तुपाल के अभिलेख (प्रशस्तिकाव्य) मिले हैं। उनमें कुछ अभिलेखों के रचयिता सोमेश्वर ही हैं। इनका काल १२४१ तथा १२५५ ई० है। एक अन्य अभिलेख का समय १२३२ ई० है। अतः इस महाकाव्य का रचनाकाल १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। सोमेश्वर का जीवनकाल डॉ० विन्टरनित्स के अनुसार ११७९ से १२६२ ई० तक था। सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी के अतिरिक्त १५ सर्गों का अन्य महाकाव्य 'सुरथोत्सव' भी लिखा था। '**कीर्तिकौमुदी**' नौ सर्गों का काव्य है। इसके आरम्भ में सोमेश्वर ने अनेक प्राचीन कवियों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं। अणहिलपाटन का वर्णन करके चालुक्य-नरेशों का क्रमिक वृत्त द्वितीय सर्ग में कवि ने निरूपित किया है। वस्तुपाल का चरित तृतीय सर्ग से आरम्भ होता है। बीच-बीच में प्राकृतिक वर्णन भी किये गये हैं। सर्गों में उपजाति तथा अनुष्टुप् छन्दों का मुख्य रूप से कवि ने प्रयोग किया है। कवि की सूक्तियाँ प्रभावोत्पादक हैं जैसे- **परकष्टे विनष्टे हि सतां प्रीतिः प्रचीयते** (८/२), **उत्पत्तिरुत्तमार्ना हि रिक्तपूरणहेतवे** (४/२५) इत्यादि।

वस्तुपाल के ही पुण्यकार्यों का वर्णन करनेवाला अन्य काव्य '**सुकृतसंकीर्तन**' है जो अरिसिंह द्वारा ग्यारह सर्गों में लिखा गया। अरिसिंह वस्तुपाल के समकालीन कवि थे। अरिसिंह अमरचन्द्र नामक एक अन्य कवि के मित्र भी थे जिससे इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में अन्तिम पाँच पद्य अमरचन्द्र ने जोड़े हैं। दोनों ने मिलकर कवि-शिक्षा से सम्बद्ध एक सूत्र-ग्रन्थ 'कविकल्पलता' के नाम से लिखा था, इसकी वृत्ति भी उन्होंने लिखी थी। अरिसिंह का आविर्भाव-काल भी १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। 'सुकृतसंकीर्तन' की रचना १२२९ ई० के लगभग हुई थी। इसका प्रकाशन बम्बई से सिंधी जैन ग्रन्थमाला में १९६१ ई० में हुआ। 'कीर्तिकौमुदी' भी उसी ग्रन्थमाला में उसी वर्ष प्रकाशित हुई थी। 'सुकृतसंकीर्तन' में अणहिलपाटन की स्थापना चालुक्यवंशीय मूलराज आदि राजाओं का वर्णन, वीरधवल का राजा बनना, वस्तुपाल और तेजःपाल की मन्त्रिपद पर नियुक्ति, वस्तुपाल की संघ-सहित तीर्थयात्रा, गिरनार-दर्शन, सोमनाथ

दर्शन, एवं वस्तुपाल के विविध कल्याण-कार्य - ये विषय क्रमशः वर्णित हैं।

वस्तुपाल के जीवन-चरित से सम्बद्ध एक अन्य महाकाव्य **'वसन्तविलास'** (१४ सर्ग) है जिसे हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि ने लिखा था। प्रथम सर्ग में लेखक ने अपना वृत्तान्त वर्णित किया है। यह महाकाव्य वस्तुपाल की मृत्यु के बाद १३ वीं शताब्दी ई० के अन्त में लिखा गया था। इन काव्यों से गुजरात के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। परम्परागत प्राकृतिक वर्णनों का भी इनमें समावेश है।

विजयनगर-राज्य के राजपरिवार की कवयित्री **गङ्गादेवी** ने १३७१ ई० के बाद **'मधुराविजय'**[1] नामक महाकाव्य आठ सर्गों में लिखा था। इसकी लेखिका गङ्गादेवी विजयनगर के राजा कम्पण की पत्नी थी। अपने पति की दक्षिण-विजय का वृत्तान्त इस महाकाव्य में उन्होंने निरूपित किया है। कम्पण (या कम्पराय) का राज्यकाल १३६१ ई० से १३७२ ई० तक माना जाता है। कम्पण ने १३७१ ई० में मदुरा (मदुरई) का राज्य मुस्लिम शासकों से छीना था। इसी विजय के स्मारक के रूप में यह महाकाव्य लिखा गया। इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में पूर्ववर्ती कवियों की प्रशस्तियाँ प्रस्तुत हैं। इसके बाद विजयनगर का इतिहास दिया गया है। बुक्क ने इस राज्य की स्थापना की थी। बुक्क के तीन पुत्रों में कम्पण ज्येष्ठ था। कम्पण की विशिष्टताओं तथा विजय-यात्राओं का वर्णन इसमें विस्तार से दिया गया है। सप्तम सर्ग में कम्पण और गंगादेवी का संवाद वर्णित है जिसमें पति के अनुरोध से कवयित्री ऋतुवर्णन करती है। अष्टम सर्ग में एक महिला से दक्षिण के मन्दिरों की दुर्दशा का वर्णन सुनकर कम्पण मदुरा पर आक्रमण करके वहाँ के आततायी सुल्तान को युद्ध में मार देता है। अनेक मन्दिरों को वह दान देता है। यह कृति अपूर्ण ही प्राप्त हुई है, बीच के सर्गों में भी कुछ पृष्ठ खण्डित मिले हैं। गङ्गादेवी की काव्यशैली कालिदास से अत्यधिक प्रभावित है।[2] कम्पण का वर्णन करते हुए इस महाकाव्य में उपमा का प्रयोग इस प्रकार किया गया है-

स नव्यतारुण्य-निरस्तशैशवो
विभुर्विभक्तावयवो व्यराजत।
वसन्त-निर्धूत-तुषार-मण्डलः
पतिर्दिनानामिव तीव्र-दीधितिः॥ (३/५)

इस महाकाव्य का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व समान कोटि का है।

जैन कवि **नयचन्द्र**-कृत **'हम्मीरमहाकाव्य'** १४ सर्गों की रचना है जिसमें चौहान राजाओं की परम्परा में हम्मीर का यशोगान किया गया है। अजमेर तथा रणस्तम्भपुर के इतिहास के ज्ञान के लिए यह किसी अन्य स्रोत से अधिक उपादेय है। इसके अन्तिम सर्ग में कवि ने अपना जीवनवृत्त वर्णित किया है। इसका रचनाकाल १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध (१४५०-१५०० ई०) है। १४९६ ई० में लिखी गयी इसकी एक प्रतिलिपि मिली है जो फिरोजपुर में जयसिंह सूरि के

---

१. जी० हरिहर शास्त्री तथा वी० श्रीनिवास शास्त्री के सम्पादन में विस्तृत भूमिका सहित १९१६ ई० में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित।

२. तुलनीय- मधुराविजय १/७   दासतां कालिदासस्य कवयः के न बिभ्रति।
इदानीमपि तस्यार्थमुपजीवन्त्यमी यतः॥

शिष्य नयहंस के पढ़ने के लिए बनी थी। हम्मीर अलाउद्दीन खिलजी का समकालिक राजा था जिसने उस सुल्तान की सेना से युद्ध किया था। अन्त में अपने सैनिकों के छल के कारण उसे आत्महत्या करनी पड़ी।[1] शरणागतवत्सलता के कारण हम्मीर अमर हो गया। अलाउद्दीन का शासनकाल १२६९ से १३१६ ई० तक था। इसी अवधि में हम्मीर की मृत्यु हुई। अतः यह काव्य इसके नायक के समय के १५० वर्षों के बाद लिखा गया था। इसका प्रथम संस्करण एन्० जे० कीर्तन ने १८७९ ई० में प्रकाशित किया था।

रुद्रकवि-रचित **'राठौरवंशकाव्य'** १६ वीं शताब्दी की रचना है जिसमें २० सर्ग हैं। मयूरगिरि के बागुल राजाओं का इतिहास इसमें दिया गया है जो राठौर वंश के संस्थापन से लेकर कवि के आश्रयदाता नारायण शाह के कालतक चलता है। इसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज (सं० ५) में १९१७ ई० में हुआ है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों की संख्या यद्यपि कम है किन्तु अनुमान होता है कि संस्कृत कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के सम्मान में, उनकी वंशावली की तथा उनके अपने कार्यों की प्रशंसा में, अवश्य ही अनेक काव्य लिखे होंगे जो अनुपलब्ध हैं। राजाओं की प्रशस्तियाँ कुछ कवियों के द्वारा अपने आश्रयदाताओं को काव्यात्मक प्रतिदान के रूप में रची गयीं तो कुछ कवियों ने निःस्वार्थ-रूप से केवल काव्य-रचना के उद्देश्य से प्राचीन-अर्वाचीन राजाओं, धर्मनेताओं या जननेताओं की जीवनी महाकाव्य के रूप में लिखी। शिवराज्योदय, छत्रपतिचरित, गान्धिचरित, दयानन्ददिग्विजय, विवेकानन्दचरित, स्वराज्यविजय, नेहरूचरित, इन्दिरागान्धीचरित, गुरुगोविन्दसिंहचरित आदि आधुनिक युग के प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य हैं जो प्रकाशित हो चुके हैं।

इधर हाल में (१९९४ ई०) **डॉ० काशीनाथ मिश्र** (पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष) ने मिथिला-प्रदेश के कार्णाट-राजाओं के शासनकाल (१०९७-१३२४ई०) के वर्णन से सम्बद्ध **'कार्णाटराजतरङ्गिणी'**[2] नामक काव्य ११ तरङ्गों में लिखा है। राजतरङ्गिणी की शैली में विन्यस्त यह काव्य इतिहास-रस को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। आख्यान एवं प्रामाणिक घटनाओं का नीर-क्षीर-विवेक करते हुए कवि ने मिथिला के सांस्कृतिक इतिहास कोभी यथातथ्य विन्यस्त किया है। प्रसङ्गवश तात्कालिक भारतीय इतिहास भी इसमें निष्पक्ष-भाव से प्रस्तुत है। कार्णाट-राज्य की स्थापना १०९७ ई० में मिथिला के 'सिमरावँगढ' में नान्यदेव ने की थी। इस वंश में क्रमशः मल्लदेव और गङ्गदेव (दोनों नान्यदेव के पुत्र), नरसिंहदेव, रामसिंहदेव, शक्रसिंहदेव एवं हरिसिंहदेव हुए। रामसिंहदेव (१२२५-१२८३ई०) का शासनकाल अपेक्षाकृत लम्बा था। इस काल की दो विशिष्ट घटनाओं पर कवि ने दो तरङ्गों (७ तथा ८) में प्रकाश डाला है– उत्तरी भारत में विशेष रूप से नालन्दा विहार में तुर्कों का विध्वंस-कार्य तथा धर्मस्वामी नामक तिब्बती बौद्ध भिक्षु का भारत-भ्रमण। इस भिक्षु ने अपनी यात्रा का वर्णन भी लिखा है।[3] शक्रसिंह

---

१. हम्मीर के युद्धों का इसमें रोमांचकारी वर्णन है जिससे उसके प्रति श्रद्धा होती है। मुस्लिम सुल्तान की भेद-नीति और षड्यन्त्रों का चित्रण भी इसमें किया गया है।

२. जनरल बुक एजेन्सी, पटना से १९९४ ई० में प्रकाशित।

३. Biography of Dharma Svāmin (Eng. Trans), K. P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1959.

की अलाउद्दीन खिलजी से मित्रता थी जिसके कारण हम्मीर पर आक्रमणकारियो में वे भी थे। कवि ने रामसिंह के इस कार्य की युक्ति दी है—

> सुरत्राणकृतात्कोपाद् रक्षितुं मैथिलप्रजाः ।
> शक्रसिंहो व्यधात्साह्यं रणेऽस्मिँस्तस्य भूभृतः ।। (९/१०४)

महाराज हरि सिंह बड़े धर्मपालक तथा प्रजा के लिए कल्याणकार्य करने वाले राजा थे किन्तु तात्कालिक तुर्क-आक्रमण को झेल न सके। उनके नेपाल-प्रयाण से ही मिथिला में इस राजवंश का विनाश हो गया। काव्य और इतिहास के सुन्दर समन्वय से युक्त इस ग्रन्थ में तथ्यों की प्रामाणिकता उत्कृष्ट कोटि की है।

अध्याय-१४

गीतिकाव्य

संस्कृत भाषा में कुछ ऐसे छोटे-बड़े काव्य मिलते हैं जिनका विषय शृंगार, नीति, भक्ति, वैराग्य आदि है और जिनमें आत्माभिव्यञ्जन की प्रधानता है, विषयवर्णन की नहीं। इन काव्यों को पाश्चात्य विद्वानों ने गीतिकाव्य या 'लिरिक' (Lyrical poetry) कहा है। यूरोप में शोक, प्रेम आदि मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति करनेवाली गीत-प्रधान कविताओं को 'लिरिक' कहा जाता है। यूनान में वीणा (lyre) की सहायता से ऐसी कविताओं को गाया जाता था, सुननेवाले इनसे अद्भुत आनन्द पाकर आत्मविस्मृति की दशा में चले जाते थे। अन्य सभी रचनाओं की अपेक्षा इन गीतिकाव्यों में प्रभावोत्पादकता अधिक होती है। जीवन के किसी एक ही मार्मिक पक्ष का इनमें निरूपण होता है किन्तु साधारणीकरण इतनी त्वरा के साथ होता है कि श्रोता तत्काल आनन्दलोक में चला जाता है।

कुछ विद्वानों ने 'गीतिकाव्य' को संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित 'खण्डकाव्य' से अभिन्न समझा है। महाकाव्य के कथानक के एक खण्ड पर आश्रित रचना ही खण्डकाव्य है (**खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च**, साहित्यदर्पण ६/२३९)। अनिवार्य रूप से यह काव्य प्रबन्धात्मक होता है, शास्त्रीय दृष्टि से यह छोटा काव्य (८ सर्ग से कम) होता है, वर्णन की इसमें प्रधानता रहती है। आधुनिक समीक्षा की दृष्टि से खण्डकाव्य और गीतिकाव्य में भेद होता है। खण्डकाव्य वस्तुवर्णनपरक अर्थात् बहिरङ्ग का प्रतिपादक होता है जबकि गीतिकाव्य आत्माभिव्यक्ति-प्रधान होता है। गीतिकाव्य प्रबन्धात्मक के अतिरिक्त मुक्तक भी होता है जिसमें प्रत्येक पद्य स्वच्छन्द भावोच्छ्‌वास से पूर्ण रहता है।

मुक्तक काव्य के प्रति संस्कृत काव्यशास्त्रियों का मतभेद रहा है। वामन ने अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य के प्रति अरुचि दिखायी है— **नानिबद्धं चकास्त्येकतेजःपरमाणुवत्** (काव्यालङ्कारसूत्र १/३/२९) अर्थात् जैसे अग्नि का एक परमाणु प्रकाशित नहीं होता, वैसे ही मुक्तक काव्य प्रकाश नहीं पाता है। उन्होंने उद्धरण भी दिया है— **असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता** (वहीं)। दूसरी ओर आनन्दवर्धन इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि मुक्तक काव्यों में भी, प्रबन्धकाव्य के समान, रस का निवेश करनेवाले कवि होते हैं -**मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते** (ध्वन्यालोक ३/७ की वृत्ति)। अग्निपुराण भी इस तथ्य का समर्थक है — **मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्** (३३७/३६)।

गीतिकाव्य का लक्षण

गीतिकाव्य वह काव्य-प्रकार है जिसमें कवि अपने अन्तरङ्ग में स्थित कोमल भावों में से किसी एक को केन्द्र में रखकर कल्पना शक्ति के द्वारा उसे गेय बनाकर संक्षिप्त रूप में प्रकट करता है। हृदय में स्थित भाव का अतिरेक होने पर ही गीतिकाव्य की अभिव्यक्ति होती है। ऐसी रचना निर्मित की नहीं जाती, इसकी स्वतः स्फूर्ति होती है। कवि का हृदय सुख-दुःख या किसी

धार्मिक-नैतिक भावना से उद्वेलित होकर सहसा काव्य के रूप में फूट पड़ता है। चिरकाल से उसकी सँजोई हुई कल्पना प्रवाहित होने लगती है तथा गेय छन्दों या रागों में मृदु शब्द निर्गत होने लगते हैं। गीतिकाव्य के द्वारा कवि अपने हार्दिक आवेगों को परगम्य बना देता है तो उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इसीलिए आधुनिक विद्वानों ने गीतिकाव्य के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं- भावातिरेक, कल्पना और संगीत। जहाँ तक भावातिरेक का सम्बन्ध है वह किसी कोमल भाव का ही हो, रौद्र भाव का नहीं। प्रेम, शोक, भक्ति, नीति, वैराग्य आदि की भावनाएँ संस्कृत भाषा की गीतियों का विषय रही हैं। वैसे तो कवि और भावक (आलोचक, रसास्वाद लेने वाला) के विषय में कहा गया है कि संसार के सभी विषयों को उनके द्वारा उद्भावित किया जा सकता है जिससे वे विषय रस और भाव का रूप ले लेते हैं, किन्तु गीतिकाव्य में सभी विषय नहीं आ सकते— केवल कोमल भावों का अतिरेक ही इनमें आवेगपूर्वक स्फुरित होता है। इन भावों का परस्पर मिश्रण भी अपेक्षित नहीं हैं, शोक में शृङ्गार या शृङ्गार में नीति का या वैराग्य का मिश्रण असंगत है। इसीलिए किसी एक भाव को केन्द्रित करके ही गीतिकाव्य का स्फुरण होता है। भर्तृहरि ने नीति, शृङ्गार और वैराग्य को पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त किया है।

संक्षिप्तता भी गीतिकाव्य का प्रमुख लक्षण है। आवेग को विस्तार प्रदान करने से एक ही भाव की आवृत्ति होने लगती है, नीरसता छा जाती है। इसीलिए गीतिकाव्य प्रबन्ध-काव्यों का विस्तार नहीं पा सकते। कवि अपने आवेग को अत्यन्त संक्षेप में व्यक्त करता है, तभी वह गीतिकाव्य हो सकता है। इस संक्षिप्त रूप के बलपर काव्य का साधारणीकरण होता है — कवि की आत्मनिष्ठ अनुभूति जन-जन में पहुँच जाती है, प्रत्येक पाठक उसे अपनी अनुभूति मान लेता है। अन्त में गेयात्मकता का भी स्थान है। आरम्भ में यही तत्त्व प्रधान था जैसा कि इस काव्य-प्रकार के नाम से पता चलता है। गेयात्मक होने पर ही किसी काव्य को 'गीति' कह सकते हैं। संस्कृत के कुछ छन्दों में गान-तत्त्व अधिक है, इसीलिए कवियों ने इन छन्दों को गीतिकाव्यों में निविष्ट किया है। जयदेव-जैसे कवियों ने शुद्ध संगीतमय रागों का ही प्रयोग किया है। संक्षेप में 'गीतिकाव्य' का यह लक्षण दिया जा सकता है—

> **भावानामात्मनिष्ठानां कल्पनावलितं लघु ।**
> **स्फुरणं गेयरूपेण गीतिकाव्यं निगद्यते ।।**

संस्कृत- गीतिकाव्यों का स्वरूप तथा भेद

संस्कृत गीतिकाव्यों में मुख्य रूप से शृङ्गार, नीति, विरह, वैराग्य, भक्ति, ऋतुवर्णन, देवस्तुति आदि में से किसी एक विषय को चुनकर उसे संवेगात्मक अभिव्यक्ति दी गयी है। मानव को अभिभूत करने के लिए इनमें आत्मा और विषय का साक्षात् संवाद निरूपित हुआ है क्योंकि आत्मा की स्वरूपोपलब्धि के बिना आनन्द की कल्पना सम्भव नहीं है। 'शृङ्गार' में प्रेमी-प्रेमिका के संयोग का, 'नीति' में नैतिक शिक्षाओं की महत्ता का, 'विरह' में प्रिय या प्रिया की उत्सुकता का, 'वैराग्य' में सांसारिक विषयों की क्षणभंगुरता का, 'भक्ति' में आराध्य देव के प्रति अनुरागातिशय का, 'ऋतुवर्णन' में विभिन्न ऋतुओं के अनुरूप प्राकृतिक परिवेश में मानवीय भावनाओं का और देवस्तुतियों में देव-विशेष की महिमा का संस्कृत कवियों ने स्वानुभूत अभिव्यञ्जन किया है।

सभी गीतिकाव्यों में रसोद्भावन अनिवार्य तत्त्व है। उपर्युक्त विषयों में शृङ्गार, करुण तथा शान्त रस की निष्पत्ति होती है। शृङ्गार के अन्तर्गत संयोग और विप्रलम्भ दोनों रसों की पुष्टि हुई है। 'अमरुशतक' संभोग शृङ्गार का गीतिकाव्य है तो 'मेघदूत' विप्रलम्भ शृङ्गार का। शान्तरस के अन्तर्गत भक्ति, माधुर्य और वैराग्य-मूलक गीतिकाव्यों को रखा जाता है। किसी इष्ट जन के विनाश या स्थायी वियोग में करुण रस की निष्पत्ति होती है। केवल इन्हीं रसों का निवेश संस्कृत गीतिकाव्यों में होता है; अद्भुत, भयानक, बीभत्स आदि रसों का नहीं। मातृभूमि की वन्दना आदि में ईषद् वीररस की उद्भावना वाली गीतियाँ भी वर्तमान युग में आयी हैं।

संस्कृत गीतिकाव्यों में भाषा और भाव का समन्वय होता है। कुछ गीतिकाव्य (जैसे- जयदेव का गीतगोविन्द) तो 'कोमल- कान्त- पदावली' से सर्वत: आच्छन्न रहते हैं किन्तु अनेक वैसी अनुप्रास-युक्त एवं नाद-सौन्दर्य से अनुप्राणित न होने पर भी भाव-सौन्दर्य तथा गेयात्मकता से परिपूर्ण हैं जैसे - शिवमहिम्न:स्तोत्र। गुणों की दृष्टि से संस्कृत गीतिकाव्यों में प्रसाद तथा माधुर्य का समावेश रहता है। कोमल प्रकृति का चित्रण, प्रेम एवं विरह का उदार निरूपण, जीवन के हर्ष-विषाद की उद्दाम अभिव्यक्ति, आराध्य के प्रति सविनय समर्पण, अपने रागात्मक भावों का प्रसारण तथा कान्ता-सौन्दर्य का रेखाङ्कन इन्हीं गुणों की अपेक्षा गीतिकाव्य रखता है।

संस्कृत गीतिकाव्यों के दो वर्ग हैं— (१) शृङ्गारमूलक तथा (२) भक्तिमूलक (स्तोत्रकाव्य)। सामान्य रूप से भक्तिमूलक गीतिकाव्य 'स्तोत्र' कहलाते हैं जिनमें अपने आराध्य देवता, गुरु या आचार्य के प्रति श्रद्धा-समन्वित काव्यकुसुमाञ्जलि अर्पित की जाती है। शृङ्गारमूलक गीतिकाव्यों में ऋतुवर्णन, सन्देश-प्रेषण, प्रेम तथा विरह की भावनाओं के आवेग आदि प्रकाशित होते हैं। इनका निरूपण पृथक्-पृथक् किया गया है।

उद्भव तथा विकास

गीतिकाव्य का उद्गम ऋग्वेद की ऋचाओं से माना जाता है। उनमें अग्नि, इन्द्र, विष्णु आदि देवों के प्रति विविध ऋषियों के द्वारा की गयी स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। भक्तों का समर्पण-भाव इन स्तुतियों में श्लाघनीय है। इन्द्र के प्रति एक ऋचा में कहा गया है—

तुञ्जे-तुञ्जे य उत्तरे, स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिण:।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ।। (ऋ०१/७/७)

अर्थात् विविध वस्तुओं का दान करनेवाले अन्य देवों के लिए जो स्तोत्र (अच्छे माने जाते) हैं उन्हें मैं इन्द्र की स्तुति के लिए उपयुक्त स्तोत्र नहीं मानता। प्रजापति की स्तुति में हिरण्यगर्भ-सूक्त (ऋ० १०/१२१) उत्कृष्ट गीतिकाव्य है जिसके प्रत्येक मन्त्र के अन्त में आया है - **कस्मै देवाय हविषा विधेम**। इन्द्र के कई स्तोत्रों में उनके वीरकर्मों का वर्णन है जिससे ओजस्विता का संचार होता है जैसे-

य: पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्, य: पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो, यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्र: ।।[1]

---

१. ऋग्वेद २/१२/२

ऋग्वेद में ही प्रभातकाल की देवी उषा का वर्णन उसके सौन्दर्य-पक्ष को विशेष रूप से अङ्कित करके किया गया है। 'जिस प्रकार काम से पीड़ित कोई स्त्री सुन्दर वस्त्र धारण करके अपने पति के समक्ष अपने रूप को प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार उषा हँसमुख तरुणी की भाँति अपने को विवृत करती है' (**जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः**, ऋ० १/१२४/७ उत्तरार्ध)। हे उषा देवी, तुम अमर हो, चमकीले रथ पर चलती हुई सत्य-प्रिय-वाणी (सूनृता) को संचालित करके तुम बहुत शोभा पाओ, तुम्हारा रंग सोने जैसा है; विस्तृत तेज वाले सुनियन्त्रित अश्व तुम्हें यहाँ ले आयें—

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि, चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये ॥[१]

इसी प्रकार अथर्ववेद में भूमि की स्तुति में गीति-काव्य का विन्यास है। पृथ्वी देवी के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति ६३ मन्त्रों में अथर्वा ऋषि ने की है (अथर्ववेद १२/१)। पृथ्वी के प्रत्येक गुण का वर्णन इस प्रसङ्ग में हुआ है। सामवेद का संगीत-पक्ष गीतिकाव्य के अनन्य गुण को विशेष रूप से धारण करता है। इसीलिए वैदिक युग ही संस्कृत गीतिकाव्य के उद्भव के लिए ठोस धरातल देता है।

रामायण का उदय गीतिकाव्य के रूप में ही हुआ है। इसमें स्थल-विशेष पर ऋतु-वर्णन, स्त्री-सौन्दर्य का चित्रण, विरह-वर्णन, देव स्तुति आदि गीतितत्त्व को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हैं। महाभारत में प्राप्त होनेवाली स्तुतियाँ भी गीतिकाव्य के सोपान के रूप में स्वीकृत हैं। गीता के एकादश अध्याय में भगवान् कृष्ण का विराट् रूप-वर्णन प्रकृष्ट स्तोत्र-काव्य है। पुराणों में भागवत, विष्णु, नारद आदि विविध देवों की स्तुतियों से भरे हैं।[२] अध्यात्म-रामायण में भी राम की स्तुति ब्रह्म के रूप में की गयी है।

यहाँ क्रमशः गीतिकाव्य (लौकिक, शृंगारमय) तथा स्तोत्रकाव्य का विवेचन लौकिक संस्कृत साहित्य के सन्दर्भ में किया जाता है।

शृङ्गारमूलक गीतिकाव्य

(Erotic Lyrics)

शृङ्गारमूलक संस्कृत गीतिकाव्यों का विषय जीवन का भौतिक सुख है जिसमें स्त्रियों के सौन्दर्य, हाव-भाव, विलास आदि का वर्णन करते हुए उनके प्रति पुरुष के आकर्षण का चित्रण हुआ है। शृङ्गार के स्थायी भाव 'रति' को आधार बनाकर नायक-नायिका के परस्पर

---

१. ऋग्वेद ३/६१/२

२. भागवतपुराण के स्तोत्रों पर पण्डित रामनारायण मिश्र ने दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं-
(क) **श्रीमद्भागवत स्तोत्रों के आधार : शास्त्रीय अनुशीलन,**
(ख) **श्रीमद्भागवत-गीतों का शास्त्रीय अनुशीलन**। —ये क्रमशः मधुरा (१९८९ ई०) तथा पटना (१९९१ ई०) से प्रकाशित हैं।

संयोग का ही नहीं, वियोग का भी वर्णन इन काव्यों में किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने शृङ्गाररस के विवेचन के प्रसङ्ग में नायिकाओं की विविध अवस्थाओं और भेदों का निरूपण किया है।[1] इन गीतिकाव्यों में इन विवेचनों का पूर्ण उपयोग किया गया है जिससे ये काम-विलास के उद्दाम चित्र प्रस्तुत करते हैं। कवियों ने ये वर्णन वस्तुतः विद्वानों (समीक्षकों) की आराधना के उद्देश्य से किये हैं, न कि सामान्य पाठकों को काम-क्रीड़ा की शिक्षा देने के लिए। काम भी काव्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है; अतएव उसका चित्रण शृङ्गारमूलक गीतिकाव्यों में, कतिपय महाकाव्यों में निर्दिष्ट चित्रण के समान, किया गया है। इस प्रसङ्ग में काव्यशास्त्री रुद्रट की स्पष्ट घोषणा है—

> **न हि कविना परदारा एष्टव्या नापिचोपदेष्टव्याः ।**
> **कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ।।**
> **किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।**
> **आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र ।।**[2]

अर्थात् कवि को न तो परस्त्री की कामना करनी चाहिए और न ही दूसरे लोगों (श्रोताओं या पाठकों) के कर्त्तव्य के रूप में ऐसा उपदेश देना चाहिए; परस्त्रीप्राप्ति का उपाय भी बतलाना नहीं चाहिए। कवि तो केवल काव्याङ्ग मानकर स्त्रियों का व्यवहार निरूपित करता है, इसका उद्देश्य समीक्षकों की आराधना मात्र है; अतः कवि का इस विषय में कोई दोष नहीं है।

उपर्युक्त दृष्टि से ही संस्कृत में मेघदूत, शृंगारशतक, अमरुशतक तथा चौरपञ्चाशिका जैसे उत्कृष्ट शृंगारपूर्ण गीतिकाव्य लिखे गये हैं जिनमें नारी-प्रेम के उदात्त और शुद्ध रूप प्रकट होते हैं। यहाँ प्रकृति-चित्रण भी सहायक उपादान के रूप में स्वीकृत होता है। इन गीतिकाव्यों का स्वरूप सामान्य रूप से मुक्तक का है जिसमें प्रत्येक पद्य स्वाधीन चित्र प्रस्तुत करता है, 'मेघदूत' जैसे कुछ काव्य अवश्य ही इसके अपवाद-स्वरूप प्रबन्धात्मक हैं।

संस्कृत में निम्नांकित गीतिकाव्य महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) ऋतुसंहार

यह कालिदास की प्रामाणिक कृति के रूप में छह सर्गों का गीतिकाव्य है जिसमें ग्रीष्म से आरम्भ करके वसन्त तक छहों ऋतुओं का शृङ्गारमय वर्णन है। इसमें १४४ पद्य हैं। कालिदास की अन्य कृतियों के समान इसमें परिष्करण नहीं है। इससे कुछ विद्वान् इसकी प्रामाणिकता (कालिदास की रचना होने) पर सन्देह व्यक्त करते हैं किन्तु बहुसंख्यक विद्वानों का मत है कि

---

१. दशरूपक-कार धनञ्जय ने स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री के रूप में नायिकाओं के तीन भेद करके (२/१५) स्वकीया को मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन भेदों में, परकीया को कन्या और परिणीता दो भेदों में एवं साधारण को गणिका कहकर निरूपित किया है। सभी नायिकाओं की आठ अवस्थाएँ हैं— वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका। (दशरूपक २/२३-२७)।

२. रुद्रट— काव्यालङ्कार १४/१२-३।

यह उनका तरुण प्रयास था। अतएव 'उच्चाशयता तथा अभिव्यक्ति की चारुता' का इसमें अभाव है। रचना की प्रौढि न होने पर भी 'ऋतुसंहार' का विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि संस्कृत भाषा में ऋतुओं के सर्वाङ्गपूर्ण सौम्यवर्णन पर यह एकमात्र काव्य है। प्रेमी-प्रेमिका के विलास की दृष्टि से ऋतुओं का हृदयहारी वर्णन कवि ने किया है। इसका आरम्भ ग्रीष्म की प्रचण्डता के वर्णन से[1] और अन्त वसन्त के मादक सौन्दर्य के चित्रण से हुआ है। वसन्त के आने पर कवि की दृष्टि में सभी पदार्थ सुन्दरतर हो जाते हैं—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं, स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः, सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते।। (६/२)

इस काव्य की भाषा सरल और स्वाभाविक प्रवाह से पूर्ण है। कवि ने अनुप्रासयुक्त पद-विन्यास किया है। पद्यों में मुक्तक काव्य की छटा है, यद्यपि वे नायक के द्वारा नायिका को सम्बोधित होने के कारण परस्पर बँधे हुए हैं। सरलता और सहजगम्य होने के कारण मल्लिनाथ जैसे टीकाकार ने इसपर टीका नहीं लिखी। कवि के तरुण प्रयास के कारण इसमें काम-वृत्ति का आदर्शोन्मुख परिष्कार भी नहीं है, सम्भवतः इसीलिए समीक्षकों ने इस काव्य के उद्धरण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं दिये हैं। फिर भी इसमें कल्पना-शक्ति और पद-शय्या के चमत्कारी उदाहरण मिलते हैं। शिशिर-वर्णन में कवि कहते हैं कि इस ऋतु में अब न तो किसी को चन्द्रमा की किरणों से शीतल किया हुआ चन्दन का लेप अच्छा लगता है, न शरद् की चन्द्रमा के समान उजली छतें अच्छी लगती हैं और न घनी ओस से शीतल वायु ही किसी को भाता है—

न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं, न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला, जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम्।। (५/३)

ऋतुसंहार में मानव और प्रकृति दोनों का चित्रण उनके उद्दीपक रूप में हुआ है। शरद् ऋतु के वर्णन में कालिदास ने रूपकों का विपुल प्रयोग किया है, प्रकृति की उपमा मानव से और मानव की उपमा प्रकृति से दी है जैसे—

चञ्चन्मनोज्ञ-शफरी-रसनाकलापाः
पर्यन्त-संस्थित-सिताण्डज-पङ्क्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्त-नितम्बबिम्बा
मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य।। (३/३)

अर्थात् इस शरद् ऋतु में नदियाँ उसी प्रकार धीमे-धीमे बह रही हैं, जैसे कमरधनी और माला पहने हुए बड़े नितम्बों वाली कामिनियाँ जा रही हों; उछलती हुई शफरी मछलियाँ उन नदियों की कमरधनी हैं, तट पर बैठे श्वेत पक्षियों की पंक्तियाँ मालाएँ हैं तथा ऊँचे-ऊँचे रेतीले टीले उनके नितम्ब हैं। शरद्-वर्णन के आरम्भ और अन्त दोनों स्थलों पर कवि ने कामिनी का

---

१. ऋतुसंहार १/१
प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसञ्चयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये।।

रूपक दिया है।[1]

(२) मेघदूत

यह कालिदास की प्रसिद्ध गीति-रचना है जिसे प्रबन्धात्मकता के कारण परम्परा से खण्डकाव्य कहा गया है। आधुनिक समीक्षक इसे गीतिकाव्य का प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहते हैं। मन्दाक्रान्ता छन्द में रचित केवल ११५ पद्यों की यह लघुकाय कृति दो भागों में विभक्त है- पूर्वमेघ (६३ पद्य) तथा उत्तरमेघ (५२ पद्य)। मेघदूत के श्लोकों की संख्या के विषय में बहुत मतभेद है। टीकाकार-शिरोमणि मल्लिनाथ ने १२१ पद्यों की व्याख्या की है किन्तु छह पद्यों को उन्होंने प्रक्षिप्त मानकर ११५ पद्यों को ही प्रामाणिक कहा है। विभिन्न संस्करणों में १०८ से लेकर १२७ श्लोक तक मिलते हैं।[2] मेघदूत के संस्करणों का देश-विदेश में बाहुल्य है। विल्सन ने १८१३ई० में इसका अंग्रेजी पद्यानुवाद अनेक विदेशी भाषाओं के समानान्तर उद्धरणों के साथ कलकत्ता से प्रकाशित किया था। निर्णयसागर प्रेस से इसका मल्लिनाथीय टीका के साथ सुन्दर संस्करण १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ था। मेघदूत पर प्राय: ५० प्राचीन टीकाएँ मिलती हैं। अनेक भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में इसके गद्य-पद्यानुवाद प्रकाशित हैं। 'माघे मेघे गतं वय:' का आभाणक भी इसके विषय में प्रसिद्ध है। कालिदास की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना यही है जिसमें उनकी प्रतिभा शिखर पर पहुँची है।[3]

मेघदूत का कथानक कल्पित है। कवि ने कल्पना की है कि अलकापुरी का निवासी कोई यक्ष अपनी प्रियतमा का परम अनुरागी था। उसके स्वामी कुबेर ने उसे एक वर्ष के लिए शाप देकर रामगिरि में भेज दिया। अपनी प्रिया के विरह में यक्ष ने रामगिरि के विभिन्न आश्रमों में रहकर आठ मास बिता लिये। वर्षाकाल के आरम्भ में पर्वत से क्रीडा करने वाले मेघ को देखकर वह अपनी उत्कण्ठा रोक नहीं सका तथा उसी के द्वारा अपनी प्रियतमा के पास अपना विरहसन्देश भेजने का उपक्रम करने लगा। काव्य के पूर्वभाग में मेघ का यथोचित स्वागत करके उसने रामगिरि से अलकापुरी तक का मार्ग बतलाया जिसमें माल प्रदेश, आम्रकूट, नर्मदा नदी, विदिशा नगरी, नीच-गिरि, निर्विन्ध्या नदी, उज्जयिनी, महाकाल मन्दिर, सिप्रा नदी, देवगिरि, चर्मण्वती नदी (चम्बल), कुरुक्षेत्र, सरस्वती नदी, कनखल, गंगानदी, हिमालय, क्रौञ्चरन्ध्र (नीति घाटी), कैलास और मानसरोवर का वर्णन रोचकता एवं भव्यता के साथ किया गया है।

---

१. ऋतुसंहार ३/१ प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ।
३/२८ विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना।
कुमुदरुचिरकान्ति: कामिनीवोन्मदेयं प्रतिदिशतु शरद् वश्चेतस: प्रीतिमग्र्याम्।।

२. मेघदूत पर विजयसूरि तथा मेघराज की टीकाओं में १२७; लक्ष्मीनिवास, सुमतिविजय और मेघलता में १२६; नेमिदूत और शीलदूत की टीकाओं में १२५, सरस्वती तीर्थ में १२३, चरित्रवर्धन में १२२, पार्श्वाभ्युदय में १२०, सिंहली व्याख्या में ११८, तिब्बती अनुवाद में ११७ पद्य मिलते हैं। विल्सन ने ११५, स्टेन्स्लर ने ११२, हुल्श तथा सुशील कुमार दे ने १११ पद्य तथा हर्टेल ने केवल १०८ पद्यों को ही मौलिक माना है।

३. मेघदूत से सम्बद्ध आलोचनात्मक विषयों के लिए देखें—डॉ० श्रीरञ्जनसूरिदेव कृत 'मेघदूत- एक अनुचिन्तन' मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (१९८५)।

उत्तरमेघ में अलकापुरी के वैभव का वर्णन करते हुए यक्ष ने कुबेर के राजप्रासाद के उत्तर में अवस्थित अपने घर की पहचान बतलायी। उस घर का प्राकृतिक वैभव देखकर मेघ को यक्षप्रिया के पास पहुँचना है। वह सुन्दरी होने पर भी इस समय खिन्न, मलिन, उदास, कृश तथा तुषाराहत कमलिनी के तुल्य होगी। मेघ को उसे पहचान कर कुशलता से संदेश देना है कि यक्ष उसके विरह में किस प्रकार समय बिता रहा है। वियोग के अवशिष्ट चार मासों को वह यक्षप्रिया आँखें बन्दकरके (धैर्य से) बिता ले, हमारा शीघ्र समागम होगा।

इस काव्य में 'नियतिकृतनियम-रहिता कवि-निर्मिति' का पूर्ण प्रयोग किया गया है क्योंकि अचेतन मेघ के द्वारा चेतनोचित सन्देश-वाहक का कार्य लिया गया है। किन्तु कवि ने इसके समर्थन के लिए यक्ष की प्रबल उत्सुकता का तर्क दिया है जिससे यक्ष में चेतनाचेतन का विवेक ही समाप्त हो गया—

> इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे।
> कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ (पूर्वमेघ, ५)

मेघ को मानव समझ कर ही यक्ष उसकी प्रशंसा करता है, मार्ग में उसे विविध दृश्यों से परिचित होने के लिए कहता है, उज्जयिनी की स्त्रियों से आँखें मिलाने का अनुरोध करता है तथा सन्देश की सूक्ष्म बातें सुनाता है।

इस काव्य के **कथानक के आधार** (या स्रोत) की विवेचना कई समीक्षकों ने की है। अधिसंख्यक विद्वानों का मत है कि कालिदास ने वाल्मीकीय रामायण से इसके कथानक की कल्पना ली थी। राम-सीता का वियोग, पवनपुत्र हनुमान् का वायुमार्ग से यात्रा करके दूतकार्य करना, हनुमान् और सीता का संवाद, अंगूठी देना आदि घटनाएँ मेघदूत में यक्ष-यक्षी वियोग, मेघ का दूतकार्य, मेघ-यक्षी-संवाद आदि घटनाओं में प्रतिबिम्बित हैं। मेघदूत में रामकथा का बार-बार संकेत मिलता है जैसे— जनक-तनयास्नानपुण्योदकेषु, रामगिर्याश्रमेषु (पूर्व०१), रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु (पूर्व० १२), इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा (उत्तर० ४०), एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा (उत्तर० ५२)। यक्ष भी राम के समान अपनी प्रिया के पास अभिज्ञान भेजकर अपने कुशल-क्षेम की सूचना देता है। रामायण की उपजीव्यता के विषय में मल्लिनाथ ने मेघदूत के प्रथम पद्य की टीका में लिखा है—सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवानित्याहुः।

कुछ विद्वान् महाभारत के नलोपाख्यान में वर्णित हंसदूत को मेघदूत का आधार बतलाते हैं। सम्भव है, मानवेतर दूत की कल्पना कवि ने इससे पायी हो। ब्रह्मवैवर्तपुराण में आषाढ कृष्ण की 'योगिनी' एकादशी के व्रत के प्रसङ्ग में कुबेर द्वारा यक्ष को शाप दिये जाने का वर्णन है कि यक्ष एक वर्ष के लिए मृत्युलोक में जाये। चीनी कवि स्यू काङ् (Hsiu-kan) ने २०० ई० में मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना की भी। किन्तु ये दोनों कालिदास के अनन्तर हुए, अतः इनके प्रभाव को मेघदूत का आधार नहीं कहा जा सकता।[1]

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ऋग्वेद की श्यावाश्व-कथा (ऋ० ५/६३-४) को मेघदूत का आधार बताया है। इस कथा में श्यावाश्व ने रथवीति की पुत्री मनोरमा के साथ अपने विवाह के लिए उसके पिता के पास रात्रि को दूत बनाकर भेजा था। यह प्राचीनतम दौत्य-प्रसङ्ग है।

वस्तुतः मेघदूत का कथानक कालिदास के अपने अनुभव, कल्पना एवं रामायण के परिचय का संयुक्त रूप है। कवि ने इसे सर्वथा मौलिक रूप दिया है जहाँ उसकी प्रतिभा का प्रकर्ष मुखर हो उठा है।

मेघदूत का भावपक्ष

कालिदास ने मेघदूत में मनोभावों की सुमधुर अभिव्यक्ति की है जो भाषा-सौन्दर्य के द्वारा अत्यन्त हृदयावर्जक रूप ले लेती है। 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानकर कवि ने इस काव्य के प्रत्येक वाक्य को रस से पूर्ण बनाया है। कुबेर के शाप से पीडित यक्ष का प्रेम ही यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस बनकर व्यक्त हुआ है। सहृदय पाठक इसकी पंक्तियों में आत्म-चित्रण पाकर यक्ष की भावनाओं में बह जाते हैं। व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अन्तरङ्ग को स्फुरित करने की शक्ति इस काव्य की प्रत्येक पंक्ति में विद्यमान है। मेघदूत में प्रकृति भी मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का साधन बनी है। निम्नाङ्कित पद्य में मध्यप्रदेश की निर्विन्ध्या नदी को मेघ की प्रेयसी बताकर उसके हाव-भाव का चित्रण किया गया है; उसकी मेखला पक्षियों के कलरव के रूप में ध्वनित हो रही है, आवर्त (भवँर) के रूप में नाभि दिखाई पड़ रही है, उसकी गति धीमी है, उस नदी के ऊपर उतर कर मेघ रस ले लेगा क्योंकि स्त्रियों के हाव-भाव ही प्रेमाभिव्यक्ति के पूर्व रूप होते हैं—

वीचि-क्षोभ-स्तनित-विहग-श्रेणि-काञ्ची-गुणाया:
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।। (१/३०)

अपने वियोग की तप्त भूमि पर यक्ष को सर्वत्र संयोग-ही-संयोग की दृश्यावली दिखाई पड़ती है और यह संयोग सुतराम् पुष्ट हो जाता है। कहा गया है - न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। इसीलिए जिस मेघ को यक्ष अपना सन्देश पहुँचाने के लिए अलकापुरी भेजता है उसे भी भावों से भर देता है। वह मेघ अपनी विद्युत्-रूप भार्या के साथ यत्र-तत्र विलास करेगा किन्तु अपने काम पर भी ध्यान रखेगा क्योंकि मित्र का काम उसे अवश्य करना है -

तां कस्यांचिद् भवनवलभौ सुप्त-पारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्न-विद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।। (१/४२)

भावों की मार्मिकता की दृष्टि से उत्तरमेघ महत्त्वपूर्ण है। उसमें यक्षप्रिया की विरहदशा का ही नहीं, अपितु यक्ष की अपनी दशा का भी मार्मिक निरूपण है। यक्षप्रिया की दीनावस्था अवश्य ही मेघ को रुला देगी -

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्त्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।। (२/३३)

अर्थात् अत्यधिक दु:ख से शय्या के मध्य में पड़े हुए, आभूषण-विहीन, कोमल शरीर को धारण करनेवाली वह अबला तुमसे भी नवीन जलरूपी आँसू गिरवायेगी। प्राय: द्रवीभूत हृदयवाले सभी लोग दयालु स्वभाव के होते हैं।

यक्ष की अपनी दशा भी अत्यन्त मार्मिक है। वियोग में वह रूठी हुई प्रियतमा का चित्र धातुओं के रंगों से शिलातल पर बनाकर अपने को उसके चरणों में गिराना चाहता है, इसी समय आँसुओं से उसकी दृष्टि लुप्त हो जाती है। आँखें भर जाने से वह चित्र में भी प्रिया का समागम नहीं पा सकता है, विधाता कितना क्रूर है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागै: शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्त:॥ (२/४५)

वर्णन-वैशिष्ट्य

कालिदास ने मेघदूत के लघु कलेवर में अनेक सुन्दर तथा हृदयावर्जक वर्णन किये हैं। उज्जयिनी तथा अलकापुरी के रमणीय चित्र उनमें प्रमुख हैं। उज्जयिनी-वर्णन के लिए कवि को विशेष अवसर निकालना पड़ा है क्योंकि रामगिरि से अलका के मार्ग में यह पुरी नहीं पड़ती, यहाँ जाने में 'वक्र: पन्था:' होता था। फिर भी इस पुरी के सांस्कृतिक महत्त्व की उपेक्षा कालिदास के लिए असह्य थी। उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर की आरती (सन्ध्या-पूजा), अभिसारिकाओं का अभिसार इत्यादि चित्र कवि-कल्पना के श्लाघ्य उत्पादन हैं। इसी प्रकार अलकापुरी का वर्णन करते हुए वहाँ की नारियों का शृङ्गार, प्राकृतिक छटा, आनन्दमय जीवन, यक्षों का भोग-विलास, कन्याओं की क्रीडा, वैभव-विलास आदि कवि की दृष्टि से नहीं बचे हैं। अलका की नारियों को शृङ्गार करने के लिए सभी ऋतुओं के उपादान सर्वदा सुलभ हैं (श्लोक-२), अकेला कल्पवृक्ष भी अनेक प्रसाधन के लिए पर्याप्त है क्योंकि सब कुछ देता रहता है (एक: सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्ष:, १२)। यक्ष का भवन प्रकृति के मध्य समस्त विलासों का संक्षिप्त संकलन-रूप है। तोरण-युक्त, बालमन्दार-वृक्ष से सम्पन्न, वापी और क्रीडाशैल के आवर्जक सौन्दर्य से आच्छन्न वह भवन किसे नहीं खींच लेगा?

कालिदास ने पूर्वमेघ में मार्ग का निरूपण करते हुए सभी उपादानों का समुचित परिप्रेक्ष्य में चित्रण किया है जैसे - नदियों (नर्मदा, निर्विन्ध्या, सिन्धु, गङ्गा), पर्वतों और तीर्थस्थानों का। संक्षिप्त होने पर भी ये वर्णन मुक्तकोचित स्पष्टता से सम्पन्न है। सभी वर्णनों में बाह्य प्रकृति का व्यापक परिवेश ध्यान में रखा गया है। जैसे विदिशा नगरी के निकटवर्ती 'नीच'-पर्वत का वर्णन करते हुए कवि ने एक ओर कदम्ब के खिले हुए पुष्पों पर ध्यान रखा है तो दूसरी ओर नगरी के निकट होने से गुफाओं में नागरिकों के विलास की भी चर्चा की है—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्सम्पर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पै: कदम्बै:।

यः पण्यस्त्री-रति-परिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्नागराणाम्।। (१/२७)

प्रकृति-वर्णन

कालिदास का मेघदूत मानव-प्रकृति तथा बाह्य (मानवेतर) प्रकृति के चित्रण का अपूर्व संगम-स्थल है। संख्या की दृष्टि से बाह्य प्रकृति के वर्णनवाले पद्य ही यहाँ अधिक हैं। यह प्रकृति भी मानवीय भावनाओं और अनुभूतियों से पूर्ण एक नायिका के रूप में है जिसमें अपने हाव-भाव और प्रणय-विलास के द्वारा सभी रसिकों को आकृष्ट करने की क्षमता है। मेघ एक चेतन दूतमात्र के रूप में ही चित्रित नहीं है; अपितु वह एक कर्मनिष्ठ, विश्वसनीय, स्नेहपूर्ण तथा अवसर के अनुसार काम करने वाला रसिक अनुज है। वह क्लान्त होने पर पर्वतों पर विश्राम करता है, प्यास लगने पर नदियों का जल पीता है (खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र, क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य १/१३)। वह नदियों से क्रीड़ा करता है (० पास्यसि स्वादु तस्मात्, सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि १/२६)। वह उज्जयिनी की रमणियों से आँखें मिलाता है (लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि १/२९)। महाकाल की आरती के समय गरजता है (कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम् १/३८), वेश्याएँ उसपर कटाक्षपात करती हैं, कहीं-कहीं अभिसारिकाओं को रात्रि में मार्ग दिखाता है (सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम् १/४१) किन्तु गर्जन को रोक रखता है। इसी प्रकार शिव-पार्वती के विहार स्थल में सघन बनकर सीढ़ी का काम भी वह करता है (सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी १/६४)। वही मेघ 'उत्तरमेघ' में यक्षप्रिया को सन्देश सुनाने के समय भावुक हो जाता है, कभी-कभी उसे आँसू भी चलने लगते हैं (२/३५ त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यम्) और छिपकर यक्षप्रिया को धीरतापूर्वक वह सन्देश भी सुनाने लगता है (२/४० वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः)। इस प्रकार प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण उपादान 'मेघ' भी विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न बनाया गया है।

कालिदास ने प्रकृति को सर्वत्र मानवोचित सुख-दुःख के भावों से सम्पन्न माना है। मेघ से पर्वत का मिलन बहुत दिनों पर होता है। इसीलिए समागम के समय पर्वत उष्ण अश्रुजल छोड़कर अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करता है—

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ।। (१/१२)

प्रकृति के सभी उपादानों के साथ कालिदास का रागात्मक सम्बन्ध है। ये उपादान हैं - गिरि, वन, उपवन, नदी, निर्झर, पुष्प, लता, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि। ऋषियों के आश्रमों के वर्णन में इन सभी की उपस्थिति के कारण कवि वैसे प्रसङ्गों में भावापन्न हो उठते हैं। रामगिरि का आश्रम संक्षेप के कारण केवल 'स्निग्धच्छायातरु' और 'जनकतनयास्नानपुण्योदक' के रूप में वर्णित होकर बहुत से अर्थों को ध्वनित कर देता है। पूर्वमेघ का विपुलांश बाह्य प्रकृति के चित्रण में लगा है क्योंकि रामगिरि से अलका तक प्राकृतिक सौन्दर्य के अनेकानेक उपादान वर्तमान हैं। यह बात अवश्य है कि कालिदास सौम्य प्रकृति के उपासक हैं अतः उन्हें कहीं भी प्रकृति का भयावह या रूक्ष रूप नहीं दीखता।

वर्षा के आरम्भ में मेघों का उमड़ना, मन्द पवनका संचरण, चातकों का बोलना, हंसों का पङ्क्तिबद्ध होकर उड़ना, नदियों की क्षीणता, इन्द्रधनुष का दृश्य, मालक्षेत्र में जुते हुए खेतों की सोंधी सुगन्ध (सद्य:सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालम् १/१६) इत्यादि का वर्णन पूर्वमेघ में अत्यधिक मनोयोग से कवि ने किया है। आषाढ़ मास में आदर्श भारतीय ग्राम की स्थिति के वर्णन में दशार्ण-देश का यह चित्र कवि ने उपस्थापित किया है—

पाण्डुच्छायोपवनवृतय: केतकै: सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुल-ग्रामचैत्या:।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ता:
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णा:।। (१/२५)

अर्थात् हे मेघ! जब तुम दशार्ण-देश के निकट पहुँचोगे तो वहाँ के उपवनों की बाड़ें, खिले हुए केवड़े (केतक) के पुष्पों से श्वेतवर्ण की हो जाएँगी, घरेलू कौओं द्वारा घोसला बनाने से गाँवों के चत्वरों पर बड़ी चहल-पहल मच जाएगी और पके हुए फलों से सुशोभित जामुन के वन अतीव सुहावने हो जाएँगे। हंस भी वहाँ आकर कुछ दिनों के लिए निवास करेंगे।

उत्तरमेघ में भी अलका की प्राकृतिक सुषमा के वर्णन के प्रसङ्ग में सदा सभी वस्तुओं के सुलभ होने की कल्पना कवि ने की है जिससे छहों ऋतुओं के पदार्थों का उपयोग वहाँ की सुन्दरियाँ करती हैं—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्री:।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ।। (२/२)

'अलका की सुन्दरियों के हाथ में शरदृतु का लीलाकमल, केशों में ताजे कुन्द के फूलों का ग्रन्थन (हेमन्त का पुष्प), मुख पर शिशिर ऋतु में खिलने वाले लोध्र-पुष्प का पराग लगाने से पाण्डुता, जूड़ों में वसन्त ऋतु में खिलने वाले कुरबक-पुष्प की सजावट, कानों में ग्रीष्मकालीन शिरीष के पुष्पों का आभूषण तथा माँग (सीमन्त) में वर्षाकालीन कदम्ब-पुष्प का प्रयोग सदा होता रहता है।' अलका के वृक्ष सदा फूलों से लदे रहते हैं, उन पर मतवाले भ्रमर गूँजते हैं; वहाँ की वापियाँ नित्य कमलों से भरी रहती हैं जिससे हंसों की पंक्तियाँ मेखला के समान दिखाई पड़ती हैं। वहाँ पालतू मयूरों के पंख सदा चमकते हैं और गर्दन ऊँची करके बोलते हैं; नित्य आनन्दमयी चाँदनी रात होती है (२/३)।

मेघदूत के सुभाषित (अर्थगौरव)

कालिदास ने मेघदूत में भी अपनी अन्य रचनाओं के समान अनेक स्थानों पर अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया है जिससे उनके जीवन-दर्शन पर भी आलोक पड़ता है। ये सुभाषित बहुधा उनके प्रेमी पण्डितों के द्वारा उद्धृत किये जाते हैं। यहाँ प्रमुख उदाहरण दिये जाते हैं— मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत: (१/३), कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु (१/५), याच्ञा मोघा

वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा (१/६), न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय, प्राप्ते मित्रे भवति विमुख: किं पुनर्यस्तथोच्चै: (१/१७), सद्भावार्द्र: फलति न चिरेणोपकारो महत्सु (१/१९), रिक्त: सर्वो भवति हि लघु: पूर्णता गौरवाय (जो भीतर से भरे रहते हैं वे हल्के अर्थात् उपेक्षणीय माने जाते हैं, किन्तु जो भरे-पूरे रहते हैं उन्हें आदर मिलता है १/२१), स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु (अपने प्रेमियों के समीप हाव-भाव प्रकट करना ही स्त्रियों की समागम-प्रार्थना होती है, वे मुख से नहीं कहती हैं १/३०), मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्या: (१/४२), आपन्नार्तिप्रशमनफला: सम्पदो ह्युत्तमानाम् (श्रेष्ठ जनों की सम्पत्ति का यही फल है कि उससे दु:खी प्राणियों के दु:ख दूर हों १/५७), के वा न स्यु: परिभवपदं निष्फलारम्भयत्ना: (जो बिना उद्देश्य के काम करते हैं उन्हें अपमानित होना ही पड़ता है १/५८)-ये सभी पूर्वमेघ के सुभाषित हैं।

उत्तरमेघ में भी ऐसे कई स्थल हैं जो सहसा स्मृतिपथ पर आरूढ हो जाते हैं जैसे— वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति (२/४ धनपतियों की सदा यौवनावस्था ही रहती है, कोई अन्य अवस्था उनकी होती ही नहीं)[१], सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् (२/२०), प्राय: सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा (२/३५ कोमल हृदय वाले व्यक्तियों की चित्तवृत्ति प्राय: करुणा से भरी होती है), कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दु:खमेकान्ततो वा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण (२/५२) इत्यादि।

मेघदूत का कलापक्ष

मेघदूत का बहिरङ्ग संगीतात्मक सौन्दर्य से जटित है। छन्द का चयन, भाषा का सौष्ठव एवं पद-शय्या की दृष्टि से यह संस्कृत साहित्य का अद्भुत रत्न है। मेघदूत के भाव-सौन्दर्य से कलात्मक सौन्दर्य में कहीं भी न्यूनता नहीं है। इसके अन्तर्गत भाषा-शैली तथा अलङ्कारों के निवेश का विचार होता है। भाषा-शैली के विचार से कालिदास की सभी रचनाएँ पद-लालित्य से पूर्ण हैं। सरलता और स्वाभाविकता के साथ ध्वन्यात्मकता कालिदास की भाषा के प्राण हैं। शब्दों का विन्यास ऐसा लगता है कि शब्द किसी वाक्य में लुढ़कते चले आ रहे हों, उन्हें एक निश्चित स्थान मिल गया है जहाँ से वे विस्थापित नहीं हो सकते। भाषा की सहजता का उदाहरण है—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोन:। (१/५)

प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर ही समुचित शोभा से अन्वित है, अन्वय में कोई कठिनाई नहीं।

इसी प्रकार कालिदास ने अलङ्कारों का भी सहज-स्वाभाविक विन्यास किया है, कहीं प्रयत्नपूर्वक अलङ्कार नहीं रखे हैं। उपमा, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग मेघदूत में भी है। उपमा पर तो कवि का असामान्य अधिकार है। यहाँ भी अनेक उपमाओं के प्रयोग प्राप्य हैं। जैसे-बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो: (१/१५), मध्ये श्याम: स्तन

---

१. तुलनीय-कुमारसंभव ६/४४ यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तक: कुसुमायुधात्।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्यय:।।

इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः (१/१८), रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां, भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य (१/२०), सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि (१/२६), एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् (१/५०), दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् (२/२३), जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् (२/२३) इत्यादि। उत्तरमेघ के आरम्भ में कवि ने अलकापुरी के प्रासादों की तुलना मेघ से विस्तृत उपादानों का निर्देश देते हुए की है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रन्चापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।। (२/१)

हे मेघ, यदि तुम विद्युत् से युक्त हो तो अलका के प्रासाद सुन्दर स्त्रियों से विभूषित हैं, तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उनमें भी चित्र अंकित हैं, तुम्हारे पास मधुर गम्भीर गर्जन है तो वहाँ भी संगीत के लिए मृदंग बजते हैं, तुम्हारे भीतर जल भरा है तो उन प्रासादों में मणिमय फर्श (भूमि) जल के समान ही स्वच्छ हैं, तुम ऊँचे हो तो वे प्रासाद भी गगनचुम्बी हैं। अतएव सारी विशेषताओं के साथ तुम्हारी तुलना के लिए वे समर्थ हैं।

अर्थान्तरन्यास के विपुल प्रयोग कवि के सुभाषितों में देखे जा सकते हैं। उत्प्रेक्षा के निम्नाङ्कित प्रयोग बहुत सुन्दर हैं—श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः (१/६१), राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः (१/६२)। इसी प्रकार समासोक्ति (नेत्रा नीताः २/८), स्मरण (तस्यातीरे० २/१७), दीपक (आलोके ते २/२५), काव्यलिङ्ग (तस्मिन् काले २/३७), परिसंख्या (आनन्दोत्थं २/४), निदर्शना (नूनं तस्याः २/२४) आदि अलङ्कारों का सहज निवेश काव्य के कला-पक्ष को पुष्ट करता है।

समीक्षकों के विचार

मेघदूत कालिदास का अत्यन्त लोकप्रिय काव्य है जिसके विषय में प्राचीन पण्डितों की धारणा थी-**माघे मेघे गतं वयः** अर्थात् माघकाव्य की शास्त्रीयता और मेघदूत की भावप्रवणता के अनुशीलन में पूरी आयु बीत गयी। किन्तु भामह ने 'काव्यालङ्कार' में अचेतन मेघ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजने में 'अयुक्तिमत्' दोष माना है[1]। यह आरोप निराधार है क्योंकि कालिदास ने 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' (१/५) के द्वारा इसका परिहार कर दिया है। केवल शब्दार्थ-जाल को काव्य कहने वाले भामह को 'कविनिर्मिति' का रहस्य समझ में नहीं आया तो आश्चर्य ही क्या ? मेघदूत की भाव-व्यञ्जना से प्रभावित होकर जर्मन महाकवि गेटे (Goethe) ने भावुक हृदय से कहा था—'मेघदूत एक ऐसा दूत है जिसे अपनी हृदयस्वामिनी के पास कौन नहीं भेजना चाहेगा?' 'ऐसे ग्रन्थ से परिचय होना जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना होती है।'[2]

---

१. भामह, **काव्यालंकार**, १/४२-३ अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः। कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते।।

२. विन्टरनित्स - **भारतीय साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनु०), भाग-३, खण्ड-१, पृ० १५० पर उद्धरण।

ए० बी० कीथ ने मेघदूत के विषय में कहा है— 'किसी अन्य भारतीय काव्य की अपेक्षा मेघदूत को, हेतुपूर्वक, अंग्रेजी शोककाव्य (Elegy) के अधिक समीप बतलाया गया है।'[1] किन्तु यह समीक्षा अनुचित है क्योंकि शोकगीत किसी मृत व्यक्ति या स्थायी विरह के लिए होता है, 'शोक' करुण-रस का स्थायी भाव है। मेघदूत में करुण रस का स्पर्श तक नहीं। इसमें विप्रलम्भ शृङ्गार रस है अर्थात् यह विरह-गीत है। यक्ष की प्रिया जीवित है, एक वर्ष के बाद दोनों का समागम होता है जिसकी मधुर कल्पना में यक्ष सन्देश भेजता है कि कुल चार मास धैर्य रखो—

पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणत-शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ।। (२/५०)

विप्रलम्भ शृङ्गार में रतिभाव ही स्थायी होता है, नायक-नायिका का विरह-वर्णन होता है, शोक की अभिव्यक्ति नहीं होती। मेघदूत को शोककाव्य कहना समीक्षक की अदूरदर्शिता है। वस्तुतः कीथ ने शिलर-रचित 'मेरिया स्टुअर्ट' नामक नाटक की दृष्टि से ऐसा लिखा है, उस नाटक में अनिवार्य मृत्युदण्ड की प्रतीक्षा करने वाली निरुपाय बन्दी रानी के द्वारा मेघ के माध्यम से सन्देश भेजा गया है। उस पर मेघदूत का प्रभाव है किन्तु स्थितियों में वैषम्य है। कीथ की यह उक्ति प्रशंसापरक है— ''मेघ के मार्ग-वर्णन की उज्ज्वलता और शोकाकुल तथा विरहिणी यक्षी के चित्रण के कारुण्य की जितनी प्रशंसा की जाये, कम ही होगी'' (सं० सा० का इति०, पृ० १०६)। इस प्रकार इसके पक्ष-विपक्ष में लोगों ने अपनी बातें रखी हैं।

मेघदूत की लोकप्रियता (दूतकाव्य-परम्परा)

मेघदूत की कथावस्तु और अचेतन-द्वारा सन्देश-हरण की कमनीय कल्पना के कारण इसे संस्कृत जगत् में ही नहीं, अपितु साहित्य-मात्र में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। कालिदास की भाषा-शैली, भाव-व्यञ्जना, अलङ्कार-निवेश, प्रणयाभिव्यक्ति, मार्मिक सन्देश तथा प्राञ्जल चित्रण-कलाने इसे ऐसे पद पर स्थापित कर दिया कि इसने एक पृथक् साहित्य-प्रकार को जन्म दिया जिसे 'दूतकाव्य' या 'सन्देशकाव्य' कहा जाता है। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में इस पर व्यंग्य किया कि लोग वाक्शून्य, या-अव्यक्त वाणी वाले मेघ, पवन, चन्द्रमा, शुक, मयूर, हंस आदि के द्वारा सन्देश-प्रेषण का असंगत काम करते हैं। किन्तु उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि बुद्धिमान् व्यक्तियों ने भी ऐसी काव्यचेष्टा की है जहाँ काव्य में उत्कण्ठावश उन्मत्त के समान-कोई पात्र बोलने लगा है और उपर्युक्त उपादानों को दूत के रूप में उसने भेजने का नाटक किया है—

यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते ।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ।।[2]

इससे स्पष्ट है कि सन्देशकाव्य की परम्परा भामह के समय तक दृढता से स्थापित हो गयी थी। इसकी उद्भावना का श्रेय मेघदूत को ही प्राप्त है।

जहाँतक मेघदूत के अनुशीलन का प्रश्न है, यह सत्य है कि मेघदूत की संस्कृतव्याख्याओं

---

१. ए० बी० कीथ- **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनु०), पृष्ठ १०७।
२. भामह, काव्यालङ्कार १/४४।

की संख्या ५० से अधिक है। इसके अनुवाद विश्व की विभिन्न भाषाओं में गद्य तथा पद्य में भी हुए हैं। इसके तिब्बती और सिंहली अनुवाद तो बहुत प्राचीन हैं जो मूल ग्रन्थ के स्वरूप- निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशी अनुवादों में अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश, रोमन, मंगोलियन तथा उजबेक भाषा में किये गये अनुवाद प्रमुख किन्तु अर्वाचीन हैं। सभी भारतीय भाषाओं में इसके एकाधिक गद्य-पद्यानुवाद हैं। कुछ कवियों ने तो इसके कथानक को आधार रखते हुए स्वतन्त्र काव्य ही रच डाले हैं। टीका-टिप्पणी के साथ मेघदूत के शताधिक संस्करण निकल चुके हैं। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में 'गीता' और 'मेघदूत' सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ हैं जिनपर लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यकार क्रमशः दर्शन और साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते रहे हैं।

संस्कृत साहित्य में मेघदूत का अनुकरण दो प्रकार से हुआ। कुछ कवियों ने (मुख्यतः जैनों ने) मेघदूत की पंक्तियों की अविकल समस्यापूर्ति के रूप में काव्य-रचना की अर्थात् अपने तीन चरण देकर चतुर्थ चरण के रूप में मेघदूत के पद्य का एक चरण रखा और इसी क्रम से पूरे मेघदूत का उपयोग कर लिया। स्पष्टतः उन्होंने मन्दाक्रान्ता छन्द का ही प्रयोग किया। अनुकरण का दूसरा रूप सन्देश-प्रेषण है जो प्रणय-सन्देश से लेकर आध्यात्मिक सन्देश के विषयों से अनुप्राणित है, कहीं-कहीं हास्य-रूप में भी दूतकाव्य लिखे गये हैं और उनकी परम्परा आज भी विद्यमान है। इस प्रकार के अनुकरण में मन्दाक्रान्ता के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। शृङ्गार के अतिरिक्त शान्त रस का भी उद्भावन दूतकाव्यों में मिलता है। सभी दूतकाव्यों में मेघदूत के समान भौगोलिक वर्णन किये गये हैं।[1]

प्रथम कोटि के अनुकरण में जैनकवि जिनसेन-रचित '**पार्श्वाभ्युदय**' का स्थान प्रथम है। इस काव्य में चार सर्ग तथा ३६४ पद्य हैं। मेघदूत जैसे शृङ्गारपूर्ण काव्य को २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के जीवनचरित के रूप में ढालकर कवि ने इसे शान्त रस का काव्य बना दिया है। जिनसेन (द्वितीय) ने अपने गुरुभाई विनयसेन के प्रोत्साहन से इस काव्य की रचना की थी। कवि का समय ७८० ई० से ८४० ई० तक माना गया है। जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय के अतिरिक्त जयधवला टीका और आदिपुराण की भी रचना की थी। समस्यापूर्ति के अनेक रूपों को पार्श्वाभ्युदय में प्रदर्शित किया गया है- कहीं एक चरण तो वहीं दो चरण भी आवेष्टित हैं। काव्य के अन्त में जिनसेन ने अपने आश्रयदाता अमोघवर्ष (प्रसिद्ध राष्ट्रकूट-नरेश) की चर्चा की है-

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
मलिमित-परकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कं
भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः।। (४/७०)

इसी कोटि का एक अन्य काव्य 'मेघदूतसमस्यालेख' है जिसके प्रणेता जैनमुनि श्रीमेघविजय जी हैं। इनका समय १६७० ई० के आसपास है। लेखक ने व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, धर्मशास्त्र आदि शास्त्रों में अनेक ग्रन्थ लिखे; सप्तसन्धान, शान्तिनाथचरित आदि कई काव्य भी

---

१. सन्देशकाव्यों का अनुशीलन डॉ० राम कुमार आचार्य ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत के सन्देशकाव्य' में किया है।

इन्होंने रचे। इस दूतकाव्य में कवि ने अपने गुरु (विजयप्रभ सूरि) के पास अपना सन्देश भेजा है जिसमें देवपत्तन (गुजरात) से औरंगाबाद (नव्यरंगपुरी-महाराष्ट्र) का मार्गवर्णन भी है। मेघदूत के प्रत्येक पद्य की अन्तिम पंक्ति को इसमें भी पद्यों की अन्तिम पंक्ति का स्थान दिया गया है। इसमें १३१ पद्य हैं।

वस्तुतः दूतकाव्य या सन्देश-काव्य द्वितीय कोटि के अनुकरण में ही आता है। 'मेघदूतसमस्यालेख' में संयोगवश दोनों कोटियाँ (समस्यापूर्ति तथा सन्देश-प्रेषण) आयी हैं। जम्बूकवि का '**चन्द्रदूत**' प्राचीनतम दूतकाव्य है (९५९ ई०) जिसमें प्रिय के पास विरहिणी द्वारा सन्देश भेजा गया है। धोयी कवि का '**पवनदूत**' प्रसिद्ध है जिसमें दक्षिण देश में रहने वाली प्रेमिका बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के पास प्रेम-सन्देश भेजती है। धोयी कवि लक्ष्मणसेन (१२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) के सभाकवि थे जिनका नाम महाकवि जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में लिया है। इस काव्य पर कालिदास की शैली का भी प्रभाव है। एक जैन कवि वादिचन्द्र सूरि ने भी १७वीं शताब्दी ई० में 'पवनदूत' की रचना की है।

दूतकाव्यों में प्रेम-सन्देश के अतिरिक्त धार्मिक नियमों, तात्त्विक सिद्धान्तों तथा भक्ति-भावना का भी प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार दूतकाव्यों का विषय सीमित नहीं रहा। कृष्णभक्त सन्तों ने कई दूतकाव्य लिखे तो रामभक्त वेदान्तदेशिक (१२५०-१३५० ई०) ने '**हंससन्देश**' लिखा जिसमें राम के द्वारा सीता के पास सन्देश भेजने का वर्णन है। यह आध्यात्मिक रचना है; संकेत यह है कि नारायण किसी परमहंस-रूप आचार्य को जीव के पास भगवत्-प्रपत्ति का संदेश लेकर भेजते हैं। यह काव्य भी मन्दाक्रान्ता छन्द को आधार बनाकर दो आश्वासों में (पद्य ६०+५०) लिखा गया है।

अन्य दूतकाव्यों में **इन्दुदूत** (जिनविजयगणि-कृत, १६५० ई०), **उद्धवदूत** (माधवशर्म-कृत, १४१ पद्य), **उद्धवसन्देश** (रूपगोस्वामि-कृत, १६वीं शताब्दी ई०, १३८ पद्य), **कोकिलसन्देश** (नृसिंह, वेंकटाचार्य तथा उद्दण्ड कृत पृथक्-पृथक् काव्य), **चातकसन्देश** (१४१ पद्य), **जैनमेघदूत** (मेरुतुंग-कृत, १५वीं शताब्दी ई०), **नेमिदूत** (विक्रमकविकृत, समस्यापूर्ति), **पदांकदूत** (कृष्णसार्वभौम, गोपी-कृष्ण-वार्ता, १६४५ वि० सं०), **पिकदूत** (शार्दूलविक्रीडित छन्द में ३१ पद्य, गोपियों द्वारा कृष्ण को सन्देश भेजना), **भृङ्गदूत** (गंगानन्द-कृत, १६वीं शताब्दी ई०), **भृङ्गसन्देश** (वासुदेव-कृत, कालीकट-निवासी), **भ्रमरदूत** (रुद्र-कृत), **मनोदूत** (चैतन्य के सम्बन्धी विष्णुदास की कृति, वसन्ततिलका छन्द में १०१ पद्य,), **मनोदूत** (पृथक् कवियों द्वारा रचित इस नाम के अन्य तीन वाक्य), **मयूरसन्देश** (रंगाचार्य-कृत), **शीलदूत** (जैन कवि चरित्रसुन्दरमणि-कृत, समस्यापूर्ति), शुकदूत, शुकसन्देश (लक्ष्मीदासकृत), **हंसदूत** (रूपगोस्वामिकृत, शिखरिणी छन्द, १०१ पद्य, गोपियों द्वारा कृष्ण के पास सन्देश-प्रेषण) इत्यादि प्रमुख हैं। हंसदूत और हंससन्देश के नाम से कई दूतकाव्य लिखे गये हैं जिनमें प्रेम और अध्यात्म के सन्देश हैं। पं० रामावतार शर्मा ने 'मुद्गरदूत' के रूप में एक हास्य-कृति वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में लिखी थी। इस प्रकार ५० से अधिक दूतकाव्य मेघदूत की लोकप्रियता के परिचायक हैं।

(३) गाथा-सप्तशती (प्राकृत गीतिकाव्य)[१]

प्रेममूलक आनन्द और वेदना से युक्त विषयों को लेकर प्राकृत भाषा में रचे गये सात सौ मुक्तक पद्यों का संग्रह 'गाथा-सप्तशती' (प्राकृतनाम- गाहासत्तसई) है। 'गाथा' प्राकृत भाषा का लोकप्रिय छन्द है जो संस्कृत के आर्या-छन्द के समान होता है। इस काव्य में संकलित गाथाएँ लोक-गीतों के आदर्श पर आलंकारिक कवियों के द्वारा रची गयी थीं। सामान्य जन-वर्ग के विविध अनुभवों और भावों की अभिव्यक्ति इनमें पायी जाती है। यद्यपि इनमें प्रकृति-जन्य आनन्द का चित्रण 'ऋतुसंहार' के समान मिलता है किन्तु सब की पृष्ठभूमि में हृदय की संवेदना निहित है। इन प्रसंगों में नारी-स्वर ही अधिक मुखर हुआ है। इस संग्रह के कर्ता का नाम 'हाल' है जो दक्षिण भारत में स्थित प्रतिष्ठानपुर (पैठन) के सातवाहन-वंशीय राजा थे। इनका समय १०० ई० के आसपास माना जाता है। हाल स्वयं तो कवि थे ही, कवियों के आश्रयदाता भी थे जैसा कि अभिनन्द ने अपने काव्य 'रामचरित' में सूचना दी है— **हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः**। अर्थात् 'श्रीपालित' नामक कवि की उन्होंने पूजा की थी, आश्रय दिया था।

इस काव्य के मुक्तक पद्यों में संक्षेप में बहुत बड़ी बात कह देने की क्षमता है। इसका मुख्य रस शृंगार है जो कहीं स्पष्ट और कहीं प्रच्छन्न भी है। यथार्थ रूप से ग्राम्यजीवन का चित्रण इसकी मुख्य विषय-वस्तु है। फिर भी इसे लोककाव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी भाषा को अलंकृत तथा शिष्टजनोचित बनाने का बहुत प्रयास हुआ है। विभिन्न कवियों की रचनाओं का संकलन होने से इसके वर्ण्य विषय में पर्याप्त वैविध्य और व्यापकता है। सरल दृश्यों के बीच प्रेम की सरलता प्रकट हुई है जैसे शिशिर ऋतु प्रेमियों को समीप रहने के लिए उसी प्रकार विवश करती है जिस प्रकार घोर वर्षा में वे साथ रहने के लिए शरण ढूँढ लेते हैं। प्रेमिका रात्रि से प्रार्थना करती है कि सदा बनी रहे क्योंकि प्रातःकाल प्रियतम को जाना है। कवि का कोमल भाव इस वर्णन में प्रकट होता है कि कोई स्त्री अपने पति के लौटने की प्रसन्नता में भी अनुरूप शृंगार नहीं कर रही है क्योंकि उसकी पड़ोसिन का विरह-दुःख बढ़ जायेगा- पड़ोसिन का पति घर आने में देर कर रहा है। दुश्चरित्र स्त्री अपनी असुरक्षा के कारण दुःखी होकर अपने प्रेमी को घर आने के लिए आमन्त्रित करती है।

प्रेम के विविध चित्रों को गाथा-सप्तशती में अंकित किया गया है। साथ ही गृहस्थ-जीवन का आनन्द भी दिखाया गया है। एक चित्र यह है कि अपने प्रेमापराध के कारण पति अपनी पत्नी के पैरों पर गिरा है; उसी समय उसका बच्चा पिता की पीठ पर चढ़ जाता है, बच्चे की माँ हँसती है तथा प्रसन्न पिता को बच्चे का पहला दाँत दिखाती है। कहीं-कहीं सूक्तियाँ भी संकलित हैं। ''कृपण अपने धन का उतना ही उपयोग करता है जितना एक घुमक्कड़ अपनी छाया का।'' ''पृथ्वी पर राजहंस उतने नहीं हैं जितने बगुले।'' ''अन्धे और बहरे ही मनुष्यलोक में भाग्यशाली है जो यहाँ वास्तव में जीते हैं, न ये पिशुन व्यक्तियों की बातें सुन पाते हैं और न दुष्टों की समृद्धि देख पाते हैं''—

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए ।
ण सुणन्ति पिसुणवअणं खलाण ऋद्धिं न पेक्खन्ति ।। (७/९५)

१. काव्यमाला में १८८९ ई० में प्रकाशित, पुनः कई संस्करण प्रकाशित।

इसके अन्त में कुछ ऐसे पद्य भी हैं जिनका वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण या शिव-पार्वती का प्रेम है अथवा जिनमें कारागार में पड़ी स्त्रियों का वर्णन है जो किसी वीर पुरुष द्वारा मुक्त किये जाने की प्रतीक्षा में हैं। एक पद्य में सर्पदंश का बहाना करनेवाली उस पुंश्चली का वर्णन है जो चिकित्सा के निमित्त अपने प्रेमी (जार) के घर जाती है।

गाथा-सप्तशती बहुत लोकप्रिय रचना थी क्योंकि अपने युग से आज तक पहुँचते-पहुँचते इसके छह प्रस्थान बन गये हैं। इन प्रस्थानों में मूल के स्वरूप, पद्यों के क्रम एवं विषय-वस्तु को भी लेकर भेद है। केवल ४३० पद्य सभी संस्करणों में समान हैं। गाथा-सप्तशती के सुभाषितों की प्रशंसा करते हुए बाण ने हर्षचरित में कहा है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः।। (१/१४)

तदनुसार इस ग्रन्थ (गाथाकोष या सुभाषितकोष) के विशुद्ध स्वभावोक्तिपूर्ण पद्य बाण के समय में प्रसिद्ध थे।

(४) घटकर्पर (घटखर्पर)-काव्य

यह कुल २२ पद्यों का काव्य है अन्त्यानुप्रासयुक्त ललित पदावली से युक्त इस काव्य में एक युवती की विरह वेदना का वर्णन है। उसका पति प्रवास में है, पति के पास वह अपना सन्देश मेघ के द्वारा भेजती है। इस ग्रन्थ की आठ टीकाएँ मिलती हैं जिनसे इसकी क्लिष्टता तथा प्रसिद्धि का परिचय मिलता है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है किन्तु इसके शीर्षक का कारण इसका अन्तिम पद्य है जिसमें लेखक का कथन है कि जो कवि मुझे यमकालंकार के प्रयोग में जीत लेगा उसके लिए वह घड़े के टुकड़े (घट-कर्पर) से जल ले आयेगा-

भावानुरक्त-वनिता-सुरतैः शपेय-
मालम्ब्य चाम्बुतृषितः कर-कोश-पेयम्।
जीयेम येन कविना यमकैः परेण
तस्मै वहेयमुदकं घट-कर्परेण।। (पद्य-२२)

घटकर्पर का नाम विक्रमादित्य के नवरत्नों में लिया गया है। सम्भव है, काव्य के लेखक का कोई अन्य नाम हो जो उक्त पद्य के कारण 'घटकर्पर' के रूप में प्रसिद्ध हो गये और उसे ही 'नव-रत्न' की परम्परा में रखा गया।[1]

(५) भर्तृहरि के शतकत्रय[2]

भर्तृहरि के नाम से मुक्तक पद्यों के तीन संकलन मिलते हैं, तीनों में एक-एक सौ पद्य

१. वस्तुतः नवरत्न-परम्परा में ऐसे विद्वानों को रखा गया है जो काल की दृष्टि से परस्पर दूरवर्ती हैं। वराहमिहिर छठी शताब्दी ई० के हैं तो अमरसिंह तीसरी शताब्दी ई० के हैं, धन्वन्तरि, क्षपणक, शंकुक (९वीं शताब्दी), वेतालभट्ट, कालिदास, वररुचि (ई० पू०) भी विभिन्न कालों के विद्वान् थे। अतः विक्रम की राजसभा में इनके होने की केवल कल्पना है।

२. निर्णयसागर प्रेस से रामचन्द्र बुधेन्द्र कृत टीका सहित प्रकाशित (१९०२)।

हैं। इनके नाम हैं- नीतिशतक, शृङ्गारशतक तथा वैराग्यशतक। नाम के अनुरूप ही इनके विषय भी हैं। भर्तृहरि के समय तथा जीवनवृत्त के विषय में अनेक मत तथा किंवदन्तियाँ भी हैं। परम्परा के अनुसार ये विक्रमादित्य के अग्रज थे। इनकी एक रचना व्याकरण-दर्शन का ग्रन्थ- वाक्यपदीय- है। चीनी यात्री इत्सिंग ने वैयाकरण भर्तृहरि का मृत्युकाल ६५१ ई० बतलाया है। इसी भर्तृहरि को वाक्यपदीय एवं तीनों 'शतकों' का लेखक कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कहा है। इत्सिंग के मतानुसार भर्तृहरि बौद्ध थे, किन्तु यह मान्यता असंगत है। वाक्यपदीय तथा नीतिशतक के मङ्गलाचरण ('अनादिनिधनं ब्रह्म' तथा 'नमः शान्ताय तेजसे') से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि शैव या वेदान्तोक्त ब्रह्मोपासक थे। तीनों शतकों में या वाक्यपदीय में भी कोई ऐसा प्रसङ्ग नहीं है जो इन्हें बौद्ध सिद्ध कर सके। अतएव इत्सिंग को कोई भ्रम हुआ होगा या किसी अन्य ग्रन्थकार के विषय में उसने यह सूचना दी होगी। इत्सिंग ने एक किंवदन्ती का भी उल्लेख किया है कि भर्तृहरि ने सात बार गृहत्याग किया और पुनः गृहस्थ बने। अन्त में वे बौद्ध बने। गृहत्याग और गृहस्थाश्रम-प्रवेश की कथा आज भी भर्तृहरि के विषय में प्रचलित है जो इन तीन शतकों के विषयों के विमर्श से समर्थित होती है। इत्सिंग ने भर्तृहरि के विषय में कुछ सुना होगा, कवि भर्तृहरि के विषय में कथाएँ प्रचलित थीं। अतः इस कवि का काल ६५० ई० बहुत पहले मानना चाहिए। भर्तृहरि के गृहत्याग से सम्बद्ध हरिहरोपाध्याय नामक मैथिल पण्डित (१५वीं शताब्दी ई०) ने 'भर्तृहरिनिर्वेद' नामक नाटक लिखा था जिसमें गोरक्षनाथ के प्रभाव से राजा भर्तृहरि के योगी बनने का वर्णन है। यह पाँच अंकों का नाटक है। इस नाटककार ने भी राजा भर्तृहरि की कथाएँ संकलित कर के ही अपने नाटक का इतिवृत्त निर्मित किया था। राजा कवि तथा वैयाकरण के रूप में भर्तृहरि की प्रसिद्धि ने इनके विषय में अनेक दन्तकथाओं को जन्म दिया जिनपर विश्वास करना संभव नहीं। इनके शतक तो प्रक्षेपों से युक्त हैं ही, वाक्यपदीय भी दर्शन की मुख्यधारा में न रहने के कारण दुरूहता से युक्त है। शतकों में संकलित पद्य अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं फिर भी उनमें एकरूपता और भाषा की ऐसी सरलता है कि इनकी प्राचीनता में सन्देह नहीं अतः ४०० ई० से ६०० ई० के बीच इनकी स्थिति को मानने में कोई आपत्ति नहीं।

भर्तृहरि का **नीतिशतक** व्यावहारिक जीवन की सम-विषम परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण करता है। इसमें मूर्ख-निन्दा, सज्जनों की प्रशंसा, परोपकार, धैर्य, दैव (भाग्य) तथा कर्म की महिमा से सम्बद्ध अनेक पद्य हैं। कुछ विद्वानों ने नीतिशतक को इन विषयों से सम्बद्ध पद्धतियों में विभक्त करके पद्यों का क्रम रखा है। परोपकार-पद्धति से सङ्कलित निम्नाङ्कित पद्य में सानुप्रास पदावली का लालित्य भाव की सुन्दरता को अत्यधिक बढ़ा देता है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः पूरयन्तः।
परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।। (सं० ७९)

कवि अपने वातावरण में सात खटकने वाली चीजें पाकर लिखता है—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे।। (५६)

अर्थात् सुन्दर चन्द्रमा का दिन में धूसर (मलिन) हो जाना, रूपवती कामिनी का यौवन समाप्त हो जाना, सरोवर का कमल-रहित हो जाना, सुन्दर मुख वाले व्यक्ति का विद्याहीन होना, स्वामी (शक्तिशाली) का धन-संग्रह में लिप्त होना (= कृपण होना), सज्जन का सदा कष्ट में रहना और दुष्ट का राजसभा में प्रविष्ट हो जाना— ये सातों स्थितियाँ मुझे काँटे की तरह खटकती हैं। यथासंख्य अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग कवि ने इस लघुकाय पद्य में किया है—

मृग-मीन-सज्जनानां तृण-जल-सन्तोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धक-धीवर-पिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।। (६१)

कवि ने कहीं कर्म की प्रशंसा की है (नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ९४), तो कहीं दैव (भाग्य) की स्तुति में वह संलग्न है (तद् युक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ८८); कहीं वह धन का गुणगान करता है (सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ४१), तो कहीं स्वाभिमान पर बल देता है (सर्व कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ३०)। नीतिशतक संस्कृत-कविता का अनुपम हार है।

शृङ्गारशतक में स्त्री-पुरुष पर प्रभावशाली शृङ्गार एवं स्त्रियों के हाव-भाव का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके कुछ पद्यों में ऋतुओं का भी वर्णन है। कतिपय पद्य यौवन के विकारों से प्रभावित न होने वाले व्यक्तियों के वर्णन से सम्बद्ध हैं (धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ७१), तो कहीं-कहीं स्त्रियों की निन्दा भी की गयी है जैसे—

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादकारिणी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम्।। (७३)
कामिनी-काय-कान्तारे कुच-पर्वत-दुर्गमे।
मा सञ्चर मनःपान्थ तत्रास्ते स्मर-तस्करः।। (८४)

ऋतुओं का वर्णन कामोद्दीपन की दृष्टि से किया गया है जैसे वसन्त की उद्दीपकता पर कवि का दृष्टिकोण इस प्रकार है—

सहकार-कुसुम-केसर-निकर-भरामोद-मूर्च्छित-दिगन्ते।
मधुर-मधु-विधुर-मधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा।। (३७)

जिस समय आम की मञ्जरियों के केसर-समूह की अतिशय सुगन्ध से सभी दिशाएँ मूर्छित हो जाती है तथा मधुर मधु के आस्वादन से सभी भ्रमर उन्मत्त (विधुर-अनियन्त्रित) हो जाते हैं वैसे वसन्त काल में किस व्यक्ति में उत्कण्ठा (कामोद्दीपन) नहीं होती ?[1] इस शतक के अनेक पद्यों में वेश्याओं की निन्दा करते हुए ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा की गयी है जो स्त्रियों के रूप-जाल में नहीं फँसते। इस प्रकार शृङ्गार की मनोरमता में कवि ने नैतिक आदर्श की पवित्र धारा प्रवाहित की है।

---

१. तुलनीय-काव्यप्रदीप- विकसितसहकारभारहारि - परिमलपुञ्जितगुञ्जितद्विरेफः।
नवकिसलयचारुचामरश्री र्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः।।

वैराग्यशतक में भर्तृहरि तृष्णा, रूपादि विषय, याचना, गर्व आदि की निन्दा करते हुए वृद्धावस्था, सन्तोष और शान्ति, काल की महिमा, इन्द्रिय-दमन, विरक्तता, संसार की अनित्यता, योगी आदि विषयों का वर्णन करते हैं। तृष्णा की निन्दा करते हुए कहा गया है कि मैंने गुप्त निधि की खोज में पृथ्वी खोद डाली, स्वर्ण के निर्माण के लिए अनेक धातुओं को जलाया, समुद्र पार किये, मन्त्र की आराधना में कई रात्रियाँ श्मशान में रहकर बितायीं किन्तु कानी कौड़ी भी नहीं मिली; अरी तृष्णे, अब तो मुझे छोड़ दे (प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्, ४)। इस संसार में मोह का कैसा प्रभाव है कि लोग अपनी व्यस्तता के कारण काल का क्रमशः समाप्त होना देख नहीं पाते, सामने उपस्थित जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था के संकटों को पाकर भयभीत नहीं होते, मोहरूपी मदिरा लोगों को असावधान (प्रमादी) बनाये हुए है, सभी पागल हो गये हैं—

> **आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं**
> **व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।**
> **दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते**
> **पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।। (७)**

सांसारिक विषयों का भोग करते हुए मानव स्वयं समाप्त हो जाता है किन्तु विषय तो यथावत् पड़े ही रह जाते हैं। इस भाव को कवि ने बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है—

> **भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।**
> **कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।। (१२)**

भर्तृहरि के इन शतकों में प्राञ्जल, ललित और प्रवाहपूर्ण काव्यशैली मिलती है। अपनी अनुभूतियों को कवि ने कलात्मक रीति से प्रस्तुत किया है। भाव और भाषा का मनोहर सामञ्जस्य कवि की लोकप्रियता का कारण है। इनके अनेक पद्य और वाक्यांश लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हैं। कोई व्यक्ति इन शतकों में सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की झलक ले सकता है तथा शक्ति एवं सन्तोष का जीवन बिता सकता है। आदर्शवाद को अनुप्राणित करने वाले भर्तृहरि वस्तुतः संस्कृत-साहित्य एवं भारतीय जीवन-दर्शन के अनुपम रत्न हैं।

भर्तृहरि के कुछ सुभाषित वाक्य (पद्यांश) इस प्रकार हैः[1] **नीति-शतक से** - विभूषणं मौनमपण्डितानाम् (७), विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः (१०), न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् (९), मूर्खस्य नास्त्यौषधम् (११), साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः (१२), वाग्भूषणं भूषणाम् (१९), विद्याविहीनः पशुः (२०), सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् (२३), प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति (२७), न खलु वयस्तेजसो हेतुः (३८), अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च (४५), वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा (४७), सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः (५८), प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते (६७), न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः (८१), मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् (८२),

---

१. इनकी संख्याएँ नाग-प्रकाशन से १९८९ में प्रकाशित पी० गोपीनाथ के 'शतकत्रय'-संस्करण से दी गयी हैं। यह प्रकाशित ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण है।

शीलं परं भूषणम् (८३), न्याय्यात्पथः प्रविलचन्ति पदं न धीराः (८४), प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः (९०) नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति (९४), सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि (९७), भाव्यस्य नाशः कुतः (१०१)। **शृङ्गारशतक** से—किमिह न हि रम्यं मृगदृशः (६), कं न वशं कुरुते भुवि रामा (९), पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः (१७), किं नाम वामनयना न समाचरन्ति (२१), विपदि हन्त सुधापि विषायते (३४), कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः (५८), हतमपि निहन्त्येव मदनः (६३), लोकेऽस्मिन्न ह्यनर्थव्रजकुसुमवनं यौवनादन्यदस्ति (७०), स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनामेकपाशः (७६), प्रियः को नाम योषिताम् (८०)। **वैराग्यशतक** से— अहह गहनो मोहमहिमा (२०), सर्वं यस्य वाशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः (३६), मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः (४९), सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः (५२), भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे (६२), संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः (८६), न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः (८९), मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धा न सेवाञ्जलिः (९३), हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते (११३)।

(६) अमरुशतक

शृङ्गारप्रधान मुक्तक-काव्यों में अमरुशतक (या अमरुकशतक) का बहुत ऊँचा स्थान है। इसकी विभिन्न प्रतिलिपियों में पद्यसंख्या ९० से ११५ तक मिलती है जिनमें प्रायः ५१ पद्य सभी में समान रूप से हैं। इसकी प्राचीनतम टीका अर्जुनवर्मदेव की 'रसिकसंजीवनी' है जिसमें केवल १०२ पद्य हैं।[1] इस टीका का समय १२१५ ई० के आसपास माना जाता है। अमरुशतक के रचयिता के विषय में कुछ किंवदन्तियाँ हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार अमरु-नामक राजा के मर जाने पर शंकराचार्य ने उनके शरीर में प्रवेश करके विषय-सुखों का उपभोग करने के अनन्तर इसकी रचना की थी। उन्हें ऐसा इसलिए करना पड़ा कि मण्डनमिश्र की पत्नी भारती के कामशास्त्रीय प्रश्नों का उत्तर देना था। किन्तु अमरु या अमरुक नामक कोई अन्य कवि थे जिन्हें कश्मीरी माना गया है। अमरु का काल अनिश्चित है। वामन (८०० ई०) ने अमरुशतक के तीन पद्य उद्धृत किये हैं, किन्तु कवि का उल्लेख नहीं किया है। आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्द्योत में अमरुक के मुक्तक पद्यों की बहुत प्रशंसा की है—"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा अमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।"[2] अर्थात् रस, भाव तथा अर्थ का जितना सन्निवेश एक पूरे प्रबन्ध-काव्य में किया जा सकता है उतना महाकवि अमरुक के एक-एक पद्य में हुआ है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि अमरु की प्रसिद्धि ८०० ई० के आसपास पर्याप्त हो चुकी थी, सम्भवतः ये ७००-७५० ई० के आसपास रहे होंगे। अमरु के मूल शतक में बाद में प्रक्षिप्तश्लोक भी जुड़ते गये। टीकाओं की सहायता से ही इन्हें पृथक् किया जा सकता है।

विषयवस्तु की दृष्टि से अमरुशतक दाम्पत्य-प्रेम के सरस और आवेगपूर्ण क्षणों की मधुर

---

१. निर्णयसागर प्रेस से १८८९ ई० में प्रकाशित। मोतीलाल बनारसीदास द्वारा पुनर्मुद्रण, १९८३। राजकमल प्रकाशन (दिल्ली) से डॉ० विद्यानिवास मिश्र की हिन्दी व्याख्या-सहित संस्करण १९८२ (द्वि० सं०)। अन्य कई स्थानों से इसके गद्य-पद्यानुवाद प्रकाशित हैं।

२. ध्वन्यालोक ३/७ की वृत्ति। तुलनीय— अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।

अभिव्यक्ति है। इसी भाव के मनोरम शब्दचित्र इसके प्रत्येक श्लोक में प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें एक ऐसा तरुण नागर समाज अङ्कित है जो पार्थिव प्रेम में आकण्ठ मग्न है और देश-काल की सीमा से परे आनन्द के शाश्वत रूप तक पहुँच जाता है। नायिकाओं की विविध अवस्थाओं का इसके पद्यों में भावपूर्ण वर्णन है। निम्नाङ्कित पद्य में रूठी हुई एक प्रौढाधीरा नायिका को उसकी सहेली मानत्याग का उपदेश दे रही है—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै—
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने! मानमधुना ।। (सं. ७)

अर्थात् तुम्हारा प्राणप्रिय (पति) घर के बाहर सिर झुकाए हुए बहुत देर से ज़मीन कुरेदता हुआ बैठा है, भीतर सखियों ने खाना-पीना छोड़ रखा है, उनकी आँखें लगातार रोते रहने से सूज गयी हैं ; अब तो पिंजरे के सुग्गों ने भी हँसना और पढ़ना छोड़ दिया है, तुम्हारी अपनी दशा भी ऐसी हो गयी है; अरी कठोर हृदयवाली, अब तो अपना मान (रूठना) छोड़ दे।[1]

सम्भोग शृङ्गार का मर्यादित निरूपण इस पद्य में है जिसे नयी किन्तु चतुर (विदग्ध) वधू के सन्दर्भ में दिया गया है—

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच-
स्तत्प्रातर्गुरुसंनिधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुरो
व्रीडार्ता प्रकरोति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्।। (सं० १६)

रात को पति-पत्नी जो रस-चर्चा करते रहे थे उसे घर के सुग्गे ने सुन लिया था। जब उस सुग्गे ने प्रातःकाल गुरुजनों के समीप ऊँचे स्वर से उसे दुहराना आरम्भ किया तो बहू ने लज्जित होकर उसकी चोंच में अपने कान में लटके हुए पद्मराग-मणि (लाल) के टुकड़े को अनार के दाने के बहाने डाल दिया जिससे सुग्गे का मुँह बन्द हो जाये।

प्रश्नोत्तर के रूप में निम्नाङ्कित पद्य में मध्या धीरा नायिका के उत्तर अपने उस प्रियतम के प्रश्नों के लिए दिये गये हैं जो उसे मनाने का प्रयास धैर्यपूर्वक कर रहा है-

बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान्, सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ।। (सं० ५७)

---

१. काव्यप्रकाश (४/१००) में इसे व्यञ्जना के उदाहरण में देकर पदांशों की ध्वनि दिखायी गयी है। 'लिखन्' से ध्वनि निकलती है कि जबतक तुम मान नहीं जाती, प्रियतम जमीन कुरेदता रहेगा। 'आस्ते'- अबतक वह बैठा हुआ है। नायिका से स्पष्ट नहीं कहा गया है कि प्रियतम को वह क्षमा कर दे क्योंकि इससे वह ठफन जाएगी। उसकी उदारता को उकसाने का प्रयासमात्र है। इसीसे द्रवित होकर वह प्रियतम को स्वीकार कर लेगी।

'हे प्रिये', 'हाँ नाथ,' 'मानिनि, तुम क्रोध छोड़ दो,' 'क्रोध करके मैं कर ही क्या सकी?' 'मेरे हृदय में खेद तो उत्पन्न किया ?' 'आपका तो इसमें कोई अपराध नहीं है, सारे अपराध तो मेरे ही हैं।' 'तब तुम सिसक-सिसक कर रो क्यों रही हो ?' 'मैं किसके सामने रो रही हूँ ?' 'मेरे ही सामने।' 'मैं आपकी होती कौन हूँ ?' 'प्राणप्रिया हो' 'यही तो मैं नहीं हूँ, इसीलिए रो रही हूँ।'

अमरु की भाषा सरस तथा सरल है, उसमें कहीं अस्पष्टता नहीं है। इस शतक पर प्रायः १४ टीकाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें अर्जुनवर्मदेव की टीका प्राचीनतम और श्रेष्ठ है। ये टीकाकार मालवनरेश भोज के वंशज थे। इनका एक दानपत्र १२७२ वि० सं० (१२१५ ई०) का मिला है। केरलराज वेमभूपाल की 'शृङ्गारदीपिका' टीका इसके अनन्तर स्थान रखती है। हिन्दी के बिहारी, पद्माकर आदि कवियों ने अमरुशतक के भावों के आधार पर छन्द रचे हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसके पद्य विपुल रूप से उद्धृत हैं- विशेष रूप से काव्य-भेद, नायिका-भेद और अलङ्कारों के उदाहरणों के रूप में।

अंग्रेजी तथा जर्मन कवियों ने अमरुशतक के छन्दों के अपने-अपने ढंग से स्वतन्त्र रूपान्तर किये हैं। विदेशी विद्वानों ने इसके पाठ-भेद और पद्यसंख्या पर पर्याप्त समालोचना की है। ऑफ्रेक्ट ने कहा है कि अमरुशतक में केवल शार्दूलविक्रीडित छन्द के पद्य ही मौलिक हैं, शेष पद्य प्रक्षिप्त हैं। किन्तु यह अतिशयवादी दृष्टिकोण है क्योंकि एक छन्दवाले संग्रह प्रायः स्तुतिकाव्य के रूप में होते हैं जैसे- सूर्यशतक, शिवमहिम्नःस्तोत्र, सौन्दर्यलहरी आदि। संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अमरुशतक के अन्य छन्द वाले पद्य भी प्रचुरता से उद्धृत हैं। शृङ्गार-रस के सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण की दृष्टि से अमरुशतक संस्कृत वाङ्मय का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

कहीं-कहीं नाद-सौन्दर्य के उत्पादन में भी कवि की उदारता श्लाघ्य है जैसे- **नूनं छमच्छमिति बाष्पकणाः पतन्ति** (८६) अर्थात् प्रियतमा के आँसू छम्-छम् करके गिर रहे हैं, **त्वां पातु मञ्जरितपल्लवकर्णपूर-लोभभ्रमद्भ्रमर-विभ्रमभृत्कटाक्षः** (१) अर्थात् पार्वती का वह कटाक्ष तुम्हारी रक्षा करे जो मंजरित पल्लव के कर्णफूल के लोभ से चक्कर लगाने वाले भौरों से घिरी हुई होने का भ्रम अपने काले रंग के कारण दे रहा है। इस बाह्य सौन्दर्य से अधिक महत्त्व रस या भाव का है, यही अमरुक की विशिष्टता है। प्रेमी-प्रेमिका के हर्षशोक, मानापमान, कोप तथा अनुनय, प्रणय-कलह आदि भावों को कवि ने मार्मिकता के साथ इस काव्य में विन्यस्त किया है। अमरुक ध्वनिकाव्य के श्रेष्ठ उदारहण प्रस्तुत करते हैं, मुक्तक काव्य में भी शृङ्गार-रस के सम्पूर्ण उपादानों को भरने की क्षमता रखते हैं।

(७) भल्लटशतक[१]

अन्योक्तिपूर्ण नीतिमूलक पद्यों का संग्रह 'भल्लटशतक' कश्मीरी कवि भल्लट की रचना है। इनके पद्य का उद्धरण सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में (१/१४ की वृत्ति तथा ३/४१ की वृत्ति- **परार्थे यः पीडामनुभवति०**, भल्लटशतक ५३) मिलता है; पुनः क्षेमेन्द्र, अभिनवगुप्त

---

१. काव्यमाला गुच्छक ४ में प्रकाशित (१८९९ ई०); डॉ० वेदकुमारी घई तथा डॉ० रामप्रताप के सम्पादन में महेश्वर-कृत संस्कृत-टीका, हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद के साथ समालोचनात्मक संस्करण, मेहरचन्द लछमनदास (दिल्ली) से प्रकाशित (१९८५ ई०)। इसमें विविध छन्दों में १०३ पद्य हैं।

और मम्मट ने भी इनके उद्धरण दिये हैं। आनन्दवर्धन के समय में (८५० ई०) भल्लट तरुण कवि थे जिनकी रचनाओं से जनता को परिचित जानकर उनका नाम देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। राजतरङ्गिणी में कहा गया है कि कश्मीर-नरेश शङ्करवर्मा के राज्य में रहनेवाले भल्लट-जैसे कवियों को बड़ा कष्टमय जीवन बिताना पड़ रहा था (आसेवन्तावरा वृत्ती: कवयो भल्लटादय:, राजतरङ्गिणी ५/२०४)। शङ्करवर्मा का काल ८८३-९०२ ई० तक था, अत: भल्लट का काल नवम शताब्दी ई० का उत्तरार्ध और दशम शताब्दी का प्रथमचरण माना जा सकता है।

'भल्लटशतक' में अन्यापदेश और अन्योक्ति का आधार लेकर तात्कालिक समाज के उच्च वर्ग के अयोग्य व्यक्तियों पर व्यङ्ग्य किया गया है जो सरल शैली में होने के कारण सुबोध और हृदयावर्जक है। कुछ उदाहरण लें -

पात: पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मात्
कालेनास्तं क इह न ययुर्यान्ति यास्यन्ति चान्ये।
एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाश:।। (११)

'सूर्य का अस्त हो जाना बड़े कष्ट की बात नहीं है क्योंकि काल आने पर कौन इस संसार से नहीं गया है ? दूसरे भी जा रहे हैं, भविष्य में भी जाएँगे। किन्तु दु:ख तो इस बात का है कि सूर्य के जाते ही इस लोक से बाहर के अन्धकारों ने विशाल आकाश पर अधिकार जमा लिया।' कवि ने अवन्तिवर्मा का महनीय राज्यकाल देखा था किन्तु अब क्षुद्र लोगों के हाथों में सत्ता आ गयी थी। इसी का वर्णन यहाँ किया गया है।

इसमें कहीं-कहीं शृङ्गारपूर्ण पद्य भी हैं जैसे वर्षाऋतु में किसी विरहिणी के द्वारा विद्युत् को दिया गया यह उपालम्भ—

वाता: वान्तु कदम्बरेणुशबला नृत्यन्तु सर्पद्विष:
सोत्साहा नवतोयभारगुरवो मुञ्चन्तु नादं घना: ।
मग्नां कान्तवियोगदु:खदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत् ! किं स्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ? (९७)

'कदम्ब के पराग से मिले हुए पवन भले ही चलें, साँपों के शत्रु मोर भी नाचा करें और नये जल के भार से भारी-भरकम उत्साही मेघ भी गर्जन करते रहें; परन्तु हे निष्ठुर बिजली ! अपने प्रियतम के वियोग की दु:खाग्नि में जलती हुई म्लानमुखी मुझे देखकर, समान नारी-रूप होने पर भी, तुम चमक कर मुझे क्यों चिढ़ा रही हो ?' विजातीय लोगों का चिढ़ाना सह्य है किन्तु सजातीय भी चिढ़ाये - यह कैसे सह्य हो ?

(८) बिल्हण की चौरपञ्चाशिका[१]

ऐतिहासिक महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के लेखक कश्मीरी कवि बिल्हण-कृत

१. काव्यमाला खण्ड-१३ में पृ० १४५-६९ पर प्रकाशित (१९०३ ई०)। हिन्दी अनुवाद के साथ वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से 'विद्यासुन्दर' काव्य-सहित प्रकाशित।

'चौरपञ्चाशिका' वसन्ततिलका छन्द में रचित पचास पद्यों का काव्य है जिसका प्रत्येक पद्य 'अद्यापि' शब्द से आरम्भ होता है। इन पद्यों में किसी राजकुमारी के साथ अपनी प्रच्छन्न प्रणयलीला का कवि ने प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। कवि ने यह निर्देश किया है कि अभी भी (जब कि उसे मृत्युदण्ड दिया जाने वाला है) उसे अपनी प्रियतमा के दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप आदि की स्मृति बनी हुई है। जैसे—

अद्यापि तां भुजलतार्पितकण्ठपाशां
वक्षःस्थलं मम पिधाय पयोधराभ्याम्।
ईषन्निमीलित-सलील-विलोचनान्तां
पश्यामि मुग्धवदनां वदनं पिबन्तीम्।।

अर्थात् मेरे गले में अपनी भुजलता का बन्धन डालकर अपने दोनों स्तनों से मेरे वक्षःस्थल को ढँक कर कुछ मुँदे हुए विलास पूर्ण नेत्र-प्रान्तवाली तथा मेरे मुख को उत्कण्ठा से एकटक देखती हुई प्रियतमा को अभी भी मैं देख रहा हूँ। इसी प्रकार सभी पद्यों में कवि प्रियतमा राजकुमारी की लीलाओं की स्मृति में लीन होकर श्रोताओं को द्रवित कर देता है। एक अन्य पद्य में भारतीय शिष्टाचार और विश्वास की ध्वनि मिलती है जिसमें कवि कहता है—

अद्यापि तन्मनसि सम्परिवर्तते मे
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्
कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या।।

अर्थात् आज भी मेरे मन में वह दृश्य घूम रहा है जब रात्रि में मेरे छींकने पर राजपुत्री ने '(शतं) जीव' इस मङ्गलवचन का क्रोध के कारण उच्चारण न करके केवल अपने कान से उतार कर कनकपत्र को मेरे कान में लगा दिया था। स्वर्ण जीवनरक्षक है, इस विश्वास से उसने कान पर स्वर्ण रखकर उक्त आशीर्वाद दे दिया, उसे बोलना नहीं पड़ा।

इस काव्य के दो संस्करण (दक्षिण तथा उत्तरभारतीय) मिलते हैं जिनमें बहुत अन्तर है। यह इसकी लोकप्रियता का परिचायक है। बिल्हण ने अपने महाकाव्य के अन्त में जो आत्मकथा लिखी है उससे यह प्रकाश नहीं पड़ता कि किसी राजकुमारी से उन्होंने प्रेम और विवाह किया हो। सामान्य रूप से बिल्हण की काव्यशैली इसमें मिलती है किन्तु यही इसके बिल्हण-कृत होने का प्रमाण नहीं हो सकता। सम्भव है जयदेव के द्वारा प्रसन्नराघव में (यस्याश्चौरश्चिकुरनिकरः) निर्दिष्ट चौरकवि इसके रचयिता हों, फिर भी यह कल्पित कथानक काव्यात्मक होने के कारण बहुत मार्मिक है। टीकाकारों ने इसकी नायिका की पहचान करने का प्रयास भी किया है। अठारहवीं शताब्दी में भारतचन्द्र ने 'विद्यासुन्दर' काव्य के द्वारा इसके कथानक की पृष्ठभूमि दी है। तदनुसार विद्या के साथ प्रणय करने के कारण वीरसिंह ने चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर को मृत्युदण्ड दिया और इस काव्य के द्वारा सुन्दर ने कालिका की प्रार्थना की। अन्त में मृत्युदण्ड न देकर राजा ने विद्या से उसका विवाह कर दिया। यह बात टीकाकार रामतर्कवागीश (१७९८ ई०) ने भी कही है।

(९) जयदेव का गीतगोविन्द

१२वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (११८०-१२०६ ई०)[१] की राजसभा में कई कवि तथा विद्वान् रहते थे जैसे- उमापतिधर, गोवर्धन, शरणदेव, धोयी तथा जयदेव। इनका उल्लेख जयदेव ने अपने गीतगोविन्द (१/४) में किया है। इन सभासद् विद्वानों में जयदेव की ख्याति गीतगोविन्द के कारण सबसे अधिक है। इनका जन्म बंगाल के केन्दुबिल्व (केंदुली, जि०-वीरभूम) ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम रामादेवी या राधा देवी था (श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य, गीत० १२/११)। इनकी पत्नी पद्मावती भी संगीतज्ञ थीं तथा जयदेव के गान पर तालानुसार नृत्य करती थीं (पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती, गीत० १/२)। मिथिला और उत्कल के विद्वानों ने अपने क्षेत्रों में इनकी स्थिति बतायी है। किंवदन्ती है कि भगवान् जगन्नाथ की कृपा से इनका जीवन बचा था। इनके भक्तों ने इनकी अलौकिक जीवन-लीलाओं का वर्णन किया है।

'गीतगोविन्द' संस्कृत भाषा का श्रेष्ठ गीतिकाव्य है। इसमें १२ सर्ग हैं जो पुन: प्रबन्धों में (कुल २४ प्रबन्ध) विभक्त हैं। इनमें मुख्यत: ताल और लय से सम्बद्ध गीत हैं जिनमें अन्त्यानुप्रास (तुकबन्दी) और ध्रुवपद (एक ही पंक्ति या पदसमूह की आवृत्ति) भी है। यह जयदेव की एकमात्र उपलब्ध रचना है जिसने कवि को अद्‌भुत कीर्ति प्रदान की। इसका कथानक राधा-कृष्ण के बीच हास-परिहास और गोपियों से कृष्ण की रासक्रीडा से सम्बद्ध है। इसका संकेत कवि ने प्रथम पद्य में ही दिया है (**राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह:कैलय:**)। इसके १२ सर्गों में क्रमश: श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ रासक्रीड़ा, राधा का विषाद, कृष्ण के लिए व्याकुलता, उपालम्भ, कृष्ण की राधा के लिए उत्कण्ठा, राधा की सखी के द्वारा राधा के विरहसन्ताप का वर्णन, कृष्ण का आगमन, राधा का कोप-प्रकाशन, कृष्ण का संगीत और राधा से मिलन का निरूपण है। इस काव्य के गीत राधा, दूती और कृष्ण के द्वारा गाये गये हैं। ये गीत रस और भाव से पूर्ण हैं। प्रत्येक गीत के अन्त में जयदेव का नाम है। इन गीतों को कथा-सूत्र में बाँधने के लिए वर्णनात्मक पद्य भी हैं। ये पाठ्य पद्य हैं जिन्हें सस्वर पढ़ा जाता है। इस प्रकार 'गीतगोविन्द' में गेय और पाठ्य अंशों का समन्वय है।

इसके प्रथम सर्ग के आरम्भ में 'दशावतारस्तोत्र' है जो इस काव्य को धार्मिक रूप प्रदान करता है। इसका गान पूर्वभारत में शुभ अवसरों पर बहुत प्रचलित है। इसकी प्रथम कड़ी में मीनावतार की प्रर्थना है—

> **प्रलय-पयोधि-जले धृतवानसि वेदम्।**
> **विहित-वहित्र-चरित्रमखेदम्।**
> **केशव ! धृतमीनशरीर ! जय जगदीश हरे।। १।।**

प्रथम गीत (दशावतारस्तुति) के बाद के सभी गीत शृङ्गार-प्रवण हैं। जयदेव को भक्तकवि या शृङ्गारी कवि मानने का प्रश्न बहुधा विवेचित हुआ है। श्रीकृष्ण की रासलीला और प्रणय-व्यापार के कारण इसे शृङ्गार-प्रधान कहा गया है तो दूसरी ओर इसे आध्यात्मिक रूप देनेवाले भी हैं।

---

१. डॉ० भगवतशरण उपाध्याय- प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३३०।

कृष्ण को ब्रह्म और गोपियों को जीवात्मा मानकर राधा-कृष्ण के मिलन को जीव और ब्रह्म के मिलन के रूप में भी दिखाया गया है। फिर भी गीतगोविन्द के मौलिक रूप में जो अभिसार, नखशिख-वर्णन, शारीरिक सौन्दर्य, उद्दाम कामवासना, परस्त्री-गमन का वर्णन है, वह शृङ्गार के ही उपयुक्त है। राधा-कृष्ण की भक्ति का आवरण देकर शृङ्गार को ही प्रधान बनाया गया है। जयदेव ने अपने युग में प्रचलित उत्सवों के अवसर पर मन्दिरों या देव-यात्राओं में कृष्णलीला से सम्बद्ध गाये जानेवाले गीतों का अनुकरण करके उसे साहित्यिक भाषा में नृत्य-गीत-समन्वित काव्य के रूप में ढाला था। कृष्णभक्तों के बीच, सभी गीतों से इसके गीत उत्कृष्ट होने के कारण, ये बहुत लोकप्रिय हुए।

स्वरूप— 'गीतगोविन्द' संस्कृत भाषा में एक नूतन साहित्य-प्रकार को लेकर आया। विगत दो सौ वर्षों में यूरोप में भी यह बहुत प्रशंसित तथा लोकप्रिय हुआ है। यूरोपीय विद्वानों ने इसे अपने-अपने ढंग से साहित्य-प्रकार में रखा है सर विलियम जोन्स ने इसे ग्राम्य नाटक (Pastoral Drama), लासेन ने गीतिनाटक (Lyric Drama), फॉन श्रोएडर ने परिष्कृत यात्रा (Refined yatra) कहा है। पिशेल ने इसे संगीत-नाटक (Melo-Drama) नाम देना उचित समझा है। इसमें वस्तुत: अभिनयात्मक कथोपकथन हैं किन्तु इसीसे यह नाटक की श्रेणी में नहीं आता। जयदेव ने इसे सर्गों में विभक्त करके प्रबन्ध-काव्य का ही रूप दिया था। यह बिल्कुल नये रूप का संगीत-प्रधान काव्य है, गीतिकाव्यों का शिरोमणि है।

'गीतगोविन्द' की रचना का स्वरूप और उद्देश्य जयदेव ने निम्नाङ्कित पद्य में स्पष्ट कर दिया है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं, शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।। (१/३)

अर्थात् हरि-कीर्तन के साथ रासलीला की रमणीयता, कोमल-कान्त-पदावली का माधुर्य- ये दोनों जयदेव की वाणी के अमर उपादान हैं। जयदेव ने ललित पदों का सर्वाधिक मनोरम सन्निवेश किया है, भावों से उनके पद परिपूर्ण हैं अर्थात् साहित्य के दोनों पक्ष (कला और भाव) उनकी कविता में उत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं। पद्यों में अनुप्रास ही नहीं, अन्त्यानुप्रास (तुकबन्दी) भी है जो अपभ्रंशकाव्य का प्रभाव है। इस पद्य में सखी राधा को कृष्ण के साथ विहार के लिए प्रेरणा दे रही है कि वसन्त ऋतु में गोपियों के साथ कृष्ण विहार कर रहे हैं; यहाँ समस्त पदावली से अभिव्यक्त वसन्त की मादकता राधा को अनुप्राणित करती है -

ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे ।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीरे।। १ ।।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते ।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि, विरहिजनस्य दुरन्ते ।। २।।
(सर्ग-१, प्रबन्ध-३)

एक अन्य गीत में सखी राधा को उसी प्रकार कृष्ण के साथ प्रणय-क्रीडा के लिए उत्साह प्रदान कर रही है कि अभिसार में देर न करो। इस गीत (एकताली ताल, गुर्जरी राग) की

संगीतात्मकता के कारण इसका बहुधा उद्धरण दिया जाता है—

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।।
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चञ्चल-करयुग-शाली ।। (ध्रुवम्)
(सर्ग-५, प्रबन्ध-११)

अपनी कविता की कमनीयता पर कवि को स्वाभिमान है। तभी तो अन्त में उसने कहा है कि जयदेव की वैदग्ध्यपूर्ण वाणी के समक्ष जगत् के सभी मधुर पदार्थ फीके हैं चाहे द्राक्षासव (मदिरा) हो, शर्करा हो, अंगूर हो, अमृत हो, या दूध, आम या अधर-सुधारस ही क्यों न हो—

साध्वी माध्वीकचिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत मृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते ।
माकन्द क्रन्द कान्ताधर धर न तुलां गच्छ यच्छन्ति भावं
यावच्छृङ्गारसारं शुभमिव जयदेवस्य वैदग्ध्यवाचः ।। (१२/१२)

शब्द और अर्थ दोनों की कोमलता जयदेव की कविता की विशिष्टता है। शास्त्रीय दृष्टि से पाञ्चाली रीति और माधुर्य गुण का उत्कृष्ट निवेश इसमें हुआ है। कृष्ण की रासक्रीडा गोपियों के साथ होती है, इसका अत्यन्त मनोरम चित्रण कवि की लेखनी से उद्भूत होता है (गीत०, सर्ग-१, प्रबन्ध-४)—

चन्दन-चर्चित-नील-कलेवर-पीत-वसन-वनमाली ।
केलि-चलन्मणि-कुण्डल-मण्डित-गण्डयुगः स्मितशाली ।। २ ।।

यह तो कृष्ण का रूप हुआ, अब उनकी क्रीडाएँ देखें—

श्लिष्यति कामपि, चुम्बति कामपि, कामपि रमयति रामाम् ।
पश्यति सस्मित-चारुतरामपरामनुगच्छति वामाम् ।। ८ ।।

राधा के शरीर का वर्णन करते हुए कवि ने उसे अप्सराओं का निवास बना दिया है। उसके विविध अवयवों में मदालसा, इन्दुमती, मनोरमा, रम्भा, कलावती और चन्द्रलेखा के नाम श्लेष द्वारा रखे गये हैं; वह पृथ्वी में स्वर्ग-युवतियों का समूह ही है—

दृशौ तव मदालसे, वदनमिन्दुसंदीपकं
गतिर्जनमनोरमा, विजितरम्भमूरुद्वयम् ।
रतिस्तव कलावती, रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुध-यौवतं वहसि तन्वि पृथ्वीगता ।। (१०/७)

भाषा की परिशुद्धि का ध्यान जयदेव बहुत अधिक रखते हैं (सन्दर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव १/४)। उनकी कविता में एक ही साथ रस, माधुर्य, संगीत और मोहकता भी है। पदलालित्य और उद्दाम काम-वर्णन के कारण कवि के दोष तिरोहित हो जाते हैं क्योंकि किसी

को ध्यान नहीं रहता कि कल्पनाशक्ति और रसानुभूति की वह ऊँचाई उनमें नहीं है जो कालिदास या अमरुक जैसे कवियों में है। भावों के वर्णन में मौलिक प्रतिभा उनमें नहीं है, प्राय: प्राचीन कवियों का अनुकरण ही है।

जयदेव की रचना का बाह्य पक्ष इतना सुन्दर है कि उन्हें बहुत लोकप्रियता मिली। उनके जन्मस्थान 'केन्दुली' में आज भी उनके भक्त उनकी स्मृति में पौष शुक्ल सप्तमी को उत्सव मनाते हैं तथा रातभर उनके गीतों का गान करते हैं। १२९२ ई० के एक अभिलेख में उनका एक पद्य उद्धृत है, १४९९ ई० में उत्कल के राजा प्रतापरुद्रदेव ने आज्ञा दी थी कि नर्तक और वैष्णव गायद केवल जयदेव के ही गीत सीखें। मूल के सौन्दर्य को विकृत करने वाले (सर विलियम जोन्स-कृत) अनुवाद को पढ़कर ही जर्मन कवि गेटे जयदेव पर मुग्ध हो गये थे।[1] वैष्णव सन्त चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१५२७ ई०) इनके गीतों का गान और श्रवण करते थे। गीतगोविन्द पर प्राय: ३५ संस्कृत टीकाएँ हैं जैसे- कुम्भकर्ण (१५६३ ई०), शंकरमिश्र (१७५९ ई०), वनमालीभट्ट आदि की। मैसूर-नरेश चिक्कदेवराय (१६७२-१७०४ ई०) ने इसके अनुकरण पर 'गीतगोपाल' काव्य लिखा था। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं में भी इसके रूपान्तर हुए है। अंग्रेजी कवि सर एडविन आर्नल्ड ने (बुद्ध के जीवन पर 'Light of Asia' काव्य के लेखक) गीतगोविन्द का अंग्रेजी पद्यानुवाद 'द साँग सेलेश्चियल (The Song Celestial)' के नाम से किया है। रूकर्ट ने इसका जर्मन अनुवाद किया है। देलबर्ग ने भी इसका जर्मन अनुवाद कुछ मर्यादारहित रूप में किया था जिससे गेटे-कवि क्षुब्ध थे तथा स्वयं इसका अनुवाद करना चाहते थे।[2] गीतगोविन्द के अनुकरण पर संस्कृत में अनेक काव्य लिखे गये। हिन्दी कवियों ने भी इसका अनुकरण किया।

(१०) गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती[3]

जयदेव के समकालिक तथा बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (राज्यकाल ११८०-१२०६ ई०) के सभापण्डित गोवर्धनाचार्य ने हाल की 'गाथा-सप्तशती' के अनुकरण पर शृङ्गार-रस के मुक्तक पद्यों के संग्रह 'आर्या-सप्तशती' की रचना की। इसमें आर्या-छन्द में ७०० पद्य हैं। जयदेव ने गोवर्धन के विषय में कहा था कि उत्कृष्ट शृङ्गार-रस से पूर्ण विषय की रचना में आचार्य गोवर्धन का प्रतिस्पर्धी कोई नहीं है (शृङ्गारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुत:)। इस सप्तशती में परिच्छेदों का नाम 'व्रज्या' रखा गया है। पद्य वर्णानुक्रम से सजाये गये हैं।

इस रचना में प्राकृत 'गाथा-सप्तशती' की प्रेरणा मानते हुए कवि कहते हैं (आर्या-५२) कि वाणी का नैसर्गिक प्रवाह तो प्राकृत में ही होता है, संस्कृत में उसे लाना बलात्कार है। कालिन्दी का प्रवाह सदा नीचे की ओर होता है, उसे आकाश में पहुँचाना हठ ही तो है ? शृङ्गार के विविध रूपों को लघुकाय 'आर्या' छन्द में कुशलतापूर्वक भरना गोवर्धन की विशिष्टता है।[4] इसमें नगर-

---

१. ए० बी० कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास, (हिन्दी), पृ० २३८-९।

२. भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग-३, खण्ड-१ (विन्तरनित्स), हिन्दी०, पृ० १८०।

३. अनन्त पण्डित कृत टीका (१६२४ ई०) के साथ काव्यमाला में प्रकाशित, १८९६ ई०। चौखम्बा से पं० रमाकान्त त्रिपाठी कृत हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित।

४. ऐसी रचनाएँ पहले प्राकृत में ही होती थीं, संस्कृत में नहीं।

सुन्दरियों तथा ग्राम-वधूटियों के मनोरम हाव-भाव चित्रित हैं। नायक और नायिका के प्रेमोपालम्भ का यह रूप देखें—

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति ।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ।।

नायिका नायक में पूर्णतः अनुरक्त है किन्तु अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती है ; वह उस लाल गुञ्जाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वत्र लाल-ही-लाल है। दूसरी ओर नायक केवल बोलने में चतुर हैं, केवल मुख से प्रेम का ज्ञापन करता है; वह उस हरे सुग्गे के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।

इसी प्रकार एक विरहिणी की तुलना श्लेष-द्वारा अपभ्रंश-भाषा से की गयी है—

न सवर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव ।।

गोवर्धन ने नारी-हृदय के सूक्ष्म भावों के निरूपण में बहुत सफलता पायी है। संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में कामिनियों के हृदय में उठनेवाले भावों को उन्होंने अङ्कित किया है।

(११) पण्डितराज जगन्नाथ का भामिनीविलास

संस्कृत भाषा के उत्कृष्ट कवि तथा काव्यशास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ १७वीं शताब्दी ई० के सर्वाधिक चर्चित साहित्यकार हैं। ये आन्ध्रप्रदेश के तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था। जगन्नाथ ने अपने सर्वविद्याकुशल पिता से ही शास्त्रों का अध्ययन किया था। मुगल-नरेश शाहजहाँ ने अपने बड़े पुत्र दाराशिकोह की संस्कृत-शिक्षा के लिए इन्हें नियुक्त किया तथा 'पण्डितराज' की उपाधि दी। यद्यपि ये क्रमशः कई राजाओं के आश्रय में रहे थे- जहाँगीर (१६०५-२७ ई०), शाहजहाँ (१६२७-५७ ई०), उदयपुर के राणा जगत् सिंह (१६२८-५९) तथा कामरूपेश्वर प्राणनारायण (१६३३-५६ ई०) किन्तु इनका अधिक समय शाहजहाँ के दरबार में ही बीता। किंवदन्ती है कि किसी यवनी से (संभवतः लवङ्गी से) इन्होंने विवाह किया था जिससे इन्हें भट्टोजिदीक्षित और अप्पयदीक्षित ने जाति-बहिष्कृत करा दिया। इन दोनों विद्वानों के ये घोर शत्रु बन गये तथा उनके ग्रन्थों (क्रमशः प्रौढमनोरमा और चित्रमीमांसा) का इन्होंने खण्डन किया। संस्कृत के प्रौढ ग्रन्थों और स्तोत्रकाव्यों के अतिरिक्त अपने आश्रयदाता नरेशों की भी इन्होंने प्रशस्तियाँ लिखीं। जगन्नाथ का अन्तिम समय मथुरा और काशी में बीता। इनका जीवनकाल १५९० ई० से १६७० ई० तक माना गया है।

पण्डितराज ने अपने विषय में बहुत-सी सूचनाएँ दी हैं जैसे-दिल्ली-नरेश की छत्रच्छाया में युवावस्था बिताना (दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः), अपने को वाणी का आचार्य मानना (वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः, भामिनीविलास, ४/२६)। इनकी रचनाओं के कई वर्ग हैं— (क)- रसगङ्गाधर, चित्रमीमांसाखण्डन। (ख) **स्तोत्र**- गङ्गालहरी (पीयूषलहरी), अमृतलहरी, सुधालहरी, लक्ष्मीलहरी तथा करुणालहरी। (ग) **व्याकरण**- प्रौढमनोरमाखण्डन। (घ) **मुक्तक-संग्रह**- भामिनीविलास। (ङ) **प्रशस्तिकाव्य**- आसफविलास

(नूरजहाँ के भाई आसफखाँ का चरित), प्राणाभरण (कामरूप-नरेश प्राणनारायण का वर्णन), जगदाभरण (उदयपुर के राणा जगत्सिंह की प्रशस्ति)। संस्कृत साहित्य में प्रौढ समीक्षा तथा उत्तम काव्य-रचना की दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ अमर हैं। इनके कवित्व के विषय में एक प्रशस्ति है—

> **कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः ।**
> **नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः ।।**

अर्थात् पण्डितराज के समक्ष अन्य कवियों का कवित्व प्रकट करना वैसा ही है जैसा नटराज शिव के समक्ष भूत-वेतालों का नृत्य करना।

'भामिनीविलास' पण्डितराज जगन्नाथ के स्फुट (मुक्तक) पद्यों का संग्रह है जिसे कविने अपने पद्यरत्नों की रक्षा के लिए मञ्जूषा के रूप में रचा।[१] इसके चार भाग (विलास) हैं- अन्योक्ति या प्रास्ताविक, शृङ्गार, करुण तथा शान्तविलास। इस ग्रन्थ के विविध संस्करणों में पद्यों की संख्या की भिन्नता है। लक्ष्मण रामचन्द्र वैद्य कृत संस्करण (बम्बई, १८८७ ई०) में अन्योक्तिविलास में १२९, शृङ्गारविलास में १८३, करुणविलास में १९ तथा शान्तविलास में ४५ पद्य हैं (=३७६)। निर्णयसागर प्रेस से अच्युतराय मोदक की व्याख्या-सहित प्रकाशित संस्करण (१९३३, तृ० सं०) में पद्यों की संख्या क्रमशः १०१, १०२, १९ तथा ३२ है (=२५४)। इस स्थिति में यह कहना कठिन है कि जगन्नाथ ने इसमें अपने कितने पद्यों का मूलतः संकलन किया था। उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से पं० आर्येन्द्र शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में ५०० के आसपास स्फुट पद्य संकलित हैं। ये पद्य भामिनीविलास के अतिरिक्त हैं।

'भामिनीविलास' के प्रथम भाग **अन्योक्तिविलास** में सिंह, हंस, कमल, मधुकर, चन्दन, मेघ, समुद्र आदि ३४ पदार्थों को लेकर सुन्दर तथा भावपूर्ण अन्योक्तियाँ दी गयी हैं। सिंह पराक्रम और शौर्य का प्रतीक है, कमल सुकुमारता और सरसता का, भ्रमर गुणग्राहकता का, चन्दन परोपकार का और मेघ उदारता का। इन पदार्थों में मानव को उपदेश देने की पूर्ण क्षमता है। निम्नलिखित पद्य में कोकिल की अन्योक्ति के रूप में धैर्य का उपदेश है—

> **तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ।**
> **यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ।।**

'हे कोकिल ! इसी वन के अन्दर धैर्यपूर्वक रहकर अपने दैन्यमय दिनों को तुम तबतक बिताओ जबतक कि भ्रमर-समूह से घिरा कोई रसाल-वृक्ष मञ्जरियों से भर न जाये।' कमलिनी को सम्बोधित करते हुए कवि कहते हैं कि संसार में सभी अज्ञ ही नहीं हैं, कुछ लोग मर्मज्ञ भी होते हैं—

> **कमलिनि, मलिनीकरोषि चेतः**
> **किमिति बकैरवहेलितानभिज्ञैः ।**

---

१. **भामिनीविलास** ४/३२ दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा कृता मया।।

परिणत-मकरन्द-मार्मिकास्ते
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ।। (१/८)

'हे कमलिनी! यदि मूर्ख बगुले तुम्हारा अपमान करते हों तो इससे तुम अपने मन को खिन्न क्यों करती हो ? तुम्हारे प्रौढ़ मकरन्द (पराग) के मर्म (महत्त्व) को जाननेवाले भौंरे संसार में दीर्घायु रहने चाहिए।'

शृङ्गारविलास में शृङ्गार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों पक्षों का मार्मिक वर्णन है। इसमें जगन्नाथ के 'भामिनि' शब्द का उल्लेख प्रथम पद्य में ही है (उपचीयत एव कापि शोभा, परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम्)। इससे ग्रन्थ के शीर्षक का समर्थन होता है। कुछ लोगों ने कवि की पत्नी का नाम 'भामिनी' माना है। इस पद्य में किशोर (अप्रौढ) भ्रमरों की भ्रान्ति का चमत्कार-पूर्ण वर्णन करते हुए कवि ने ध्वनि से अपने मन को भ्रान्त न होने का उपदेश दिया है—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं, नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा, मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ।। (१/८)

सरोवर के तीर पर खड़ी तरुणी का हासपूर्ण मुख एवं जल में खिलते हुए कमल को देखकर भोले-भाले भ्रमर-किशोरों की पराग-लोभी पंक्ति दोनों ओर दौड़ रही है- यह कैसा दृश्य है! भ्रमर प्रौढ़ नहीं हैं कि दोनों समान आकर्षणों में अन्तर कर सकें। एक अन्य पद्य में प्रियतमा के दुर्वार आकर्षण का निरूपण कवि करता है जिसे दर्शन का गम्भीर अध्ययन भी हटा नहीं पाता—

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हन्त मतिपथं नीता ।
तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद्बहिर्याति ।। (२/३८)

इसमें विशेषोक्ति अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग है।

करुणविलास में कवि ने प्रियतमा के दिवंगत होने की दशा में जगत् की करुण स्थिति का चित्रण किया है। अनुमान होता है कि ये भाव कवि के अपने जीवन से सम्बद्ध हैं। इसके १९ पद्यों में १८ वसन्ततिलका छन्द में हैं। एक पद्य में कवि ने अपनी कविता से प्रियतमा की तुलना की है—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः।
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा
रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति।। (३/६)

इस विलास में कवि की कारुणिक दशा मार्मिक रूप से प्रकट हुई है- गीत आदि सारे विषय विस्मृत हो गये, विद्याएँ भी विमुख हो गयीं, केवल वह हरिणाक्षी ही हृदय से निकल नहीं रही है (३/३); हे सुन्दरि, तुम्हारे जो विलास मेरे मन में काव्य बन कर प्रकट होते हैं, उनके अभाव में अब मनोहारिणी कविता कैसे निकलेगी ?

काव्यात्मना मनसि पर्यगमन्पुरा मे
पीयूष-सार-सरसास्तव ये विलासाः।
तानन्तरेण रमणी-रमणीय-शीले !
चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः।। (३/१०)

शान्तविलास भक्ति-प्रधान खण्डकाव्य है जिसमें मुख्यतः भगवान् कृष्ण के प्रति कवि के भावपूर्ण मनोरम पद्य हैं। इसका मुख्य भाग मथुरा में निवास करते हुए उन्होंने लिखा होगा। इसीलिए तत्सम्बद्ध विषयों का वर्णन है। अन्त में कुछ उपसंहारात्मक पद्य हैं जिनमें कवि की गर्वोक्तियाँ हैं। कृष्ण के मुखचन्द्र के प्रति अपने मन को चकोर बनाने की कामना प्रथम पद्य में की गयी है—

विशाल-विषयावली-मलय-लग्न-दावानल-
प्रसृत्वर-शिखावली-विकलितं मदीयं मनः।
अमन्द-मिलदिन्दिरे निखिल-माधुरी-मन्दिरे
मुकुन्द-मुख-चन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम्।। (४/१)

'**भामिनीविलास**' वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ के विविधायामी जीवनदर्शन और अप्रतिम कवित्वशक्ति का परिणत फल है जिसमें शृङ्गार, नीति, भक्ति और मुक्ति का यथेष्ट अनुपात में समन्वय है। अपने 'रसगङ्गाधर' में जिस उत्तमोत्तम काव्य का निर्देश कवि ने किया है उसका उदाहरण इसके प्रत्येक पद्य में प्राप्त होता है।[1] रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हुए जगन्नाथ ने शब्द के सौन्दर्य को जो प्रधानता दी है[2], उसे भी इस मुक्तक काव्य के पद्यों में प्रकट किया है। सभी पद्य ऊपर से अनुप्रास युक्त पदलालित्य से भरे हैं, उनका अर्थगत चमत्कार और व्यञ्जना तो अतिरिक्त वैशिष्ट्य हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भामिनीविलास के आरम्भ में सिंह की अन्योक्ति के रूप अपनी गर्वोक्ति दिखायी है– नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः (१/१)। ग्रन्थ के अन्त में भी अपनी कविता की प्रशंसा में उन्होंने कहा है कि वे मूर्ख जीवित होने पर भी वस्तुतः मृत हैं जिन्हें जगन्नाथ की उक्तियों में आनन्द नहीं मिलता—

ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः। (४/२९)

अपनी शैली और कवित्वशक्ति के प्रति जागरूक कवि ने अन्ततः कृष्ण के चरणों में ही अपने को समर्पित किया, संसार के सभी विषय उन्हें कृष्ण के सामने फीके लगे। 'शान्त-विलास' के कुछ संस्करणों में यह पाठ है– सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते (श्लो० ४५)। अपनी भक्ति के निष्कर्ष के रूप में वे कहते हैं कि सभी योनियों में भ्रमण करते हुए नाना विषयों का सेवन करने पर भी 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जो माधुर्य मिला, वह कहीं सुलभ नहीं था—

---

१. रसगङ्गाधर (निर्णयसागरप्रेस), पृ० ९ शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।
२. वही, पृ० ४ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः ।
तत्त्वं ब्रूहि मदीयजीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ।। (४/७)

जगन्नाथ शाङ्करवेदान्त के अनुयायी होने पर भी उदार वैष्णव थे जिन्होंने कई देवों की स्तुतियाँ की। (स्तोत्र-साहित्य में इनके स्तोत्रों का परिचय दिया जायेगा)।

(१२) आधुनिक गीतिकाव्य

आधुनिक युग में संस्कृत भाषा में नये विषयों पर भी गीतिकाव्य लिखे गये हैं। परम्परागत शृङ्गार, नीति, संसार की असारता आदि के अतिरिक्त देशभक्ति, कविप्रशस्ति, प्रकृति-वर्णन आदि विषयों पर मुक्तक पद्य या संगीतात्मक कविताएँ रची गयी हैं। इनका पाठ भी कवि-सम्मेलनों के अवसर पर स्वयं कवियों के द्वारा या अन्य लोगों के द्वारा समारोहों में किया जाता है। पत्र-पत्रिकाओं में या संग्रहात्मक ग्रन्थों में इनका प्रकाशन भी हुआ है। यहाँ कुछ गीतिकाव्यों का उल्लेखमात्र सम्भव है क्योंकि सहस्राधिक गीतियाँ प्रकाशित हैं। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री (जन्म १९१६ ई०) की **'काकली'** १९३५ ई० में प्रकाशित हुई थी जिसमें संस्कृत के नये ढंग के गीत थे। इसमें 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' पर बहुत बल है; जयदेव, जगन्नाथ तथा स्वयं कवि की अपनी कवित्वशक्ति का इसमें समन्वय है। एक उदाहरण लें—

निनादय नवीनामये वाणि, वीणाम् ।
मृदुं गाय गीतिं ललितनीतिलीनाम् ।
मधुरमञ्जरीपिञ्जरीभूतमालाः, वसन्ते लसन्तीह सरसा रसालाः ।
कलापाः ललितकोकिला काकलीनाम् । निनादय० (पृष्ठ १)

शास्त्री जी ने अपनी प्रारम्भिक रचनाएँ संस्कृत में ही कीं किन्तु बाद में हिन्दी कवि और आलोचक के रूप में पर्याप्त यश अर्जित किया।

डॉ० जगन्नाथ पाठक की 'कापिशायनी' (१९८०)[1] सरल किन्तु भावपूर्ण पद्यों का संग्रह है जिसमें मुख्य ग्रन्थ के रूप में ४०५ पद्यों (वियोगिनी छन्द में) का मुक्तक काव्य 'कापिशायनी' (द्राक्षारसमयी नूतनमुक्तककाव्यरचना) है। इसके पद्य (चषक) उर्दू शेरों के समान मधुर भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हैं, ये मधु (मदिरा) को प्रतीक बनाकर लिखे गये हैं जैसे—

चषका इह जीवने मया, परिपीता अपि चूर्णिता अपि ।
मदमेष बिभर्मि केवलं, क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते ।। (सं० २)

'इस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के चषक-पान किये, किन्तु नशा नहीं आया। कभी एक बार तुम्हारी मधुर मुस्कान का एक क्षण के लिए ही आस्वाद मिला था, जिसका नशा अभी भी बना हुआ है।' अन्य अंशों में समस्यापूर्ति, कालिदास तथा विद्यापति की प्रशस्ति, गजल, रुबाई

१. गङ्गानाथ झा संस्कृत शोध संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित। पाठक जी की अन्य गीतिकविता है— मृद्वीका।

आदि के पद्य हैं।[1]

इधर डॉ० अभिराजराजेन्द्र मिश्र (जन्म १९४२ ई०) ने अनेक क्षेत्रों में रचनाएँ की हैं जैसे-महाकाव्य (जानकीजीवन), खण्डकाव्य, एकांकी रूपक, कथा-संग्रह इत्यादि। **मृद्वीका** तथा **वाग्वधूटी** इनके प्रसिद्ध गीतिकाव्य हैं। निम्नलिखित गीत में अनुशासन की महत्ता पर बल दिया गया है—

जीवनं रोचते नो विधानं विना
मोदते नैव हंसो निपानं विना।
मल्लिकामञ्जरीणां विकासाशया
चञ्चरीको मृतो हन्त पानं विना।। (मृद्वीका, गीता-३०)

भाषा की सरलता और नैसर्गिक प्रवाह एवं भाव की स्पष्टता अभिराज-काव्य की विशिष्टता है। विद्यापति के एक सौ गीतों का संस्कृत-काव्य में स्वतन्त्र रूपान्तर करके **'विद्यापति-शतक'** की रचना द्वारा डॉ० काशीनाथ मिश्र ने गीतिकाव्य के सर्वथा अभिनव पक्ष का प्रवर्तन किया है।[2] आर्या-छन्द में आद्यन्त रचित इन गीतों को स्तुतिसमुल्लास, शृङ्गारविलास तथा वैराग्योच्छ्वास-इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। स्पष्टत: द्वितीय भाग में सर्वाधिक गीत हैं। कवि का प्रौढ काव्यशास्त्रीय पाण्डित्य पद-पद पर प्रकट होता है किन्तु इससे भाव-पक्ष को शक्ति ही प्राप्त हुई है। एक गीत (सं० ७७) का आरम्भिक अंश देखें—

मलयजलेपो जातो विषमशरत्वं मनोजहतकस्य ।
भूषणमखिलं सम्प्रति देहे भारायते ऽतितराम् ।।
स्वप्नेऽपि क्षणमात्रं नायातोऽसौ हृदन्तरातिथिताम् ।
धृतगोवर्धनशैलो गोकुलवसतिर्मनोहारी ।।

इसके वैराग्योच्छ्वास में भगवान् कृष्ण तथा शिव की प्रार्थनाएँ हैं। माधव से विद्यापति प्रार्थना करते हैं—

विविधैः पापमयैरिह माधव ! यत्नैर्यदर्जितंवित्तम् ।
परिजनवर्गः सकलो भुङ्क्ते तन्मामनादृत्य ।। १ ।।
पापपयोनिधिपारं गन्तुमुपायो नकश्चिदन्योऽस्ति ।
तव पदतरणिं त्यक्त्वा तस्मात्तेऽहं भजे चरणौ ।। ३ ।। (सं० ९५)

---

१. इस पुस्तक पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त है। इसी प्रकार डॉ० रामकरण शर्मा का गीत-संग्रह 'सन्ध्या' भी इस पुरस्कार से अलंकृत है।
२. जानकी प्रकाशन, पटना से १९९२ ई० में प्रकाशित।

स्तोत्रकाव्य या धार्मिक गीतिकाव्य

(Religious Lyrics)

शृङ्गारप्रधान गीतिकाव्य के व्यापक वर्ग से भिन्न धार्मिक गीतिकाव्यों का वर्ग है जिसे 'स्तोत्रकाव्य' भी कहा जाता है। प्रचार-प्रसार की दृष्टि से इस वर्ग का अधिक महत्त्व है। सामान्य जनों तथा भक्तों के बीच स्तोत्रों की लोकप्रियता भाषा के बन्धन को तोड़ देती है। संस्कृत न जाननेवाले भी स्तोत्रों का पाठ और गान करते हैं। स्तोत्रकाव्य में भक्ति तथा वैराग्य दोनों विषयों का ग्रहण होता है। वैराग्य वाले स्तोत्र संसार की असारता तथा भगवद्भजन का महत्त्व दिखाते हैं जैसा कि उपर्युक्त भामिनीविलास के अन्तिम खण्ड (शान्तविलास) के पद्यों में या भर्तृहरि के वैराग्यशतक के कुछ पद्यों में है। शङ्कराचार्य के नाम से ऐसे स्तोत्रों का प्राचुर्य है।

भक्ति-विषयक स्तोत्रों में कवि द्वारा किसी आराध्य देवता, आचार्य, पवित्र नदी, तीर्थ आदि की वन्दना हुई है। अपने आराध्य की महिमा और अपनी दीनता का निष्कपट भाव से निरूपण करते हुए संस्कृत के भक्त कवियों ने अपूर्व तन्मयता के साथ स्तोत्रकाव्य लिखे हैं। आराध्य देवतादि की दिव्य विभूतियों का वर्णन करके उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का अतुल प्रयास इन कवियों ने किया है। संगीत-तत्त्व का समावेश होने पर ये काव्य आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने 'भक्ति' को एक भावमात्र (रतिर्देवादिविषया भावः प्रोक्तः-मम्मट) कहा था किन्तु परवर्ती वैष्णव सन्तों तथा आचार्यों ने इसे रस-कोटि में रखकर सभी स्तोत्रों को 'रसात्मक काव्य' की श्रेणी प्रदान की। स्तोत्रों का भक्तिपूर्वक गान करते हुए अनेक लोग आत्मविस्मृति की स्थिति में जाकर नृत्य भी आरम्भ कर देते हैं। संस्कृत साहित्य के सभी प्रकारों में स्तोत्रकाव्य सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। कई स्तोत्रों में अर्थ की सरलता है तो कई अपने शब्द-सौन्दर्य से प्रभावित करते हैं। कुछ स्तोत्रों में रमणीय छन्द (उपजाति, शिखरिणी, वसन्ततिलका, पञ्चचामर) ही प्रभाव के लिए पर्याप्त हैं, कुछ स्तोत्र गद्यात्मक होने पर भी लोकप्रिय हैं (यद्यपि ये गिने-चुने हैं)। आज भी संस्कृत कवियों में स्तोत्र-रचना की प्रवृत्ति मिलती है। इस साहित्य के सौन्दर्य के उद्घाटन के लिए अनेक ग्रन्थ भी अपर्याप्त हैं। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण स्तोत्रों का परिचय दिया जाता है।[1]

(१) पुष्पदन्त का शिवमहिम्नः स्तोत्र

मुख्यतः शिखरिणी छन्द में रचित भगवान् शिव की महिमा का वर्णन करने वाला यह स्तोत्र शिवभक्तों के बीच बहुत लोकप्रिय है। वर्तमान प्रतियों में यद्यपि ४० पद्य मिलते हैं किन्तु इसके व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती (१६वीं शताब्दी ई० के प्रसिद्ध वेदान्ती विद्वान्) ने केवल आदिम ३२ पद्यों पर ही टीका की। नर्मदा-तट पर अवस्थित अमरेश्वर-महादेव के मन्दिर की दीवार पर इसके ३१ पद्य ही उत्कीर्ण हैं, इस अभिलेख का काल १०६३ ई० है। स्पष्टतः यही इसका मूलपाठ है। अन्य पद्यों में रचयिता का नाम आदि भी है (श्री पुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन, स्तोत्रेण किल्विषहरेण हरप्रियेण; सं० ३९)। इसमें दार्शनिक उत्कर्ष के साथ शिव की पौराणिक गाथाओं का भी समावेश है। अनेक शास्त्रों के अन्तिम लक्ष्य शिव हैं, इसे निम्न पद्य में दिखाया गया है

---

१. अनेक स्तोत्र व्यावहारिक उपयोग के लिए देवताक्रम में संकलित करके प्रकाशित हैं। एक सुलभ संस्करण है—बृहत्स्तोत्ररत्नाकर (चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९८३); इसमें ४२५ स्तोत्र हैं।

(पद्य-७) -

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजु-कुटिल-नानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

इसके लेखक पुष्पदन्त कश्मीरी कवि थे जिनका आविर्भाव-काल ९वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है यद्यपि कुछ लोग इन्हें ४०० ई० का भी स्वीकार करते हैं।

(२) मयूरभट्ट का सूर्यशतक

७वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में आविर्भूत तथा बाणभट्ट के निकट सम्बन्धी मयूरभट्ट के विषय में किंवदन्ती है (जिसे मम्मट ने समर्थन दिया है) कि सूर्य की महिमा का १०० पद्यों में वर्णन करके उन्होंने अपने असाध्य रोग का निवारण किया था। वह स्तुति स्रग्धरा छन्द में अपनी ओजस्विता के कारण प्रसिद्ध है। इस छन्द का प्रथम स्तोत्रकाव्य यही है। अनुप्रासयुक्त पदावली में कवि ने सूर्य के विभिन्न अङ्गों और साधनों (रथ आदि) का वर्णन किया है। इसका आरम्भ इस प्रकार हुआ है—

जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणुं
रक्ताः सिक्ता इवौघैरुदयगिरितटी-धातुधाराद्रवस्य ।
आयान्त्या तुल्यकालं कमलवनरुचेवारुणा वो विभूत्यै
भूयासुर्भासयन्तो भुवनमभिनवा भानवो भानवीयाः ।।१।।

(३) बाणभट्ट का चण्डीशतक

मयूरभट्ट की शैली में ही बाणभट्ट ने भगवती दुर्गा की स्तुति 'चण्डीशतक' में की है। इसमें भी स्रग्धरा-छन्द के १०० पद्य हैं। अनुप्रासमय शब्द-विन्यास, दीर्घ समास, क्लिष्ट श्लेष तथा जटिल वाक्यरचना दोनों शतकों सें समान रूप से मिलती है। अपनी दीर्घता के कारण ये शतक भक्तों में लोकप्रिय नहीं हुए किन्तु काव्य के निकष के रूप में इन्हें पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। कहा जाता है कि सूर्यशतक और चण्डीशतक की रचनाएँ कवियों द्वारा परस्पर शाप दिये जाने के कारण हुई थीं। जो भी हो, दोनों की समानता, समकालिकता तथा प्रतिस्पर्धी के रूप में शैली का प्रयोग इस किंवदन्ती का कारण होगा। चण्डीशतक का एक पद्य देखें जिसमें अन्य साधनों के विफल होने पर देवी की अमोघ सहायता वर्णित है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे ।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ।।

(४) शङ्कराचार्य के स्तोत्र

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक शङ्कराचार्य के नाम से संस्कृत में कई स्तोत्र मिलते हैं जिनमें कुछ उनकी परम्परा के शङ्कराचार्यों के द्वारा लिखे गये। कुछ ही स्तोत्र आदि-शङ्कराचार्य के द्वारा रचित हैं जैसे- शिवापराधक्षमापणस्तोत्र, देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र, चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र, आनन्दलहरी, अम्बाष्टक इत्यादि। शङ्कराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सगुण ब्रह्म के अनेक रूपों (शिव, दुर्गा, गणेश, हनुमान् आदि) की स्तुतियाँ की हैं। इन स्तोत्रों की ललित पदावली, सरल शैली, गहन भक्ति और प्रबल प्रपत्ति महत्त्व रखती है। देवी के प्रति निम्नलिखित निवेदन शङ्कराचार्य की रचना का प्रतिनिधित्व करता है—

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

(देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र,३)

'त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्र' में शङ्कराचार्य की सानुप्रास पदावली का चमत्कार मिलता है जैसे—

कदम्बवनचारिणीं मुनिकदम्बकादम्बिनीं
नितम्बजितभूधरां सुरनितम्बिनीसेविताम्।
नवाम्बुरुहलोचनामभिनवाम्बुदश्यामलां
त्रिलोचनकुटुम्बिनीं त्रिपुरसुन्दरीमाश्रये॥ (सं०१)

शङ्कराचार्य की 'चर्पटपञ्जरिका' में संसार के असार आकर्षणों से दूर रहकर गोविन्द के प्रति आसक्ति पर बल दिया गया है, इसे 'भज गोविन्दम्' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें भक्ति और वैराग्य का महत्त्व दिखाया गया है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते। (ध्रुवपदम्)
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे, कृपयापारे पाहि मुरारे॥ भज०॥

उनके वेदान्तविषयक स्तोत्र भी बहुत प्रसिद्ध हैं जैसे- परब्रह्मस्तोत्रम्, निर्वाणषट्कम् (चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्), साधनपञ्चकम्, कौपीनपञ्चकम् (कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः), द्वादशपञ्जरिका (मोहमुद्गर) इत्यादि।

(५) वैष्णवस्तोत्र

दक्षिण भारत के कवियों ने वैष्णव स्तोत्रों की रचना में प्रभूत योगदान किया। केरल के राजा कुलशेखर ने ३४ पद्यों की 'मुकुन्दमाला' लिखी जिसमें विष्णु की भावपूर्ण स्तुति है (७०० ई०)। रामानुज के गुरु यामुनाचार्य ने (१००० ई०) 'आलबन्दार-स्तोत्र' (स्तोत्ररत्न) में ६५ पद्यों में विष्णु की एवं 'चतुःश्लोकी' में लक्ष्मी की वन्दना की। रामानुज (१०१७-११३५ ई०) ने तीन

गद्यात्मक स्तोत्रों की रचना की - शरणागतिगद्य, वैकुण्ठगद्य तथा श्रीरङ्गगद्य। उनके शिष्य श्रीवत्साङ्क ने पाँच स्तोत्र लिखे- श्रीस्तव, अतिमानुषस्तव, वरदराजस्तव, सुन्दरबाहुस्तव तथा वैकुण्ठस्तव। १२वीं शताब्दी के केरलवासी कवि कृष्णलीलाशुक (या बिल्वमङ्गल) ने ३१० पद्यों में '**कृष्णकर्णामृत**' काव्य लिखा जिसमें कृष्ण की बाल लीला पर आश्रित माधुर्य भक्ति का प्रकर्ष प्राप्त होता है। बंगाल के चैतन्य-सम्प्रदाय के उद्‌भव पर इस काव्य का प्रभूत प्रभाव है।

वैष्णवस्तोत्रों के महान् रचनाकार **वेदान्तदेशिक** (१२६८-१३८९ ई०) हुए जिन्होंने २५ स्तोत्रकाव्यों की रचना की जिनमें मुख्य हैं- **पादुकासहस्र** (१००० पद्यों में विष्णु की पादुकाओं की स्तुति), गरुडदण्डक (लम्बे दण्डक-छन्द के ५२ पद्यों में गरुड़ की स्तुति), **वरदराजस्तव** (काञ्ची के देव वरदराज की ५१ पद्यों में स्तुति) इत्यादि। 'पादुकासहस्र' ३२ पद्धतियों में विभक्त है जिनमें दर्शन, काव्यशास्त्र एवं भक्ति का प्राचुर्य है। भगवान् रङ्गनाथ की पादुकाओं की प्रशस्ति में यह विशाल काव्य रचा गया है। इसी काव्य से प्रेरणा लेकर वेंकटाध्वरी (१७वीं शताब्दी) ने 'लक्ष्मीसहस्र' की रचना की थी। '**वरदराजस्तव**' नामक काव्य अप्पयदीक्षित (१५५४-१६२६ ई०) ने भी लिखा जिसमें १०० पद्य हैं। इसपर ग्रन्थकार ने स्वयं टीका लिखी।

काशी के प्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् मधुसूदन सरस्वती (१६वीं-१७वीं शताब्दी) ने भक्तिरसायन, अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, प्रस्थानभेद जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की, तो दूसरी ओर १०२ पद्यों की '**आनन्दमन्दाकिनी**' लिखी जिसमें भगवान् कृष्ण की रसपूर्ण स्तुति है। सोमेश्वर ने 'रामशतक' १०० स्रग्धरा-छन्द के पद्यों में तथा रामभद्र दीक्षित ने ११६ शार्दूलविक्रीडित छन्द के पद्यों में 'रामाष्टप्रास' काव्य लिखा। दोनों में राम की स्तुति है। दूसरे काव्य में प्रत्येक पद्य आठ-आठ अनुप्रासों से युक्त है जो शङ्कराचार्य के 'अम्बाष्टक' के अनुकरण पर है।[1] केरल के कवि नारायणभट्ट (१६वीं शताब्दी का अन्तिम चरण तथा १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने १८ ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें '**नारायणीय**' काव्य के कारण इन्हें सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली। अपने वातरोग की निवृत्ति के लिए गुरुवायूर नामक स्थान में बालकृष्ण के मन्दिर में रहकर इस काव्य की रचना इन्होंने की थी। इस काव्य में १०३६ पद्य हैं। इसकी रचना भागवतपुराण के आधार पर स्कन्ध-क्रम से हुई है। ग्रन्थ का आधा (५९६ पद्य) भाग दशमस्कन्ध की कथा पर आश्रित है। दस-दस श्लोकों के दशकों में इसका विभाजन हुआ है।

(६) शैव-शाक्त स्तोत्र

भगवान् शंकर की स्तुति संस्कृत के अनेक कवियों ने की है। कश्मीरी कवियों का इस क्षेत्र में विशेष योगदान है। शिव की पत्नी पार्वती के रूप में देवी की स्तुति भी अनेक कवियों

---

१. अम्बाष्टक का प्रत्येक पद्य १२ अनुप्रासों से युक्त है, प्रत्येक पाद में ३ अनुप्रास हैं जैसे—
चेटीभवन्निखिलखेटी-कदम्बतरुवाटीषु नाकिपटली-
कोटीरचारुतरकोटीमणी-किरणकोटी-करम्बितपदा ।
पाटीर-गन्ध-कुचशाटी कवित्वपरिपाटीनगाधिपसुता
घोटी कुलादधिकधाटीमुदारमुखवीटीरसेन तनुताम् ।।१।।
इसे अश्वधाटी-काव्य कहते हैं क्योंकि इसी छन्द का प्रयोग है। काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित।

ने इसी प्रसङ्ग में की है। शंकराचार्य ने दोनों का स्तवन विविध स्तोत्रों में किया। उनके समकालीन कवि मूक ने 'मूकपञ्चशती' में ५०० पद्य कामाक्षी देवी (काञ्ची) की स्तुति में लिखे जिनकी कृपा से कवि को बोलने की शक्ति मिली थी।[1] कश्मीरी कवि रत्नाकर ने ५० पद्यों में शिव-पार्वती का वर्णन करने वाली 'वक्रोक्ति-पञ्चाशिका' लिखी जिसमें वक्रोक्ति का कुशल प्रयोग है। आनन्दवर्धन ने (८५० ई०) 'देवीशतक' की रचना की जिसमें शब्दालङ्कारों के प्रयोग के कारण अद्‌भुत संगीतात्मकता है। अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलदेव (९३० ई०) ने शिव की स्तुति में 'शिवस्तोत्रावली' लिखी। इसमें २१ विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। सब का लक्ष्य है- शिव के अनन्त गुणों का वर्णन। एक पद्य में कवि कहता है—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते, कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ।।

अर्थात् हे शिव, आपके कण्ठ के कोने में रखा कालकूट विष भी मेरे लिए महनीय अमृत है किन्तु आपके शरीर से पृथक् रहने वाला अमृत भी हो तो वह मुझे अच्छा नहीं लगता।

एक अन्य कश्मीरी कवि जगद्धरभट्ट (१३५० ई०) ने १४१५ पद्यों में ३८ स्तोत्रों के संग्रह के रूप में 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि'[2] की रचना की। उत्पलदेव के समान इन्होंने भी 'त्रिक-दर्शन' (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन) के सिद्धान्तों का प्रासंगिक निरूपण इसमें किया है। इसमें श्लेष तथा यमक का प्रचुर प्रयोग है जिससे यह अधिक काव्यात्मक है।

शङ्कराचार्य भगवती त्रिपुरसुन्दरी (ललिता देवी) के उपासक थे। उन्होंने अपनी आराध्य देवी के विषय में अनेक स्तोत्र लिखे। उपर्युक्त 'त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्र' के अतिरिक्त उनकी **'सौन्दर्यलहरी'** इस विषय में प्रसिद्ध स्तोत्र हैं जिसमें शिखरिणी छन्द के १०० पद्यों में त्रिपुरसुन्दरी की तान्त्रिक पूजा और अनुपम सौन्दर्य का चित्रण है। इस पर अनेक टीकाएँ हैं। शङ्कराचार्य की ही रचना **'कनकधारास्तव'** है जिसमें लक्ष्मी की स्तुति २२ पद्यों में है।

(७) जैन-बौद्ध स्तोत्र

जैन तथा बौद्ध भक्तों ने भी संस्कृत में अपने-अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा समर्पित करने के लिए स्तोत्र लिखे जिनमें संगीत और काव्य दोनों का समावेश है। बौद्धकवि अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) ने एक गीतिकाव्य 'गण्डीस्तोत्रगाथा' की रचना की थी जिसमें नगाड़े को पीटकर धार्मिक संदेश भेजने का वर्णन है। द्वितीय शताब्दी ई० के जैन कवि समन्तभद्र ने चार स्तोत्र लिखे- स्वयम्भूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन तथा जिनशतक। स्वयम्भूस्तोत्र (१४३ पद्य) में २४ तीर्थङ्करों की स्तुति हृदयावर्जक है। इन सभी स्तोत्रों की शैली सरल और भावपूर्ण है। ५०० ई० के आसपास सिद्धसेन दिवाकर नामक जैन लेखक ने उक्त तीर्थङ्करों की स्तुति के रूप में 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' लिखा। इसमें ३२-३२ पद्यों के कुल ३२ स्तोत्र थे किन्तु आज केवल २१ स्तोत्र मिलते हैं। ये साहित्यिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक गाम्भीर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। बाण और मयूर के समकालिक जैनाचार्य मानतुङ्ग (या मातङ्गदिवाकर) ने 'भक्तामरस्तोत्र' लिखा जिसमें

---

१. काव्यमाला, पञ्चम गुच्छक में प्रकाशित ।
२. हिन्दी अनुवाद के साथ काशी से प्रकाशित (१९६४ ई०)।

ऋषभदेव की स्तुति है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में स्वीकृत इस स्तोत्र में ४८ पद्य हैं जो वसन्ततिलका छन्द में हैं। 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' (४४ पद्यों में तीर्थंकरस्तुति) के नाम से एक अन्य स्तोत्र कुमुदचन्द्र का है। जैनों के द्वारा रचित संस्कृत स्तोत्रों की संख्या शताधिक है।

हर्षवर्धन (७वीं शताब्दी ई०) ने अपने अन्तिम वर्षों में 'अष्टमहाश्रीचैत्यस्तोत्र' तथा 'सुप्रभातस्तोत्र' लिखा था। कश्मीरी बौद्धकवि सर्वज्ञमित्र ने (८वीं शती) में तारादेवी की प्रशंसा में ३७ श्लोकों का 'स्रग्धरास्तोत्र' लिखा। किंवदन्ती है कि इसे कवि ने आत्मरक्षा (बलि पड़ने से बचने) के लिए लिखा था। नवम शताब्दी के कवि वज्रदत्त ने 'लोकेश्वरशतक' में अवलोकितेश्वर की स्तुति की है। वंगीय कवि रामचन्द्र (१२४५ ई०) ने 'भक्तिशतक' में बुद्ध की स्तुति की।

(८) अन्य स्तोत्र

संस्कृत भाषा में स्तोत्रों की संख्या सहस्राधिक है; कुछ स्तोत्रों का प्रचार-प्रसार सार्वदेशिक है तो कुछ क्षेत्रीय हैं। कुछ स्तोत्रों का स्वरूप तान्त्रिक है तो कुछ काव्यात्मक हैं। विविध देव-देवियों की अर्चना, उपासना और आराधना इन स्तोत्रों का उद्देश्य है। कवियों के द्वारा रचित स्तोत्र गीतिकाव्य की श्रेणी में आते हैं। तान्त्रिक स्तोत्रों में कुछ क्रियात्मक निर्देश रहते हैं जिन्हें तन्त्रशास्त्रियों ने प्रचलित किया है। रावणकृत 'शिवताण्डवस्तोत्र' (पञ्चचामर छन्द) अपनी शब्दावली के लिए प्रसिद्ध है।

इस प्रसङ्ग में पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा रचित विविध स्तोत्रों की चर्चा आवश्यक है। उन्होंने विभिन्न देव-देवियों की स्तुति अपनी लहरियों के द्वारा की है। लघुकाय होने पर भी ये लहरियाँ पण्डितराज की अद्‌भुत शैली एवं निश्छल हृदय की अभिव्यक्ति के कारण संस्कृत साहित्य में महत्त्व रखती हैं। उन्होंने कुल पाँच लहरियाँ लिखीं-(१) अमृतलहरी- यह दस पद्यों का गीतिकाव्य है जिसमें भगवती यमुना की स्तुति है। (२) सुधालहरी- इसमें भगवान् सूर्य की स्तुति स्रग्धरा छन्द के तीस पद्यों में है। मयूरभट्ट के सूर्यशतक से प्रेरित होने पर भी इसमें शैली और भाव का सौन्दर्य कहीं बढ़कर है। इसमें भी पदों की प्रौढि, समासों का बाहुल्य तथा घटाटोप शब्दों का प्रयोग है। (३) लक्ष्मीलहरी- इसमें शिखरिणी छन्द के ४१ पद्यों में भगवती लक्ष्मी की स्तुति है। (४) करुणालहरी- यह विष्णु की स्तुति से सम्बद्ध, कवि की विनम्रता का परिचय देने वाली स्तुति है जिसमें जगन्नाथ ने आर्तभाव से विष्णु को पुकारा है। इसके विविध संस्करणों में पद्य-संख्या पृथक्- पृथक् है - ४३ या ५५ या ६०। पण्डितराज के विष्णु-स्तवन-परक पद्यों के जोड़े जाने से ऐसा हुआ है। (५) गङ्गालहरी- यह शिखरिणी छन्द के ५२ पद्यों में भगवती गङ्गा की स्तुति है तथा संस्कृत जगत् में बहुत प्रसिद्ध है। इसकी रचना के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जैसे गङ्गातट पर जगन्नाथ ने अपनी प्रिया यवनी को लेकर इसकी रचना की और गङ्गा ने दोनों को अपनी गोद में ले लिया इत्यादि। पण्डितराज के प्रति काशी के विद्वानों की ईर्ष्या ने इन किंवदन्तियों को प्रचारित किया था। इसमें कवि ने अत्यन्त दीन भाव से गङ्गा से प्रार्थना की है कि वे पूरी तैयारी कर लें क्योंकि अभी साधारण जन का नहीं, अपितु जगन्नाथ का उद्धार करना है—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
कपाले बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः।

न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः।।

आधुनिक युग में स्तुतिकाव्य लिखने वालों में उमापति द्विवेदी (उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले के निवासी) का नाम प्रसिद्ध है जिन्होंने शिवस्तुति और वीरविंशतिका (हनुमल्लाङ्गूलस्तोत्र)[1] की रचना की। प्रौढ पदविन्यास तथा समासों के बाहुल्य से ये स्तोत्र परिपूर्ण हैं। पण्डित रामावतार शर्मा के द्वारा १८९५ ई० में रचित 'मारुतिशतक' बाण और मयूर के शतकों के समान स्रग्धरा-छन्द में प्रौढ पदविन्यास, दीर्घ समास और अनुप्रास के लिए महत्त्वपूर्ण है।[2] रामावतार शर्मा (१८७७-१९२९ ई०) पटना कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे तथा अपनी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रतिभा के लिए विख्यात थे। निम्नलिखित पद्य में पवनपुत्र हनुमान् का वर्णन श्लेष से विष्णु के दशावतारों का अर्थ प्रकट करते हुए किया गया है—

सर्वापूर्वो वनौका गिरिकलनपटुः प्रेष्ठधात्रीफलोऽसौ
केसर्यात्मावलीलावितततरुचिरतो राजकोपक्रियास्थः।
वातायुस्थानशाली प्रियसुर उदिताछापहस्तिष्यहारी
भक्त्या रूपाणि विष्णोरनुविदधदिवास्त्याञ्जनेयो विभूत्यै ।। १० ।।

इस प्रकार स्तोत्रकाव्यों की भी परम्परा व्यापक रही है।

सुभाषित-संग्रह या सूक्ति-संग्रह
(Anthologies)

चमत्कारी संस्कृत सूक्तियों के संग्रह का प्रयास प्राचीन काल से होता रहा है। इन संग्रहों में मुक्तक पद्यों तथा प्रबन्ध-काव्यों के रमणीय पद्यों का भी संकलन बहुधा मूल कवि के नाम के साथ हुआ है। इनसे न केवल अवसरोचित पद्यों की प्राप्ति होती है अपितु कविनामावली से कवियों के काल का भी स्थूल निर्णय हो सकता है। इस प्रकार इन संग्रहों का व्यावहारिक महत्त्व है। यहाँ कुछ प्रमुख सूक्तिसंग्रहों का परिचय दिया जाता है।

(१) कवीन्द्रवचनसमुच्चय (विद्याकर-कृत)[3]

इसे 'सुभाषितरत्नकोष' भी कहा जाता है। यह संस्कृत का प्राचीनतम सूक्तिसंग्रह है। कलकत्ता से १९१२ ई० में इसका अपूर्ण रूप से प्रकाशन ५२५ पद्यों के रूप में हुआ था (टामस द्वारा), किन्तु बाद में गोखले तथा कोसाम्बी ने 'सुभाषितरत्नकोष' के नाम से १७३९ पद्यों का इसका पूरा प्रकाशन किया। विद्याकर पण्डित ने ११०० ई० में इसका संकलन किया था, ११३० ई० में

१. गीताप्रेस से प्रकाशित 'स्तोत्ररत्नावली' (पृ० २५२-५९) में हिन्दी अनुवाद-सहित मुद्रित।
२. महावीर मन्दिर, पटना से हिन्दी अनुवाद-सहित १९८९ में प्रकाशित।
३. हार्वर्ड ओरियंटल सीरिज, सं० ४२ में १९५७ में प्रकाशित, अंग्रेजी अनुवाद, १९६५ ई० में प्रकाशित।

इसका प्रतिसंस्करण जगदल विहार के दो अन्य आचार्यों द्वारा हुआ। यह विहार बंगाल के पालवंशीय नरेशों के द्वारा संरक्षित था। यह मालदा जिले में था। इस संग्रह का विभाजन ५० व्रज्याओं में है। इसमें बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर पर भी दो व्रज्याएँ हैं। अत: संग्रहकार बौद्ध था, इसमें सन्देह नहीं! इसमें प्राय: १००० ई० के पहले के कवियों की ही कविताएँ संकलित हैं। भोज के पद्य भी इसमें संकलित हैं जिनका समय १००५-१०५४ ई० है। प्रेम, जीवन-चर्या, व्यवहार, नीति, राजनीति आदि विषयों पर विविध छन्दों के पद्य यहाँ आये हैं।

(२) सदुक्तिकर्णामृत (श्रीधरदास-कृत)[1]

बंगाल के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने १२०५ ई० में इसका संकलन किया था। इसमें मुख्यत: बंगाल के अनेक ज्ञाताज्ञात कवियों के मुक्तक संकलित हैं। जैसे-वसुकल्प, योगेश्वर, वल्लभदेव, उमापतिधर, रविगुप्त, धीरनाग, धर्मकीर्ति, धर्मपाल इत्यादि। यह संग्रह पाँच प्रवाहों में विभक्त है (अमर, शृङ्गार, चाटु, अपदेश तथा उच्चावच)। प्रवाह वीचियों में विभाजित हैं, प्रत्येक वीचि में पाँच-पाँच पद्य हैं। पूरे संग्रह में ४७६ वीचियाँ एवं २३८० पद्य हैं। प्राय: ४८५ कवियों की रचनाएँ यहाँ संकलित हैं जिनमें ५० ही ज्ञातपूर्व कवि हैं। लक्ष्मणसेन के पद्य भी इसमें आये हैं।

(३) सूक्तिमुक्तावली (जल्हण-कृत)[2]

इसे 'सुभाषितमुक्तावली' भी कहते हैं। कहा जाता है कि १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यादव-नरेश कृष्ण के हस्तिसेनाध्यक्ष जल्हण ने इसका संकलन १२५७ ई० में किया था किन्तु वस्तुत: अपने आश्रयदाता के नाम पर यह संग्रह भानुकवि के द्वारा किया गया था (जल्हस्यार्थे व्यरचि भिषजा भानुना सेयमिष्टा)। इसके संकलन का काल (११७९ शक संवत्= १२५७ ई०) दिया गया है (शाकेऽङ्काद्रीश्वरपरिमिते वत्सरे पिङ्गलाख्ये)। भानुकवि ने जल्हण की साहित्य-रसिकता का उल्लेख किया है जिसमें इस संग्रह को उन्हींके द्वारा रचित भी कहा है।[3] स्पष्टत: जल्हण का इस संग्रह के सम्पादन में कुछ निर्देश अवश्य रहा होगा। इसमें १३३ खण्डों में विभाजित २७९० पद्य संकलित हैं। प्राय: २५० कवियों या कृतियों के नाम इसमें आये हैं। आरम्भ के कुछ पद्य संस्कृत कवियों की प्रशंसा के रूप में हैं जो इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

(४) शार्ङ्गधरपद्धति (शार्ङ्गधर-कृत)

इतिहास-प्रसिद्ध रणथम्भौर-दुर्ग के अधिकारी हम्मीरदेव के सभापण्डित राघवदेव के पौत्र शार्ङ्गधर ने १३६३ ई० में इस ग्रन्थ का संकलन किया था। इसकी अनुक्रमणिका के अनुसार इसमें १६३ परिच्छेद तथा ६३०० पद्य थे किन्तु प्रकाशित संस्करण में परिच्छेद तो उतने ही हैं, पद्य केवल

---

१. पंजाब ओरियंटल सीरिज, सं० १५ में पं० रामावतार शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित।

२. गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, सं० ८२ के रूप में प्रकाशित, बड़ौदा, १९३८ ई०।

३. साहित्यविद्याहृदयं ज्ञातुमिच्छसि चेत्सुखम्।
तत्पश्य जल्हणकृतां सूक्तिमुक्तावलीमिमाम्।।

४६८९ हैं;[1] प्राय डेढ़ सहस्त्र पद्य नष्ट हो गये हैं। इसमें प्राय: ३०० कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इसके अन्त में शान्तरस और योग का विवेचन करने वाले पद्य संकलित हैं; यह भाग स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रयाग से प्रकाशित है। इस 'पद्धति' का प्रकाशन पीटर्सन के सम्पादन में बाम्बे संस्कृत सीरिज से हुआ था (१८८८ ई०)।

(५) **सुभाषितावली** (वल्लभदेव-कृत)[2]

१५वीं शताब्दी ई० में संकलित इस सूक्तिसंग्रह में १०१ पद्धतियों में ३५२७ पद्य संकलित हैं। इसमें प्राय: ३५० कवियों के पद्य हैं। वल्लभदेव के पद्य भी इसमें संकलित हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि यह नाम संग्रहकार का ही है या किसी प्राचीन कवि का। इसमें मुख्यत: उत्तर भारतीय कवियों की ही कविताएँ संगृहीत हैं। विषयवस्तु बहुत व्यापक है—प्रेम, नीति, प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, व्यावहारिक बुद्धि, वक्रोक्ति इत्यादि। कश्मीर के कई कवियों की रचनाओं को इसमें सुरक्षा मिली है जोनराज के शिष्य श्रीवर (दोनों 'राजतरङ्गिणी' की रचना बढ़ानेवाले) के द्वारा संकलित एक अन्य 'सुभाषितावली' भी इसी शताब्दी (१५वीं) का सूक्तिसंग्रह है जिसमें ३८० कवियों के पद्यों का संग्रह है।

बंगाल के रूपगोस्वामी ने 'पद्यावली' में कृष्णपरक श्लोकों का संकलन किया। इनका काल १४९०-१५६३ ई० है। ये चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे तथा अनेक काव्य तथा शास्त्र ग्रन्थ उन्होंने लिखे जैसे- विदग्धमाधव, ललितमाधव, दानकेलिकौमुदी (तीनों रूपक); उज्ज्वलनीलमणि, नाटकचन्द्रिका (दोनों काव्यशास्त्र); भक्तिरसामृतसिन्धु (भक्तिरस का प्रतिपादक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ); हरिनामामृत (व्याकरण); हंसदूत, उद्धवदूत इत्यादि। इनकी 'पद्यावली' में ३८६ पद्य हैं जो १२५ कवियों के हैं। यह ढाका विश्वविद्यालय से १९३४ ई०में प्रकाशित हुई थी। ऐसे ही एकांगी सूक्तिसंग्रह सोमप्रभाचार्य-कृत 'सूक्तिमुक्तावली', वेदान्तदेशिक-कृत 'सुभाषित-नीवी', अमितगति-रचित 'सुभाषितरत्न-सन्दोह' आदि हैं जिनमें जैनधर्म या मानव प्रवृत्ति से सम्बद्ध पद्य हैं। सायणाचार्य (१४वीं शताब्दी ई०) कृत '**सुभाषित-सुधानिधि**' और '**पुरुषार्थसुधानिधि**' नामक सूक्तियाँ हैं, द्वितीय में केवल व्यास के पद्य महाभारत, पुराण आदि से संकलित हैं।

सूक्तिग्रन्थों में '**सुभाषितरत्नभाण्डागार**' सबसे बड़ा है। इसमें १०००० से अधिक पद्य संकलित हैं। इसके सात प्रकरणों (मंगलाचरण, सामान्य, राजा, चित्र, अन्योक्ति, नवरस, संकीर्ण) के अवान्तर विभागों में संस्कृत सूक्तियों का व्यापक संकलन है। नाना विषयों की सूक्तियाँ विभिन्न रुचि वाले पाठकों के लिए हैं। इसका संस्करण निर्णयसागर प्रेस तथा वेङ्कटेश्वर प्रेस से भी हुआ है। इधर लुडविक स्टर्नबाख ने चार खण्डों में अंग्रेजी अनुवाद-सहित संस्कृत सूक्ति का एक बड़ा संग्रह '**महासुभाषितसंग्रह**' के नाम से प्रकाशित.कराया है जिसमें वर्णानुक्रम से पद्य संकलित हैं।

---

१. ए० बी० कीथ- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २७८। बलदेव उपाध्याय ने ४६१६ पद्य कहे हैं।
२. बम्बई संस्कृत सीरिज में १८८६ ई० में पीटरसन तथा दुर्गाप्रसाद के सम्पादन में प्रकाशित।

अध्याय-१५

गद्य तथा चम्पूकाव्य

संस्कृत गद्य की परम्परा

मानव की स्वाभाविक भाषा का स्वरूप गद्यात्मक होता है क्योंकि उसमें छन्द, गण या मात्रा की गणना नहीं होती। पद्य में इनकी गणना की जाती है जो मानवीय अभिव्यक्ति का कृत्रिम रूप है। 'गद्य' शब्द गद्-धातु (व्यक्तायां वाचि) से यत्-प्रत्यय लगकर बना है जिसका अर्थ है मानव की अभिव्यक्ति की मौलिक प्रक्रिया। बहुत दिनों तक संस्कृत गद्य अपने मौलिक और विकासात्मक रूप में प्रचलित रहा किन्तु ईस्वी सन् के आरम्भ में इसका एक काव्यात्मक रूप भी प्रकट हुआ जिसमें पद्यकाव्य की प्रमुख विशिष्टताएँ आ गयीं जैसे- अलंकार, भाषा की सजावट, लम्बे समासों का प्रयोग, भाव और रस का चमत्कार आदि। इसे 'सामान्य गद्य' नहीं, अपितु 'गद्यकाव्य' कहा गया। दण्डी ने काव्यादर्श में 'गद्यकाव्य' की परिभाषा देकर इसे आख्यायिका और कथा के रूप में विभाजित किया-

अपाद: पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा। (१/२३)

यह गद्यकाव्य इतना कठिन और विरल हो गया कि आठवीं शताब्दी ई० में एक उक्ति चल पड़ी – **गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति** अर्थात् गद्यकाव्य लिखना कवियों की कड़ी परीक्षा है। संस्कृत गद्य के अलंकृत रूप ने सभी भाषाओं के गद्य के रूपों को पीछे छोड़ दिया। किन्तु यह अलंकृत स्वरूप सहसा नहीं आया, आरम्भ में तो गद्य का रूप बहुत ही प्राञ्जल, सरल और प्रवाहमय था।

गद्य का प्रथम रूप हमें यजुर्वेद की संहिताओं में मिलता है। यजुर्वेद की परिभाषा ही दी गयी थी- **अनियताक्षरावसानं यजु: तथा गद्यात्मकं यजु:।** अर्थात् वाक्य में आनेवाले शब्दों की सीमा जहाँ नहीं हो वे वैदिक मन्त्र 'यजुष्' कहे जाते थे। वस्तुत: ऋक् तथा सामन् पद्यात्मक थे किन्तु यजुष् विपुलांश में गद्यात्मक है (विशेष रूप से कृष्ण यजुर्वेद)। अथर्ववेद में गद्य का प्रचुर प्रयोग है। यजुर्वेद के लम्बे गद्यमन्त्रों में वाक्य को ढूँढने के लिए जैमिनि को वाक्य की परिभाषा देनी पड़ी थी (**अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्** , मीमांसा-सूत्र २/१/४६) कि जिन पदों का सामूहिक रूप से एकात्मक अर्थ हो और विभाजित (पृथक्) रूप में जो साकांक्ष पद हों उनमें एकवाक्यता होती है। इस प्रकार गद्य की व्यवस्था की गयी थी। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी संहिताएँ अधिकांशत: गद्यात्मक हैं। शुक्ल यजुर्वेद के भी कुछ अध्याय (२४ तथा ३९) पूर्णत: गद्य में हैं। अन्य अध्यायों में भी बहुत से गद्य-मन्त्र हैं। अथर्ववेद के कई सूक्त (जैसे ४/३९; ५/६, ९, १०, १६, २४; ६/४६; काण्ड १५ तथा १६ इत्यादि) गद्यात्मक हैं। मन्त्रात्मक गद्य में वाक्यों का लाघव, भाव की स्पष्टता तथा वाक्यालंकार-रूप निपातों का अभाव विशेष रूप से ध्यातव्य है जैसे-

"तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति।। १।। ये पृथिव्यां पुण्या

लोकास्तानेव तेनाव रुन्धे॥ २॥ तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिगृहे वसति॥ ३॥ येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्धे ॥ ४॥'' (अथर्ववेद १५/१३/१-४)।[1]

संहितेतर वैदिक गद्य में भाषा तो यथापूर्व सरल थी किन्तु वाक्यालंकार के रूप में नु, ह, वै, उ इत्यादि निपातों का प्रचुर प्रयोग होने लगा। ब्राह्मण और आरण्यक (जो पूर्णतः गद्य में हैं) इस विशिष्टता से युक्त हैं। उपनिषदों के गद्य में लालित्य का भी निवेश हुआ जो साहित्यिक गद्य के विकास में बहुत समर्थ चरण सिद्ध हुआ। यहाँ ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान का गद्य दिया जाता है जिसमें निपातों का प्रयोग है किन्तु भाषा सहज तथा प्राञ्जल है–

'तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे। तं होवाच-अज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ताः यजस्व माऽनेनेति। स होवाच-यदा वै क्षत्रियः सांनाहुको भवत्यथ स मेध्यो भवति। संनाहं नु प्राप्नोत्वथ त्वा यजा इति।' (ऐ० ब्रा० ३३/२)।[2]

उपनिषद्-वाक्यों की प्राञ्जलता तथा प्रवाहमयता का उदाहरण तैत्तिरीयोपनिषद् (३/१) के इस सन्दर्भ में देखें–

'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार- अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच- अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच- यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति; तद् विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।'

ब्रह्म-जैसे गम्भीर विषय का उपस्थापन वरुण अपने पुत्र (भृगु) समक्ष सरलतम भाषा में करते हैं। इस उपनिषद् के शान्तिपाठ में भी वाक्य-विन्यास की सरलता तथा भाव-गाम्भीर्य अनुपम है। इस शैली को आगे चलकर 'मुक्तक गद्य' कहा गया–

''नमो ब्रह्मणे, नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु, तद् वक्तारमवतु, अवतु माम्, अवतु वक्तारम्।''

वेदाङ्ग-साहित्य में भी गद्य के प्रयोग का सुन्दर दृष्टान्त मिलता है। सूत्र-ग्रन्थों में छोटे वाक्यों में प्रमेय-बहुल गद्य का तथा निरुक्त में प्रवाहपूर्ण शास्त्रीय गद्य का प्रयोग हुआ है। सूत्रों में कल्पसूत्र और व्याकरण के सूत्र हैं जिन्हें प्रकरण के द्वारा समझा जाता है। निरुक्त में विषयवस्तु का स्पष्टीकरण कहीं सूत्र-शैली में है तो कहीं भाष्य शैली में। **'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि'** (निरुक्त १/१) सूत्र शैली का गद्य है। इसमें आख्यात और नाम-पदों का लक्षण है। भाष्य-शैली वार्तालाप की भाषा में है जैसे- **'नरकं न्यरकम्, नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा'** (निरुक्त १/११)।

पौराणिक, शास्त्रीय तथा साहित्यिक गद्य

प्रायः २०० ई० पू० में ये तीन प्रकार के गद्य प्रचार में थे। पौराणिक गद्य का प्रयोग प्राचीन आख्यानों, सृष्टि-विषयक वृत्तान्तों तथा अन्य पौराणिक विषयों के निरूपणार्थ किया गया था। आगे

---

१. यहाँ व्रात्य (फक्कीर) के, गृहस्थ के घर में, निवास का फल दिया गया है।

२. यहाँ वरुण हरिश्चन्द्र को पुत्र-समर्पण का अनुस्मरण कराते हैं, हरिश्चन्द्र आनाकानी करता है।

चलकर यही गद्य महाभारत, भागवतपुराण, विष्णुपुराण आदि में संकलित हुआ। यह शास्त्रीय तथा साहित्यिक गद्य के बीच का था अर्थात् दोनों का समन्वय करने वाला था। वैदिक गद्य के समान एक ओर इसमें लघुबन्ध का एवं आर्ष रूपों का प्रयोग था तो दूसरी ओर संस्कृत के साहित्यिक गद्य की प्रसादमयी अलंकृत शैली भी इसमें थी। यहाँ भी महाभारत के गद्य की अपेक्षा पुराणों में अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक है। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ३४२) का एक गद्यवाक्य है— **तस्येदानीं तमसः सम्भवस्य पुरुषस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः प्रजाः सिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्नीषोमौ ससर्ज।**[1] दूसरी ओर विष्णुपुराण (४/१३/४) के इस गद्य की प्रासादिकता स्पष्ट है— "**यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किञ्चिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्ष्यामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्।**"

शास्त्रीय गद्य की आधारशिला एक प्रकार से निरुक्त में रखी जा चुकी थी। इसका सम्बन्ध गम्भीर चिन्तन और विषय-विश्लेषण से था। दर्शन-शास्त्रों के सूत्र इसी गद्य-प्रकार में विकसित हुए। पतञ्जलि का महाभाष्य, शबरस्वामी का शाबर भाष्य (मीमांसा-दर्शन पर), शंकराचार्य का शारीरकभाष्य (ब्रह्मसूत्र पर) इत्यादि उत्कृष्ट शास्त्रीय गद्य के रूप हैं। इन भाष्यों में वाक्य-रचना का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। महाभाष्य की संवाद-शैली लघुकाय वाक्यों के कारण प्रसिद्ध है जैसे— **किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्। उभयमित्याह। कथं ज्ञायते। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि** (पस्पशाह्निक)। शाबरभाष्य में भाषा की प्राञ्जलता एवं पद-विन्यास की छटा मिलती है- **लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्** ...... **एवं वेदवाक्यान्येवैभिर्व्याख्यायन्ते; इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थाश्च व्याख्येया इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत** (मी० भा० १/१/१)। आचार्य शंकर की गद्यशैली प्रसन्न-गम्भीर है, इसका परिमाण भी प्रचुर है क्योंकि दस उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर उन्होंने भाष्य लिखे हैं। यत्र-तत्र सुन्दर लोकोक्तियों एवं तर्कपूर्ण प्रतिपादन से शङ्कराचार्य का गद्य शास्त्रीय गद्य का उत्तुङ्ग शृङ्ग बन गया है जैसे- **नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे; न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादि प्रमाणान्तरनिर्वृत्ता** (१/१/२)। शास्त्रीय गद्य के अन्य उदाहरण आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त की टीकाओं और सायणाचार्य की वेदभाष्यभूमिकाओं में देखे जा सकते हैं। आधुनिक युग में शास्त्रीय विषयों पर रचे गये निबन्धों में भी यही गद्यरूप है।

साहित्यिक गद्य के प्रयोग का अनुमान कात्यायन और पतञ्जलि के द्वारा दी गयी सूचनाओं से होता है। दोनों वैयाकरणों ने ऐतिहासिक गद्यकाव्य के रूप में 'आख्यायिकाओं' के अस्तित्व की सूचना दी है। पतञ्जलि ने तो तीन आख्यायिकाओं के नाम भी दिये हैं— वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी। इनमें साहित्यिक गद्य का ही प्रयोग हुआ होगा। इस गद्य में समासों की बहुलता, ललित पदों का निवेश, अलंकारों का प्रयोग, रीतियों तथा गुणों का अवसरानुकूल समावेश इत्यादि मुख्य रूप से पाये जाते थे। सौन्दर्य की दृष्टि से यह गद्य पद्यकाव्य से कहीं भी न्यूनतर नहीं होता

---

१. यहाँ सृष्टि के प्रारम्भ में परम पुरुष से अग्नि और चन्द्रमा की उत्पत्ति का वर्णन है।

था। उपर्युक्त आख्यायिकाओं के अतिरिक्त साहित्यिक गद्य के अस्तित्व के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। इनमें **मनोवती** (अवन्तिसुन्दरीकथा में उल्लिखित), **तरङ्गवती** (तिलकमञ्जरी में निर्दिष्ट), **आश्चर्यमञ्जरी** (सूक्तिमुक्तावली ४/८६ में चर्चित) आदि कथाएँ गद्यात्मक थी; पुनः **भट्टारहरिचन्द्र** (हर्षचरित में निरूपित), रामिल और सोमिल (सूक्तिमुक्तावली ४/९२), शीलाभट्टारिका (वहीं ४/९१) आदि गद्यकारों का आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है। इनकी रचनाएँ नष्ट हो गयीं।

निश्चित रूप से साहित्यिक गद्य का स्पष्ट उदाहरण अभिलेखों में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से **रुद्रदामन् का गिरिनार अभिलेख** (१५० ई०) तथा **हरिषेणकृत समुद्रगुप्त-प्रशस्ति** (प्रयाग स्तम्भलेख ३६० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इनमें परवर्ती गद्यकाव्य के भेदों (कथा, आख्यायिका) का समावेश नहीं है किन्तु शैली की दृष्टि से ये दोनों अभिलेख गद्यकाव्य के उत्कृष्ट रूप हैं। गिरिनार (जूनागढ़, गुजरात) का शिलालेख न केवल उत्कृष्ट समासयुक्त लम्बे वाक्य में रचित गद्य का आदर्श है अपितु कतिपय काव्यशास्त्रीय शब्दों के निर्देश के कारण काव्य-रचना-शैली का भी बोधक है जैसे— **स्फुटलघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य (-प्रयोगनिपुणे)न प्रमाणमानोन्मान-स्वर-गति-वर्ण-सार-सत्त्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेत-कान्तमूर्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरा-नेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना ... सेतुं विधाय सर्वतटे ... सुदर्शनतरं कारितम्।**[1] समुद्रगुप्त की विजय-यात्राओं और व्यक्तिगत गुणों का वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है। इस प्रशस्ति का लेखक हरिषेण था। गद्य-पद्य-मय वाक्य में उसने अपनी क्षमता का परिचय दिया है। कुछ विशेषणों का प्रयोग देखें— **तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य ... पृथिव्यामप्रतिरथस्य, सुचरितशतालङ्कृतानेकगुणगणोत्सिक्तिभिश्चरणतलप्रमृष्टान्यनरपतिकीर्तेः, साध्वसाधू-दयप्रलय-हेतु-पुरुषस्याचिन्त्यस्य, ... समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य, धनद-वरुणेन्द्रान्तकसमस्य ...।**[2] इन सन्दर्भों से प्रकट होता है कि संस्कृत के उपलब्ध गद्य-ग्रन्थों से बहुत पहले ही साहित्यिक गद्य का लेखन आरम्भ हो चुका था।

साहित्यिक गद्य का विकासशील रूप दण्डी, सुबन्धु या बाण की रचनाओं में प्राप्त होता है तथा परवर्ती अपकर्षशील रूप (या स्थिर रूप) धनपाल, वादीभसिंह आदि की रचनाओं में सुरक्षित है।

गद्यकाव्य के भेद

संस्कृत गद्यकाव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं - **कथा और आख्यायिका।** इन भेदों का निरूपण अग्निपुराण (३३७/१५-७), **काव्यादर्श** (१/२३-८), रुद्रटकृत काव्यालंकार (१६/२०-२७), साहित्यदर्पण (६/३३२-६) इत्यादि ग्रन्थों में हुआ है। अमरकोश (कोश-ग्रन्थ) में भी **'आख्यायिकोपलब्धार्थां'** (१/६/५) और **'प्रबन्धकल्पना कथा'** (१/६/६) कहकर इनका भेद

---

१. अभिलेखनिकरः, सं०-डॉ० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि', (मोतीलाल बनारसीदास), पृ० ८९-९०।

२. उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ९५-१०२। अन्तिम विशेषण में समुद्रगुप्त को कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान चारों दिशाओं का अधिपति बताया गया है (लुप्तोपमालंकार)।

बताया गया है। तदनुसार ऐतिहासिक विषय पर आख्यायिका एवं पूर्णतः काल्पनिक विषय पर कथा आश्रित होती है। दण्डी ने काव्यादर्श में दोनों का अन्तर बतलाकर इन भेदों के प्रति अरुचि दिखायी है कि लम्भादि में कथा का और उच्छ्वासों में आख्यायिका का विभाजन हो ही गया तो क्या अन्तर पड़ा; वस्तुतः एक ही जाति को दो संज्ञाएँ दी गयी हैं—

भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वाऽस्तु किं ततः ।
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।। (काव्यादर्श १/२८)

बाणभट्ट की गद्य-रचनाओं में 'हर्षचरित' आख्यायिका तथा 'कादम्बरी' कथा के रूप में प्रसिद्ध हुई, स्वयं बाण ने इन्हें इस रूप में निर्दिष्ट किया। अतः बाण के अनन्तर सभी काव्यशास्त्रियों ने इन लक्ष्यग्रन्थों को ध्यान में रखकर ही इन गद्य-काव्य-भेदों के लक्षण दिये। इनका संग्रह 'साहित्यदर्पण' में स्पष्ट रूप से किया गया है कि '**कथा**' में गद्य-द्वारा सरस कथानक का निर्माण होता है, इसमें कहीं आर्या और कहीं वक्त्र या अपवक्त्र छन्द का प्रयोग होता है। इसके आरम्भ में पद्यों में नमस्कार और खल आदि का वर्णन रहता है। दूसरी ओर '**आख्यायिका**' भी कथा के समान होती है जिसमें कवि के वंश का भी वर्णन रहता है। इसमें अन्य कवियों का भी कहीं-कहीं पद्यात्मक वर्णन होता है, कथाभाग के खण्डों को आश्वास (या उच्छ्वास) कहते हैं। प्रत्येक आश्वास के आरम्भ में आर्या आदि उपर्युक्त छन्द के द्वारा किसी बहाने से भावी घटना की सूचना भी रहती है (साहित्यदर्पण ६/३३२-६)।[१]

संकलित रूप से इन दोनों का भेद इस प्रकार है-(क) कथा में कथावस्तु कविकल्पित होती है, आख्यायिका में ऐतिहासिक होती है। (ख) कथा के आरम्भ में पद्यों के द्वारा सज्जनों की प्रशंसा, दुष्टों की निन्दा तथा कवि के वंश का वर्णन होता है आख्यायिका में प्राचीन कवियों की प्रशंसा पद्य में और कवि का वंश-वर्णन गद्य में होता है। (ग) कथा का विभाजन नहीं होता, आख्यायिका उच्छ्वासों या निःश्वासों में विभक्त होती है। उच्छ्वासों के आरम्भ में भावी घटना का परोक्ष निर्देश करने वाले पद्य भी होते हैं। (घ) कथा में मुख्य कथानक को लाने के लिए दूसरी कथा से आरम्भ किया जाता है, आख्यायिका में कवि अपना वृतान्त देकर मुख्य कथा को आरम्भ करता है। इन दोनों में समानता के तथ्य भी बहुत हैं जैसे- (१) दोनों की रचना संस्कृत[२] गद्य में होती है। (२) गद्य की शैली दोनों में समान रहती है। (३) रसों और भावों का समान रूप से प्रयोग होता है। (४) नगर, वन, सरोवर, राजा, राजसभा, मृगया, प्रेम आदि का समान रूप

---

१. कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।। ३३२।।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ।। ३३३।।
आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्।। ३३४।।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्।। ३३५।।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

२. कथा पहले प्राकृत में भी लिखी जाती थी जैसे - बृहत्कथा, वसुदेवहिण्डी इत्यादि।

से वर्णन दोनों में होता है। इसीलिए दण्डी ने इन दोनों के भेद के प्रति अरुचि दिखायी है। कुल मिलाकर उच्छ्वासों में विभाजन तथा कथावस्तु का स्वरूप (काल्पनिक या ऐतिहासिक होना) यही दो बिन्दु इनके परम्परागत अन्तर में रह जाते हैं।[1] प्राचीन गद्यकाव्य कथा या आख्यायिका ही हैं।

गद्य के प्रकार

समास के प्रयोग तथा वृत्तभाग के निवेश की दृष्टि से गद्य के चार प्रकार माने गये हैं— (१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय तथा (४) चूर्णक। समास से रहित गद्य-रचना को **मुक्तक** कहते हैं; जहाँ गद्य में छन्द के अंश आ जाएँ उसे **वृत्तगन्धि** कहते हैं। लम्बे समासों से युक्त गद्य **उत्कलिकाप्राय** कहलाता है तथा अल्प समासों से युक्त गद्य को **चूर्णक** कहा जाता है। विश्वनाथ ने इन्हें इस प्रकार परिभाषित किया है—

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ।
अन्यद् दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।।
(साहित्यदर्पण ६/३३१-२)

'वृत्तगन्धि' गद्य वस्तुतः गद्य में पद्य-प्रयोग का नामान्तर है, यह कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं। शेष तीनों गद्य-प्रकार बाण आदि कवियों के द्वारा प्रयुक्त हुए हैं।

[क] दण्डी

संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास में सरल-प्राञ्जल-भावपूर्ण गद्य के लेखक के रूप में दण्डी का नाम अमर है। दण्डी के विषय में अनेक प्रशस्तियाँ सुभाषितों के संग्रह-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। एक प्रशस्ति में वाल्मीकि और व्यास के बाद तीसरा स्थान दण्डी को ही दिया गया है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत् ।
कवी इती ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ।।

अर्थात् वाल्मीकि के आने पर 'कविः' यह शब्द बना, व्यास के आने पर द्विवचन में 'कवी' रूप हुआ और दण्डी का आविर्भाव होने पर ही बहुवचन रूप 'कवयः' हो सका। ऐसे महान् कवि के काल, व्यक्तित्व तथा रचनाओं के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।

दण्डी का काल

दण्डी के काल के विषय में विद्वानों का एक दल छठी शताब्दी ई० का मत प्रस्तुत करता है तो दूसरा दल उन्हें ७०० ई० के आसपास रखता है। दोनों दल अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाणों को इस विषय में सामने रखते हैं। अन्तरङ्ग प्रमाणों के अन्तर्गत उनकी तीन रचनाओं (दशकुमारचरित, काव्यादर्श तथा अवन्तिसुन्दरीकथा) की सहायता ली जाती है। बहिरङ्ग प्रमाणों में दण्डी के विषय में अन्य कवियों की चर्चाएँ मुख्य आधार हैं।

---

१. अग्निपुराण में इन दो भेदों के अतिरिक्त खण्डकथा, परिकथा और कथानिका नामक भेद भी कहे गये हैं। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'उपन्यास' नामक भेद भी माना है। उपन्यास तथा लघुकथा के रूप में आज गद्यरचना होती है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ विद्वानों ने दशकुमारचरित में निर्दिष्ट समाज और भूगोल का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि हर्षवर्धन के पूर्व गुप्त-साम्राज्य के ह्रासोन्मुख-काल का समाज दण्डी ने देखा था जिसका चित्रण उन्होंने इस गद्यकाव्य में किया। अतः उनका समय छठी शताब्दी ई० के मध्य (५५० ई० के आसपास) होना चाहिए।[1] शैली के आधार पर भी दण्डी को सुबन्धु और बाण से पूर्व रखने के प्रयास हुए हैं। बाण का काल प्रायः निश्चित है कि वे हर्षवर्धन (राज्यकाल ६०६-४८ ई०) के समकालिक थे। बाण के परवर्ती सभी लेखकों पर उनकी शैली का प्रभाव है। दण्डी पर यह प्रभाव नहीं है, अतः दण्डी बाण के पूर्व थे।[2] कॉलिन्स ने अपने ग्रन्थ में संकेत दिया है कि दशकुमारचरित में उपलब्ध भौगोलिक एवं राजनीतिक चित्रण हर्षवर्धन के पूर्व का ही उपपादक है, अतः दण्डी का काल ६०० ई० के पूर्व ही होना चाहिए।[3] एम्० आर० काले का भी यही मत है।

दण्डी के काल पर, नये तथ्यों की प्राप्ति से, बहुत प्रकाश पड़ा है। १९२४ ई० में दण्डी की तृतीय कृति 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की प्राप्ति हुई।[4] दशकुमारचरित से इसकी शैली का अन्तर है किन्तु कथानक में अद्भुत साम्य हैं। विद्वानों का कहना है कि दण्डी ने युवावस्था में सरल शैली में 'दशकुमारचरित' लिखा था और प्रौढावस्था में आकर उसी कथानक पर परिमार्जित अलंकृत शैली में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की रचना की होगी। कई विद्वानों ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को सर्वथा अप्रामाणिक ही कहा है किन्तु अनेक विद्वान् इसे प्रामाणिक मानकर दण्डी के काल और वंश का निर्णय करते हैं। इस 'कथा' का सार भी पद्यरूप में प्रकाशित है जिसमें दण्डी के वंश का भी वर्णन है। इस कथा में दण्डी के द्वारा बाण और मयूर की प्रशंसा किये जाने का निर्देश है।[5] इसमें दण्डी को भारवि (या उनके मित्र दामोदर) का प्रपौत्र एवं काञ्चीनरेश नरसिंहवर्मा (प्रथम) का समकालिक कहा गया है। इसके आधार पर नये विद्वान् दण्डी को ७०० ई० के निकट मानने के पक्षधर हैं।

'काव्यादर्श' के आधार पर भी दो तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं—राजा सेन-कृत (८४६ ई०-८६६ ई०) सिंहलीभाषा में रचित 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तथा अमोघवर्ष-रचित (८१५ ई०) कन्नड़ भाषा का अलंकार-ग्रन्थ **'कविराजमार्ग'** ये दोनों **'काव्यदर्श'** को ही आदर्श बनाकर लिखे गये हैं। इससे उपर्युक्त ७०० ई० वाले मत का विरोध नहीं है।

पीटरसन तथा याकोबी ने बाण-कृत 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश में आये हुए एक गद्यांश (**केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्**) की तुलना 'काव्यादर्श' के निम्नलिखित पद्य से करते हुए दण्डी को बाण का परवर्ती

---

१. विन्टरनित्स- भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग-३, खण्ड-१, पृ० १७ पादटिप्पणी।

२. पाण्डेय तथा व्यास- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २३७।

३. Collins— The Geographical Data of the Raghuvaṁśa and Daśakumāracarita, p.46.

४. दक्षिण भारती सीरिज (मद्रास) में अंशतः प्रकाशित, १९२४ ई०। अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली (त्रिवेन्द्रम्) में पूर्णतः प्रकाशित, १९५४ ई०।

५. भिन्नतीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्यवहारे जहौ लीलां न मयूरः .... । (पाण्डेय एवं व्यास की पुस्तक, पृ० २३७)

सिद्ध किया है-

> अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
> दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥[1]

डॉ० बेलवलकर ने भी काव्यादर्श-विषयक अपने ग्रन्थ में दण्डी को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सिद्ध किया है।[2]

इस प्रकार दण्डी का काल ५५० ई० से ६०० ई० के बीच और ७०० ई० के निकट माननेवाले विद्वानों के दो दल हैं। इस विषम स्थिति में उनकी तीन रचनाओं के आधार पर उनके समय की पूर्व तथा उत्तर सीमा का निर्णय आवश्यक है।

पूर्वसीमा

(१) दण्डी ने शाकुन्तल नाटक के एक श्लोकांश 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' (१/२०) का निर्देश काव्यादर्श (१/४५) में किया है- लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः। (२) काव्यादर्श (२/२२६, ३६२) में 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' से 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद्य दिया गया है। (३) काव्यादर्श (१/३४) में 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख है जो प्रवरसेन (४००-४५० ई०) की रचना है।[3] बाण ने 'हर्षचरित' (१/१४) में सेतुबन्ध का लेखक प्रवरसेन को बताया है। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ ई०) की पुत्री प्रभावती गुप्ता के पति वाकाटकनरेश रुद्रसेन (द्वितीय) का पुत्र था। इस प्रकार दण्डी ४५० ई० के परवर्ती हैं।

उत्तरसीमा

(१) काव्यादर्श के आधार पर सिंहली भाषा का ग्रन्थ 'स्वभाषालंकार' प्रायः ८५० ई० में राजा सेन द्वारा लिखा गया था। कन्नड़ का अलंकार-ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' इसी काव्यादर्श पर आश्रित है जो अमोघवर्ष के द्वारा ८१५ ई० में रचा गया। अतः दण्डी आठवीं शताब्दी ई० के बाद नहीं हो सकते। (२) काव्यादर्श (२/२७९) में दण्डी ने राजवर्मा की शिवभक्ति की चर्चा की है, इस राजा को काञ्चीनरेश नरसिंहवर्मा (द्वितीय, ७वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) से अभिन्न माना गया है।[4] (३) काव्यादर्श के मङ्गलश्लोक में आये 'सर्वशुक्ला सरस्वती' इस वाक्यांश पर विज्जका (या विजया) की टिप्पणी प्रसिद्ध है।[5] यह विज्जका पुलिकेशिन् (द्वितीय, ६३४ ई०) की पुत्रवधू थी, पी० वी० काणे इस आधार पर दण्डी को ६०० ई० में सिद्ध करते हैं। (४) वामन ने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में दण्डी के सिद्धान्तों का परिवर्धन किया है। वामन का समय जयापीड के

---

१. काव्यादर्श २/१९७।

२. S. K. Belvalkar - **Notes on Kāvyādarśa,** p. 176-7.

३. काव्यादर्श १/३४ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

४. डॉ० सुशील कुमार डे-**संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**, पृ० ५५ (पादटिप्पणी)

५. नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं 'सर्वशुक्ला सरस्वती'॥

राज्यकाल (७७९-८१३ ई०) में माना जाता है। (५) कुछ विद्वानों ने बाण और माघ के ग्रन्थों की छाया काव्यादर्श में दिखाकर[1] इन दोनों कवियों के अनुवर्ती दण्डी को ७०० ई० में सिद्ध किया है। (६) अवन्तिसुन्दरीकथा में दिये गये दण्डी के पूर्वजों के वृत्तान्त से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारवि के मित्र दामोदर के प्रपौत्र दण्डी को भारवि के एक सौ वर्ष बाद (६००+१००=७०० ई०) रखा जा सकता है।

इन प्रमाणों से मुख्यत: दण्डी को ७०० ई० के आसपास रखने का आग्रह नये विद्वानों ने किया है। इनके सभी तर्क काव्यादर्श और अवन्तिसुन्दरीकथा पर आश्रित हैं। दशकुमारचरित में केवल अराजकता की स्थिति देखकर प्राचीन विद्वानों ने हर्षवर्धन के पूर्व दण्डी को माना था। वस्तुत: यह अराजक स्थिति कभी भी हो सकती थी। किन्तु दण्डी का चित्रण उपर्युक्त काल-सीमाओं के अन्तर्गत (४५०-७०० ई०) ही माना जा सकता है, वह ५५० ई० से ६०० ई० का ही संकेत देता है। दण्डी की भाषा बाण आदि कवियों से सर्वथा अप्रभावित है किन्तु यह निर्णायक तथ्य नहीं है। बाण के बाद भी प्रसादगुण-युक्त वैदर्भी शैली का प्रयोग हुआ है। दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में तो बाण का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। इसीलिए दण्डी के काल का महत्त्वपूर्ण आधार यह 'अवन्तिसुन्दरीकथा' ही है जिसे प्रामाणिक न मानने की स्थिति में ६०० ई० तक ही दण्डी को रखा जा सकता है; और यदि यह प्रामाणिक रचना हो तो दण्डी को ६७५ ई० एवं ७२५ ई० के बीच रख सकते हैं।

दण्डी की रचनाएँ

शार्ङ्गधरपद्धति (श्लोक-१७४) में दण्डी की तीन रचनाओं का निर्देश है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।।

दण्डी की रचनाओं में काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित तो परम्परा से प्रमाणित है; किन्तु तीसरी कृति के विषय में ऐकमत्य नहीं। छन्दोविचिति[2], कलापरिच्छेद[3], द्विसन्धानकाव्य[4] एवं मृच्छकटिक[5] तक के नाम प्रस्तावित हुए हैं। इधर बहुमत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की ओर झुका है। अत: इस ग्रन्थत्रयी का परिचय दिया जाता है।

काव्यादर्श

यह तीन परिच्छेदों का पद्यात्मक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। प्रथम परिच्छेद में (१०५ पद्य)

---

१. शुकनासोपदेश के 'यौवनप्रभवं तम:' का काव्यादर्श (२/१९७) में और शिशुपालवध (२/८) का काव्यादर्श (२/३०२) में अनुहरण है।
२. काव्यादर्श १/१२ में चर्चित-छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
यह छन्द:शास्त्र का ग्रन्थ था किन्तु सामान्य छन्दोग्रन्थों का अर्थ ही उपयुक्त है।
३. काव्यादर्श ३/१७१ तस्या: कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति।
४. भोज के शृङ्गारप्रकाश (अध्याय ११) में चर्चित - यथा दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धौ।
५. पिशल (Pischel) ने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' श्लोक की काव्यादर्श और मृच्छकटिक में स्थिति देखकर एवं दोनों ग्रन्थों में समान सामाजिक व्यवस्था पाकर इसे दण्डिकृत कहा था।

काव्य का महत्त्व, लक्षण, भेद, महाकाव्य, गद्यकाव्य, भाषाभेद तथा काव्यगुणों का विचार है। द्वितीय परिच्छेद में (३६८ पद्य) अलङ्कारों का विवेचन है जिसमें उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप आदि के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में यमकालङ्कार, चित्रकाव्य तथा काव्यदोषों का विवेचन है (१८७ पद्य)। इस ग्रन्थ के आधार पर भामह ('काव्यालङ्कार' के लेखक) तथा दण्डी के पौर्वापर्य पर विवाद रहा है। किन्तु काव्यादर्श में काव्यालङ्कार के सिद्धान्तों का खण्डन दिखायी पड़ने से दण्डी ही परवर्ती लगते हैं। दोनों ग्रन्थ सरल शैली में विवेचन-परक हैं किन्तु काव्यादर्श में कहीं-कहीं शास्त्रार्थ-प्रवृत्ति भी है।

दशकुमारचरित

यह दण्डि-रचित गद्यकाव्य है जिसमें कथा और आख्यायिका नामक दोनों गद्य-भेदों के लक्षण उपन्यस्त हैं। इसके दण्डि-रचित होने में तो विवाद नहीं है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ को उनकी कृति मानने में आपत्ति उठी है। वर्तमान ग्रन्थ तीन भागों में उपलब्ध है-(१) पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठिका, (२) आठ उच्छ्वासों का दशकुमारचरित एवम् (३) उपसंहार । इनमें कुछ विद्वानों का अभिमत है कि पूर्वपीठिका और उपसंहार-भाग बाद में जोड़े गये हैं। दण्डी की मौलिक कृति में केवल मध्यभाग ही शेष है। कथा को अविच्छिन्न तथा पूर्ण करने के लिए आगे-पीछे कुछ अंश प्रक्षिप्त हुए। इस मत को ईगलिंग (Eggeling), अगाशे, विल्सन तथा कीथ ने प्रवृत्त किया। अपने मत के समर्थन में इन्होंने युक्तियाँ दी हैं कि कुछ पाण्डुलिपियों में पूर्वपीठिका और उपसंहार (उत्तरपीठिका) नहीं हैं, पूर्वपीठिका में दी गई वंशावली दशकुमारचरित की नामावली से कहीं-कहीं भिन्न है, प्रक्षिप्त भागों में व्याकरण-सम्बन्धी अनियमितताएँ हैं, इन भागों की पाण्डुलिपियों में पाठ-भेद बहुत है तथा शैली की दृष्टि से भी ये भाग मूल ग्रन्थ की अपेक्षा शिथिल हैं।[1]

दशकुमारचरित को साकल्य रूप से दण्डि-रचित न मानने वाले विद्वानों की युक्तियाँ विचारणीय हैं। पाण्डुलिपियों में पूर्व और अन्तिम भाग न मिलना कई कारणों से सम्भव है जैसे- असुरक्षा, जीर्णता इत्यादि। ऐसी अनेक पाण्डुलिपियाँ हैं (जैसे-बुद्धचरित की) जिनमें पूर्वापर भाग सुरक्षित नहीं रह सके। कभी-कभी पूर्वापर भाग में ताल-मेल न रहने या प्रतिलिपि करने में भूल के कारण भी कुछ नामों में विकृति हो जाती है। इसीलिए पूर्वपीठिका और मूल दशकुमारचरित के कुछ नामों में सामञ्जस्य नहीं है। जैसे-मूलग्रन्थ में सुमन्त्र (पूर्वपीठिका में मन्त्रगुप्त), राजपुत्र (मन्त्रिपुत्र), प्रमति (कामपाल राजा का पुत्र > सुमति मन्त्री का पुत्र)। यह सब पाठ की अस्पष्टता का फल है। व्याकरण की शिथिलताएँ भी लिपिकारों के दोष हैं। सम्पूर्ण दशकुमारचरित की शैली समान रूप से सरल, प्रवाहपूर्ण, अल्प वर्णनों से युक्त तथा कथानक की रोचकता बनाये रखनेवाली है। पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करते हुए कुछ संशोधकों ने अवश्य ही अपनी बुद्धि से कुछ परिवर्तन किये होंगे। अतः पूरी कृति दण्डी की है।

इस विषय में एम० आर० कवि ने एक अन्य कारण बताया है कि १२५० ई० के आसपास दशकुमारचरित (सम्पूर्ण) का तेलुगु-अनुवाद हुआ था। जब समग्र दशकुमारचरित किसी कारण

१. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी-संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ४६७।

से पूर्व और अन्त के अंशों से रहित हो गया तब किसी कुशल लेखक ने नष्ट भागों का तेलुगु से पुनः संस्कृत रूपान्तर कर दिया।[1] दशकुमारचरित की तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं- भूषण (शिवरामपण्डितकृत), पदचन्द्रिका (कवीन्द्राचार्यकृत) तथा लघुदीपिका (भानुचन्द्रकृत)। ये केवल मध्यभाग पर ही हैं, पूर्व और उत्तरपीठिकाओं पर नहीं। अर्थात् इनकी दृष्टि में मध्यभाग ही दण्डि-कृत है।

सम्पूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ को दण्डिकृत मानने के कई तर्क हैं—(१) 'दशकुमारचरित' शीर्षक की सार्थकता पूरे ग्रन्थ से होती है, मध्यभाग में तो सात कुमारों का पूरा और एक कुमार का अधूरा वर्णन है। नायक (राजवाहन) का आधा वर्णन तो पूर्वपीठिका में ही है, शेष दो कुमारों का भी वर्णन वहीं है। उत्तरपीठिका परिणाम या कार्यावस्था का परिचय देती है। अतः कथानक की दृष्टि से और शीर्षक के विचार से पूरा ग्रन्थ एकात्मक है। ऐसा न होने से इसका शीर्षक कुछ भिन्न ही होता। (२) भाव, भाषा, शैली तथा विचार-तत्त्व (जीवनदर्शन) की एकरूपता पूरे ग्रन्थ को एकात्मक सिद्ध करती है। सर्वत्र कुमारों का ही वर्णन है, प्रकृति-वर्णन या अन्य वर्णनों में संयम समान रूप से मिलता है, रोचकता सर्वत्र मिलती है तथा वैदर्भी रीति का आद्यन्त निर्वाह हुआ है। कवि के विचारों पूर्व और मध्यभाग में कहीं विरोध नहीं है। (३) पूर्वपीठिका के मङ्गलश्लोक में आठ बार तथा गद्यभाग में अनेक बार 'दण्ड' शब्द का प्रयोग करने के कारण कवि का उपनाम 'दण्डी' पड़ा था— यह भी इस रचना के साकल्य-रूप से दण्डि-कृत होने का प्रमाण है।

ऐसा माना जाता है कि दण्डी ने इसकी रचना युवावस्था में की थी। सम्भव है, उन्हें इसका पूर्व और अन्तिम भाग बाद में अच्छा नहीं लगा हो तो, उन्होंने इसका संशोधित रूप बनाया हो जिससे यह विवाद उत्पन्न हुआ अथवा किसी परवर्ति लेखक ने ही इस अंश का संशोधन किया। किन्तु यह स्पष्ट है कि केवल मध्यभाग को दण्डिकृत मानने से कृति अपूर्ण और विकलाङ्ग होगी।[2] इसके कथानक तथा अन्य पक्षों पर पृथक् विचार करेंगे।

अवन्तिसुन्दरीकथा

दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका में मालव-नरेश की पुत्री अवन्तिसुन्दरी का प्रणय-वृत्त संक्षेप में वर्णित है , उसीका सविस्तर निरूपण इस 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में किया गया है। इस ग्रन्थ का आंशिक प्रकाशन १९२४ ई० में दक्षिणभारती ग्रन्थमाला में श्री एम्० आर० कवि के सम्पादन में हुआ था। पुनः तिरुअनन्तपुरम् की अनन्तशयन-संस्कृत-ग्रन्थावली में १९५४ ई० में इसका पूरा रूप प्रकाशित हुआ। विद्वानों के अनुसार हस्तलेख की अपूर्णता के कारण यह संस्करण भी अपूर्ण ही है। कुछ लोगों का विचार है कि यह दण्डी के नाम से किसी अन्य कवि के द्वारा की गयी रचना है। दूसरी ओर कुछ विद्वान् मानते हैं कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' ही दण्डी की मुख्य

---

१. पाण्डेय तथा व्यास-संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २३८।

२. 'दशकुमारचरित का काव्यशास्त्रीय और सांस्कृतिक अनुशीलन' शीर्षक प्रबन्ध पर मेरे निर्देशन में पटना विश्वविद्यालय से श्रीमती सुनीता कुमारी पाण्डेय को १९९५ ई० में पीएच्० डी० की उपाधि मिल चुकी है। अन्य सहायक ग्रन्थ-दण्डी (जयशंकर त्रिपाठी, दिल्ली १९९१ ई०), Dandin and his times (Dr. D. K. Gupta)

रचना है, इसीका सार दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका के रूप में किसी ने प्रस्तुत किया होगा।[1]

प्राचीन साहित्य में दशकुमारचरित की अपेक्षा इसी गद्यकाव्य को दण्डी की रचना के रूप में अधिक ख्याति मिली थी। 'नामसंग्रहमाला' में अप्पयदीक्षित ने कहा है- इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगा:। इसमें सुबन्धु, मयूर और बाण की प्रशंसा की गयी है, जिसके आधार पर दण्डी का काल इनके अनन्तर ७०० ई० में माना गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के शैली-सौन्दर्य के आधार पर पण्डितों में यह प्रशस्ति चली थी-दण्डिन: पदलालित्यम्। जो लोग इस गद्यकाव्य को दण्डी की कृति नहीं मानते, उनका कथन है कि इसके कवि ने दण्डी और बाण की प्रमुख विशिष्टताओं को लेकर इसका प्रणयन किया था। तदनुसार 'दशकुमारचरित' से पूर्वपीठिका का कथानक एवं भाषा में पदलालित्य का ग्रहण किया गया है तो 'हर्षचरित' से प्राचीन कवियों का गुणानुवाद एवं कविवंशवर्णन की प्रक्रिया अपनायी गयी है।[2] इस पर 'कादम्बरी' का भी प्रचुर प्रभाव है जैसे अवन्तिसुन्दरीकथा (पृ० ४७) में जो लक्ष्मी का वर्णन मिलता है, वह शुकनासोपदेश (कादम्बरी का भाग) के लक्ष्मी-वर्णन से अनुप्राणित है। इस गद्यकाव्य का पद्यात्मक संक्षिप्त रूप (अवन्तिसुन्दरीकथासार) भी उपलब्ध है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। यह सप्तम सर्ग में समाप्त होता है। अवन्तिसुन्दरीकथा की प्रामाणिकता (दण्डी की कृति होने) पर इनका काल मुख्यत: आश्रित है-यह कहा जा चुका है।

दशकुमारचरित का कथानक

'दशकुमारचरित' के तीन खण्डों में पूर्वपीठिका में कथा की पृष्ठभूमि के साथ दो कुमारों की पूरी किन्तु नायक राजवाहन की अधूरी कथा दी गयी है। मूल भाग में राजवाहन की कथा पूर्ण करके शेष सात कुमारों की कथा वर्णित है। उपसंहार में कथा की सुन्दर समाप्ति की गयी है। अत: कथानक की दृष्टि से पूरी रचना एक सम्बद्ध सुघटित कृत है। ग्यारहवीं शताब्दी ई० में पूरी रचना को दण्डि-कृत मानते थे।[3] इसकी पूर्वपीठिका का प्रथम उच्छ्वास ग्रन्थ की भूमिका देता है कि मगध- नरेश राजहंस (जिनकी रानी वसुमती थी) को मालव-नरेश मानसार ने पराजित करके विन्ध्याटवी में रहने को विवश कर दिया। वहीं वसुमती ने राजवाहन नामक पुत्र को जन्म दिया। राजवाहन के संरक्षण में नौ अन्य कुमार भी आये। उनमें सात तो मन्त्रियों के पुत्र थे और दो मिथिलानरेश प्रहारवर्मा के पुत्र थे। दसों कुमारों की शिक्षा साथ-साथ हुई तथा वे बड़े होने पर दिग्विजय के लिए निकल पड़े। अभियान के क्रम में ही वे पृथक् हो गये। क्रमश: वे इस कथा के नायक राजवाहन से मिलते गये और अपनी अद्भुत कथाएँ सुनाते गये। पूर्वपीठिका के तृतीय और चतुर्थ उच्छ्वासों में क्रमश: सोमदत्त और पुष्पोद्भव अपनी रोमांचक कथाएँ राजवाहन को उज्जयिनी में सुनाते हैं। पंचम उच्छ्वास में राजवाहन और मालवनरेश मानसार (मगधनरेश के शत्रु) की पुत्री अवन्तिसुन्दरी का प्रणय और अद्भुत परिणय वर्णित है, यह कथा मूलदशकुमारचरित (मध्यभाग) के प्रथम उच्छ्वास तक चली गयी है जहाँ नायक राजवाहन को बन्धन में डालकर

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४०२।

२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी - संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ४७०।

३. पूर्वपीठिका का मंगलश्लोक 'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्ड:' भोज (१०१०-१०५५ ई० राज्यकाल) के सरस्वतीकण्ठाभरण (परि० २, पृ० २६२ काव्यमाला) में उद्धृत है।

चम्पा पर आक्रमण के लिए अवन्तिसुन्दरी का भाई (चण्डवर्मा) ले जाता है।

चम्पा-विजय के उत्सव में ही राजवाहन के मित्र अपहारवर्मा ने ऐसा आक्रमण किया कि चण्डवर्मा मारा गया, राजवाहन छूट गया। अब चम्पा में ही बिछुड़े हुए मित्रों की एक-एक कर भेंट होती है तथा वे सब राजवाहन को अपनी-अपनी रोमांचक कथाएँ सुनाते हैं। सबकी कथाओं में किसी न किसी राज्य की प्राप्ति और राजकुमारी का परिणय भी रहता है अर्थात् अब सभी राजा बन गये हैं। क्रमशः अपहारवर्मा (उ० २), उपहारवर्मा (उ० ३), अर्थपाल (उ० ४), प्रमति (उ० ५), मित्रगुप्त (उ० ६), मन्त्रगुप्त (उ० ७), और विश्रुत (उ० ८) अपने-अपने इतिवृत्त नायक को चम्पा में ही सुनाते हैं। उत्तरपीठिका में ये सभी मिलकर राजहंस के पास जाते हैं जो इन कुमारों को स्वविजित राज्यों को समर्पित कर स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार करते हैं। सभी कुमार नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते हैं।

मित्रगुप्त के इतिवृत्त में अवान्तर कथाओं के रूप में धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती की कथाएँ भी हैं। मन्त्रगुप्त के वृत्तान्त की विशिष्टता है कि उसमें ओष्ठ्यवर्ण (पवर्ग) का बिल्कुल प्रयोग नहीं है, यहाँ तक कि पदान्त 'म्' भी अनुस्वार के रूप में परिवर्तित है। इसका विलक्षण कारण कवि ने कहा है कि उसकी प्रियतमा के दाँतों द्वारा अधरक्षत होने से वह करों से ओठों को छिपाये हुए था (करकमलेन किंचत्संवृताननो ललितवल्लभारभस-दत्तदन्तक्षत-व्यसनविह्वलाधरमणिः)। उसकी कथा में (सप्तम उच्छ्वास) लालित्य का अनुपम सन्निवेश है।

उपर्युक्त दस कुमारों की कथाओं से सम्बद्ध इस ग्रन्थ के दस उच्छ्वास हैं (पू० पी० ३, ४, उ० पी० १ राजवाहनचरित, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८)। इन सबके शीर्षक 'चरित' के रूप में हैं जैसे - सोमदत्तचरित, पुष्पोद्भवचरित इत्यादि। अन्य उच्छ्वासों के शीर्षक हैं - कुमारोत्पत्ति (पू० पी०१), द्विजोपकृति (पू० पी० २, इसमें राजवाहन एक ब्राह्मण के उपकारार्थ रात में निकला और उसकी खोज में ही सभी पृथक् हो गये) तथा अवन्तिसुन्दरीपरिणय (पू० पी० ५)। इस प्रकार कथानक को ऐसा संघटित किया गया है कि रोचकता बनी रहे तथा कहीं भी कथावस्तु शिथिल न हो।

दण्डी का काव्यगत वैशिष्ट्य-भावपक्ष

दण्डी का दशकुमारचरित आद्यन्त एक संघटित कथानक को प्रस्तुत करता है जिसमें रसमय रोचकता सर्वत्र बनी हुई है। कथा सर्वत्र आगे बढती गयी है, प्राकृतिक वर्णन या पात्रों के चिन्तन या निरर्थक शास्त्रार्थ में दण्डी कहीं उलझते नहीं। पूर्वपीठिका के पंचम उच्छ्वास में वसन्त का वर्णन, षष्ठ उच्छ्वास में त्रिगर्त नामक जनपद में पड़े हुए दुर्भिक्ष का वर्णन अथवा अष्टम उच्छ्वास में राजशास्त्र का वर्णन (जो कादम्बरी के शुकनासोपदेश के समान है) कभी भी मूल कथा में व्याघात उत्पन्न नहीं करते, अपितु अनुवर्ती घटनाओं के लिए सहज-नैसर्गिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करके दण्डी की कथाशैली की सुषमा-वृद्धि करते हैं। इस दृष्टि से कुन्तक का सुकुमार मार्ग दण्डी की कृति में प्रचुरता से उपलब्ध है।

रस की दृष्टि से इस ग्रन्थ की कथाएँ अद्भुतरस-प्रधान हैं। पाठक कल्पना भी नहीं कर सकता कि कथा किस दिशा में मुड़ेगी, उसकी साँस रुकी रह जाती है, रोम खड़े हो सकते हैं, कथा की समाप्ति पर ही उसे बाह्य जगत् का बोध होता है। दण्डी की कथाओं में मध्यावकाश (Interval) का स्थान नहीं है कि कुछ सोच सकें। बाण की रचनाओं जैसे लम्बे वर्णन नहीं

कि कुछ पृष्ठ छोड़कर कथा की खोज में आगे बढ़ जायें। यहाँ तो वाक्य-वाक्य में आश्चर्य, भय और विस्मय है। दशकुमारचरित द्यूतकारों, तस्करों, धूर्तों, ठगों, हिंसकों, हत्यारों, छद्मवेशियों, अपहर्त्ताओं और अवैध प्रेमियों का आख्यान है। ऐसे पात्र उसके विभिन्न उच्छ्वासों में (विशेषरूप से मध्यभाग में) सुलभ हैं जो अपने जघन्य कृत्यों से कुछ उपलब्धि करते हैं। लेखक की धारणा समाज के प्रति व्यङ्ग्यात्मक है। ब्राह्मणों, संन्यासियों, राजाओं, राजकुमारियों तथा पाखण्डियों के दुश्चरित्र का अनावरण बड़ी कुशलता से इसमें किया गया है। देवताओं तक को यहाँ व्यंग्य-विषय बनाया गया है। फिर भी दण्डी अनैतिक आचरण के समर्थक नहीं हैं; असंगति पर व्यंग्य करके वे सुधार का सुझाव अवश्य देते हैं।

दण्डी के पात्र अत्यन्त सजीव है। समाज का वैविध्यपूर्ण चित्रण जैसा दण्डीने किया है वैसा संस्कृत साहित्य में विरल है। उदात्त और अनुदात्त दोनों प्रकार के पात्र उनकी रचना में सुलभ हैं। नायक राजवाहन में अपने कुल का गौरव, शालीनता, शिष्टाचार, परोपकार, शरीर-सौष्ठव, आदर्श प्रेम, गम्भीरता, पितृभक्ति, विद्या-विवेक आदि अनेक गुण हैं तो उसके सहचर कुमारों में भी राजा बनने के गुण विद्यमान हैं, वे भी अपने विविध प्रयासों तथा भाग्य के फलों से राजत्व के साथ-साथ रमणी-रत्न की प्राप्ति में सफल होते हैं। अपहारवर्मा द्यूतक्रीड़ा, चोरी, कूटनीति और कपटजाल में प्रवीण है। वह चम्पानगरी में स्थित वेश्या काममंजरी को सबक सिखाता है क्योंकि उसने अपने रूपजाल में मोहित करके अनेक धनियों का सर्वनाश ही नहीं किया था प्रत्युत त्रिकालदर्शी महात्मा मरीचि की तपस्या नष्ट कर दी थी। उपहारवर्मा कल्पसुन्दरी का हृदय जीतकर उसे अपने पति की हत्या में सहयोग देने के लिए प्रस्तुत कर लेता है और स्वयं युवराज बन जाता है। ये सभी कुमार दुष्टशासन से प्रजा की रक्षा करते हैं। इनके कार्यों का क्षेत्र नगर से लेकर श्मशान भूमितक है, ये षड्यन्त्रों के विधाता हैं, कण्टक से कण्टक हटाने में निपुण हैं। प्रायः इनके कार्य लौकिक ही हैं किन्तु कहीं-कहीं लोकोत्तर ब्रह्मराक्षस, आकाश-विचरण आदि भी काव्य और कथा के अनुरोध से चर्चित हैं। पाठक उनमें खो जाता है, तर्क और विवेक से ऊपर चला जाता है। स्त्रियों के नाना रूप इस ग्रन्थ में चित्रित हैं जैसे-राजकुमारी, पतिवंचक नारी, कुट्टनी, धूर्त दासी इत्यादि।

दण्डी अपना शास्त्रीय ज्ञान भी इसमें प्रकट करते हैं। अष्टम उच्छ्वास में इनका राजशास्त्रीय ज्ञान व्यापकरूप से प्रकाशित है। अपने समय के राजाओं की चाटुप्रियता और अकर्मण्यता का चित्रण भी इस प्रसंग में इन्होंने पुष्कल रूप से किया है। कुमारों की शिक्षा के प्रसंग में इन्होंने धर्मशास्त्र, शब्दशास्त्र, ज्यौतिष, तर्क, मीमांसा आदि शास्त्रों के अतिरिक्त काव्य, नाटक, आख्यानक, आख्यायिका, इतिहास, चित्रकथा (रमणीय कहानियाँ), पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकीयनीति आदि विषयों का उल्लेख किया है। चौर्य, दुरोदर (द्यूत) आदि कपट-कलाओं में भी कुमारों को प्रौढ बनाया गया था (देखें-पू० पी० प्रथमोच्छ्वास का अन्तिम अनुच्छेद)। राजवाहन ने प्रिया अवन्तिसुन्दरी का हृदय जीतने के लिए चतुर्दशभुवनों का वृत्तान्त सुनाया था। वस्तुतः दण्डी 'जायते यत्र काव्याङ्गम्' के मूर्तिमान् रूप थे। इस व्यापक ज्ञान को सरल शैली का परिधान प्रदान करना उनकी सहृदयता और रसप्रवणता है।

दण्डी का साहित्यिक वैभव (गद्यशैली)

दण्डी की प्रशस्ति के रूप में 'दण्डिनः पदलालित्यम्' अत्यधिक प्रसिद्ध आभाणक है। पदों

का लालित्य समासरहित सौम्य पदावली के रूप में तथा अनुप्रासयुक्त नादसौन्दर्य के रूप में दशकुमारचरित में मिलता है। सप्तम उच्छ्वास में जहाँ मन्त्रगुप्त निरोष्ठ्यवर्णों से अपना वृत्तान्त सुनाता है दण्डी को सुन्दर से सुन्दर पदावली की खोज करनी पड़ी है जिससे वर्णसाम्यरूप अनुप्रास स्वत: आ गया है जैसे – तस्य नात्यासन्ने सलिलराशिसदृशस्य कलहंसगण–दलित–नलिन–दल–संहति–गलित–किञ्जल्क–शकलशारस्य सारसश्रेणिशेखरस्य सरसस्तीरकानने कृतनिकेतन: स्थित: (पृ० २२४)। सघन समासों में भी नाद का सौन्दर्य आवर्जक है।

पदलालित्य के निवेश से दण्डी ने साधारण विषयों को भी चमत्कारी बना दिया है। आकर्षक और हृदयावर्जक वस्तु को 'ललित' कहते हैं। जिस पदरचना से पाठक आकृष्ट हों और साधुवाद करने लगें वह लालित्यपूर्ण होती है। अनुप्रास से रहित लालित्य में कालिदास की कीर्ति अनुपम है जिसे बिल्हण ने छूने का प्रयास किया है। सानुप्रास लालित्य की दृष्टि से श्रीहर्ष, जयदेव और पण्डितराज जगन्नाथ प्रसिद्ध हैं। दण्डी का पदलालित्य दोनों कोटियों में निविष्ट है। श्रुतिकटु पदों का परिहार करके सरल सुगम शब्दों का विन्यास करने पर अनुप्रास (वर्णसाम्य) अनिवार्य नहीं होता। बहुधा दण्डी ने ऐसे वाक्य ही प्रयुक्त किये हैं। यथा—दयित, त्वत्प्रसादादद्य मे चरितार्था श्रोत्रवृत्ति:।अद्य मे मनसि तमोऽपहस्त्वया दत्तो ज्ञानप्रदीप:।पक्वमिदानीं त्वत्पादपद्मपरिचर्याफलम्। अस्य च त्वत्प्रसादस्य किमुपकृत्य प्रत्युपकृतवती भवेयम्। अभवदीयं हि नैव किञ्चिन्मत्सम्बद्धम् (पृ० १–२)।[1] संस्कृत वाग्धारा की यह भाषा प्रशंसास्पद है। 'चूर्णक' श्रेणी का यह गद्य दण्डी की विलक्षणता है। जहाँ दण्डी समासों का प्रयोग करते हैं, वहाँ समास में पदों की सजावट पर विशेष ध्यान देकर पदावली को पाठ्य ही नहीं, गेय तक बना देते हैं। लम्बे वाक्य या समस्त पदावली के स्थल यद्यपि इस कृति में कादाचित्क हैं किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में कवि की उभरनेवाली आवेगात्मक भावना का योगदान ही अधिक है। पूर्वपीठिका में या मध्यभाग के सप्तम उच्छ्वास में ऐसे स्थल हैं। पूर्वपीठिका के आरम्भ में राजहंस का वर्णन ऐसे ही समास युक्त वाक्य में दण्डी ने किया है— तत्र वीरभटपटलोत्तरङ्ग–तुरङ्गकुञ्जर–मकरभीषण–सकलरिपुगण–कटकजलनिधि–मथनमन्दरायमाण–समुद्दण्ड–भुजदण्ड: ... ... अतिमानया शरदिन्दुकुन्द–घनसार–नीहार–हार–मृणाल–मराल–सुरगज–नीरक्षीर–गिरिशाट्टहास–कैलास–सकाश–नीकाशमूर्त्या रचितदिगन्तरालपूर्त्या कीर्त्याऽभित: सुरभित: ... ... प्रतापेन सततुलितवियन्मध्यहंसो राजहंसो नाम घनदर्पकन्दर्प–सौन्दर्य–सोदर्य–हृद्य–निरवद्यरूपो भूपो बभूव। घटाटोप पदावली की शालीन दृष्टि दण्डी के शब्दचयन का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

यह अनुप्रास–प्रेम कहीं यमक की परिधि में भी कवि को ले गया है, प्रस्तुत वाक्य में एक पद के अन्तिम भाग से दूसरे पद का आदिभाग समध्वनि किन्तु भिन्नार्थक है – कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमकार्षु: (पूपी०, उ० २, पृ० ५०)। अर्थात् कामदेव (मार) के समान सुन्दर, राम आदि के समान पुरुषार्थी (पराक्रमी), क्रोध से (रुषा) शत्रुओं को भस्म करनेवाले तथा अपने वेग से (रयेण) वायुवेग का उपहास करने वाले कुमारों ने अपनी रणाभिमुखी यात्रा से (यानेन) राजा राजहंस को अभ्युदय की कामना से सम्पन्न कर दिया।

---

१. पृष्ठसंख्या मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित, विश्वनाथ झा–सम्पादित संस्करण के हैं, दिल्ली, १९८४ ई०।

पदलालित्य का यह दूसरा पक्ष (सानुप्रास पदावली का विन्यास) प्राय: पूर्वपीठिका में प्रचुर है किन्तु मूलभाग में भी कहीं-कहीं दिखायी पड़ता है यथा - (१) **तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्ष:** (पृ० १८२), (२) **निजनिलयनिलीननि:शेषजने नितान्तशीते निशीथे** (पृ० २१३), (३) **जनं चैनं सह नयानया कन्यया कन्यागृहं हरिणनयनया** (पृ० २१९), (४) **असत्येनास्य नास्यं संसृज्यते** (पृ० २२५) इत्यादि। इन सन्दर्भों में दण्डी की पदचयनकला श्लाघ्य है, पदों की स्थापना का क्रम भी आवर्जक है।[1]

दण्डी की वर्णन-क्षमता में भी लालित्य का प्रवाह प्राप्त होता है। त्रिगर्त जनपद में पड़े दुर्भिक्ष का मार्मिक एवं हृदयग्राही वर्णन करते हुए वे कहते हैं- 'क्षीणसारं सस्यम् , ओषधयो वन्ध्या:, न फलवन्तो वनस्पतय:, क्लीबा मेघा:, क्षीणस्रोतस: स्रवन्त्य: , पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निर्निस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम् , अवहीना: कथा: गलिता: कल्याणोत्सवक्रिया:, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि , अन्योन्यमभक्षयन्प्रजा: ....।' (दशकुमार०, उ० ६, पृ० १८२-३)।

दण्डी के वर्णनों में प्रसादगुण, वैदर्भी रीति, सुकुमार मार्ग, सूक्ष्मेक्षिका, संयम, शालीनता और प्रवाहपूर्ण भाषा का समन्वित रूप मिलता है। उनकी गद्यशैली में कहीं भी कृत्रिमता या अलंकारों का असहज भार नहीं है। अर्थालंकारों में वे प्रमुख रूप से उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा तक ही सीमित रहते हैं। **उपमा** के कुछ प्रयोग हैं- रूपी कोप इव व्याघ्र: (पृ० ३०), कुसुमसुकुमारं कुमारम् (पृ० ४२), मधुकरायमाणकाकपक्षम् (पृ० ४९), कालायसकर्कशकायम् (पृ० ५१), गङ्गावर्तसनाभिं नाभिम् (पृ० १०७) इत्यादि। **रूपक** के उदारहण हैं- मगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी (पूपी०, पृ० ३), पुत्ररत्नेनामुना .... का नाम सीमन्तमौक्तिकीक्रियते (पू० पी०, पृ० ११२), सार्थवाहस्यार्थपतेर्विमर्दको बहिश्चरा: प्राणा: (दश०, पृ० ५१) इत्यादि। दशकुमारचरित (मध्यभाग) के चतुर्थ उच्छ्वास में काशी की राजकुमारी मणिकर्णिका के वर्णन में अर्थपाल ने उत्प्रेक्षाओं की वर्षा बाणभट्ट के समान की है - 'मुझे देखकर वह उसी प्रकार काँप उठी जैसे मलयपवन से चन्दनलता ... , वह मूर्तिमती पृथ्वीदेवी जैसी लग रही थी, असुरों को जीतने के लिए अवतार लेनेवाली मानो दुर्गा हो, ...अनेक दुष्ट राजाओं के दर्शन से बचने के लिए पाताल में प्रविष्ट मानो राजलक्ष्मी हो इत्यादि (पृ० १३५)। अन्य उदाहरण है - कन्यान्त:पुरमग्निपरीतमिव पिशाचोपहतमिव वेपमानम् (दश०, उ० १, पृ० ३-४)। अर्थालंकारों पर दण्डी का ध्यान कम होने पर भी उनकी कुछ मौलिक उद्‌भावनाएँ आकर्षक हैं।

दशकुमारचरित में चित्रित समाज और संस्कृति

तात्कालिक भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जिनमें परस्पर द्वेष और आन्तरिक कलह भी था। मान-सम्मान के लिए नरेश प्राय: लड़ते रहते थे। कभी-कभी दूसरे राजा की सुन्दरी कन्या

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि दण्डी की अवन्तिसुन्दरीकथा को लक्षित करके ही 'दण्डिन: पदलालित्यम्' वाली प्रशस्ति विदग्ध-गोष्ठी में चली होगी। इस कथा पर बाण की शैली का प्रभाव स्पष्ट है क्योंकि विषयवस्तु के भेद से इसमें शैली का भी अन्तर है जैसा कि बाण के गद्य में मिलता है। उन्होंने दशकुमारचरित को ही दण्डी के नाम से प्रचलित किन्तु कल्पित रचना कहा है क्योंकि इसे किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में निर्दिष्ट नहीं किया गया है। संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९९०), पृ० ४०२-३।

की प्राप्ति के लिए दो राज्यों में भीषण युद्ध होता था। आक्रमण करने वाला राजा इसमें अपनी प्रतिष्ठा समझता था।[1] राजाओं के बीच युद्ध की स्थिति में सन्धियाँ भी होती थीं जो स्वार्थ, वैवाहिक सम्बन्ध तथा क्षेत्रीय सामीप्य पर आश्रित होती थीं। राजाओं की सभा में प्राय: चाटुकार लोग राजनीति का निर्धारण करते थे, ये लोग राजा को राजशास्त्र के अध्ययन से विमुख रखते थे जिससे राजसभा से वे हटाये न जायें। कुछ मन्त्री राजा को उचित परामर्श देकर राज्य की रक्षा भी करते थे। दण्डी ने इस कथा में भारत के प्राय: सभी राज्यों का निर्देश किया है जिससे सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से एक ही स्थिति प्रतीत होती है। राजवंशों के उत्थान और पतन का सुन्दर वर्णन इस कथा में प्राप्त होता है।

समाज वर्णों और जातियों में विभक्त था। दण्डी ने त्रिवर्णों तथा चाण्डाल, मातंग एवं किरात जातियों के पात्रों का प्रयोग किया है। कुछ ब्राह्मण छल-प्रपञ्च करनेवाले भी थे। पाञ्चालशर्मा धूर्तविटों का अग्रणी था (दश०, उ० ५)। वनों में रहकर डकैती करनेवाले एक ब्राह्मण से राजवाहन की भेंट हुई थी (पूपी०, पृ० ५२-३)। वह किरातों के साथ जनपदों में जाकर धनिकों का सपरिवार अपहरण करके उनका धन छीन लेता था। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में पूर्ण सामंजस्य था। वैश्य व्यापार के काम में लगे थे, वे प्राय: नगरों में रहते थे जहाँ वाणिज्य की सुविधा थी। धन नष्ट हो जाने पर प्राय: वे जैन क्षपणक (संन्यासी) बन जाते थे।

अनुलोम विवाह के अनेक दृष्टान्त दण्डी देते हैं। ब्राह्मणकुमार पुष्पोद्भव उज्जयिनी की वैश्यकन्या बालचन्द्रिका से विवाह करता है तो सोमदत्त क्षत्रियकन्या से। शूद्रकन्या से विवाह का या प्रतिलोम विवाह का उल्लेख नहीं मिलता। गान्धर्व विवाह की प्रथा थी किन्तु यह कन्याप्राप्ति का उपाय मात्र था, संस्कार से इसकी पुष्टि आवश्यक थी। विवाह के योग्य वर में तीन गुण लोग देखते थे- कुल, सम्पत्ति और रूप (वंश-सम्पल्लावण्याढ्याय यूने मह्यं त्वां दास्यन्त्येव, पूपी०, पृ० ९५)। पत्नी से सन्तान न होने की स्थिति में उसकी अनुजा से भी विवाह किया जाता था, स्वभावत: इस स्थितिमें दोनों बहनों में ईर्ष्या रहती थी (पूपी०, पृ० ४४)

स्त्रियों के अनेक रूप दण्डी ने चित्रित किये हैं जैसे-प्रेमी राजकुमारियाँ, सेविकाएँ, सम्पन्न व्यापारियों की कन्याएँ, बौद्ध भिक्षुणियाँ, अनाथ कन्याएँ, वेश्याओं की माताएँ, वञ्चक वेश्याएँ। सम्पन्न कुमारियों का जीवन स्वच्छन्द था, वे जन-सामान्य से मिलती थीं, वर का चुनाव करती थीं और विलासमय जीवन में अनैतिक आचरण भी कर डालती थीं। राजकुमारियाँ अपरिचित अनाथ स्त्रियों को न्यास के रूप में भी रख लेती थीं। कुछ स्त्रियाँ कुरूप पति का तिरस्कार करके अन्य व्यक्ति का वरण कर लेती थीं। कुट्टनी स्त्रियाँ गणिकाओं के घर में रहकर पुरुषों को आकृष्ट करती थीं। वे पति-पत्नी में द्वेष कराने में भी अग्रणी थीं। वेश्याएँ धनहरण में निपुण थीं। काममंजरी नामक एक ऐसी वेश्या का चरित्र इसमें दिया गया है जिसने अपनी बहन से बाजी लगाकर मरीचि ऋषि को अपने वश में कर लिया तथा उनकी तपस्या नष्ट कर दी। उसने चम्पा के अनेक धनियों

१. आन्ध्रनरेश जयसिंह ने कलिंगराज को सपरिवार बन्दी बनाया क्योंकि उसकी पुत्री कनकलेखा से विवाह करना चाहता था (दश०, उ० ७)। वीरकेतु की कन्या से विवाह के लिए लाटनरेश मत्तकाल ने उस पर आक्रमण किया (पू० पी०, उ० ३)। मालव-शासक चण्डवर्माने अंगराज की पुत्री से विवाह के लिए अंगदेश पर (चम्पा-नगरी) अभियान किया। राजवाहन के मित्र कुमारों ने मिलकर अवन्तिसुन्दरी के पिता मानसार को मार ही डाला।

को कंगाल बना दिया था। उसीकी बहन रागमंजरी सात्त्विक वृत्ति की थी जो यह कहती थी— गुणशुल्काहम्, न धनशुल्का; न च पाणिग्रहणादृतेऽन्यभोग्यं यौवनम्।[1] विवाह करके इस वृत्ति से हटना चाहती थी। वेश्याजीवन का विस्तृत विवरण काममंजरी के प्रसंग में दण्डी ने दिया है।

समाज में मनोरंजन के विविध साधन थे - हास-परिहास, कथा-कहानी, संगीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकला, द्यूतक्रीडा, कन्दुकक्रीडा, कुक्कुटक्रीड़ा (मुर्गों को लड़ाना) इत्यादि। षष्ठ उच्छ्वास में गोमिनी की कथा के द्वारा वास्तविक स्त्री-सौन्दर्य तथा गृहस्थ जीवन को सँभालने की कला का वर्णन कवि ने किया है। (पृ० १८७-९५) सम्पन्न परिवार में जाने पर किसी स्त्री को उपहार मिलता था। स्त्रियाँ अपने को सजाकर रखती थीं परन्तु वन या ग्राम की स्त्रियाँ इस सजावट से दूर थीं। यक्षकन्या तारावली का परिधान आकर्षक नहीं था। पुरुष प्रायः अधोवस्त्र मात्र धारण करते थे, सम्पन्न लोग ही ऊर्ध्ववस्त्र पहनते थे। हारादि से भी उनके वक्ष आच्छन्न रहते थे। उस समय चिकित्सा की पर्याप्त व्यवस्था थी। सर्प-चिकित्सा, व्रण-चिकित्सा, शीतोपचार आदि की चर्चा यहाँ की गई है।

आर्थिक दृष्टि से समाज सम्पन्न था किन्तु कुछ प्रदेशों में कभी-कभी अकाल भी पड़ जाता था। तब लोग अपना आचरण भी बदल देते थे। अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि और व्यापार पर आश्रित थी। व्यापारी जल और स्थल दोनों मार्गों से वाणिज्य-व्यापार करते थे। स्वर्णमुद्राओं और काकिणी का प्रयोग लेन-देन (व्यवहार) के क्रम में होता था।

जहाँ तक धार्मिक परिस्थितियों का प्रश्न है इस ग्रन्थ में वैष्णव और शैव मतों का निर्देश ग्रन्थकार ने मुख्य रूप से किया है।[2] सप्तम उच्छ्वास में मन्त्रगुप्त राजा बनने पर आदेश देता है कि आज समस्त नास्तिकों के सिर लज्जा से अवनत हो जायें; शिव, विष्णु और ब्रह्मा के मन्दिरों में नृत्य-गीत, आराधन आदि किये जायें (तदिदानीं चन्द्रशेखर-नरकशासन-सरसिजासनादीनां त्रिदशेशानां स्थानान्यादररचितनृत्यगीताराधनानि क्रियन्ताम्; दश०, पृ० २३४)। देवी विन्ध्यवासिनी के प्रति भी पूर्ण आस्था समाज में थी (पृ० १६६)। वैदिक धर्म के अनुसार यज्ञ और संस्कारों का भी अनुष्ठान होता था। मनोविनोद और धर्म का मिला-जुला रूप तात्कालिक कामपूजन में मिलता है। राजाओं के उपवनों में काम-पूजन होता था, फूलों से कामदेव की मानवाकृति बनायी जाती थी।

बौद्ध तथा जैन धर्म की स्थिति अच्छी थी किन्तु ब्राह्मण-धर्म में उन्हें हेय समझा जाता था। मठों में बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ भी रहती थीं। कुछ भिक्षुणियाँ किसी गृहस्थ स्त्री की सेवा में भी चली जाती थीं। धर्मरक्षिता (भिक्षुणी) तो चम्पा की लोभी गणिका काममंजरी की प्रधान दूती थी। इसे चीवर और अन्न से अपहारवर्मा ने अपने वश में कर लिया। जैनधर्म मुख्यतः वैश्यों द्वारा संपोषित धर्म था। धनहानि होने पर वैश्य जैनमन्दिरों में रहने लगते थे। अनधिकारियों के संन्यास के कारण (भिक्षु और जैन क्षपणक बन जाने से) दोनों धर्म अंशतः दूषित हो गये थे। वैदिक धर्म के साहित्यकारों ने इस विषय पर बहुत कटाक्ष किया है (देखें-प्रबोधचन्द्रोदय)।

---

१. दशकुमारचरित, पृ० ४९

२. मंगलपद्य में विष्णु के वामनरूप का, महाकाल की आराधना से गदा-प्राप्ति का निर्देश (पूपी०, पृ० १४) एवं शिवपूजा के विधान का अभिधान (वहीं, पृ० ५६) इसके प्रमाण हैं।

तान्त्रिकों का भी उस युग में प्राबल्य था, उनके वेश भयावह और बीभत्स होते थे।[1] उनमें नरबलि की प्रथा थी (पू० पी०, पृ० ३२)। कापालिक लोग श्मशान-साधना करते थे, भिक्षा-पात्र या पानपात्र के रूप में कपाल रखते थे। इस कृति में दो सिद्ध मुनियों के नाम मिलते हैं- वामदेव और मरीचि। तपोबल से ये त्रिकालदर्शी थे। वामदेव ने राजवाहन के विषय में भविष्यवाणी की थी जबकि मरीचि की सिद्धि वेश्या के कारण नष्ट हो गयी थी। अपनी नष्ट सिद्धि को पुनः प्राप्त करके इन्होंने भविष्यवाणी की थी।

तात्कालिक शिक्षा का भी सामान्य परिचय दण्डी ने दिया है। आचार्यों से उनके आश्रम में जाकर ही शिक्षा ली जाती थी। भाषाओं की भी शिक्षा मिलती थी। कुमारों ने विविध विषयों की शिक्षा पायी थी (जिनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है)। मुख्य रूप से शास्त्रों, ललित कलाओं और इन्द्रजाल-विद्या के पृथक्-पृथक् शिक्षालय थे। शिक्षित होना वर का एक गुण माना जाता था। शिक्षा का परिणाम अनसूया, विश्वास, आस्था, प्रियभाषण, परोपकार, निरभिमान होना इत्यादि को माना जाता था।[2] काममंजरी द्वारा मरीचि मुनि को अपने जाल में फँसाने के लिए दिया गया लम्बा प्रवचन भी उस युग की शिक्षापर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।[3]

दशकुमारचरित की विधा (कथा या आख्यायिका)

गद्यकाव्य को दो भेद माने गये हैं- कथा और आख्यायिका। इनमें कथा कल्पित कथानक पर और आख्यायिका ऐतिहासिक या प्रसिद्ध कथानक पर आश्रित होती है। आख्यायिका को उच्छ्वासों में विभक्त किया जाता है, कथा में नहीं। कथा में तटस्थ होकर कोई घटनाक्रमों का वर्णन करता है, नायक आत्मचरित नहीं सुनाता। किन्तु आख्यायिका में नायक या उपनायक आत्मचरित का वर्णन करता है। दण्डी ने इस भेद को निरर्थक माना है। काव्यादर्श (१/२४) में उन्होंने कहा है कि नायक के द्वारा यदि स्ववृत्त का वर्णन वास्तविक गुणों के आधार पर किया जाता है तो उसमें आत्मश्लाघा का दोष नहीं लगता (स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः)। नायक आत्मकथा कहे या कोई दूसरा उसका वर्णन करे- इसमें कोई अन्तर नहीं। वक्ता के भेद से काव्यभेद करना उचित नहीं है। जहाँ तक दोनों के स्वरूपगत भेद (जैसे-छन्दविशेष का प्रयोग, लम्बकों या उच्छ्वासों में विभाजन आदि) का प्रश्न है, यह भी निरर्थक है। वस्तुतः कथा और आख्यायिका एक ही कोटि है जिसकी दो संज्ञाएँ घट और कलश के समान हैं (तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता, काव्यादर्श १/२८)। वस्तुतः दण्डी ने 'कथा' का समर्थन किया है जिसमें आख्यायिका के भी लक्षण आ जायें तो कोई आपत्ति नहीं है।

दशकुमारचरित अपने दो लक्षणों (उच्छ्वासों में विभाजन, कुमारों का स्ववृत्तवर्णन) के कारण आख्यायिका की श्रेणी में प्रतिष्ठित हुआ होगा किन्तु दण्डी ने इसे 'कथा' के रूप में रखे जाने की अनुशंसा की थी। इसका मुख्य कारण कल्पित कथानक तो था ही, विभाजन और स्ववृत्तवर्णन वाले लक्षणों को भी कथा में मानने की प्रबल अनुशंसा आचार्य के रूप में दण्डी ने की थी। अन्य दृष्टियों से इसमें दोनों गद्यकाव्यभेदों के लक्षण मिलते हैं। वक्त्र और अपरवक्त्र

१. दश०, पृ० २१५।
२. दश०, पृ० १६२-३।
३. दश०, २५-८।

छन्द के स्थान पर कहीं-कहीं आर्या छन्द का इसमें प्रयोग है। अपने युग की अनुभूत परिस्थितियों का वर्णन इसकी वास्तविकता का समर्थक है, उच्छ्वासों में विभाजन और कुमारों के द्वारा अपने अनुभवों का वर्णन है-ये तथ्य यदि ध्यान में रखे जायें तो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इसे 'आख्यायिका' कह सकते हैं।

[ख] सुबन्धु

'वासवदत्ता'[१] नामक एकमात्र गद्यकाव्य के लेखक सुबन्धु बाणभट्ट के कुछ पूर्ववर्ती थे। बाण ने हर्षचरित (१/११) में 'कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया' लिखकर इनकी रचना का संकेत किया है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस बाणनिर्दिष्ट 'वासवदत्ता' को पतञ्जलि (१५० ई० पू०) के द्वारा सूचित वासवदत्ता-नामक गद्यरचना (आख्यायिका) मानकर सुबन्धु को बाण का अनुवर्ती कहा है। किन्तु इस धारणा का समर्थन कठिन है। 'वासवदत्ता' में श्लेष-द्वारा नैयायिक उद्योतकर एवं बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति-कृत बौद्धसंगत्यलंकार नामक ग्रन्थ का उल्लेख है— **'न्यायस्थिति-मिवोद्योतकरस्वरूपाम् , बौद्धसंगतमिवालंकारभूषिताम्।'** ये दोनों दार्शनिक छठी शताब्दी ई० में थे , अतः सुबन्धु का समय ५५०-६०० ई० के बीच माना जाता है। बाण सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में हुए थे जिन्होंने उपर्युक्त रूप से न केवल 'वासवदत्ता' की प्रशंसा की है, अपितु कादम्बरी को बृहत्कथा और वासवदत्ता दोनों से बढ़कर बताया है (**अतिद्वयी कथा**, काद० २०)। कादम्बरी के टीकाकार भानुचन्द्र ने यही व्याख्या की है। वाक्पतिराज ने अपने प्राकृतकाव्य 'गउडवहो' (रचनाकाल ७३६ ई०) में सुबन्धु का उल्लेख किया है (सौबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो), किन्तु बाण का नहीं। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उस समय तक बाण उतने प्रसिद्ध नहीं हुए थे जितने सुबन्धु। इससे सुबन्धु की पूर्ववर्तिता का अनुमान होता है। इसके अतिरिक्त जिनभद्र-रचित 'विशेषावश्यकभाष्य' (६०८ ई०) में 'वासवदत्ता' का उल्लेख मिलने से भी सुबन्धु का काल सिद्ध होता है।

सुबन्धु की प्रशंसा 'राघवपाण्डवीय' (१/४०)[२] में कविराज (१२०० ई०) ने और श्रीकण्ठचरित (२/५३)[३] में मंख (११५० ई०) ने की है। दोनों स्थलों में सुबन्धु को बाण से पहले रखा गया है। सुबन्धु बाण के लिए प्रेरक और आदर्श थे इसीलिए हर्षचरित में उनकी कृति की प्रशंसा करके कादम्बरी में उससे आगे निकल जाने की बात बाण ने की है। सुबन्धु की एकमात्र गौड़ी शैली को बाण की पाञ्चाली शैली (विषयानुसार गद्य का आरोहावरोह) पराक्रान्त कर देती है। बाण ने अनेक घटनाएँ तथा वर्णन सुबन्धु से लिये हैं।

'वासवदत्ता' का कथानक पूर्णतः कल्पित है, कोई विभाजन यहाँ नहीं है अतः इसे कथा

---

१. शिवरामत्रिपाठिकृत टीका के साथ एफ्० हाल का संस्करण, बिब्लियोथिका, कलकत्ता, १८५९ ई०। एल्० एच्० ग्रे द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, न्यूयार्क, १९१३ ई०। शंकरदेवशास्त्री की सं० हिन्दी टीका, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५४ ई०।

२. सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।।

३. मण्ठे स्वर्द्विरदाधिरोहिणि वशं याते सुबन्धौ विधेः
शान्ते हन्त च भारवौ विघटिते बाणे विषादस्पृशः।

की श्रेणी में रखा जाता है। इसमें राजकुमार कन्दर्पकेतु तथा राजकुमारी वासवदत्ता के प्रेम और विवाह का रोचक वृत्त वर्णित है। नायक नायिका एक दूसरे को स्वप्न में देखते हैं और परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। नायक अपनी प्रियतमा की खोज में मित्र मकरन्द के साथ निकलकर विन्ध्य पर्वत पर पहुँचता है। वहाँ शुक-सारिका के संवाद से ज्ञात होता है कि वासवदत्ता की सारिका कन्दर्पकेतु की खोज में निकली है। पक्षि-दम्पती की सहायता से नायक-नायिका का समागम होता है। फिर कुछ संकट आते हैं और दोनों में वियोग हो जाता है। वासवदत्ता को एकान्त में देखकर किरातों के दो दल उसे अपनाने के लिए लड़ते हैं। वासवदत्ता चुपके से निकल भागती है किन्तु एक ऋषि के आश्रम में अनधिकार प्रवेश के कारण पाषाण बन जाती है। कन्दर्पकेतु विरह में आत्महत्या करना चाहता है किन्तु आकाशवाणी का आश्वासन पाकर ठहर जाता है। एक दिन उसके स्पर्श से पाषाणशिला वासवदत्ता बन जाती है। उसे लेकर कन्दर्पकेतु राजधानी लौट जाता है।

साहित्यिक वैभव

सुबन्धु गौडी रीति के कवि हैं। इस रीति में ओजगुण, समासों का प्राचुर्य, क्लिष्ट पदावली, वैदुष्य-विलास आदि होते हैं। 'वासवदत्ता' में ये सभी हैं। स्वयं कवि ने इस रचना में प्रत्यक्षर श्लेष रखने की प्रतिज्ञा की है—

प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबन्ध-विन्यासवैदग्धनिधिर्निबन्धम्। (वासव०, श्लोक १३)

अत्यन्त लघुकाय कथानक को लम्बे प्रकृति-वर्णन, स्त्री-वर्णन, नगर-वर्णन, संवाद आदि से भरकर कवि ने अपने कलापक्ष को तो अवश्य प्रदर्शित किया है किन्तु कथाप्रवाह और रसोद्भावन में अपरिपक्वता है। श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास आदि अलंकारों के प्रति कवि का आकर्षण अपरिमेय है, बाण ने भी इस विलक्षणता को अपनाया है।

कथा को छोड़कर विषयान्तर में बह जाने की प्रवृत्ति भारवि, माघ आदि कवियों में जिस प्रकार मिलती है, वही सुबन्धु में भी है। इसी पर आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में[1] कहा है कि जो कवि अपनी रचनाओं में केवल अलंकारों के विन्यास में आनन्द लेते हैं तथा प्रबन्धकाव्य में रस का समुचित निवेश नहीं करते हैं वे निन्दनीय हैं , दोषयुक्त हैं।

सुबन्धु की रचना का कलापक्ष उदार और हृदयावर्जक है। स्वयं कवि ने कहा है कि अच्छे कवि की रचना के गुणों का ग्रहण न भी हो सके तो भी उसकी पदावली ही श्रवणमात्र से आनन्द प्रदान करती है जैसे मालतीमाला की सुरभि का ग्रहण न कर सकें तो उसका रूप ही आँखों को आकृष्ट कर लेता है—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ।।

(मंगलश्लोक-११)

---

१ ध्वन्यालोक, पृ० १५१ (निर्णयसागर)- दृश्यन्ते च कवयोऽलंकारनिबन्धनैकरसा अनवेक्षितरसाः प्रबन्धेषु।

इसी से पता लगता है कि कवि ने पदशय्या और मधुर-कोमल-कमनीय शब्दों के चयन पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया है कि कानों में मधु की धारा प्रवाहित कर सके। उनकी रचना में सर्वत्र समासों का घटाटोप नहीं है किन्तु अलंकारों से कथा-प्रवाह अवश्य व्याहत हुआ है। राजा चिन्तामणि (नायक के पिता) के वर्णन में ही ३०-४० पंक्तियाँ लगी हुई हैं जो अर्थालंकारों का स्तूप खड़ा कर देती हैं। श्लेष का सर्वत्र साम्राज्य है जैसे - **यस्य च रिपुवर्गः सदा पार्थोऽपि न महाभारतरणयोग्यः, भीष्मोऽप्यशान्तनवेहितः, सानुचरोऽपि न गोत्रभूषितः।** (पृ० १८)। अर्थात् जिसका शत्रुवर्ग सदा पार्थ (अर्जुन) होने पर भी महाभारत के रण के योग्य नहीं था, वस्तुतः शत्रुवर्ग सदा अपार्थ (नष्टप्रयोजन, अप+अर्थ) था, महाभार (सैन्य-संचालन आदि बड़े कार्य) के तरण (संपादन) के योग्य नहीं था। वह भीष्म होकर भी शान्तनु का हितैषी नहीं था (: शान्तनवे हितः); वस्तुतः भयंकर (भीष्म) होकर भी अनवरत (अशान्त, कभी न रुकता हुआ) स्तुति की इच्छा करता था (नव=स्तुति, ईहित=इच्छा)। वह शत्रुवर्ग सानु (पर्वतशिखर) पर विचरण करके भी पर्वत(गोत्र) की भूमि में रहता नहीं था (भू+उषितः); वस्तुतः अनुचर-सहित रहकर भी शत्रुसमूह गोत्र के नाम से विख्यात नहीं था (क्योंकि कोई वीरोचित कर्म करता ही नहीं था)। इस प्रकार श्लेषानुप्राणित 'विरोधाभास' अलंकार का प्रयोग सन्दर्भ को प्रौढ़ि प्रदान करता है।

अलंकार के प्रयोग में सुबन्धु अपने पाण्डित्य का भी प्रदर्शन करते हैं जैसे परिसंख्या के इस व्यापक विन्यास में— **यत्र राजनि राजनीतिचतुरे¨ शासति वसुमतीं पितृकार्येषु वृषोत्सर्गः, शशिनः कन्यातुलारोहणम् , योगेषु शूलव्याघातचिन्ता,··· उत्प्रेक्षाक्षेपः काव्यालंकारेषु¨ क्रिपां सर्वविनाशः , कोषसंकोचः कमलाकरेषु न जनेषु , जातिविहीनता मालासु न कुलेषु** इत्यादि (पृ० १०३-५)। यहाँ धर्मशास्त्र, ज्योतिष, काव्यशास्त्र आदि के संकेत हैं। इसी प्रकार मालादीपक का सुन्दर प्रयोग इस सन्दर्भ में है— **यस्य च समरभुवि भुजदण्डेन कोदण्डं, कोदण्डेन शराः, शरैररिशिरः, अरिशिरसा भूमण्डलं, भूमण्डलेनाननुभूतपूर्वो नायकः, नायकेन कीर्तिः, कीर्त्या च सप्त सागराः, सागरैश्च कृतयुगादिराजचरितस्मरणम् , स्मरणेन स्थैर्यं, स्थैर्येण प्रतिक्षणमाश्चर्यमासादितम्** (पृ० २८)। इन अलंकारों के विपुल प्रयोग से सुबन्धु ने बाणभट्ट के लिए दृढ भूमिका प्रस्तुत की थी। प्रकृतिवर्णन हो या राजा की प्रशंसा हो सर्वत्र अलंकारों की वर्षा से कवि ने रस-परिपाक को पनपने से रोका ही है। सरल पद-विन्यास में लालित्य की छटा है किन्तु पण्डित्य-प्रकर्ष से उसका विकास अवरुद्ध हो गया है। विविध शास्त्रों में निष्णात सुबन्धु ने अपने वैदुष्य का प्रयोग अलंकारों के निवेश में किया है। वे सत्काव्य का लक्षण ही मानते हैं- **सुश्लेषवक्रघटनापटु सत्काव्यविरचनम्।**[1] बाणभट्ट ने सुबन्धु की

---

१. वासवदत्ता के अंग्रेजी-रूपान्तर की भूमिका में डॉ० लुई ग्रे ने कहा है— There is true melody in the long rolling compounds; and the alliterations have a lulling music all their own. There is compact brevity in the paranomasia (शब्दक्रीडा) which are in most cases veritable gems of terseness and twofold appropriateness, even though some are manifest, forced and are actually detrimental to the sense of the passage. Special stress should be laid on his descriptions. These are cloying from their abundance. They form the preponderating part of the entire romance and the slender framework of the story is well nigh lost beneath them. Yet despite this tropical luxuriance, the descriptions are not without beauty or appropriateness.

वासवदत्ता की सही प्रशंसा की है -

> कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासदत्तया ।
> शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ।। (हर्षचरित १/११)

[ग] बाणभट्ट[1]

काव्य तथा नाटक के क्षेत्रों में जो कीर्ति कालिदास को प्राप्त है, वही गद्यकाव्य के क्षेत्र में बाणभट्ट को उपलब्ध है। संस्कृत काव्यों में तथा आभाणकों में बाण की प्रशस्तियाँ भरी हुई हैं। सौभाग्यवश बाण का काल तथा व्यक्तित्व दोनों के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है क्योंकि इन्होंने स्वयं अपने हर्षचरित के आरम्भ के ढाई उच्छ्वासों में एवं कादम्बरी के मंगलपद्यों में अपना विस्तृत परिचय दिया है। बाण के पूर्वज वत्स सरस्वती-पुत्र सारस्वत के चचेरे भाई थे। वत्स से ही वात्स्यायन वंश चला जिसमें कुबेर नामक विद्वान् व्यक्ति का जन्म हुआ। उनके अच्युत, ईशान हर और पाशुपत नामक चार पुत्र हुए। पाशुपत के पुत्र अर्थपति हुए जिनके भृगु आदि ११ पुत्र हुए। इनमें आठवें चित्रभानु थे जो बाण के पिता थे। बाण के पुत्र भूषण (उपनाम-पुलिन्द) हुए जिन्होंने बाण की अपूर्ण गद्यकृति 'कादम्बरी' को पूर्ण किया।

बाण का वंश विद्या की अविच्छिन्न परम्परा तथा द्विजोचित वैभव से सम्पन्न था। इनकी माता का देहान्त बाण के शैशव काल में ही हो गया था, पिता ने इन्हें पाला किन्तु बाण १४ वर्ष की आयु के थे जब पिता भी दिवंगत हो गये। मित्रों के साथ बाण देश-देशान्तर में घूमते रहे जिससे इनकी निन्दा होने लगी। राजा हर्ष की राज सभा में इनके हितैषी कृष्ण ने बुलाकर राजा से मिलने की व्यवस्था की। इनके प्रति राजा का उपेक्षाभाव सम्मान में परिणत हो गया तथा पर्याप्त समय इन्होंने हर्ष के सान्निध्य में बिताया। कालान्तर में अपने घर लौटने पर बन्धुजनों के अनुरोध से इन्होंने हर्ष के जीवन का कुछ अंश सुनाया जो 'हर्षचरित' नामक गद्यकाव्य के रूप में है।

बाण का पैतृक निवास प्रीतिकूट था जो आज 'पीरू'- गाँव के रूप में च्यवनाश्रम देवकुण्ड के निकट (औरंगाबाद जिले में, बिहार) है। यह शोण (या हिरण्यवाह)नद के पूर्व कुछ दूर पर है, यह संकेत बाण ने ही दिया है।

बाण का काल

संस्कृत के प्राचीन साहित्यकारों में एकमात्र बाण ही ऐसे भाग्यवान् हैं जिनका स्थितिकाल प्राय: निश्चित है। हर्षचरित में जो इन्होंने आत्मकथा दी है, उससे स्पष्ट है कि इन्हें सम्राट् हर्षवर्धन की राजसभा में रहने का अवसर मिला था। बाण ने हर्ष का काल नहीं दिया है किन्तु अन्य अनेक प्रमाणों से उनका राज्यकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक माना गया है। इनमें प्रमुख हैं- चीनी यात्री ह्वेनसांग के भ्रमण-संस्मरण। इस यात्री ने भारत-यात्रा (६२९-६४५ ई०) के अपने विस्तृत संस्मरणों में भारतीय नरेश हर्ष (शीलादित्य) का पूरा विवरण दिया है। वे उत्तरी भारत के अधिपति थे। यद्यपि बाण और ह्वेनसांग के विवरणों में यत्र-तत्र वैषम्य है तथापि इन दोनों लेखकों के द्वारा

१. बाण पर सर्वांगपूर्ण विवेचन-(क) डॉ० अमरनाथ पाण्डेय-बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी (१९७४ ई०), (ख) Dr. Neeta Sharma- Bāṇa, a study, Delhi.

वर्णित हर्ष अभिन्न थे। इससे स्पष्ट है कि बाण सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। युवक बाण की भेंट हर्ष के पूर्ण प्रतिष्ठित होने के समय हुई थी, अतः अनुमान है कि हर्ष के दिवंगत होने पर भी बाण का जीवनकाल रहा हो। ६१०-६६० ई० के बीच बाण का जीवनकाल स्थूलरूप से मान सकते हैं। उनकी मृत्यु अल्प आयु में हो गयी थी।

अनेक बाह्य प्रमाणों से भी यह तथ्य पुष्ट होता है कि बाण सातवीं शताब्दी ई० के मध्यकाल में वर्तमान थे -(१) बाण के हर्षचरित का उल्लेख रुय्यक के अलंकारसर्वस्व (११५० ई०) में कई बार हुआ है, इसमें कादम्बरी का भी एक उद्धरण है- चित्रकर्मसु वर्णसंकरो यतिषु दण्डग्रहणानि। (२) क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरण इत्यादि में बाण का नाम देकर कई उद्धरण दिये हैं जैसे- स्तनयुगमश्रुस्नातम् (काद० का औचित्य में), जयत्युपेन्द्रः० (काद० का उसी ग्रन्थ में), कटु क्वणन्तो मलदायकाः (काद० का कविकण्ठाभरण में)। उन्होंने कादम्बरी का रूपान्तर भी पद्यकादम्बरी के नाम से किया था। क्षेमेन्द्र का काल ११वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है। (३) रुद्रट के काव्यालंकार (१६/२२ तथा २६) की टीका में नमिसाधु (१०६९ ई०) ने कथा और आख्यायिका के उदाहरण में बाण की दोनों गद्यरचनाओं के नाम लिये हैं। (४) भोज (१०२० ई०-१०७० ई० शासनकाल) ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में बाण का नाम कई बार लिया है। एक स्थान पर लिखा है—**यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः।**[1] (५) धनञ्जय (१००० ई०) के दशरूपक में बाण का उल्लेख दो बार है- २/३५, ४/६६। (६) कश्मीरी कवि अभिनन्द ने (जो क्षेमेन्द्र द्वारा अनुष्टुप् छन्द के लिए चर्चित हैं) 'कादम्बरीकथासार' में बाण की कादम्बरी का पद्यरूपान्तर किया। (७) आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने ध्वन्यालोक में बाण तथा उनकी दोनों गद्यकृतियों का उल्लेख किया जिससे सिद्ध होता है कि उनके काल में बाण कश्मीर में भी विख्यात हो गये थे। (८) वामन (८०० ई०) ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' (५/२/४४) में कादम्बरी के वाक्य 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' का उद्धरण दिया है। इस प्रकार १२वीं शताब्दी से पीछे चलते हुए हम आठवीं शताब्दी ई० में ही बाण की ख्याति के प्रमाण पाते हैं। नलचम्पू (९१५ ई०) तथा कीर्तिकौमुदी (१२०० ई०) में भी बाण चर्चित हैं।

बाण ने हर्षचरित के मंगलश्लोकों में अपने कई पूर्ववर्ती लेखकों या ग्रन्थों की चर्चा की है जिससे संस्कृत साहित्य के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। लेखकों में व्यास, भट्टारहरिचन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन (तथा उनके महाकाव्य सेतुबन्ध का उल्लेख), भास, कालिदास और आढ्यराज हैं; रचनाओं में वासवदत्ता, सेतुबन्ध और बृहत्कथा हैं। इन सब तथ्यों का समन्वित परिणाम है कि बाण सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में तथा उत्तरार्ध के कुछ वर्षों तक विद्यमान थे। हर्षवर्धन से बाण का साक्षात्कार ६३०-४० ई० के बीच माना जाये तो उनका उपर्युक्त जीवनकाल सिद्ध होगा।

बाण की रचनाएँ

बाण के नाम से तीन प्रमाणसिद्ध रचनाएँ मिलती हैं - हर्षचरित (आख्यायिका), कादम्बरी (कथा) तथा चण्डीशतक (दुर्गा की स्तुति का काव्य)। 'पार्वती-परिणय' नामक नाटक

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २/२० (निर्णयसागर सं०, पृ० १५०) का यही पाठ है; कुछ लोग 'पद्यबन्धे न तादृशः' यह पाठ मानते हैं। दूसरी पंक्ति है- गत्यां गत्यामियं देवी विचित्रा हि सरस्वती।

आन्ध्रनिवासी वामनभट्टबाण (१५वीं शताब्दी ई०) की कृति है। 'मुकुटताडितक' नामक नाटक का उल्लेख चण्डपाल और गुणविजयगणि ने बाण की कृति के रूप में किया है किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। चण्डीशतक की विवेचना गीतिकाव्य के प्रसंग में की जा चुकी है; अतः यहाँ उनकी दोनों गद्यकृतियों का परिचय दिया जाता है।

(१) हर्षचरित[१]

ऐतिहासिक कथानक पर आश्रित गद्यकाव्यों में यह सर्वप्रथम है। इसे स्वयं बाण ने 'आख्यायिका' कहा है जिसमें वक्त्र-छन्द और उच्छ्वासों में विभाजन की प्रविधि अपनायी गयी है।[२] यह आठ उच्छ्वासों में विभक्त है तथा इसमें दो कथानक हैं-बाण की आत्मकथा जिसमें हर्षवर्धन से उनके सम्मान पाने का वृत्तान्त है, तथा हर्षवर्धन की कथा जिसमें उनके पूर्वजों एवं पिता का वृत्तान्त देकर हर्ष के राजा बनने के काल की कठिन परिस्थितियों का चित्रण है।

इसके आरम्भ में २१ पद्यों में मंगलाचरण तथा पूर्व कवियों एवं कृतियों की प्रशंसा करके महाराज हर्षवर्धन का जयकार किया गया है। **प्रथम उच्छ्वास** में कवि ने दुर्वासा के शाप से सरस्वती के पृथ्वी पर आने, शोणतट पर रहने, दधीच से प्रेम होने, सारस्वतनामक पुत्र को जन्म देकर स्वर्ग लौट जाने, सारस्वत द्वारा अपने चचेरे भाई वत्स को सारी विद्याएँ देकर तपस्यार्थ चले जाने, वत्स के वंश में कुबेर नामक विद्वान् के जन्मलेने तथा उनके प्रपौत्र चित्रभानु के पुत्र रूप में बाण के जन्म लेने एवं क्रमशः मातृ-पितृ हीन होकर युवावस्था में संगियों के साथ पर्याप्त भ्रमण करके अपने गाँव प्रीतिकूट लौट आने का वर्णन है। **द्वितीय उच्छ्वास** में हर्ष के भाई कृष्ण का सन्देश पाकर बाण अपने गाँव से चलकर तीन दिनों में अजिरवती नदी के तट पर मणितारा-ग्राम के पास पड़े सैन्य-शिविर में हर्ष से मिलते हैं। आपाततः उपेक्षित होकर ('महानयं भुजङ्गः' कहे जाने पर) वे ओजस्वी भाषा में राजा को अपना परिचय देकर क्रमशः उनका प्रेम और आदर पाते हैं। **तृतीय उच्छ्वास** में बाण अपने घर लौटते हैं तथा कुल-बन्धुओं के शिक्षा-प्रेम का समाचार पूछते हैं और उनके आग्रह पर हर्षचरित का एक अंश सुनाना स्वीकार करते हैं (एकदेशे तु यदि कुतूहलं वः, सज्जा वयम् , पृ० १५६)। पहले श्रीकण्ठ जनपद उसकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (आधुनिक कुरुक्षेत्र से सटे थानेसर), वंश-संस्थापक पुष्पभूति एवं भैरवाचार्य की सहायता से उनकी तन्त्र-साधना का वर्णन करते हैं।

चतुर्थ उच्छ्वास में इस वंश के विकास के वर्णन क्रम में राजा प्रभाकरवर्धन का वर्णन है जो हूणहरिणकेसरी तथा सूर्य के परमोपासक थे। इनकी रानी यशोमती थी। उन्हें क्रमशः राज्यवर्धन

---

१. निर्णयसागर प्रेस से शंकरकृत संकेत टीका सहित प्रकाशन (१८९२); कॉवेल तथा थॉमस कृत अंग्रेजी रूपान्तर, लन्दन (१८९७); हिन्दी अनुवादों के साथ पं० जगन्नाथ पाठक (चौखम्बा) एवं मोहन देव पन्त (मोतीलाल) के संस्करण; पी० वी० काणे का अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृतटिप्पणियों सहित संस्करण (१९१८ ई०)-इन सबके पुनर्मुद्रण हुए हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् , पटना)।

२. हर्षचरित १/१० उच्छ्वासान्तेऽप्यखिन्नास्ते येषां वक्त्रे सरस्वती।
कथमाख्यायिकाकारा न ते वन्द्याः कवीश्वराः॥
पद्य सं० १९ तथा २० में भी आख्यायिका की चर्चा है।

और हर्षवर्धन (ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी, कृत्तिका नक्षत्र में इसका जन्म हुआ था) नामक पुत्र एवं राज्यश्री नामक कन्या हुई। राज्यश्री का विवाह यौवनकाल में मौखरि-नरेश ग्रहवर्मा के साथ वैभव एवं गरिमा से सम्पन्न हुआ। **पञ्चम उच्छ्वास** में राज्यवर्धन हूणों के नाशार्थ जाते हैं, हर्ष भी कुछ दूर तक साथ जाते हैं किन्तु पिता की रुग्णता का समाचार सुनकर लौट आते हैं। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु का करुण दृश्य यहाँ वर्णित है, रानी यशोमती पति की मृत्यु के पूर्व ही आग में जल जाती है; सारी प्रजा शोक सन्तप्त होती है। **षष्ठ उच्छ्वास** में हूण-विजय करके राज्यवर्धन लौटते हैं, वे पितृशोक से विकल होकर हर्षवर्धन पर राज्यभार डाल देते हैं (गृहाण मे राज्यचिन्ताम् ... परित्यक्तं मया शस्त्रम्, पृ० ३१७)। इसी बीच मालवराज द्वारा ग्रहवर्मा के मारे जाने और राज्यश्री के बन्दी बनाये जाने का समाचार मिलता है। राज्यवर्धन अपने ममेरे भाई भण्डि के साथ मालवराज को मारने जाते हैं, यद्यपि वह अपने कार्य में सफल होते हैं किन्तु गौडनरेश द्वारा छलपूर्वक मारे जाते हैं, (मुक्तशस्त्रमेकाकिनं विश्रब्धं स्वभवन एव भ्रातरं व्यापादितमश्रौषीत्, पृ० ३२९)। हर्ष क्रोध से काँप उठे। उन्होंने कुछ दिनों में ही पृथ्वी को गौडहीन करने की भीषण प्रतिज्ञा कर डाली (यदि परिगणितैरेव वासरैः ... निर्गौडं गां न करोमि, ततस्तनूनपाति पीतसर्पिषि पतङ्ग इव पातकी पातयाम्यात्मानम्, पृ० ३४३)।

सप्तम उच्छ्वास में हर्ष की सेना प्रस्थान करती है, प्राग्ज्योतिष (असम) के राजा उन्हें एक दिव्य छत्र आदि का उपहार भेजते हैं। हर्ष को भण्डि वृत्तान्त सुनाता है कि राज्यश्री बन्दीगृह से मुक्त होकर विन्ध्याटवी में चली गयी है। हर्ष स्वयं उसकी खोज में जाने का निर्णय लेते हैं, भण्डि उन्हें मालवराज से जीते हुए सामान दिखाता है। हर्ष विन्ध्याटवी पहुँचते हैं। **अष्टम उच्छ्वास** में ग्रहवर्मा के बालमित्र बौद्ध संन्यासी दिवाकरमित्र के आश्रम में हर्ष पहुँचते हैं। एक भिक्षुक कहीं दूर पर राज्यश्री के सपरिवार अग्नि में जलने को तैयार होने की सूचना देता है। हर्ष उसे बचा लेते हैं। दिवाकरमित्र राज्यश्री को उपदेश देते हैं। हर्ष कहते हैं कि अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके वे भी काषाय वस्त्र धारण करेंगे, तबतक राज्यश्री का पालन आचार्य करें (इयं नः स्वसा बाला च बहुदुःखखेदिता च सर्वकार्यावधीरणोपरोधेनापि यावल्लालनीया नित्यम्, पृ० ४५८; इयं तु ग्रहीष्यति मयैव समं समाप्तकृत्येन काषायाणि, पृ० ४५९)। प्रतीकात्मक सन्ध्या-वर्णन से ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

कुछ विद्वानों ने हर्षचरित को बाण की अपूर्ण रचना कहा है।[1] किन्तु बात ऐसी नहीं है। बाण का उद्देश्य हर्ष के सम्पूर्ण जीवन का इतिहासमय चित्रण करना नहीं था। उन्होंने तृतीय उच्छ्वास में अपने परिजनों के समक्ष हर्ष का वृत्तान्त वर्णन करते हुए विनयपूर्वक कहा था कि सौ वर्षों की आयु पाकर भी कोई इनके चरित का वर्णन नहीं कर सकता; यदि उसके एक अंश को सुनने की उत्कण्ठा हो तो हम प्रस्तुत हैं (पृ० १५६)[2]। वही एक अंश बाण की इस कृति में है, अतः यह पूर्ण रचना है। इसमें इतिहास केवल आधार है, मुख्यतः यह काव्य है जहाँ कल्पना और कला का प्राधान्य है। आज की दृष्टि में यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। प्राचीन काव्यशास्त्र में इसे आख्यायिका कहा गया है। रुद्रट ने काव्यालंकार (१६/२४-७) में आख्यायिका का लक्षण हर्षचरित को आदर्श मानकर दिया है कि देवता, गुरु को पहले नमस्कार करके पूर्वकवियों की

---

१. कीथ- संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनु०), पृ० ३७६; काणे- हर्षचरित की भूमिका, पृ० २८।
२. हर्षचरित की पृष्ठ-संख्या चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित संस्करण (सं० जगन्नाथ पाठक) की है।

प्रशंसा करे और रचना में कवि अपनी असमर्थता दिखाये। कवि कहे कि राजविशेष की भक्ति या व्यक्तिविशेष के गुणों के आकर्षण या अन्य किसी कारण से वह ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हो रहा है। बाण ने यही कहा है—

> **तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः ।**
> **करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम् ।। (१/१९)**

कवि गद्य में अपने वंश का भी वर्णन करे, उच्छ्वासों में आख्यायिका का विभाजन हो। प्रथम उच्छ्वास के अतिरिक्त अन्य उच्छ्वासों के आरम्भ में भावी कथा के सूचक दो-दो श्लेषयुक्त पद्य आर्याछन्द में दिये जायें। ये सभी लक्षण हर्षचरित के आधार पर ही दिये गये हैं।

हर्षचरित कादम्बरी के समान लोकप्रिय नहीं हुआ क्योंकि भारत में किसी मानव के इतिहास पर आश्रित रचना कई कारणों से उपेक्षित रहती है। फिर भी इस पर कुछ संस्कृत टीकाएँ लिखी गयी थीं जैसे-शंकरकृत **संकेत** (११वीं शताब्दी ई०, कश्मीर) तथा रंगनाथ-कृत **मर्मावबोधिनी** (केरल विश्वविद्यालय से प्रकाशित)। कुछ टीकाओं की सूचना मिलती है, वे उपलब्ध नहीं हैं। आधुनिक युग में हर्षचरित अपनी सांस्कृतिक महत्ता के कारण बहुत समादृत है।

(२) कादम्बरी[1]

यह बाण की दूसरी गद्यकृति है जो अधिक लोकप्रिय हुई। दुर्भाग्यवश इसे बाण स्वयं पूर्ण नहीं कर सके, उनके पुत्र भूषणभट्ट (या पुलिन्द) ने इसे पूरा किया। पुत्र ने पिता की शैली अपना ली तथा अधूरी कथा का सुन्दर उपसंहार किया। इसका कथानक बृहत्कथा पर आश्रित है जो कथासरित्सागर (५९/२२-१७८) तथा बृहत्कथामञ्जरी (१६/१८३ तथा आगे) में अंकित है। जिस रूप में भूषणभट्ट ने इसका उपसंहार किया है, उसमें यहाँ तीन जन्मों की कथा प्राप्त होती है। इसका नायक प्रथम जन्म में चन्द्रमा, द्वितीय जन्म में चन्द्रापीड और तृतीय जन्म में विदिशा का राजा शूद्रक बनता है जिससे कादम्बरी का आरम्भ होता है। इसी प्रकार शूद्रक की राजसभा में कहानी सुनाने वाला शुक भी प्रथम और द्वितीय जन्मों में क्रमशः पुण्डरीक और वैशम्पायन था। कादम्बरी (सम्पूर्ण) का कथानक इस प्रकार है—

कथामुख- विदिशा के राजा शूद्रक की राजसभा में आकर एक चाण्डालकन्या ने राजा को एक मेधावी तथा मनुष्य की भाषा बोलनेवाला शुक उपहार में दिय। शुक ने अपनी कथा राजसभा में सुनायी कि विन्ध्याटवी में शबरसेनापति के आखेटक्रम में उसके वृद्ध पिता मारे गये थे; उसने किसी प्रकार अपनी प्रारणरक्षा की और उसे ऋषि जाबालि के आश्रम में शिष्यों द्वारा

---

१. संस्करण—(क) पीटरसन के सम्पादन में बम्बई संस्कृत सीरिज में मूलका प्रकाशन, १८८३ ई०; काणे द्वारा पुनः सम्पादित यही संस्करण दो भागों में निर्णयसागर प्रेस से (१९२०,१९२१); (ख) काले का संस्करण अंग्रेजी रूपान्तर संस्कृतव्याख्या तथा नोट्स, मोतीलाल० से पुनर्मुद्रण, १९६८ ई०; (ग) चौखम्बा सं० सीरिज में कृष्णमोहन शास्त्री की संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद, पूर्वभाग, १९५६ई०; (घ) भानुचन्द्र-सिद्धचन्द्र की सं० टी० सहित, निर्णयसागर, १९४८ ई० (ङ) हरिदास सिद्धान्तवागीश की सं० टी०, कलकत्ता, १८३८ शकाब्द; (च) पं० रामतेजशास्त्री का हिन्दी रूपान्तर सहित सम्पूर्ण, पंडित पुस्तकालय, काशी १९५९ ई०। पृष्ठ सं० इसी संस्करण से यहाँ दिये जायेंगे।

ले जाया गया। जाबालि ने उसके पूर्वजन्म का वर्णन करने के लिए कथा सुनायी। यह कथा पूर्वभाग में है।

पूर्वभाग- उज्जयिनी के राजा तारापीड एवं रानी विलासवती को तपस्या से चन्द्रापीड नामक पुत्र हुआ। राजा के मन्त्री शुकनास को भी वैशम्पायन नामक पुत्र हुआ। चन्द्रापीड और वैशम्पायन में बहुत घनिष्ठ मैत्री थी, दोनों ने समान रूप से गुरुकुल में शिक्षा ली और शास्त्रों में पारंगत हुए। चन्द्रापीड को युवराज बनाने का निश्चय हुआ। उस समय मन्त्री शुकनास ने चन्द्रापीड को अत्यन्त उपादेय और सार्वकालिक उपदेश दिया जो संस्कृत-जगत् में 'शुकनासोपदेश' के रूप में अत्यधिक विख्यात है। युवराज होने पर चन्द्रापीड अपने मित्र के साथ दिग्विजय के लिए निकाला। एक किंनर-युगल का पीछा करते हुए इन्द्रायुध नामक अश्व पर सवार चन्द्रापीड अच्छोद-सरोवर पर पहुँचा। वहाँ युवती तपस्विनी महाश्वेता से उसकी भेंट हुई। महाश्वेता ने अपनी कथा बतायी कि पुण्डरीक नामक ऋषिकुमार से उसका प्रेम हो गया था किन्तु मिलने से पूर्व ही पुण्डरीक कामपीडा से दिवंगत हो गया। अतः वह उस सरोवर पर तपस्यारत है। महाश्वेता चन्द्रापीड को अपनी सखी कादम्बरी से मिलाने के लिए ले गयी। कादम्बरी भी सखी के दुःख से कौमार्यव्रत लिये हुई थी। चन्द्रापीड और कादम्बरी परस्पर अनुरक्त हो जातें हैं किन्तु इसी समय पिता के बुलाने पर नायक चन्द्रापीड को उज्जयिनी लौटना पड़ता है। वह वैशम्पायन को सेना के साथ छोड़ जाता है।

उत्तरभाग- बाण के द्वारा अधूरी छोड़ी गयी कथा को कुछ दिनों के बाद उनका पुत्र सँभाल लेता है[1], कथा आगे बढ़ती है- वैशम्पायन बहुत समय तक उज्जयिनी नहीं लौटा तो चन्द्रापीड़ उसकी खोज में वहाँ गया। महाश्वेता ने उसे बताया कि वैशम्पायन मुझपर आसक्त हो गया था, अतः मैंने उसे शुक बनने का शाप दे दिया था। अपने मित्र के विपन्न होने से चन्द्रापीड भी मर गया। उसी समय वहाँ कादम्बरी आ गयी। प्रियतम को मृत पाकर वह भी प्राणत्याग के लिए उद्यत होती है। किन्तु आकाशवाणी होती है और उसे सान्त्वना मिलती है कि दोनों सखियों का अपने प्रेमियों से पुनः समागम होगा। उधर राजा तारापीड सपत्नीक अच्छोद-सरोवर आये जहाँ चन्द्रापीड अचेत पड़ा था। उसके शरीर में कोई विकृति नहीं आयी थी। कादम्बरी उसकी परिचार्या में लगी थी। राजा-रानी वहीं आश्रम में रहने लगे। जाबालि ने यहीं अपनी कथा रोक दी (पृ० ६८१) तथा सुनने वाले तापसों से कहा कि अन्तःकरण को खींचने वाले कथारस की शक्ति आपने देखी-मैं कहाँ से कहाँ बहक गया। मेरा कथ्य यही था कि कामवेदना से व्याकुल होकर अपने ही अशिष्ट आचरण से जो व्यक्ति देवलोक से मर्त्यलोक में आकर वैशम्पायन बना था वही इस समय शुकयोनि में आया है।

---

१. भूषणभट्ट ने उत्तरभाग के आरम्भ में वसन्ततिलक छन्द के ८ पद्य दिये हैं जिनमें देवस्तुति, पितृप्रशंसा तथा इसके रचे जाने का कारण दिया है। कारण यह है-

> याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
> विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
> दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
> प्रारब्ध एव स मया न कवित्वदर्पात्॥ (पद-४)

शुक ने शूद्रक की राजसभा में कहा कि उसी समय (जाबालि से कथा सुनकर) मेरी सभी विद्याएँ उपस्थित हो गयीं, मैं अपनी प्रिया महाश्वेता से मिलने के लिए उड़ गया। चाण्डालकन्या ने मुझे पकड़ लिया और मैं आपके पास आ गया। चाण्डालकन्या ने भी बताया है कि मैं वस्तुत: पुण्डरीक (इस जन्म में वैशम्पायन) की माता हूँ और आप भी पूर्वजन्म में चन्द्रापीड थे। यह सुनते ही राजा शूद्रक को कादम्बरी का स्मरण हो आया और वे प्राणहीन हो गये। उधर चन्द्रापीड जीवित हो गया। शुक की कथा समाप्त होते ही शापावधि भी बीत चुकी थी, वह शुक पुण्डरीक बन गया। चन्द्रापीड-कादम्बरी एवं पुण्डरीक-महाश्वेता का पुनर्मिलन हो गया। वे परमानन्द का अनुभव करने लगे (सर्व एव सर्वकालं सुखान्यनुभवन्त: परां कोटिमानन्दस्याध्यगच्छन्)।

कादम्बरी की शैली हर्षचरित के समान है। विषय को आगे बढ़ाने के क्रम में वर्णनों की विपुलता, अलंकारों का प्राचुर्य, अपरिमेय से दीखने वाले लम्बे समास, अन्तहीन- जैसे वाक्य इत्यादि यहाँ भी हैं। किन्तु दोनों में कथानक का अन्तर है कि हर्षचरित इतिहास पर आश्रित है, कादम्बरी में मौलिक कथानक है जो बाण की कल्पना का उत्कर्ष दिखाता है। इसमें स्नेहमूलक वेदना है जब कि हर्षचरित में परिस्थितियों के कारण करुणरस का उद्वेलन है। विशेषत: उसके पञ्चम और अष्टम उच्छ्वासों में यह रस पूर्ण आवेग से प्रकट हुआ है। कादम्बरी शान्तरस-प्रधान है।

कादम्बरी की समीक्षा करते हुए जर्मन इतिहासकार वेबर ने आरोप लगाया है कि "कठिन शब्दों के विकट जाल में इसकी कथा इस प्रकार फँसी हुई है कि पाठक प्राय: अपने धैर्य का सन्तुलन खो बैठता है। यह गद्यकाव्य वस्तुत: ऐसा भारतीय वन है जिसकी झाड़ियों से होकर आगे बढ़ना तबतक असम्भव है जबतक कि पाठकरूपी पथिक अपना मार्ग उन्हें काटकर स्वयं नहीं बना लेता। उस मार्ग में भी भयावह वन्य पशु (अपरिचित शब्दों के रूप में) सामने आ जाते हैं और पाठक आक्रान्त हो जाता है।"[१] वस्तुत: पश्चिम के आलोचकों को बाण की यह शैली पसन्द नहीं पड़ती किन्तु संस्कृत भाषा के सौन्दर्य तथा गरिमा से परिचित विद्वानों को कादम्बरी के दीर्घकाय वाक्य एवं समासजटिल पद बाधित नहीं करते क्योंकि वे बड़े पदों और कठोर वाक्यों को सरलता से छोटे वाक्यों में बदल सकते हैं। लम्बे वाक्यों का पूर्वापर भाग देखकर वे क्रमश: अन्वय करते जाते हैं- इसमें वे आनन्द का अनुभव करते हैं।

बाण का साहित्यिक वैभव (गद्य-शैली)[२]

संस्कृत गद्यकार के रूप में बाणभट्ट स्थान सबसे ऊपर है। उन्होंने अपने युग में प्रचलित गद्य के समस्त गुणों को संकलित करके सर्वांगपूर्ण पाञ्चाली शैली को आत्मसात् किया जिसमें शब्द और अर्थ का समान गुम्फन होता है अर्थात् विषय के अनुसार गद्य को सरल या सघन बनाया जाता है। जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली (पृ० ४७) में राजशेखर के नाम से एतद्विषयक प्रशस्ति का उद्धरण दिया है —

> **शब्दार्थयो: समो गुम्फ: पाञ्चाली रीतिरिष्यते।**
> **शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ।।**

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास (हिन्दी), ३/१ , पृ० ४६७।

२. विशेष विवरण के लिए - बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन, पृ० १५९-७४ (सप्तम अध्याय)।

हर्षचरित के आरम्भ में बाण ने अपने युग की एकांगी शैलियों और सर्वांगपूर्ण गद्य दोनों का निरूपण किया है। एकांगी शैलियाँ विभिन्न क्षेत्रों में स्वीकृत थीं—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम् ।। (ह० च० १/७)

अर्थात् उत्तर दिशा के कवि श्लेष के प्रयोग में, पश्चिम के कवि अर्थमात्र के चमत्कार में, दक्षिण के कवि उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग में और पूर्वदिशा के कवि अक्षरमात्र का चमत्कार दिखाने में कुशल हैं; बाण को इन गुणों का समन्वित प्रयोग अच्छा लगता है। उन्होंने अगले ही पद्य में गद्य की सर्वांगपूर्णता का आदर्श दिखाया है जो यद्यपि दुर्लभ है तथापि वाञ्छनीय है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।। (ह० च० १/८)

अर्थात् नवीन अर्थ-योजना (जो अदृष्टपूर्व हो, कवि की सद्यः कल्पना या अनुभूति से उद्भूत हो), अग्राम्य स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट (सरल) श्लेष, सुबोध रस तथा आकर्षक शब्दों का चयन - इन सभी विशिष्टताओं का एकत्र निवेश किसी रचना में दुर्लभ (कठिन) है। ध्वनित होता है कि बाण ने इन सबका निवेश अपने गद्यकाव्यों में तो किया ही है। शार्ङ्गधरपद्धति में चन्द्रदेव के नाम से दी गयी इस प्रशस्ति-पद्य में बाण की सर्वांगपूर्ण साहित्यिक विभूति का परिचय दिया गया है—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरेऽ-
लंकारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने ।
आः सर्वत्र गभीर-धीर-कविता-विन्ध्याटवी-चातुरी-
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ।। (शार्ङ्ग०,पद्य० १७७)

श्लेष में, शब्दों की सजावट में, रसोद्भावन में, अलंकारों के प्रयोग में, चमत्कारी अर्थ के विन्यास में या कथावर्णन में विविध कवि विख्यात हो सकते हैं किन्तु इन समस्त विशिष्टताओं के समन्वित और समुचित विन्यास में बाण ही निपुण हैं। वे तो कवि-रूप गजों के कपोल चीरने वाले तथा कविता-रूपी विन्ध्याटवी में कौशलयुक्त संचरण करनेवाले मृगराज हैं।

इन सब अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग निरीक्षणों के आधार पर बाण के साहित्यिक वैभव का अनुशीलन किया जा सकता है। बाण की रचनाओं में गद्य के तीन रूप मिलते हैं— उत्कलिकाप्राय, चूर्णक तथा मुक्तक। इन गद्यभेदों के लक्षण बाद के काव्यशास्त्रियों ने व्यवस्थित रूप से किये हैं। इनमें उत्कलिकाप्राय गद्य लम्बे समासों से युक्त, चूर्णक गद्य अल्पसमासयुक्त तथा मुक्तक समासरहित होता है (साहित्यदर्पण ६/३३०-२)। इन गद्यरूपों के प्रयोग की विषय-व्यवस्था बाण ने की है। वस्तुस्थिति के अनुसार किसी गद्य-विशेष का प्रयोग हुआ है।

उत्कलिकाप्राय का प्रयोग बाण ने चित्रात्मक प्रसंगों में किया है जैसे कादम्बरी में विन्ध्याटवी-वर्णन (पृ० ३७-४२), उज्जयिनीवर्णन (पृ० १०४-११); हर्षचरित में दधीच-वर्णन (पृ० ३७-४२), मन्दाकिनीवर्णन (पृ० ३२-४), ग्रीष्मवर्णन (पृ० ८१-८९), श्रीकण्ठ जनपद का वर्णन (पृ० १५९-६३) इत्यादि। इन स्थलों में दीर्घकाय वाक्यों का प्रयोग है तथा चलचित्र

के समान समासों में छोटे-छोटे चित्र प्रस्तुत है जिन चित्रों की प्रस्तुति में कवि ने कई शब्दों को एक साथ पिरोकर एक लड़ी बना दी है। वर्णन के अन्त में प्रायः उत्कलिकाप्राय गद्य को छोड़कर चूर्णक का आश्रय लिया गया है। उत्कलिकाप्राय गद्य का एक छोटा उदाहरण वामन ने काव्यालंकारसूत्र (१/३/२५) की वृत्ति में दिया है जो हर्षचरित के षष्ठ उच्छ्वास (पृ० ३२०) का है— कुलिशशिखर-खर-नखर-प्रचय-प्रचण्ड-चपेटा-पातित-मत्तमातङ्गोत्तमाङ्ग-मदच्छटाच्छुरित-चारु-केसर-भार-भास्वरमुखे केसरिणि (वनविहाराय विनिर्गते निवासगिरिगुहां कः पाति पृष्ठतः)।

चूर्णक गद्य का प्रयोग बाण सामान्य स्थितियों में करते हैं जहाँ न तो चित्रात्मक विषय है और न ही उत्कट भावना के उद्भावन का स्थल। यह कहना अनुचित नहीं कि चूर्णक का फलक रखकर बाण ने उसमें कहीं-कहीं उत्कलिकाप्राय और मुक्तक के रंग भरे हैं। यही वह गद्य-प्रकार है जिसमें अलंकारों का चमत्कार बाण ने दिखाया है। उनके द्वारा प्रयुक्त उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, विरोधाभास आदि अलंकारों के स्तूप इसी चूर्णक शैली के गद्य में आये हैं। उदाहरण के रूप में अलंकारों के स्थलों और चूर्णक गद्य के प्रयोग दिये जाते हैं—

(क) उपमा – विन्ध्याटवी-वर्णन के अन्त में (कादम्बरी, पृ० ४१) इस अलंकार के रम्य प्रयोग हैं जैसे- 'क्वचिन्मत्तेव कोकिलकुलप्रलापिनी, क्वचिदुन्मत्तेव वायुवेगकृततालशब्दा, क्वचिद् विधवेव उन्मुक्ततालपत्रा, क्वचित्समरभूमिरिव शरशतनिचिता, ... क्वचिन्नारायणमूर्तिरिव तमालनीला, ... क्वचित्पार्थरथपताकेव कप्याक्रान्ता .... विन्ध्याटवी नाम (यहाँ २७ उपमाएँ हैं)। उनकी उपमाएँ प्रायः श्लेष से युक्त होती हैं - पातालगुहेव तमोबहुला, हिडिम्बेव भीमसाहसैकहार्यहृदया, प्रावृडिवाचिरद्युतिकारिणी ... (पृ० २२१)। यहाँ लक्ष्मी का वर्णन है।

(ख) रूपक – कादम्बरी के शुकनासोपदेश में लक्ष्मी के वर्णन में कवि ने एक साथ १८ रूपक देकर इसे 'मालारूपक' का रूप दिया है— इयं संवर्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, व्याधगीतिरिन्द्रियमृगाणाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्, विभ्रमशय्या मोहदीर्घनिद्राणाम्, निवासजीर्णवलभी धनमदपिशाचिकानाम् ...(पृ० २२३)।

(ग) उत्प्रेक्षा – हर्षचरित के द्वितीय उच्छ्वास में दर्पशात नामक गज के वर्णन में बाण ने मुक्तक शैली का प्रयोग करके उत्प्रेक्षाएँ की हैं - चलन्तमिव दर्पेण, श्वसन्तमिव शौर्येण, मूर्च्छन्तमिव मदेन, त्रुट्यन्तमिव तारुण्येन, द्रवन्तमिव दानेन, वल्गन्तमिव बलेन, माद्यन्तमिव मानेन, उद्यन्तमिवोत्साहेन, ताम्यन्तमिव तेजसा ...... दर्पशातमपश्यत् (पृ० ११५)। यहाँ शब्दयुग्म में अनुप्रास भी रमणीय है। शुकनासोपदेश में चूर्णक शैली की उत्प्रेक्षाएँ द्रष्टव्य हैं— सरस्वतीपरिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति जनम्, गुणवन्तमपवित्रमिव न स्पृशति, उदारसत्त्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते, सुजनमनिमित्तमिव न पश्यति ... (पृ० २२१-२)।

(घ) परिसंख्या – इस अलंकार का अनेक स्थलों पर बीस-बीस बार प्रयोग कवि ने किया है। विशेष रूप से राजा के शासन-काल, तपोवन आदि के वर्णन में इसका विपुल प्रयोग बाण की कृतियों में चमत्कार उत्पन्न करता है। कादम्बरी के आरम्भ में शूद्रक-वर्णन में कवि की उक्ति है - यस्मिंश्च राजनि जितजगति परिपालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकराः, रतेषु केशग्रहाः, काव्येषु दृढबन्धाः, शास्त्रेषु चिन्ता .... न प्रजानामासन् (पृ० ९-१०)। इसी प्रकार हर्ष की प्रशंसा में कवि

कहते हैं - अस्य विमलेषु साधुषु रत्नबुद्धिः, न शिलाशकलेषु। मुक्ताधवलेषु गुणेषु प्रसाधनधीः, नाभरणभारेषु ···। अपि चास्य मित्रोपकरणमात्मा, भृत्योपकरणं प्रभुत्वम् ··· (पृ० ९३)। भङ्गी बदलकर भी बाण अलंकार का त्याग नहीं करते।

(ङ) विरोधाभास - यह भी बाण का प्रिय अलंकार है जिसका उन्होंने विपुल प्रयोग किया है। हर्षचरित (उ० १, पृ० ४८) में सरस्वती को देखकर दधीच का साथी कहता है— का चेयमत्रभवती भवत्याः समीपे समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्? तथा हि, सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च, पुण्डरीकमुखी हरिणलोचना च····। शुकनासोपदेश में भी इस अलंकार का रोचक प्रयोग है—संततमूष्माणमुपजनयन्त्यपि जाड्यमुपजनयति···· तोयराशिसम्भवापि तृष्णां संवर्धयति ···· अमृतसहोदरापि कटुकविपाका, विग्रहवत्यपि अप्रत्यक्षदर्शना··· (पृ० २२२)।

यद्यपि अन्य अनेक अलंकारों का भी बाण ने प्रयोग किया है (जैसे – दीपक, अतिशयोक्ति, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास आदि) तथापि ये उपर्युक्त अलंकार बाण को अत्यधिक प्रिय हैं जिन्हें उन्होंने बार-बार प्रयुक्त किया है।

तथाकथित **मुक्तक** गद्य का प्रयोग कवि तब करते हैं जब विषय भावपूर्ण हो जाता है, कवि भावुक हो उठता है। ऐसे स्थलों में भी शैली बहुत दूर तक चलती है। पुष्पभूति के प्रति श्रद्धातिशय से भरकर बाण कह उठते हैं— गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, विशालो मनसि, जनकस्तपसि, सुयात्रस्तेजसि, सुमन्त्रो रहसि, बुधः सदसि, अर्जुनो यशसि, भीष्मो धनुषि ···· राजा पुष्पभूतिरिति नाम्ना बभूव (पृ० १६९)। विश्वनाथ ने मुक्तक गद्य के उदाहरण में इसी संदर्भ को रखा है। शुकनासोपदेश से यह उदाहरण भी बाण की उदात्त अभिव्यंजना का प्रकर्ष प्रस्तुत करता है - (लक्ष्मीः) **न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रममनुवर्तते, न शीलं पश्यति** ···। (पृ० २२०)। स्थान-स्थान पर बाण मुक्तक गद्य का प्रयोग करते हैं किन्तु शैली की शालीनता बनी रहती है।

महाश्वेता द्वारा चन्द्रापीड को सुनायी गयी आत्मकथा में प्रयुक्त रशनोपमा का यह उदाहरण मुक्तक गद्य में ही है जो बहुधा उदाहृत हुआ है— क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम् (पृ० २८७)।

बाण पदों की सजावट के अनुपम कलाकार हैं जिन्हें सौन्दर्यचेतना की अभिव्यक्ति में प्रवीणता प्राप्त है। महाश्वेता द्वारा किये गये वसन्त-वर्णन में उन्होंने अपनी कला- मञ्जूषा का अद्भुत अनावरण किया है— **अथ विजृम्भमाण-नवनलिनवनेषु , अकठोरचूतकलिकाकलाप-कृतकामुकोत्कलिकेषु , कोमल-मलय-मारुतावतार-तरङ्गितानङ्गध्वजांशुकेषु , मद-कलित-कामिनीगण्डूष-सीधु-सेक-पुलकित-बकुलेषु, मधुकर-कुल-कलङ्क-कालीकृत-कालेयक-कुसुम-कुड्मलेषु, अशोकतरुताडन-रणित-रमणीय-मणिनूपुर-झंकारसहस्र-मुखरेषु···· मधुमासदिवसेषु ···· अच्छोदं सरः स्नातुमभ्यपतम्।** (कादम्बरी, पृ० २८७-८)। वस्तुतः बाण ने गद्य को उस उत्तुङ्ग शिखर पर पहुँचा दिया कि लोगों के लिए आश्चर्य का विषय बन गया और संस्कृत-जगत् में एक आभाणक चल पड़ा - **गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति** (गद्य की रचना कवियों के काव्योत्कर्ष की कसौटी है)। भाषा पर ऐसा अधिकार जो छोटे और बड़े

सभी वाक्यों को समान रूप से संभाल ले, भावों के अनुसार शब्दों की योजना तथा उनमें लयात्मकता का निवेश – ये ऐसे गुण हैं जो बाण को कविचक्रवर्ती के पद पर आसीन करते हैं (**बाण: कवीनामिह चक्रवर्ती**)। भाषा का आश्चर्यकर आकर्षण एवम् अप्रस्तुतयोजना की सजीवता बाण की साहित्यिक विभूति है; कल्पना के साथ अनुभूतियों का सामञ्जस्य उनकी कला का आधार है।

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्

संस्कृत विद्वानों के बीच बाण की यह प्रशस्ति अत्यधिक लोकप्रिय है। बाण ने अपनी रचनाओं में समस्त जगत् का समावेश किया है–यही इसका स्वारस्य है। बाण का व्यापक अनुभव जो युवावस्था के भ्रमणों से परिपुष्ट हुआ था उनकी उर्वर कल्पना-शक्ति तथा अगाध पाण्डित्य से समन्वित होकर गद्यकृतियों में प्रवाहित हुआ है। उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि को अपना आदर्श न बनाकर जगत् को अपने सर्वांगपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने वाले महाभारतकार व्यास को ही आदर्शकवि के रूप में स्वीकार किया (नम: सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे, हर्ष० १/३ पूर्वार्ध) जिन्होंने सरस्वती–नदी से पवित्र भारतवर्ष के समान वाणी से पवित्र महाभारत लिखा था। व्यास को यहाँ 'सर्वविद्' कहा है अर्थात् संसार भर के सारे विषयों को वे जानते हैं, महाभारत में उनके ज्ञान का समावेश है। इसीलिए 'यत्र भारते तत्र भारते' की लोकोक्ति चल पड़ी। इस प्रसंग में कवि की भारती को, महाभारत की कथा के समान ही, सभी वृत्तान्तों का निवेश करनेवाली भी बाण ने कहा है—

किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी ।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम् ।। (हर्ष० १/९)

अर्थात् उस कवि का काव्य व्यर्थ ही है जिसकी वाणी तीनों भुवनों के वृत्तान्तों को व्याप्त नहीं करती; वस्तुत: कवि की वाणी को तो महाभारत की कथा के समान सर्व-व्यापक होना चाहिए। इसी पृष्ठभूमि में बाण ने अपनी रचनाएँ की थीं जिनमें भावपक्ष और कलापक्ष के समस्त उपकरणों के स्पर्श का उन्होंने व्रत-सा लिया था।

जगत को व्याप्त करने में बाण के अगाध वैदुष्य का प्रभूत योगदान है। हर्ष के समक्ष बाण कहते हैं – सम्यक् पठित: साङ्गो वेद:, श्रुतानि च यथाशक्ति शास्त्राणि (पृ० १३५)। यह पाण्डित्य उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी रचनाओं में वेद, व्याकरण, ज्योतिष, महाभारत, चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद (प्रभाकरवर्धन के प्रसंग में तथा शुकनासोपदेश के आरम्भ में), संगीत, सामुद्रिकशास्त्र, साहित्य आदि शास्त्रों के सहस्रों सन्दर्भ निर्दिष्ट हैं।[1] इसी प्रकार उन्होंने राजनीति, इतिहास, भूगोल, स्वप्नविज्ञान, शुकनशास्त्र, पशुविज्ञान जैसे विषयों का भी पाण्डित्य प्रकट किया है। बाण के वैदुष्य का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा कि संस्कृत शब्दावली पर उनका कितना बड़ा अधिकार था। समूह के अर्थ में उन्होंने संचय, निचय, प्रकर, कदम्बक, जाल, निवह, राशि, कुल, यूथ, ग्राम,

---

१. देखें-**बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन**, पृ० २१०-७६।

वृन्द, संहति, पेटक, पटल, सार्थ, निकर, पुञ्ज, गण, मण्डल, व्रात, दल, कलाप आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है और प्रत्येक शब्द अपने समुचित स्थान पर सूक्ष्म अर्थव्यञ्जना करता है। इनके ग्रन्थों को पढ़ने पर वस्तुतः माघ के लिए प्रचलित 'नवशब्दो न विद्यते' की साक्षात् अनुभूति होती है। सभी शास्त्र बाण के सामने खड़े प्रतीत होते हैं।

अनुभव की दृष्टि से भी बाण अद्वितीय हैं। 'देशान्तरावलोकनकौतुकाक्षिप्तहृदयः' (हर्ष०, पृ० ७५) होकर मित्र-मण्डली के साथ[1] उन्होंने पर्याप्त भ्रमण किया था। भ्रमणक्रम में बड़े-बड़े राजकुलों को , शालीन विद्याओं के अध्ययनाध्यापन से उद्दीप्त गुरुकुलों को, विद्वानों और कलाप्रेमियों की गोष्ठियों को उन्होंने देखा था। यही कारण है कि जगत् के विविध दृश्यों का सूक्ष्म वर्णन वे कर सके और अपने पात्रों के चित्रण में सजीवता ला सके। उन्होंने न केवल प्रभात, सन्ध्या, रजनी, वसन्त, सरोवर आदि के सौम्य-मनोमोहक चित्र खींचे हैं अपितु विन्ध्याटवी, ग्रीष्म आदि के भयावह रूप भी अंकित किये हैं। कादम्बरी में इन्द्रायुध अश्व तथा हर्षचरित में दर्पशात हाथी का उन्होंने सांगोपांग वर्णन किया है। नगरों, राजप्रासादों, आश्रमों, मन्दिरों तथा सैन्य-शिविर के वर्णन में वे अनुपम हैं। कादम्बरी में उज्जयिनी नगरी, राजा तारापीड, अच्छोद सरोवर, चण्डिकामन्दिर आदि का भव्य चित्र अंकित करनेवाले बाण ने हर्षचरित में भी राजा प्रभाकरवर्धन, हर्ष, राज्यश्री-विवाह आदि का विपुल वर्णन किया है। शूद्रक की राजसभा के विसर्जन का सजीव चित्रण उन्होंने कादम्बरी के कथामुख-भाग में किया है। दिवाकरमित्र के आश्रम के वर्णन में एक आदर्श विद्यापीठ की कविकल्पना साकार हुई है जिसमें विविध शास्त्रों का अध्यापन होता था।

कल्पनाशक्ति की उर्वरता में बाण अनुपम हैं। किसी दृश्य वस्तु के वर्णन में जब वे उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग करने लगते हैं तो उसकी एक-एक विशिष्टता पाठकों के समक्ष प्रकट होने लगती है। वस्तु अपने सर्वांगपूर्ण रूप में मानस-पटल पर आ जाती है। ऐसे प्रसंगों में बाण अलंकारों की झड़ी लगा देते हैं। जो भी अलंकार उनकी कल्पना में आया उसका दस-बीस प्रयोग करके ही कथा को आगे बढ़ाते हैं।

अपनी कल्पना के वैभव से ही बाण रसों और भावों के उद्भावन के समय मानव-मन की सूक्ष्म वर्तनियों पर विचरण करते हैं। सभी रस इनकी रचनाओं में चित्रित हैं। शृङ्गार-रस और प्रेम के नाना रूपों को , नायक-नायिका की सूक्ष्म भावनाओं को और उनकी विभिन्न अवस्थाओं को निरूपित करते हुए बाण काम की अन्तिम दशा (मरण) तक भी अपने आलम्बनों को पहुँचा देते हैं। प्रेम की परिणति के लिए दूसरे जन्म की कथा भी चलती है। विविध रसों की उद्भावना समान रूप से होने के कारण इसमें शान्तरस का अंगित्व है। जरद्द्रविडधार्मिक (काद०, पृ० ४५९-६३) के चित्रण में तथा हर्ष के जन्मोत्सव के वर्णन (हर्ष०, पृ० २२०-२८) में हास्यरस का यथेष्ट उद्भावन है। प्रभाकरवर्धन तथा हर्षवर्धन के वर्णनों में एवं चन्द्रापीड की दिग्विजय-यात्रा के विवरण में वीररस का अंकन है। कादम्बरी में पुण्डरीक की मृत्युपर महाश्वेता के विलाप में (पृ०

१. बाण के मित्र विविध व्यवसायों से संबद्ध थे- भाषाकवि (ईशान), विद्वान्, प्राकृतकवि, बन्दी, संन्यासिना, विषवैद्य, पान लगानेवाला, (तमालो), वैद्यपुत्र, पुस्तकवाचक, स्वर्णकार, हीरा काटनेवाला, लेखक, चित्रकार, खिलौने बनानेवाला, मृदंग बजानेवाला, गायक, शृंगार करनेवाली, वंशीवादक, संगीतगुरु, पैर दबानेवाला, नर्तक, नर्तकी, कथावाचक, पासा खेलनेवाले, तान्त्रिक, रासायनिक आदि (पृ० ७४-५)।

३४२-७) और हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय करुण रस की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है। शबरसेनापति, विन्ध्याटवी तथा ग्रीष्मकाल के वर्णनों में भयानक रस उपस्थापित है। रसानुकूल उनके अंग विभावादि भी दिये गये हैं, कहीं प्रतिकूल रसों को बाण ने प्रस्तुत नहीं किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी बाण की कला श्लाघनीय है। उनकी रचनाओं में हर्ष, राज्यवर्धन, प्रभाकरवर्धन, पुष्पभूति, शूद्रक, तारापीड और चन्द्रापीड जैसे राजा एवं राजकुमार हैं तो यशोमती और कादम्बरी जैसी रानी-राजकुमारी भी है। भैरवाचार्य तान्त्रिक है तो एक धूर्त साधक जरद्द्रविडधार्मिक भी है; शुकनास जैसा अनुभवी मन्त्री है तो उसके पुत्र वैशम्पायन जैसा आदर्श मित्र भी है। महाश्वेता, पत्रलेखा जैसी रमणियाँ हैं तो शबरसेनापति के समान क्रूर पात्र भी है। दिवाकरमित्र बौद्धकुलपति हैं। मातङ्गकन्या के चित्रण में बाण ने अद्‌भुत स्त्रीचरित्र आविर्भूत किया है। बाण की आत्मकथा में दिव्य स्त्रीपात्र सरस्वती और सावित्री, च्यवनऋषि का पुत्र दधीच, कृष्ण का दूत मेखलक इत्यादि विविध पात्र आये हैं। इन चरित्रों में बाण की सूक्ष्मेक्षिका प्रकट हुई है।

इस प्रकार भावपक्ष की व्यापकता की समीक्षा की जा सकती है। जहाँ तक कलापक्ष की व्यापकता का प्रसंग है वह बाण द्वारा विविध गद्य-प्रकारों के प्रयोग के रूप दिखाया जा चुका है। बाण किसी एक शैली को पकड़कर चलने वाले कवि नहीं हैं अपितु वे विषय-वस्तु के अनुरूप गद्य के विविध रूपों का उपयोग करते हैं। उपदेश देने के समय वे अल्पसमासयुक्त चूर्णक शैली को अपनाते हैं जहाँ उनकी शैली दण्डी की गद्य शैली से मिलती है। उदाहरणार्थ दुर्वासा को क्रोध के परिणाम दिखाते हुए ब्रह्मा कहते हैं— **ब्रह्मन्, न खलु साधुसेवितोऽयं पन्था: येनासि प्रवृत्त:। निहन्त्येष परस्तात्। उद्दामप्रसृतेन्द्रियाश्वसमुत्थापितं हि रज: कलुषयति दृष्टिमनक्षजिताम्। कियद् दूरं वा चक्षुरीक्षते। विशुद्धया हि धिया पश्यन्ति कृतबुद्धय: सर्वार्थानसत: सतो वा। निसर्गविरोधिनी चेयं पय:पावकयोरिव धर्मक्रोधयोरेकत्र वृत्ति: (हर्ष०, पृ० २१)।**

दण्डी जहाँ इसी चूर्णक गद्य की वैदर्भी रीति में सब कुछ कहने का कार्यक्रम बनाते हैं वहाँ बाण एक ओर इससे ऊपर की उत्कलिकाप्राय शैली को भी यत्र-तत्र अपनाकर सघन समासों के द्वारा वस्तुचित्र का क्रमश: अनावरण करते हैं तो दूसरी ओर इससे नीचे चूर्णक शैली में भी जाकर समासरहित किन्तु समान पदावली के कारण शालीन एवम् उदात्त गद्य-रचना का भी चमत्कार दिखाते हैं यह त्रैविध्य संस्कृत के समस्त गद्यरूपों को एकत्र पिरोने के कारण संस्कृत जगत् शब्दार्थ के समान गुम्फन के रूप में पाञ्चाली-रीति के नाम से विख्यात है। इस प्रकार कला के क्षेत्र में भी बाण ने प्रविधियों का स्पर्श करके जगत् को उच्छिष्ट किया—**बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।**

बाण की रचनाओं में प्रतिबिम्बित समाज

हर्षचरित और कादम्बरी में बाण ने अपने युग के समाज का चित्रण सम्यक् रूप से किया है। इसका समर्थन चीनी यात्री ह्वेनसांग (भ्रमणकाल ६२९-४५ ई०) के यात्रा-विवरण एवं हर्ष-रचित रूपकों से भी होता है। उस युग की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति के अन्तर्गत समाज, राजनीति, धर्म, कला-कौशल, व्यवसाय (जीविका-साधन), अन्न-पान, वस्त्राभूषण इत्यादि के ऐसे चित्र मिलते हैं मानों वह युग सामने आ गया हो। यहाँ कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया

जाता है।[१]

समाज— भारतीय समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था में ढला हुआ था। दोनों व्यवस्थाओं के नियमों का पालन सामान्य रूप से होता था, किन्तु शिथिलता भी दुर्लभ नहीं थी। बाण ने प्रव्रज्या-प्राप्त संन्यासियों का भी बहुधा उल्लेख किया है। ब्राह्मणों का काम सामान्यत: अध्ययनाध्यापन, यज्ञानुष्ठान तथा पौरोहित्य कर्म था। हर्षचरित के तृतीय उच्छ्वास में अपने गाँव में लौटने पर बाण ने बन्धुओं से जो प्रश्न पूछे थे उनमें तात्कालिक ब्राह्मणों के दैनिक जीवन का चित्र मिलता है— ब्राह्मण-मण्डली को सन्तुष्ट रखने वाली यज्ञक्रिया चल रही है न? अविकल मन्त्रों से युक्त हवियों को अग्निदेव ग्रहण तो कर रहे हैं? अपने कुल के बच्चे समय पर अध्ययन तो कर रहे हैं (यथाकालमधीयते वा बटव:)? वेदाभ्यास भी अविच्छिन्न चल रहा होगा! यज्ञों के ज्ञान और अनुष्ठान में पूर्ववत् प्रवृत्ति तो बनी ही होगी? व्याकरण में शास्त्रार्थ-व्यवस्था तो चल रही है? अन्यकार्यों को छोड़कर न्यायशास्त्र की गोष्ठियाँ तो हो रही हैं? मीमांसा-दर्शन का रस तो वर्तमान है? अमृत बरसाने वाले काव्यालाप तो होते हैं?[२] इससे उस युग के शिक्षा-विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है।

ब्राह्मण लोग राजाओं के मन्त्री भी बनते थे, यह पद पैतृक परम्परा से चलता था। अनुलोम विवाह वर्जित नहीं था, इससे उत्पन्न सन्तानें परिवार में मिलजुलकर रहती थीं। बाण के पारशव (शूद्रा माता से उत्पन्न) भाई उनके साथ ही रहते थे। समाज में ऊँचे-नीचे का भेद-भाव न था। इसके कई संकेत बाण ने दिये हैं। उनकी भ्रमण-मंडली में सभी वर्णों तथा व्यवसायों के नर-नारी समान रूप से सम्मान पाते थे किन्तु ब्राह्मण-पुत्र का अभद्र लोगों से मैत्री-सम्बन्ध जनता में उपहास का विषय था। राजा हर्ष भी प्रतिष्ठित कुल के दीपक की इस मित्र-मण्डली के कारण उसके प्रति अन्यथा धारणा रखते थे जिसका स्वयं बाण ने निराकरण किया था। हर्षवर्धन के जन्मोत्सव पर परस्पर भेद भुलाकर राजा-रानी, दास-दासी, वेश्या-कुट्टनी एवं प्रजा के विभिन्न स्तरों के लोग नाचते-गाते थे। उत्सवों और पर्वों पर पूरा समाज एकरूप हो जाता था। इसे ह्वेनसांग ने भी अंकित किया है।

शिक्षा-व्यवस्था— शिक्षा योग्य जनों तक ही सीमित थी। नगर के बाहर आश्रम था। गुरुकुल होते थे जिनमें विविध विषयों के अध्ययन की व्यवस्था थी। विद्यामन्दिर में ही चन्द्रापीड ने शिक्षा पायी थी। दिवाकरमित्र के आश्रम में (हर्षचरित, अष्टम उच्छ्वास) अध्यापन-विषयों की लम्बी सूची बाण ने दी है। बालिकाओं को भी कला-सम्बन्धी और गृहव्यवस्था-विषयक शिक्षा दी जाती थी। राज्यश्री को नृत्य और संगीत सिखाये गये थे। हर्ष के रूपकों में कलाओं की शिक्षा का निर्देश है।

शिल्प तथा व्यवसाय— आर्थिक जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध शिल्पों एवं जीविका-साधनों का विकास उस युग में हो चुका था। इससे युग के सांस्कृतिक उत्कर्ष की भी पुष्टि होती

---

१. विशेष विवरण—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल कृत (क) **हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन** (ख) **कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन**। डॉ० अमरनाथ पाण्डेय—**बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन**, पृ० ३१३-३७।

२. **हर्षचरित**, पृ १४३-४।

है क्योंकि कुछ शिल्प कलात्मक थे। बाण ने अपनी मित्रमण्डली में ऐसे लोगों को रखा था जो मूर्तियाँ (खिलौने) बनाते थे, आभूषण गढ़ते थे, रत्नों को तरासते थे, जादू दिखाते थे (ऐन्द्रजालिक), रसायनवेत्ता थे, स्त्रियों-पुरुषों की वेष-सज्जा करते थे (beautician) इत्यादि।

राज्यश्री के विवाह के अवसर पर राजा प्रभाकरवर्धन ने अनेक शिल्पियों को बुलाया था। वस्त्र-उद्योग विशेषरूप से उस युग में विकसित था, साँप की केंचुली के समान सूक्ष्म वस्त्र बनते थे। वस्त्रों के कई भेद थे जैसे - कौशेय, पट्ट, चीनांशुक, क्षौम, कार्पास इत्यादि। कुछ वस्त्रों को लालातन्तुज और नेत्र कहते थे, वे शरीर पर दिखाई नहीं पड़ते थे। यह शिल्प का उत्कर्ष था।

वस्त्राभूषण— उस युग में लोग उत्तरीय तथा अधोवस्त्र के रूप में दो वस्त्र धारण करते थे। वस्त्रों पर सूत्रों से चित्रकारी भी होती थी। हर्षवर्धन जब दिग्विजय-यात्रा पर गया था तो हंस-मिथुन से अंकित दुकूल (रेशमी वस्त्र) पहने हुए था। कुछ लोग शिरोवेष्टन (पगड़ी) भी धारण करते थे। पुरुषों के वस्त्र श्वेत किन्तु स्त्रियों के वस्त्र रंगीन होते थे। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। जैसे- तिलक, अंगुलीयक, कटक, नूपुर, मेखला, कर्णाभूषण, एकावली तथा हार। पुष्पमालाएँ भी बहुत अच्छी बनती थीं। इनके निर्माण के लिए शिल्पियों का बहुत आदर था।

स्त्रियों की स्थिति— यद्यपि समाज में स्त्रियों का आदर था किन्तु पुरुषों की तुलना में उन्हें हीन माना जाता था। पुत्री उत्पन्न होने पर, अन्य युगों के समान ही, माता-पिता दु:खी होते थे। प्रभाकरवर्धन यह कहते हैं कि पुत्र और पुत्री दोनों ही सन्तान हैं फिर भी लोग कन्या-जन्म होने पर आँसू बहाते हैं— अपत्यत्वे समानेऽपि जातायां दुहितरि दूयन्ते सन्त:। एतदर्थं जन्मकाल एव कन्यकाभ्य: प्रयच्छन्ति सलिलमश्रुभि: साधव: (हर्ष०, पृ० २४०)। इससे कन्याओं की स्थिति ज्ञात होती है। राजपरिवार में ही राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के जन्मकाल में बड़े उत्सव हुए किन्तु राज्यश्री के जन्म पर कुछ नहीं हुआ। बाण ने कहा है कि पुत्री के यौवनारम्भ में पिता सन्ताप की अग्नि में जलते हैं (यौवनारम्भ एव कन्यकानामिन्धनीभवन्ति पितर: सन्तापानलस्य , पृ० २४०)। कन्या के विवाह की तथा उसके वैवाहिक जीवन के सुखी होने की चिन्ता पिता को सताती थी। समृद्ध तथा प्रतापी परिवार की राज्यश्री को अन्तत: काषायवस्त्र में संन्यासिनी होना पड़ा था।

स्त्रियों को उनके पति और पुत्र बहुत मानते थे। गृहकार्यों में उनकी सम्मति ली जाती थी। प्रभाकरवर्धन ने राज्यश्री के विषय में अपनी पत्नी यशोमती की स्वीकृति मिलने पर ही उसका विवाह मौखरि-नरेश से किया था। उस युग में बाल-विवाह होते थे किन्तु राज्यश्री का विवाह तरुणावस्था में किया गया था (देवि, तरुणीभूता वत्सा राज्यश्री:)। सरस्वती, महाश्वेता और कादम्बरी ने भी तरुणावस्था में वर का चयन किया था। सर्वत्र शान्ति- व्यवस्था होने के कारण स्त्रियों के अपहरण का भय नहीं था। हर्ष ने नागानन्द में कहा है— निर्दोषदर्शना: खलु कन्यका: (कन्याओं को देखना कोई अपराध नहीं)। राज्यश्री मुक्तरूप से विन्ध्याटवी में घूमती है और अपने भाई के साथ दिवाकरमित्र का उपदेश भी सुनती है। राज्यश्री के विवाह-समारोह में सामन्तस्त्रियाँ निर्भीक आती-जाती थीं- अत: अवगुण्ठन-प्रथा का प्रभाव नहीं था।

समाज में सती-प्रथा थी किन्तु इसका विरोध होने लगा था। महाश्वेता और कादम्बरी दोनों के अनुमरण (सती होने) को बाण ने आत्महत्या, मूर्खता और महापाप बताकर इसके विरुद्ध तर्क दिये हैं।

धार्मिक स्थिति— बाणभट्ट के युग में ब्राह्मण-धर्म के अतिरिक्त जैन और बौद्धधर्म भी अच्छी स्थिति में थे। ब्राह्मण-धर्म में श्रुति-स्मृति के निर्दिष्ट कर्म-काण्ड का प्राधान्य था। पुराणोक्त देवी-देवों की भी पूजा होती थी। षोडश संस्कारों में लोगों का विश्वास था। उपनयन, समावर्तन और विवाह का विशेष महत्त्व था। हर्ष के पूर्वज शिव और सूर्य के उपासक थे, हर्ष बाद में बौद्ध हो गया था। तान्त्रिक धर्म का भी यत्र-तत्र प्रचार था।

सर्वत्र धार्मिक सहिष्णुता व्याप्त थी, कट्टरता नहीं थी। धर्म-परिवर्तन की स्वतन्त्रता सबको थी। दिवाकरमित्र ब्राह्मण था किन्तु उसके बौद्धधर्म अपनाने पर किसीको आपत्ति नहीं हुई। उनके आश्रम में एक साथ आर्हत, बौद्ध, केशलुञ्चक, श्वेताम्बर आदि अवैदिक धर्मावलम्बी और औपनिषद, पौराणिक, धर्मशास्त्री, याज्ञिक, शैव, कापिल, काणाद आदि वैदिक मतानुयायी रहते थे। दिगम्बर जैन साधुओं को अपशकुन समझा जाता था। हर्ष बौद्ध बनने पर भी वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा रखता था।

धर्म के नामपर पाखण्ड भी चलता था। कादम्बरी में चण्डिकामन्दिर के पुजारी जरद्द्रविडधार्मिक का चित्रण है जिसे धन और पत्नी दिलाने का मिथ्या प्रलोभन दिया गया था। उस मन्दिर में पशुबलि भी होती थी। कुछ तान्त्रिक लोगों को ठगते थे।

राजनीति— राज्य और साम्राज्य की कल्पना उस युग में विशेष रूप से होने लगी थी। पूरा भारत छोटे-छोटे अनेक राज्यों में विभक्त था। राजाओं में रागद्वेष का चक्र चलता था। उनकी शत्रुता कई पीढियों तक चलती थी। विदेशी जातियों के आक्रमण भी हो रहे थे। राजाओं में कार्य-विशेष से सन्धियाँ भी होती थीं। हर्षवर्धन ने गौडनरेश के प्रतिशोधार्थ कामरूप-नरेश से सन्धि की थी। राजा लोग दिग्विजय भी करते थे। सेना में गज, वाजि, रथ और पदाति ये चार मुख्य अंग होते थे। सेना का शिविर भी बड़ा भव्य होता था। ऐसे ही शिविर में हर्ष से बाण मिले थे।

इस प्रकार बाण के युग की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति का निरूपण किया जा सकता है।

अन्य गद्यकार

बाण ने गद्यकाव्य को जिस ऊँचाई पर पहुँचाया था वह परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय हो गयी, दण्डी की प्रसादमयी वैदर्भी उन्हें अच्छी नहीं लगी। फिर भी वे बाण के सामने प्रभाहीन ही रहे। इस पर बाण की प्रशस्ति भी दी गयी—

> **नूनं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमागताः ।**
> **बाणध्वनावनध्यायो भवतीति श्रुतिर्यतः ।।**

एक परवर्ती कवि वामनभट्ट बाण ने अपने 'वेमभूपालचरित' की प्रस्तावना (श्लोक-६) में कहा कि एक अपयश की बात चल रही है कि बाण से भिन्न कवि काने हैं, इस अपयश के प्रक्षालन के लिए मैं यह कृति दे रहा हूँ—

> **बाणादन्ये कवयः काणाः खलु सरसगद्यसरणीषु ।**
> **इति जगति रूढमयशो वामनबाणोऽपमार्ष्टि वत्सकुलः ।।**

बाण की गद्य-सरणि के अनुवर्तन में जो शून्यता छायी थी उसे बहुत दिनों के बाद जैन गद्यकारों ने तोड़ा और वे शताब्दियों तक गद्यकृतियाँ देते रहे। कई शताब्दियों के पश्चात् ही दूसरे लोग गद्यकाव्य के लेखन में आगे आये। यहाँ कुछ लेखकों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

धनपाल (१००० ई०) की तिलकमञ्जरी— धनपाल राजा भोज के चाचा मुञ्जराज के सभासद् जैनकवि थे। अपनी गद्यरचना 'तिलकमञ्जरी' की प्रस्तावना (श्लोक ५१-३) में इन्होंने आत्मपरिचय दिया। प्रभाचन्द्र के 'प्रभावकचरित' तथा मेरुतुंग की 'प्रबन्धचिन्तामणि' में भी इनका जीवनवृत्त दिया गया है। उज्जयिनी के समीप सांकाश्य ग्राम के निवासी वैदिक विद्वान् सर्वदेव के ये पुत्र थे , युवावस्था में जैन साधु हो गये थे। मुञ्ज ने इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि दी थी। इनकी अनेक रचनाओं में 'तिलकमञ्जरी' सर्वाधिक विख्यात है। इसकी रचना कवि ने भोज के जैन आगमों के विषय में उत्पन्न कुतूहल के शमनार्थ की थी (प्रस्तावनाश्लोक-५०)। यह कथानामक गद्य-काव्य है। मंगलाचरण के ५३ पद्यों में बाण की कृतियों के समान सत्प्रशंसा, असन्निन्दा, कविपरिचय आदि विषय है। मूलग्रन्थ में विद्याधरी तिलकमञ्जरी और समरकेतु की प्रणयकथा कादम्बरी की शैली में वर्णित है। फिर भी दीर्घसमास और श्लेष-प्रदर्शन में कवि की रुचि नहीं है।[1] इसीलिए विजयगणि (जैनलेखक) ने इस कृति को दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों से श्रेष्ठतर कहा है। बाण का अनुकरण करने पर भी धनपाल की शैली में सुगमता है। अलंकारों के श्लेष-मूलक प्रयोग में सरलता है जैसे अयोध्या-वर्णन में धनपाल कहते हैं— **उच्चापशब्दः शत्रुसंहारे न वस्तुविस्तारे, वृद्धत्यागशीलो विवेकेन न प्रज्ञोत्सेकेन, गुरूणां वितीर्णाज्ञा-शासनो भक्त्या न प्रभुशक्त्या** ···। यहाँ परिसंख्यालंकार के प्रत्येक प्रयोग पर अन्त्यानुप्रास आकर्षक है। भाषा के प्रवाह के लिए यह सन्दर्भ दर्शनीय है—

'यथा न धर्मः सीदति, यथा नार्थः क्षयं व्रजति, यथा न राजलक्ष्मीरुन्मनायते, यथा न कीर्तिर्मन्दायते, यथा न प्रतापो निर्वाति, यथा न गुणाः श्यामायन्ते, यथा न श्रुतमुपहस्यते, यथा न परिजनो विरज्यते, यथा न मित्रवर्गो म्लायति, यथा न शत्रवस्तरलायन्ते, तथा सर्वमन्वतिष्ठत्।

वादीभसिंह (११वीं शताब्दी)- धनपाल के कुछ दिनों के बाद महाकवि वादीभसिंह हुए थे जिन्होंने '**गद्यचिन्तामणि**' नामक गद्यकाव्य लिखा। ये तमिल-राज्य के निवासी थे। इनके नाम से स्याद्वादसिद्धि, नवपदार्थनिश्चय आदि पाँच कृतियाँ निर्दिष्ट हैं। गद्यचिन्तामणि ग्यारह लम्भकों मे विभक्त है जिसमें महाराज जीवन्धर का वृत्तान्त वर्णित है। इसका स्रोत गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' में वर्णित जीवन्धर-चरित है। वादीभसिंह ने इसी कथा को पद्यात्मक बनाकर 'क्षत्रचिन्तामणि' की भी रचना की थी। 'जीवन्धरचम्पू' में हरिचन्द्र ने इन दोनों काव्यों का उल्लेख किया है। गद्यचिन्तामणि आख्यायिका है जिसमें अलंकरण का यथेष्ट प्रयास है। 'प्रत्यग्रकन्दलीदलन-दुर्ललित-कोकिल-कलालापच्छलेन' जैसे ललित समस्तपदों के प्रयोग इसमें बहुधा हुए हैं। इसका प्रकाशन श्रीवाणीविलास प्रेस (श्रीरंगम्) से हुआ है।

प्रभाचन्द्र (१२वीं शताब्दी) तथा **जिनभद्र** (१३वीं शताब्दी)— प्रभाचन्द्र ने '**गद्यकथाकोष**'

---

१. तिलकमंजरी, प्रस्ता० १५ अखण्डदण्डकारण्यभाजः प्रचुरवर्णकात् ।
व्याघ्रादिव समाघ्रातो गद्याद् व्यावर्तते जनः ।।

के रूप में ८९ कथाओं की कांव्यात्मक प्रस्तुति की है। उदयप्रभसूरि के शिष्य जिनभद्र ने ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं को काव्यरूप में लाकर सरल शैली में 'प्रबन्धावलि' नामक गद्यकाव्य लिखा। इसमें मुख्यतः गुजरात, राजस्थान, मालवा तथा वाराणसी के प्रसिद्ध महापुरुषों की कथाएँ हैं।

मेरुतुङ्गाचार्य (१४वीं शताब्दी)— '**प्रबन्धचिन्तामणि**' नामक गद्यकृति के लेखक मेरुतङ्ग चन्द्रप्रभ मुनि के शिष्य थे। प्रबन्धचिन्तामणि में कुल ग्यारह प्रबन्ध हैं जिनमें ऐतिहासिक महापुरुषों (विद्वानों, कवियों और आचार्यों) के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन है। समासबहुल दीर्घकाय वाक्यों में इसकी रचना हुई है। इसका रचनाकाल १३६१ विक्रमाब्द (१३०४ ई०) है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

राजशेखरसूरि (१४वीं शताब्दी)— इनकी कई कृतियाँ प्रसिद्ध है जिनमें एक गद्यकाव्य 'प्रबन्धकोश' भी है। इसकी रचना १४०५ विक्रमाब्द (१३४८ ई०) में पूरी हुई थी। इसका दूसरा नाम 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' भी है क्योंकि इसमें २४ महापुरुषों के जीवनवृत्त हैं। इनमें दस जैन आचार्य, चार संस्कृत कवि, सात राजा तथा तीन जैन गृहस्थ हैं। उपर्युक्त चरितमूलक गद्यकृतियों के मध्य अपने विस्तार और विश्लेषण के कारण 'प्रबंन्धकोश' अग्रगण्य है। सिन्धी जैनग्रन्थमाला (सं० ६) में यह शान्तिनिकेतन से १९३५ ई० में प्रकाशित है जिसका सम्पादन मुनि जिनविजय ने किया है। इतिहास की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है यद्यपि दन्तकथाओं का भी इसमें समावेश है।

वामनभट्टबाण (१४५० ई०)— बाणभट्ट के समान ये भी वत्सगोत्र के थे। तेलंगाना (त्रिलिंग) के शासक वेमभूपाल की राजसभा में इन्होंने आदर पाया था,अतः उनके जीवनवृत्त को '**वेमभूपालचरित**' नामक आख्यायिका में गुम्फित किया। यह हर्षचरित से प्रेरित गद्यकाव्य है। वेमभूपाल स्वयं भी कवि थे जिन्होंने अमरुशतक पर 'शृंगारमंजरी'- टीका लिखी थी। वामनभट्टबाण ने बाण की ख्याति और प्रौढि का दावा किया है। इन्होंने अन्य भी कई ग्रन्थ लिखे जैसे नलाभ्युदयकाव्य, रघुनाथचरित महाकाव्य (३० सर्ग), पार्वतीपरिणय नामक नाटक तथा दो कोशग्रन्थ- शब्दचन्द्रिका, शब्दरत्नाकर। वेमभूपालचरित श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् से प्रकाशित है।

विश्वेश्वर पाण्डेय (१८वीं शताब्दी, पूर्वार्ध)— अल्मोड़ा (उत्तर प्रदेश) जिले के पाटिया ग्राम के निवासी लक्ष्मीधर पाण्डेय के ये पुत्र थे। कहा जाता है कि ४० वर्ष की आयु में ही इनकी मृत्यु हो गयी थी। इन्होंने 'मन्दारमञ्जरी' नामक एक महनीय गद्यकाव्य लिखा था। कादम्बरी के समान इसमें भी पूर्व और उत्तरभाग हैं। पूर्वभाग ही विश्वेश्वर पाण्डेय की रचना है (पर्वतीय पुस्तक प्रकाशन मण्डल, काशी से १९२५ ई० में प्रकाशित)। उत्तरभाग उनके किसी शिष्य की रचना है। ग्रन्थारम्भ में आर्याछन्द में २१पद्य हैं जिनमें पूर्वकवियों की प्रशंसा है। मूलग्रन्थ में पुष्पपुर (पटना) के राजा राजशेखर एवं रानी मलयवती के पुत्र चित्रभानु तथा विद्याधर चन्द्रकेतु एवं चन्द्रलेखा की पुत्री मन्दारमञ्जरी के प्रेम तथा विवाह की कथा है। नायिका के नामपर इसका शीर्षक है। ग्रन्थ में कवि ने अपना चतुरस्र पाण्डित्य और प्रौढि का प्रकर्ष दिखाया है। बाण की श्रेणी में आने का लेखक ने अत्यधिक प्रयास किया है। बाण के कई वर्णनों से इस गद्यकाव्य के वर्णनों की तुलना की जा सकती है। नगर, नायक, देवी, स्वप्न, कुमारशिक्षा, रथ, तपोवन, कामदशा, नायिका आदि

के वर्णन अत्यधिक मनोरम हैं। अलंकृत वर्णनों से कथा-प्रवाह और रसोद्भावन बहुधा बाधित हुए हैं। बाण के लक्ष्मी-वर्णन का प्रभाव इस वर्णन पर स्पष्ट है— 'तुषारवृष्टिर्बुद्धिकमलिनीनाम्, **कुलविद्या कौटिल्यस्य, वसन्तवेला कामस्य, दुर्वासोमनोभूमिः क्रोधस्य, सौभाग्यसिद्धिर्लोभस्य, लङ्काऽहङ्कारराक्षसानाम्, विभावरी विवेकविवस्वतः'** (पृ० १५८-९)। लक्ष्मी को यहाँ भी रूपकों की माला पहनाकर व्यंग्य-विषय बनाया गया है।

विश्वेश्वर पाण्डेय के अन्य ग्रन्थ हैं— वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि (अष्टाध्यायी की विस्तृत व्याख्या, ३ अध्यायमात्र प्राप्त), तर्ककुतूहल, दीधितिप्रवेश (दोनों नव्यन्याय के टीकाग्रन्थ), शृंगारमंजरी (सट्टक-प्राकृत), अलंकारकौस्तुभ, रसचन्द्रिका, अलंकारप्रदीप, अलंकारमुक्तावली, कवीन्द्रकण्ठाभरण; रोमावलीशतक, आर्यासप्तशती (दोनों काव्य)। इन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। इनसे लेखक के प्रौढ पाण्डित्य का अनुमान होता है।

अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०)

संस्कृत भाषा के आधुनिक साहित्यकारों में अम्बिकादत्त व्यास अग्रगण्य हैं। इनमें प्राचीनता और नवीनता दोनों का समन्वय मिलता है। अपने अल्प जीवन-काल तथा प्रायः कष्टमय जीवन-यात्रा के होने पर भी समय और प्रतिभा का सदुपयोग करके इन्होंने हिन्दी-संस्कृत में छोटी-बड़ी ७८ पुस्तकें लिखीं जिनमें कुछ अप्रकाशित हैं। इन्हें सर्वाधिक ख्याति महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी के जीवन-वृत्त पर आश्रित संस्कृत उपन्यास 'शिवराजविजय' की रचना से प्राप्त हुई।[1] इसकी रचना इन्होंने १८९८ ई० में की थी किन्तु इसका मुद्रण १९०० ई० में हुआ। इनकी एक संस्कृत कृति 'सामवत' नाटक है जो १८८८ ई० में खड्गविलास प्रेस, पटना से प्रकाशित हुआ था। आधुनिक लेखक होने के कारण तथा सरकारी सेवा में रहने के कारण इनके जीवन से सम्बद्ध बहुत-सी बातें ज्ञात हैं, स्वयं व्यास जी ने 'बिहारी-विहार' की भूमिका में अपने पूर्वजों तथा अपने विषय में भी पर्याप्त सूचना दी है। इनके पूर्वज जयपुर के निवासी थे जो सपरिवार काशी आकर बस गये थे। शैक्षणिक वातावरण से पूर्ण परिवार में व्यास जी की प्रतिभा बालावस्था में प्रकट होने लगी। काशी राजकीय संस्कृत कालेज से आचार्य परीक्षा में उत्तीर्ण होकर इन्होंने बिहार के विभिन्न राजकीय विद्यालयों में शिक्षण कार्य किया। अन्तिम समय में एक-दो वर्षों के लिए वे पटना कालेज में भी अध्यापक थे। १५ नवम्बर १९०० ई० को इनका देहान्त हुआ।

'शिवराज विजय' को स्वयं व्यास जी ने ऐतिहासिक उपन्यास कहा है क्योंकि 'उपन्यास' (novel) की पाश्चात्य विधा में यह ढला हुआ है। यह विधा व्यास जी को बंगला उपन्यासों से प्राप्त हुई थी। 'गद्यकाव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ में इन्होंने लिखा है—

उपन्यासपदेनापि तदेव परिकथ्यते।
यथा कादम्बरी यद्वा शिवराजजयो मम॥

वैसे संस्कृत की प्राचीन व्यवस्था के अनुसार इसे 'आख्यायिका' कह सकते हैं। इसमें तीन विराम हैं, प्रत्येक विराम चार-चार निःश्वासों में विभक्त है। इसका कथानक इस प्रकार है—दक्षिण में मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से उद्विग्न होकर शिवाजी (शिवराज) स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष

१. हिन्दी अनुवाद तथा संक्षिप्त व्याख्या के साथ व्यास पुस्तकालय, वाराणसी, १९६९ (दशम संस्करण)।

आरम्भ करते हैं। उन्हें अपने कार्य में क्रमशः सफलता मिलती है। उनकी विजयों से संतप्त बीजापुर का शासक उन्हें मारने के लिए अफजल खान को भेजता है जिसे शिवाजी यमलोक पहुँचा देते हैं। अनेक प्रासंगिक कथाओं के अन्त में शिवाजी के द्वारा सम्पूर्ण महाराष्ट्र की मुक्ति का वर्णन है। इसमें ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त अनेक पात्रों की कल्पना लेखक ने की है। शिवराजविजय के द्वारा व्यासजी ने तात्कालिक स्वाधीनता-संग्राम को प्रेरित किया था। शिवाजी-जैसे वीर पुरुष के आगमन की प्रतीक्षा भारतवर्ष की मुक्ति के लिए की जा रही थी।

व्यास की गद्यशैली पर बाण का प्रभाव है जिसमें विषय के अनुरूप गद्यशैली सघन या सरल होती है। शब्दार्थ का सामंजस्य करनेवाली यह शैली 'पाञ्चाली' कही गयी है। उत्कलिककाप्राय गद्य का उदाहरण है-'**पारस्परिकविरोध-विशिथिलीकृत-स्नेहबन्धनेषु राजसु, भामिनी-भ्रूभङ्गभूरिभाव-प्रभावपराभूतवैभवेषु भटेषु ···· महामदो यवनः ससेनः प्राविशद् भारते वर्षे**।' इसी प्रकार शिवाजी की प्रशस्ति कवि ने लिखी हैं- **वीरतासीमन्तिनीसीमन्त-सुन्दरसान्द्रसिन्दूर-दानदेदीप्यमानदोर्दण्डः**।ऐसे स्थल शिवराजविजय में बहुत नहीं हैं। वे सरलता से समझ में आ जाते हैं। इस शैली का उद्देश्य अपने भावों को प्रभावपूर्ण बनाना है, व्यर्थ का आडम्बर दिखाना नहीं।

सामान्यतः व्यासजी की शैली सरलता की ओर ही प्रवृत्त है, यत्र-तत्र अनुप्रासों का सौन्दर्य आकर्षक है जैसे भारतवर्ष की तात्कालिक दशा का चित्रण किया गया है- 'क्वाधुना मन्दिरे जयजयध्वनिः? क्व सम्प्रति तीर्थे तीर्थे घण्टानादः? क्वाद्यापि मठे मठे वेदघोषः? अद्य हि वेदा विच्छिद्य वीथीषु विक्षिप्यन्ते। धर्मशास्त्राण्युद्धूय धूमध्वजेषु ध्मायन्ते। पुराणानि पिष्ट्वा पानीयेषु पात्यन्ते। भाष्याणि भ्रंशयित्वा भ्राष्ट्रेषु भर्ज्यन्ते।' यह सरलता क्रमशः आगे बढ़कर सजीव चित्र खींचती है- 'क्वचिदार्तनादाः, क्वचिद्रुधिरधाराः, क्वचिदग्निदाहः, क्वचिद् गृहनिपातः इत्येव श्रूयतेऽवलोक्यते च परितः।'

'शिवराजविजय' में व्यासजी की चेतना प्राचीन-नवीन दोनों के संगम की है। देशभक्ति, इतिहास, स्वाधीनता तथा धर्मरक्षा की भावनाएँ इसमें समन्वित हैं। यवनों के अत्याचार और शिवाजी के न्यायपूर्ण कार्यों का सूर्योदय दोनों का यथार्थ निरूपण करने में कवि को सफलता मिली है। मुख्य रस तो वीर है किन्तु अन्य रसों की भी उचित उद्भावना हुई है।

हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३ ई०)- गद्य-साहित्य में निबन्धशैली के जन्मदाता के रूप में ओरिएंटल कालेज, लाहौर के संस्कृत-प्राध्यापक पं० हृषीकेश भट्टाचार्य का नाम अमर है। ये जेसोर (बंगलादेश) जिले के धूलियापुर ग्राम के मूलनिवासी थे। 'विद्योदय' नामक मासिक पत्र का ४४ वर्षों तक इन्होंने सम्पादन किया था। सामयिक विषयों पर विनोदपूर्ण शैली में संस्कृत-निबन्ध लिखने से इन्हें विशेष ख्याति मिली। इनके निबन्धों का संग्रह 'प्रबन्धमञ्जरी' के नाम से १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन पद्मसिंह शर्मा एवं हरिदत्तशास्त्री ने किया था। इसमें कुल ११ निबन्ध संकलित हैं जिनमें काव्यात्मकता के कारण उद्भिज्ज-परिषद्, महारण्यपर्यवेक्षणम्, उदरदर्शनम् इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सरल शैली में लिखे गये इन निबन्धों में प्रसादपूर्ण भाव-प्रवाह, व्यङ्ग्य का समावेश, भाषा की सुषमा, मनुष्यों के विविध दोषों पर परोक्ष कटाक्षपात इत्यादि विशिष्टताएँ हैं। मानवों के दोषों पर अश्वत्थ का यह भाषण व्यंग्य का

उदाहरण है- 'मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टि:।.... जीवसृष्टिप्रवाहेषु मानवा इव परप्रतारका: स्वार्थसाधनपरा मायाविन: कपटव्यवहारकुशला नीचस्वभावा हिंसानिरता जीवा न विद्यन्ते। मनुष्याणां हिंसावृत्तिस्तु निरवधि:, पशुहत्या तु तेषामाक्रीडनम्। तेषां पशूपहारव्यापारमालोक्य जडानामप्यस्माकं विदीर्यते खलु हृदयम्।' (पृ० ४०-५८)।

क्षमाराव (१८९०-१९५४ ई०)[1]- आधुनिक संस्कृत लेखकों में क्षमाराव ने गद्य-पद्य-रचना के उत्कर्ष के कारण विशिष्ट ख्याति अर्जित की। इनके पिता शंकर पाण्डुरंग संस्कृत के विद्वान् थे किन्तु क्षमाराव की बालावस्था में ही उनका देहावसान हो गया था। विल्सन कालेज (बम्बई) में कुछ दिनों तक क्षमा राव ने अध्ययन किया था। इन्होंने संस्कृत में छोटी-बड़ी ५० पुस्तकें लिखी थीं जिनमें सात एकांकी, चार तीन- अंकवाले नाटक, चार पद्यमय जीवनचरित, ३५ लघुकथाएँ तथा विविध निबन्ध-ग्रन्थ हैं। कथापंचक (१९३३ ई०), ग्रामज्योति: (१९५४ ई०) तथा कथामुक्तावली (१९५६ ई०) इनकी गद्य-रचनाएँ हैं जो काव्यात्मक हैं। कई यात्रा-विवरण भी इन्होंने गद्य में लिखे जिनमें नगरों तथा दृश्यों के वर्णन प्राचीन शैली में हैं। इनपर महात्मा गाँधी का प्रभाव भी पर्याप्त था; सत्याग्रह-गीता, उत्तरसत्याग्रहगीता एवं तीन खण्डों में गाँधी-चरित की रचना से यह स्पष्ट है।

क्षमाराव का संस्कृत गद्य प्रवाहपूर्ण, अलंकृत तथा भावानुरूप है। अलंकारों के स्वाभाविक निवेश तथा शास्त्रज्ञान एवम् अनुभव से समन्वित विषयवस्तु को इन्होंने अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। समाज-सुधार की धारा इनकी सभी कथाओं में प्रवाहित है। कथामुक्तावली (पृ० ५१) में मोहमयी (मुम्बई) का यह सुन्दर वर्णन बाण की शैली की झलक प्रकट करता है- नगरीयममरावतीसौन्दर्याधरीकारिणी, वसुधातलनिखिलनगरीललामभूता,..... विपणीवातायन-रचितरुचिराम्बर-रजतहैमपात्ररत्नखचितालंकारादिभूषिता मां नितान्तं व्यमोहयत्।

आधुनिक गद्यकार- संस्कृतभाषा में गद्य-धारा का आज अनेक रूपों में प्रवाह दिखायी पड़ता है। साहित्यिकगद्य लघुकथाओं, उपन्यासों तथा निबन्धों के रूप में बहुसेवित है। नवलकिशोर कांकर (जयपुर), रामशरणत्रिपाठी, मेधाव्रताचार्य, श्रीमती राजम्मा, श्रीनारायणशास्त्री खिस्ते, श्रीपादशास्त्री हसूरकर, रामावतार शर्मा, टी० के० गणपति, महालिंग शास्त्री, मथुरादत्त दीक्षित, चारुदेवशास्त्री प्रभृति शताधिक लेखक-रत्नों ने बीसवीं शताब्दी में अपनी काव्यात्मक गद्य-रचनाओं से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की है। इनमें एक-एक का अनुशीलन स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है।

चम्पूकाव्य

काव्यात्मक गद्य में तत्सदृश पद्य का निवेश होने से 'चम्पू' नामक प्रबन्ध-काव्य निष्पन्न होता है। विश्वनाथ ने कहा है- **गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते** (साहित्यदर्पण ६/३३६)। एक आधुनिक विद्वान् हरिदास भट्टाचार्य ने इसकी कृत्रिम निरुक्ति दी है-चमत्कृत्य पुनाति, सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति। चम्पू में वर्णन के लिए गद्य और भावपूर्ण भाग के लिए पद्य

---

१. पण्डिताक्षमाराव के व्यक्तित्व और कृतियों पर शोध-प्रबन्ध लिखकर डॉ० कृष्णशर्मा ने सागर विश्वविद्यालय से पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की है।

का प्रयोग होता है। भोज ने रामायण-चम्पू के आरम्भ में कहा है कि गद्य के समावेश से पद्य की सूक्तियाँ उसी प्रकार रमणीय हो जाती हैं जैसे वाद्यकला से गीत सुन्दर हो जाता है-

गद्यानुबन्धरस-मिश्रित-पद्यसूक्ति-
हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।
तस्माद् दधातु कविमार्गजुषां सुखाय
चम्पू-प्रबन्धरचनां रसना मदीया॥ (१/३)

इसी प्रकार जीवन्धर-चम्पू (१/९) में गद्य-पद्य-मिश्रण को 'बाल्यतारुण्यवती कन्या' के समान कहा गया है। कोई इसे 'मधु-द्राक्षा-संयोग' कहते हैं तो कुछ की दृष्टि में चम्पू पद्मरागमणि और मुक्तामणि का संयोग है। गद्य की गरिमा और पद्य की माधुरी दोनों का आवर्जक संयोग चम्पू में ही संभव है।

गद्य-पद्य की मिश्रित रचना का आरम्भ वैदिकयुग से ही मिलता है। कृष्णयजुर्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसी शैली प्रचुर रूप से प्रयुक्त है। ऐतरेयब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान (३३वें अध्याय) में कथा का मुख्य रूप गद्य में है तो लम्बे उपदेश या संवाद पद्य (गाथा) में हैं। इसी प्रकार कठ, मुण्डक, प्रश्न आदि उपनिषदों में यह शैली प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य के बाद भागवत और विष्णुपुराण (चतुर्थ अंश), महाभारत आदि ग्रन्थों में गद्य-पद्य का मिश्रण मिलता है। बौद्ध जातक कथाओं में, अवदानशतक, दिव्यावदान, जातकमाला आदि ग्रन्थों में भी चम्पू-पद्धति का अनुसरण है। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख (३६० ई०) में लम्बे गद्य के दोनों ओर पद्यों की छटा हृदयावर्जक है। दण्डी ने काव्यादर्श में (६०० ई०) चम्पू का सर्वप्रथम शास्त्रीय विश्लेषण किया है-

गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते (काव्यादर्श १/३१)

चम्पू की चर्चा होने पर भी अभी जो चम्पूकाव्य मिले हैं वे ९०० ई० के बाद के ही हैं। वैसे काव्यात्मकता तथा शैली की दृष्टि से आर्यशूर-रचित 'जातकमाला' इसका प्राचीनतम रूप है किन्तु विषय-वस्तु की दृष्टि से यह 'नीतिकथा' के अन्तर्गत रखी जाती है।

त्रिविक्रमभट्ट (१०वीं शताब्दी ई०, पूर्वार्ध)

'नलचम्पू' नामक चम्पू-काव्य के रचयिता त्रिविक्रमभट्ट उपलब्ध चम्पूकारों में सर्वप्रथम हैं। इस काव्य के आरम्भ में इन्होंने अपना परिचय दिया है। शाण्डिल्य गोत्र के ब्राह्मण नेमादित्य के ये पुत्र थे। इनके आश्रयदाता राष्ट्रकूटवंशी राजा इन्द्रराज तृतीय थे जिनका राज्याभिषेक ९१५ ई० में हुआ था। राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्यखेट (बरार) में थी। इन्द्रराज ने कन्नौज-नरेश महीपाल को पराजित किया था। ९१५ ई० के अभिलेख की रचना भी त्रिविक्रम ने की थी।[1] अतः १०वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में राजशेखर के ये समकालिक थे। इस चम्पूकाव्य में इन्होंने अपने को मन्दधी (श्लोक २१), जाड्यपात्र (२०), परिश्रमी (२३) आदि कहा है जिससे अनुमान

१. एपिग्राफिया इंडिका, भाग-९, पृ० ३२ श्रीत्रिविक्रमभट्टेन नेमादित्यस्य सूनुना।
कृता शस्ता प्रशस्तेयमिन्द्रराजांघ्रिसेविना॥

किया गया है कि आरम्भ में ये मन्दबुद्धि रहे होंगे, कठिन परिश्रम से विद्यार्जन किया था। यद्यपि इन्होंने मार्कण्डेयपुराण के एक आख्यान (अध्याय १८-२२) पर आश्रित 'मदालसाचम्पू' की भी रचना की थी किन्तु 'नलचम्पू' के समान उसे प्रसिद्धि नहीं मिली। त्रिविक्रमभट्ट ने बाण की प्रशंसा की है तथा सर्वप्रथम इनके पद्य का उद्धरण राजा भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में दिया है (नल० ६/२९))। भोज ११वीं शताब्दी के थे।

नलचम्पू– यह सात उच्छ्वासों का चम्पूकाव्य है जिसमें नल-दमयन्ती की प्रणयकथा वर्णित है। ग्रन्थ अपूर्ण है क्योंकि देवताओं का संवाद लेकर नल दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचता है और दोनों परस्पर प्रेमासक्त हो जाते हैं– यहीं तक की कथा है, दोनों के विवाह तक की भी कथा नहीं है। इस चम्पूकाव्य में सभंगश्लेष के सुन्दर प्रयोग हैं जो सुबन्धु की 'वासवदत्ता' की अपेक्षा अधिक सरल तथा मञ्जुल हैं। मंगलाचरण के चतुर्थ पद्य में वाणी की तुलना गृहस्थ स्त्रियों से करते हुए श्लेष का सुमधुर प्रयोग किया है–

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ॥ (१/४)

कवि ने कहा है कि सभंगश्लेष के प्रयोग से वाणी कुछ कठिन हो जाती है किन्तु इससे उद्विग्न नहीं होना चाहिए ; कवि किसी एक रस को तो लेकर नहीं चलता।[1] रामायण की कथा की प्रशंसा में विरोधाभास का श्लेषानुप्राणित प्रयोग श्लाघ्य रूप से इन्होंने किया है–

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥ (१/११)

रामायण की कथा में खर और दूषण राक्षस तो हैं किन्तु कथा में प्रखरता तथा दूषण नहीं है। इसी प्रकार श्लेष द्वारा कुकवियों की तुलना बालकों से की गयी है –

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव ॥ (१/६)

कुकवि पद-न्यास में अप्रगल्भ (अनिपुण) हैं, बालक पैरों को ठीक से रख नहीं पाते; कुकवि मनुष्यों में काव्य के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर देते हैं (जन-नीराग) तो बालक अपनी जननी के राग (आकर्षण) के कारण हैं ; कुकवि बहुत बकवास करते हैं (बहुल+आलाप) तो बालक बहुत लार पीते रहते हैं (बहु+लाला+पाः)। इसमें श्लेषोपमा का सुन्दर प्रयोग है।

श्लेष भी सरल और सहज हैं; भाषा-शैली की सरलता भी नलचम्पू में हृदयावर्जक है जैसे- कथं चासौ स्वर्गात्र विशिष्यते ? यत्र गृहे गृहे गौर्यः स्त्रियः, महेश्वरो लोकः, सश्रीका हरयः, पदे पदे धनदाः सन्ति लोकपालाः। केवलं न सुराधिपो राजा, न च विनायकः कश्चित् (उच्छ्वास १)। आर्यावर्त स्वर्ग से बढ़कर है क्योंकि यहाँ घर-घर में गोरी स्त्रियाँ हैं (स्वर्ग में एक ही गौरी है), यहाँ महेश्वर अनेक हैं (स्वर्ग में तो एक ही हैं), यहाँ अनेक लक्ष्मीसहित हरि हैं, पद-पद पर

---

१. नलचम्पू १/१६ वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः।
नोद्वेगस्तत्र कर्तव्यो यस्मान्नैको रसः कवेः॥

धनद लोकपाल हैं (स्वर्ग मे चार ही हैं)। केवल यहाँ सुराधिप (मदिरा अधिक पीने वाले, देवों के स्वामी) राजा नहीं हैं; स्वर्ग में तो विनायक (गणेश) है; यहाँ कोई विनायक (नायक-रहित) नहीं है। शास्त्रीय विषयों को लेकर परिसंख्या का प्रयोग इस प्रकार है– स्फोटप्रवादो वैयाकरणेषु, ग्रहसंक्रान्तिः ज्योतिःशास्त्रेषु , भूतविकारवादः सांख्येषु , क्षयस्तिथिषु दृश्यते, न प्रजासु (उ० १)।

कवि ने एक स्थल पर (६/१) प्रातःकाल का वर्णन करते हुए रात्रि के काले अन्धकार और प्रातःकाल के प्रकाश की तुलना क्रमशः यमुना और गंगा के जल से की है, उदयगिरि दोनों का संगम-स्थल है। इस उपमा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर समीक्षकों ने त्रिविक्रम को 'यामुन-त्रिविक्रम' की उपाधि दी थी–

> **उदयगिरिगतायां प्राक्प्रभापाण्डुताया-**
> **मनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य।**
> **जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये**
> **सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च॥**

हरिश्चन्द्रकृत जीवन्धरचम्पू– गुणभद्ररचित उत्तरपुराण (रचनाकाल ८९७ ई०) में वर्णित जीवन्धर-कथा को हरिश्चन्द्र ने चम्पू के रूप में लिखा है। इस चम्पू पर माघ तथा वाक्पति का पुष्कल प्रभाव है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को सरलरूप में रखने में कवि को यहा सफलता मिली है। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से इसका प्रकाशन (१९५८ ई०) हुआ था।

सोमदेवकृत यशस्तिलकचम्पू– जैन कवि सोमदेवसूरि ने इस चम्पूकाव्य की रचना ९५९ ई० में की थी। इनके समकालिक पुष्पदन्त ने इसी विषय पर (राजा यशोधर के जीवन-वृत्त पर) अपभ्रंश-काव्य 'जसहरचरिउ' लिखा था। राजा यशोधर जैन पुराण में वर्णित हैं। सोमदेव राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण के सामन्त चालुक्य-राज अरिकेसरी तृतीय के आश्रित कवि थे। चम्पू में आठ आश्वास हैं जिनमें प्रथम पाँच में तो यशोधर के आठ जन्मों की कथाएँ है, शेष तीन में जैनधर्म के सामान्य उपदेश हैं। इन अन्तिम आश्वासों को 'श्रावकाध्ययन' कहते हैं। कादम्बरी की गद्यशैली के अतिरिक्त कई जन्मों की कथाओं का भी अनुकरण सोमदेव ने किया है। वर्णनों के विस्तार में कहीं-कहीं कथा-सूत्र उलझ भी गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस से दो खण्डों में श्रुतसागर-टीका के साथ हुआ था। इस पर कई शोधकार्य भी सांस्कृतिक पक्षों को लेकर हुए हैं।[1] नायक यशोधर का शुभ्र चरित्र, उसकी पत्नी की धूर्तता, राजा की मृत्यु तथा आठ जन्मों में विभिन्न योनियों में भ्रमण करके अन्ततः जैनधर्म में दीक्षा लेने का कथानक अलंकृत शैली में वर्णित है। इसीलिए इसका सांस्कृतिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है।

भोजकृत रामायणचम्पू[2]– धारानरेश भोजदेव (१००५-१०५४ ई०) ने रामायण की कथा पर आश्रित इस चम्पूकाव्य को किष्किन्धाकाण्ड तक लिखा था, लक्ष्मणसूरि ने युद्धकाण्ड

---

१. डॉ० के० के० हान्दिकी– Yasastilaka and Indian Culture, Sholapur (1949); डॉ० गोकुलचन्द्र जैन – यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, काशी (१९६९ ई०)।

२. संस्कृतव्याख्या-सहित निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से इसका 'साहित्यिक परिशीलन' (ले०-डॉ० करुणा श्रीवास्तव) प्रकाशित है (१९६८ ई०)।

तक तथा वेंकटराज ने उत्तरकाण्ड जोड़कर इसे पूरा किया। ग्रन्थ की शैली सरल, प्रसादपूर्ण तथा प्रवाहयुक्त है। इसके आरम्भ में वाल्मीकि की प्रशंसा की गयी है— **मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः**। कलापक्ष के कारण यह उत्कृष्ट चम्पूग्रन्थों में मान्य है।

सोड्ढलकृत उदयसुन्दरीकथा— गद्य-पद्यात्मक होने के कारण इसे चम्पू के अन्तर्गत रखते हैं अन्यथा यह बाणकृत हर्षचरित के अनुकरण पर लिखी गयी है। सोड्ढल कवि गुजरात के कायस्थ थे। इन्होंने गुजरात के शासक चालुक्यराज वत्सराज की प्रेरणा से यह कथा लिखी थी। वत्सराज का राज्यकाल १०२६-१०६० ई० है, अतः ये ११वीं शताब्दी के लेखक थे। 'उदयसुन्दरीकथा' आठ उच्छ्वासों में विभक्त है। इसमें नागराजकुमारी उदयसुन्दरी तथा प्रतिष्ठान के राजा मलयवाहन के विवाह का वर्णन है। बाण के अनुकरण पर पूर्वकवियों की प्रशस्ति के रूप में सोड्ढल ने भी २५ पद्य दिये हैं। बाण के विषय में इन्होंने लिखा है—

> **बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य**
> **शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति ।**

अनन्तभट्ट का भारतचम्पू (१५वीं शताब्दी)— महाभारत की कथा पर आश्रित 'भारतचम्पू' की रचना अनन्तभट्ट नामक दाक्षिणात्य कवि ने १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में की थी। इनका उल्लेख नारायणभट्ट (१६०२ ई०) ने किया है। अपने वर्ग के (महाभारताश्रित) चम्पूकाव्यों में 'भारतचम्पू' श्रेष्ठ रचना है। इसमें १२ स्तबक १०४१ पद्य तथा २०० से अधिक गद्यखण्ड हैं। वैदर्भी शैली में रचित इस काव्य की भाषा सरल और सरस भी है। वीररस का उद्रेक इसमें प्रधानतया किया गया है। भावों के चित्रण में कवि के चमत्कारी पद्य का एक उदाहरण दिया जाता है—

> **कन्याकरं मृद्नति पादपद्मं पुष्यन्ति गात्रे पुलकांकुराणि ।**
> **हरे हरे माधव माधवेति हरिस्मृतेरन्यथयांचकार ।।** (३/६८)

सुभद्रा यतिवेषधारी अर्जुन के पैर दबाती है तो उनके शरीर में रोमांच हो रहे हैं, उस समय अर्जुन 'हरे हरे' कहकर हरिस्मरण से रोमांच होने का भाव दिखाते हैं। इस प्रकार भावगोपन का सुन्दर प्रकार प्रकट किया गया है।

तिरुमलाम्बा की वरदाम्बिकापरिणयचम्पू— विजयनगर-नरेश अच्युतराय (शासनकाल १५२९-४२ ई०) की रानी तिरुमलाम्बा ने अपने पति अच्युतराय तथा वरदाम्बिका के प्रणय तथा परिणय की कथा इस चम्पूकाव्य में वर्णित की है। लेखिका ने वरदाम्बिका के रूप में अपने आप को इसमें रखा है। इसमें पद्यों से अधिक गद्य-खण्ड ही हैं। काव्य के आरम्भिक अंश में अच्युतराय के पिता राजा नृसिंह की दक्षिण- विजय का विस्तृत वर्णन है। सिंहासनारूढ होने पर अच्युतराय ने कात्यायनी देवी के मन्दिर में एक लावण्यवती कन्या वरदाम्बिका को देखा तो उसपर मुग्ध हो गये और उसीसे विवाह किया। इस लघुकाय कथानक को लेखिका ने कल्पना और प्रतिभा से पल्लवित किया है। वीर, शृंगार, अद्भुत आदि रसों के उद्भावन में लेखिका का कौशल श्लाघनीय है।

इस चम्पू की पाण्डुलिपि डॉ० लक्ष्मण सरूप को १९२४ ई० में तंजोर पुस्तकालय से मिली

थी। डॉ० सरूप तथा डॉ० हरिदत्तशास्त्री ने १९३२ ई० में इसे प्रकाशित किया था।[1] संस्कृत में स्त्रियों के योगदान का इस चम्पू से परिचय मिलता है। यह ऐतिहासिक वृत्त पर आश्रित है। इसका विभाजन खण्डों में नहीं है, पूरा काव्य एकप्रकरणात्मक है।

कर्णपूर-कृत आनन्दवृन्दावनचम्पू (१६वीं शताब्दी)[2]— यह चम्पूकाव्य भगवान् कृष्ण की लीलाओं का वर्णन २२ स्तबकों में प्रस्तुत करता है। विस्तार तथा काव्यकला के प्रयोग में यह चम्पूकाव्यों में अग्रणी है। कृष्ण की बाललीलाओं की अपेक्षा उनकी ललित क्रीडाओं का इसमें अधिक वर्णन है। होली, दोला और रास के उत्सवों का वर्णन इसके अन्तिम खण्डों में है। भागवतपुराण की भक्ति-भावना का इसमें प्रकर्ष दिखाया गया है। राधा के अलंकरण में स्वयं वृन्दावन की चातुरी का वर्णन इस प्रकार है—

> **कचौघे पुन्नागं बकुलमुकुलानि भ्रमरके-**
> **ष्वशोकं सीमन्ते श्रवसि सहकारस्य कलिकाः।**
> **स्तनाग्रे वासन्तीकुसुमदलमालेति कुसुमैः**
> **स्वयं वृन्दा राधां सपदि मुमुदेऽलंकृतवती।।**

कर्णपूर चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित प्रतिभावान् भक्त कवि थे जिन्होंने अपनी भक्ति, अनुभूति तथा प्रतिभा से समन्वित कल्पना का इसके पद-पद में निवेश किया है।

वेंकटाध्वरी के चम्पूकाव्य— यज्वा या अध्वरी की उपाधि से विभूषित कवि वेंकट का समय १६५० ई० के आसपास माना गया है। ये रघुनाथ और सीताम्बरा के पुत्र थे। ये कांची (तमिलनाडु) के निवासी थे। इन्होंने नाटक, स्तोत्र तथा यादवराघवीय जैसा द्विसन्धान-काव्य भी लिखा था। जनश्रुति है कि १००० पद्यों का लक्ष्मीस्तोत्र इन्होंने एक ही रात में लिख डाला था। इनके चार चम्पूकाव्य मिलते हैं- विश्वगुणादर्शचम्पू , वरदाभ्युदयचम्पू , उत्तरचम्पू तथा श्रीनिवासविलासचम्पू। इनमें अन्तिम चम्पू को इनकी रचना मानने में सन्देह किया गया है। 'विश्वगुणादर्शचम्पू' में दो गन्धर्वों की विमान-यात्रा का वर्णन है। ये गन्धर्व हैं- विश्वावसु और कृशानु। इनमें विश्वावसु सभी विषयों में गुण देखता है किन्तु कृशानु दोष पर ही ध्यान देता है। दोनों भारत के तीर्थों का भ्रमण करते हुए वाद-विवाद करते हैं। इस प्रकार संवाद-शैली का इसमें सुन्दर प्रयोग है। उस युग की धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की इसमें प्रखर आलोचना है। वैष्णव वेदान्तियों पर भी तीक्ष्ण प्रहार किया गया है। पुरोहित, ज्योतिषी, संगीतज्ञ, वैद्य आदि की प्रभूत निन्दा की गयी है। साहित्यिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से इसका महत्त्व है। 'वरदाभ्युदयचम्पू' काञ्ची के देवता लक्ष्मी और नारायण के विवाह-वर्णन से सम्बद्ध है। इसमें गद्य का प्राचुर्य है। 'उत्तरचम्पू' रामायण के उत्तरकाण्ड के विषयों का वर्णन करती है। रावणचरित का वर्णन अधिक है। 'श्रीनिवासचम्पू' में तिरुपति के बालाजी की प्रशस्ति है।

---

१. डॉ० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित इसका एक संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ चौखम्भा से भी प्रकाशित है (वाराणसी, १९७० ई०)।

२. देवकीनन्दन प्रेस (वृन्दावन) से दो खण्डों में प्रकाशित (१९०४ ई०)।

अन्य चम्पूकाव्य

गद्य और पद्य का मिश्रण होने से चम्पूकाव्य संस्कृत लेखकों के आकर्षण का विषय रहा है, कवियों को गद्य-पद्य दोनों में लेखन-कौशल दिखाने का अवसर इसी में मिलता है। अतएव सूचीपत्रों में २५० से अधिक चम्पुओं के लिखे जाने की सूचना है। चम्पूकाव्यों के विषय जीवनचरित, यात्रावर्णन, युद्धवर्णन, विवाह, भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन, दार्शनिक विवाद, राजसभा-वर्णन आदि अनेक प्रकार के हैं। कुछ सत्य घटनाओं पर आश्रित हैं तो कुछ सर्वथा पौराणिक या काल्पनिक हैं।

तेरहवीं शताब्दी ई० में आशाधरसूरि (१२४३ ई०) ने जैन तीर्थंकर आदिनाथ के पुत्र भरत के जीवन पर 'भारतेश्वराभ्युदयचम्पू', अर्हद्दास ने 'पुरुदेवचम्पू' और दिवाकर ने 'अमोघराघवचम्पू' लिखी। चौदहवीं शताब्दी ई० के अहोबलसूरि ने 'यतिराज-विजय' तथा 'विरूपाक्षवसन्तोत्सव' नामक दो चम्पूकाव्य लिखे। 'रुक्मिणीपरिणय' की रचना इसी समय अमलाचार्य ने की। शेषकृष्ण ने 'पारिजातहरण', बल्लीसहाय ने 'शंकरदिग्विजय', चिदम्बर ने 'भागवतचम्पू', दैवज्ञ सूर्य ने 'नृसिंहचम्पू', कृष्णकवि ने 'मन्दारमरन्द', चिरंजीव भट्टाचार्य ने 'विद्वन्मोदतरंगिणी' और 'माधवचम्पू', पद्मनाभ ने रीवाँ-राज्य के वर्णन में 'वीरभद्रदेवचम्पू' (१५७७ ई०) एवं केरलीय कवि नारायणभट्ट (१५६०-१६२६ ई०) ने विविध पौराणिक विषयों पर 'मत्स्यावतार', 'पाञ्चालीस्वयंवर' आदि १४ चम्पूकाव्य रचे (ये सभी १६वीं शताब्दी के कवि हैं)।

सत्रहवीं शताब्दी ई० में मित्रमिश्र ने भागवत के दशमस्कन्ध पर आश्रित 'आनन्दकन्दचम्पू' (गौडीरीतिप्रधान), नीलकण्ठ दीक्षित (१६३७ ई०) ने पाँच आश्वासों में 'नीलकण्ठविजयचम्पू', चक्रकवि ने (१६५० के लगभग) 'द्रौपदीपरिणय', राजचूडामणि दीक्षित ने 'भारतचम्पू', धर्मराज ने 'वेंकटेशचम्पू' और नल्लादीक्षित ने 'धर्मविजयचम्पू' की रचना की। शंकरकवि (१७७० ई०) ने 'शंकरचेतोविलास' (काशी के चेतसिंह का वर्णन) तथा 'गंगावतरण', रीवाँ-नरेश विश्वनाथ सिंह (१७२१ से १७४० ई० तक राज्यकाल) ने आठ परिच्छेदों में 'रामचन्द्रचम्पू', श्रीनिवासकवि ने 'आनन्दचम्पू' (तमिल राजपुरुष आनन्दरंग पिल्ले का जीवन, १७५२ ई० में)[1], कृष्णानन्द ने 'सुदर्शनचम्पू', सदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर ने १९२९ ई० में सिन्धिया-नरेश की प्रशंसा में 'सिन्देविजयविलास', रघुनन्दन त्रिपाठी ने १९३७ ई० में 'हरिहरचरित' नामक चम्पूकाव्य लिखे। इस प्रकार इस काव्यविधा की तरंगिणी सदा प्रवाहित रही है।

---

१. इसमें प्रारम्भिक अंग्रेजी शासन-काल का वर्णन है। नायक आनन्दरंग पिल्ले ने फ्रेंच-शासक डूप्ले की सहायता अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में की थी। दक्षिणभारत की तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियों का ऐसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। नायक ने पाण्डिचेरी में एक विशाल भवन बनवाया था जिसपर एक घड़ी लगी थी। फ्रेंचशासक को कवि ने 'हूणराज' कहा है। आचार्य बलदेव उपाध्याय- सं० सा० इति० (१९९०), ४२५-६।

अध्याय-१६

लोककथा और नीतिकथा

उद्भव

संस्कृत भाषा में कथा-साहित्य का विकास दो दृष्टियों हुआ है-शुद्ध मनोरञ्जन एवं नैतिक उपदेश। इसीलिए दो प्रकार की कथाएँ यहाँ प्राप्त होती हैं। जो कथाएँ शुद्ध मनोरञ्जन के लिए विकसित हुई हैं वे 'लोककथा' (Popular Tales, Folk Tales) कही जाती हैं - इनमें बहुधा अद्भुत वृत्तान्त समाविष्ट होते हैं। दूसरी ओर कुछ कथाएँ नवशिक्षुओं को या सामान्य लोगों को नैतिक-धार्मिक उपदेश देने के लिए विकसित हुई हैं उन्हें 'नीतिकथा' (Didactic Tales) कहते हैं। इन कथाओं में प्राय: पशु-पक्षियों से सम्बद्ध कथाएँ दी गयी हैं जिनसे मनुष्य उपदेश ग्रहण कर सके कि जब पशु-पक्षी ऐसी बुद्धिमत्ता दिखा सकते हैं तब मनुष्यों को भी उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। पशु-पक्षियों की प्रधानता के कारण इन्हें 'पशुकथा' (Fables) भी कहते हैं। इन सभी कथाओं में कुतूहल और रोचकता के लिए छल-प्रपंच, प्रेम, विश्वासघात, स्वामिभक्ति, धर्म, नीति, स्त्री-पुरुषों के व्यवहार, सदाचार, उत्साहवर्धक कार्य आदि का वर्णन मिलता है जिनसे मनोरंजन और आचरण की शिक्षा मिलती है। ये कथाएँ सरल संस्कृत में लिखी गयी हैं जिससे संस्कृत सीखनेवालों को भाषा की शिक्षा के साथ कल्पना के विस्तारण के लिए उचित परिवेश प्रदान किया जाता है। शताब्दियों से कथा कहनेवालों और सुननेवालों की परम्परा सभी देशों में रही है - भारत तो सबका गुरु ही रहा है। यहाँ से विविध कथाएँ विभिन्न देशों में पहुँची हैं।

कथा का बीज वैदिक वाङ्मय में विस्तृत रूप से मिलता है। पुरूरवा-उर्वशी-संवाद, सरमा-पणि-संवाद, विश्वामित्र-नदी-संवाद आदि सूक्तों में तात्कालिक कथाओं को संवादों में प्रस्तुत किया गया है। बृहद्देवता में अनेक देवताओं से सम्बद्ध रोचक कथाएँ दी गयी हैं। निरुक्त में यास्क ने कई स्थलों पर 'अत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर सत्यकथाएँ प्रस्तुत की हैं जो उनके समय में परम्परा से चली आ रही थीं। उपनिषदों में भी जीव-जन्तुओं की कथाएँ कुछ विशिष्ट उद्देश्य से दी गयी हैं जैसे - कुत्तों के द्वारा अपने नेता का चुनाव (छान्दोग्य० १/१२/२), दो हंसों के वार्तालाप से रैक्व का ध्यान टूटना (वहीं ४/१), जबाला-पुत्र सत्यकाम को बैल, हंस तथा मद्गु (एक जलपक्षी) द्वारा उपदेश मिलना (वहीं ४/५-८) इत्यादि। उपनिषदों की अन्य कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं जैसे-यम-नचिकेता, हैमवती उमा आदि की कथाएँ। महाभारत तथा पुराण-साहित्य तो कथाओं के अक्षय कोश हैं। यहाँ लोककथाओं और पशुकथाओं को धार्मिक-नैतिक रूप दिया गया है। सोने के अंडे देनेवाली चिड़िया, धूर्त मार्जार, चतुर शृगाल, श्वान, गज-कच्छप आदि महाभारतीय कथाएँ सुप्रसिद्ध हैं। बौद्ध जातक कथाएँ (प्राय: ५५० संख्या में) पालिसाहित्य में प्रसिद्ध हैं। जैनों ने भी अपने कथा-साहित्य का पर्याप्त विकास किया था। हरिषेण के बृहत्कथाकोश (९३२ ई०) में एक-एक जैन सिद्धान्त का प्रतिपादन पृथक्-पृथक् कथाओं में किया गया है। इस प्रकार कथा-साहित्य की समृद्ध परम्परा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में उपदेशों को रोचक बनाने के लिए ईसापूर्व में ही विकसित हो चुकी थी।

लोककथाएँ

यह संस्कृत साहित्य का दुर्भाग्य है कि लोककथाएँ मुख्यत: पैशाचीग्रन्थ गुणाढ्यरचित बृहत्कथा (बड्डुकहा) पर आश्रित हैं, मौलिक रूप से लोककथाएँ संस्कृत में नहीं लिखी गयीं, जो लिखी भी गयीं वे बहुत बाद की हैं। स्पष्टत: लोककथाओं का विकास तब हुआ जब संस्कृत जन-सामान्य की भाषा नहीं रही थी। यह भी संभव है कि ब्राह्मणों के शुद्धिवादी युग में निम्न वर्गों में कही-सुनी जाने वाली इन कथाओं की उपेक्षा हुई और संस्कृत के स्थान पर प्राकृत में ही उन्हें शरण मिली। बाद में संस्कृत-जगत् को अपनी भूल का बोध हुआ तो संस्कृत-कवियों ने प्राकृत भाषा की कथाओं का संस्कृत रूपान्तरण आरम्भ किया।

बृहत्कथा— लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह गुणाढ्य के द्वारा 'बृहत्कथा' में किया गया था। यह पैशाची प्राकृत में लिखी गयी थी। इसका रचना-काल पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० है। इसके एक संस्कृत संस्करण 'कथासरित्सागर' के आरम्भ में इसकी रचना की परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन है कि सातवाहन-नरेश की राजसभा में संस्कृत भाषा सिखाने की एक बाजी में हार जाने के कारण गुणाढ्य को संस्कृत बोलना छोड़ देना पड़ा एवं विषण्णहृदय होकर वे विन्ध्याटवी में पशु-पक्षियों को पैशाची भाषा में कथाएँ सुनाने लगे। उन्हीं कथाओं में कुछ कथाएँ बच गयीं और एक लाख पद्यों की 'बृहत्कथा' कहलायी। सातवाहन राजाओं के काल के आधार पर ब्यूलर ने उक्त काल का निर्धारण किया। कीथ ने कहा है कि इस ग्रन्थ का काल चतुर्थ शताब्दी ई० के पूर्व ही होगा।

इस समय बृहत्कथा उपलब्ध नहीं है। सम्भवत: ११०० ई० के आसपास यह लिपिकारों की उपेक्षा के कारण लुप्त हो गयी, उसके कुछ ही वर्ष पूर्व इसका अन्तिम संस्करण (१०७० ई०) संस्कृत में हुआ था। यह इतना बड़ा संस्करण था कि इसके बाद मूल प्राकृत ग्रन्थ की रक्षा का किसी को ध्यान नहीं रहा। इस तिथि के पूर्व तक अनेक संस्कृत कवियों ने बृहत्कथा की प्रशंसा की थी जैसे- सुबन्धु, बाण[1], त्रिविक्रमभट्ट[2], धनपाल[3], गोवर्धनाचार्य[4] इत्यादि। कवियों ने रामायण और महाभारत के समान बृहत्कथा को उपजीव्य बनाकर अनेक संस्कृत रचनाएँ की थीं। बृहत्कथा में एक मुख्य कथा कौशाम्बीनरेश उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त की थी जिसने विद्याधर-राजकुमारी मदनमञ्जुका से विवाह किया। नायिका के अपहरण के बाद नायक ने पराक्रम दिखाये। इसके अतिरिक्त अन्य अवान्तर कथाएँ भी थीं। ये सूचनाएँ संस्कृत संस्करणों से प्राप्त होती हैं। बाद में शिव-पार्वती की कथा को जोड़कर इसे पौराणिक रूप दिया गया।

---

१. **हर्षचरित १/१७** समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा।।

२. **नलचम्पू १/१४** शश्वद् बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
धनुषेव गुणाढ्येन नि:शेषो रञ्जितो जन:।।

३. **तिलकमंजरी (श्लो० २१)** मन्ये बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय निर्मिता:।
तेनेतरकथा: कन्था न विभान्ति तदग्रत:।।

४. **आर्यासप्तशती १/३३** अतिदीर्घजीवदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्य: स एव जन्मान्तरापन्न:।।

बृहत्कथा की तीन वाचनाएँ (recensions) इस समय उपलब्ध हैं जो पृथक्-पृथक् चार ग्रन्थों के रूप में हैं:- (१) नेपालीवाचना बुधस्वामी कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के रूप में, (२) प्राकृत वाचना संघदासगणि कृत 'वसुदेवहिण्डी' के रूप में तथा (३) कश्मीरी वाचना क्षेमेन्द्रकृत 'बृहत्कथामञ्जरी' और सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' के रूप में। संस्कृत वाचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

(१) बृहत्कथाश्लोकसंग्रह[1]

बृहत्कथा की नेपाली वाचना का एकमात्र प्रतिनिधि यही ग्रन्थ है, सभी वाचनाओं में कालगत प्राथम्य के कारण यह महत्त्वपूर्ण है। इसे नेपाल से हरप्रसाद शास्त्री ने १८९३ ई० में प्राप्त किया था।[2] इसका विभाजन सर्गों में हुआ है; २८ सर्ग प्राप्त हुए हैं जिनमें ४५३९ श्लोक हैं। ग्रन्थ अपूर्ण ही रहगया है। १९०८ ई० में पेरिस से डॉ० लाकोत ने फ्रेंच अनुवाद के साथ इसे प्रकाशित किया था, सभी भारतीय संस्करण इसी पर आश्रित हैं। लाकोत ने कल्पना की है कि इसमें नायक नरवाहन दत्त अपनी अठाईस पत्नियों की प्राप्ति का वृत्तान्त अवश्य सुनाता किन्तु ग्रन्थान्त में वह छठी पत्नी के वृत्तान्त तक ही पहुँचता है। जिस क्रम और विस्तार से इन पत्नियों के वृत्तान्त हैं वह क्रम आगे चलता और अन्त में साम्राज्य-स्थापना की कथा होती तो इसमें १०० सर्ग और पचीस सहस्र पद्य होते।[3]

इसमें मुख्य कथा (नरवाहनदत्त की कथा) चतुर्थसर्ग से आरम्भ होती है। इसकी पूर्वपीठिका आरम्भिक सर्गों में है। इसमें न तो गुणाढ्य के परिचय से सम्बद्ध कथापीठ है और न लेखक का आत्मनिवेदन है- अन्यवाचनाओं से यह इस विषय में भिन्न है। मूलकथा को काव्यरूप देने का कवि ने प्रयास किया है। इसमें काव्यत्व की छटा सर्वत्र दिखाई पड़ती है। जैसे—

कृष्णाजिनाम्बरधरः कृतकेशनाशः
स्कन्धावसक्तकरको नृपतिः पुराणः।
अध्यासितं मुनिवरैः सह काश्यपेन
मन्दस्पृहोऽसितगिरि तपसे जगाम॥ (२/९३)

भाषा का प्रवाह, अलंकारों का संयत प्रयोग एवं सरल शैली-ये कथा के वैशिष्ट्य हैं। लगता है कि आर्यशूर की जातकमाला से बुधस्वामी ने प्रेरणा लेकर इसकी रचना की थी। दोनों ने संस्कृत में पालि प्राकृत के काव्यात्मक रूपान्तरण का श्लाघ्य प्रयास किया था। इसमें तात्कालिक वाणिज्य, राजनीति, नगरजीवन, यात्रा आदि की विस्तृत सामग्री है।

---

१. संस्करण- (क) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत अंग्रेजी समीक्षा के साथ मूल, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, (१९७४), (ख) अंग्रेजी अनुवाद सहित मूल, डॉ० रामप्रकाश पोद्दार एवं नीलिमा सिन्हा (सं० तथा अनुवादक), तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी (१९८६), (ग) केवल हिन्दी अनुवाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (१९९५)। इस पर मेरे निर्देशन में पीएच्० डी० का कार्य हुआ है (पटना विश्व०, १९९१)।

२. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, खण्ड ६२, पृ० २४५ (१८९३ ई०)।

३. M. Krishnamacharya- **History of Classical Sanskrit Literature**, p. 418.

लाकोत ने बुधस्वामी का समय छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी ई० के बीच माना है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि गुप्तनरेशों के गौरवमय स्वर्णयुग की छटा मिलने से इसे पंचम शताब्दी ई० में मानना उचित है। बृहत्कथा की प्राकृतवाचना 'वसुदेवहिण्डी' (५०० ई०) पर इसका प्रभाव दिखाकर यह मत समर्थित होता है। आर्यशूर और बुधस्वामी का सम्बन्ध (या समकालिकत्व) दिखाकर इस कथा का काल ३००-४०० ई० माना जा सकता है।

इस कथासंग्रह की रचना के एक सौ वर्षों के भीतर ही जैन लेखक संघदासगणि ने माहाराष्ट्री प्राकृत गद्य में 'वसुदेवहिण्डी' नामक कथाग्रन्थ लिखा। इसमें कृष्ण के पिता वसुदेव को नायक बनाकर उनके २९ विवाहों की कथा इतने ही लम्भकों में कही गयी है। प्रद्युम्न के पूछने पर वसुदेव अपने विवाहों का वर्णन वृद्धावस्था में करते हैं। इसमें छह प्रकरण हैं। दूसरा प्रकरण (धम्मिल्लहिण्डी) आगन्तुक कथा के रूप में है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का एक पूरक ग्रन्थ भी धर्मदासगणि के द्वारा वसुदेवहिण्डी के ही नाम से है जिसे 'मध्यखण्ड' कहा जाता है। मूल वसुदेव-हिण्डी के १८वें लम्भक के बाद ७१ लम्भकों का यह मध्यम खण्ड जुड़ कर पूरी कथा को १०० लम्भकों का बना देता है। इस प्रकार वसुदेव के रहस्य-रोमांचपूर्ण १०० विवाहों की कथाएँ इस प्राकृत वाचना में प्रस्तुत हैं। डॉ० आल्सडोर्फ ने वसुदेवहिण्डी में बृहत्कथा के मूल रूप की खोज की संभावना प्रकट की है।[1]

(२) बृहत्कथामञ्जरी

संस्कृत वाङ्मय को अपनी ४० कृतियों से भरने वाले कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथा की कश्मीरी वाचना को अपनी इस महती कृति में प्रकट किया है। क्षेमेन्द्र कश्मीरनरेश अनन्त (१०२९-६४ ई० शासनकाल) की राजसभा में कवि थे। इनकी 'भारतमंजरी' का रचनाकाल १०३७ ई० है और 'बृहत्कथामंजरी' भी प्राय: इसी के आसपास लिखी गयी थी।[2] क्षेमेन्द्र का कथन है कि भगवान् शंकर के मुख से निर्गत लोकानुग्रहकारिणी कथा दुर्भाग्यवश पैशाचवाणी में चली गयी जिससे विघ्न होने लगे। इसीलिए उस सुखद कथा को संस्कृत रूप मैंने दिया है-

सेयं हरमुखोद्गीर्णा कथानुग्रहकारिणी।
पैशाचवाचि पतिता संजाता विघ्नदायिनी।
अत: सुखनिषेव्यासौ कृता संस्कृतया गिरा॥

(उपसंहार २९-३०, पृ० ६११)

'बृहत्कथामंजरी'[3] अठारह लम्बकों (या खण्डों) में विभक्त प्राय: सात सहस्र पद्यों का ग्रन्थ है। 'लम्बक' शब्द मूलत: 'लम्भक' होगा जिनमें बृहत्कथा का विभाजन था। प्रत्येक लम्भक

---

१. Dr. Alsdorf - **Apabhramsa Studien**, Leipzieg (1937) referred to in Mittal's **Encyclopaedia of Indian Literature**, p. 473.

२. Winternitz - Hist. of Indian Literature, vol. III, Pt. I, p. 387

३. संस्करण- निर्णयसागर प्रेस से काव्यमाला सं० ६९ में १९०१ ई०, १९३१ (पुन: संस्करण); पुनर्मुद्रण पाणिनि, दिल्ली १९८२ ई०। इसके अनुवाद की सूचना नहीं है। कीथ के 'इतिहास' (हिन्दी) में पृ० ३४३-४८ तक समीक्षा।

में एक कन्या-प्राप्ति की कथा थी। क्षेमेन्द्र ने लम्बकों को यत्र-तत्र गुच्छों में विभक्त किया है। लम्बकों के नाम हैं—कथापीठ, कथामुख, लावानक, नरवाहनजन्म, चतुर्दारिका, सूर्यप्रभ, मदनमंचुका, वेला, शशांकवती, विषमशील, मदिरावती, पद्मावती, पञ्च, रत्नप्रभा, अलंकारवती, शक्तियशा, महाभिषेक तथा सुरतमञ्जरी। अन्त में उपसंहार के ४१ श्लोकों में अनुक्रमणिका, लम्बकसूची तथा ग्रन्थरचना का उद्देश्य भी दिया गया है। नवम लम्बक (शशांकवती) में २५ वेतालकथाएँ हैं जो पृथक् रूप से 'वेतालपंचविंशति' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

कथाओं को अत्यधिक संक्षिप्त करने के कारण कहीं-कहीं अस्पष्टता तथा रिक्तता के दोष आये हैं जिनसे उनकी रोचकता प्रभावित हुई है किन्तु दूसरी ओर काव्य-प्रभाव डालने के लिए प्रकृति-वर्णन और रसोद्भावन की कल्पना भी कवि ने की है। नायक नरवाहनदत्त अनेक प्रतिस्पर्धियों को परास्त करके गन्धर्वों का चक्रवर्ती बनता है। पट्टमहिषी मदनमंचुका (कलिंगराजकुमारी) है किन्तु नायक अनेक गन्धर्वसुन्दरियों से विवाह करता है, मदनमंचुका से विवाह के पूर्व भी उसके चार परिणय हो चुके रहते हैं। जहाँ-तहाँ कवि ने देवस्तुतियाँ दी हैं जिनमें एक है-नारायणस्तुति (१५/१९८ के बाद) जो १३ पंक्तियों के सरल-क्लिष्ट गद्य में है। कहीं-कहीं क्षेमेन्द्र अपने स्वभावसिद्ध उपदेशकरूप को सूक्तियों में प्रकट करते हैं जैसे—

> **विपत्सु च कुलीनानां वियोगेषु च धीमताम् ।**
> **पराजये च शूराणां वृत्तिरेका तपोवनम् ।।** (१७/३५, पृ०५९७)

सभी कथाओं के साथ उपदेश-वाक्य प्राय: जोड़े गये हैं। हास्य-व्यंग्य और दार्शनिक रहस्यों का अनावरण तो कवि की सार्वत्रिक विशिष्टता ही है।

(३) कथासरित्सागर[१]

बृहत्कथा का यह अर्वाचीनतम और विशालतम संस्कृत संस्करण है। इसकी रचना कश्मीरी पण्डित सोमदेव ने कश्मीरनरेश अनन्त की पत्नी सूर्यवती के मनोविनोदार्थ १०६४ और १०८१ ई० के बीच की थी। इसीसे इसे प्राय: १०७० ई० में रचित माना जाता है। बृहत्कथामंजरी की रचना के ३०-३५ वर्षों के बाद यह लिखा गया। 'मंजरी' के समान यह भी १८ लम्बकों में विभक्त है, ये पुन: १२४ तरंगों में भी विभक्त है। इसमें २१३८८ श्लोक हैं जिनमें ७६१ पद्य बड़े छन्दों में हैं, शेष सरल, प्रवाहपूर्ण भाषा-शैली के परिचायक अनुष्टुप् में हैं। इसकी लोकप्रियता भी मूल बृहत्कथा के लोप का कारण रही होगी।[२] इसमें लम्बकों का क्रम बृहत्कथामंजरी में गृहीत क्रम से कुछ भिन्न है। जैसे पद्मावती और विषमशील नामक लम्बक इसमें अन्त में हैं, 'सुरतमंजरी' को १६वाँ लम्बक रखा गया है।

---

१. संस्करण- निर्णयसागरप्रेस, १९०३; मोतीलाल द्वारा पुनर्मुद्रण। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से ३ खण्डों में हिन्दी अनुवाद-सहित प्रकाशन; अंग्रेजी अनुवाद- सी० एच्० टाउनी १० खंड, बिब्लियोथिका इंडिका, १८८०-८४ ई०। इसका दिल्ली से मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सुरुचिपूर्ण पुनर्मुद्रण। वाचस्पति द्विवेदी कृत शोध-ग्रन्थ- कथासरित्साग: एक सांस्कृतिक अध्ययन (चौखम्भा ओरियंटालिया, १९७७); डॉ० एस० एन० प्रसाद- कथासरित्सागर तथा भारतीय संस्कृति (चौ० ओ०, वाराणसी, १९७८)।

२. बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९८३), पृ० ४४१।

इस ग्रन्थ के विस्तार के कारण कथाओं की समुचित रोचकता सुरक्षित है, 'मंजरी' वाली अस्पष्टता नहीं है। इसमें काव्यत्व का भी अपेक्षाकृत अधिक निवेश है। सोमदेव ने विनम्रतापूर्वक मूलग्रन्थ के भाव को इसमें यथावत् रखने की बात कही है, केवल भाषा-भेद के कारण कहीं अधिक विस्तार या संक्षेप हो गया है—

यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः ।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते ।।

फिर भी औचित्य और अन्वय (संगति) की रक्षा तथा कथा-रस-विघात की निवृत्ति के लिए काव्यांश तो कवि ने स्वयं समाविष्ट किया है—

औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते ।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना ।। (१/११)

सोमदेव के द्वारा जोड़े गये सन्दर्भों में सांस्कृतिक सामग्री का बाहुल्य है। भारतीय समाज के ऊँचे-नीचे दोनों पक्षों का इसमें चित्रण है। स्वाभाविकता और रोचकता का ऐसा सम्मिश्रण दण्डी में ही मिल सकता है।

कथासरित्सागर में भी 'वेतालपञ्चविंशति' अन्तर्भूत है जो द्वादश लम्बक के आठवें से ३२वें तरंग तक फैली हुई है; क्षेमेन्द्र ने इन २५ कथाओं को केवल १२०६ श्लोकों में समेटा है वहीं सोमदेव ने इनके लिए २१९५ श्लोक लगाये हैं। 'पञ्चतन्त्र' की भी बहुत-सी कथाएँ कथासरित्सागर में आयी हैं। यह जिस प्रकार भारतीय कथाओं का सागर है[1], वैसे ही भारतीय जीवन-दर्शन की अनेक सूक्तियों का भी सागर है। एक सूक्ति इस प्रकार है—

विद्येव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता ।
यशसे न न धर्माय जायेतानुशयाय तु ।। (५/२६)

अर्थात् अज्ञानवश कुपात्र को दी गयी विद्या के समान, कुपात्र को दी गयी कन्या न यश देती है न धर्म ही; वे दोनों पश्चात्ताप के लिए होती हैं। सोमदेव ने स्त्रियों के चित्रण में बहुत रुचि ली है। उनके युग में स्त्रियों के प्रति सम्मान-भाव की कमी थी। इसीलिए उनके चारित्रिक पतन और मर्यादाहीनता की कथाएँ दी गयी हैं। रसिकों के मनोरञ्जन के लिए रचित इस ग्रन्थ ने विश्वसाहित्य में अमर स्थान प्राप्त किया है।

अन्य लोककथाएँ

(१) वेतालपञ्चविंशति

बृहत्कथा के कश्मीरी संस्करणों (बृहत्कथामञ्जरी एवं कथासरित्सागर) में इस कथासंग्रह का उद्भव हुआ। इसमें विक्रम और वेताल से सम्बद्ध २५ शिक्षाप्रद एवं रोचक कहानियों का संकलन है। इसके दो परवर्ती संस्करण हुए जिनमें प्रथम शिवदास (१२०० ई०) की रचना गद्य-पद्यात्मक है (जर्मन विद्वान् हाइनरिश ऊले द्वारा प्रकाशित, लाइपजिग, १८८४ ई०)। इसका अन्य

१. इसमें मूलकथा के अतिरिक्त ३५० अन्तर्निविष्ट कथाएँ हैं।

संस्करण जम्भलदत्त के द्वारा किया गया जो पूर्णत: गद्यात्मक है (एमेनाउ द्वारा रोमन लिपि में अंग्रेजी अनुवाद के साथ १९३४ ई० में अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी से प्रकाशित)। वल्लभदास ने भी इसका संक्षिप्त रूपान्तर किया था जो भारतीय भाषाओं में रूपान्तरित होकर बहुत लोकप्रिय हुआ। मंगोलभाषा में 'सिद्धिकूर' (अलौकिक शक्तिशाली मृतक) के रूप में इसका रूपान्तर है।

इसकी मुख्य कथा विक्रमसेन की है जो एक तान्त्रिक की सिद्धि में सहायता के लिए एक वृक्ष पर लटकते हुए शव को मौन धारण किये ही अपने कन्धे पर लादकर श्मशान में पहुँचा देने की बात स्वीकार करता है। शव में वेताल का निवास है। मार्ग में वह वेताल विक्रम को कोई कथा सुनता है और अन्त में उससे सम्बद्ध जटिल प्रश्न पूछता है। उत्तर देने में विक्रम का मौन टूट जाता है और वेताल पुन: वृक्ष पर लटक जाता है। इस प्रकार २४ कथाएँ सुनायी गयी हैं। इस ग्रन्थ की कथाओं के अनुवाद संसार की विभिन्न भाषाओं में हैं, पञ्चतन्त्र के समान यह विश्व साहित्य बन गया है।

(२) सिंहासनद्वात्रिंशिका

इसे 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' या 'विक्रमचरित' भी कहा गया है। इसमें कथा है कि राजा भोज को भूमि में गड़ा हुआ विक्रमादित्य का सिंहासन प्राप्त हुआ। उसमें बत्तीस पुतलियाँ लगी हुई थीं। जब सिंहासन को स्वच्छ कराने के बाद भोज ने उस पर बैठने का प्रयास किया तब उन पुतलियों ने उन्हें रोका और विक्रमादित्य के न्याय से सम्बद्ध कथाएँ सुनायीं। एक-एक पुतली ने एक-एक कथा सुनायी। कथाएँ सुनाकर ये पुतलियाँ मुक्त हो गयीं क्योंकि उनमें आत्माएँ थीं। इन बत्तीस कथाओं में विक्रमादित्य के सत्य, न्याय, पराक्रम और उदारता का वर्णन है। जो उन गुणों से युक्त हो वही उस सिंहासन का अधिकारी होगा। इस प्राकर भोज उसपर नहीं बैठ पाते।

भोज का प्रत्येक कथा में उल्लेख होने से यह ११वीं शताब्दी ई० के बाद की रचना है। इसके तीन संस्करण हैं - पद्यात्मक, गद्यात्मक (जैनकवि क्षेमकर-कृत, १४वीं श०) तथा गद्यपद्य-मिश्रित। ये तीनों उत्तरभारतीय संस्करण हैं। दक्षिण भारत में यह 'विक्रमार्कचरित' के नाम से प्रसिद्ध है जिसका संस्करण दो भागों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ इजर्टन ने हार्वर्ड ओरियंटल सीरिज (१९२६ ई०) में किया है। सम्पादक ने इस संस्करण को ही मौलिक ग्रन्थ का प्रतिनिधि माना है।

विक्रमादित्य के गुणों का वर्णन अन्य कृतियों में भी मिलता है जैसे— अनन्तकृत **वीरचरित** (३० सर्ग), शिवदास-कृत **शालिवाहनकथा** (गद्य युक्त १८ सर्ग), आनन्द-रचित **माधवानलकथा** (संस्कृत-प्राकृत पद्यों से युक्त, गद्य में), विक्रमोदय (लेखक अज्ञात), पंचदण्डच्छत्र-प्रबन्ध (१५वीं शताब्दी ई०, जैन लेखक)।

(३) शुकसप्तति

यह सत्तर कथाओं का रोचक संग्रह-ग्रन्थ है। कथाएँ स्वतन्त्र होने पर भी एक सुग्गे के द्वारा अपनी स्वामिनी को सुनायी गई होने के कारण परस्पर संबद्ध है। सुग्गा अपने स्वामी मदनसेन के परदेश चले जाने पर उसकी पत्नी की विरहजन्य पीडा को दूर करने के लिए एक-एक रात में एक-एक कथा सुनाता है। इस प्रकार मदनसेन की पत्नी अन्य पुरुषों के प्रति आकृष्ट होने से

बच जाती है। मदनसेन लौट आता है। 'अलिफ लैला' की कथाओं के समान इन आख्यानों का उद्देश्य रोचकता के कारण श्रोता को अपने अनर्गल कार्यों से रोकना है। १४वीं शताब्दी में 'शुकसप्तति' का फारसी में रूपान्तर हुआ था जिसकी त्रुटियों से उद्विग्न होकर नक्शवी ने 'तूतीनामा' नामक पुनः फारसी-रूपान्तर किया, कई अन्य फारसी तथा तुर्की-रूपान्तर भी इस ग्रन्थ के हुए हैं। इस प्रकार यह विश्व-साहित्य में गणनीय है।

रिचर्ड श्मिट (Richard Schmidt) ने इसके दो प्रस्थानों (सरल तथा अलंकृत) के मूल तथा जर्मन अनुवाद लाइपजिग से क्रमशः १८९७ और १९०१ ई० में प्रकाशित किये थे। सरल पाठ संक्षिप्त भी है। सम्पादक का मत है कि ये कथाएँ बहुत प्राचीन थीं किन्तु जो संस्करण मिले हैं वे १०वीं-११वीं शताब्दी ई० के पहले के नहीं हैं। इसका विस्तृत अलंकृत संस्करण चिन्तामणि भट्ट ने किया था।

अन्य कथाग्रन्थ– संस्कृत में रोचक कथाओं का समृद्ध साहित्य है जिनमें बहुत-से ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। कुछ कथाओं के कई संस्करण तथा भारतीय भाषाओं में रूपान्तर हो चुके हैं। शिवदास (१२०० ई०, वेतालपञ्चविंशति के लेखक) ने 'कथार्णव' में मूर्खों तथा चोरों से सम्बद्ध ३५ कथाएँ दी हैं। प्रसिद्ध संस्कृत-मैथिली-लेखक विद्यापति (१४वीं शताब्दी ई०) ने 'पुरुषपरीक्षा' नामक कथा-ग्रन्थ लिखा जिसमें ४४ नैतिक और राजनीतिविषयक कथाएँ हैं। इस ग्रन्थ के कई रूपान्तर गुजराती, अंग्रेजी, बंगला, हिन्दी आदि भाषाओं में प्रकाशित हैं। मैथिली-अनुवाद के साथ मूल पुस्तक का संस्करण रमानाथ झा ने पटना विश्वविद्यालय से १९६० ई० में प्रकाशित कराया था। इसकी मुख्य कथा एक राजा की है जो अपनी कन्या के विवाह के लिए योग्य वर के विषय में एक ब्राह्मण से पूछते हैं। वह ब्राह्मण विभिन्न साधु-असाधु पुरुषों की कथाएँ सुनाता है जिनमें दानवीर, दयावीर, युद्धवीर, सत्यवीर, चोर, भीरु, लोभी, अकर्मण्य आदि हैं। प्रत्येक कथा में पुरुष-विशेष का निरूपण है। इस प्रकार सभी ढंग के पुरुषों की कथाओं से राजा को वर का चयन करने का उपदेश दिया गया है।

वल्लालसेन (१६वीं शताब्दी ई०) के द्वारा भोजप्रबन्ध नामक विचित्र कथाग्रन्थ लिखा गया है जो लेखक की कल्पना और प्रस्तुति से इतिहास-ग्रन्थ का भ्रम देता है किन्तु पूर्णतः कपोल-कल्पना पर आश्रित है। इसमें धारा-नरेश भोज (११वीं शताब्दी ई०) की संक्षिप्त कथा देकर उन्हीं की राजसभा में कालिदास, भवभूति, माघ, दण्डी तथा मल्लिनाथ तक को प्रस्तुत करके उनके विषय में बड़ी रोचक बातें और घटनाएँ कही गई हैं। इसका काव्यात्मक महत्त्व है। गद्य-पद्य से सुसज्जित इसकी भाषा न बहुत सरल है न बहुत अलंकृत। इसमें दिये गये रसमय पद्य बहुत चमत्कारी हैं।

नीतिकथाएँ

इन कथाओं में सत्पात्र बनने पर बल दिया जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व को सुधारने तथा समाज में अभ्यर्हित होने के लिए जो रोचक कथाएँ भारत में प्रचलित हुई हैं वे संसार भर में अपना स्थान बना चुकी हैं। इन कथाओं का विशिष्ट उद्देश्य होता है– नैतिक उपदेश (moral) देना। पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर इस उद्देश्य की पूर्ति सरलता से हो जाती है। जब पशु-पक्षी बुद्धिमत्ता दिखाते हैं, दयालु और दानी होते हैं तो मनुष्यों को तो होना ही चाहिए।

नीतिकथाओं में जीवन के सत्-असत् दोनों पक्षों का चित्रण करके असत् से बचने और सत् के अनुष्ठान का उपदेश दिया जाता है। नीति और धर्म दोनों से इनका सम्बन्ध है। इनका लक्ष्य मनुष्य को आदर्शवादी बनाना भी है और लोकव्यवहार में पटु भी। सदाचार और राजनीति दोनों की शिक्षा इनमें दी जाती है। कथाओं से कथाएँ फूटकर इनमें कथा का विस्तार होता है। सरल शैली में गद्य-पद्य का मिश्रण होने से इनमें रोचकता का अत्यधिक निवेश होता है; संस्कृत-शिक्षा का आरम्भ करने वाले कोमलमति बालकों के लिए ये सर्वथा उपादेय हैं। एक नीतिकथाकार ने अपने ग्रन्थ की उपयोगिता पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ।।

(१) पञ्चतन्त्र[१]

यह विष्णुशर्मा के द्वारा रचित नीतिकथा है, किन्तु इसका मूल रूप नष्ट हो चुका है। इसके न्यूनाधिक परिवर्तनों से युक्त आठ संस्करण उपलब्ध हैं। उनका तुलनात्मक अध्ययन करके डॉ० एजर्टन (Edgerton) ने मूल पञ्चतन्त्र के उद्धार के लिए अतुलनीय प्रयास किया है। एक अन्य विद्वान् हर्टल (Hertel) ने भी पञ्चतन्त्र पर अपने अनुसन्धानों से पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने इसकी रचना का काल २०० ई० पू० के बाद माना है।[२] मूल पञ्चतन्त्र के रचयिता विष्णुशर्मा कौन थे – यह विवाद का विषय है। कुछ लोग चन्द्रगुप्तमौर्य के प्रतिष्ठापक चाणक्य को, कुछ चाणक्य के पुत्र को और कुछ किसी अन्य ही विद्वान् को विष्णुशर्मा मानते हैं। कथामुख में दिये गये मंगलश्लोकों (सं० १-२) के अनुसार चाणक्य से ये भिन्न थे[३] क्योंकि नीतिशास्त्र के ग्रन्थकारों में यहाँ विष्णुशर्मा मनु , वाचस्पति (बृहस्पति), शुक्र, पराशर एवं व्यास के अतिरिक्त चाणक्य को नमस्कार करते हैं। पञ्चतन्त्र को सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का सार भी कहा गया है (सकलार्थशास्त्रसारम्, पद्य-२)। यदि प्रस्तावना के इन पद्यों को बाद में जोड़ा गया मानें तो इसे चाणक्य की रचना मानने में कोई संकट नहीं।

पञ्चतन्त्र की आठ उपलब्ध वाचनाएँ (recensions) इस प्रकार हैं—

(क) तन्त्राख्यायिका— यह पञ्चतन्त्र के बहुत निकट है। डॉ० हर्टल ने इसका संस्करण १९१० ई० में प्रकाशित किया था जिसमें इसे पञ्चतन्त्र की प्राचीनतम उपलब्ध वाचना कहा गया है। राजनीति की शिक्षा के लिए इसकी रचना हुई थी, अत: इसमें राजशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों से गद्य-पद्य के लम्बे उद्धरण मिलते हैं। इसका निर्माण ३०० ई० के आसपास माना गया है। इस वाचना की दो प्रतियाँ कश्मीर से शारदालिपि में प्राप्त हुई थीं। यह अन्यवाचनाओं का आधार थी, ऐसा हर्टेल ने माना है। फिर भी मूल पञ्चतन्त्र का इसे भी परिबृंहित संस्करण ही कहना चाहिए।

(ख) सरलपञ्चतन्त्र— इसका सम्पादन तथा निर्माण किसी जैन विद्वान् ने किया था

---

१. एम० आर० काले के नोट्स सहित संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९ ई०।

२. ए० बी० कीथ— **History of Sanskrit Literature, P. 247-8**

३. **पञ्चतन्त्र**, कथामुख, पद्य-१ चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्य:।

(११०० ई०)। यही पञ्चतन्त्र इस समय मूल ग्रन्थ के रूप में सर्वाधिक प्रचलित है। ब्यूलर (Buhler) तथा कीलहार्न (Kielhorn) ने इसका परिष्कृत सम्पादन करके प्रकाशित किया था।

(ग) पूर्णभद्र का पञ्चतन्त्र— इसे 'पञ्चाख्यानक' भी कहते हैं। पूर्णभद्र नामक जैन साधु ने ११९९ ई० में इस ग्रन्थ की रचना की थी। पूर्णभद्र ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में बहुत परिश्रम किया था।[1] इसे शुद्धतम संस्करण बनाने का उन्होंने यथासंभव प्रयत्न किया था। पूर्व वाचना से अधिक परिष्कृत होने के कारण इसे 'अलंकृत वाचना' (Textus ornatior) कहा गया है। लेखक ने कुछ अतिरिक्त कथाएँ भी इसमें जोड़ी हैं। इस वाचनिका का एक नया संस्करण, कहानियों को चुनकर, जैन साधु मेघविजय ने (१६६० ई०) बनाया जिसे 'पञ्चाख्यानोद्धार' कहते हैं।

(घ) दक्षिणभारतीय पञ्चतन्त्र— इसमें दक्षिणात्य पाठ है। कथाएँ तमिल स्रोतों से भी ली गई हैं। यह पाँच संस्करणों में उपलब्ध है जिनमें मूलग्रन्थ से कथाओं की बहुत अधिक वृद्धि की गई है। यह पंचतंत्र के सभी पाठों से बड़ा है। एजर्टन के अनुसार इस वाचनिका में मूल ग्रन्थ का तीन-चौथाई गद्यभाग और दो-तिहाई पद्यभाग सुरक्षित है।

(ङ) नेपाली पञ्चतन्त्र— इसके तीन संस्करण हस्तलेखों में मिले हैं- केवल पद्यात्मक, गद्य-पद्यात्मक (ये दोनों संस्करण संस्कृत में ही हैं) तथा नेवारी भाषा में कहानियों के साथ संस्कृत पद्य का संस्करण। यह वाचनिका प्राय: १४वीं शताब्दी में प्रचलित हुई। इसकी पाण्डुलिपि १४८४ ई० की मिली है।

(च) हितोपदेश— पंचतन्त्र का यह बहुत लोकप्रिय संक्षिप्त संस्करण है जिसे बंगाल में धवलचन्द्र के आश्रित कवि नारायण ने लिखा था। यह केवल चार भागों में विभक्त है। पंचतंत्र के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ से भी इसकी रचना में लेखक ने सहायता ली थी क्योंकि इसकी १७ कथाएँ किसी अन्य संस्करणों में नहीं मिलतीं। इसका विशेष विवरण आगे दिया जाएगा।

(छ) उत्तरपश्चिमी पञ्चतन्त्र— पञ्चतन्त्र की इस वाचनिका की आवृत्ति गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' में की थी। यह अब क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' (१०३७ ई०) तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' (१०७० ई०) में समाविष्ट है। बृहत्कथा में सन्निविष्ट होने पर पञ्चतन्त्र के मूल उद्देश्य (नीतिकथा की प्रस्तुति) को छोड़कर विशुद्ध मनोरञ्जन का लक्ष्य रखा गया। नरवाहनदत्त को शिक्षा देने के लिए गोमुख इन कथाओं को सुनाता है और कहीं कहीं नैतिक उपदेश भी देता है जैसे- पशुओं में भी शारीरिक बल से बुद्धिबल की प्रमुखता दिखाना। इस वाचनिका का कोई महत्त्व नहीं है, केवल कुछ कथाएँ ही इन ग्रन्थों में गयी हैं।

(ज) पहलवी संस्करण— अभी तक ज्ञात साधनों से यही पता लगता है कि विदेशी भाषाओं में पञ्चतन्त्र का पहला रूपान्तर पहलवी भाषा में ही हुआ था। खुसरो अनोशेरवाँ (५३१-७९ ई०) के शासनकाल में हकीम बुर्जोई ने इसका पहलवी-रूपान्तर किया था। यह अनुवाद अब

---

१. ग्रन्थ की पुष्पिका में दिया गया पद्य—

प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिकथं प्रतिश्लोकम्।
श्रीपूर्णचन्द्रसूरिर्विशोधयामास शास्त्रमिदम्।।

नष्ट हो चुका है किन्तु इसी के अनुवाद सीरियाई और अरबी भषाओं में हुए थे।[1] अरबी अनुवाद ही यूरोपीय भाषाओं में रूपान्तरित हुआ था एवं पञ्चतन्त्र की कथाएँ दूसरे देशों में पहुँचीं।

महत्त्व

पञ्चतन्त्र के इन विविध संस्करणों तथा इसके प्राचीनतम रूपान्तर से विदित होता है कि इसमें पहले १२ खण्ड रहे होंगे किन्तु जब पाँच खण्डों में इसे सीमित किया गया तब इसे 'पञ्चतन्त्र' कहा जाने लगा।[2] वर्तमान पञ्चतन्त्र में पाँच खण्ड या तन्त्र हैं - मित्रभेद (२२ कथाएँ), मित्र-संप्राप्ति (६ कथाएँ), काकोलूकीय (१६ कथाएँ), लब्धप्रणाश (११ कथाएँ) तथा अपरीक्षितकारक (१४ कथाएँ)। मुख्यकथाओं (६) को जोड़ने से इसमें कुल ७५ कथाएँ होती हैं। इसी प्रकार पद्यों की संख्या प्राय: ११०० है। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा को अवान्तर कथाओं से सजाया गया है। ग्रन्थारम्भ में विष्णुशर्मा के द्वारा महिलारोप्य नगर के राजा अमरशक्ति के तीन पुत्रों को शास्त्रों में कुशल बनाने के लिए उपक्रम किये जाने की कथा है (पञ्चतन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्रा:)। कथामुख के अन्त में इस ग्रन्थ का फल बताया गया है—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च ।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ।। (श्लो० ७,पृ० ३)

पञ्चतन्त्र का मुख्य भाग गद्यात्मक है, कथाएँ गद्य में ही कही गई हैं किन्तु कहीं-कहीं निष्कर्ष-रूप पद्य भी हैं। पद्यों में अधिकांशत: सूक्तियाँ हैं जो पढनेवालों को, कण्ठाग्र कर लेने पर, नीतिशास्त्र में प्रवीणता प्रदान करती हैं। वस्तुत: कथाएँ तो व्याजमात्र हैं, मुख्यरूप से इन पद्यों के द्वारा व्यवहार-कौशल देना ही लेखक का उद्देश्य है। पञ्चतन्त्र का गद्य सरल, प्रवाहपूर्ण तथा विषय को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ है। संक्षिप्त, सारगर्भ वाक्यविन्यास में समासों को यथासम्भव दूर रखा गया है। भाषा की सुगमता अत्यन्त आकर्षक है। सुगम तथा रोचक कथाओं की प्रस्तुति में राजनीति और दैनिक व्यवहार की शिक्षा बड़ी कुशलता से दी गयी है। काव्यों के वर्णन यहाँ नहीं हैं, प्रत्येक वाक्य कथा को आगे बढ़ाता है। राजनीति से सम्बद्ध जो पद्य हैं वे विभिन्न राजशास्त्रीय ग्रन्थों के विषयों को सरलता से निरूपित करते हैं, कुछ पद्यों को परवर्ती कवियों की रचनाओं में भी देख सकते हैं जैसे—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ।। (पञ्च० ३/२७)

शिशुपालवध (२/५४) का यह पद्य प्रासंगिक जानकर पञ्चतन्त्र में डाल दिया गया है। इसी प्रकार इस काव्य के अन्य पद्य (२/५५, २/१११) भी काकोलूकीय में (३/२८, ३/७०) आये हैं। इस तन्त्र में मित्र बने हुए शत्रु पर विश्वास न करने की बात कही गयी है—

---

१. सीरियाई अनुवाद को 'कलिलग तथा दमनग' (५७० ई०) एवम् अरबी अनुवाद को 'कलीलह तथा दिमनह' (७५० ई०) कहा गया है। इससे अनुमान होता है कि पहलवी संस्करण का नाम संस्कृत में 'करटक-दमनक' रहा होगा क्योंकि इन दो शृगालों की कथा वर्तमान पंचतंत्र के प्रथम तन्त्र में आयी है । डॉ० सूर्यकान्त-सं० वा० वि० इतिहास, पृ० ३०१।

२. मैकडोनल- हि० सं० लिटरेचर, पृ० ३७०।

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य (३/१) । इसी प्रसंग में राजशास्त्र के षड्गुणों (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) का, मन्त्रणा का तथा अन्य उपयुक्त विषयों का विवरण कथा के द्वारा ही दिया गया है। स्वार्थसिद्धि के लिए शत्रु से मिलकर उसे अन्ततः नष्ट कर देने की शिक्षा '**काकोलूकीय**' में दी गयी है। काक उलूक से मैत्री करके अन्ततः उसके निवास स्थान में आग लगा देता है। '**अपरीक्षितकारक**' में बिना विचारे काम करने का दुष्परिणाम दिखाया गया है। इसमें अनेक मूर्खों की कथाएँ हैं। '**मित्रभेद**' में दो मित्रों के बीच फूट डालने की और '**मित्रसंप्राप्ति**' में अनेक उपयोगी मित्र बनाने एवं नीति पर बल देने के लिए अनुकूल कथाएँ हैं। '**लब्ध-प्रणाश**' नामक तन्त्र में शिक्षा है कि बुद्धिमान् बुद्धिबल से जीत जाता है तथा मूर्ख अपने हाथ में आयी वस्तु भी खो देता है। इसी प्रसंग में बन्दर और मकर की मित्रता की कथा है।

आरम्भिक जीवन में भाषा-शैली की शिक्षा के साथ व्यवहारकुशलता की शिक्षा पाने के लिए पञ्चतन्त्र-जैसा ग्रन्थ विश्वसाहित्य में नहीं है। पशु-पक्षियों की कथाओं से उपदेश भी मिलता है और किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप भी नहीं होता। देश-काल की सीमा से ऊपर इसका सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व है। यहाँ जीवन के हेय और उपादेय दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के २५० संस्करण विश्व की ५० भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार 'पञ्चतन्त्र-साहित्य' एक स्वतन्त्र विषय बन गया है।[1] भारत में भी पञ्चतन्त्र अत्यधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है, इसकी सूक्तियाँ बहुधा नीतिपद्यों के रूप में उद्धृत की जाती हैं। जैसे – न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः (१/१९), अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति (१/२०) पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता (१/२०५), बुद्धिर्यस्य बलं तस्य (१/२१७), यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः (१/२९३), त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले (१/३१९), यो न वेत्ति गुणान्यस्य न तं सेवेत पण्डितः (१/३५४), त्यजेदेकं कुलस्यार्थे (१/३५९), उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः (१/३६५), मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ठवत् (१/४०६), उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत् (१/४१०) इत्यादि। ये सब सूक्तियाँ प्रथम तन्त्र की हैं। अन्य तन्त्रों भी शताधिक सुभाषित वाक्य हैं।

(२) हितोपदेश[2]

पञ्चतन्त्र पर आश्रित नीतिकथाओं में सर्वाधिक प्रचलित 'हितोपदेश' ही है। इसकी रचना

---

१. पञ्चतन्त्र का पहलवी-भाषा में अनुवाद **हकीम बुर्जोइ** ने, इसी से सीरियन भाषा में ५७० ई० में **बूद** ने, अरबीभाषा में **अब्दुला मोकफ्फा** ने ७५० ई० में, **सीमियन** ने ग्रीक भाषा में ११वीं शताब्दी में, **गियोलियो नूति** ने इटालियन भाषा में १५८३ ई० में, **रब्बी जोइल** ने अरबी से हिब्रू में ११०० ई० में, **जॉन ऑफ केपुआ** ने लैटिन अनुवाद १२७० ई० में, **एन्थानियस फॉन फर** ने जर्मन अनुवाद १४८३ ई० में (इसीसे डेनिश, आइसलैंडिक तथा डच अनुवाद), १४९३ ई० में स्पेनिश, १५४६ ई० में इटालियन अनुवाद, १५५६ ई० में फ्रेंच अनुवाद, १५७० ई० में **टामस नार्थ** ने अंग्रेजी अनुवाद किया। ११४२ ई० में अरबी में **अबुलनसराल्ल** ने महत्त्वपूर्ण अनुवाद किया। इससे फारसी, तुर्की, फ्रेंच, डच, हंगारियन, जर्मन, मलय आदि भाषाओं में भी अनुवाद हुए। कई भाषाओं में पृथक्-पृथक् संस्करणों के अनुवाद हैं। विश्व वाङ्मय में 'पञ्चतन्त्र' का स्थान बहुमूल्य है।

२. संस्करण- हिन्दी अनुवाद सहित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८७ ई० (निर्णयसागर प्रेस के संस्करण का पुनर्मुद्रण)।

बंगाल के राजा धवलचन्द्र के आश्रित नारायण पण्डित ने की थी। इसकी एक पाण्डुलिपि १३७३ ई० की मिली है। अत: यह चौदहवीं शताब्दी के पूर्व की ही कृति है। रुद्रभट्ट का एक पद्य इसमें उद्धृत है अत: यह ११वीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकती (कीथ)। एक जैन लेखक ने ११९९ ई० में इसका उपयोग किया था। फ्लीट (Fleet) ने हितोपदेश में प्रयुक्त 'भट्टारकवार' (=रविवार) शब्द के विषय में कहा है कि ९०० ई० के पूर्व इसका प्रयोग नहीं था।[1] इसलिए इसका काल १०वीं-११वीं शताब्दी ई० माना जा सकता है।

'हितोपदेश' चार भागों में विभक्त है- मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह तथा सन्धि। इनमें ३९ कथाएँ हैं, प्रत्येक भाग की मुख्य ४ कथाओं को मिलाकर पूरे ग्रन्थ में ४३ कथाएँ है। पञ्चतन्त्र के समान इसमें छोटी (४७ पद्य और कुछ कथा से युक्त) प्रस्ताविका भी है। पद्यों की कुल संख्या ७२६ है। पञ्चतन्त्र की ही शैली का इसमें अनुसरण किया गया है। २५ कथाएँ वहीं से ली गई हैं। पञ्चतन्त्र की अपेक्षा इसमें पद्यों पर अधिक बल है अत: गद्य से पद्य ही अधिक हैं। कुछ 'कामन्दकीयनीतिसार' से संकलित हैं। इसकी प्रस्ताविका में पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के चार मूर्ख पुत्रों को विष्णुशर्मा के द्वारा नीतिशास्त्र की शिक्षा देने की कथा है। '**मित्रलाभ**' में काक-कूर्म-मृग-मूषिक की, '**सुहृद्भेद**' में सिंह और वृष की मैत्री शृगाल द्वारा तोड़े जाने की, '**विग्रह**' में हंसों और मयूरों के युद्ध की तथा '**सन्धि**' में हंसों तथा मयूरों के बीच गीध और चकवे के द्वारा मैत्री कराने की मुख्य कथा है। इस ग्रन्थ में पञ्चतन्त्र का २/५ गद्यभाग और दो तिहाई (२/३) पद्यभाग समाविष्ट है। मुख्यकथा के अतिरिक्त १७ नई कहानियाँ इसमें हैं जिनमें सात पशुकथाएँ, ३ लोककथाएँ, २ शिक्षाप्रद कथाएँ एवं पाँच षड्यन्त्र-कथाएँ हैं। इसके कई संस्करण भारतीय भाषाओं में अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। प्रारम्भिक संस्कृत सिखाने के लिए पाठ्य-पुस्तकों में भी इसकी कथाएँ संकलित हैं। इसके पद्य भी बहुधा बातचीत के क्रम में उद्धृत किये जाते हैं।

अन्य नीतिकथाएँ

बौद्ध तथा जैन कवियों ने अनेक नीतिकथाएँ संस्कृत में लिखी हैं। इनमें आर्यशूर-कृत **जातकमाला** विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ गद्य-पद्यात्मक काव्यशैली में निबद्ध की गई हैं। इसमें ३४ जातक कथाएँ हैं जिनमें बोधिसत्त्व के उदारगुणों का वर्णन है। प्रथम जातक 'व्याघ्रीजातक' को छोड़कर अन्य सभी जातक-कथाएँ पालि-जातकों से ली गयी हैं। इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि बौद्धों के बीच यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय था। अजन्ता के रंगीन भित्तिचित्रों में कुछ जातकों के चित्र तथा पद्य हैं जो उस समय (छठी शताब्दी ई०) जातकमाला का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।[2] आर्यशूर के एक अन्य ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था, यह ग्रन्थ कर्मफल से सम्बद्ध था। इससे आर्यशूर का समय ३५०-४०० ई० माना जा सकता है। आर्यशूर के कुछ ग्रन्थ तिब्बती रूपान्तर में प्राप्त हैं।

---

१. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (१९१२), पृ० १०३९-४६।

२. ए० बी० कीथ- संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनु०), पृ० ८५।

जातकमाला[1] की रचना आर्यशूर ने भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म के चरितों की अर्चना काव्य-कुसुम से करने के लिए की थी (पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि, भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलि-नार्चयिष्ये १/१)। अश्वघोष के समान इस कवि ने भी रूखे विचार वाले (भावनाहीन) लोगों के मन में प्रसन्नता और आकर्षण उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा है; धर्मकथाएँ काव्य का संसर्ग पाकर रमणीयतर हो जाएँगी, यह अतिरिक्त फल होगा—

स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः ।। (१/२)

काव्य-मार्ग का अनुसरण करने से ये धर्मकथाएँ 'कान्तासम्मित उपदेश' देने में पर्याप्त रूप से सफल हैं। अनर्गल अलंकरण और अतिशयोक्ति से बचते हुए आर्यशूर ने सीधी-सादी सपाट शैली अपनायी जिसे अभिनन्द ने 'विशुद्धोक्तिः शूरः' कहकर लेखक की प्रशस्ति की। उनका गद्य-पद्य समान रूप से बहुत सावधान लेखन का परिचायक है। लम्बे समासों वाला गद्य-वाक्य भी सर्वत्र सरल एवं स्वाभाविक है, प्रयत्न-साध्य नहीं। एक निश्चित साँचे में प्रत्येक जातक ढला हुआ है क्योंकि आरम्भ में प्रतिज्ञा-वाक्य और अन्त में निगमन-वाक्य का स्वरूप एक ही रहता है। उदाहरणार्थ व्याघ्रीजातक का प्रथम वाक्य है- **सर्वसत्त्वेष्वकारणवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः**। इसके अनन्तर बोधिसत्त्व की कथा देकर निगमन-रूप में इसी वाक्य का पुनर्विन्यास किया गया है।

आर्यशूर के गद्य में कहीं-कहीं ललित मधुर पदों का विन्यास बहुत सुन्दर है जैसे- **उद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनत-रुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते ...... देवेन्द्रः पुरस्तात्प्रादुरभवत्** (पृ० २६, शिबिजातक)। पद्यों में भी स्वाभाविक प्रसन्न शैली मिलती है, छन्दों का माधुर्य एक अतिरिक्त गुण आ जाता है। एक प्रसिद्ध पद्य है—

सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम् ।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम् ।। (३/३२)

इस ग्रन्थ का एक अन्य नाम भी है- बोधिसत्त्वावदानमाला। 'अवदान' सुन्दर कर्मों को कहते हैं। इन कर्मों में दया, परोपकार, आत्मोत्सर्ग, दान आदि सद्गुणों का प्रकर्ष मिलता है 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' के उदार आदर्श पर ये सभी बोधिसत्त्व-कथाएँ ढली हैं। बोधिसत्त्व सर्वस्वदान से भी असन्तुष्ट रहकर अपने शरीरावयवों का भी दान करते हैं, भयानक विघ्न होने पर दानकर्म में तत्पर रहते हैं, मांसभक्षी यक्षों को अपने शरीर के टुकड़े खिलाकर प्रसन्न करते हैं। शशक योनि में रहकर भी वे भूखे अतिथि को अपना शरीर दे देते हैं, आजीवन आचरित अहिंसा-धर्म के प्रभाव से वे सागर में संकटापन्न पोत की रक्षा करते हैं (सुपारगजातक)।

---

१. संस्करण- हार्वर्ड ओरियंटल सीरिज में कर्न के सम्पादन में प्रथमतः प्रकाशित (१८९१ ई०); जे० एस० स्पेयर का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन (१८९५ ई०); पी० एल्० वैद्य का संस्करण-दरभंगा संस्कृत विद्यापीठ (१९५९); मोतीलाल बनारसीदास द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित कई संस्करण प्रकाशित; डॉ० कमलाकान्त मिश्र के शोध-प्रबन्ध-**जातकमाला : एक अध्ययन**-के साथ मूल ग्रन्थ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से प्रकाशित (१९७७ ई०)।

यहाँ कथा का विस्तार गद्य में हैं; किन्तु पात्रों के भाषण, उपदेश, प्रकृतिवर्णन, चिन्तन आदि पद्यों में दिये गये हैं। अनेक छन्दों के पद्य इस कथाकाव्य में सुघटित हैं।

अन्य बौद्ध कथा-ग्रन्थों में 'अवदानशतक' (१०० ई०), 'दिव्यावदान' (२०० ई०), कुमारलात-रचित 'कल्पनामण्डितक' (या सूत्रालंकार, ३०० ई०) इत्यादि हैं। ये प्राय: संकर संस्कृत भाषा में रचित है। अश्वघोष या आर्यशूर की भाषा का संस्कार इनमें नहीं है।

जैनों की नीति कथाओं में '**उपमितिभवप्रपञ्चकथा**' महत्त्वपूर्ण है जो सिद्धर्षि नामक जैन विद्वान् के द्वारा ९०६ ई० में लिखी गयी थी। सिद्धर्षि भिन्नमाल (श्रीमाल) के निवासी थे। यह कथा सरल तथा जन-सामान्य में वार्तालाप के काम में आनेवाली संस्कृत भाषा में लिखी गई है। सिद्धर्षि ने इसके अन्तिम पद्योंमें कहा है कि संस्कृत को विद्वानों की गूढ तथा दुर्बोध भाषा से छुड़ाकर व्यावहारिक भाषा के रूप में प्रस्तुत करने का यह प्रयास है। यह कथा रूपक शैली में लिखी गयी है जिसमें जीव के संसार-भ्रमण तथा नाना कष्टों के सहने का चित्रण कथाओं के द्वारा किया गया है। आठ प्रस्तावों में विभक्त इस बृहत्कथाकाव्य में जीव के उद्धार के लिए जैनदर्शन के सिद्धान्तों को भी समझाया गया है। समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्द में हैं। डॉ० याकोबी ने 'बिब्लियोथिका इंडिका' में इसे कलकत्ता से प्रकाशित कराया था, गुजराती भाषा में इसका अनुवाद ए० जी० कापडिया ने प्रकाशित किया।[1]

एक अन्य जैनकथाग्रन्थ '**भरटकद्वात्रिंशिका**' है जिसमें लोकभाषा के भी पद्य उद्धृत हैं, ब्राह्मणों की कटु आलोचना इसमें की गयी है। २५६ लघुकथाओं का संग्रह '**कथारत्नाकर**' हेमविजयगणि की रचना है (१७वीं शताब्दी ई०) जो धर्म-प्रचार के उद्देश्य से की गयी है। इसके पूर्व जिनकीर्ति (१५वीं शताब्दी) ने दो रोचक कथा-ग्रन्थ लिखे थे- **चम्पकश्रेष्ठिकथानक** तथा **पालगोपालकथानक**। अनियत काल वाला 'कथाकोश' परस्पर असम्बद्ध कथाओं का ग्रन्थ अशुद्ध संस्कृत में है जिसमें यत्र-तत्र प्राकृत पद्य भी हैं।[2] जैनों के द्वारा लिखे गये कुछ कथा-ग्रन्थों का परिचय 'गद्यकाव्य' के सन्दर्भ में दिया गया है क्योंकि कथा से अधिक वे काव्यात्मक हैं।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४५८, पाद-टिप्पणी।
२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी- संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ५९१।

अध्याय-१७

रूपक-सिद्धान्त, उद्‌भव तथा विशिष्टताएँ

साहित्य के सभी प्रकारों में रूपक, या नाट्य श्रेष्ठ माना गया है। इसकी रचना को कवित्व की अन्तिम सीमा कहा जाता है- **नाटकान्तं कवित्वम्**। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में (१/३/३०) कहा है- **सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः**। कारण यह है कि यह चित्रपट के समान अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इतनी विशिष्टताएँ अन्य काव्य-भेदों में नहीं होतीं। रूपक में गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण तो रहता ही है, इसे सुनने के अतिरिक्त देखा जाता है। श्रव्य की अपेक्षा 'दृश्य' का अधिक सघन प्रभाव होता है। भारतीय रूपकों का उद्देश्य केवल उपदेश देना, संवादों के द्वारा किसी घटना-क्रम का निरूपण करना या विषय की स्थापना मात्र नहीं है अपितु अभिनय के भिन्न प्रकारों से सामाजिक (प्रेक्षक या दर्शक) को रसास्वाद कराना (आनन्द में निमग्न करना) इसका महत् उद्देश्य है। भरत ने नाट्यशास्त्र (६/३१) में कहा है कि इस नाट्य-संसार में सब कुछ रसमय होता है, रस के बिना यहाँ कुछ भी प्रवृत्त नहीं होता- **न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते**। कोई व्यक्ति किसी भी रुचि का क्यों न हो, उसे अपना अनुकूल विषय नाट्य-जगत् में अवश्य मिल जावेगा। इसीलिए कालिदास ने इसकी प्रशंसा में कहा है-

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। (मालविकाग्निमित्र १/४)

काव्य को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने दृश्य और श्रव्य के रूप में दो वर्गों में रखा है। दृश्यकाव्य के दो भेद हैं - रूपक तथा उपरूपक। रूपक दस और उपरूपक अठारह प्रकार के होते हैं। रूपकों का एक प्रमुख भेद 'नाटक' है जो अपने अर्थ का विस्तार करके सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में नाट्यमात्र या दृश्यकाव्य मात्र (Drama) का अर्थ देता है। इसीलिए यह 'नाटक' शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रचलित है, यद्यपि संस्कृत में एक सीमित अर्थ-परिधि में आता है। इस प्रसंग में धनञ्जय ने नाट्य, रूप और रूपक- इन तीन शब्दों के प्रयोग के हेतुओं का निरूपण किया है जो वस्तुतः एकार्थक हैं। तदनुसार विविध पात्रों की अवस्थाओं का चतुर्विध अभिनय (आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य) के द्वारा जब नट अनुकरण करता है तो इसे '**नाट्य**' कहते हैं। नाट्य को देखा जाता है अर्थात् रूप के समान यह चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, अतएव इसे '**रूप**' भी कहते हैं। अभिनेता पर रामादि पात्रों की अवस्थाओं का आरोप होने से उसी नाट्य या रूप को शास्त्रीय दृष्टि से '**रूपक**' कहते हैं, आरोप ही रूपक है जैसे मुख पर चन्द्र का आरोप होने से 'मुखचन्द्र' में रूपकालंकार है। ये रूपक रसाश्रय होते हैं, केवल भाव पर आश्रित नहीं रहते।[1] इनके दस भेद किये गये हैं-

---

१. **अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रितम्** (दशरूपक १/९) अर्थात् केवल भाव पर आश्रित दृश्य-प्रस्तुति को 'नृत्य' तथा ताल और लय पर (अभिनय नहीं) आश्रित रहने से देशी नाच को 'नृत्त' कहते हैं।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ।।
नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।। (दशरूपक १/७-८)

रूपकों के जो दस भेद कहे गये हैं उनके मुख्य भेदक उपादान तीन हैं- कथानक, नायक और रस (वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः, दशरूपक १/११)। इन भेदों का संक्षिप्त निरूपण किया जाता है-

(१) नाटक

यह सभी रूपकों में मुख्य है इसीलिए रूपकमात्र को 'नाटक' का अभिधान दिया जाता है। सभी रूपक-भेदों की यह प्रकृति है, सबसे अधिक रस का उद्भावन इसी में होता है तथा वस्तु, नायक और रस के सभी लक्षण इसमें मिलते हैं।[1] अपनी प्रधानता के कारण इसे ही सब लोग जानते हैं, अन्य भेदों को नहीं जानते। नाटक का कथानक प्रसिद्ध (इतिहास या पुराण में निर्दिष्ट) होता है; उसका नायक विख्यात वंश में उत्पन्न राजर्षि या राजा रहता है, उसे धीरोदात्त श्रेणी का होना चाहिए। कभी-कभी वीर रस या शृंगार रस के अनुरूप वह धीरोद्धत या धीरललित भी हो सकता है किन्तु धीरप्रशान्त नहीं। श्रीकृष्ण जैसे दिव्य और राम जैसे दिव्यादिव्य नायक भी होते हैं। इसलिए ऐसे नायक के चरित्र से सम्बद्ध कथावस्तु का ही नाटक में चयन होता है। नाटक का मुख्य रस शृंगार या वीर होता है (एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा)। अन्य सभी रसों का यथावसर प्रयोग किया जाता है। रस के प्रतिकूल घटनाओं को कथानक से हटा दिया जाता है, कथानक में कुछ घटनाओं का परिवर्तन या नवीन काल्पनिक वृत्त का निवेश भी होता है। रसनिष्पत्ति में बाधा न हो- इसका ध्यान नाटककार को रखना पड़ता है।

नाटक में पाँच से लेकर दस अंक तक रखे जाते हैं। उसमें कथानक का स्वाभाविक विकास दिखाने के लिए पाँच अर्थप्रकृतियाँ (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य), पाँच अवस्थाएँ (आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) तथा इनके योग से होने वाली पाँच सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) यथासाध्य रखी जाती हैं। जिस नाटक में इन सब के उपयोग के साथ दस अङ्क हों उसे '**महानाटक**' कहते हैं। बालरामायण, हनुमन्नाटक आदि महानाटक हैं। नाटक की अन्तिम सन्धि में 'अद्भुत रस' का प्रयोग हो, इससे रोचकता आती है (कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः)। नाटक की रचना गोपुच्छाग्रवत् होनी चाहिए अर्थात् आरम्भ और अन्त सूक्ष्म (पतला) हो, मध्यभाग स्थूल (दीर्घ) हो। क्रमशः कार्यों का संक्षिप्त उपसंहार होना चाहिए। नाटक को काव्यमात्र में श्रेष्ठ कहा गया है- **काव्येषु नाटकं रम्यम् , नाटकान्तं** कवित्वम्। भास, कालिदास, भवभूति आदि के नाटक संस्कृत-ज़गत् में विख्यात हैं। आधुनिक युग में भी नाटकों की ही रचना होती है।[2]

---

१. प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात्।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते।। (दशरूपक ३/१)

२. नाटक के लक्षण **नाट्यशास्त्र** (१८/१०-४३), नाट्यदर्पण (२/५-२२) तथा साहित्यदर्पण (६/७-१९) में विस्तार से दिये गये हैं।

(२) प्रकरण

इसका कथानक कविकल्पित होता है। प्राय: लोककथाओं से कथानक लेकर इसकी रचना की जाती है। कल्पना के कारण समसामयिक संस्कृति का चित्रण करने का अवसर कवि को इसमें पर्याप्त रूप से मिलता है। राजपरिवार का परिवेश प्रकरण में प्राय: नहीं रहता, समाज के सामान्य जीवन के ही पात्र होते हैं। इसका नायक धीरप्रशान्त कोटि का मन्त्री, ब्राह्मण या वणिक् में से कोई होता है (अमात्य-विप्र-वणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्- दशरूपक ३/३९)। मृच्छकटिक में ब्राह्मण, मालतीमाधव में अमात्य तथा पुष्पदूतिका में वैश्य नायक है। नायक का कार्य विघ्नों से भरा होता है। इसमें नायिका दो प्रकार की होती है-कुलीन या वेश्या (गणिका)। किसी प्रकरण में कोई एक ही नायिका रहती है (जैसे-मालतीमाधव में), तो किसी में दोनों प्रकार की नायिकाएँ होती हैं (जैसे- मृच्छकटिक में)। इस दृष्टि से प्रकरण के तीन भेद (कुलजानिष्ठ, गणिकानिष्ठ और उभयानिष्ठ) होते हैं। धूर्त, जुआरी, विट, चेट आदि अनेक पात्रों से युक्त प्रकरण 'संकीर्ण' कहलाता है। नाट्यदर्पण (२/६८) में नायिका के आधार पर प्रकरण के इक्कीस भेद कहे गये हैं।[१] रस की दृष्टि से इसमें शृंगार प्रधान होता है। अन्य अनुकूल रसों का अंग के रूप में प्रयोग होता है।

(३) भाण

इसमें कोई अत्यन्त चतुर तथा बुद्धिमान् विट अपने या दूसरे के अनुभव के आधार पर धूर्त के चरित का वर्णन करता है।[२] यह एक अङ्क तथा एक ही पात्र का रूपक है। वह पात्र विट ही रहता है जो आकाशभाषित के रूप में स्वयम् प्रश्न-उत्तर (उक्ति-प्रत्युक्ति) का प्रयोग करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह नेपथ्य में स्थित किसी व्यक्ति से बातें कर रहा हो और इसी क्रम में वह समाज के पाखण्डियों, धूर्तों, चोरों तथा अन्य कुत्सित जनों की क्रियाओं का अनावरण करता है। रस स्पष्ट नहीं होता, अत: सौभाग्य और शौर्य के वर्णनों से इसमें क्रमश: शृङ्गार और वीर रसों की केवल सूचना दी जाती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं, अन्य सन्धियाँ नहीं। इसमें कथानक कल्पित ही होता है। इसमें दस लास्यांगों (संगीत-भेदों) का प्रयोग होता है। गुप्तकाल के चार भाण बहुत प्रसिद्ध हैं - पद्मप्राभृतक, धूर्तविटसंवाद, उभयाभिसारिका तथा पादताडितक। 'भाव-प्रकाशन' में इसके नौ भेद भाषा और कथानक के आधार पर किये गये हैं। सामाजिक कुरीतियों के अनावरणार्थ विगत डेढ़ सहस्र वर्षों में शताधिक भाण संस्कृत में रचे गये।[३]

---

१. प्रकरण के लक्षण नाट्यशास्त्र (१८/४३-५०), दशरूपक (३/३९-४२), नाट्यदर्पण (२/६६-६९) तथा साहित्यदर्पण (६/२२४-७) में दिये गये हैं।

२. दशरूपक ३/४९ भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुण: पण्डितो विट:॥

३. नाट्यशास्त्र (१८/८-१०), दशरूपक (३/४९-५१), नाट्यदर्पण (२/८१-२) तथा साहित्यदर्पण (३/२२७-३०) मे भाण के प्राय: समान लक्षण दिये गये हैं।

(४) प्रहसन[१]

यह हास्यरस-प्रधान रूपक होता है जिसमें कथानक कल्पित रहता है। इसमें धर्म का पाखण्ड करनेवाले (जैन-बौद्ध) साधुओं, केवल जाति से ब्राह्मण कहलाने वाले धूर्तों एवं सेवक-सेविकाओं का चरित्र दिखाया जाता है। सामान्य जनता की रुचि के अनुकूल इसकी उत्पत्ति हुई होगी। समाज के कुत्सित पक्ष का प्रदर्शन करने से इसका उपदेशात्मक पक्ष प्रबल था कि हास्य के द्वारा कवि ऐसे तत्त्वों से जन-सामान्य को दूर करता था। प्रहसन में वेशभूषा तथा भाषा की विकृति से भी हास्योत्पादन होता है। भाण के समान इसमें भी दो सन्धियों (मुख एवं निर्वहण) तथा दस लास्यांगों का प्रयोग होता है। विश्वनाथ ने इसमें एक या दो अङ्क माने हैं, अन्य आचार्य इसे एकांकी रूपक कहते हैं। प्रहसन के तीन भेद होते हैं- शुद्ध, विकृत और संकीर्ण। **शुद्ध प्रहसन** में उपर्युक्त पाखण्डी, विप्र, चेट, चेटी आदि पात्रों का प्रयोग होता है। वेश, भाषा आदि के अनुसार इन पात्रों की हास्यपूर्ण चेष्टाएँ होती हैं। **विकृत प्रहसन** में नपुंसक, कंचुकी, तपस्वी आदि पात्र होते हैं जो कामुक जनों के समान वचन और वेश का प्रयोग करते हैं। **संकीर्ण प्रहसन** में धूर्त व्यक्तियों का चरित्र अंकित होता है और तेरह वीथ्यंगों का मिश्रण भी होता है। वीथ्यंग इस प्रकार हैं- उद्‌घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाकेली, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव (दशरूपक ३/१२-२१)। इनके प्रयोग से हास्य तो आता ही है, व्यङ्ग्य के कारण चमत्कार भी होता है। प्रहसन में हास्य के हसित, अपहसित आदि छह भेदों का प्रयोग किया जाता है (रसस्तु भूयसा कार्यः षड्‌विधो हास्य एव तु- दशरूपक ३/५६)।

(५) डिम

इसका कथानक प्रसिद्ध होता है। नाट्य की कैशिकी वृत्ति वर्जित है, शेष तीनों वृत्तियाँ (भारती, सात्त्वती, आरभटी) प्रयुक्त होती हैं क्योंकि इसमें हास्य और शृंगार-रस (कैशिकी के उपयुक्त) नहीं रहते। इसमें नायक देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि होते हैं जो मानवेतर हैं; भूत, प्रेत, पिशाच आदि पात्रों का भी इसमें समावेश होता है। उद्धत कोटि के १६ पात्र इसमें रहते हैं। इसका प्रधान रस रौद्र होता है; माया, इन्द्रजाल, युद्ध, भगदड़ आदि के दृश्यों से यह भरा होता है। विमर्श सन्धि का प्रयोग नहीं होता। इसमें चार अंक रहते हैं। सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के दृश्य भी इसमें दिखाये जाते हैं। भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का उल्लेख किया है।

(६) व्यायोग

इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है जो किसी विख्यात उद्धत व्यक्ति (भीम, दुर्योधन आदि) पर आश्रित रहता है। इसमें गर्भ एवं विमर्श नामक सन्धियाँ नहीं होतीं। रसों की दीप्ति डिम के समान होती है अर्थात् हास्य और शृंगार को छोड़कर अन्य रसों का प्रयोग होता है। इसमें ऐसे युद्ध का वर्णन होता है जो स्त्री के कारण नहीं हो (अस्त्रीनिमित्तसंग्रामः)। इसकी कथावस्तु एक दिन की घटनाओं से सम्बद्ध होती है, एक ही अंक रहता है तथा पुरुष-पात्रों की संख्या अधिक होती है। भास का 'मध्यमव्यायोग' इसका मुख्य उदाहरण है।

---

१. **नाट्यशास्त्र** (१८/१०३-७), **दशरूपक** (३/५४-५६) नाट्यदर्पण ((२/८३-८५), **साहित्यदर्पण** (३/२६४-८)- ये प्रहसन के विवेचन-स्थल हैं।

(७) समवकार

इसका इतिवृत्त इतिहास-पुराण में प्रसिद्ध होता है जिसमें देवताओं और दैत्यों की कथा होती है। कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ एवं विमर्श को छोड़कर अन्य सन्धियाँ होती हैं। इसमें तीन अंक रहते हैं जिनमें तीन बार कपट, तीन बार धर्म-अर्थ-काम का शृंगार एवं तीन बार पात्रों में भगदड़ दिखायी जाती है जो क्रमशः चेतन (मनुष्यादि), अचेतन (अग्नि आदि) तथा चेतनावचेतन (गज आदि) के कारण होती है। धनञ्जय ने नगरोपरोध, युद्ध, आँधी, अग्नि आदि में से किसी के कारण भगदड़ (विद्रव) का विधान किया है। कपट के तीन प्रकार क्रमशः वस्तुस्वभाव (स्वाभाविक), दैवज और शत्रुकृत हैं। इसके पात्र देवता और दानव होते हैं जिनकी संख्या १२ होती है, सभी वीररस से भरे रहते है और सब को पृथक्-पृथक् फल मिलते हैं। 'बिन्दु' नामक अर्थप्रकृति एवं 'प्रवेशक' नामक अर्थोपक्षेपक का इसमें प्रयोग नहीं किया जाता। नाट्यशास्त्र में 'समुद्रमन्थन' नामक समवकार के अभिनय का उल्लेख है। भास के 'पञ्चरात्र' में भी कुछ लक्षण मिलते हैं।

(८) वीथी

यह शृङ्गाररस-युक्त एकांकी रूपक है। इसके कई लक्षण भाण के समान हैं जैसे - केवल दो सन्धियाँ (मुख और निर्वहण) होना, शृंगार रस का सूच्य होना (पूर्ण परिपाक न होना)। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है। इसमें तेरह अंग होते हैं जिनका उल्लेख प्रहसन के सन्दर्भ में किया गया है। ए० बी० कीथ ने कहा है कि वीथी के लक्षण अस्पष्ट हैं किन्तु 'कई रसों की माला' के रूप में इसका शब्दार्थ हो सकता है। दशरूपक (३/६९) में रसों के विषय में कहा गया है- रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।

(९) अङ्क

इसे संशय-निवारणार्थ 'उत्सृष्टिकाङ्क' भी कहते हैं क्योंकि रूपकों के खण्ड भी 'अङ्क' होते हैं। इस रूपक-भेद में कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है किन्तु कवि उसमें यथेष्ट परिवर्तन भी करता है। इसके नायक और अन्य पात्र साधारण होते हैं। भाण के समान सन्धि (मुख और निर्वहण), भारती वृत्ति तथा अङ्क (केवल एक) होते हैं। इसमें करुण रस की प्रधानता होती है, अतः स्त्रियों का रोदन होना चाहिए। पात्रों में वाग्युद्ध एवं जय-पराजय की योजना होती है। कुछ आचार्यों ने इसमें एक से लेकर तीन अंकों तक का विधान किया है।

(१०) ईहामृग

इसका कथानक प्रख्यात और कल्पित का मिश्रित रूप होता है। इसमें चार अंक तथा तीन सन्धियाँ होती हैं (गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं)। नर या देवता के रूप में नायक एवं प्रतिनायक भी इसमें होते हैं। वे धीरोदात्त कोटि के रहते हैं। प्रतिनायक भ्रमवश अनुचित कार्य करता है। किसी दिव्यस्त्री का वह अपहरण करना चाहता है, इस घटना में शृङ्गाराभास का भी वर्णन होना चाहिए। नायक-प्रतिनायक का विरोध पूर्णता पर पहुँचकर भी युद्ध के रूप में परिणत नहीं होता। प्रतिनायक का वध भी इसमें टाल दिया जाता है (वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः)।

इन भेदों में नाटक तथा प्रकरण ही मुख्य हैं क्योंकि कथानक का विकास इनमें पञ्चसन्धियों के द्वारा होता है। भाण, प्रहसन, वीथी और अंक तो बहुत छोटे रूपक हैं। भाण और प्रहसन अपनी लघुता के कारण अभिनय में सुविधाजनक हैं, पात्रों की संख्या भी कम होती है तथा समाज के कुत्सित पक्ष का ये चित्रण करते हैं; अतएव लोकप्रिय रहे हैं। अपने युग में नाटक-प्रकरण को छोड़कर अन्य रूपक-भेद 'तमाशा' रहे होंगे- इन्हें रूपारोप के रूप में पूर्णत: रूपक कहना कठिन है। इनमें अनुकार्य का जितना आरोप होता है उतना तो काव्य-पाठक और कथावाचक पर भी आरोप हो जाता है।[1]

उपरूपक- नाट्यशास्त्र में अचर्चित होने पर भी परवर्ती कुछ लेखकों ने १८ उपरूपकों का भी वर्णन किया है। इनमें रस की प्रधानता न होकर भाव, ताल या लय की प्रधानता होने से इन्हें पूर्वलेखकों ने नृत्य और नृत्त की कोटि में रखा है किन्तु इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण भेद हैं जो रूपकों के समकक्ष हैं जैसे-नाटिका, सट्टक, त्रोटक। विश्वनाथ ने १८ उपरूपकों का यह क्रम रखा है- १. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्यरासक, ६. प्रस्थानक, ७. उल्लास्य, ८. काव्य, ९. प्रेंखण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५. दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणिका, १७. हल्लीश और १८. भाणिका।[2] शारदातनय ने इसमें पाँच अन्य भेद भी जोड़े हैं।

'नाटिका' को भरत, धनञ्जय आदि ने भी महत्त्व दिया है। कल्पित कथावस्तु पर आश्रित नाटिका में चार अंक होते हैं ; स्त्रीपात्रों का बाहुल्य एवं शृङ्गाररस की प्रधानता इसकी विशिष्टता है। इसका नायक धीरललित श्रेणी का कोई प्रसिद्ध राजा होता है। शृंगार रस के कारण कैशिकी वृत्ति एवं तदनुकूल गीत, नृत्य, वाद्य, हास्य आदि इसमें दिखाये जाते हैं। इसमें दो नायिकाएँ होती हैं- देवी (बड़ी रानी) तथा मुग्धा कन्या। देवी के भय से नायक नयी नायिका से छिप-छिप कर मिलता है। घटनाएँ अन्त:पुर में घटित होती हैं, बाहर के दृश्य इसमें नही रहते। उदयन को नायक बनाकर हर्ष ने 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नामक नाटिकाओं की रचना द्वारा इस विधा का प्रयोग किया था। भरत ने 'नाटी' के रूप में एक रूपक-भेद नाटक तथा प्रकरण के प्रयोग से माना था। धनञ्जय और धनिक भी इसे स्वीकार करते हैं कि प्रकरण के समान उत्पाद्य (कविकल्पित) कथानक एवं नाटक के समान प्रख्यात नायक इसमें होता है। (तत्र वस्तु प्रकरणात् , नाटकान्नायको नृप:, दशरूपक ३/४३ तथा वृत्ति)।

'सट्टक' भी नाटिका के समान होता है, इसीलिए शारदातनय ने इसे उसीका भेद माना है। इसमें सम्पूर्ण पाठ प्राकृत में होता है; प्रवेशक- विष्कम्भक का प्रयोग नहीं किया जाता है एवम् अद्भुतरस का प्राचुर्य होता है। अंकों को 'जवनिकान्तर' कहते हैं (साहित्यदर्पण ६/२७६-७)। राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक है। **तोटक** या **त्रोटक** में सात, आठ, नौ या पाँच अंक रहते हैं तथा देवता एवं मनुष्य दोनों का वर्णन रहता है। इसके प्रत्येक अंक में विदूषक रहता है; प्रधान रस शृङ्गार होता है। यह वस्तुत: शृङ्गारप्रधान नाटक का ही परिवर्तित रूप है। कालिदास का

---

१. डॉ० रामजी पाण्डेय- **भारतीय नाट्यसिद्धान्त, उद्भव और विकास**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (१९८२ ई०), पृ० ४५७।

२. **साहित्यदर्पण** ६/४-६; विवरण ६/२६९-३१३। द्रष्टव्य डॉ० पाण्डेय का उक्तग्रन्थ, पृ० ४५९-७५।

'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक है। उपरूपक के अन्य भेद महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उनके उदाहरण भी दुर्लभ हैं। स्थिति जो भी हो, नाट्य-रचना के प्रकारों के निरूपण में नाट्यशास्त्रियों की व्यापक दृष्टि तथा संस्कृत नाट्य की सर्वतोमुखी प्रवृत्ति महत्त्व रखती है।

रूपकों का कथानक

रूपकों के भेदक उपादानों में 'कथानक' या 'वस्तु' का प्रथम स्थान है। कथानक के कई प्रकार से भेद किये जाते हैं-

(१) **महत्त्व के आधार पर** आधिकारिक और प्रासङ्गिक ये दो भेद हैं। आधिकारिक कथानक प्रधान वस्तु को कहते हैं तथा प्रासङ्गिक सहायक या अङ्गस्वरूप वस्तु होती है। रामायण की कथा में सीता-राम का वृत्त आधिकारिक है जबकि विभीषण, सुग्रीव आदि की कथाएँ प्रासंगिक हैं। ये कथाएँ मुख्य कथानक की सहायता करती हैं। 'प्रासङ्गिक' कथानक के भी दो भेद हैं- पताका और प्रकरी। **पताका** दूर तक चलने वाली प्रासंगिक वस्तु है (सानुबन्धं पताकाख्यम्) जैसे- रामकथा में सुग्रीव का वृत्तान्त। **प्रकरी** अल्प प्रदेश तक सीमित कथावस्तु होती है (प्रकरी च प्रदेशभाक्) जैसे-उक्त रामकथा में श्रमणा (शबरी) का वृत्तान्त। इस प्रकार इस दृष्टि से कथानक अन्तत: आधिकारिक, पताका और प्रकरी - इन तीन भेदों का हो जाता है।

(२) **स्रोत के आधार पर** कथानक के तीन भेद हैं- प्रख्यात (इतिहास, पुराण आदि में आया हुआ), उत्पाद्य (कवि की कल्पना से आया हुआ) तथा मिश्र। नाटक में प्रख्यात, प्रकरण आदि में कल्पित तथा ईहामृग में मिश्र कथानक होता है।

(३) **अभिव्यक्ति के आधार पर** कथानक को पुन: 'सूच्य' और 'दृश्य-श्रव्य' के रूप में दो वर्गों में रखते हैं। जो कथांश नीरस, अनुचित तथा शास्त्रवर्जित हो उसकी केवल सूचना दी जाती है, मञ्च पर दिखाया नहीं जाता। उसे 'सूच्य' कहते हैं। दूसरी ओर जो कथांश मधुर, उदात्त (नैतिक) तथा रस या भाव से पूर्ण हो उसे ही दिखाया जाता है, रूपक में वह प्रभाव, डालता है तथा उसे रसमय बनाता है- इसे 'दृश्य' (या दृश्यश्रव्य) कहते हैं।[1] अंकों में इसी 'दृश्य' कथांश का समावेश होता है। 'सूच्य' कथाशों को अंकों से पृथक् - उनके आगे-पीछे- पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा प्रकट किया जाता है।

विस्तृत या मंच पर न दिखाये जा सकने योग्य कथा-भाग इसी प्रकार दो पात्रों के वार्तालाप के रूप में या अन्य प्रक्रियाओं से प्रकट होते हैं। ये अर्थोपक्षेपक हैं- विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य (अङ्कमुख) तथा अङ्कावतार। इनमें **विष्कम्भक** बीती हुई या भविष्य में घटने वाली घटनाओं का संक्षेप में निदर्शन करता है। इसका प्रयोग मध्यम श्रेणी के पात्रों (जो संस्कृत-भाषण करते हों) के द्वारा होता है। केवल संस्कृत का प्रयोग होने पर विष्कम्भक 'शुद्ध' होता है और यदि एक भी पात्र प्राकृत बोलता हो तो वह 'मिश्र' होता है (दशरूपक १/५९)। **प्रवेशक** भी विष्कम्भक के समान ही होता है क्योंकि अतीत और भविष्यत् घटनाओं की सूचना इसमें भी दी जाती है। किन्तु इसमें निम्नकोटि के पात्रों का प्रयोग होने से अनुदात्त वचन (प्राकृतभाषा) का ही निवेश होता है। यह दो अङ्कों के बीच में रखा जाता है अर्थात् प्रथमाङ्क के आरम्भ में नहीं

१. **दशरूपक** १/५७ नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्त-रसभाव-निरन्तरः॥

आता (जब कि विष्कम्भक आ सकता है)। **चूलिका** में पर्दे के पीछे बैठे हुए पात्रों के द्वारा घटना-विशेष (कथांश) की सूचना दी जाती है (अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना-दशरूपक१/६१)। **अङ्कमुख** (या अंकास्य) किसी अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी विच्छिन्न कथानक की सूचना को कहते हैं (अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्)। अङ्कावतार उसे कहते हैं जब किसी अंक के अन्त में मञ्चस्थ पात्र आगामी अंक की घटना की सूचना देते हैं। इसमें पूर्व अंक की कथावस्तु का बिना विच्छेद किये ही अन्य अंक की कथा चलती है (अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः)। इस प्रकार 'सूच्य' कथानक किसी रूपक में समाविष्ट होता है।

कथानक का विकास संस्कृत रूपकों में **पाँच अवस्थाओं**, **पाँच अर्थप्रकृतियों** और **पाँच सन्धियों** में किया जाता है। परिनिष्ठित रूपकों में (जैसे- नाटक या प्रकरण में) इन सबका प्रयोग होता है, कुछ रूपकों में सन्धियाँ सीमित संख्या में रहती हैं जिन्हें रूपक-भेदों में निर्दिष्ट किया गया है। इनके प्रयोग से कथानक का स्वाभाविक विकास होता है।

रूपक के फल की इच्छावाले नायक आदि के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की **पाँच अवस्थाएँ** होती हैं- आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा; नियताप्ति और फलागम। बहुत बड़े फल (प्रयोजन) को प्राप्त करने के लिए पात्र की उत्सुकता '**आरम्भ**' है (औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे- दश० १/२०)। जब वह फल न प्राप्त हो तब उसे पाने के लिए जो तेजी से योजना-सहित कार्य किया जाये, वह '**प्रयत्न**' है (प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः)। जहाँ उपाय के प्रयोग और विघ्न-बाधा की आशंका के कारण फलप्राप्ति के विषय में स्थिर निश्चय न हो सके वहाँ '**प्राप्त्याशा**' नामक अवस्था होती है (उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः)। '**नियताप्ति**' अवस्था में विघ्न के अभाव के कारण फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है (उपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता)। '**फलागम**' नामक अवस्था में समग्र फल की प्राप्ति हो जाती है (समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः, दशरूपक १/२२)।

कथानक को **पाँच अर्थप्रकृतियों** में भी विभक्त किया जाता है। यह विभाजन कथावस्तु की स्थितियों की दृष्टि से हुआ है जबकि अवस्थाएँ नायक के कार्य की दृष्टि से विभक्त होती हैं। अर्थप्रकृतियाँ कथानक का भौतिक विभाजन करती हैं जिनमें मुख्य और प्रासंगिक दोनों प्रकार की वस्तु की स्थितियाँ आलोचित होती हैं। ये संख्या में पाँच हैं- बीज, बिन्दु , पताका, प्रकरी तथा कार्य। इनमें '**बीज**' वह तत्त्व है जो रूपक के आरम्भ में अल्प रूप में निर्दिष्ट होता है, रूपक के फल का कारण है और वहाँ अनेक रूपों में फैलता है। किसी अन्य कथा से विच्छिन्न हो जाने पर कथानक को जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिए जो कारण प्रस्तुत हो उसे '**बिन्दु**' कहते हैं। प्रधान फल के सहायक प्रासंगिक वृत्त को '**पताका**' कहते हैं (व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते- साहित्यदर्पण ६/६७)। प्रासंगिक रूप में आये अल्प वृत्त को '**प्रकरी**' कहते हैं, इसके नायक का अपना कोई लक्ष्य नहीं रहता। '**कार्य**' उस साध्य को कहते हैं, जिसे पाने के लिए सभी उपाय आरम्भ किये गये हैं। इसी कार्य के लिए पताका और प्रकरी के नायक भी अपने साधनों को एकत्र करते हैं।

सन्धि-पञ्चक- किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध (अन्वित) कथांशों का जब किसी अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध दिखाया जाता है तो इसे 'सन्धि' कहते हैं। अर्थप्रकृति की दृष्टि से

कथांश 'कार्य' से और अवस्था की दृष्टि से 'फलागम' से जुड़े रहते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध सन्धि है (अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति)। प्राय: आचार्यों ने पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं के परस्पर योग को सन्धि का कारण माना है जिससे मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण- ये पाँच सन्धियाँ निर्मित होती हैं।[1] **'मुखसन्धि'** में नाना प्रकार के रसों को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है, इसमें बीज (अर्थप्रकृति) और आरम्भ (अवस्था) का संयोग होता है। 'शाकुन्तल' में प्रथमांक से लेकर द्वितीयांक में सेनापति के प्रस्थान तक की घटनाओं में मुखसन्धि है। उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन आदि १२ अंग इस सन्धि के होते हैं (मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्)।[2] **'प्रतिमुखसन्धि'** में कथानक दृष्ट और नष्ट की स्थिति में रहता है; अनुकूल वातावरण में फलाभिमुख होकर वह दृष्ट की स्थिति में आता है तो प्रतिनायक या दैव की प्रतिकूल शक्तियों से वह नष्ट-सा लगता है। इस सन्धि में बिन्दु (अर्थप्रकृति) और प्रयत्न (अवस्था) का संयोग होता है। इस सन्धि के १३ अंग हैं (बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित्- नाट्यशास्त्र १९/४०)। शाकुन्तल (अंक-२) में राजा और विदूषक के संवाद से लेकर तृतीयाङ्क तक की कथा इसी सन्धि के अन्तर्गत है।

'गर्भसन्धि' में उपर्युक्त दृष्ट-नष्ट बीज का बार-बार अन्वेषण होता है। इसमें पताका (अर्थप्रकृति) और प्राप्त्याशा (अवस्था) का संयोग होना चाहिए किन्तु कहीं-कहीं पताका नहीं भी रहती है (गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः-दशरूपक १/३६)। इसमें रूपक का प्रधान फल गर्भित रहता है। प्राप्ति (नायक-पक्ष से), अप्राप्ति (विघ्न या प्रतिनायक के पक्ष से) तथा अन्वेषण की स्थितियाँ रहती हैं। पताका के अवान्तर या प्रासंगिक होने के कारण अनिवार्यता नहीं है। 'शाकुन्तल' में चतुर्थ अंक से आरम्भ करके पञ्चम अंक में शकुन्तला के मुख से गौतमी द्वारा पर्दा हटाये जाने तक यही सन्धि है, उस समय दुर्वासा का शाप राजा की स्मृति नष्ट कर देता है। इस सन्धि के १२ अंग होते हैं।

'विमर्शसन्धि' (या अवमर्श) में गर्भसन्धि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार हो जाता है फिर भी उसके फलोन्मुख होने में बाधाएँ रहती हैं। फल-प्राप्ति के विषय में यहाँ क्रोध, दुःख या लोभ से विचार किया जाता है तथा बीज का निर्भेद होता है। इसके १३ अंग होते हैं- अपवाद, संफेट आदि। 'शाकुन्तल' में षष्ठ अंक इसी सन्धि से सम्बद्ध है। **'निर्वहणसन्धि'** में कार्य (अर्थप्रकृति) और फलागम (अवस्था) का योग होता है। सभी प्रयोजन पूर्ण होकर फल की प्राप्ति हो जाती है। सभी विच्छिन्न कथाएँ इसमें समेट ली जाती हैं। उनका प्रधान फल में अन्वय हो जाता है।[3] इसके १४ अंग होते हैं- सन्धि, विबोध, ग्रथन इत्यादि। इसका अन्त प्रशस्ति से होता है इसे ही **'भरतवाक्य'** भी कहते हैं। 'शाकुन्तल' में सप्तम अंक इसी सन्धि का रूप है।

संवाद (रूपक के पाठ्य) के भेद- नाट्यधर्म को ध्यान में रखकर अर्थात् रूपक के पाठ्यांश की दृष्टि से वस्तु का विभाग तीन प्रकार से किया जाता है- सर्वश्राव्य (मञ्च पर स्थित

---

१. **दशरूपक** १/२२-३ अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः ॥

२. वहीं १/२४-५।

३. **दशरूपक** १/४८-९ बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥

सबके सुनने के लिए), नियतश्राव्य (मञ्च के कुछ ही लोगों के सुनने के लिए) और अश्राव्य (किसी अन्य के न सुनने के लिए)। इनमें '**सर्वश्राव्य**' पाठ्य को बिना किसी निर्देश के या 'प्रकाशम्' कहकर प्रस्तुत किया जाता है। सामाजिक (रूपक के प्रेक्षक, दर्शक) तो तीनों प्रकार के पाठ्यों को सुनते हैं किन्तु इसे मञ्च पर के सभी पात्र भी सुनते हैं। '**नियतश्राव्य**' के दो भेद है - जनान्तिक तथा अपवारित। रंगमञ्च पर अन्य पात्रों के रहने पर भी, जब दो पात्र परस्पर इस प्रकार बातें करें कि दूसरों को सुनाना अभीष्ट न हो तो इसे '**जनान्तिक**' कहते हैं। जिन लोगों को सुनाना अभीष्ट न हो उनकी ओर एक हाथ की सभी अंगुलियाँ ऊँची करके और अनामिका अंगुली को झुकाकर ये पात्र बातें करते हैं इस विधि को '**त्रिपताकाकर**' कहते हैं। दर्शक समझ जाते हैं कि इन पात्रों के वार्तालाप को दूसरे नहीं सुन रहे हैं। जब कोई पात्र दूसरी ओर मुँह फेरकर अन्य पात्र से गोपनीय बातें कहता है तो इसे '**अपवारित**' कहते हैं। संवाद के पाठांश में 'अपवार्य' कहकर इसका निर्देश नाट्यकार करता है। '**अश्राव्य**' पाठ्य को 'स्वगत' या 'आत्मगत' कहकर निर्दिष्ट किया जाता है। इसे मञ्चस्थ कोई पात्र नहीं सुनता। इसमें 'आत्मोद्गार' या 'आत्मचिन्तन' प्रकट होता है। भारतीय नाट्य-साहित्य में स्वगत-भाषण (Soliloquy) को स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं किन्तु पाश्चात्य नाट्य-जगत् में इसका प्रयोग विचार-विमर्श का विषय (topic of discussion) माना जाता है। वहाँ नियतश्राव्य और अश्राव्य के प्रयोग से किसी पात्र की कथनी-करनी (विचार और कार्य) में अन्तर का ज्ञान सामाजिक को होता है।

इस प्रसंग में कभी-कभी '**आकाशभाषित**' का भी प्रयोग होता है। मञ्चस्थ पात्र जब किसी ऐसे पात्र से बातें करता है जो सामाजिक के लिए अदृश्य है तो इसे 'आकाशभाषित' की प्रक्रिया कहते हैं।[1] मञ्चस्थ पात्र पूछता है- किं ब्रवीषि (क्या कहते हो)? इसके बाद वह अदृश्य पात्र का कथन सुनाता है तथा उत्तर भी देता है। वस्तुत: वहाँ मञ्चस्थ पात्र ही प्रश्न और उत्तर दोनों देता है। ऐसा एकपात्रीय भाषण (monologue) 'भाण' की विलक्षणता है। आज भी एकपात्रीय अभिनय के रूपक (mono-acting drama) प्रचलित हैं

रूपकों के पात्र

किसी रूपक के अभिनय में मूल पात्रों (अनुकार्य) की विविध अवस्थाओं का अनुकरण अभिनेता द्वारा होता है जिनसे दर्शक तादात्म्यापत्ति प्राप्त कर लेता है। मूल पात्रों के चरित्र दर्शक के मानस पर प्रभाव डालते हैं। ये पात्र अभिनेताओं के कौशल से मञ्च पर सजीव हो उठते हैं अभिनेताओं को ही दर्शक मूलकथा का पात्र मान लेता है। पात्रों के द्वारा ही कथानक विकसित होता है, अत: नाट्यशास्त्रियों ने पात्रों पर विचार किया है किन्तु प्रधानफल को पानेवाले नायक और नायिका के विवेचन में ही उनकी समस्त मेधा का उपयोग हुआ है; अन्य पात्रों पर उनकी दृष्टि गम्भीर रूप से नहीं पड़ी है। नायक-नायिका का वर्गीकरण रस की दृष्टि से भी आवश्यक रहा है अत: विवेचनों का सार प्रस्तुत करना प्रासंगिक है।

नायक- नायक को रूपक का प्रधानफल प्राप्त होता है, इसीलिए प्रत्येक अंक में वह साक्षात् उपस्थित या परोक्षत: चर्चित होता है। उसके गुणों की सूची धनञ्जय ने दी है। इन गुणों में से

---

१. वही १/६७ किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥

अधिकाधिक लेकर नायक में दिखाये जाते हैं। कुल २२ गुण दिये गये हैं– नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि (शुद्धहृदय). रक्तलोक (सबको प्रसन्न रखनेवाला), वाग्मी (वार्तालाप में कुशल), कुलीन, स्थिर (धैर्यवान्), युवा, बुद्धिमान्, स्मृति-सम्पन्न, प्रज्ञावान् , उत्साही, कलावान् , आत्मसम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ एवं धार्मिक होना चाहिए।[१] इन लक्षणों से सामान्यतः सम्पन्न होने पर भी नायक के चार भेद किये गये हैं– धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त।

इनमें **धीरोदात्त** नायक अतिगम्भीर, शोकादि विकारों से विचलित न होनेवाला, क्षमाशील, आत्मप्रशंसा से दूर, स्थिर चित्त वाला, अहंकार को अपनी विनम्रता से प्रच्छन्न रखनेवाला और अपने स्वीकृत कार्य का निर्वाहक (दृढव्रत) होता है–

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।।[२]

राम, दुष्यन्त आदि धीरोदात्त नायक के उदाहरण हैं। **धीरोद्धत** नायक दर्प और मात्सर्य (ईर्ष्या) से भरा हुआ, माया–छल–कपट से पूर्ण, अहंकारी, चञ्चल, क्रोधी और आत्मश्लाघी होता है। शूरता, नीति–कौशल आदि का उसे दर्प (घमंड) रहता है–

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।।[३]

इसके उदाहरण भीम, चाणक्य आदि हैं। **धीरललित** नायक निश्चिन्त, कोमल प्रकृति का, सुखजीवी और नृत्य-गीतादि कलाओं में आसक्त रहता है (**निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः**)।[४] अपने मन्त्रियों पर राज्य का भार छोड़कर अन्तःपुर में विहार करने वाले राजा इसी कोटि के नायक होते थे। जैसे - रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटिकाओं में उदयन। **धीरप्रशान्त** नायक सामान्य गुणों से युक्त विप्र, वैश्य या मन्त्रिपुत्र होता है (**सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः**)।[५]

शृङ्गाररस के नायक को काम-प्रवृत्ति की दृष्टि से अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट- इन चार भेदों का माना गया है। **अनुकूल नायक** सदा अपनी स्त्री (नायिका) के प्रति अनुरक्त रहता है, अन्यस्त्रियों से दूर रहता है। **दक्षिण नायक** अनेक नायिकाओं से समान अनुराग रखता है। **शठ नायक** अपनी स्त्री को ठगता है, उससे छिपकर नई स्त्री से प्रेम करता है। **धृष्ट नायक** निर्लज्ज होता है, ज्येष्ठा नायिका की जानकारी में वह नई प्रेमिका से मिलता रहता है तथा समागम-लक्षणों को देखकर भी नहीं लजाता ।

नायक में आठ **सात्त्विक गुण** या अलंकार कहे गये हैं- शोभा (शूरता, दक्षता, सत्यवादिता

---

१. दशरूपक २/१-२।
२. वही २/४-५।
३. वही२/५-६।
४. वही २/३।
५. वही २/४।

आदि), विलास (दृष्टि में धीरता, गति में विचित्रता, आलाप में मन्दहास), गाम्भीर्य (विकारों के समय विचलित न होना), स्थैर्य (संकटों में स्थिर होना), तेज (अपमान को न सहना), लालित्य (शृंगारपरक चेष्टाएँ), माधुर्य (मानसिक क्षोभ में अत्यल्प विकृति) तथा औदार्य (दान, परोपकार, प्रियभाषण)। ये गुण नायक के चरित्र को आकर्षक बनाते हैं।

नायक के कामविषयक मित्रों (सखाय:) के चार भेद होते हैं- **पीठमर्द** (मानवती नायिका को प्रसन्न करके नायक के अनुकूल बनाने वाला), **विट** (कामशास्त्र, गीत आदि में निपुण), **चेट** (नायक-नायिका को मिलाने में कुशल) तथा **विदूषक** (विकृत वेश, वचन आदि से हास्य उत्पन्न करने वाला)। ये सभी नायक के 'शृङ्गार-सहायक' हैं। इसी प्रकार उसके धर्मसहायक पुरोहित, आचार्य, गुरु आदि होते हैं। मन्त्री (सचिव, अमात्य) अर्थसहायक होते हैं। कुमार, सुहृद, दण्डनायक आदि दण्ड-सहायक हैं तो संवादसहायक में दूतों की गणना होती है। उसके अन्त:पुर में नपुंसक, किरात, मूक, वामन आदि भी अपने-अपने कार्यों के उपयोग में आते हैं (दशरूपक २/४४)

नायिका

जिस सुन्दरी को देखकर हृदय में रतिभाव उत्पन्न हो, उसे नायिका कहते हैं। शृङ्गार-प्रधान रूपकों में नायिका अनिवार्य है। आचार्यों ने नायिका में शोभा, कान्ति, दीप्ति और यौवन- ये गुण आवश्यक कहे हैं। वैसे चरकसंहिता में वयस् , रूप, वचन तथा हाव से युक्त सौन्दर्य के लक्षण कहे गये हैं जो किसी युवती के प्रिय होने के कारण हैं। नायिका के भेदों के वर्णन में काव्यशास्त्रियों ने अपनी उर्वर प्रतिभा का निवेश किया है। नायिकाभेद के न्यूनतम छह आधार है जिनमें कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये भेद हैं-

(क) सामाजिक व्यवहार के अनुसार नायिका को स्वीया (अपनी स्त्री), परकीया (प्रेमिका) तथा सामान्या (वेश्या, गणिका) इन तीन भेदों में माना गया है।

(ख) वय के अनुसार उसे मुग्धा (युवावस्था में पदार्पण करने वाली), मध्या और प्रगल्भा (या प्रौढा-कामचतुर) मानते हैं।

(ग) मान (रूठने) की दृष्टि से नायिका को धीरा, अधीरा और धीराधीरा के रूप में तीन प्रकार का कहा गया है। नायक अन्य नायिका से प्रेम करता हो तो धीरा तानें सुनाकर उसे मानसिक चोट पहुँचाती है, धीराधीरा रोती भी है और तानें भी सुनाती है। अधीरा कोप से नायक को कटुवचन सुनाती है। ये तीनों भेद मध्या एवं प्रौढा (प्रगल्भा) के होने से यहीं पर छह भेद हो जाते हैं। उपर्युक्त लक्षण मध्या के हैं।[1]

(घ) प्रकृति या गुण के अनुसार नायिका उत्तमा, मध्यमा और अधमा के रूप में तीन प्रकार की होती है।

(ङ) पति के प्रेम के अनुसार ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये दो प्रकार कहे गये हैं। नाटिका में इन दोनों प्रकारों की नायिकाएँ रहती हैं।

---

१. **दशरूपक** २/१७　धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या. मध्या साश्रु कृतागसम्।
　　खेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम्॥

(च) अवस्था के अनुसार इनके आठ भेद हैं–स्वाधीनभर्तृका (जिसका पति साथ में हो, नायिका के वश में हो), वासकसज्जा (अपने को तथा घर को सजाकर रखने वाली जिससे प्रियतम प्रसन्न हो), विरहोत्कण्ठिता (पति के अपराधी न होने पर भी, उसके देर करने से उत्कण्ठित होकर प्रतीक्षा करने वाली), खण्डिता (प्रियतम के अन्य स्त्री से समागम को जानकर ईर्ष्या से भरी हुई), कलहान्तरिता (पति के अपराधी होने पर उसका तिरस्कार करके पछताने वाली), प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश चला गया हो) तथा अभिसारिका (कामपीडित होकर नायक के पास जाने वाली या उसे ही अपने पास बुलाने वाली)।

नायिका को उसके प्रियतम से मिलानेवाली स्त्रियाँ (दूती, दासी, सखी, निम्नकुलों की स्त्रियाँ, धात्री की पुत्री, पड़ोसन आदि) नायक के मित्रों (पीठमर्द, विट आदि) के गुणों से युक्त होती हैं। काव्यों और नाटकों में इनका यथोचित प्रयोग मिलता है।

नायिकाओं के अलंकार– रूपकों में अभिनय की दृष्टि से नायिकाओं के बीस अलंकार कहे गये हैं जो अंगज (३), अयत्नज (७) तथा स्वभावज (१०) इन तीन वर्गों में विभक्त हैं। इनमें नायिका की सुन्दरता बढ़ाकर उनके हाव-भाव से नायक को आकृष्ट करने की कलाओं का निरूपण किया गया है। भाव (विकार का प्रथम स्फुरण), हाव (आँखें, भौं इत्यादि का स्पन्दन) एवं हेला (स्पष्ट रूप से प्रीति का प्रकाशन)- ये तीनों **अंगज अलंकार** हैं। सात **अयत्नज अलंकार** हैं- शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य एवं धैर्य। दस **स्वभावज अलंकार** है– लीला, विलास, विच्छित्ति (अल्प सजावट से कान्ति बढ़ाना), विभ्रम (हड़बड़ी में आभूषणों को जैसे-तैसे पहन लेना), किलकिञ्चित (क्रोध, आँसू , हर्ष और भय का मिश्रण), मोट्टायित (प्रियतम की बातों का श्रवण, मनन करते हुए भावों से प्रभावित होना), कुट्टमित (नायक के स्पर्शादि से भीतरी आनन्द होने पर भी कोप दिखाना), बिब्बोक (गर्व और अभिमान से अभीष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर प्रकट करना), ललित (कोमल तथा स्निग्ध अंग-विन्यास) एवं विहृत (अवसर पाकर भी लज्जावश अनुकूल वाक्य न बोलना)।[1]

नाट्यवृत्तियाँ

काव्य या नाट्य में प्रयुक्त पात्रों का व्यवहार 'वृत्ति' के नाम से जाना जाता है। काव्यशास्त्र में काव्यवृत्ति और नाट्यवृत्ति का पृथक् प्रयोग होता है। उपनागरिका, परुषा और कोमला के रूप में जहाँ तीन काव्यवृत्तियाँ कही गई हैं,[2] वहाँ नाट्यवृत्तियाँ चार है- भारती, सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी। इनका प्रधान लक्ष्य सामाजिकों के हृदय में रूपकों के द्वारा रसोद्भावन करना है। काव्यवृत्तियाँ इस कार्य को काव्य के अक्षरों द्वारा करती हैं तो रूपक में शब्द, अर्थ, वेश-भूषा, पात्र-व्यवहार आदि सबको साधन बनाया जाता है। वृत्तियों को 'नाट्यमातर:' कहकर इनका महत्त्व दिखाया गया है। चार वृत्तियों में भारती शब्द-वृत्ति है सभी रसों में अनिवार्य है जब कि शेष तीन वृत्तियाँ अर्थ-वृत्ति हैं, सीमित रसों में प्रयुक्त होती हैं। भारती वाचिक अभिनय से सम्बद्ध है; अन्य वृत्तियों में नृत्य, गीत, वाद्य एवं रसानुकूल भावों का प्रदर्शन होता है। रसों की व्यवस्था इस प्रकार

---

१. **दशरूपक** २/३३-४२ ; **साहित्यदर्पण** ३/९३-१०६।

२. यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ है–नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार:। –**काव्यप्रकाश** ९/७९ की वृत्ति।

है- शृङ्गार (तथा तदाश्रित हास्य) रस में कैशिकी, वीर (तथा तदाश्रित अद्भुत) रस में सात्त्वती, रौद्र (एवं तदाश्रित करुण) रस तथा बीभत्स (एवं तदाश्रित भयानक) रस में आरभटी का प्रयोग होता है। भारती शब्दवृत्ति होने से सभी रसों में प्रयुक्त होती है-

शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती।।[1]

भरत का मत है कि ये वृत्तियाँ चारों वेदों से निकली हैं। ऋग्वेद से भारती (शब्दप्रधान होने से), यजुर्वेद से सात्त्वती (शौर्य, दया आदि से सम्बद्ध), सामवेद से कैशिकी (नृत्य-गीत-प्रधान कोमल वृत्ति) और अथर्ववेद से आरभटी (वध-युद्ध-इन्द्रजाल आदि से सम्बद्ध) का उद्भव हुआ है (नाट्यशास्त्र २२/१४)। इन वृत्तियों का परिचय दिया जाता है-

(१) भारती वृत्ति

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः (दशरूपक ३/५)। यह नट के द्वारा प्रयुक्त, संस्कृतभाषा में प्रकट होने वाला, वाचिक व्यापार है। स्त्रियाँ इसका प्रयोग नहीं करतीं। भरत ने कहा है- **या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता,** (नाट्यशास्त्र २२/२५)। उनके अनुसार वाक्प्रधान करुण (विलाप आदि में शब्द-प्रयोग के कारण) तथा अद्भुत (विस्मय की प्रतिक्रिया बताने के कारण) रस में इसका विशेष रूप से प्रयोग होता है, वैसे यह सर्वरसमयी वृत्ति है। प्ररोचना, आमुख, प्रहसन और वीथी के रूप में इसके चार अंग हैं। विषय की प्रशंसा करके दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाना '**प्ररोचना**' है; वार्तालाप के द्वारा मुख्य नाट्यवस्तु की प्रस्तुति का उपक्रम करना '**आमुख**' है; इसे ही रूपक की 'प्रस्तावना' भी कहते हैं। वीथी तथा प्रहसन तो रूपक-भेद हैं। आचार्यों ने भारती वृत्ति का सम्बन्ध इनसे स्पष्ट नहीं किया है किन्तु यह अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वीथी और प्रहसन प्रस्तावना के ही अंग थे। हास्यरस की बातें कहकर या शृंगार-प्रधान उक्ति-प्रत्युक्ति से दर्शकों का मनोरंजन अभिनेता (नट) करते होंगे और तभी नाटक के प्रति उन्हें उन्मुख किया जाता होगा। आगे चलकर वीथी और प्रहसन ने स्वतन्त्र रूपकों का स्वरूप ले लिया।[2] जो भी हो, भारती वृत्ति का सम्बन्ध नाट्य-व्यापार से नहीं, अपितु वाचिक अभिनय से ही है। प्रस्तावना में ही यह वचोविन्यास अधिक रहता है, नाट्यव्यापार शून्यवत् रहता है।

(२) कैशिकी वृत्ति

गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गारमयी चेष्टाओं से कोमल भावों को उत्पन्न करने वाला नाट्य-व्यापार 'कैशिकी वृत्ति' है। काम-रूप पुरुषार्थ को उभारना इसका लक्ष्य है। शृङ्गार रस का वातावरण इसमें उत्पन्न होता है। विश्वनाथ ने नाट्यशास्त्र के लक्षण को ही ईषत्परिवर्तन से प्रस्तुत किया है।[3] इसमें स्त्री-पुरुष दोनों के व्यापार प्रकट होते हैं। इसके चार अंग हैं- **नर्म** (प्रिय व्यक्ति

---

१. **दशरूपक** २/६२

२. डॉ० रामजी पाण्डेय- **भारतीय नाट्यसिद्धान्तः उद्भव और विकास**, पृ० १२८।

३. **साहित्यदर्पण** ६/१२४ या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता।।

के चित्त को प्रसन्न करने वाला विलासपूर्ण व्यापार)[1], **नर्मस्फिञ्ज** (नायक-नायिका के प्रथम समागम के समय आनन्द के बाद भय होना), **नर्मस्फोट** (अल्प प्रकाशित भावों से शृंगार रस की सूचना) तथा **नर्मगर्भ** (अपने प्रयोजन से नायक का प्रच्छन्न व्यापार)। कैशिकी के अंगों में हास्य का प्रयोग होता भी है और नहीं भी।

(३) सात्त्वती वृत्ति

विशोका सात्त्वती सत्त्व-शौर्य-त्याग-दयार्जवैः (दशरूपक २/५३)। नायक का शोक-रहित व्यापार 'सात्त्वती' है जिसमें सत्त्व (उत्साह), शौर्य, त्याग, दया, हर्ष, कोमलता आदि भावों का प्रकाशन हो। सत्त्वयुक्त व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। वीर और अद्‌भुत रस का इससे समुचित प्रतिपादन होता है। इसके भी चार अंग हैं- **संलापक** (अनेक भावों तथा रसों से भरी गम्भीर उक्ति) **उत्थापक** (युद्धादि के लिए किसी को ललकारना), **सांघात्य** (शत्रुसंघ का बुद्धिबल से भेदन)[2] एवं **परिवर्तक** (प्रारम्भ किये गये कार्य को त्यागकर अन्य कार्य करना)। इन अंगों के उदाहरण धनिक ने महावीरचरित और मुद्राराक्षस से ही दिये हैं।

(४) आरभटी वृत्ति

इस वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्‌भ्रान्त चेष्टाएँ, वध, बन्धन आदि उद्धत व्यापारों का निवेश होता है। विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है-

मायेन्द्रजाल-संग्राम-क्रोधोद्‌भ्रान्तादिचेष्टितैः।
संयुक्ता वध-बन्धाद्यैरुद्धताऽऽरभटी मता ।।[3]

'माया' का अर्थ है अवास्तविक पदार्थ को मन्त्रबल से प्रकाशित करना। 'इन्द्रजाल' में यही कार्य तन्त्रबल से होता है (धनिक-दशरूपावलोक २/५६)। इसके भी चार अंग हैं- **संक्षिप्तिका** (शिल्प द्वारा छोटी वस्तु की रचना या नायक का परिवर्तन), **संफेट** (कुपित पात्रों का कलह जैसे-लक्ष्मण-मेघनाद में या माधव-अघोरघण्ट में), **वस्तूत्थापन** (मन्त्रबल से किसी वस्तु को प्रकट करना) तथा **अवपात** (किसी भयंकर वस्तु के प्रवेशादि से पात्रों की भगदड़, भय से पलायन)। यह वृत्ति रौद्र, बीभत्स आदि रसों के अनुकूल पड़ती है।

अङ्क-योजना

नाट्यकार अङ्कों में अपनी कृति का विभाजन करता है। इनमें नायक या पात्र के कार्यों का प्रत्यक्ष वर्णन होता है, अतः अंकों को रस-भाव से पूर्ण होना चाहिए। अंकों में प्रधान रूप से

१. नर्म के तीन भेद हैं- हास्ययुक्त, शृंगारयुक्त और भययुक्त। अन्तिम दोनों के क्रमशः तीन और दो भेद होते हैं। इस प्रकार छह नर्म हुए। इन छहों के पुनः पुनः तीन-तीन भेद हैं- वाणीप्रकाश्य, वेश-प्रकाश्य तथा चेष्टा-प्रकाश्य।

२. शत्रुभेदन के तीन साधन हैं- **मन्त्रशक्ति** (जैसे चाणक्य द्वारा राक्षस के सहायकों का भेदन), **अर्थशक्ति** (उसी नाटक में पर्वतक के आभूषणों को राक्षस के पास पहुँचाकर उसका मलयकेतु से भेदन) तथा **दैवशक्ति** (रामायण में रावण से विभीषण का भेदन)।

३. **साहित्यदर्पण** ६/१३२-३३।

वीर या शृंगार रस का उद्भावन हो, अन्य रस गौण रूप से दिखाये जाते हैं, यद्यपि यह नियम प्रायिक है। अन्तिम अंक में निर्वहण-सन्धि के प्रसंग में अद्‌भुत रस की योजना होती है क्योंकि विच्छिन्न कथाओं को जोड़ने में विस्मय होना स्वाभाविक है। विष्कम्भक, प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपकों में नायक का प्रत्यक्ष चरित नहीं दिखाया जाता जबकि अंक में ऐसा किया जाता है। नाना प्रयोजनों का सम्पादन तथा रस का समावेश ये दोनों 'अङ्क' के लिए आवश्यक हैं (अङ्को नानाप्रकारार्थ-संविधानरसाश्रयः, दशरूपक ३/३१)।

अङ्क में उतनी ही घटनाओं को समाविष्ट किया जाता है जो एक दिन की हों। वे सब एक ही प्रयोजन से सम्बद्ध हों। उसमें नायक की प्रत्यक्ष स्थिति या आसन्नवर्तिता प्रकट हो (एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्)। एक अंक में मंच पर तीन-चार से अधिक पात्रों को एक बार में न रखे, अन्त में सभी पात्रों को मञ्च से बाहर चला जाना चाहिए (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)। अंक में रस का इतना परिपोष न हो कि कथानक विच्छिन्न हो जाये। कथावस्तु, अलङ्कार या नाट्यलक्षणों के भार से रस को तिरोहित भी न होने दें–

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।।[1]

अङ्क में वर्जनीय घटनाओं और दृश्यों को नहीं दिखाना चाहिए। ऐसे वर्जनीय दृश्य हैं– लम्बी यात्रा, वध, युद्ध, राज्य या देश में क्रान्ति होना, नगर पर घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरति (कामक्रीडा), उबटन लगाना, वस्त्र-धारण इत्यादि। इन्हें मंच पर प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। प्रवेशक आदि से इनके विषय में सूचना दे सकते हैं।[2] भरत ने नाट्यशास्त्र (१८/२१) में कहा है–

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरावरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ।।

अधिकारी (नायक) के वध की सूचना तो प्रवेशक आदि के द्वारा भी प्रस्तुत न करे क्योंकि उसे नाटक का फल मिलना है, यदि उसे मार दिया जाये तो फल किसे मिलेगा? इस प्रकार पाश्चात्य 'दुःखान्त रूपक' (tragedy) का खण्डन किया गया है। धनञ्जय कहते हैं कि आवश्यक कार्य (जैसे देवपूजा, पितृतर्पण) को छोड़ना भी नहीं चाहिए–

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च। (दशरूपक ३/३६)

नान्दी, प्रस्तावना तथा भरतवाक्य

संस्कृत रूपकों में सामान्य रूप से इन तीनों प्रविधियों का अनिवार्यतः प्रयोग होता है। इसलिए इनका परिचय देना आवश्यक है।

(१) नान्दी

रूपक के प्रारम्भ में आशीर्वचन से युक्त किया गया मांगलिक अनुष्ठान ही नान्दी है जिसमें

१. **दशरूपक** ३/३२-३। यहाँ 'लक्षण' का अर्थ भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्य के ३२ लक्षण हैं।
२. वही ३/३४-५।

देव, ब्राह्मण, राजा आदि की स्तुति की जाती है और दर्शक, कवि एवं प्रयोक्ता (अभिनेता) की मंगलकामना भी होती है।[1] मंगलाचरण को आरम्भ करने वाले नट ही १,२ या तीन पद्यों में किसी देवता का वर्णन करके सामाजिकों के कल्याण की प्रार्थना करते हैं जैसे- **सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः** (हनुमन्नाटक); कहीं-कहीं केवल नमस्कार-वचन ही होता है, आशीर्वाद नहीं जैसे- **इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे** (उत्तररामचरित)। सामान्यतः रूपक के प्रथम या आरम्भिक पद्यों को ही नान्दी कहते हैं जिनके बाद 'नान्द्यन्ते प्रविशति सूत्रधारः' का रंग-निर्देश रहता है। कभी-कभी प्रथम पद्य के पूर्व ही रंग-निर्देश दिया जाता है (नान्द्यन्ते) जैसे-भास के रूपकों में, नागानन्द, विक्रमोर्वशीय या मुद्राराक्षस की कुछ हस्तलिपियों में। इससे ज्ञात होता है कि पहले नान्दी पूर्वरंग के रूप में होती थी; रूपक के अभिनय के पूर्व कुछ मांगलिक अनुष्ठान होते थे, उन्ही में नान्दी भी थी। इससे नाटककार का कुछ लेना-देना नहीं था। क्रमशः प्रथा यह चली कि नाटककार ही 'नान्दी' को प्ररोचना के समान अपने नाटक में रखने लगा। सूत्रधार नेपथ्य से नान्दी-पाठ करने लगा।

(२) प्रस्तावना

रूपक का आमुख प्रस्तावना है। नान्दी के बाद और रूपक का मुख्य पाठ्य (अंक या विष्कम्भक) आरम्भ होने के पूर्व प्रस्तावना होती है। यह संक्षिप्त (जैसे-भास के रूपकों में) या बहुत विस्तृत (जैसे-प्रसन्नराघव में) भी होती है। इसमें नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक (नटवत् पुरुष) सूत्रधार के साथ वार्तालाप करते हैं, इससे काव्यार्थ और कवि का परिचय मिलता है। वे लोग वक्रोक्ति या सरलोक्ति से सम्बद्ध नाट्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। इसमें कभी-कभी प्रकृति-वर्णन, उत्सव-वर्णन आदि किये जाते हैं। प्रस्तावना से कवि का परिचय मिलता है जिससे इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। सूत्रधार या उसी की वेश-भूषा वाला स्थापक नाट्य की मुख्य भूमि का आरम्भ प्रस्तावना के अन्त में वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना के द्वारा करता है। यह सब भारती वृत्ति के द्वारा प्रस्तुत होता है। प्रस्तावना के कई भेद नाट्यशास्त्रियों ने दिखाये हैं।

(३) भरतवाक्य

रूपक के अन्त में नायक मङ्गलाचरण के रूप में आशीर्वाद-कामना, प्रार्थना या शुभकामना के रूप में पद्य-प्रयोग करता है जिसे नाट्याचार्य भरत के नाम पर '**भरतवाक्य**' कहा जाता है। अत्यन्त प्राचीन भास के रूपकों से लेकर आधुनिक युग के रूपकों तक में इसका प्रयोग मिलता है। नाटक का धर्मार्थकाम-रूपी फल मिल जाने पर नायक इष्टदेव से वर माँगते हुए उनकी स्तुति करता है। इसमें समकालिक राजा, समाज, या देश को नाटककार आशीर्वाद देता था।

रूपक और रस

दृश्यकाव्य के भेदक उपादानों में रस को तृतीय स्थान दिया गया है। कथानक और नायक से रस की महत्ता कम नहीं है। भरत ने तो नाट्य में कोई अर्थ रस के अभाव में निरर्थक कहा

---

१. **साहित्यदर्पण** ६/२४ आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
भरत (नाट्यशास्त्र ५/२४) ने भी यही लक्षण दिया है। केवल 'स्तुतिः' के स्थान पर 'नित्यं' है।

है- न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते (नाट्यशास्त्र ६/३१ के बाद)। दर्शकों में रसोद्भावन करना भारतीय नाट्य का मुख्य लक्ष्य है। धनञ्जय ने रूपकों को 'रसाश्रय' कहकर और ग्रन्थ के अन्तिम प्रकाश (अध्याय) में रस का विवेचन करके यह संकेत दिया है कि भेदक तत्त्वों में कथावस्तु और नायक साधन-मात्र हैं, रस ही रूपक का साध्य है।

रस का प्रथम काव्यशास्त्रीय प्रयोग भरत ने ही किया है। उनके अनुसार रस आस्वाद्य होता है। जिसके द्वारा भावों का आस्वादन हो उसे रस कहते हैं। रसनं रस: आस्वाद: - इस व्युत्पत्ति से 'रस' शृङ्गार आदि का बोध कराता है। आधुनिक दृष्टि से रस को व्यापक परिवेश में काव्यानुभूति, कलानुभूति या सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic Experience) भी कहा गया है। वस्तुत: रस स्थायी भाव की परिपक्वता है जो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से उद्भावित होता है। भरत का इस विषय में सूत्र है- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः (नाट्यशास्त्र ६/३१ के बाद)।

भरत ने अपने इस रस-सूत्र को स्पष्ट करने के लिए दो अध्यायों में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की धारणा का विवेचन किया है। भरत का रस-विवेचन निम्नांकित बिन्दुओं पर आश्रित है- (१) रस अनुभूति का विषय है, स्वयम् अनुभूति नहीं है। (२) रस में विभिन्न भावों का विलय होता है अर्थात् विभावादि अपनी स्वतन्त्र सत्ता त्याग कर रस में एकतापत्ति प्राप्त करते हैं; (३) विभावादि एवं तीन प्रकार के अभिनयों (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक) से संयुक्त होकर स्थायी भाव ही रस का रूप ले लेता है; (४) जिस प्रकार अनेक व्यंजनों और ओषधियों के संयोग से पाक-रस उत्पन्न होता है उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है; (५) रस का आस्वाद लौकिक है। विविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए भोक्ता को आनन्द मिलता है, ठीक उसी प्रकार अनेक भावों तथा अभिनयों से प्रकट होने वाले स्थायी भाव का आस्वादन करके दर्शक आनन्दानुभूति करता है। रसानुभूति आनन्दमय होती है। (नाट्यशास्त्र ६/३१ के बाद)।

भरत के रससूत्र में प्रयुक्त विभाव आदि का स्वरूप तो स्पष्ट है किन्तु 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' के अर्थ अस्पष्ट हैं। इसीलिए नाट्यशास्त्र के चार व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी व्याख्याओं में रसनिष्पत्ति के पृथक्-पृथक् सिद्धान्त प्रस्तुत किये जो क्रमश: विकासोन्मुख हैं। इन सिद्धान्तों को अभिनवगुप्त ने अपनी टीका 'अभिनवभारती' में तथा मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' (उल्लास-४) में समझाया है। भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्ति-वाद -ये चार रस-सिद्धान्त हैं। 'निष्पत्ति' को इन वादों में उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति या अभिव्यक्ति कहा गया है। परवर्ती सभी आचार्यों ने अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को ही श्रेष्ठ मानकर स्वीकार किया है। नाट्य के प्रसंग में इन विवादों में न उलझकर रस के स्वरूप के मान्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है।

सहृदयों के मन में रति (प्रेम) आदि स्थायी भाव सदा वासना के रूप में रहते हैं अर्थात् अव्यक्त संस्कार के रूप में अवस्थित होते हैं। आलम्बन और उद्दीपन **विभाव** के द्वारा वे आविर्भूत और उद्दीप्त हो जाते हैं । **अनुभाव** उन्हें प्रतीति के योग्य बना देते हैं तथा **व्यभिचारी (संचारी) भाव** उन्हें स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार इन तीनों के द्वारा व्यञ्जना वृत्ति से अभिव्यक्त होकर स्थायी भाव ही

रस कहलाता है।[1] विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (३/११) में इसे अत्यन्त सरल ढंग से निरूपित किया है-

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥

रस का मूल **स्थायी भाव** ही होता है जो अन्य भावों के संयोग से रस का रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है। तदनुसार नौ स्थायी भाव होते हैं जिनसे जुड़े हुए नौ रस इस प्रकार हैं- शृङ्गार (रति), हास्य (हास), करुण (शोक), अद्भुत (विस्मय), रौद्र (क्रोध), भयानक (भय), बीभत्स (जुगुप्सा), वीर (उत्साह), शान्त (निर्वेद)। यहाँ कोष्ठों में रसों के स्थायी भाव दिये गये हैं। स्थायी भाव उसी प्रकार विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से प्रभावित नहीं होता, जिस प्रकार समुद्र खारे या मीठे पानी के आने से प्रभावित नहीं होता है।

विभाव इन स्थायी भावों के कारण हैं। इनके दो भेद हैं- **आलम्बन** (नायक, नायिका तथा अन्य पात्र) और **उद्दीपन** (भावो को उभारने वाला जैसे प्रकृति, एकान्त स्थान तथा अन्य परिवेश)। काव्य में उद्दीपन या आलम्बन विभाव का वर्णन होता है जब कि रूपक में इन्हें मञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है। आलम्बन की चेष्टाओं को देख-सुनकर ही सामाजिक के मन में रसोद्भावन होता है। धनञ्जय ने कहा है- **ज्ञानमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्** (दशरूपक ४/२)। यह विभाव स्थायी भाव को पुष्ट करता है।

अनुभाव भावों की सूचना देते हैं (अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः)। आलम्बन में शारीरिक विकार (कटाक्ष, भुजाओं को बढ़ाना, मन्द मुस्कान आदि) विभाव हैं। इन्हें रत्यादि स्थायी भावों का कार्य कहा जाता है। भरत ने प्रत्येक रस के उद्भावन के लिए पृथक्-पृथक् अनुभावों की सूचीं दी है जो अभिनय के प्रशिक्षण के लिए उपयोगी हैं। अनुभाव के चार भेद हैं- कायिक, वाचिक, मानसिक तथा सात्त्विक (स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग आदि स्वाभाविक अंगविकार)। **व्यभिचारी** (या संचारी) **भाव** संख्या में ३३ हैं। ये अस्थायी मनोविकार हैं, जो अल्प क्षण के लिए उत्पन्न होकर स्थायी भावों को गति देते हैं। एक रस में अनेक संचारी भाव होते हैं तथा एक संचारी भाव अनेक रसों में होता है। इसीलिए व्यवस्था नहीं होने से इन्हें 'व्यभिचारी' (व्यवस्था का भंग करने वाला) कहा जाता है। निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जडता, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव है। इन्हें रत्यादि भावों का 'सहकारी' कहा जाता है।

आचार्यों ने रसानुभूति को अलौकिक आनन्द कहकर ब्रह्मानन्द से इसकी तुलना की है। कोई भी लौकिक अनुभूति रस के समान नहीं होती कि इसकी तुलना की जाये। चित्त में रजोगुण (चञ्चलता) और तमोगुण (आलस्य) की वृत्तियाँ दबकर जब सुख-ज्ञान-प्रकाश के रूप में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तभी रस की उद्भावना होती है। रसबोध अखण्ड, स्वप्रकाश और आनन्द के रूप में होता है, आत्मचेतना अपनी परम अवस्था (full form) में रहती है- इसीलिए

---

१. **काव्यप्रकाश** ४/२७-८ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥

रसात्मक आनन्द की अनुभूति के बाद व्यक्ति प्रसन्न होकर दुगुनी शक्ति प्राप्त कर लेता है। रसानुभूति के समय किसी भी अन्य ज्ञान का स्पर्श तक नहीं होता, यहाँ तक कि विभावादि घटक सामग्री भी विलीन होकर अखण्ड रस के रूप में ही परिणत हो जाती है। विषयगत सुख से ऊपर यह रसानन्द है, विषयानन्द लौकिक है तो रसानन्द अलौकिक। वेदान्त में प्रतिप्रादित ब्रह्मानन्द ही इस आनन्द की समता कर सकता है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (३/२-३) में रस का वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है-

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द - चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद - सहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कार - प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

इस प्रकार नाट्य के मुख्य उपादान अन्य काव्यों के समान कथावस्तु, पात्र (मुख्यतः नायक-नायिका) और रस होते हैं। किन्तु इस नाट्य (दृश्यकाव्य) की विशिष्टता इसके प्रदर्शन में ही है। रूपकों की रचना के समय ही कवि इस बात पर ध्यान रखता है कि इसका अभिनय होना है। अभिनय के क्रम में यथार्थता और कृत्रिमता दोनों का समन्वय होता है - न तो अतियथार्थ का निरूपण हो सकता है और न ही अतिकृत्रिमता का। इसी दृष्टि से भरत ने अभिनयात्मक नाट्य को लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी- इन दो भागों में विभक्त किया है (धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः। लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥नाट्यशास्त्र १४/६७)।

स्वाभाविक भावों से युक्त, शुद्ध, अविकृत, लोकवार्ता में सन्नद्ध, अङ्गों की कृत्रिम चेष्टाओं से रहित विविध स्त्री-पुरुषों का अभिनय 'लोकधर्मी' (realistic) है।[1] दूसरी ओर 'नाट्यधर्मी' में कृत्रिमता का न्यूनाधिक निवेश होता है (स्वभावो लोकधर्मी तु नाट्यधर्मी विकारतः। नाट्यशास्त्र २३/१९३)। इसमें स्वाभाविक वस्तुओं को बढ़ा-चढ़ाकर विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है; अङ्गाभिनय की अतिरञ्जना, पर्वत-वाहन-विमान-शस्त्र-भवन आदि की कृत्रिम प्रस्तुति, ललित वस्तुओं की व्यवस्था, नृत्य-गीत-भाषण आदि की अतियथार्थता - ये सब इसमें समाविष्ट हैं। नाट्यधर्मी के वर्णन में भरत ने कई श्लोक लिखे हैं जिनमें एक यह है-

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥[2]

अर्थात् सुख, दुःख और विभिन्न क्रियाओं के रूप में स्थित लोक-स्वभाव को आंगिक अभिनय से प्रस्तुत करना नाट्य में अनिवार्य है। यह नाट्यधर्मी कक्ष्या ही नाट्य का प्राण है, जिसके बिना दृश्यकाव्य की सत्ता ही नहीं-

---

१. नाट्यशास्त्र १४/७०-१
स्वभावभावोपगतं शुद्धं त्वविकृतं तथा। लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम्।
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्। यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता॥

२. नाट्यशास्त्र १४/७८।

नाट्यधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
न ह्यङ्गाभिनयात् किञ्चिदृते नाट्यं प्रवर्तते ॥[1]

अभिनय के चार प्रकार हैं- आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य।[2] नाट्यशास्त्र में प्रत्येक के विवेचन में कई-कई अध्याय लगे हैं। अभिनय के इन्हीं प्रकारों के प्रयोग से सामाजिक को लगता है कि हम वस्तुतः उस युग और परिस्थिति में पहुँचकर पात्रों के व्यवहार का अनुभव कर रहे हैं। **आङ्गिक अभिनय** (नाट्यशास्त्र, अध्याय ८ से १३) अभिनेताओं के द्वारा हाथ-पैर, कमर-सिर आदि की चेष्टाओं के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसके तीन भेद हैं-शारीरिक, मुखगत और चेष्टाकृत। इनके भी भेदोपभेदों से अभिनय का वैविध्य ज्ञात होता है। **वाचिक अभिनय** (नाट्यशास्त्र, अध्याय १४-१६) के अन्तर्गत छन्दोविधान, काव्य के गुण-दोष, अलंकार तथा भाषा-विधान निहित हैं। अभिनेताओं के द्वारा पाठ्य अंश इसी अभिनय के द्वारा प्रकट होता है। संस्कृत तथा प्राकृत-भेदों का विवेचन[3] इसी प्रसंग में भरत ने पात्रों की विविधता की दृष्टि से किया है। कुछ पात्र संस्कृत-प्रयोग करेंगे तो कुछ प्राकृत के शौरसेनी, माहाराष्ट्री, मागधी आदि रूपों का प्रयोग करेंगे। **सात्त्विक अभिनय** भावों की अभिव्यक्ति को कहते हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठाध्याय में रसों का और सप्तमाध्याय में भावों का विवेचन करते हुए भरत ने सात्त्विक अभिनय पर विस्तृत रूप से लिखा है। किस भाव का प्रकाशन कैसे किया जाता है, इसका व्यापक विधान है। जैसे 'शोक' का अभिनय अश्रुपात, विलाप, परिदेवना (उलाहना), विवर्णता, स्वरभङ्ग, शिथिल गात्र, भू-पतन, आक्रन्दन आदि अनुभावों से करें (नाट्यशास्त्र ७/१० के बाद गद्य)। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, विवर्णता (मुख का रंग बदलना), वेपथु (कम्प), अश्रु-प्रवाह तथा प्रलय (चेष्टाहीनता)-ये सात्त्विक भाव हैं (८/९३)। इन्हें भी कुछ लोग अनुभावों की कोटि में रखते हैं, शरीर में सत्त्वगुण की वृद्धि से स्वभावतः जन्म लेने के कारण ये 'सात्त्विक' कहलाते हैं। इनका भी मञ्च पर प्रकाशन होता है जिससे रसोद्भावन में सुविधा होती है।

आहार्य अभिनय (नाट्यशास्त्र, अध्याय २३-२७) वेश-भूषा की सजावट को कहते हैं जिसे भरत ने 'नेपथ्य-रचना' कहा है (आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः। नाट्यशास्त्र २३/२)। यह अभिनेता की कृत्रिम वेश-रचना है जिससे उसे मूल-पात्र के रूप में समझा जाता है। इस अभिनय का सम्बन्ध रंगमंच से है क्योंकि इसका विधान नेपथ्य में पात्रों की सजावट के रूप में होता है। इसके पुस्त (चर्मादि से रूप बनाना, यन्त्र से हाथी, पर्वत आदि को दिखाना), अलंकार, अंगरचना और संजीव-ये चार प्रकार कहे गये हैं (नाट्यशास्त्र २३/५)। इस प्रकार अभिनय के विविध पक्षों का निरूपण हुआ है।

संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने रङ्गमञ्च की व्यवस्था पर विस्तृत विचार किया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, संगीतमकरन्द, भावप्रकाशन (शारदातनय-कृत), संगीतरत्नाकर, मानसार आदि ग्रन्थों में भी नाट्याभिनय के लिए रङ्गमञ्च के आकार-प्रकार का विवरण है; नाट्यशास्त्र तो इस विषय का महाकोश ही है।

---

१. नाट्यशास्त्र १४/८०।
२. वही, ८/९ आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
३. वही, १५/५ द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा।

नाट्य का उद्भव

संस्कृत दृश्यकाव्य का उद्भव कब और किस प्रकार से हुआ, इस प्रश्न का निश्चित समाधान करना कठिन है क्योंकि इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। जो संकेत अन्तरंग और बाह्य स्रोतों से प्राप्त होते हैं वे भी किसी निर्णयात्मक स्थिति तक नहीं पहुँचाते। फिर भी कुछ सिद्धान्तों का परिचय तो दिया ही जा सकता है।

(१) भरत का मत

नाट्यविज्ञान पर सर्वप्रथम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' ही है जिसका काल १०० ई. पू. से ३०० ई. के बीच माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत ने इस ग्रन्थ की रचना किसी प्रचीन सूत्र ग्रन्थ के आधार पर की थी। सम्भव है, उस सूत्रात्मक ग्रन्थ के ही लेखक भरत हों और वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' किसी अन्य लेखक ने मूल सूत्र-ग्रन्थ के प्रतिसंस्कार के रूप में निर्मित किया। जो भी हो, भरत का मत 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है कि सभी देवताओं ने मिलकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि हमें ऐसे मनोरंजन का साधन प्रदान करें जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो और जिसे सभी वर्णों के लोग ग्रहण कर सकें। ब्रह्मा ने इस प्रार्थना पर चारों वेदों से सार भाग लेकर 'नाट्यवेद' के रूप में पंचम वेद का निर्माण किया (नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् १/१६)। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद, कथनोपकथन), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस-तत्त्व लेकर 'नाट्यवेद' की रचना की।[१] शिव से ताण्डव और पार्वती से लास्य लेकर नृत्य-तत्त्व की भी योजना की गयी। इन्द्रध्वज-पर्व के अवसर पर भरत के पुत्रों और शिष्यों ने गन्धर्वों तथा अप्सराओं के साथ नाट्य में भाग लिया। 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपुदाह' नामक रूपक सर्वप्रथम अभिनीत हुए। ये ब्रह्मा के द्वारा रचित थे।

(२) संवाद-सूक्तों से नाट्य की उत्पत्ति

मैक्समूलर, सिल्वाँ लेवी, फॉन श्रोएदर, हर्टल आदि यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त दिया कि ऋग्वेद के कतिपय संवाद-सूक्त ही नाटकों के प्राचीनतम रूप हैं। इन संवाद-सूक्तों में इन्द्र-मरुत्-संवाद (ऋ० १/१६५, १७०), अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (ऋ० १/१७९), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३/३३), वसिष्ठ-सुदास-संवाद (ऋ० ७/८३), यम-यमी-संवाद (ऋ० १०/१०), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (ऋ० १०/८६), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (१०/९५) तथा सरमा-पणि-संवाद (१०/१०८) प्रमुख हैं। इन सूक्तों का सम्बन्ध वैदिक कर्मकाण्ड से नहीं है। संभव है कि दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञों में कर्मकाण्ड से क्लान्त पुरोहितों तथा दर्शकों के मनोरंजन के लिए कुछ नाटकों का अभिनय होता हो; उन्हीं के कुछ पद्यात्मक संवाद सुरक्षित रह गये। उनके पूर्वापर के गद्य-संवाद स्मृति से दूर हो गये।[२] ये संवाद-सूक्त अभिनय और रूपकों के प्रथम अवशेष के रूप में बहुत महत्त्व रखते हैं।

---

१. **नाट्शास्त्र १/१७** जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

२. डॉ॰ सूर्यकान्त – **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, पृ० १९९।

(३) यूनानी रूपकों से उत्पत्ति

वेबर (Weber) तथा विन्दिश (Windisch) ने संस्कृत रूपकों का उद्‌भव यूनानी रूपकों से सिद्ध किया है। उनके मत के दो-तीन आधार हैं- संस्कृत और यूनानी रूपकों में साम्य, सिकन्दर के आक्रमण (३२६ ई० पू०) के पूर्व भी भारत तथा यूनान का सांस्कृतिक सम्बन्ध एवं संस्कृत में उपलब्ध रूपकों की नातिप्राचीनता। विन्दिश ने कहा है कि संस्कृत रूपकों का अंकों में विभाजन, प्रस्तावना (Prologue) और उपसंहार (Epilogue), पात्रों के प्रवेश और निर्गमन की विधि, 'यवनिका' शब्द, कथानक का रूपक में निर्वहण, रंगनिर्देश के भेद, विदूषक एवं खलनायक (Villain) जैसे पात्र - ये सब यूनानी रूपक के ही प्रतिबिम्ब हैं।[1] मध्य-प्रदेश के सुरगुजा मण्डल में प्राप्त सीताबेंगा गुफा में (२०० ई० पू०) प्राप्त पाषाण की नाट्यशाला का आकार-प्रकार यूनानी रंगमंच के समान है। इस प्रकार उक्त विद्वानों ने इस मत को पुष्ट किया है।

जर्मनी के ही विद्वान् पिशेल (Pischel) ने इस मत का प्रबल खण्डन किया है। डॉ० कीथ ने भी इसकी विस्तृत समीक्षा की है।[2] संस्कृत नाटकों में कथावस्तु का विश्लेषण (और तदनुसार अंकों में विभाजन) कार्य के आधार पर होता है जो यूनानी नाटकों में नहीं होता। संस्कृत नाटक दुःखान्त नहीं होते हैं जब कि यूनान के रूपकों में दुःखान्त को श्रेष्ठ कहा जाता है (Tragedy is the best form of Poetry — Aristotle)। संस्कृत रूपकों में काल, स्थान तथा कार्य की अन्वितियाँ नहीं होती हैं क्योंकि रसमय वातावरण में इन पर विचार नहीं होता। इसके विपरीत यूनानी रूपक उक्त अन्विति-त्रय (Unity of time, place and action) का अनिवार्य रूप से पालन करते हैं। संस्कृत रूपक यूनानी रूपकों से आकार में भी बड़े होते हैं। 'मृच्छकटिक' यूनानी नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के तुल्य है। संस्कृत रूपकों में वृन्दगान (Chorus) की व्यवस्था नहीं होती है, जबकि यूनानी रूपक इसके बिना होता ही नहीं। 'यवनिका' शब्द वस्तुतः यवन-देश से आये हुए पर्दे (ईरान के मोटे वस्त्र tapestry) का अर्थ रखता है, यूनानी नाट्य का प्रभाव नहीं बताता क्योंकि यूनानी नाटकों में पटाक्षेप (पर्दा गिराने) का प्रयोग ही नहीं था। पं० बलदेव उपाध्याय ने इसे 'जवनिका' (जु-धातु = चंक्रमण, चक्कर काटना) का रूपान्तर माना है जिसे भ्रमवश 'यवनिका' कहा गया था।[3] वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत और यूनानी रूपकों में साम्य से अधिक वैषम्य ही है। यूनानी सम्पर्क के बहुत पूर्व से ही संस्कृत नाटकों का अभिनय भारत में प्रचलित था इसलिए संस्कृत रूपकों की यूनानी उत्पत्ति अग्राह्य मत है।

(४) पुत्तलिका-नृत्य-सिद्धान्त

प्रो० पिशेल ने यह विचार दिया है कि प्राचीन भारत में कठपुतलियों का नृत्य (Puppet-Show) दिखाया जाता था, उसे ही सजीव रूप देने के लिए मानवों को मंच पर प्रस्तुत करके नाटकों का अभिनय आरम्भ हुआ। पिशल का मत संस्कृत रूपकों में 'सूत्रधार' और 'स्थापक' शब्दों के प्रयोग पर आश्रित है जो पुतलियों के नृत्य में भी धागों को पकड़ते और उन्हें स्थापित

---

१. डॉ० सूर्यकान्त - **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, पृ० १९७।

२. कीथ - **संस्कृत नाटक** (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४९-६२।

३. पं० बलदेव उपाध्यय - **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (१९९०) पृ० ४७२-४।

करते थे। यह असंगत मत है क्योंकि एक साधारण नृत्य से रस-भाव-क्रियात्मक नाटक की उत्पत्ति मानना तर्कसंगत नहीं। इसमें तथ्य यही है कि भारत में ही पुत्तलिका-नृत्य का उद्भव हुआ था, यहीं से यह नृत्य अन्यत्र पहुँचा।

(५) मृतात्म-श्राद्ध-सिद्धान्त (वीर-पूजा)

डॉ० रिजवे (Ridgeway) ने यह मत रखा था अपने मृत पूर्वजों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए जिस प्रकार यूनानी दु:खान्त रूपकों (tragedies) का उद्भव हुआ था, उसी प्रकार भारत में भी अपने दिवंगत वीर पुरुषों के प्रति आदर-भाव दिखाने के लिए नाटक अभिनीत होते थे। रामलीला और कृष्णलीला इसी प्रवृत्ति के पोषक दृष्टान्त हैं। दु:खान्त रूपकों के उद्भव से संस्कृत के रसात्मक रूपकों की तुलना नहीं हो सकती। राम और कृष्ण की लीलाएँ वीर पूजा से अनुप्राणित नहीं अपितु उपदेशात्मक मनोरञ्जन प्रदान करती हैं। दूसरे शब्दों में रसात्मक हैं। यूरोपीय विद्वान् भी इस मत को ग्रहण नहीं करते कि वीर पूजा से रूपकों का उद्भव हुआ है।

(६) उत्सव-सिद्धान्त (May-Pole Dance)

यूरोप के कुछ विद्वानों ने अपने यहाँ होने वाले मे-पोल-नृत्य को संस्कृत रूपकों का भी प्रथम रूप कहा है। यूरोप में मई (May) का मास वसन्त ऋतु का काल होने से अनेक समारोहों से भरा होता है। एक खम्भा (Pole) गाड़कर लोग नृत्य, अभिनय आदि करते हैं। इन विद्वानों ने दिखाया है कि इसी अवसर पर होने वाले अभिनयों ने प्राचीन काल में रूपकों का स्वरूप ले लिया होगा। भारत में इन्द्रध्वज-पर्व शरद् ऋतु में होता था जो इस मे-पोल नृत्य के समकक्ष था। किन्तु यह मत भी असंगत है क्योंकि एक सामान्य नृत्य से नाटक जैसे गम्भीर काव्य-प्रकार की उत्पत्ति मानना अनुचित है। यह नृत्य या अभिनय भारतीय नाट्य के विकास का अंग-मात्र है; हर्षोल्लास मनाना यही सिद्ध करता है।

(७) छाया नाटक-सिद्धान्त

जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स तथा स्टेन कोनो का मत है कि छाया-नाटकों में जो छाया-चित्रों का प्रदर्शन होता है, वही संस्कृत रूपकों के मूल रूप रहे होंगे। किन्तु इस मत में आपत्ति है कि संस्कृत में छाया-रूपकों की संख्या नगण्य है। एक छायारूपक 'दूताङ्गद' मिलता है जो बहुत बाद का है (१२४३ ई०)। छायानाटक में पात्र मंच पर नहीं आते, पर्दों पर उनकी छाया दिखाई पड़ती है। पिशल के अनुसार यही संस्कृत रूपकों का मौलिक रूप रहा होगा। यदि ऐसी बात है तो नाट्यशास्त्र में भी छाया-नाटकों के अभिनय की चर्चा होती। ऐसा क्या हो गया कि सभी छायानाटक लुप्त हो गये?

निष्कर्ष

संस्कृत रूपकों की उत्पत्ति की व्याख्या करने वाले इन सिद्धान्तों में केवल प्रथम दो ही ग्राह्य हैं, अन्य सिद्धान्त केवल बहिरङ्ग पर आश्रित हैं। वे नाटकों के प्रारम्भिक रूपों की आंशिक व्याख्या मात्र ही कल्पना या समकक्ष स्थितियों के आधार पर कर पाते हैं। संस्कृत नाटकों की वैदिक

उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो भरत का मत है तथा संवाद-सूक्तों से जो उनका उद्भव दिखाया गया है वे दोनों नाट्य के आवश्यक उपादानों की व्याख्या से सम्बद्ध हैं। संवाद-सूक्त का सिद्धान्त केवल कथोपकथन (पाठ्य) की व्याख्या करने के कारण आंशिक है किन्तु भरत ने नाट्य के सभी उपादानों पर प्रकाश डाला है- यह सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या है। नाट्य के चार अनिवार्य तत्त्व हैं- पाठ्य, संगीत, अभिनय और रस। चारों वेदों में एक-एक तत्त्व पुष्कल रूप में हैं। ऋग्वेद के संवाद-सूक्त नाट्य को कथावस्तु और आवश्यक पाठ्य प्रदान करते हैं। सामवेद संगीतमय है, अतः नाट्य-संगीत प्रदान करने में समर्थ है। यजुर्वेद का कर्मकाण्ड वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय से भरा है, अतएव नाट्यवेद को अभिनयतत्त्व दे सकता है। अथर्ववेद की विषय-वस्तु नाटक में बहुधा सुलभ शृङ्गार एवं वीर रसों से परिपूर्ण है। स्त्रियों के प्रति किये गये अभिचार-कर्म में शृङ्गार रस तथा शत्रुओं के प्रति कार्यों में वीर रस का प्राचीनतम रूप प्राप्त होता है। इसलिए अथर्ववेद नाट्य-रस का आधार है। इस प्रकार वेदों से आवश्यक उपादानों का संकलन कर लेने पर 'नाट्य' की व्याख्या हो सकती है- इसे पञ्चम वेद कहा जा सकता है।

नाट्य का प्रारम्भ किन स्थितियों में हुआ- यह भी वेदों से ही समाधेय है। यज्ञों के अवसरों पर वैदिक युग में भी धार्मिक अभिनय या लौकिक विषयों के प्रदर्शन होते थे जिनके अवशेष संवाद-सूक्तों में सुलभ हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के शुद्धतावादी युग में अभिनयों पर रोक लगी थी जिससे निम्न समाज तक ही इन्हें सीमित होना पड़ा किन्तु भरत के आविर्भाव ने नाट्य को पुनः प्रतिष्ठा दी तथा इसे 'सार्ववर्णिक पञ्चम वेद' का प्रतिष्ठित पद मिल गया।

संस्कृत नाट्य का प्रमुख लक्ष्य मनोरंजन था, न कि वैदिक कर्मकाण्ड। इसलिए परवर्ती काल में कर्मकाण्ड से असम्बद्ध सारी सामग्री 'नाट्यवेद' में डाल दी गयी। इसका प्रयोग पर्व, उत्सव आदि अवसरों पर होता था। इस प्रकार संस्कृत रूपकों का उद्भव भारत में ही वैदिक युग में हुआ था।

संस्कृतनाट्य-विकास के संकेत

संस्कृत रूपकों का उद्भव वैदिक युग में ही यज्ञ के अवसर पर श्रान्त-क्लान्त ऋत्विजों, यजमानों एवं प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ हुआ था। कालक्रम से अनुवर्ती युग में इसका विकास हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों या उपनिषदों की विषय-वस्तु मनोरंजन के किसी उपादान का उल्लेख नहीं करती। अतः इस युग में संस्कृत रूपकों को संघर्ष करना पड़ा होगा। चर्चा न होने का तात्पर्य लोप नहीं है। इन ग्रन्थों के धार्मिक-आध्यात्मिक परिवेश में लौकिक विषय अवश्य ही पृथक् साहित्य के रूप में फल-फूल रहे होंगे किन्तु उस युग के नाट्य-जगत् को जानने का अभी कोई साधन नहीं है।

रामायण तथा महाभारत में नाट्य-सम्बन्धी चर्चाएँ कई स्थानों पर मिलती हैं जैसे- अयोध्याकाण्ड में कहा गया है कि राजा से रहित जनपद में नट और नर्तक प्रसन्न नहीं रहते- **नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः** (रामा० २/६७/१५)। इसी प्रकार एक अन्य पद्य में कहा गया है-

> **वादयन्ति तथा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।**
> **नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥** (रामा० २/६७/४)

रामायण के बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग (श्लोक-९) में शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक तथा वीरादि रसों से युक्त काव्य के गाने का निरूपण है। महाभारत में भी सूत्रधार (१/५१/१५),

नाटक (२/१२/३६), नट-नर्तक-गायक (२/१५/१३) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसके विराट पर्व में रंगशाला का तथा हरिवंश पर्व में नाटकों के अभिनय का विवरण है।

पाणिनि (५०० ई०पू०) ने अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में (४/३/११०-१) क्रमशः नटसूत्र के दो लेखकों का – शिलालि तथा कृशाश्व का – उल्लेख किया है। पाणिनि के पूर्व ही नाट्यविज्ञान विकसित हो चुका था। कौटिल्य ने भी नाटकों के अभिनय का संकेत किया है। महाभाष्य में (३/२/१११) पतञ्जलि (१५० ई०पू०) कंसवध और बलिबन्ध विषयों पर अभिनय किये जाने की चर्चा करते हैं– **ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च वलिं बन्धयन्ति इति।**

भरतमुनि (१०० ई० पू०) का नाट्यशास्त्र अपनी व्यापक विषयवस्तु के द्वारा संस्कृत रूपकों की पूर्ण विकासावस्था का परिचय देता है। इसमें नाट्य-विषयक सभी प्रकार की सामग्री है, चाहे रंगशाला की रचना हो या नाटक का लेखन ही हो। अशोक ने अपने प्रथम शिलालेख में मनोरंजन के लिए उत्सव-समारोहों में होने वाले नृत्य-गान, हास-परिहास आदि के दोषों की चर्चा करके इन्हें राजादेश से रोकने का निर्देश दिया है। इस राजाज्ञा से नाट्य-शिल्प पर अवश्य ही आघात हुआ होगा।

द्वितीय शताब्दी ई० पू० की एक पाषाण-रङ्गशाला मध्यप्रदेश के सुरगुजा-जनपद में अवस्थित सीताबेंगा-गुफा में मिली है। यह नाट्यशास्त्र के निर्देशों के अनुसार है। इन सब संकेतों से सिद्ध होता है कि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में ही संस्कृत रूपक विकास के अन्तिम सोपान पर पहुँच गये थे।

संस्कृत रूपक अपने विकसित रूप की रक्षा करने में प्रायः आठ सौ वर्षों तक समर्थ रहे क्योंकि भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त और भवभूति तक संस्कृत रूपकों की विकासावस्था ही मानी जाती है। इस कालावधि में भी हर्ष और भट्टनारायण जैसे रूढिवादी नाट्यकार हुए। यह अवधि दो सौ ई० पू० से सात सौ ई० तक की है। इसके अनन्तर अपकर्ष-काल के रूढ़िवादी रूपककारों की परम्परा चली जिसमें आजतक नाट्यरचना का अनवरत कार्यक्रम चलता रहा। नाट्य का कथानक आवश्यकतानुसार कहीं प्रसिद्ध और कहीं कल्पित के रूप में गृहीत हुआ।

संस्कृत नाट्य की विशिष्टताएँ

(Special Features)

संस्कृत रूपकों का विकास विशुद्ध भारतीय परिवेश में होने के कारण इनका मुख्य लक्ष्य रसोद्भावन है। संसार के अन्य देशों के रूपकों के समान इनमें संवाद, घटना, कथानक या चरित्र-चित्रण की प्रधानता नहीं होती। भारतीय रूपक मनोरञ्जन-प्रधान या आनन्दपरक होते हैं। धनञ्जय ने कहा है कि आनन्द की धारा प्रवाहित करने वाले रूपकों में इतिहास आदि विषयों के समान केवल व्युत्पत्ति (ज्ञान) देना लक्ष्य समझने वाले अल्पबुद्धि वस्तुतः रस से विमुख हैं–

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥[1]

---

१. दशरूपक १/६।

अतः 'सद्यः परनिर्वृति' को परम लक्ष्य मानकर ही संस्कृत रूपक रचे गये हैं। भरत ने इसकी व्याख्या की है कि दुःखी, श्रान्त, शोकाकुल एवं तपःखिन्न लोगों को सही समय पर विश्रान्ति (दुःखनिवारण या आनन्द) प्रदान करने वाला यह 'नाट्य' है–

> दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
> विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥[१]

यही कारण है कि संस्कृत रूपकों में 'दुःखान्त' (tragedy) की व्यवस्था नहीं है। रूपक के बीच में फल-प्राप्ति के विषय में संशय के कारण दुःखद स्थितियों की योजना भले ही हो, कहीं-कहीं (जैसे उत्तररामचरित में) करुण रस की अनवरत धारा बहायी गयी हो किन्तु अन्ततः रूपक को सुख-पर्यवसायी होना चाहिए। यह भारतीय दर्शन का प्रभाव है। इसके अनुसार जीवन एक अनवरत प्रक्रिया है जिसके आरम्भ से हम अनभिज्ञ हैं किन्तु उसके सुखद पर्यवसान के लिए हमारा प्रयास प्रक्रान्त रहता है। इसलिए रूपक के कथानक का विकास भी शुभ फल (धर्म, अर्थ या काम) की प्राप्ति की दिशा में होने से सभी **रूपक सुखान्त** होते हैं।[२]

अन्य भाषाओं में रूपकों के इतने अधिक भेदोपभेद नहीं है जितने संस्कृत के रूपकों में हैं। यहाँ दस प्रकार के रूपक और अठारह प्रकार के उपरूपक होते हैं। इनमें 'नाटक' बहुत लोकप्रिय है, दृश्यकाव्य के सर्वाधिक लक्षणों से सम्पन्न होता है। अन्य भेद भी दुर्लभ नहीं हैं क्षेत्र-विशेष में उनका प्रचार है। प्रकरण, प्रहसन, भाण, नाटिका, सट्टक आदि भी बहुत अधिक संख्या में लिखे गये हैं। इस प्रकार संस्कृत दृश्य काव्य का **क्षेत्र व्यापक** है। कुछ रूपक एकांकी भी हैं। कुछ में १४ अंकों तक हैं।

उपर्युक्त नाट्य-भेदों में **कथानक प्रसिद्ध या कल्पित** भी होता है। नाटक आदि कुछ भेदों में प्रसिद्ध कथानक रखा जाता है जिससे रस-बोध में सुविधा हो। लेखक प्रसिद्ध कथा में रसानुगुण परिवर्तन करके प्रेक्षकों की उत्सुकता बढ़ाता है। प्रसिद्ध कथानक प्रायः रामायण, महाभारत, पुराण, बृहत्कथा या भारतीय इतिहास के ख्यात राजपुरुषों, आचार्यों या अन्य लोगों पर आश्रित होते हैं। प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि में कल्पित कथा का ग्रहण होता है।

संस्कृत रूपकों में **कथानक का विकास** कुछ सिद्धान्तों पर आश्रित होता है। कथानक को अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद हैं। इनके प्रयोग से कथावस्तु का स्वाभाविक विकास होता है। कुछ स्थितियों में रूपककार स्वच्छन्दता का भी प्रयोग करते हैं।

पात्रों की व्यवस्था भी रूपकों के विभाजन का आधार है। मुख्य पात्र नायक और नायिका हैं जिनके भेदोपभेद माने गये हैं। नायकों को धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित के रूप में चार प्रकार का माना गया है। शृङ्गार-रस की प्रधानता वाले रूपकों में इन नायकों के दक्षिण, शठ आदि भेद किये गये हैं। नायिकाओं का वर्गीकरण नाट्य-साहित्य की विशिष्टता है। अन्य पात्रों का प्रयोग भी

---

१. नाट्यशास्त्र १/१११।

२. हिन्दू नीतिशास्त्र यह अनुमति नहीं देता कि कोई नायक अन्त में संकटापन्न हो। यहाँ धर्म-विजय और अधर्म-नाश लक्ष्य माने गये हैं। अतः संस्कृत रूपकों को भी इसका पालन करना पड़ता है।

रसोद्भावन एवं कथानक की प्रगति की दृष्टि से किया जाता है। संस्कृत रूपकों के पात्र मानव या देवता भी होते हैं। जैसे- दुष्यन्त, राम, इन्द्र, उर्वशी आदि। इसलिए पात्रों को दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य के रूप में विभक्त किया गया है।

संस्कृत रूपकों का पारस्परिक भेद **रस-प्रयोग** के कारण भी है। नाटकों में शृंगार, वीर या शान्त-रस को मुख्य (अङ्गी) रस रखा जाता है, भवभूति ने करुणरस को प्रधान-स्थान दिया है; अन्य सभी रसों का यथोचित निवेश होता है। रूपकों के अंकों में केवल रसमय दृश्य ही प्रदर्शित होते हैं। इसलिए यदि विस्तृत सूचना देनी हो, नीरस विषय की प्रस्तुति करनी हो तो विष्कम्भक, प्रवेशक आदि का प्रयोग किया जाता है। इनमें रस की नहीं, संवाद या सूचना की प्रमुखता होती है। इस प्रकार 'रस' को रूपकों के साथ अनिवार्यतया जोड़ने की दिशा में (न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थ: प्रवर्तते- नाट्यशास्त्र ६/३१) नाट्यकार बहुत सावधान रहता है।

जीवन की **कुछ क्रियाओं का वर्जन** नाट्यशास्त्रियों ने मञ्चन की दृष्टि से किया है। अनुचित, असभ्य और अशुभ दृश्य मञ्च पर नहीं दिखाये जाते जैसे- युद्ध, मृत्यु, निद्रा, सम्भोग, शाप, चुम्बन, भोजन आदि। इनकी सूचना प्रवेशक आदि के द्वारा दी जा सकती है। इस प्रकार संस्कृत रूपक आदर्शवादी आचार-संहिता पर चलते हैं।

भाषा-प्रयोग का विधान संस्कृत रूपकों की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है। भरत ने ही विधान किया था कि उच्च और मध्य वर्ग के पात्रों की भाषा संस्कृत होगी। प्राकृत में भी क्षेत्रीय प्रभेदों के विधान की दृष्टि से सामान्यत: माहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी प्राकृतों का प्रयोग किया गया है। मृच्छकटिक में कई अन्य भेदों का भी प्रयोग हुआ है। यह भाषा-प्रयोग तात्कालिक यथार्थ स्थिति का परिचायक है।[१]

भारतीय जीवन के अन्य पक्षों के समान संस्कृत रूपकों पर भी **धर्म का प्रभाव** बहुत अधिक है। तथाकथित लौकिक (secular) रूपक भी धर्म के उपकरणों का यथेष्ट उपयोग करते हैं जैसे नान्दी या प्रस्तावना में देवस्तुति और भरतवाक्य में आशीर्वाद देना। रूपक के उद्देश्य में धर्म का अभ्युदय भी दिखाया जाता है। कुछ रूपक तो शुद्ध दार्शनिक-धार्मिक उद्देश्य से ही लिखे गये जैसे- प्रबोधचन्द्रोदय, संकल्पसूर्योदय आदि।

पाश्चात्त्य नाट्य-विज्ञान (Dramaturgy) में स्वीकृत **अन्वितित्रय** (Three unities) संस्कृत रूपकों में **मान्य नहीं** हैं। अरस्तू ने मुख्यत: दु:खान्त रूपक (Tragedy) में रचना के परिसीमन और सघन प्रभाव की दृष्टि से काल, स्थान एवं कार्य की अन्वितियों का विधान किया है अर्थात् काल की दृष्टि से केवल एक दिन-रात की ही घटनाएँ कथानक के रूप में हों, स्थान की दृष्टि से एक ही नगर के भिन्न भागों की घटनाओं का समावेश हो (क्योंकि काल-सीमा दूरवर्ती घटनाओं की अनुमति नहीं देती) तथा एक सूत्र में ही बँधी घटनाओं को नाटक में रखा जाये (कार्यान्विति)। इनमें कार्यान्विति तो कलामात्र के लिए आवश्यक है अत: उसकी उपेक्षा सम्भव

१. संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा के प्रयोग का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अभिनेता प्राय: निम्न वर्णों के अशिक्षित लोग होते थे जिन्हें प्राकृत-प्रयोग में सुविधा होती थी। संस्कृत-प्राकृत का मिश्र प्रयोग उन्हें आकृष्ट करने की दृष्टि से हुआ था। भरत के पुत्र और शिष्य निम्नवर्गीय किन्तु अभिनय में कुशल थे।

नहीं; किन्तु कालान्विति और स्थानान्विति की उपेक्षा यूरोपीय नाटकों में भी हुई है। संस्कृत नाटकों के रस-प्रधान होने से दर्शकों के समक्ष नाट्य-प्रेक्षण-काल में देश, काल, पात्र आदि की सीमा नहीं रह जाती। प्रेक्षक तो असम्भव दृश्यों को भी आत्मसात् कर लेता है जैसे- 'शाकुन्तल' के आरम्भ में हरिण के पीछे वन में रथ का दौड़ना प्राय: असम्भव घटना है किन्तु दर्शकों की सारी तर्क-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और दृश्यों के साधारणीकरण से आनन्द की सर्जना होती है। कार्यान्विति आवश्यक है क्योंकि मुख्य फल से समस्त घटना-चक्र को यह बाँधकर रखती है। इस अन्विति की दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' श्रेष्ठ नाटक है।

संस्कृत रूपकों में रसोद्भावन की दृष्टि से उचित स्थानों पर **पद्य-प्रयोग** भी किया जाता है। कथनोपकथन का मुख्य रूप तो गद्य ही रहता है किन्तु कुछ आवश्यक स्थलों में रोचकता, प्रकृति-वर्णन, नीति-शिक्षा, सुभाषित, विस्तृत घटनाओं का संक्षेपण आदि उद्देश्यों से पद्यों का भी प्रयोग हुआ है। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी है।

विदूषक का प्रयोग संस्कृत रूपकों में हास्य-व्यंग्य के निवेश के लिए तो होता ही है, वह कथानक का भी एक अङ्ग होता है, कथा-प्रवाह को बढ़ाता है। पाश्चात्य नाटकों में वह केवल हास्यजनक है, कथा का अङ्ग नहीं। शुद्ध हास्य की दृष्टि से 'प्रहसन' और 'भाण' नामक रूपक-भेद संस्कृत में होते हैं जिनमें समाज की विसंगतियों पर व्यंग्य होता है।

संस्कृत भाषा के रूपकों के आरम्भ में प्रस्तावना होती है जिसमें कवि-परिचय के साथ नाटक के अभिनय के अवसर का भी संकेत रहता है। नान्दीपाठ से नाटक का आरम्भ एवं भरतवाक्य से समाप्ति, अंकों की योजना, बीच-बीच में विष्कम्भक, प्रवेशक आदि देना ये सब **रचना-प्रक्रिया** के प्रमुख अंग हैं। इनसे सिद्ध होता है कि रङ्गमञ्च पर **अभिनय** के लिए ही रूपक लिखे गये हैं। बीच में मञ्च से पात्रों का निर्गम, प्रवेश, स्वगत-भाषण, जनान्तिक भाषण इत्यादि संकेत नाटकों के अभिनय और मञ्चन को सुविधायुक्त कर देते हैं। प्रारम्भिक नाटकों का मञ्चन (जैसे- भासकृत रूपकों का) अधिक सुविधायुक्त था। परवर्ती नाटक मञ्चन की दृष्टि से कठिन होते गये। आज भी संस्कृत रूपक प्राचीन नियमों का पालन करते हैं और यत्र-तत्र मञ्चित होते हैं। ये संस्कृत भाषा के प्रचार के परिचायक हैं।

अध्याय-१८

प्रारम्भिक रूपककार

संस्कृत में जिन नाट्यकारों की रचनाओं को प्रारम्भिक या विकासकाल से सम्बद्ध मानते हैं वे संख्या में बहुत कम ही हैं। आरम्भ से लेकर सप्तम शताब्दी ई० तक की नाट्यकृतियाँ रूढिमुक्त रही हैं, रचयिताओं की मौलिकता उनमें स्पष्ट है। इस काल में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, हर्ष, भट्टनारायण और भवभूति का आविर्भाव हुआ। इनके रूपकों का अनुशीलन संस्कृत के अध्येताओं के लिए अनिवार्य है। इस काल के अनन्तर ८ वीं शताब्दी ई० से लेकर २० वीं शताब्दी ई० तक सहस्राधिक रूपकों की रचनाएँ हुई हैं किन्तु उन्हें वह सम्मान नहीं मिला क्योंकि रूढिबद्ध हो जाने से उनमें शिल्पगत स्वतन्त्रता के अंकुर नहीं मिलते। प्रस्तुत अध्याय में उपर्युक्त प्रारम्भिक नाट्यकारों की विवेचना के अनन्तर अगले अध्याय में परवर्ती रूपककारों का निरूपण किया जायेगा।

पाश्चात्य इतिहासकारों ने एक स्वर से प्राचीनतम उपलब्ध नाट्यकृति के रूप में अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई० का उत्तरार्ध) के 'शारिपुत्रप्रकरण' को माना है जो १९११ ई० में ल्यूडर्स (H. Lüders) को तुर्फान अभियान में तालपत्र पर अंकित मिला था। ल्यूडर्स को तीन तालपत्र मिले थे जिन्हें तीन पृथक् रूपकों के अंशों के रूप में माना गया था। शारिपुत्रप्रकरण का अन्तिम (नवम) अंक भी उन अंशों में अन्यतम था। इसमें विदूषक (हास्यपात्र) का भी प्रयोग है। प्रतीकात्मक पात्रों के प्रयोग का (जैसे- बुद्धि, कीर्ति) यहाँ प्रथम अवसर है। डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य ने सिद्ध किया है कि ये तीनों रूपकांश एक ही रूपक (शारिपुत्रप्रकरण) के विभिन्न भाग हैं, पृथक् रूपकों के भाग नहीं।

नाट्यकार भास

भास की चर्चा अनेक प्राचीन कवियों और लेखकों ने की थी जिनमें कालिदास (मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना), बाण (हर्षचरित, प्रस्तावना), दण्डी (अवन्ति-सुन्दरीकथा, श्लो० ११), वाक्पतिराज (गउडवहो, गाथा-८००), राजशेखर (सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत पद्य- 'भासनाटकचक्रेऽपि'०), सगरनन्दी (नाटकलक्षणरत्नकोश), रामचन्द्र-गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण, गायकवाड सं०, पृ० ८४), भोजदेव (शृंगारप्रकाश, द्वादश प्रकाश), अभिनवगुप्त (लोचन-टीका) इत्यादि प्रमुख हैं। फिर भी आधुनिक युग में भास की रचनाओं को प्रकाश में १९०९ ई० में डॉ० गणपतिशास्त्री (१८६०-१९२६ ई०) ही ले आये। केरल राज्य के पद्मनाभपुरम् के निकट मणलिक्करमठ से उन्हें मलयालम लिपि में १०५ पृष्ठों की गठरी मिली जिसमें भास के दस रूपक पूरे और एक रूपक खण्डित रूप से प्राप्त हुए। अभिषेक और प्रतिमा नाटक बाद की यात्राओं में उन्हें मिले। डॉ० विन्सेन्ट स्मिथ ने इस उपलब्धि का प्रचुर प्रचार किया।

भास की कुल तेरह उपलब्ध रचनाओं को निम्नलिखित चार वर्गों में रखा जाता है-

१. **उदयनकथामूलक** – प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त।

२. **रामायणमूलक** – प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक।

३. **महाभारतमूलक** – ऊरुभंग, दूतवाक्य, पंचरात्र, दूतघटोत्कच, कर्णभार, मध्यमव्यायोग तथा बालचरित।

४. **लोककथामूलक** – अविमारक तथा चारुदत्त।[1]

इनमें उदयनकथा-मूलक नाटक परस्पर मिलकर एक संयुक्त नाटक का रूप धारण करते हैं। ये छठी शताब्दी ई० पू० की ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित हैं। **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** (४ अंक) में अवन्तिनरेश महासेन द्वारा अपनी पुत्री वासवदत्ता से विवाह के लिए वत्सराज उदयन को छलपूर्वक बन्दी बनाये जाने, दोनों में प्रेम कराने तथा वत्सराज्य के मन्त्री यौगन्धरायण के द्वारा दोनों को भगा ले जाने की घटनाएँ वर्णित हैं। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में ही **स्वप्नवासवदत्त** (६ अंक) की कथावस्तु का विन्यास हुआ है। अपने राज्य में आकर उदयन वासवदत्ता के प्रेम में इतना तन्मय हो जाता है कि उसका राज्य आरुणि छीन लेता है तथा उदयन को अपने राज्य के लावाणक ग्राम में रहना पड़ता है। अमात्य यौगन्धरायण यहाँ भी एक योजना बनाकर वासवदत्ता और अपने जलने का मिथ्यावृत्त फैलाकर वासवदत्ता को छद्मवेश में मगध की राजकुमारी पद्मावती के पास न्यास-रूप में रख देता है। कालान्तर में उदयन का विवाह पद्मावती से होता है। मगध की सेना वत्सराज्य को आरुणि से मुक्त करा लेती है, उदयन पद्मावती के साथ (साथ में वासवदत्ता भी) वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी पहुँचता है। वहीं समस्त रहस्यों का अनावरण होता है। इस नाटक के पञ्चम अंक में 'स्वप्नदृश्य' है जिसमें स्वप्न में उदयन और जगी हुई वासवदत्ता का संवाद दिखाया गया है। इसी नूतन प्रयोग पर शीर्षक दिया गया है।

महाभारत पर आश्रित रूपकों में पंचरात्र (३ अंक) और बालचरित (५ अंक) को छोड़कर सभी एकांकी है। **ऊरुभङ्ग** में द्रौपदी के अपमान के प्रतीकार के रूप में भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा को तोड़कर उसे मारने का कथानक है। **दूतवाक्य** में महाभारत के युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण का पाण्डवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर जाने तथा असफल लौटने का वृत्तान्त है। **दूतघटोत्कच** में अभिमन्यु की मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण घटोत्कच को दूत बनाकर धृतराष्ट्र के पास भेजते हैं तथा दुर्योधन उसका अपमान करता है। यह करुणरस-प्रधान 'उत्सृष्टिकांक' (या अंक) नामक रूपक-भेद है। **कर्णभार** में ब्राह्मणवेश-धारी इन्द्र को कर्ण द्वारा अपने कवच-कुण्डल के दान में देने का कथानक है। इसे भी 'अंक' की श्रेणी दी जा सकती है।[2] **मध्यमव्यायोग** में मध्यम-पाण्डव भीम के द्वारा घटोत्कच के हाथ से एक ब्राह्मण-पुत्र की रक्षा का वर्णन है। अपनी माता के भोजनार्थ

---

१. भास की कृतियों पर तीन महत्त्वपूर्ण समीक्षाग्रन्थ हैं- (i) A. D. Pusalker—**Bhāsa : A Study**, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1968 (2nd Edn), (ii) डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री - **महाकवि भास**, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (iii) V. Venkatachalam - **Bhāsa**, Sahitya Academy, New Delhi. मेरे निर्देशन में पटना विश्वविद्यालय से तीन शोध-प्रबन्ध पीएच्० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हो चुके हैं- भास के रामकथाश्रित नाटकों का अनुशीलन (१९८९), महाभारत पर आश्रित भास के रूपक (१९९०) तथा भास के लोककथाश्रित रूपकों का अनुशीलन (१९९७)।

२. ए० डी० पुसलकर – **भास, ए स्टडी**, पृ० १९३।

उस ब्राह्मण को घटोत्कच ले जाना चाहता था। भीम अपने पुत्र (घटोत्कच) एवं पत्नी (हिडिम्बा) से मिलकर बहुत प्रसन्न होते हैं। यह 'व्यायोग' नामक रूपक है।

पञ्चरात्र (३ अंक) में दुर्योधन के यज्ञ की समाप्ति पर द्रोण दक्षिणा माँगते हैं कि पाण्डवों को आधा राज्य दे दो। दुर्योधन उपबन्ध रखता है कि यदि पाँच रात्रियों के भीतर पाण्डव मिल जायें तो वह उन्हें राज्य दे देगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डव मिल जाते हैं तथा उन्हें आधा राज्य देने की बात स्वीकार कर लेता है। इससे सबको प्रसन्नता होती है। इस रूपक को 'समवकार' का परिवर्तित रूप कहा गया है। **बालचरित** (५ अंक) महाभारत के परिशिष्ट 'हरिवंशपर्व' पर आश्रित है। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस के मारे जाने तक की कथा आयी है। यह पूर्णत: नाटक है। भास ने श्रीकृष्ण के विषय में मौखिक परम्पराओं तथा अद्भुत घटनाओं का इसमें आश्रय लिया है जो हरिवंश या पुराणों में भी नहीं हैं।

रामायण-मूलक नाटक भास की नाट्यकला के उत्कृष्ट स्थल हैं। इनमें **प्रतिमानाटक** (७ अंक) में राम के राज्याभिषेक के होते-होते रुक जाने से आरम्भ करके वनवास, सीता-हरण, रावण-वध और राम के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन है। इसका शीर्षक इसके तृतीयांक के इतिवृत्त पर आश्रित है जिसमें भरत अपनी ननिहाल से लौटकर अयोध्या के बाहर बने प्रतिमागृह में जाकर अपने पूर्वजों की प्रतिमाओं के बीच पिता दशरथ की प्रतिमा देखकर शोकाकुल हो जाते हैं। प्रतिमागृह का रक्षक (देवकुलिक) उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाता है। यहीं उनकी भेंट माताओं से भी होती है, भरत वहीं से राम को लौटाने के लिए चल पड़ते हैं। प्रतिमा की मुख्य भूमिका के कारण इसका यह शीर्षक पड़ा है। **अभिषेकनाटक** (६ अंक) में रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (वालि-वध के बाद सुग्रीव का अभिषेक) से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ वर्णित हैं। इसमें सुग्रीव, विभीषण तथा राम के अभिषेक होने के संकेत दिये गये हैं जो इसके शीर्षक का आधार है।

लोककथामूलक रूपकों में **अविमारक** (६ अंक) में राजकुमार अविमारक (मेष-रूप धारी राक्षस को मारने वाला) तथा कुन्तिभोज की पुत्री कुरङ्गी के प्रेम और विवाह का सरस वर्णन है। अविमारक का वास्तविक नाम विष्णुसेन है। यह शृंगार-हास्य-मय प्रकरण है यद्यपि डॉ० पुसलकर इसे 'नाटक' की कोटि में रखते हैं। कल्पित कथानक (प्रसिद्ध नहीं) इसे 'प्रकरण' के पक्ष में रखता है। **चारुदत्त** (४ अंक) उज्जयिनी की गणिका वसन्तसेना और वाणिज्यजीवी ब्राह्मण चारुदत्त की प्रणय-कथा का निरूपण करता है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर आश्रित यह रूपक 'प्रकरण' कोटि का है तथा परवर्ती प्रकरण शूद्रक-कृत 'मृच्छकटिक' का आधार-ग्रन्थ है।

भास-समस्या

महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के द्वारा भास के तेरह रूपकों की खोज के बाद विद्वानों में खलबली मच गयी कि ये रूपक भास के हैं या नहीं। पक्ष-विपक्ष में तर्क दिये जाने लगे। यह बात तो निश्चित थी कि ये रूपक संस्कृत में उपलब्ध अन्य रूपकों से भिन्न थे। किन्तु ये सभी एक ही लेखक के द्वारा रचे गये और वह लेखक भास ही था- इसे स्वीकार करने को सभी प्रस्तुत नहीं थे। इस प्रकार त्रिवेन्द्रम्-रूपकों को लेकर एक समस्या उत्पन्न हो गयी जिसे 'भास-समस्या' के नाम से जाना जाता है।

इस समस्या के पूर्वपक्षियों में प्रो० जहाँगीरदार ने स्वप्न०, प्रतिज्ञा० और पंचरात्र को भास-कृत मानकर शेष रूपकों को दो वर्गों में रखकर विभिन्न कालों में उनकी रचना दिखायी। डॉ० सुकथणकर केवल उदयन-नाटकों को भास-कृत मानते थे। डॉ० बार्नेट तथा पिशरोटी-बन्धुओं ने इन्हें विभिन्न युगों की रचना सिद्ध किया। यही स्थिति डॉ० बुलनर तथा जॉन्स्टन की भी है। फिर भी उदयन-रूपकों की समानकर्तृकता और मौलिकता पर प्राय: सब की सहमति है।

दूसरी ओर गणपति शास्त्री, ए० बी० कीथ, टॉमस, लक्ष्मण सरूप, लिन्देनो, अनन्त प्रसाद बनर्जीशास्त्री, एस्० एम्० परांजपे तथा देवधर सभी त्रिवेन्द्रम्-रूपकों को एककर्तृक मानते हैं। वह रचयिता भास ही है। डॉ० पुसलकर ने प्राय: बीस बिन्दुओं पर विचार करके इन सभी रूपकों को समानकर्तृक सिद्ध किया है।[1] ये बिन्दु वस्तुत: विभिन्न लेखकों के द्वारा प्रस्तुत किये गये थे। इनमें निहित तर्कों की इतनी अधिक शक्तिमत्ता है कि इनके समक्ष विरोधियों की युक्तियाँ निरस्त हो जाती हैं।

विरोधियों ने युक्तियाँ दी हैं कि इन रूपकों में कहीं भी कवि का नाम नहीं है अत: भास की मूल रचनाओं को आधार बनाकर विभिन्न युगों में इन्हें रंगमंच के अनुकूल लिखा गया होगा। ए० के० पिशरोटी तथा के० आर० पिशरोटी ने कहा है कि केरल के वंशानुगत अभिनेता चाक्यारों ने इनकी रचना की थी। ये लोग प्रसिद्ध नाटकों का संक्षिप्त रूपान्तर करके उनका अभिनय करते थे। यह मत उचित नहीं क्योंकि नाटककार होना और रूपान्तर करना दो पृथक् पक्ष हैं। रूपान्तर करके अभिनय करने से चाक्यारों को इनका लेखक मानना युक्तिसंगत नहीं है।

संस्कृत के सुभाषित ग्रन्थों में कुछ पद्य भास के नाम से मिलते हैं जो इन रूपकों में नहीं हैं। यह संभव है कि भास ने कुछ अन्य रचनाएँ भी की होंगी जो इन पद्यों का स्रोत हों। नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश तथा भरत के नाट्य-नियमों का पूर्णत: अनुसरण न करना कई अन्य नाटकों में (विशेषतया दक्षिण भारतीय नाटकों में) हुआ है। अपाणिनीय प्रयोग भी इनकी प्राचीनता के सूचक नहीं है क्योंकि वे अन्य कई परवर्ती ग्रन्थों में भी मिलते हैं। प्राकृत के प्राचीन प्रयोग मलयालम हस्तलेखों की विशिष्टता है, इससे इन रूपकों की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार विरोधियों ने त्रिवेन्द्रम्-रूपकों की प्राचीनता पर आक्षेप किया है।

सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करने पर ये आक्षेप निरर्थक सिद्ध होते हैं। नाट्य-शिल्प, विचारों की अनेक बार आवृत्ति, अभिनय की उपयुक्तता, भाषा-शैली आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं जो एक ही साथ इन रूपकों को प्राचीन एवं समानकर्तृक दोनों सिद्ध करते हैं। ये सभी नाटक सूत्रधार से प्रारम्भ होते हैं, नान्दी द्वारा नहीं (नान्द्यन्ते तत: प्रविशति सूत्रधार:)। अन्य संस्कृत नाटकों का

---

१. **भास, एस्टडी**, पृ० ६-२१। ये बिन्दु हैं- (१) संरचना-साम्य, (२) शिल्प-साम्य, (३) विचार-साम्य, (४) पताकास्थानक आदि विधियाँ, (५) नाट्य-स्थितियाँ, (६) नाट्य-दृश्य, (७) अप्रस्तुत-योजना में साम्य, (८) शब्द और अभिव्यक्ति में समता, (९) गद्य-पद्य-संवाद की आवृत्ति, (१०) कुछ वर्णनों के प्रति रुचि, (११) छन्दो-योजना, (१२) सामाजिक स्थितियों के निरूपण में साम्य, (१३) भाषा की समता (१४) पात्रों के कुछ नामों में साम्य, (१५) मंच पर जलानयन, (१६) स्वप्न० और प्रतिज्ञा० का सम्बन्ध, (१७) अभिषेक और प्रतिमा का सम्बन्ध (१८) शैली, संवाद तथा अन्य नाट्य विधियाँ, (१९) मृत्युकाल में राजाओं तथा योद्धाओं के प्रति सहानुभूति एवं (२०) स्वराज्य-लाभ पर बल देना।

आरम्भ नान्दी-पाठ से होता है, तब सूत्रधार आता है। मुद्रालंकार द्वारा स्वप्न०, प्रतिज्ञा०, प्रतिमा, पञ्चरात्र तथा ऊरुभङ्ग का प्रथम श्लोक प्रयुक्त है– इस अलंकार से श्लेष द्वारा कथानक और प्रमुख पात्रों की सूचना दी गयी है। इन रूपकों में 'प्ररोचना' (उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना) का अभाव है अर्थात् प्रस्तावना में न नाटककार का नाम या परिचय है, न नाटक का नाम या अभिनय का संकेत है। 'प्रस्तावना' को इनमें 'स्थापना' कहा गया है। इन रूपकों में भरत-वाक्य प्रायः समान है जिसमें 'राजसिंह' के द्वारा शासन की कामना है– **इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ।** इन रूपकों के लघु आकार की दृष्टि से पात्रों की संख्या अधिक है। बाणभट्ट ने इस तथ्य की ओर ध्यान भी आकृष्ट किया है–

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥[1]

कई रूपकों के पात्रों के नाम समान हैं जैसे चार नाटकों में प्रतीहारी का नाम 'विजया' है; महासेन (प्रतिज्ञा० में) और दुर्योधन (दूतवाक्य में) के कञ्चुकी का नाम 'बादरायण' है। इन रूपकों की भाषा-शैली अद्‌भुत साम्य रखती है। कितने ही शब्दों, वाक्यों और श्लोकों की भी आवृत्ति की गयी है। समान उपमानों का प्रयोग अनेक रूपकों में किया गया है शक्तिशाली व्यक्ति को सिंह या व्याघ्र कहा गया है, तो दुर्बल को गज या मृग का उपमान दिया गया है।[2] भास को कुछ वर्णनों के प्रति विशेष अभिरुचि है जिन्हें इन रूपकों में दुहराया गया है जैसे– अन्धकार का वर्णन (बालचरित १, अविमारक ३ तथा चारुदत्त १), युद्ध, युद्धभूमि तथा संघर्ष का वर्णन (अभिषेक, ऊरुभङ्ग)। दुःख की अभिव्यक्ति के लिए सर्वत्र '**अहो अकरुणाः खल्वीश्वराः**' कहा गया है। इनमें छह नाटकों में मृत्युकाल का कारुणिक दृश्य दिखाया गया है, मृत्यु तथा अन्य कई स्थितियों में जल की माँग की गयी है– 'आपस्तावत्'।

अपाणिनीय प्रयोगों का प्राचुर्य इनकी प्राचीनता तथा एककर्तृकता का महत्त्वपूर्ण कारण है जैसे – आ + प्रच्छ् से परस्मैपद; राजन् से समास में भी टच्प्रत्यय का अभाव जैसे – काशिराज्ञे, सर्वराज्ञः; 'अवन्त्याधिपतेः' में सन्धि-दोष इत्यादि। डॉ० पुसलकर ने इन रूपकों की विषय-वस्तु से प्रतिबिम्बित सामाजिक स्थिति में भी अद्‌भुत साम्य दिखाया है। लेखक का ब्राह्मण-धर्म के प्रति झुकाव, विष्णुभक्ति, मातृमूलक नाम देना (जैसे – वैदेहीमातः, यादवीमातः, शौरसेनीमातः, सुमित्रामातः), संगीत के प्रति आकर्षण (प्रतिज्ञा०, स्वप्न०, चारु०, अवि०)– ये सब त्रिवेन्द्रम्-रूपकों की समानकर्तृकता के साधक प्रमाण हैं।

इन सभी रूपकों के रचयिता भास ही हैं– इस विषय को लेकर विद्वानों के तीन दल हैं। परांजपे, काले, कीथ, याकोबी, कोनो, थामस, गणपति शास्त्री प्रभृति विद्वान् इन्हें भासकृत कहते हैं। इस मत के विरोधी काणे, रंगाचार्य रेड्डी, बार्नेट, पिशरोटी आदि हैं। डॉ० सुकथणकर और विंटरनित्स मध्यमार्गी हैं जिनके अनुसार ये रचनाएँ एककर्तृक (या भासकृत) हैं किन्तु अभी

---

१. **हर्षचरित** १/१५

२. **अभिषेक** ३/२० कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते; **प्रतिमा** ५/१८ न व्याघ्रं मृगशिशवः प्रधर्षयन्ति; **चारुदत्त** १/९ व्याघ्रानुसारचकिता हरिणी; **मध्यम०** ४४ रुष्टोऽपि कुञ्जरो वन्यो न व्याघ्रं धर्षयेद् वने। इत्यादि।

तक प्राप्त युक्तियाँ अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचातीं। फिर भी इनकी भास-कर्तृकता के पक्ष में निम्नांकित युक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं-

(१) बाण (६५० ई०) ने हर्षचरित (१/१५) में भास के नाटकों को सूत्रधार द्वारा आरम्भ होने वाला, अनेक पात्रों से युक्त तथा पताका-सहित कहा है। 'पताका' का प्रयोग पताकास्थानक (Dramatic Irony) के अर्थ में है जिसका भास के रूपकों में आधिक्य है। ये सारी विशिष्टताएँ इन रूपकों में मिलती हैं।

(२) दण्डी (६००-७०० ई०) ने[१] अपने काव्यादर्श (२/२२६) में भास का एक श्लोकार्ध दिया है- **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः** (बाल० १/१५, चारु० १/१९)। इससे उक्त रूपक भास-कृत हैं। मृच्छकटिक में भी इसे दुहराया गया है।

(३) वाक्पतिराज (७५० ई०) ने 'गउडवहो' (पद्य-८००) में भास को 'ज्वलनमित्र' कहा है क्योंकि उनके नाटकों में 'अग्निदाह' के अनेक दृश्य हैं।

(४) वामन (८०० ई०) अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में तीन बार रूपकों के पद्यों का उद्धरण देते हैं- ४/३/२५ में स्वप्न० ४/३ शरच्चन्द्रांशुगौरेण (कुछ परिवर्तन के साथ), ४/१/३ में चारु० १/२ यासां बलिर्भवति, ५/२/२८ में प्रतिज्ञा० ४/२ यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्।

(५) राजशेखर (९०० ई०) ने अपने एक सुभाषित पद्य में भासनाटकचक्र में अमरपद प्राप्त 'स्वप्नवासवदत्त' का उल्लेख किया है-

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

(६) अभिनवगुप्त (१००० ई०) ने नाट्यशास्त्र-टीका (अभिनवभारती) में स्वप्नवासवदत्त में पद्मावती की कन्दुकक्रीडा की चर्चा की है- क्वचित् क्रीडा यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्।

(७) भोजदेव (११ वीं शताब्दी ई०) ने अपने शृङ्गारप्रकाश (द्वादश प्रकाश) में स्वप्नवासवदत्त के शीर्षक वाले पञ्चम अंक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है- 'स्वप्नवासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः। पद्मावतीरहितं च तदवलोक्य तस्या एव शयनीये सुष्वाप। वासवदत्तां च स्वप्नवदस्वप्ने ददर्श। स्वप्नायमानश्च स वासवदत्तामाबभाषे। स्वप्नशब्देन चेह स्वापो वा स्वप्नदर्शनं वा स्वप्नायितं वा विवक्षितम्।' इससे प्रकट होता है कि वर्तमान स्वप्नवासदत्त से ही भोज का परिचय था।

(८) रामचन्द्र-गुणचन्द्र (१२ वीं शताब्दी) ने नाट्यदर्पण में (पृ० ८४) भास, स्वप्न० तथा उसके श्लोक का निरूपण किया है- 'यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकातलमवलोक्य वत्सराजः-

पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥' (स्वप्न० ५/२)

ये सभी तर्क स्वप्नवासवदत्त को तो भास-कृत सिद्ध करते ही हैं, अन्य रूपकों की

---

१. इनकी अवन्तिसुन्दरीकथा (पद्य-११) में कहा गया है- परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ।

समानकर्तृकता के कारण उन्हें भी भास-रचित माने जाने के लिए प्रमाण हैं।

भास का काल

संस्कृत के प्राचीन लेखकों का काल-निर्णय करना कहीं-कहीं बहुत कठिन है। अमरीकी पौरस्त्यशास्त्री ह्विटने (W. D. Whitney) ने इसी से क्षुब्ध होकर कहा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास में दी गई तिथियाँ दीवार में गड़ी कीलों के समान बार-बार उखाड़ने और गाड़ने के लिए होती हैं।[1] भास के काल के विषय में भी यही अनिश्चय है क्योंकि ४५० ई० पू० से लेकर ११०० ई० तक इनके समय को निरूपित करने के प्रयास हुए हैं जो हास्यास्पद स्थिति में इस विषय को ले जाते हैं।

भास की उत्तर काल-सीमा कालिदास तथा शूद्रक के द्वारा निर्धारित होती है क्योंकि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में कहा है- **प्रथितयशसां भास-सौमिल्ल-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।** इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय में भास बहुत प्रसिद्ध थे। शूद्रक ने मृच्छकटिक की रचना भास-कृत 'चारुदत्त' के आधार पर की थी। अतः भास इन कवियों के पूर्ववर्ती थे। कठिनाई यह है कि इन लेखकों के काल भी सर्वमान्य नहीं हैं। कालिदास प्रथम शताब्दी ई० पू० में हैं या ४०० ई० में - यह द्वैध बना हुआ है। शूद्रक को भी प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर ५०० ई० के बीच रखा गया है। पाश्चात्त्य विद्वान् कालिदास को ४०० ई० एवं शूद्रक को ५०० ई० में रखते हुए भास को २५० ई० से ३५० ई० के बीच मानते हैं। यह वस्तुस्थिति को सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में न देखने एवं 'गतानुगतिक' का परिणाम है। केवल प्राकृत भाषा की समीक्षा पर यह आश्रित है।

भास की पूर्व काल-सीमा ५०० ई० पू० है क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कुछ घटनाओं पर आश्रित रूपक लिखे हैं; इनके अतिरिक्त उदयन की प्रेमकथा पर आश्रित अपने रूपकों में ऐतिहासिक पुरुषों वत्सराज उदयन, अवन्तिराज प्रद्योत (या महासेन) एवं मगधराज दर्शक की चर्चा की है। इनका काल षष्ठ शतक ई०पू० है।[2]

कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र का प्रसंग भी भास के काल-निर्धारण में महत्त्व रखता है। अर्थशास्त्र (१०/३) में प्रतिज्ञायौगन्धरायण के एक पद्य (४/२) 'नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णम्' इत्यादि का उद्धरण प्राचीन श्लोक के रूप में दिया गया है। अर्थशास्त्र प्रायः ३०० ई० पू० की रचना है, अतः भास इसके पूर्व रहे होंगे। दूसरा प्रसंग प्रतिमा नाटक (५/८ के बाद) का है जिसमें रावण अपनी ज्ञात विद्याओं का निर्देश करता है- सांगोपांगं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्याय'-शास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च। इसमें पातञ्जल योगशास्त्र (१५० ई० पू०) तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०) की चर्चा न होना भास को इनसे पूर्ववर्ती सिद्ध करता है। भास न तो पतञ्जलि से परिचित थे, न कौटिल्य से। बृहस्पति कौटिल्य-पूर्व के अर्थशास्त्री थे जिनकी चर्चा शान्तिपर्व में तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में (ॐनमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम्) हुई है।

---

1. W.D. Whitney — Sanskrit Grammar, Introduction, p. 19.
2. V. Smith — **Early Hsitory of India**, pp 38-9 and 51, E.J. Rapson — **Cambridge History of India**, Vol. I, pp. 311-13.

डॉ० पुसालकर ने दिखाया है कि भास कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन (१४०-२०० ई०) से भी अपरिचित थे। पाणिनि के व्याकरण का सामान्य रूप से अनुसरण करने पर भी कहीं-कहीं भास उसका अतिक्रमण भी करते हैं। यद्यपि इससे कुछ प्रामाणिक निष्कर्ष नहीं निकलता किन्तु एक बात सम्भावित लगती है कि उनके युग में पाणिनि सर्वमान्य नहीं थे- सम्भवत: वार्तिककार कात्यायन (३५० ई० पू०) का समय ही भास का भी समय होगा।

भास के कुछ रूपकों में 'राजसिंह' नामक राजा का वर्णन भरतवाक्य में किया गया है। यह राजसिंह कौन था? ए० एस्० पी० अय्यर के अनुसार यह चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम था,[1] पुसालकर के अनुसार यह उग्रसेन नन्द की उपाधि थी- इसका समर्थन डॉ० घोषाल ने किया है कि प्रथम भारतीय साम्राज्य की स्थापना उग्रसेन महापद्म ने की थी जिससे 'राजसिंह' उपाधि धारण करने का उसे समुचित अधिकार था। भास ने अपने समकालिक राजा के रूप में 'राजसिंह' का नाम लिया है; अत: उनका काल ३५० ई० पू० माना जा सकता है।

कुछ सांस्कृतिक स्थितियाँ भी इसका समर्थन करती हैं। प्रतिमा नाटक (३/३ के बाद) में मन्दिरों के अहाते में बालू बिछाने का उल्लेख है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी समीक्षा के रूप में कहा है कि केवल आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ऐसा विधान है। इसका काल ३०० ई० पू० के पहले ही है, अत: भास का भी वही काल होना चाहिए। भास ने प्राचीन धर्मसूत्रों के अनुसार ही कहा है कि शूद्र मन्त्र-पाठ के बिना ही देवता की अर्चना करते हैं। अर्थशास्त्र के कुछ निर्देशों के संकेत भास के रूपकों में भी प्राप्त होते हैं। जैसे- विशेष अवसरों पर नगर में रात्रि-भ्रमण पर प्रतिबन्ध (जिसकी सूचना तूर्य-वादन के द्वारा दी जाती थी), जादू-टोने में विश्वास (उनके आचार्यों के नाम कौटिलीय अर्थशास्त्र १४/८ में, अविमारक में भी) इत्यादि। मनुस्मृति में निषिद्ध किन्तु महाभारत में विहित ममेरी बहन से विवाह का प्रसंग 'अविमारक' में है। यह स्थिति भास को मनुस्मृति (प्रथम शताब्दी ई० पू०) से पहले सिद्ध करती है। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रति भास का दृष्टिकोण भी उन्हें इन धर्मों के अभ्युदय के ३-४ सौ वर्षों के भीतर मानने का संकेत देता है। कुल मिलाकर भास ३००-२०० ई० पू० के बीच रखे जा सकते हैं।

भास की नाट्यकला[2]

भास के रूपकों को संस्कृत भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूपक की श्रेणी दी गयी है। इनमें नाट्यकला-विकास के प्रारम्भिक रूप प्राप्त होते हैं। इसीलिए भरत के नाट्यशास्त्र के नियमों का अतिक्रमण इनमें स्वाभाविक रूप से हुआ है फिर भी ये अत्यधिक रोचक तथा रंगमंच की दृष्टि से सफल रूपक हैं। कथानकों का चयन दर्शकों के मानस को बाँध लेता है, भाषा का नैसर्गिक प्रवाह हृदयावर्जक है, संवादों की संक्षिप्तता तथा संयत पद्य-प्रयोग अपना स्वतन्त्र प्रभाव डालते हैं। रामायण-महाभारत-जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों की कथाओं को भी भास ने कलात्मक रूप देकर पहली बार नाट्य-मञ्च पर उतारा। वर्णनात्मक जडता में मञ्चनीयता की चेतना का आधान होने से रसोद्भावन की प्रभूत भूमिका स्थापित हुई। जो लोककथा या उदयन-कथा पर आश्रित रूपक हैं

---

१. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री - **महाकवि भास**, पृ० २६।

२. पृथक्-पृथक् रूपकों में निहित नाट्यकला के लिए डॉ० पुसलकर की पुस्तक (पृ० १७९ से ३११ तक) देखें।

वे भी भास की नाट्यकला के पूर्ण परिचायक हैं। भास को विशेष रूप से स्वप्रवासवदत्त के कारण ही ख्याति मिली। राजशेखर ने अपने सुभाषित में कहा है– **स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।** भास के रूपकों की अग्नि-परीक्षा (कठोर आलोचना) हुई तो स्वप्नवासवदत्त ही इसपर खरा उतरा। अन्य रूपक भी सामर्थ्यवान् हैं किन्तु यह श्रेष्ठ है।

रूपक के जो प्रसिद्ध गुण कथावस्तु, नायक एवं रस के रूप में माने गये हैं, इन तीनों की दृष्टि से भास के रूपक समर्थ हैं, कवि की कला का परिचय देते हैं। नाट्य की नीरस रूढ़ियाँ भास के रूपकों में नहीं मिलतीं। इसीलिए किसी भी समय छोटे या बड़े रूपकों का अभिनय कराया जाये, ये रंगमंच के संचालकों के लिए सुविधाजनक रहे हैं। यह नियति की विडम्बना है कि उत्तर भारत में इनकी सुरक्षा नहीं हो सकी अपितु सांस्कृतिक समृद्धि से सम्पन्न केरल के अभिनेताओं के बीच लोकप्रिय होने से वहीं इनके हस्तलेख प्राप्त हुए। संस्कृत के परवर्ती रूपकों का आधुनिक काल में अभिनय करने के समय उनकी काट-छाँट होती है, जबकि भास के रूपकों को बिना किसी परिवर्तन के ही अभिनीत किया जाता है; भास की नाट्यकला की यह विशिष्टता स्मरणीय है। मञ्च के दृष्टिकोण से ये रूपक शाश्वत हैं।[१]

नाट्य की मुख्य सफलता रसोद्भावन में तथा परिस्थितियों की पहचान में निहित है जिन्हें प्रस्तुत करके नाट्यकार दर्शक के हृदय को बाँधे रखता है। भास ने अपने रूपकों में वीररस के स्थायी भाव उत्साह, शृङ्गार के भाव प्रेम, करुण के भाव शोक, अद्भुत के भाव विस्मय आदि को यथोचित स्थानों पर प्रस्तुत करते हुए अपनी कलात्मक उदात्तता का परिचय दिया है। स्वप्नवासवदत्त का उदयन अपने प्रेमीरूप को ही बहुधा प्रकट करके, जब वत्स-देश के पुनः अधिग्रहण के लिए मगध-राज्य की सेना की संनद्धता की बात सुनता है तो उत्साह से भर कर कहता है–

उपेत्य नागेन्द्र-तुरङ्ग-तीर्णे तमारुणिं दारुणकर्म-दक्षम्।
विकीर्ण-वाणोग्र-तरङ्ग-भङ्गे महार्णवाभे युधि नाशयामि ॥ (५/१३)

जो उदयन प्रेम और विरह की भावनाओं में जी रहा था उसमें पहली बार भास ने युयुत्सा का आधान करके उसके चरित्र का धीरोदात्त पक्ष भी प्रकट किया है अन्यथा चारित्रिक गुणों के प्राबल्य से वह धीरललित की श्रेणी से पृथक् नहीं हो सकता था।

स्वप्नवासवदत्त के सन्दर्भ में भास ने कुछ ऐसी मौलिक कला दिखायी है जो इसे 'दाहकोऽभून्न पावकः' के समुचित रूपक की अर्हता प्रदान करती है। इस नाटक में चार ऐसी उद्भावनाएँ गिनायी जा सकती हैं– प्रथमाङ्क में ब्रह्मचारी का प्रवेश, चतुर्थाङ्क में उदयन का धर्मसंकट, पञ्चमाङ्क में स्वप्नदृश्य (जो इसके शीर्षक का भी कारण है) तथा षष्ठाङ्क में अद्भुत रस का निवेश। इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ अपेक्षित हैं।

इस नाटक का प्रथमाङ्क राजगृह के निकट के तपोवन का दृश्य प्रस्तुत करता है जहाँ परिव्राजकवेशधारी यौगन्धरायण वासवदत्ता को आवन्तिका का नया रूप देकर मगधराजकुमारी पद्मावती के पास न्यास से रूप में रख देता है। यह सब दृश्य पृष्ठभूमि से अनवगत प्रेक्षक

---

१. डॉ० सूर्यकान्त – **सं. वा. वि. इति.**, पृ. २१४ – भास के नाटक संस्कृत नाट्यकला के उस स्वस्थ युग के सूचक हैं जब रंगमंच, नाटक और नाट्यकार एक दूसरे के परिपोषक एवं परिपूरक थे।

(सामाजिक) को विचित्र-सा लगता है। संन्यासी किसे न्यास रूप में रख रहा है- यह सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसका शमन करने के लिए ब्रह्मचारी के रूप में एक पात्र का निवेश किया गया है जो लावाणक-ग्राम की बातें अनावृत करता है। वहाँ वासवदत्ता और यौगन्धरायण जल गये हैं- यह वृत्तान्त फैला है। प्रेक्षक समझ जाता है कि वे दोनों तो प्रस्तुत दृश्य में वर्तमान हैं, रूप बदलकर आये हैं, कोई योजना या षड्यन्त्र की चाल है। इस प्रकार ब्रह्मचारी के आगमन से प्रेक्षक को कथानक की पृष्ठभूमि का अनुमान हो जाता है, अन्यथा आधुनिक नाटकों के समान नेपथ्य से कथावस्तु की घोषणा करनी पड़ती।

ब्रह्मचारी का निवेश यौगन्धरायण और वासवदत्ता को पृथक्-पृथक् सान्त्वना देने के लिए भी हुआ है। दोनों को ब्रह्मचारी की बातों से ज्ञात होता है कि योजना शत-प्रतिशत सफल है, सर्वत्र वासवदत्ता और यौगन्धरायण का दहन-वृत्तान्त प्रचारित है, कहीं कोई कोर-कसर या छिद्र नहीं। दोनों को यह आश्वासन भी प्राप्त होता है कि उदयन की स्थिति ठीक है, उसका उपचार रुमण्वान् (मन्त्री) कर रहा है। वासवदत्ता को यह अतिरिक्त आश्वासन मिलता है कि उसका प्रेमी उसके लिए विह्वल है, भूला नहीं है। ब्रह्मचारी एक प्रकार से उसकी प्रशंसा करता है-**धन्या सा स्त्री यां तथा वेत्ति भर्ता, भर्तृस्नेहात्सा हि दग्धाप्यदग्धा** (१/१३)।

वासवदत्ता के प्रति उदयन के इस अपार स्नेह तथा उसके पुनर्विवाह की कल्पना से राजपुत्री पद्मावती के हृदय में प्रेम के अंकुर फूटते हैं। वह मन ही मन उदयन को पति-रूप में चाहने लगती है। आगे चलकर यह कामना सफल होती है। इस प्रकार ब्रह्मचारी को एक पात्र के रूप में सही काल और स्थान पर लाकर भास ने एक बाण से अनेक लक्ष्यों का वेध किया है- यह उनकी विशिष्टता है।

स्वप्नवासवदत्त के चतुर्थ अङ्क में एक ऐसी विषम परिस्थिति उपस्थित हुई है कि प्रमदवन में एक शिलातल पर उदयन विदूषक के साथ बैठा है; पास ही लता गुल्म में वासवदत्ता और पद्मावती दोनों स्त्रियाँ (उदयन की पत्नियाँ) छिपी हुई हैं। उदयन को विदूषक हठपूर्वक पूछता है कि उसकी दोनों पत्नियों में 'प्रियतरा' कौन है। उदयन इसका उत्तर टालने का प्रयास करता है किन्तु विदूषक के हठ के समक्ष समर्पण करके उसे कहना ही पड़ता है; उधर दोनों स्त्रियाँ उत्तर सुनने के लिए कान छानकर बैठी हैं। लेखक जानता है कि किसी एक को बढ़ाकर कहने का क्या परिणाम होगा। यदि पद्मावती को बढ़ाता है तो वासवदत्ता का हृदय टूट जायेगा और यदि वासवदत्ता को ऊँचा उठाता है तो पद्मावती तुरत झाड़ी से प्रकट हो जायेगी; नवीन नायिका सपत्नी को अपने से बढ़कर सुनना कभी नहीं चाहेगी। इस विषम स्थिति या धर्मसंकट का समाधान भास ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर किया है-

पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूप-शील-माधुर्यैः ।
वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति ॥ (४/४)

पहले नवीन नायिका पद्मावती को प्रसन्न करें कि उसमें रूप, शील और माधुर्य है, वह बहुत अच्छी लगती है। इतना सुनकर ही पद्मावती अपने आप में खो जायेगी, वासवदत्ता के विषय में उदयन क्या कहेगा - इसे सुनने में उसे कोई रुचि नहीं। किन्तु तपस्विनी वासवदत्ता तो अभी सुनने के लिए तत्पर ही है। उसका नाम बाद में लिया गया तो क्या हुआ? थोड़ी तपस्या ही और

हो गयी; किन्तु कहा गया – वासवदत्ता में आबद्ध मेरे मन को यह पद्मावती खींच नहीं पाती। बस, उसे सब कुछ मिल गया। इस प्रकार दक्षिण नायक का उदाहरण कहाँ मिलेगा?

पञ्चम अङ्क का स्वप्न-दृश्य अद्‌भुत है। एक पात्र (उदयन) स्वप्न में बोल रहा है जब कि वहीं खड़ी वासवदत्ता उसका समुचित उत्तर देती है। दो पात्रों को पृथक् मन:स्थितियों में रखकर यह नाट्य-प्रयोग किया गया है। राजगृह के समुद्रगृह (cold room) में यह घटना होती है। जब वासवदत्ता पलंग से उदयन के लटकते हाथ को ऊपर रखने का प्रयास करती है तो उदयन की नींद टूट जाती है; उसे वासवदत्ता के स्पर्श की अनुभूति होती है भले ही वह हाथ छुड़ाकर भाग गयी है। स्वप्न में वासवदत्ता के प्राप्त होने तथा जीवित होने की सूचना का यह प्रतीकात्मक प्रयोग भास को भी अच्छा लगा तथा नाटक का शीर्षक भी उन्होंने इसी वृत्तान्त के अनुसार रखा। शीर्षक की वक्रता का यह समुचित पालन है।

षष्ठाङ्क की योजना पर विवाद हुए हैं। स्वप्न-दृश्य में उदयन को जब वासवदत्ता के जीवित होने की प्रतीकात्मक सूचना मिल जाती है तब पुन: स्थूल धरातल पर नायक-नायिका के समागम की आवश्यकता नहीं रह जाती, तथापि भास ने समस्त विच्छिन्न घटनाओं तथा पात्रों को संकलित करके अद्‌भुत रस के उद्‌भावनार्थ इस अन्तिम अङ्क का प्रयोग किया है जो उदयन-विषयक उनके दोनों रूपकों का सुन्दर उपसंहार (निर्वहण) प्रस्तुत करता है। निर्वहण-सन्धि में अद्‌भुत रस का निवेश चमत्कारी होता है- इसे भास ने सिद्ध किया है। किसी पात्र को अप्रत्याशित विषय के दर्शन से जो विस्मय होता है, उसे देखना प्रेक्षण के लिए भी मनोरञ्जक है। इस अङ्क में उज्जयिनी, वत्स तथा मगध तीनों का समन्वय करके इन राज्यों में व्याप्त भ्रान्तियों का सफल निवारण करके नाटक को परम सुखान्त बनाया गया है।

इसी नाट्यकला के आलोक में राजशेखर ने कहा था–

स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ।

यह नाटक भास नाटकचक्र की आत्मा है जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता– 'नैनं दहति पावकः'। यह अग्नि-परीक्षा में खरा उतरता है।

भास ने जितने प्रकार के रूपकों का प्रयोग किया है उनसे रूपक-भेदों के उद्‌भव पर समुचित प्रकाश पड़ता है। स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण[1], प्रतिमा, अभिषेक– ये नाटक हैं तो अविमारक एवं चारुदत्त प्रकरण हैं। कृष्णकथा पर आश्रित बालचरित भी सफल नाटक है जबकि पञ्चरात्र समवकार-श्रेणी का रूपक है। महाभारत पर आश्रित अन्य रूपक एकांकी हैं। वे अंक, व्यायोग– इन दो कोटियों में रखे गये हैं। इस प्रकार अनेक रूपक-भेदों के प्राचीनतम रूप 'भासनाटकचक्र' में निहित हैं। प्रो. ध्रुव का कथन है कि भास के युग में आज के समान सभी रूपक-प्रभेदों को सामान्य रूप से 'नाटक' की संज्ञा दी जाती थी। लेखक अपनी इच्छा से उनके प्रयोग का सम्पादन करता था। प्रयोग-भेद आगे चलकर रूपक-भेद के निमित्त बन गये।

भास की भाषा-शैली

भास ने अपने रूपकों में संस्कृत के अतिरिक्त नियमों के अनुरूप प्राकृत का भी प्रयोग

---

१. इसके प्रकार पर विवाद है– इसे प्रकरण (कीथ, विन्टरनित्स), नाटिका (गणपति शास्त्री), ईहामृग (बनर्जी शास्त्री) तथा नाटक (ए. बी. ध्रुव) भी कहा गया है। पुसलकर का ग्रन्थ, पृ. २७३-४।

किया है। उनकी संस्कृत अत्यधिक सरल, दीर्घसमास-रहित, अल्प अलंकारों से समन्वित, प्रवाहपूर्ण तथा शुद्ध है।[1] यत्र-तत्र लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा का प्रभाव दर्शकों पर प्रचुर रूप से पड़ता है। दैनिक व्यवहार में चलने वाली संस्कृत भाषा में गद्य-संवाद तथा ईषत् परिष्कृत पद्यों का इन्होंने प्रयोग किया है। प्राकृत का गद्य में प्रयोग तो है किन्तु पद्य एक भी नहीं। इससे सूचित होता है कि उनके युग तक प्राकृत ने साहित्यिक रूप नहीं लिया था; संस्कृत लोक-व्यवहार में थी। सामान्य जनों में यत्र-तत्र प्राकृत का भी प्रयोग हो रहा था। यह प्राकृत यद्यपि लिपिकारों की व्यवस्था के अनुसार सर्वदा युगानुरूप बनती गयी। डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने स्पष्ट कहा है कि लिपिकार अपने लेखकों की प्राकृत को अपने युग की प्राकृत का रूप दे दिया करते थे;[2] यह तथ्य गद्य-संवादों की स्थिति में अधिक मिलता है। फिर भी भास की प्राकृत शौरसेनी का आदिम रूप देती है।

भास की भाषा घटनाओं के अनावरण के अनुकूल गतिशील है, इसलिए उसमें नैसर्गिक प्रवाह तथा स्पन्दन है। मूलत: नाट्यकार (कवि नहीं) होने से भास कवित्व के उद्भावन में निमग्न नहीं होते। इसीलिए पद्यों का बहुत सीमित प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है। वहाँ भी रंगमंच तथा प्रेक्षकों की अभिरुचि पर ध्यान रखने के कारण श्लेषयुक्त तथा अलंकरण-मयी भाषा का संवरण किया गया है।

सामान्यत: लघुकाय छन्दों के प्रयोग के कारण भास पर रामायण तथा महाभारत का पुष्कल प्रभाव कहा जाता है। ऐसा उन्होंने दर्शकों के सौकर्य की दृष्टि से किया है। जहाँ कहीं भी बड़े छन्द (यथा - शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित इत्यादि) प्रयुक्त हुए हैं वहाँ एक पद्य में कई-कई वाक्य परस्पर संयुक्त किये गये हैं जिससे दर्शकों को भाव-बोध में तनिक भी असुविधा न हो। उदाहरणार्थ स्वप्रवासवदत्त के इस पद्य को लें जिसमें सन्ध्याकाल का वर्णन है-

खगा वासोपेता: सलिलमवगाढो मुनिजन:
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम् ।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥ (१/१६)

इसमें सरलता के साथ पद-लालित्य और पदों की मनोरम सजावट भी ध्यातव्य है। दण्डी ने ऐसे इतिवृत्तात्मक पद्यों में भी काव्य-सौन्दर्य का उद्भावन माना है,[3] जिससे नाटक में कथानक को गति प्राप्त होती है।

भावों को स्पष्ट करने के लिए भास ने असंख्य सामान्योक्तियों का प्रयोग किया है जैसे -

---

1. G. Sastri—**Critical Study of Bhāsa's Works** (Trivandrum, 1925), p. 27—
The sentences are everywhere replete with a wealth of ideas beautifully expressed, which cultured minds will easily appreciate.
2. Quoted in Pusalker's book (p.126) — "the copyist always changed the Prakrit of their authors into the Prakrit current in their own time".
३. **काव्यादर्श** (२/२४४)- गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण: ।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥

अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते (पञ्चरात्र २/३३), प्रायेण हि नरेन्द्रश्रीः सोत्साहैरेव भुज्यते (स्वप्न. ६/७), कुतः क्रोधो विनीतानां लज्जा वा कृतचेतसाम् (प्रतिमा ६/९), कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले (स्वप्न. ६/१०), जनयति खलु रोषं प्रश्रयो भिद्यमानः (चारुदत्त १/१४), न न्याय्यं परदोषमभिधातुम् (प्रतिमा, पृ० ७८), निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च (प्रतिमा १/२९), नीते रत्ने भाजने को निरोधः (प्रतिज्ञा. ४/२), प्रद्वेषो बहुमानो वा संकल्पादुपजायते (स्वप्न. १/७), बहुविघ्नानि सुखानि (अविमारक, पृ. ५६), मिथ्याप्रशंसा खलु नाम कष्टा (पञ्चरात्र २/६०), शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात् (कर्णभार, श्लो. २२), सति च कुलविरोधे नापराध्यन्ति बालाः (पञ्चरात्र ३/४), दुःखं न्यासस्य रक्षणम् (स्वप्न. १/१०) इत्यादि।[1]

अलङ्कारों के प्रयोग भास ने अत्यन्त मर्यादित रूप में किये हैं। जहाँ आवश्यकता है तथा अभिव्यक्ति में चमत्कार लाने की सम्भावना है, वहीं पर भास की अलङ्कारप्रियता प्रकट होती है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास आदि अलङ्कार रस-भाव के अनुकूल ही प्रयुक्त हैं, भास की शैली में सहज भाव प्रवाहित होते हैं। गद्य-संवादों में भी यत्र-तत्र इनकी मधुरता निहित है जैसे- **त्रैलोक्यविद्रावणं रावणम्** ...... **गुणगणविभूषणं विभीषणम्** ...... **शरद्विमलचन्द्राभिरामो रामः** (प्रतिमा, अंक ७)। उपमा का एक मौलिक प्रयोग इस लोकप्रिय पद्य में दर्शनीय है-

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः ।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ॥ (प्रतिमा २/७)

दशरथ कहते हैं कि सायंकालीन सूर्य के समान राम वन चले गये; सूर्य के पीछे जैसे दिवस चला जाता है उसी प्रकार राम के पीछे लक्ष्मण चले गये। सूर्य और दिवस की समाप्ति पर छाया नहीं दीखती, उसी प्रकार अब सीता भी दिखाई नहीं पड़ रही है। पञ्चरात्र (२/२३) में युधिष्ठिर का वर्णन विरोधाभास की झलक देता है। बृहन्नला (भीम) का कथन है-

विमुक्तराज्योऽप्यभिवर्धितः श्रिया
त्रिदण्डधारी न च दण्डधारकः ।

पद्यों का खण्ड करके विविध पात्रों का संवाद प्रस्तुत करने की कला में भी भास निपुण हैं। यह अस्वाभाविक लगने पर भी कलात्मक लगता है। जैसे शिखरिणी छन्द में भरत और सूत का यह संवाद है-

भरतः- पितुर्मे को व्याधिः, **सूतः-** हृदयपरितापः खलु महान्।
भरतः- किमाहुस्तं वैद्याः, **सूतः-** न खलु भिषजस्तत्र निपुणाः।
भरतः- किमाहारं भुङ्क्ते शयनमपि, **सूतः-** भूमौ निरशनः।
भरतः- किमाशा स्याद्, **सूतः-** दैवं,
भरतः- स्फुरति हृदयं वाहय रथम् ॥ (प्रतिमा ३/१)

---

१. भास के सभी सुभाषितों का वर्णानुक्रम से संकलन डॉ० पुसलकर ने अपनी पुस्तक - **Bhāsa : A Study** - पृ० ५५० से ५६० तक (परिशिष्ट IA में) किया है।

परवर्ती रूपकों में भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया है।

भास ने अपने रूपकों में कुल २४ छन्दों तथा १०९२ पद्यों का प्रयोग किया है। इनमें अनुष्टुप् या श्लोक छन्द में ४३७ पद्य हैं जो वाल्मीकि के प्रभाव को सूचित करते हैं। अन्य छन्द हैं- वसन्ततिलका (१९७), शार्दूलविक्रीडित (९२), उपजाति (९१), मालिनी (७२), पुष्पिताग्रा (५५) इत्यादि। कुछ अल्पप्रचलित छन्द भी भास ने प्रयुक्त किये हैं जैसे – वैश्वदेवी, सुवदना, दण्डक आदि।[1] उनके कई रूपकों का मङ्गलाचरण मुद्रालंकार से युक्त है अर्थात् मुख्य रूप से आशीर्वचन और गौणरूप से कई पात्रों के नाम भी आ गये हैं। जैसे-

उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्॥ (स्वप्र० १/१)

अर्थात् बलराम की वे दोनों भुजाएँ तुम्हारी रक्षा करें जो (भुजाएँ) उदयकाल के अभिनव चन्द्र के समान धवल हैं, प्रियतमा को आसव (मदिरा) दे चुकी हैं, खिले कमल के समान भरी-पूरी एवं वसन्त ऋतु के सदृश कमनीय हैं। इस पद्य के प्रत्येक चरण के आरम्भ में स्वप्नवासवदत्त-नाटक के प्रमुख पात्रों के नाम भी आये हैं।

भास कालिदास के समय में पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर चुके थे जिससे कविकुलगुरु ने उन्हें 'प्रथितयशसाम्' के विरुद से विभूषित किया। जयदेव ने 'भासो हास:' कहकर उनकी रचनाओं की मनोरञ्जकता पर प्रकाश डाला है। सरल-सरस भावों की अभिव्यक्ति तथा रंगमंच की उपयुक्तता की दृष्टि से भास के रूपक संस्कृत साहित्य में अनुपम हैं।

नाट्यकार कालिदास

नाटककार के रूप में कालिदास की प्रसिद्धि कवि-रूप की अपेक्षा अधिक है। उनका शाकुन्तल नाटक विश्व-नाटकों में परिगणित है। सम्प्रति उनके तीन नाटक प्राप्त हैं- मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल। इनमें प्रथम दो पाँच अंकों में तथा अन्तिम सात अंकों में है। इनकी संक्षिप्त कथावस्तु का निरूपण किया जाता है।

(१) मालविकाग्निमित्र – यह पाँच अंकों में पर्यवसित ऐतिहासिक नाटक है जिसमें शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र तथा विदर्भराजकुमारी मालविका के विवाह की कथा है। महाकवि ने इसे 'स्वप्नवासवदत्त' के आदर्श पर राजवंशों में वैवाहिक सम्बन्ध का प्रदर्शन करने के लिए लिखा था। राजप्रसाद में सांस्कृतिक गतिविधियों का समीचीन चित्रण इसमें किया गया है। विपत्तियों से ग्रस्त मालविका वन में वीरसेन (अग्निमित्र की महारानी धारिणी का भाई) को प्राप्त होती है जो उसे धारिणी के पास पहुँचा देता है। वहाँ वह दासी-रूप में रहती है किन्तु राजा अग्निमित्र की आँखों में चढ़कर उसकी प्रेमिका बन जाती है।

मालविका को नृत्य संगीत की शिक्षा देने के लिए गणदास की नियुक्ति की गयी है। यद्यपि मालविका को राजा से दूर रखने का अत्यधिक प्रयास धारिणी करती है किन्तु चित्र में उसे देखकर

---

१. देवधर द्वारा सम्पादित – **भासनाटकचक्रम्** (१९५१), पृ० ५६१-७ में विशेष विवरण।

राजा उसके रूप से आकृष्ट हो जाते हैं। विदूषक राजा के समक्ष मालविका को लाने का उपाय करता है। इसी बीच नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त के बीच योग्यता-विषयक विवाद छिड़ जाता है जिसके निर्णय का भार संन्यासिनी कौशिकी को मिलता है। कौशिकी के आदेशानुसार दोनों आचार्य अपनी शिष्याओं से नृत्य और अभिनय कराने की बात मान लेते हैं। इसी से आचार्यों की योग्यता निर्णय होगा। द्वितीय अंक में मालविका का नृत्य होता है जिससे गणदास को विजयी घोषित किया जाता है। राजा इस प्रदर्शन को देखकर मालविका पर अत्यधिक मुग्ध हो जाते हैं। तृतीय अंक में प्रमदवन में राजा और मालविका की भेंट होती है यद्यपि इसमें छोटी रानी इरावती विघ्न डालती है और राजा पर कुपित भी होती है। चतुर्थ अंक में कुपित धारिणी मालविका और उसकी सखी को कारागार में डाल देती है। विदूषक सर्पदंश का बहाना बनाकर धारिणी की सर्पमुद्रायुक्त अंगूठी पा लेता है तथा उसी को दिखाकर कारागार से सखी-सहित मालविका को मुक्त कराता है। अन्तिम अंक में विदर्भ-राज्य से आयी दो सेविकाओं से मालविका का परिचय मिलता है; पूरा विवरण जानकर रानी धारिणी अग्निमित्र से मालविका का विवाह करा देती है।

इस रूपक में अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र (राज्यप्राप्ति-१८५ ई० पू०) के द्वारा निर्विघ्न अश्वमेधानुष्ठान एवं पुत्र वसुमित्र के द्वारा यवनों पर विजयलाभ दोनों ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण है। राजप्रासाद में होने वाले प्रेम-प्रपञ्च, विलास, कामसचिव (विदूषक) के कौशल आदि की कल्पना के द्वारा कालिदास ने कथानक को आनन्दमय तथा सजीव बना दिया है। यद्यपि इसमें कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष नहीं मिलता किन्तु बाह्य परिस्थितियों की सजावट में उसे बहुत सफलता मिली है। शृङ्गार रस कालिदास के सभी नाटकों का प्रधान (अङ्गी) रस है, यहाँ भी उसे पुष्ट किया गया है; विदूषक का हास्य भी मनोरञ्जक है। प्रणय की पूर्ति विदूषक पर ही आश्रित है क्योंकि रानी इरावती और धारिणी इसमें प्रायः विघ्न बनकर ही आती है। विषयवस्तु (राजा का नयी नायिका से अन्तःपुर में प्रेम, बड़ी रानी से भय) की दृष्टि से इसे 'नाटिका' की श्रेणी में रखा जाता, किन्तु पाँच अंकों के कारण यह नाटक है। नायक अग्निमित्र धीरललित की कोटि में है यद्यपि उसे समीक्षकों ने नाटकीय संविधानक के कारण धीरोदात्त कहा है।

यहाँ कालिदास परम्परा-भङ्ग की बात करते हैं कि सब कुछ पुराना ही अच्छा हो, यह आवश्यक नहीं। नयी रचनाएँ भी अच्छी होती हैं। समीक्षक विचार कर ही कोई निर्णय देता है-

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ (१/२)

नाट्याचार्य गणदास से कवि ने नाट्य-यज्ञ की प्रशंसा इन शब्दों में करायी है-

> देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
> रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
> त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
> नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥
> (मालवि० १/४)

अर्थात् नाट्य देवताओं की आँखों को शान्ति प्रदान करने वाला महान् यज्ञ-कर्म (क्रतु)

है, शिव ने पार्वती से विवाह करके इसे दो भागों (ताण्डव तथा लास्य) में विभक्त किया; इसमें सात्त्विक, राजस और तामस (त्रिगुणात्मक) लोकवृत्तान्त निहित है जो अनेक रसों से भरा हुआ रहता है। यह दृश्यकाव्य विविध रुचियों से युक्त व्यक्तियों के मनोविनोद का एकमात्र साधन है।

कालिदास के शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों का प्रकाशन इस नाटक में सम्यक् प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि में अच्छा शिक्षक वही है जिसमें ये दोनों गुण हों कि स्वयं विद्वान् हो और शिष्यों को भी योग्य बना सकता हो। केवल एक गुण से सम्पन्न होना पर्याप्त नहीं है–

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां, धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥ (१/१६)

एक अन्य श्लोक में गणदास कहता है कि जो अध्यापक नौकरी पा लेने पर शास्त्रार्थ से भागता है, दूसरों के अंगुली उठाने पर (निन्दित होने पर) भी चुप रह जाता है और केवल पेट पालने के लिए विद्या पढ़ाता है; वह पण्डित नहीं अपितु ज्ञान-विक्रेता वणिक् है–

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥ (१/१७)

इस नाटक में भी कालिदास ने नायिका के सौन्दर्य का वर्णन तन्मयतापूर्वक किया है। नृत्य करती हुई सुन्दरी मालविका अग्निमित्र के हृदय में घर कर लेती है जिससे वे उसे 'कामदेव का विष-दिग्ध बाण' कहते हैं–

परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः। (२/१३)

(२) विक्रमोर्वशीय – कालिदास-कृत यह रूपक पाँच अङ्कों का 'त्रोटक' है। त्रोटक एक प्रकार का उपरूपक होता है जिसमें पाँच, सात, आठ या नौ अङ्क होते हैं, देव एवं मनुष्य दोनों का वर्णन होता है, शृंगार-प्रधानता एवं विदूषक की प्रत्येक अङ्क में उपस्थिति रहती है। शेष लक्षण नाटकवत् होते हैं।[1] विक्रमोर्वशीय में राजा पुरूरवा (विक्रम) तथा दिव्य-पात्र उर्वशी की प्रेम-कथा दी गयी है। इसका स्रोत ऋग्वेद (१०/९५) तथा शतपथब्राह्मण (५/१/२) में प्रस्तुत उर्वशी-कथा है। मत्स्यपुराण में दी गयी उर्वशी-कथा से इस नाटक की कथावस्तु का अधिक साम्य है। राजा पुरूरवा केशी राक्षस से आक्रान्त अप्सरा उर्वशी की रक्षा करता है, राजा और उर्वशी परस्पर आसक्त हो जाते हैं (अंक १)। उर्वशी का प्रेमपत्र विदूषक की अकुशलता से देवी औशीनरी को मिल जाता है। राजा किसी प्रकार उसके कोप का शमन करते हैं (अंक २)। स्वर्ग में भरत-द्वारा निर्देशित एक नाटक में अभिनय करते हुए उर्वशी 'पुरुषोत्तम विष्णु' के स्थान पर 'पुरूरवा' का नाम ले लेती है जिससे कुपित होकर भरतमुनि उसे शाप देते हैं कि पुत्र-दर्शन तक वह मृत्युलोक में रहे। वह राजा पुरूरवा के पास रहने लगती है (अंक ३)। राजा के एक विद्याधर-कुमारी पर मुग्ध होने से कुपित उर्वशी गन्धमादन उपवन में भाग जाती है जहाँ शापवश वह लता बन जाती है। राजा के शोकाकुल होने पर आकाशवाणी होती है कि यदि राजा संगमनीय मणि लेकर लता-रूपी उर्वशी का आलिंगन करे तो वह पूर्वरूप में आ जायेगी। राजा ऐसा करके उसे पुनः पूर्व-रूप में ले आते

---

१. साहित्यदर्पण ६/२७३ सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ॥

हैं (अंक ४)। राजा की मणि को एक गिद्ध चुरा लेता है किन्तु वह सहसा बाण से मारा जाता है। बाण पर 'पुरूरवा का पुत्र आयुष्' अंकित है, यह उर्वशी-पुत्र च्यवन ऋषि के आश्रम में छिपाकर रखा गया था जिससे उर्वशी देख न पाये। इसी समय नारद इन्द्रलोक से आकर सूचना देते हैं कि इन्द्र को युद्ध में पुरूरवा की सहायता चाहिए अतः उन्होंने उर्वशी को सदा पुरूरवा के साथ रहने का वर दिया है (अंक ५)।

कालिदास ने प्राचीन आख्यान में कई नयी बातें जोड़ी हैं जैसे- भरत द्वारा उर्वशी को शाप, उपवन में उर्वशी का लता बन जाना, इन्द्र का उर्वशी को वर मिलना इत्यादि। वैदिक आख्यान वस्तुतः एक प्राकृतिक उपादान की व्याख्या के रूप में था कि पुरूरवस् (घोर गर्जनकारी मेघ) और उर्वशी (विद्युत्) परस्पर संयुक्त हैं, उनके संयोग से आयुष् (अन्न) उत्पन्न होता है।[1] इसका मानवीकरण करके शृङ्गार के रूप में कवियों ने आख्यान बनाया।

विक्रमोर्वशीय में पात्रों के अन्तरङ्ग का उत्कृष्ट चित्रण है, भाषा तथा भावाभिव्यक्ति में कवि की विकासोन्मुखी प्रतिभा उद्भासित होती है एवं शृङ्गार के दोनों पक्षों (सम्भोग और विप्रलम्भ) का इसमें मार्मिक उद्भावन है। कवि ने चतुर्थ अंक में अपभ्रंश-भाषा की गीतियों में पुरूरवा का विलाप प्रस्तुत किया है जो काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है किन्तु उनका वैपुल्य उद्वेजक है- जनभाषाओं में होनेवाले विरहोद्गार से प्रेरित हो कवि ने उनका प्रयोग इस नाटक में किया होगा। कालिदास के काव्यों के गुण (जैसे- प्रसादगुण, वैदर्भी, उपमा, लालित्यपूर्ण भाषा इत्यादि) यहाँ विकसित रूप में प्राप्त होते हैं।

उर्वशी के सौन्दर्य के चित्रण में कवि को कहना पड़ा है कि वेदाभ्यास के कारण विषय-विलास से दूर रहने वाले वृद्ध ब्रह्मा इस सुन्दरी को नहीं बना सकते थे; अवश्य ही कान्तिप्रद चन्द्र या शृङ्गारमात्र-विलासी कामदेव अथवा पुष्पाकर वसन्त ही प्रजापति बनकर इसकी सृष्टि में लगा होगा-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

(विक्रमोर्वशीय १/१०)

उर्वशी जब राक्षसों के भय से मूर्च्छित होकर पुनः चेतना प्राप्त कर रही थी तब उसकी इस दशा की वर्णना में कवि ने कमनीय उत्प्रेक्षाओं की माला पिरो दी है-

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रिः
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्॥ (१/९)

---

१. निरुक्त १०/४६ पुरूरवा बहुधा रोरूयते। (भाष्यम् - पुरु अनेकविधं स्तनयित्नुशब्दं भृशं करोति यः स पुरूरवाः)। निरुक्त (५/१३) तथा यजुर्वेद (१५/१९) में उर्वशी की व्याख्या विद्युत् के रूप में है।

अर्थात् मूर्च्छा दूर होने पर आपकी सखी ऐसी लगती है जैसे चन्द्रमा के निकल आने पर अन्धकार से मुक्त होती हुई रात्रि हो, या रात के समय बिना धुएँवाली अग्नि की लपट हो, या गंगा की वह धारा हो जो कगार (तट) के गिर जाने से मलिन होकर पुनः स्वच्छ हो गयी हो।

संयोग शृंगार का चित्रण तृतीय अङ्क के अन्त में प्रकर्ष प्राप्त करता है। राजा उर्वशी को कहते हैं कि मेरे मनोरथ के पूर्ण होने से पहले तुम्हारे विरह में रातें सौ-गुनी लम्बी लगती थीं, यदि वे अब तुम्हारे मिल जाने पर भी वैसी ही लम्बी लगें तो मैं अपने को भाग्यवान् समझूँ-

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं, शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।
यदि तु तव समागमे तथैव, प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥(३/२२)

पूरा चतुर्थ अंक विप्रलम्भ की उद्भावना में समर्पित है। मेघदूत या रघुवंश (सर्ग ८) या कुमारसम्भव (सर्ग ४) के समान यह विलापमय है, उर्वशी के विरह में राजा का विलाप प्रायः कवित्वमय है, कवि का नाट्यकार-रूप गौण हो गया है। इसमें अप्रत्याशित रूप से ७६ पद्यों का प्रयोग है जिनमें अधिकांश प्राकृत या अपभ्रंश के हैं। प्रकृति के विभिन्न उपादानों से राजा उर्वशी का पता पूछते हैं किन्तु वह तो लता बन चुकी है। राजा विक्षिप्त होकर मेघों को राक्षस समझते हैं; इन्द्रधनुष को राक्षस का धनुष, घोरवृष्टि को बाणों की वर्षा तथा बिजली को उर्वशी मानकर उर्वशी के अपहरण की आशंका में बड़बड़ाते हैं किन्तु शीघ्र ही उनका भ्रम दूर होता है कि ये तो प्राकृतिक उपादान हैं-

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया मम नोर्वशी ॥ (४/७)

विक्रमोर्वशीय का भरतवाक्य दो अनुष्टुप्-पद्यों में है जो भारतीय आशीर्वाद-परम्परा का पर्यवसान या निकष है-

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
संगतं श्री-सरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥ (५/२४-५)

(३) अभिज्ञानशाकुन्तल[1] - विश्व-साहित्य में विख्यात इस नाटक में कालिदास ने अपने नाट्य-कौशल का प्रकर्ष दिखाया है। एक सामान्य कथानक को परिवर्तित करके कवि ने नाटकीय रूप प्रदान कर विश्ववन्द्य बनाया है। जर्मन महाकवि गेटे ने इस नाटक के जार्ज फार्स्टर-कृत जर्मन रूपान्तर (१७९१ ई०) को पढ़कर ही इसके विषय में जो समीक्षापूर्ण प्रशस्ति लिखी थी, वह डॉ० वामन विष्णु मिराशी के शब्दों में इस प्रकार है-

---

१. सर विलियम जोन्स द्वारा १७८९ ई० में अंग्रेजी अनुवाद, १७९१ ई० में जर्मन अनुवाद। इसके वंगीय, कश्मीरी, दक्षिणी आदि कई संस्करण पाठ-भेदों के साथ मिलते हैं।

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

तदनुसार इसमें वसन्त और ग्रीष्म का, स्वर्ग और पृथ्वी का ऐसा अभूतपूर्व समन्वय है जो मन को परम तृप्ति प्रदान करता है। उधर शिलर (Schiller) ने भी हम्बोल्ट को सम्बोधित पत्र में लिखा था कि सम्पूर्ण ग्रीक साहित्य में स्त्री-जीवन का इतना सुन्दर कवित्वमय चित्रण नहीं है जो शकुन्तला की छाया भी छू सके। इस प्रकार देश-विदेश में इसकी समीक्षा में लेखकों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति की है।

इसके सात अंकों में हस्तिनापुर-नरेश दुष्यन्त तथा कण्वाश्रम में पली तापस-कन्या (विश्वामित्र और मेनका अप्सरा से उत्पन्न) शकुन्तला की प्रणयकथा का आरोहावरोहमय निरूपण है। भौतिक आकर्षण को शाश्वत आध्यात्मिक प्रेम का रूप देने में कवि को सफलता मिली है। कथानक इस प्रकार है- मृग का अनुसरण करते हुए दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचता है और शकुन्तला को देखकर मोहित हो जाता है, शकुन्तला भी उसपर आसक्त होती है (अंक १)। राजा अपने प्रेम के विषय में विदूषक से विस्तृत चर्चा करता है किन्तु अन्त में सारी बातें 'परिहास-विजल्पित' कहकर उसे राजधानी भेज देता है, स्वयम् आश्रम में ठहर कर तपस्वियों की रक्षा करता है (अंक २)। शकुन्तला दुष्यन्त के प्रति आसक्ति के कारण अस्वस्थ है, वह एक प्रेम-पत्र लिखती है। छिपकर दुष्यन्त उसे देखता है तथा यथासमय प्रकट हो जाता है। दोनों में गान्धर्व-विवाह होता है, शकुन्तला गर्भवती हो जाती है (अंक ३)।

चतुर्थ अंक इस नाटक का मर्मस्थल है जहाँ से कथा मुड़ती है पार्थिव प्रेम आध्यात्मिक दिशा में मुड़ता है। इसके विष्कम्भक में शून्यमना शकुन्तला को अनजाने दुर्वासा का शाप मिलता है कि दुष्यन्त उसे भूल जायेगा; किन्तु परिहार है कि अभिज्ञान (अंगूठी जिसे दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपने प्रेम की स्मृति के लिए दिया था) को देखकर उसे स्मरण हो आयेगा। शाप का वृत्तान्त केवल सखियों (अनसूया तथा प्रियंवदा) तक ही सीमित रहता है। मुख्य अंक में सोमतीर्थ से वापस आकर कण्व शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेजने का उपक्रम करते हैं। शकुन्तला के पति-गृह-गमन की वेला का मार्मिक चित्र इस अंक में कवि ने प्रस्तुत करके 'नियति-कृत-नियम-रहिता' कविनिर्मिति का उत्कर्ष दिखाया है। एक ही साथ प्रकृति और मानव का सामञ्जस्य, वात्सल्य का अनुपम उन्मेष, संस्कृति की उदात्तता (कण्व के उपदेशों में) तथा आशीर्वाद की पावनता का प्रतिपादन इस अंक का वैशिष्ट्य है। शकुन्तला की लोकप्रियता इस अंक में प्रदर्शित है कि वह मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियों के बीच में भी अपनी सेवा-भावना के कारण आदरणीय थी। तभी तो उसके प्रस्थान-काल में सभी विह्वल हैं। कण्व तपस्वी होकर भी विकल हैं (**यास्यत्यद्य शकुन्तलेति० ४/६**), तब गृहस्थों को पुत्री की प्रथम विदाई के समय की वेदना कैसी होती होगी? शकुन्तला वृक्षों को तृप्त किये बिना जल पीने का उपक्रम नहीं करती थी (**पातुं न प्रथमं व्यवस्यति० ४/९**), उनमें प्रथम कुसुमोद्गम पर समारोह मनाती थी, वही आज जा रही है। कण्व के उपदेशों में शकुन्तला के कर्तव्यों की तालिका है (**शुश्रूषस्व गुरून्० ४/१८**), तो दुष्यन्त को दिये गये मार्मिक सन्देश भी हैं (**अस्मान्साधु विचिन्त्य० ४/१७**)। ये चारों पद्य इस

अङ्क को उस पद पर प्रतिष्ठापित करते हैं जो काव्य और संस्कृति के युगपत् समावेश के कारण उदात्त तथा वाञ्छनीय है। कहा गया है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥

अन्य अंकों में दुर्वासा के शाप का प्रभाव दिखाते हुए अन्त में नायक का नायिका से स्थिर सम्मेलन निरूपित किया गया है। हस्तिनापुर में शकुन्तला दुष्यन्त की राजसभा में आती है, उसे दुष्यन्त दुर्वासा के शाप वश नहीं पहचानता। जो अँगूठी पहचान के रूप में उसके पास थी, वह भी जल में गिर चुकी है अतः उसके खोजने का प्रयास व्यर्थ होता है। शकुन्तला को अपमानित होकर राजसभा से जाना पड़ता है किन्तु इसी बीच मेनका उसे उठाकर मारीचाश्रम में रख आती है (अंक ५)। शचीतीर्थ में शकुन्तला की गिरी अँगूठी राजा को एक मछुए से मिलती है। अब उसे सब कुछ स्मरण हो आता है, वह पश्चात्ताप में विकल होता है, सभी समारोह बन्द करा देता है। इसी बीच इन्द्र का सारथि उसे लेने के लिए आता है क्योंकि इन्द्र ने राक्षसों के वधार्थ राजा को बुलाया है। दुष्यन्त का शोक वीररस के रूप में बदल जाता है (अंक ६)। राक्षसों का वध कर दुष्यन्त स्वर्ग से भूतल पर लौटता है तो बीच में उसे मारीच आश्रम मिलता है। वहाँ जाकर वह अपनी प्रियतमा शकुन्तला तथा चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त पुत्र भरत को देखता है। महर्षि मारीच के आशीर्वाद से नायक-नायिका का सम्मेलन हो जाता है (अंक ७)।

कालिदास ने इस नाटक में प्रेम का आरम्भ तो भौतिक आकर्षण से दिखाया है क्योंकि शकुन्तला को 'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः' (२/१०) इत्यादि के रूप में प्रकट करते हुए रूपासक्ति का विषय बनाया है किन्तु विरह की अग्नि में नायक-नायिका को तपाकर इस प्रेम को आत्मिक (Spiritual) बनाने का सफल प्रयास किया है। जो शारीरिक आकर्षण मालिनी नदी के तटवर्ती कण्वाश्रम में आरम्भ होता है उसकी परिणति पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्षस्थ मारीच आश्रम में होती है जहाँ समस्त भौतिक रत्नों की उपस्थिति में उच्चरत साधना किसी परम साध्य की प्राप्ति के लिए की जाती है-

यद् वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिँस्तपस्यन्त्यमी (७/१२)।

दुष्यन्त नहीं समझ सका था कि उसकी प्रियतमा कैसी महार्घ रत्नराशि है, भूतल पर उसका मूल्य जानने वाला कौन था? मारीच आश्रम के पुण्यमय परिवेश में ही उसने अपनी प्रियतमा की पहचान की- भरत-सा चक्रवर्ती पुत्र इस प्रत्यभिज्ञान का व्याज था। इस प्रकार पार्थिव प्रेम को स्वर्गोपम उदात्तता से विभूषित करने का नाट्य-प्रयास संसार में अनुपम है।

शकुन्तला का उपाख्यान महाभारत के आदिपर्व (अध्याय ६७-७४) में वर्णित है किन्तु कवि ने उस नीरस आख्यान को काव्यमय बनाने के लिए कई परिवर्तन किये हैं। जैसे – कण्व ऋषि की सोमतीर्थ-यात्रा[१], शकुन्तला का जन्म-वृत्तान्त,[२] भ्रमर-बाधा,[३] अंगूठी का वृत्त,[४] दुर्वासा

१. मूलकथा में कण्व फल लाने के लिए वन में गये थे। इसी बीच में शकुन्तला का प्रेम-विवाह और गर्भाधान हो जाता है। इस नाटक में कण्व शकुन्तला के अनिष्ट-शमन के लिए सोमतीर्थ गये हैं, कई मास के बाद आते हैं। उक्त कार्यों के लिए पर्याप्त अवकाश है।

क्रमशः पृष्ठ ४८५ पर.........

का शाप, शकुन्तला का परित्याग तथा अनुवर्ती घटनाएँ। इन परिवर्तनों से नाटक का कथानक हृदयावर्जक हो गया है तथा नायक-नायिका के चरित्र उत्कर्षयुक्त हुए हैं। महाभारत का दुष्यन्त कामुक, छली, समाज-भीरु और स्वार्थी है जबकि इस नाटक में वह धीरोदात्त के सभी गुणों से युक्त आदर्श प्रेमी, राजा, वीर, विनीत तथा धर्मप्राण है। शकुन्तला भी मूल कथा में निर्लज्ज, धृष्ट और स्वार्थमयी है; यहाँ उसे मुग्धा नायिका का रूप दिया गया है। वह आद्यन्त अपनी शान्त प्रकृति में रहती है, 'भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः' (४/१८) का अक्षरशः पालन करती है।

कालिदास की नाट्यकला

नाट्य के जो प्रमुख तत्त्व वस्तु, नेता और रस के रूप में माने गये हैं उन सब में कालिदास की अद्‌भुत प्रतिभा प्रतिफलित हुई है। उपर्युक्त तीनों नाटकों में यह क्रमशः अग्रसर होती हुई 'शाकुन्तल' में पराकाष्ठा पर पहुँची है। चाहे भारतीय नाट्यसिद्धान्तों के निकष पर इस नाटक की समीक्षा करें या पाश्चात्त्य सिद्धान्तों के आलोक में इसे देखें – सर्वत्र अभिज्ञानशाकुन्तल को उत्कृष्ट ही पायेंगे। तभी भारतीय समीक्षकों में एक प्रशस्ति प्रचलित है–

'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्।'[1]

मूल कथानक में यत्र-तत्र परिवर्तन करके उसे सामाजिकों के लिए ग्राह्य तथा हृदयावर्जक बनाकर कवि ने नाट्य का उत्कर्ष दिखाया है। घटनाओं को एक कुशल कलाकार के रूप में सजाने-सवाँरने में कालिदास का कौशल अनुपम है। कवि ने किसी घटना को अपने समुचित स्थान पर ही समाविष्ट किया है जिससे सभी घटनाएँ परस्पर अनुस्यूत हैं जैसे- भ्रमरबाधा से पीड़ित शकुन्तला की रक्षा के लिए राजर्षि दुष्यन्त का आगमन, उनका परस्पर आकर्षण, शकुन्तला को क्षत्रिय-कन्या जानने के बाद उससे विवाह का निर्णय दुष्यन्त द्वारा किया जाना, तपस्वियों का राजा से आश्रम में रहकर रक्षा का अनुरोध, दुर्वासा का शाप, शकुन्तला का तिरस्कार, अंगूठी की प्राप्ति, राजा का अनुताप, स्वर्ग से राजा का प्रत्यावर्तन एवं मारीच आश्रम की घटनाएँ। कथानक की छिटपुट घटनाओं का ऐसा समायोजन दुर्लभ है।

ये घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध ही नहीं, सोद्देश्य भी हैं। यदि उनका विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट होगा कि प्रत्येक का कुछ-न-कुछ प्रयोजन कहीं-न-कहीं प्रकट होता है। प्रथम अंक में

.....पृष्ठ ४८४ से क्रमशः

२. शकुन्तला का जन्म-वृत्तान्त नाटक में अनसूया और प्रियंवदा बताती है जबकि मूल कथा में शकुन्तला ही सारा विवरण देकर निर्लज्ज आचरण दिखाती है।

३. नाटक में भ्रमर-बाधा दिखाकर शकुन्तला के रक्षार्थ दुष्यन्त के प्रकट होने का सुन्दर कारण दिया गया है। मूलकथा में दुष्यन्त अकारण आता है।

४. नाटक में दुष्यन्त शकुन्तला को प्रतीति के लिए अंगूठी देता है जिसकी भूमिका कथानक को आगे बढ़ाने में बहुत अधिक है। मूलकथा में इसकी चर्चा नहीं है। अंगूठी का खोना, पुनः मिलना, शाप की निवृत्ति होना-ये सब कथानक में महत्त्वपूर्ण हैं।

१. इस आभाणक में छन्द के आग्रह से 'शकुन्तलम्' पाठ ही उपयुक्त है वैसे इस नाटक का एक शुद्ध नाम 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' भी है। लगता है कालिदास ने इसे 'शकुन्तलानाटकम्' कहा था।

तपस्विगण राजा को चक्रवर्ती पुत्र होने का आशीर्वाद देते हैं जो सप्तम अंक में फलीभूत होता है; बीच-बीच में भी इसका संकेत दिया गया है। दुर्वासा के शाप तथा अंगुलीयक के वृत्तान्तों की प्रबल भूमिका नाटक में (विशेषत: अन्तिम तीन अंकों में) है। उनसे ही कथानक में कुटिलता आती है अन्यथा यह नाटक सामान्य प्रेमकथा का रूप लेता।

कथानक के विकास के लिए जो इतस्तत: संक्षिप्त काव्यात्मक वर्णन दिये गये हैं वे कहीं भी वैरस्य या उकताहट उत्पन्न नहीं करते; प्रत्युत उनमें स्वाभाविकता तथा अनिवार्यता है। जैसे- राजा का मृग के पीछे रथ दौड़ाना,[1] मृगया की प्रशंसा, शकुन्तला के भावी विरह में वन के सभी उपादानों का शोक, षष्ठ अंक में दुष्यन्त का पश्चात्ताप तथा अन्तिम अंक में शिशु भरत की क्रीडा। सभी वर्णन विषय को मूर्त बना देते हैं।

कालिदास के संवाद-प्रयोग ध्वन्यात्मक हैं; अपने प्रतिपाद्य से आगे बढ़कर वे संकेत करते हैं। शाकुन्तल की प्रस्तावना में ग्रीष्मकाल का वर्णन करते हुए सूत्रधार 'दिवसा: परिणामरमणीया:' के द्वारा संकेत करता है कि इस नाटक में ग्रीष्मदिवसों के समान मध्याह्न तो अत्यधिक सन्तापकर होगा किन्तु परिणाम सुखान्त होगा। वही बात षष्ठांक में दुष्यन्त के पश्चात्ताप किन्तु सप्तमांक में शकुन्तला-समागम से सिद्ध होती है। इसी प्रस्तावना में 'ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरै:' (१/४) पद्य से तथा सूत्रधार-वाक्य 'अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया' से भी कथानक का संकेत मिलता है कि दुष्यन्त भ्रमर के समान शकुन्तला से प्रेम करके उसे भूल जायेगा। चतुर्थ अंक में प्रभात-वर्णन के पद्यों में इसी प्रकार भावी घटनाओं के संकेत हैं।

नाटक की विशिष्टता पात्रों के समुचित निवेश तथा उनके विकास में भी निहित रहती है। कालिदास के पात्र अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता लेकर विकसित हुए हैं। मानव-प्रकृति को परखने की सूक्ष्म दृष्टि के कारण कवि ने अपने यथार्थ परिप्रेक्ष्य में ही पात्रों को अंकित किया है। दुष्यन्त (राजा, धर्मरक्षक और प्रेमी), कण्व (तपस्वी, धर्मपिता), मारीच (वीतराग ऋषि), दुर्वासा (कोपपरायण), शार्ङ्गरव (क्रोधी, वावदूक), शारद्वत (विनीत, शान्त, मितभाषी), शकुन्तला (संकोची, सेवाभाव से भरी, मितभाषिणी), अनसूया (शान्त, विवेकशील), प्रियंवदा (हास्यप्रिय, वाक्पटु तथा मधुरवचन) एवं विदूषक (यद्यपि अन्यरूपकों के समान महत्त्व नहीं रखता)- इन पात्रों की प्रस्तुति में कवि ने विशिष्टता दिखायी है। ये पात्र अपनी शालीनता का ध्यान रखते हैं, अपने निर्दिष्ट स्वरूप का अतिक्रमण नहीं करते। इनकी भाषा तक अनुकूलता में ढली है।

रस-परिपाक भी नाट्य-कला का आवश्यक अङ्ग है। कालिदास के तीनों रूपक शृङ्गार-प्रधान हैं जिनमें संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों रूप मिलते हैं। शाकुन्तल में विप्रलम्भ का विस्तार अधिक है (षष्ठांक), संयोग शृंगार तृतीय अंक में परिणत होता है। कालिदास की सांस्कृतिक भावना के अनुरूप भौतिक आकर्षण का यह संयोग शृंगार विप्रलम्भ की ज्वाला में तपकर काञ्चन के समान सप्तम अंक में मारीच ऋषि के पावन आश्रम में स्थायी समागम के रूप में पर्यवसान प्राप्त करता है। यह संयोग शृंगार की आनन्दमयी परिणति है।

संयोग शृंगार का एक आवर्जक चित्र तृतीय अंक में इस पद्य में अवलोकनीय है। राजा

---

१. इस घटना में कवि ने अपनी 'विशिष्ट निर्मिति' का आधान किया है क्योंकि वन में मृग के पीछे रथ का दौड़ना भौतिक दृष्टि से असंगत है।

तपोवन के एकान्त में विरह-तप्त शकुन्तला को कहते हैं कि क्या मैं शीतल कमलिनी के पत्तों से पवन-संचार करके तुम्हारी पीड़ा दूर करूँ? अथवा अपनी गोद में तुम्हारे चरण-कमलों को रखकर सुखपूर्वक धीरे-धीरे दबाऊँ?

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्
संचारयामि नलिनीदल-तालवृन्तैः ।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ (३/१८)

विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट चित्रण षष्ठ अंक में मिलता है जहाँ दुष्यन्त शकुन्तला के प्रत्याख्यान की ज्वाला में जल रहा है। उसने सभी भोग-विलास त्याग दिये हैं, रम्य वस्तुओं से घृणा करने लगा है। राजकर्मियों से मिलना-जुलना बन्द है, शय्या पर करवट बदलते हुए रातें बिताता है (जगा रहता है), अन्य रानियों से बातें करते हुए 'शकुन्तला' का नाम मुँह से निकलने पर लज्जा से भर जाता है (रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते ६/५)।

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के पति-गृह-गमन का कारुण्यमय चित्रण कवि ने किया है जिससे यह अंक संस्कृत वाङ्मय में अमर है। हरिणों ने दर्भ-कवल उगल दिये, मोरों ने नृत्य त्याग दिया, लताओं ने जीर्ण पत्रों के बहाने आँसू टपकाये (उग्गालिअदब्भकवला० ४/१२)। वीतराग तपस्वी कण्व तक शकुन्तला की विदाई से विह्वल हैं; उनका हृदय दुःख से भरा है, कण्ठ रुके हुए आँसुओं से अवरुद्ध है, सभी इन्द्रियाँ चिन्ता से जडीभूत हैं। जब अरण्यवासी की यह दशा है तो दिन-रात पुत्री के सामने रहनेवाले गृहवासियों को पुत्री की पहली विदाई कितनी कष्टकर लगती होगी?

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ (४/६)

अन्य रसों में भी कालिदास की यथायोग्य अभिरुचि है जैसे भयानक (तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः १/३३ में गज-पलायन का वर्णन), अद्भुत (मारीचाश्रम का वर्णन), वीररस (षष्ठ अंक के अन्त में विदूषक की रक्षा के लिए दुष्यन्त का बाण चलाना), हास्यरस (विदूषक की उक्तियाँ, द्वितीय अंक) इत्यादि।

कालिदास का प्रकृति-प्रेम – कालिदास ने अपने सभी नाटकों में प्रकृति के प्रति अपना आकर्षण प्रकट किया है। इनमें शाकुन्तल तो विशुद्ध प्रकृति के परिवेश में ही विकसित है। पञ्चम और षष्ठ अंकों में ही केवल राज-प्रासाद की पृष्ठभूमि है अन्यथा सभी अंक प्राकृतिक वातावरण के ही हैं। इन सबमें कालिदास ने प्रकृति की भूमिका मुक्तरूप से अभिव्यक्त की है। शकुन्तला के सौन्दर्य में ही प्रकृति के विविध उपादान उपमान के रूप में जटित हैं–

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥ (१/२१)

शकुन्तला का साहचर्य पशुओं, पक्षियों और वनस्पतियों से है। मानव तथा प्रकृति का ऐसा सामञ्जस्य आश्रम-संस्कृति का उत्कर्ष प्रकट करता है। तपस्वी कण्व को शकुन्तला की चिन्ता के साथ वनज्योत्स्ना लता की भी चिन्ता है कि दोनों किस पर आलम्बित होंगी। वे निश्चिन्त हो गये कि दोनों ने अपना-अपना आश्रय पा लिया है-

> **संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे**
> **भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।**
> **चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-**
> **मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥ (४/१३)**

कालिदास का प्रकृति-चित्रण कहीं पृष्ठभूमि के रूप में, कहीं उपमान के रूप में और कहीं उद्दीपन विभाव के रूप में भी है। प्रस्तावना में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन (सुभगसलिलावगाहा: १/३) या चतुर्थ अंक में प्रभात का वर्णन (यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्० ४/२) पृष्ठभूमि का वर्णन है। 'अधर: किसलयराग:' (१/२०) या 'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै:' (२/१०) में किया गया शकुन्तला का वर्णन प्रकृति को उपमान के रूप में रखता है। षष्ठ अंक में प्रकृति का विपर्यय दिखाया गया है- 'चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रज: (६/४)। यह विप्रलम्भ शृंगार को उद्दीप्त करने की भूमिका है जहाँ बाह्य प्रकृति दुष्यन्त के दु:ख में सहानुभूति दिखा रही है।

अपने सभी काव्यों तथा नाटकों में कालिदास ने प्रकृति के प्रति अपनी हार्दिक प्रीति अभिव्यक्त की है। विक्रमोर्वशीय में मध्याह्न का यह सुन्दर वर्णन आँखों में छा जाता है-

> **उष्णालु: शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी**
> **निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पद:।**
> **तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डव: सेवते**
> **क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुक: क्लान्तो जलं याचते॥**
> **(२/२२)**

सुभाषित

कालिदास की रचनाओं में सुभाषित वाक्यों के द्वारा उनके जीवन-दर्शन की झलक ली जा सकती है। यहाँ नाटकों के कुछ प्रसिद्ध सुभाषित दिये जाते हैं- बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत: (अभि० १/२ अच्छा प्रशिक्षण लेकर भी आत्म-विश्वास नहीं होता), सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त:करणप्रवृत्तय: (अभि० १/२१), स्निग्धजनसंविभक्तं हि दु:खं सह्यवेदनं भवति (अभि० ३/८ के बाद), गुर्वपि विरहदु:खम् आशाबन्ध: साहयति। (अभि० ४/१६ प्राकृत), भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि (अभि० ५/२), औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव (अभि० ५/६), अतनुषु विभवेषु ज्ञातय:.सन्तु नाम (अभि० ५/८ पर्याप्त धन रहने पर बन्धु-बान्धव बने रहते हैं); अनुत्सेक: खलु विक्रमालंकार: (विक्रमो० १/१७ के बाद- अहंकार न होना ही पराक्रम की शोभा है), मूढ: परप्रत्ययनेयबुद्धि: (माल० १/२), आकृतिविशेषेषु आदर: पदं करोति (माल० १/३ के बाद), अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्य: (माल०

३/१३ के बाद) इत्यादि। आरम्भिक रचनाओं में कालिदास युवकोचित जीवन-दर्शन की प्रस्तुति करते हैं जबकि रघुवंश और शाकुन्तल में प्रौढ एवं गम्भीर सुभाषित हैं। उनकी संख्या भी अधिक है।

कालिदास ने अपने सुभाषितों में प्राय: अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग किया है, उपमा और सादृश्यमूलक अलंकार भी उनके नाटकों में बहुधा प्रयुक्त हैं किन्तु ये कहीं भी उद्वेजक नहीं हैं। स्वाभाविक रूप से समाविष्ट अलंकार (अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य) ही कालिदास की रचना में शोभा पाते हैं। सहज-सरल-परिष्कृत शैली का प्रयोग करके कालिदास वस्तुत: सभी कवियों के गुरु हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल में अप्रस्तुत-योजना (उपमा, Imagery)

अपनी कल्पना की आँखों से देखी गयी वस्तु को सामाजिकों के लिए भी सुगम बनाने के लिए अन्य कृतियों के समान शाकुन्तल में भी कालिदास ने अनेकत्र अप्रस्तुत (उपमान) का प्रयोग किया है। इस प्रसंग में सादृश्यमूलक कई अलंकार लगे हैं। कुछ उपमान शास्त्रीय हैं तो कुछ शुद्ध लौकिक भी हैं। शाकुन्तल के सप्तम अंक में मारीच दुष्यन्त को आशीर्वाद देते हैं–

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥ (शा० ७/२९)

इस शास्त्रीय उपमा में लिङ्ग का भी ध्यान रखा गया है– शकुन्तला (श्रद्धारूपा, स्त्री०), अपत्यम् (वित्तरूपम्-नपुं०), भवान् दुष्यन्त: (विधिरूप:, पुं०)। श्रद्धा, धन और विधि के प्रयोग से जैसे यज्ञ की पूर्णता होती है वैसे आपका जीवन इन तीनों से पूर्ण हुआ।

शकुन्तला के अक्षत सौन्दर्य के वर्णन में कवि ने माला-रूपक तथा उपमा का हृदयावर्जक प्रयोग किया है–

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि:॥
(२/१०)

शकुन्तला रूप के आकर्षण में राजा दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह कर बैठी, किन्तु उसका चयन अनुचित नहीं था। इसे प्रकट करने के लिए कवि ने कण्व से दो ऐसे वाक्य निकलवाये हैं जो यथार्थता से सिक्त हैं तथा अप्रस्तुत-योजना में कवि का कौशल अभिव्यक्त करते हैं– दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति: पतिता (आँखों में धुआँ भर जाने पर भी सौभाग्य से यजमान की आहुति ठीक अग्नि में ही पड़ी)। यहाँ काम को धूम और दुष्यन्त को अग्नि का रूप देकर समासोक्ति का सुन्दर प्रयोग है। शकुन्तला को यजमान कहकर उसके चक्रवर्ती-पुत्र के गर्भ-धारण के महान् यज्ञानुष्ठान का भी संकेत है। यहीं दूसरा वाक्य है – सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता (अच्छे शिष्य को दी गयी विद्या पर दु:ख नहीं होता उसी प्रकार योग्य

पति के हाथ में तुझे देने पर मुझे कोई चिन्ता नहीं है)।[1]

दुष्यन्त राज्य-भार को अपने हाथ में पकड़े हुए भारी छाते के समान कहते हैं (राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ५/६) जिसमें सुख तो कम ही है, कष्ट का ही आधिक्य है। ऋषियों से घिरी शकुन्तला पीले पत्तों के बीच किसलय-जैसी कही गयी है– मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ५/१३)। इस प्रकार कविकुलगुरु की अप्रस्तुत-योजना सार्थक, रमणीय और दृश्य की अभिव्यञ्जना में समर्थ है।

नाट्यकार शूद्रक

मृच्छकटिक (सामाजिक रूपक) के रचयिता के रूप में शूद्रक संस्कृत जगत् में विख्यात हैं। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में तीन पद्यों में किसी परवर्ती कवि ने इनका वर्णन किया है कि वे शारीरिक सौन्दर्य से विभूषित (परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च), ब्राह्मणों में प्रमुख, अगाध शक्तिसम्पन्न एवं कवि थे। ऋग्वेद, सामवेद, गणित, संगीत-नृत्यादि कला (वैशिकी) और गजशास्त्र में निपुण शूद्रक ने शिव के प्रसाद से अज्ञानान्धकार से रहित दिव्य दृष्टि पाकर, पुत्र को राज्य देकर अश्वमेध-यज्ञ करके, एक सौ वर्ष और दस दिन की लम्बी आयु पाकर अग्नि में प्रवेश किया था (लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः)। यही नहीं, वे महान् योद्धा, तपस्वी और वेदज्ञों में श्रेष्ठ भी थे–

समरव्यसनी प्रमादशून्यः, ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारण-बाहुयुद्धलुब्धः, क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥

(मृच्छ० १/५)

ये पद्य बाद में जोड़े गये थे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु मृच्छकटिक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसके लेखक अनेक भाषाओं के ज्ञाता, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, राजशास्त्र आदि के विद्वान्, सम्भवतः दाक्षिणात्य एवं ब्राह्मणों को सम्मान देनेवाले प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। कई लोगों ने इसीलिए शूद्रक को सातवाहनवंशी आन्ध्रभृत्य राजाओं में अन्यतम सिद्ध किया है।

शूद्रक की ऐतिहासिकता– मृच्छकटिक का लेखक शूद्रक को मानने में कई विद्वानों ने आपत्ति की है। कीथ का कथन है कि शूद्रक एक कल्पित नाम है जो भारतीय कथाओं में प्रचलित था। 'शूद्रक' जैसा हास्यास्पद नाम कोई नहीं रखता। किन्तु दूसरी ओर अनेक प्रमाण शूद्रक को ऐतिहासिक सिद्ध करते हैं। प्राचीन भारतीय आख्यानों का नायक शूद्रक स्कन्दपुराण (कुमारिका खण्ड) में आन्ध्रवंशी राजा के रूप में निर्दिष्ट है (शूद्रको नाम वीराणामधिपः)। वह विक्रमादित्य से २७ वर्ष पूर्व था। डॉ० भण्डारकर ने इसे प्रमाण मानकर दिखाया है कि आन्ध्रभृत्य राजा शिमुक ही शूद्रक था जिसने इस राजवंश की स्थापना ८३ ई० पू० में की थी। आन्ध्रभृत्य वंश ही सातवाहन-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नासिक के शिलालेख में इस वंश को 'ब्राह्मण' तथा 'क्षत्रियों का मान मर्दन करनेवाला' कहा गया है।

---

१. दोनों ४/४ के पूर्व प्रियंवदा की उक्ति में।

कुछ टीकाकारों ने शूद्रक का उल्लेख एक राजा के रूप में किया है जैसे- अमरकोष (२/८) की क्षीरस्वामी कृत टीका में (शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा), वाक्यपदीय-वृत्ति में 'लोकेऽपि राजपुरुष इत्युक्ते कस्य राज्ञः शूद्रकस्येति' (२/८६) के रूप में[1] तथा काव्यादर्श (१/१५) पर हृदयंगम टीका में शूद्रक का श्रद्धापूर्वक निर्देश है। इन टीकाकारों के समक्ष समृद्ध परम्परा थी कि शूद्रक एक प्रसिद्ध नरेश और लेखक भी थे।

जिस प्रकार कुछ इतिहासकार आन्ध्रभृत्य वंश के संस्थापक सिमुक (शिमुक, शिशुक, सिन्धुक) को शूद्रक समझकर उसका काल ८३ ई० पू० मानते हैं, उसी प्रकार अन्य लोग आन्ध्रवंश के राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि को शूद्रक सिद्ध करते हैं। इसका काल द्वितीय शताब्दी ई० माना गया है (१३०-५४ ई०)।[2] पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'शूद्रक' में यही मत प्रतिपादित किया है। सामान्यतः यह मत सर्वाधिक प्रचलित है। शूद्रक-रचित एक भाण 'पद्मप्राभृतक' भी मिला है जो गुप्तकाल की रचना है। इसके विषय में सन्देह है कि मृच्छकटिक के लेखक ने ही इसे लिखा या नहीं। इस भाण में मूलदेव (चौर्यकला के आचार्य) और देवदत्ता की प्रेमकथा का वर्णन है। मृच्छकटिक में भी चौर्यकलाविशारद शर्विलक और मदनिका की प्रेमकथा आयी है; दोनों की भाषा-शैली प्रायः समान (सरल, बोलचाल की संस्कृत-प्राकृत) है।

कुल मिलाकर भारतीय विद्वान् शूद्रक को काल्पनिक नहीं, अपितु एक ऐतिहासिक पुरुष (राजा) मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत (कि शूद्रक काल्पनिक व्यक्ति थे) अब प्रायः अस्वीकार्य है।

मृच्छकटिक का रचना-काल

शूद्रक की ऐतिहासिकता के समरूप उनका काल (अथवा उनकी रचना का काल) भी विवादास्पद रहा है। २०० ई० पू० से लेकर षष्ठ शतक ई० तक मृच्छकटिक का रचना-काल कहा गया है। वस्तुतः ये पूर्व और उत्तर सीमाएँ हैं। भास (२०० ई० पू०) के चारुदत्त-नाटक को प्रतिसंस्कृत करके मृच्छकटिक लिखा गया है अतः भास का काल पूर्व सीमा है। दूसरी ओर दण्डी (७ वीं शताब्दी) के द्वारा मृच्छकटिक के एक पद्य (१/३४ लिम्पतीव०) की विवेचना काव्यादर्श में किये जाने से यह काल उत्तर सीमा है। वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (३/२/४) में शूद्रक का नाम प्रबन्धकर्ता के रूप में दिया है। वामन का काल प्रायः ८०० ई० है। धनिक (१० वीं शताब्दी ई०) ने दशरूपावलोक में मृच्छकटिक का एक पद्य (१०/१२) उद्धृत किया है। विन्तरनित्स तथा सुशीलकुमार दे का कथन है कि भारत में मृच्छकटिक को नाट्यशास्त्रियों की उपेक्षा झेलनी पड़ी थी क्योंकि धनिक से पूर्व किसी ने उनकी चर्चा भी नहीं की थी।[3] ऐसी स्थिति में उत्तर सीमा का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। प्राचीन होने पर अपनी क्रान्तिकारी प्रस्तुति के कारण कई रचनाएँ दीर्घ काल तक उपेक्षित रह जाती हैं। मृच्छकटिक की भी यही गति हुई।

१. **वाक्यपदीय**, काण्ड-२, (अम्बाकर्त्री-सहित संस्करण), पृ० १७७।

२. **प्राचीन भारत** (डॉ० रामशरण शर्मा), पृ० १००। NCERT, 1977.

३. विन्तरनित्स – **भारतीय साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद), भाग-३, खण्ड-१, पृ० २६६; S.N. Das gupta and S.K. De — A History of Sanskrit Literature, Vol. I, p. 543, fn. 1. The earliest quotation in dramaturgic works occurs in the Avaloka on Dasarupaka I. 46 (= II.4) etc.

मृच्छकटिक के रचना-काल का आनुमानिक निर्णय अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रसंग में मनु की चर्चा, मृच्छकटिक में प्रयुक्त भाषा-शैली एवं प्रतिबिम्बित सामाजिक-धार्मिक जीवन को प्राय: प्रबल आधारों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

मृच्छकटिक के नवम अंक में अधिकरणिक (न्यायाधीश) राजा को सूचना भेजता है कि ब्राह्मण का किसी भी स्थिति में वध नहीं करना चाहिए; अपराध का दण्ड यही है कि राष्ट्र से उसे निर्वासित किया जाये। यह मनु का आदेश है-

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥ (९/३९)

यह व्यवस्था मनुस्मृति (८/३८०) के अनुसार है जिसमें कहा गया है-

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षयम् ॥

यह स्थिति मृच्छकटिक को मनुस्मृति के अनन्तर सिद्ध करती है। अधिकांश विद्वान् मनुस्मृति को २०० ई० पू० की रचना मानते हैं।[1] पाण्डुरंग वामन काणे ने २०० ई० पू०-१०० ई० के बीच इसका काल रखा है।[2]

उसी अंक में न्यायालय के दृश्य में अधिकरणिक एक पद्य (९/३३) में एक ज्योतिष-शास्त्रीय उपमान देता है जिसमें बृहस्पति को मंगल-ग्रह का विरोधी कहा गया है। वराहमिहिर (षष्ठ शतक ई० का आरम्भ) ने बृहज्जातक-नामक ज्योतिष-ग्रन्थ में (२/१६) बृहस्पति को मंगल का मित्र बताया है- जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः (बृहस्पति, चन्द्र और सूर्य ये तीनों मंगल के मित्र हैं)। यही सिद्धान्त प्रचलित है। अत: वराहमिहिर के पूर्व मृच्छकटिक की रचना हुई थी जब कि कुछ ज्योतिर्विद् दोनों ग्रहों को परस्पर शत्रु मानते थे। इस प्रकार मृच्छकटिक का काल स्थूल रूप से १०० ई० और ५०० ई० के बीच रखा जा सकता है, इस अन्तराल को कुछ कम किया जा सकता है।

शूद्रक को इसमें (१४) 'वैशिकी' का ज्ञाता कहा गया है। 'वैशिकी' कला नृत्य-संगीत-अभिनय से सम्बद्ध थी जिसे वेश्याओं के जीवन से जोड़ा गया था। वात्स्यायन ने कामसूत्र में एक सम्पूर्ण अध्याय 'वैशिकी' के रूप में रखा है। कामसूत्र के लेखक का काल २००-३०० ई० के बीच है।[3] सम्भव है, शूद्रक वात्स्यायन के निकटवर्ती रहे हों। उस युग में वैशिकी विकासात्मक कला के रूप में रही होगी।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त भाषाओं का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि भरत के नाट्यशास्त्र के विधानों का अनुसरण करने से इसका लेखक नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करण-काल के समीप

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय - **संस्कृत सुकवि समीक्षा**, पृ० १५८।
२. काणे - **धर्मशास्त्र का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद), खण्ड-१, पृ० १४ पर दी गयी सूची।
३. डॉ० सूर्यकान्त - सं० वा० वि० इति०, पृ० ३३२।

होगा जो १०० या २०० ई० है।[1] मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर ने इसमें प्रयुक्त सात प्राकृत-भेदों तथा उनके प्रयोक्ता पात्रों का निर्देश किया है। इसमें माहाराष्ट्री प्राकृत तथा अर्धमागधी का प्रयोग नहीं कराया गया है। फिर भी भरत का भाषा-विधान शूद्रक को मान्य है। संस्कृत भाषा का प्रयोग अपने व्यावहारिक रूप में है। जिस प्रकार यह रूपक लोकोन्मुख है, इसका भाषा-पक्ष भी सर्वथा लोकानुसारी है। डॉ० जी.के. भट्ट ने मृच्छकटिक की उत्तर कालसीमा भाषा के आधार पर तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई० में रखी है। वस्तुत: मृच्छकटिक के रचनाकाल के निर्धारण के लिए प्रामाणिक सामग्री की दरिद्रता है,[2] इस स्थिति में कुछ प्रामाणिकता सांस्कृतिक-सामाजिक स्थितियों के आधार पर किये गये काल-निर्णय की ही है। एतद्विषयक सामग्री का प्राचुर्य है।

नगर-व्यवस्था, वेश्याओं की स्थिति, द्यूत, मद्यपान, दासप्रथा और उससे मुक्ति के लिए धन की व्यवस्था, कला-कौशल आदि इसे गुप्तकाल के आसपास सिद्ध करते हैं। अव्यवस्थित तथा अशान्तिपूर्ण राजनीतिक स्थिति इसे स्पष्ट रूप से गुप्तकाल के पूर्व ले आती है। पूरा देश छोटे राज्यों में विभक्त था, शासन-व्यवस्था शिथिल थी; न्याय-व्यवस्था होने पर भी न्यायाधीश स्वच्छन्द नहीं थे (अधिकरणिक की उक्ति – निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा)।[3] धार्मिक परिवेश भी इसे पूर्व-गुप्तकाल में रखने का आग्रह करता है। वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों का प्रचार उस समय था भले ही बौद्धों के दर्शन को लोक अपशकुन मानते थे (कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्, मृ० ७/९ के बाद)। निर्धनता का जैसा चित्रण इसके प्रथम अंक के आरम्भ में है, वह भी इसे गुप्त-पूर्व सिद्ध करता है; गुप्तकाल में ऐसा सजीव चित्रण साहित्यिक अपराध था। वर्णधर्म की शिथिलता के कारण मृच्छकटिक के काल में ब्राह्मण व्यापार कर सकते थे, यह अस्वाभाविक नहीं लगता था।

कुल मिलाकर ये स्थितियाँ मृच्छकटिक को २००-३०० ई० के बीच सिद्ध करती हैं। भाषा-शैली आदि के पक्ष भी इस निर्धारण के समर्थक ही हैं, विरोधी नहीं।

मृच्छकटिक (विषयवस्तु)

भासकृत चार अंकों के नाटक 'चारुदत्त' को परिबृंहित करके उज्जयिनी की गणिका वसन्तसेना और वाणिज्यजीवी ब्राह्मण चारुदत्त की प्रचलित प्रीतिकथा को परिणति तक पहुँचाने वाले मृच्छकटिक में राजविप्लव का कथानक जोड़कर इसे दस अंकों का बनाया गया है। इसका लेखक अवश्य ही यथार्थ के कठोर धरातल की प्रस्तुति में संकोच के आवरण से दूर था। इसके प्रथम चार अंक तो न्यूनाधिक रूप से कथानक की दृष्टि से 'चारुदत्त' के अनुगामी हैं किन्तु अधिक परिष्कृत और बड़े हैं।

प्रथम अंक (अलंकार न्यास) में चारुदत्त अपनी दरिद्रता का मार्मिक चित्रण करता है; दूसरी ओर उसके आवास के बाहर राजमार्ग पर शकार एवं विट गणिका वस्तनसेना का अनुसरण करते

---

१. नाट्यशास्त्र का रचनाकाल हरप्रसाद शास्त्री (२०० ई० पू०), काणे (१०० ई० पू०-३०० ई०), सुशील कुमार दे (५०० ई०)।

२. Dr. G.K. Bhat - **Mricchakatika**, p. 191.

३. मृच्छकटिक ९/३९ के पूर्व।

हुए मूर्खतापूर्ण बातें करते हैं। गणिका अन्धकार का लाभ उठाकर चारुदत्त के घर में घुस जाती है तथा अपने आभूषणों को वहाँ 'न्यास' के रूप में रख देती है। अन्धकार में वह घर लौट जाती है। द्वितीय अंक (द्यूतकर-संवाहक) में चार दृश्य हैं जो वसन्तसेना के आवास तथा निकट के राजमार्ग की घटनाओं से सम्बद्ध हैं। चारुदत्त का भूतपूर्व सेवक संवाहक द्यूत में ऋणी होकर वसन्तसेना के पास आता है, वह उसे ऋणमुक्त करती है। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। कुछ देर बाद वसन्तसेना का मत्त गज उस पर आक्रमण करता है तो उस नये भिक्षुक को वसन्तसेना का सेवक बचा लेता है; वहीं पर स्थित चारुदत्त उसे पुरस्कार के रूप में अपनी बहुमूल्य चादर दे देता है। चादर वसन्तसेना तक पहुँच जाती है, चारुदत्त को देखने के लिए वह अपने ऊपरी प्रकोष्ठ पर चली जाती है। तृतीय अंक (सन्धिच्छेद) में चारुदत्त के घर में सेंध फोड़कर वसन्तसेना के न्यासरूप रखे आभूषणों को चौर्यकला-विशारद शर्विलक चुरा लेता है; चोरी से प्राप्त धन द्वारा वह अपनी प्रेमिका मदनिका को दासी-भाव से मुक्त करायेगा। मदनिका वसन्तसेना की ही दासी है। चारुदत्त की पत्नी धूता उन आभूषणों के बदले में अपनी बहुमूल्य रत्नमाला देती है जिसे लेकर विदूषक वसन्तसेना को देने जाता है। चतुर्थ अंक (मदनिका-शर्विलक) में शर्विलक वसन्तसेना के हाँ चुराये आभूषणों को देकर अपनी प्रेयसी मदनिका को स्वामिनी (वसन्तसेना) से मुक्त कराता है और उसे वधू बनाता है। शर्विलक को अपने मित्र आर्यक के बन्दी होने की सूचना मिलती है; उसे बचाने के लिए वह चल पड़ता है। इधर विदूषक रत्नमाला लेकर वसन्तसेना के घर आकर उसके विशाल भवन का अवलोकन करता है; यह दृश्य गणिका-वैभव को अभिव्यक्त करता है। रत्नमाला लेकर वसन्तसेना सन्देश भेजती है कि वह सन्ध्या में चारुदत्त से मिलने आ रही है।

पञ्चम अंक (दुर्दिन) में वसन्तसेना चारुदत्त के घर पर रात बिताती है; इसमें वर्षाकाल का भव्य वर्णन है। षष्ठ अंक (प्रवहण-विपर्यय) में अगले दिन वसन्तसेना चारुदत्त की पत्नी को उसकी रत्नमाला लौटाना चाहती है किन्तु वह स्वीकार नहीं करती। चारुदत्त का पुत्र रोहसेन खेलने के लिए स्वर्ण की शकटिका (खिलौना गाड़ी) माँगता है जबकि दासी रदनिका उसे मिट्टी की गाड़ी (मृत्-शकटिका = मृच्छकटिका) देती है; इस मार्मिक दृश्य से प्रभावित होकर वसन्तसेना उसकी गाड़ी को अपने आभूषणों से भर देती है कि इन्हीं से स्वर्ण-शकटिका बनवा लें। इस दृश्य की मार्मिकता से प्रभावित होकर लेखक ने रूपक का शीर्षक 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी की घटना पर आश्रित रूपक) रखा था। इस अंक के मुख्य दृश्य में वसन्तसेना भ्रमवश शकार की गाड़ी को चारुदत्त की गाड़ी समझकर बैठ जाती है और चारुदत्त की गाड़ी पर कारागार से भागा हुआ आर्यक (जो बाद में राजा बनता है) बैठ जाता है। मार्ग में चन्दनक नामक एक सिपाही आर्यक को अभयदान देता है, उसकी गाड़ी आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार षष्ठांक विचित्र घटनाओं से पूर्ण है, शीर्षक का समर्थन भी करता है।

सप्तम अंक (आर्यकापहरण) में आर्यक चारुदत्त के पास पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँच जाता है; वसन्तसेना की प्रतीक्षा में चारुदत्त उसे देखकर अभयदान देता है तथा बन्धन कटवा कर उसी गाड़ी में विदा कर देता है। चारुदत्त को वसन्तसेना की चिन्ता होती है। अष्टम अंक (वसन्तसेना-मोटन = गला घोंटना) में जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है तो शकार उसे देखकर प्रणय-निवेदन करता है। नकारने पर वह उसका गला घोंट देता है। वसन्तसेना मूर्च्छित हो जाती है। शकार उसे मृत समझकर चारुदत्त पर उसकी हत्या का अभियोग लगाने के लिए न्यायालय

जाता है। इसी बीच भिक्षु संवाहक वसन्तसेना की चिकित्सा के लिए उसे बौद्ध विहार में ले आता है। नवम अंक (व्यवहार) तात्कालिक न्यायालय का दृश्य प्रस्तुत करता है। ऐसा दृश्य संस्कृत के किसी काव्य या रूपक में नहीं है। शकार न्यायाधीश को धमकी देता है कि मेरा आवेदन सुनकर निर्णय दो, नहीं तो मैं अपने बहनोई (राजा पालक) से कह दूँगा। वसन्तसेना की माता भी कहती है कि मेरी पुत्री चारुदत्त के घर गयी थी। न्यायालय में चारुदत्त संकोच तथा कष्ट-वश स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाता। इसी बीच रोहसेन को दिये गये आभूषणों को वसन्तसेना को वापस देने के लिए विदूषक जा रहा था कि न्यायालय में आता है, उसके पास से आभूषण प्राप्त होने पर न्यायाधीश मान लेता है कि आभूषणों के लिए वसन्तसेना की हत्या चारुदत्त ने की। उसे मृत्युदण्ड सुनाया जाता है। दशम अंक (संहार) में पालक को मारकर आर्यक राजा बनता है; वह चारुदत्त को मृत्युदण्ड से बचाता है। वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू का पद मिलता है (गणिका-वृत्ति से वह मुक्त हो जाती है)। चारुदत्त शकार को क्षमा कर देता है। इस प्रकार नायक-नायिका का समागम होता है।

अन्तिम छह अंकों की घटनाओं की कल्पना में शूद्रक की प्रतिभा, अनुभव एवं कथा-विन्यास-कौशल के दर्शन होते हैं।

शूद्रक की नाट्यकला

मृच्छकटिक संस्कृत का एक अद्भुत रूपक है जिसे कल्पित कथानक के कारण 'प्रकरण' की श्रेणी में रखा जाता है। तदनुसार ही इसमें विप्र-वणिक् चारुदत्त का चरित्र अंकित किया गया है।[1] इसमें कोई उदात्त नायक नहीं है– सामान्य जनता का नायक है, पात्र भी राजमार्ग पर साधारणतः दिखायी पड़नेवाले ही हैं। ब्राह्मण होते हुए भी व्यापार से जीविका चलानेवाला एवं अपनी दानशीलता के कारण निर्धन बन चुका चारुदत्त अपने गुणों से उज्जयिनी की वैभवसम्पन्न गणिका वसन्तसेना का हृदय चुरा लेता है, कथानक का अन्त उसे 'वधू-पद' की प्राप्ति कराता है। यह सामान्य प्रणय नहीं है जिसमें स्त्रीरत्न की प्राप्ति के लिए पुरुष के व्यापारों का प्रदर्शन हो। यहाँ तो स्त्री ही पुरुष पर आसक्त होकर अपना सर्वस्व समर्पण करती है। यहाँ प्रेम का विपर्यय है।

इसका कथानक दो प्रेम-कथाओं (मुख्य प्रेम – वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति, गौण-शर्विलक का मदनिका के प्रति) एवं राजविप्लव (पालक की हत्या करके योग्य राजा आर्यक का सिंहासन पाना) से निर्मित है। मुख्य प्रेमकथा आधिकारिक कथानक है एवं राजविप्लव प्रासंगिक है। इन सब को परस्पर जोड़कर लेखक ने अपने युग का यथार्थ जीवन प्रस्तुत किया है। प्रेमकथाओं में भेद है। वसन्तसेना चारुदत्त के लिए अभिसार करती है, उसके पुत्र को अपने आभूषण दे देती है और शकार (पालक का साला) के प्रणय को ठुकरा देती है तो शर्विलक (ब्राह्मण) भी अपनी प्रेयसी मदनिका को दास्य-भाव से मुक्त कराने के लिए चोरी-जैसा नीच कर्म करता है। लेखक ने प्रेम के अभिजात-पक्ष को ठुकरा कर यथार्थ और सामान्य जीवन के धरातल पर उसका चित्रण किया है। प्रासंगिक कथानक देना अनिवार्य था क्योंकि राजा पालक

---

१. नाट्यशास्त्र १८/९९ विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्।
चरितं यत्रैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥

के रहते वसन्तसेना के प्रेम की परिणति सम्भव नहीं थी– उसे वधू-पद नहीं मिलता। इसी व्याज से लेखक को नवम अंक में न्यायालय का भी वास्तविक रूप दिखाने का अवसर मिल गया है, कथानक में वक्रता का निवेश करके वसन्तसेना का प्रवहण-विपर्यय (गाड़ियों का फेर-बदल) एवं उसके गला घोंटने और हत्या के प्रयास के कथांश लाये गये हैं जिनमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। वसन्तसेना को इसके पूर्व चारुदत्त के घर जाने के लिए (अभिसार करने का) उचित बहाना भी रत्नमाला को प्रत्यर्पित करने के रूप में मिल जाता है; रस के उद्दीपनार्थ वर्षा का लम्बा वर्णन भी पञ्चम अंक में किया गया है।

पूरी कथावस्तु दृढ सूत्र में बँधी हुई है जिसके कथांश सामाजिक के चित्त को बाँधकर रखते हैं, उत्सुकता और कुतूहल बढ़ाते जाते हैं। अपने आस-पास के दृश्यों को ही देखते हुए सामाजिक को साधारणीकरण एवं रसाभिव्यक्ति में कोई बाधा या कठिनाई नहीं होती। सम्भोग शृङ्गार की प्रधानता तथा हास्य (शकार की उक्तियों में), करुण (चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिये जाने के दृश्य में), भय (विट की उक्तियों में, श्मशान के दृश्य में), अद्भुत (प्रवहण-विपर्यय एवं आर्यक के राजा बनने पर) आदि रसों की यथावकाश उद्भावना ने रस-दृष्टि से इसे उत्कृष्ट रूपक बनाया है।

शाकुन्तल नाटक के समान इसमें शारीरिक प्रणय की पूर्णता बीच में ही (अंक ५) दिखाकर अन्तिम अंक में उस पर आधिकारिक समर्थन अंकित करके प्रणय का सर्वांगपूर्ण पर्यवसान (culmination) प्रकट किया गया है जो रूपक को भारतीय बनाता है। दोनों के मध्यवर्ती कथांश गतिशील तथा अत्यधिक कौतुकपूर्ण हैं, कुछ ही समय में सभी अंकों की परस्पर अनुस्यूत घटनाएँ घटित हो जाती हैं। यह लेखक का वस्तु-विन्यास-कौशल है।

मृच्छकटिक में पात्रों का वैविध्य है; वे किसी साँचे में ढले हुए नहीं हैं अपितु सभी की व्यक्तिगत विशिष्टता है। राज-परिवेश से आये पात्र भी तत्तत् विलक्षणताओं से मण्डित हैं। ये पात्र विभिन्न रसों के, सामाजिक पक्षों के तथा विसंगतियों के भी प्रतिनिधि हैं। यही कारण है कि मृच्छकटिक में सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्बन इस प्रकार की अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक पूर्ण, यथार्थ और महत्त्वयुक्त है। पात्रों में निम्न श्रेणी का प्राबल्य है – इसलिए यथार्थता भी अधिक है। ये पात्र सार्वभौम हैं, संसार के किसी भी क्षेत्र में और किसी भी काल में ये सुलभ हैं। मानव में जो गुण-दोष स्वाभाविक हैं वे इन पात्रों में पूरे रूप में प्रतिबिम्बित हैं। २५ पुरुष-पात्रों तथा ७ स्त्री-पात्रों से संघटित यह रूपक वस्तुत: सामान्य समाज को चित्रित करने में समर्थ है। चारुदत्त अपने औदार्य, गुणग्राहकता, सत्यनिष्ठा, धर्मप्रवणता, विनय आदि गुणों से आकृष्ट करता है तो वसन्तसेना में भी न्यूनाधिक रूप से ये गुण विद्यमान हैं। वह समय को पहचान कर काम करती है, किसी व्यक्ति के उद्देश्य को समझने में वह समर्थ है। शर्विलक को पश्चात्ताप करते देखकर वह समझ जाती है कि उसने भूल से और विवश होकर चोरी की है। वह चित्र-रचना में कुशल है; विशाल वैभव की स्वामिनी है किन्तु अपनी वृत्ति से असन्तुष्ट होकर गृहस्थ बनने की कामना पालती है।

शकार-जैसे पात्र का निवेश करके लेखक ने अत्याचारी राजा के सम्बन्धियों का चित्रण किया है जो मूर्ख और स्वेच्छाचारी भी होते हैं। वह अपने उपमानों से हास्य का पात्र बनता है

जैसे–

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे।
एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥ (८/३५)

वह दुष्टता की मूर्ति है, अपनी वासनापूर्ति के लिए अष्टम अंक में विट और चेट को छल से हटाकर वसन्तसेना का गला दबा देता है; न्यायालय में वह न्यायाधीश पर भी निर्णय के लिए दबाव डालता है। विदूषक (मैत्रेय) हास्य उत्पन्न करने वाला पात्र है जो चारुदत्त के दु:ख-सुख में साथ रहता है। वह निद्रा में चोर (शर्विलक) को स्वर्णभाण्ड भी दे डालता है। वेश्यागृह में जाकर उसके प्रकोष्ठों का सुन्दर वर्णन तो वह करता ही है, वसन्तसेना की माता से भी वह ठिठोली करता है। शर्विलक ब्राह्मण होकर भी चोरी करता है क्योंकि उसे वसन्तसेना की दासी मदनिका से प्रेम है जिसे दास्यभाव से मुक्त कराना उसका उद्देश्य है। चौर्यकला का वह विशिष्ट परिचय तृतीय अंक में देता है। इसी प्रकार शूद्रक ने संवाहक (द्यूत खेलने वाला, बाद में भिक्षु), धूता (चारुदत्त की गृहिणी), मदनिका, विट (शकार का साथी), स्थावरक (शकार का यानवाहक, सत्कर्म में विश्वास रखने वाला), अधिकरणिक (न्यायाधीश) आदि पात्रों का स्वाभाविक रूप में चित्रण किया है।

शूद्रक ने सरल शैली का प्रयोग गद्य-पद्य दोनों में किया है जिससे उनके रूपक का अभिनय तथा प्रभाव दोनों आकर्षक हैं। यत्र-तत्र उनके वर्णन सही स्थान पर हैं। प्रथम अंक में दरिद्रता का वर्णन हो या पंचम अंक में वर्षा का, तृतीय अंक में चोरी का दृश्य दिखाना हो या नवम अंक में न्यायालय का दृश्य प्रदर्शित करना हो – वे सर्वत्र सहज हृदयावर्जक भाव से वर्णन करते हैं जिससे वर्ण्यविषय का प्रत्यक्ष प्रभाव रसोद्भावन पर पड़ता है। सारे वर्णन समान रूप से सरल भाषा-शैली में किये गये हैं। निर्धनता का वर्णन करते हुए चारुदत्त कहता है–

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥ (१/१५)

अर्थात् निर्धनता चिन्ताओं का घर है जिसमें दूसरों से अपमान झेलना पड़ता है; यह विलक्षण शत्रुता है। मित्रों की घृणा और आत्मीय जनों के विद्वेष का कारण है। निर्धन व्यक्ति को घर छोड़कर वन जाने की इच्छा होती है; पत्नी से भी तिरस्कार मिलता है। यह हृदय में विद्यमान शोकरूप अग्नि है जो जलाकर नष्ट नहीं करती, निरन्तर सन्तप्त करती है।

पञ्चम अङ्क वर्षा-वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। चारुदत्त, विट और वसन्तसेना – ये सभी अपने-अपने ढंग से वर्षा का वर्णन करते हैं। यह प्रसङ्ग काव्य और नाट्य दोनों का समन्वय करता है। वसन्तसेना इसी काल में भींगकर चारुदत्त से मिलने उसके घर आयी है। सम्भोग शृंगार का उद्दीपक यह वर्णन उसीका प्रणय-निवेदन है–

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका।

विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥ (५/३५)

"खिले हुए पुष्पों से युक्त कदम्ब-वृक्षों से सुरभित इस मेघालंकृत (वर्षा) काल में काम-पीड़ित, हर्षयुक्त, जल से भींगे केशों वाली, बिजली और मेघ-गर्जना से भयभीत, तुम्हारे दर्शन की कामना से युक्त एवं नूपुरों (पायलों) में लगे हुए पंक वाले चरणों को धोती हुई यह (वसन्तसेना) प्रियतम (चारुदत्त) के आवास पर आयी हुई है।" स्थूल रूप से अमरुशतक के पद्यों का सादृश्य रखनेवाले इस पद्य में कवि ने परकीया नायिका के भावों का उन्मीलन किया है।

उधर चारुदत्त भी वसन्तसेना के स्वागत में ऐसा ही निवेदन करता है कि सदा जागते हुए ही मेरा सन्ध्याकाल बीतता है, आहें भरने में ही रात बीतती है; लम्बी आँखों वाली हे सुन्दरि, आज तुम्हारा साथ मिल जाने पर सन्ध्याकाल अवश्य ही शोकान्तकारी होगा–

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः, सदा च मे निःश्वसतो गता निशा ।
त्वया समेतस्य विशाललोचने, ममाद्य शोकान्तकर प्रदोषकः ॥
(५/३७)

वर्षाकाल के वर्णन में सामाजिक क्षेत्र का उपमान देने की प्रथा शूद्रक ने ही चलायी जैसे–

संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघावृतश्चन्द्रमा
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र सन्तिष्ठते ॥ (५/१४ उ०)

"अकुलीन व्यक्ति जिस प्रकार संन्यास आश्रम को कलंकित करते हैं वैसे मेघों से चन्द्रमा आच्छन्न होकर दूषित हो गया है। नीच कुल की स्त्री के समान विद्युत् भी एक स्थान पर व्यवस्थित नहीं है।" अन्य उदाहरण है–

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि ॥ (५/२६)

"मेघ नवधनाढ्य व्यक्ति के समान निरन्तर नये रूप प्रकट कर रहा है; वह कभी ऊपर उठता है, कभी नीचे झुकता है, कभी बरसता है, कभी गरजता है और कभी अन्धकार फैलाता है।" इस प्रकार कवि की दृष्टि समाज के विविध पक्षों पर लगी रहती है।

नाट्य-संवादों में लेखक ने हास्य-व्यंग्य से भरे हुए लघुकाय वाक्य प्रस्तुत किये हैं जो कहीं-कहीं सूक्तियों के रूप में आये हैं जैसे– द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् (२/७ के पूर्व दर्दुरक की उक्ति); सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते (१/१०), गुणः खल्वनुरागस्य कारणं, न पुनर्बलात्कारः (१/३२ के बाद वसन्तसेना की उक्ति); पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु (१/५६ के बाद वसन्तसेना की उक्ति); स्त्रीषु न रागः कार्यः रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति (४/१३); अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौरः सुवर्णकारः, अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते (५/६ के बाद विदूषक की उक्ति) इत्यादि।

मृच्छकटिक की रचना में लेखक ने अपने युग के समाज के विविध पक्षों की नाट्य-प्रस्तुति करके विशाल जन-समूह के मनोरञ्जन का उद्देश्य रखा है। समाज के उपेक्षित वर्गों के प्रति भी

सहानुभूति रखकर उन्होंने इस क्रान्तिकारी रूपक का निर्माण किया। 'गुणा: पूजास्थानम्' की उपपत्ति में मृच्छकटिक का विपुलांश समर्पित है। रूढियों का परित्याग करते हुए लेखक ने गणिका के कुलवधू बनने, गणिकाओं और उच्चवर्ग के वैवाहिक सम्बन्ध, मध्यवर्गीय व्यक्ति के राजा होने तथा निम्नवर्ग से बड़े-बड़े अधिकारियों (जैसे-सेनापति) के पद पर प्रतिष्ठित होने की अनुशंसा की है। यह इसी दृष्टि से लोकप्रिय रूपक है।[1]

मृच्छकटिक में प्रतिबिम्बित समाज तथा संस्कृति[2]

मृच्छकटिक का कथानक राजभवन के संकुचित वृत्त के बाहर सामान्यजनों से संकुल राजमार्ग से सम्बद्ध है; इसलिए समाज के कई स्तरों का चित्रण इसमें प्राप्त होता है। शूद्रक ने विविध वर्गों के पात्रों को इस रूपक में स्थान देकर सर्वाङ्गपूर्ण सामाजिक स्थिति का निरूपण किया है।

वर्ण तथा जाति – इस रूपक के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था वर्तमान थी, व्यवसायों के आधार पर कुछ जातियाँ भी थीं। वर्णों में ब्राह्मण आदरणीय थे जिन्हें किसी भी अपराध पर मृत्युदण्ड नहीं मिलता था। गणिका वसन्तसेना (अंक २) कहती है – पूजनीयो मे ब्राह्मण:। इसी प्रकार नवम अंक में मनु के प्रामाण्य पर कहा गया है – अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्। ब्राह्मणों का काम पठन-पाठन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह (देना-लेना) था। नटी सूत्रधार से किसी ब्राह्मण को भोजनार्थ निमन्त्रण देने के लिए कहती है। उपर्युक्त कर्म अनिवार्य नहीं थे; अन्य व्यवसायों में भी ब्राह्मण स्वतन्त्र थे। चारुदत्त स्वयं ब्राह्मण होकर भी वाणिज्यजीवी था। शर्विलक भी ब्राह्मण था किन्तु चोरी-जैसा गर्हित कर्म करता था। विदूषक का पद तो मूर्ख ब्राह्मणों के ही लिए सुरक्षित था।

न्यायालयों में कायस्थ लोग लेखन-कार्य करते थे। नवम अंक में न्यायालय को कायस्थ-रूपी सर्पों से भरा हुआ स्थान कहा गया है (कायस्थ-सर्पास्पदम्)। शूली पर चढ़ाने (मृत्युदण्ड देने) का काम चाण्डाल लोग करते थे।

विवाह – उस काल में बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण के लिए असवर्ण स्त्री से विवाह करना निषिद्ध नहीं था। चारुदत्त ने गणिका वसन्तसेना से और शर्विलक ने गणिका की दासी मदनिका से विवाह किया। पति के मर जाने पर सती-प्रथा (सहमरण) प्रचलित थी। चारुदत्त को शूली पर चढ़ाने का उपक्रम होने पर उसकी पत्नी धूता सती होने का प्रयास करती है। परदा-प्रथा का प्रचार

---

१. भाषा की दृष्टि से भी शूद्रक ने इसमें वैविध्य रखा है। टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार इसके ३० पात्रों में ६ संस्कृत बोलते हैं। शौरसेनी (११ पात्र), अवन्तिजा (२ पात्र), प्राच्या (केवल विदूषक), मागधी (६ पात्र), शकारी (शकार), चाण्डाली (दोनों चाण्डाल पात्र) तथा ढक्की (३ पात्र) - इन प्राकृतों का प्रयोग इसमें है। समाज का व्यापक प्रतिनिधित्व इसका लक्ष्य है।

२. 'मृच्छकटिक - एक सांस्कृतिक अनुशीलन' इस शीर्षक का शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में पटना विश्वविद्यालय से पीएच्०डी० के लिए स्वीकृत हो चुका है (१९९३ ई०)। अन्य सहायक ग्रन्थ - **मृच्छकटिक – शास्त्रीय, सामाजिक और राजनीतिक अध्ययन**; ले०-डॉ० शालग्राम द्विवेदी; प्र०-विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९८२ ई०।

नहीं था क्योंकि धूता सबके समक्ष बिना परदे के ही आती है। कुछ सम्पन्न लोग रखैल स्त्री भी रखते थे, शकार की बहन राजा पालक की रखैल थी। शकार को ही 'काणेलीमातः' सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है-अविवाहित स्त्री या रखैल का पुत्र।

स्त्रियों का स्थान – समाज में स्त्रियों का बहुत सम्मान था। उनके दो वर्ग थे- कुलवधू और गणिका। कुलवधू का पद बड़ा आदरणीय था। राजा को अधिकार था कि किसी सामान्य स्त्री या गणिका को 'कुलवधू' का पद प्रदान करे। गणिकाएँ सम्पन्न होती थीं; नृत्य, संगीत, अभिनय, चित्रकला आदि में वे निपुण थीं। वसन्तसेना के भव्य भवन के विविध प्रकोष्ठों के वर्णन से (अंक-४) उसकी सम्पन्नता का परिचय मिलता है। सार्वजनिक जीवन में कलाओं का आदर होने से गणिकाओं को प्रतिष्ठा मिली हुई थी। उनके वाहनों की तलाशी नहीं ली जाती थी। वे गृहस्थों के घरों में निस्संकोच आती-जाती थीं। फिर भी गणिकाओं को मित्र बनाना सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था। जब न्यायाधीश चारुदत्त से पूछता है – आर्य, गणिका तव मित्रम्? तो चारुदत्त झेंप जाता है। स्पष्टतः कुलवधू की अपेक्षा गणिका का स्थान निम्न था। इसीलिए कुछ गणिकाएँ अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर सम्माननीय वधू-पद पाने का प्रयत्न करती थीं।

दासी और दास रखने की प्रथा थी, सम्भवतः इनका क्रय-विक्रय होता था किन्तु धन चुका देने पर ये मुक्त हो जाते थे। कभी-कभी राजा के आदेश से भी दासता से मुक्ति मिलती थी जैसे आर्यक के आदेश से स्थावरक-नामक चेट को मुक्त किया गया।

नगर-व्यवस्था – मृच्छकटिक के युग में नगरों में जातियों के आधार पर मुहल्ले बसे हुए थे। चारुदत्त सेठों के मुहल्ले में रहता था (स खलु श्रेष्ठिचत्वरे निवसति)। नगरों के मुख्य द्वार रात में बन्द हो जाते थे। बहुत रात में पहरेदार नगर में घूम-घूमकर पहरा देते थे। नगरों में आवागमन के लिए बैलगाड़ियों का प्रयोग होता था, पुरुष हाथी-घोड़ों पर भी चलते थे।

कला-कौशल – उस युग में कलाएँ उन्नत अवस्था में थीं। संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, संवाहन (शरीर दबाना) और चौर्यकला तक का वर्णन मृच्छकटिक में है। तृतीय अंक के आरम्भ में चारुदत्त रेभिल के घर पर हुई संगीत-गोष्ठी से आधी रात में लौटता है, मार्ग में वह वीणा की प्रशंसा करता है (वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं रत्नम्)। बाँसुरी, दर्दुरक, मृदङ्ग और पणव अन्य वाद्य थे जिनकी चर्चा इस रूपक में है। चतुर्थ अंक में वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखाती है। द्वितीय अंक में काष्ठमयी प्रतिमा और शैल प्रतिमा का उल्लेख है। चारुदत्त का संवाहक (शरीर दबाने वाला) वसन्तसेना से अपनी कला का वर्णन करता है।

तृतीय अंक में शर्विलक की चौर्यकला का चित्रण मिलता है। चोरों के भी कुछ नैतिक नियम थे जैसे - स्त्री को न मारना, सोये हुए या डरे हुए व्यक्ति पर प्रहार न करना, ब्राह्मण का या पूजा का धन न चुराना, बच्चों का अपहरण न करना इत्यादि।

अर्थ-व्यवस्था - उज्जयिनी नगरी तथा गणिका के प्रासाद के यथार्थ वर्णन से उस युग की आर्थिक समृद्धि का परिचय मिलता है। गणिका की समृद्धि देश की समृद्धि का लक्षण है। कुछ लोग इतने धनी थे कि बच्चों को सोने के खिलौने खेलने के लिए दिया करते थे। चारुदत्त के पड़ोसी का बालक स्वर्णशकटिका से खेलता है। चारुदत्त की पत्नी धूता यद्यपि निर्धन हो गयी थी तथापि वसन्तसेना के चुराये गये आभूषणों के बदले में अपनी बहुमूल्य रत्नमाला देती है। द्यूतक्रीडा में

धन का प्रचुर आदान-प्रदान होता था। द्यूत में हार जाने पर ऋण (हारा हुआ धन) चुकाना आवश्यक था। इसमें राजपुरुषों की भी सहायता ली जाती थी। वसन्तसेना ने ऐसे ही पराजित जुआरी (संवाहक) का ऋण चुकाया था। द्यूतक्रीडा को संवाहक ने कला के रूप में सीखा था, अब वही उसकी आजीविका बन गयी थी (कलेति शिक्षिता, आजीविकेदानीं संवृत्ता २/१४ के बाद संवाहक की उक्ति)।

धार्मिक स्थिति – वैदिक धर्म का सामान्य प्रसार था। अनेक प्रकार के यज्ञ, पूजन, बलि, तर्पण आदि कर्म किये जाते थे। लोग व्रत-उपवास करते थे एवं ब्राह्मणों को दान देते थे। निम्नवर्ग के लोग भी धार्मिक कार्य करते थे। चौर तथा चाण्डाल भी इष्टदेवों के प्रति श्रद्धा रखते थे। बौद्ध धर्म का भी प्रचार था किन्तु बौद्ध भिक्षु का दर्शन अपशकुन माना जाता था। कुछ बौद्ध भिक्षु सांसारिक वासनाओं से ग्रस्त थे। बौद्ध विहारों में भिक्षुओं के साथ भिक्षुणियाँ भी रहती थीं (एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति ८/४७ के पूर्व भिक्षु की उक्ति)। उस समय अनेक बौद्ध विहार थे। उनके कुलपति होते थे। आर्यक ने संवाहक (भिक्षु) को सभी विहारों का कुलपति बना दिया था (तत्पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम् १०/५८ के पूर्व चारुदत्त की उक्ति)। अत: 'कुलपति' राजादेश से प्राप्य पद था।

राजनीति-व्यवस्था – मृच्छकटिक के समय की राजनीतिक दशा अच्छी नहीं थी। देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। राजा स्वेच्छाचारी होता था। न्यायाधीश उसका नौकर था, जब चाहे निकाला जा सकता था। नवम अंक में शकार न्यायाधीश को धमकी देता है कि यदि मेरा अभियोग नहीं सुना गया तो राजा से कहकर तुम्हें हटवा दूँगा। राजा न्यायालय के निर्णय को निरस्त कर सकता था। इसीलिए नवम अंक में न्यायाधीश चारुदत्त को स्वयं दण्ड न देकर राजा पालक के पास निर्णय के लिए भेज देता है जो उसे प्राणदण्ड देता है।

राजा के सम्बन्धी लोग प्रशासन में हस्तक्षेप करते थे। किसी उत्सव के समय अपराधियों को दण्डमुक्त किया जाता था। राजकर्मचारियों में छोटी बात को लेकर भी कलह होता था (जैसे-षष्ठ अंक में वीरक और चन्दनक के बीच)। उस समय शान्ति और व्यवस्था निम्न कोटि की थी। ऐसी ही कुव्यवस्था से सिंहासन का अधिकारी क्षण में ही बदल जाता था। मृच्छकटिक में राज-परिवर्तन का रहस्य इसी दुर्बल राजशक्ति में निहित है।

इस प्रकार मृच्छकटिक के आधार पर तात्कालिक समाज का चित्रण किया जा सकता है।[1]

नाट्यकार विशाखदत्त

संस्कृत नाट्य-जगत में एकमात्र उपलब्ध राजनीतिक नाटक 'मुद्राराक्षस' के लेखक के रूप में विशाखदत्त की कीर्ति अमर है। मुद्राराक्षस की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त राज-परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता महाराज पृथु एवं पितामह सामन्त वटेश्वरदत्त थे। कुछ संस्करणों में पिता का नाम भास्करदत्त दिया गया है। राज-परिवेश के कारण विशाखदत्त को

---

१. मृच्छकटिक पर सहायक ग्रन्थ – G.V. Devasthali - **An Introduction to the Study of Mricchakatika**; G.K. Bhat - Preface to **Mricchakatika**; मृच्छकटिक के संस्करणों की भूमिकाएँ भी द्रष्टव्य हैं।

राजनीति में अभिरुचि स्वाभाविक थी जिसका परिणाम 'मुद्राराक्षस' जैसी रचना है। इनकी दूसरी नाट्यकृति 'देवीचन्द्रगुप्त' का उल्लेख नाट्यदर्पण में पाँच बार हुआ है (१/४८, १/५३, १/५४, २/२, २/३२)। भोज के शृङ्गारप्रकाश में भी यह चर्चित है। यह नाटक छह या सात अंकों का राजनीति-विषयक ही था। इसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय (राज्यकाल ३७५-४१३ ई०) के द्वारा शकों की पराजय एवं सौराष्ट्र पर विजय का वर्णन था। रामगुप्त (समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र) शकों के द्वारा बन्दी बनाया गया था, चन्द्रगुप्त ने छद्मवेश में शकनरेश को उसके शिविर में ही जाकर मार डाला। बाद में शकराज्य को भी उसने जीत लिया।[1] इस प्रकार देवीचन्द्रगुप्त तथा मुद्राराक्षस दोनों राजनीतिक नाटक विशाखदत्त की राजनीतिक अभिरुचि के परिणाम हैं।

विशाखदत्त अपने मुद्राराक्षस में मगध के प्रति अत्यधिक आकर्षण दिखाते हैं। शोणनद, पाटलिपुत्र तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र की प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने के कारण अनेक विद्वानों का अभिमत है कि ये मगध के निवासी थे, उसी राज्य के प्रमुख सामन्तों के परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनकी पारिवारिक उपाधि 'दत्त' थी (वटेश्वरदत्त-भास्करदत्त-विशाखदत्त)। इन्होंने मुद्राराक्षस के मङ्गलाचरण में शिव की तथा भरतवाक्य में विष्णु की वराह-मूर्ति की वन्दना की है। अतः धर्मसहिष्णु वैदिक या ब्राह्मण धर्म का अनुयायी इन्हें कहा जा सकता है। इस धर्म में सभी देवों के प्रति समान आदर-भाव रखा जाता है। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अंक के अन्त में (श्लोक २२ के पूर्व) 'भगवान् सूर्यः' तथा 'भगवान् भास्करः' का प्रयोग भी इस तथ्य का समर्थक है। यही नहीं, धार्मिक समत्व का परिचय देते हुए विशाखदत्त ने जैन और बौद्ध धर्म के प्रति भी आदर दिखाया है।[2] तृतीय अंक में (पद्य २० तथा २१) में क्रमशः शिव और विष्णु की प्रशंसा करके विशाखदत्त अपने को स्पष्टतः मगधनिवासी ब्राह्मणधर्मानुयायी गृहस्थ सिद्ध करते हैं।

विशाखदत्त का काल

विशाखदत्त के कालनिर्णय में बहिःसाक्ष्य बहुत कम सहायक हैं। इनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम मुद्राराक्षस की चर्चा धनिककृत दशरूपावलोक (१/६८) में है- तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्। धनिक का समय १००० ई० है। एक अन्य स्थल (२/५५) पर भी इस ग्रन्थ में धनिक ने इस नाटक में प्रयुक्त मन्त्रशक्ति और अर्थशक्ति के उदाहरण दिये हैं। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण (५/६५) में मुद्राराक्षस का नाम लिये बिना इसके दो पद्य (१/२२ तथा ३/२१) उद्धृत किये हैं। यह ११ वीं शताब्दी ई० का ग्रन्थ है।[3] इनकी अपेक्षा इसीलिए अन्तःसाक्ष्य

१. इस घटना का उल्लेख **हर्षचरित** (उच्छ्वास ६, पृ० ३५४) में - 'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्', **शृङ्गारप्रकाश** तथा **काव्यमीमांसा** (पृ० ११८, राष्ट्रभाषा परिषद् संस्करण) में भी है।

२. **मुद्राराक्षस** ४/१८ शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम् ।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति ॥
तथा ७/५ (उ०) बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना ।
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ॥

३. कुछ विद्वानों ने शिशुपालवध (२/८८) पर मुद्राराक्षस (२/१) का प्रभाव दिखाया है। दोनों में भाव की समता है, राजा और सर्प की तुलना है। अतः ७ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध (माघ का समय) विशाखदत्त की उत्तर कालसीमा है।

अधिक चर्चित और व्यवस्थित है।

अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से चार महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय हैं- (१) भरतवाक्य में 'चन्द्रगुप्त' आदि पाठ, (२) भरतवाक्य में म्लेच्छों के आक्रमण की चर्चा, (३) प्रस्तावना में चर्चित चन्द्रग्रहण तथा (४) जैन-बौद्ध धर्मों के प्रति विचार। इनका क्रमशः विवेचन किया जाता है।

भरतवाक्य में चन्द्रगुप्तादि-पाठ – मुद्राराक्षस के भरत-वाक्य (७/१८) में उत्तरार्ध इस प्रकार है–

म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः।

इसमें राजा चन्द्रगुप्त के द्वारा पृथ्वी की चिर-रक्षा का आशीर्वाद है। भरतवाक्य कथानक का अंग नहीं होता, अपितु उसमें नाट्यकार अपने समकालिक किसी राजा की प्रशंसा करता है। यद्यपि इस प्रसंग में 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा', 'पार्थिवो दन्तिवर्मा', 'पार्थिवो रन्तिवर्मा' इत्यादि अनेक पाठ मिलते हैं, तथापि बहुसंख्यक विद्वानों ने 'चन्द्रगुप्त' वाले पाठ को मूल एवं अन्य पाठों को परिवर्तित (ऊह-रूप) कहा है। यह चन्द्रगुप्त प्रसिद्ध गुप्तवंशीय नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय था जिसका शासन-काल ३७५ ई० से ४१३ ई० तक माना जाता है। विशाखदत्त का अन्य नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' भी इसी राजा के सिंहासनारोहण से सम्बद्ध है। गुप्तवंशीय राजा विष्णु के उपासक थे। उक्त भरतवाक्य में भी विष्णु की वराहमूर्ति की चर्चा है। गुप्तकाल के ही उदयगिरि-अभिलेख वाली गुफा में चित्रित वराह की मूर्ति मिली है जिसमें असुरों से पृथ्वी की रक्षा वराह कर रहे हैं, भरतवाक्य का सीधा सम्बन्ध इस गुहाचित्र से है।[1]

मुद्राराक्षस की विषय-वस्तु और अभिनेयता ने इसका अभिनय बार-बार कराया था; संकट के बाद राज्य पाने वाले राजाओं ने इसके मंचन को शुभ मानकर इसका अभिनय कराया और उनके प्रशंसकों ने राजा का नाम भरत-वाक्य में बदलना आरम्भ कर दिया। इसीलिए अवन्तिवर्मा आदि अनपेक्षित नामों वाले पाठ उत्पन्न हुए। तेलंग, ध्रुव तथा पं. बलदेव उपाध्याय ने अवन्तिवर्मा (मौखरिवंश के राजा, षष्ठ शताब्दी ई. का उत्तरार्ध) वाले पाठ को प्रामाणिक मानकर विशाखदत्त का समय ५५०-६०० ई. माना है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके प्रतिकूल है। लेखक ने चन्द्रगुप्त मौर्य और चन्द्रगुप्त द्वितीय की राज्य-प्राप्ति में साम्य देखकर इस नाटक की रचना की प्रेरणा पायी थी; उसका प्रबल समर्थन उन्होंने 'देवीचन्द्रगुप्त' लिखकर किया।

भारतवर्ष के जिस रूप की प्रशंसा मुद्राराक्षस (३/१९ आ शैलेन्द्रात् ··· आतीरात् ··· दक्षिणस्यार्णवस्य) में की है, वह अवन्तिवर्मा के राज्य में सम्भव नहीं था; अपितु चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही राज्य था। गुप्तकाल में ही पाटलिपुत्र में समारोह-पूर्वक कौमुदी-महोत्सव मनाया जाता था जिसकी मुद्राराक्षस में (३/१९ के बाद), भले ही कृतककलह के निमित्त उसके निषेध के लिए, चर्चा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में, फाहियान के अनुसार, बौद्ध धर्म की स्थिति अच्छी थी। मुद्राराक्षस में वर्णित व्यवस्था से उसकी संगति बैठ जाती है। इस प्रकार विशाखदत्त को ४००-४५० ई. में मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

---

१. डॉ. भगवत शरण उपाध्याय – गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास (१९६९), पृ. ७०।

म्लेच्छों का आक्रमण – उपर्युक्त भरत-वाक्य में म्लेच्छों के आक्रमण का उल्लेख है जिसका प्रतीकार विशाखदत्त के समकालिक (अधुना) राजा चन्द्रगुप्त या अवन्तिवर्मा ने किया था। प्राचीन भारत में सामान्यत: विदेशियों को 'म्लेच्छ' कहा जाता था; वे वर्णाश्रम-धर्म को नहीं मानते थे। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में क्रमश: शकों तथा हूणों को म्लेच्छ कहते थे; यह बात अवश्य थी कि म्लेच्छों ने यहाँ शासन करना आरम्भ कर दिया था। 'अवन्तिवर्मा' पाठ मानने वाले कहते हैं कि इस राजा ने प्रभाकरवर्धन (हर्ष के पिता) के सहयोग से ५८२ ई. में हूणों को पराजित किया था। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा अपने सिंहासनारोहण के समय ही शकों को पराजित करने का तथ्य इसकी अपेक्षा अधिक प्रबल है; शकराज को मारकर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने ध्रुवदेवी से परिणय किया तथा म्लेच्छों से आक्रान्त पृथ्वी पर पुन: सनातन व्यवस्था स्थापित की। इसकी संगति अधिक ग्राह्य है।

चन्द्रग्रहण का उल्लेख – मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में ऐसे चन्द्रग्रहण का उल्लेख है जो बुध-योग के कारण टल जाता है। यद्यपि इसमें श्लेष द्वारा ज्योतिषशास्त्रीय एवं प्रकृत विषय-दोनों का निरूपण है[1], किन्तु इसमें निर्दिष्ट तथाकथित चन्द्रग्रहण की व्यवस्था को लेकर भी विद्वानों ने विशाखदत्त का काल निरूपित किया है। विशाखदत्त ज्योतिष के विद्वान् थे। इस शास्त्र में बुध-योग से चन्द्रग्रहण का निवारण-सिद्धान्त वराहमिहिर (५०० ई० के लगभग) के पूर्व में ही प्रचलित था। वराहमिहिर ने अपनी 'बृहत्संहिता' में कहा है कि बुधयोग से चन्द्रग्रहण का निषेध नहीं होता। यह स्थिति विशाखदत्त को ५०० ई० से पूर्व सिद्ध करती है जो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राज्यकाल में या उससे कुछ ही बाद विशाखदत्त का काल मानने का समर्थन करती है।

जैन-बौद्ध धर्मों के प्रति धारणा – मुद्राराक्षस के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त के समय में जैन और बौद्ध धर्म समाज में आदरणीय थे। इस नाटक के सप्तम अंक में राक्षस कहता है कि बोधिसत्त्वों का त्याग तो प्रसिद्ध है किन्तु चन्दनदास ने अपने कर्म से (मित्र के लिए प्राणत्याग करते हुए) उनके चरित्र को भी न्यून बना दिया (७/५)। इसी प्रकार क्षपणक जीवसिद्धि का ब्राह्मणों के साथ रहना भी जैनधर्म के प्रति आदरभाव का सूचक है। ये दोनों धर्म सप्तम शताब्दी से ह्रासोन्मुख हुए। अत: विशाखदत्त को ६०० ई० से पूर्व रखना उपयुक्त है। इस दृष्टि से वे मौखरि अवन्तिवर्मा के अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में भी रखे जा सकते हैं किन्तु अन्य स्थितियाँ (जैसे सम्पूर्ण भारत का एकच्छत्र राज्य मानना, विष्णु से अपने आश्रयदाता की भरतवाक्य में तुलना, देवीचन्द्रगुप्त की रचना इत्यादि) विशाखदत्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में सिद्ध करती हैं। प्रो० हिलब्राँ (Hillebrandt), स्पेयर, टॉनी, रणजित पण्डित, सी. आर. देवधर आदि इसी के समर्थक हैं। इस मत के प्रवर्तक प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल थे।

मुद्राराक्षस की विषयवस्तु – मुद्राराक्षस सात अङ्कों का राजनीतिक नाटक है। मुद्रा (राक्षस की अँगूठी) के द्वारा राक्षस को वश में करने का मुख्य कथानक होने से इसे 'मुद्राराक्षस' (मुद्रया गृहीतो

---

१. मुद्राराक्षस १/६ क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।
अभिभवितुमिच्छति बलाद् रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥

क्रूर ग्रह (राहु, राक्षस) केतु (ग्रह विशेष, मलयकेतु राजा) के साथ मिलकर चन्द्र (चन्द्रमा, चन्द्रगुप्त मौर्य) को जिसका मण्डल सम्पूर्ण (या असम्पूर्ण) है, अभी बलपूर्वक अभिभूत करना चाहता है किन्तु बुध (ग्रह, विद्वान् चाणक्य) के योग से उसकी रक्षा होती है।

राक्षसो मुद्राराक्षस:, तमधिकृत्य कृतं नाटकं मुद्राराक्षसम्) कहते हैं। कूटनीति-विशारद चाणक्य (कौटिल्य) नन्दवंश का नाश, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, करके मौर्यवंश के तरुण चन्द्रगुप्त को राजा बना चुका है। अपनी कूटनीति के बल पर नन्दवंश के स्वामिभक्त अमात्य राक्षस को वश में करके वह चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनने के लिए विवश कर देता है। इस कार्य में चाणक्य की गुप्तचर-व्यवस्था तथा राक्षस की मुद्रा से अंकित एक कूटलेख की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राक्षस की ऋजुनीति एवं कौटिल्य की शाठ्यनीति के परस्पर संघर्षों से यह नाटक भरा है जिसमें शाठ्यनीति की विजय होती है।

इसके प्रथम अंक में चाणक्य अपने जीर्णगृह में अकेला बैठा हुआ अपने क्रिया-कलापों का वर्णन करता है। नन्दवंश का विनाश करके विषकन्या के प्रयोग से उसने पर्वतक को मरवा दिया और राक्षस के कृत्य के रूप में इसका प्रचार करके पर्वतक-पुत्र मलयकेतु को डराकर भगा दिया जिससे वह पर्वतक को दिये गये वचन के अनुसार आधा राज्य लेने का दावा न कर बैठे। राक्षस के प्रति चाणक्य की श्रद्धा है क्योंकि उसमें प्रज्ञा, विक्रम और भक्ति-तीनों गुण हैं, ये गुण अमात्य के लिए आवश्यक हैं।[१] इसीलिए वह राक्षस को सचिव या मन्त्री बनाने के लिए उत्सुक है जिससे चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य शक्तित्रय (प्रभु, उत्साह और मन्त्र-शक्ति) से सम्पन्न हो जाये। संयोगवश चाणक्य का गुप्तचर क्षपणक जीवसिद्धि आकर पाटलिपुत्र की विस्तृत सूचना उसे देता है और राक्षस के परिवार के उसके मित्र सेठ चन्दनदास के घर में होने की बात कहता है। उसी घर के बाहर एक बालक की अंगुलि से गिरी अंगूठी भी वह देता है। यह अंगूठी राक्षस की मुद्रा थी जिससे अंकित करके राक्षस अपने पत्रों को कहीं भेजता था। इससे चाणक्य के मन में योजना वन जाती है कि राक्षस के भूतपूर्व लेखक शकटदास से कुछ राजाओं के नाम लिखवाकर उसे मुद्रा से अंकित कर दे। यही कपटलेख राक्षस को उसके आधारभूत राजा मलयकेतु से पृथक् कर देता है। इस अंक में शकटदास को मृत्युदण्ड से बचाकर चाणक्य का शिष्य गुप्तचर उक्त कपटलेख के साथ मलयकेतु के शिविर में चला जाता है जहाँ राक्षस उसे नियुक्ति दिला देता है। इधर चाणक्य राक्षस के मित्र चन्दनदास को राजद्रोह का अभियोग लगाकर सपरिवार बन्दी बना लेता है। इस अंक में चाणक्य के कार्यों का विवरण है।

द्वितीय अंक में मलयकेतु के शिविर में विद्यमान राक्षस के कार्योंका विवरण है। मलयकेतु को आधार बनाकर राक्षस अपनी नीतियों का संचालन करता है कि किसी प्रकार नन्द के वध का बदला चन्द्रगुप्त को मारकर ले ले; इसीलिए मलयकेतु को उसने पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठाने का आश्वासन दे रखा है। राक्षस का गुप्तचर विराधगुप्त पाटलिपुत्र की घटनाओं की विस्तृत सूचना देता है किन्तु सर्वत्र राक्षस की योजनाओं की असफलता का ही वृत्तान्त प्राप्त होता है, उसकी सारी योजनाएँ मौर्य को ही लाभ पहुँचाती रहीं।[२] विराधगुप्त उसे सान्त्वना देता है कि नये कार्य में लग

---

१. मुद्राराक्षस १/१५ (उ०) प्रज्ञाविक्रमभक्तय: समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपते:, कलत्रमितरे, संपत्सु चापत्सु च ॥

२. मुद्राराक्षस २/१६ कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात्पर्वतकस्तया विनिहतो यस्तस्य राज्यार्धभाक् ।
ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव ते घातिता
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मे नीतय: ॥

जायें, विगत को छोड़ें। राक्षस सर्वत्र चाणक्य की भूमिका देखकर चन्द्रगुप्त से उसी को फोड़ देने की योजना बनाता है, चन्द्रगुप्त के अकेला पड़ जाने पर उसका विनाश सरल हो जायेगा। राक्षस की भेद-नीति की सूचना चाणक्य को मिल जाती है। इससे तृतीय अंक में वह चन्द्रगुप्त को सूचित करके कृतक-कलह (बनावटी विवाद) करता है तथा चन्द्रगुप्त से दूर हो जाता है। इसमें वैतालिकों की भूमिका होती है जो राक्षस के गुप्तचर हैं। राक्षस इस कृतक कलह को वास्तविक समझकर कुछ समय के लिए निश्चिन्त हो जाता है। उसकी यह राजनीतिक भूल चाणक्य को विजयी बनाती है। चतुर्थ अंक में राक्षस का गुप्तचर सूचना देता है कि चन्द्रगुप्त-चाणक्य में वैमनस्य हो गया है और चाणक्य को मन्त्रिपद से हटा दिया गया है। राक्षस और मलयकेतु चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने का निश्चय करते हैं। पञ्चम अङ्क में चाणक्य द्वारा लिखवाये गये कूटलेख (जाली पत्र, जिसपर राक्षस की मुद्रा अंकित है) से मलयकेतु और राक्षस के बीच भेद कराया गया है। राक्षस के कपटी मित्र सिद्धार्थक (जो वस्तुतः चाणक्य का गुप्तचर है) के पास कूटलेख और राक्षस के आभूषण प्राप्त होते हैं जिससे मलयकेतु को सन्देह हो जाता है कि राक्षस मुझसे दिखावटी मित्रता रखता है, वस्तुतः इसकी कुछ अन्य ही योजना है। वह राक्षस को अपने शिविर से यह कहकर निकाल देता है कि नाम से ही नहीं, अर्थ (कर्म) से भी तुम राक्षस ही हो। (अन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस राक्षसोऽसि ५/७)। राक्षस अपने शत्रु की चाल समझकर मलयकेतु के मूर्ख होने से अपनी सफाई भी नहीं दे पाता, वह अनेक विकल्पों में यही चुनता है कि चन्दनदास को कारागार से या मृत्युदण्ड से बचाकर ही प्राणत्याग करे (चेतश्चन्दनदासमोक्षरभसं रुन्ध्यात्कृतघ्नं न चेत् ५/२४)।

षष्ठ अङ्क में राक्षस मलयकेतु के शिविर से निकलकर पाटलिपुत्र आ गया है; वह नगर की दुर्दशा का वर्णन करता है।[१] चाणक्य के एक गुप्तचर से उसे सूचना मिलती है कि चन्दनदास को मृत्युदण्ड दिया जा रहा है। राक्षस अपने मित्र चन्दनदास की मन ही मन प्रशंसा करता है कि जिस धन के कारण पिता को पुत्र और पुत्र को पिता पराया समझ कर मार डालते हैं, जिसके लिए मित्रता को भी लोग छोड़ देते हैं उस प्रिय धन को महासंकट समझ कर त्यागने के लिए तुम प्रस्तुत हो गये; हे मित्र, तुम्हारे वणिक् होने पर भी (कृपण होने पर भी) वह तुम्हारा (वैश्य का) धन कृतार्थ हो गया (६/१७)। चाणक्य की राजनीति उसकी समझ में नहीं आती (दुर्बोधश्चाणक्यवटोर्नीतिमार्गः, ६/२० के पूर्व)। इसलिए वह चन्दनदास की रक्षा के लिए आत्मसमर्पण करना ही उचित समझता है (स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि)। तदनुसार सप्तम अङ्क में जबकि चन्दनदास को वध्यभूमि में लाया जाता है, राक्षस वहाँ आत्मसमर्पण कर देता है कि इसे छोड़ दें। चाणक्य इस बात (उपबन्ध) पर चन्दनदास को छोड़ने के लिए प्रस्तुत है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का अमात्य-पद स्वीकार कर ले (न खलु भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण चन्दनदासस्य जीवितमस्ति, ७/१६ के पूर्व)। राक्षस विवश होकर यह बात मान लेता है। चाणक्य का कार्य सिद्ध हो जाता है। चन्द्रगुप्त प्रसन्न होकर चाणक्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है—

---

१. इस प्रसङ्ग में एक सुन्दर पद्य है (मुद्राराक्षस ६/११)—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदः।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणविधियोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्गतिरिव कुनीत्या ह्यविदुषः॥

राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम्।
नन्दाश्चोन्मूलिता: सर्वे किं कर्तव्यमत: परम्॥ (७/१७)

विशाखदत्त का नाट्यकौशल

मुद्राराक्षस अपने ढंग का अनुपम नाटक है जिसमें लेखक ने परम्परागत नाट्य-रूढियों का परित्याग करके नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया है। लेखक नाट्यशास्त्र का महापण्डित होकर भी अपने मौलिक गुण के कारण एक शक्तिशाली नवीन नाट्य-पद्धति पर चलता है जिसका अनुकरण तक लोग नहीं कर सके। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का व्यावहारिक रूप देकर विशाखदत्त ने इस नाटक की सर्जना की है।

इसमें नाट्य-सुलभ प्रेम-कथा का परित्याग कर कूटनीति-विषयक वस्तु-विन्यास किया गया है, राजा को नायक न बनाकर निरीह ब्राह्मण चाणक्य को नायक बनाया गया है, नायिका को स्थान न देकर प्रतीकात्मक नायिका चाणक्य की बुद्धि का प्रयोग है[1], वीररस के अभिनव रूप कूटनीति-वीर का निवेश करके विदूषकादि पात्रों के बहिष्कार के अतिरिक्त हास्य या शृङ्गार रस का स्वल्प-प्रयोग भी नहीं है। यथार्थ के कठोर धरातल पर कथानक लुढ़कता है, रक्तपात के बिना ही केवल बुद्धि का खेल दिखाकर नायक की विजय वर्णित है— ऐसे अभिनव वीररस-प्रधान नाटक के रूप में मुद्राराक्षस का संस्कृत नाट्य-जगत् में अपूर्व स्थान है।

विशाखदत्त ने इस नाटक को घटना-प्रधान बनाया है, चरित्रमूलक नहीं। सभी पात्र अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ घटनाओं को आगे बढ़ाने में सन्नद्ध हैं। सभी घटनाओं को मुख्य फल के लाभ की दिशा में त्वरित गति से प्रेरित किया गया है। एक भी अप्रासंगिक या अनावश्यक कथांश (episode) या वाक्य तक इसके विकास-क्रम में प्रयुक्त नहीं है। इस प्रकार पूरा नाटक कसा हुआ (compact) है। घटनाओं के पर्त जैसे-जैसे खुलते हैं, कुतूहल और उत्सुकता का शमन होता जाता है किन्तु उत्सुकता के भी नये आयाम बनते हैं जिनका निवारण क्रमश: होता रहता है। इसीलिए कार्यान्विति की दृष्टि से इसके घटना-चक्र की महत्ता है।

राजनीति-विषयक नाटक में[2] रहस्य-रोमाञ्च का समावेश करते हुए लेखक ने अपनी अद्भुत नाट्यकला के कारण इसे शृङ्गार-प्रधान नाटकों के समान रोचक बनाया है। नाटक की पृष्ठभूमि की पूर्ति के लिए प्रथम अङ्क में चाणक्य का लम्बा स्वगत भाषण (१/११ के पूर्व से १/१६ तक) एवं द्वितीय अङ्क में खण्ड-खण्ड करके विराधगुप्त (राक्षस के गुप्तचर का प्रतिवेदन (२/१३ के पूर्व से २/१६ के पूर्व तक) प्रस्तुत किये गये हैं। चाणक्य के भाषण में कोई संवाद नहीं, पूरा भाषण एकांश (unit) है जबकि विराधगुप्त के प्रतिवेदन पर राक्षस की प्रतिक्रियाएँ दिखायी गयी हैं। कूटनीति में प्रवण दोनों मन्त्रियों (चाणक्य तथा राक्षस) की नीतियों के घात-प्रतिघात की घटनाएँ नाटक को सार्थक तथा गतिशील बनाती हैं। इनके स्वगत-भाषणों से सामाजिकों को इनका वास्तविक कार्य समझने में सुविधा होती है।

---

१. मुद्राराक्षस १/२६ (उ०) एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥

२. 'प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आलोक में मुद्राराक्षस का अनुशीलन' इस शीर्षक के शोध-प्रबन्ध पर मेरे निर्देशन में पीएच्०डी० उपाधि मिल चुकी है (पटना विश्वविद्यालय, १९९३ ई०)।

विशाखदत्त ने राक्षस के मुख से नाटक-कर्ता और राजनीति में खेलनेवाले की समानता प्रकट करायी है – कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा (४/३ अन्तिम चरण)। दोनों को समान रूप से क्लेश का अनुभव करना पड़ता है; दोनों ही संक्षिप्त कार्योपक्षेप (आरम्भ) करके उस कार्य का विस्तार चाहते हैं, गर्भित बीजों के अत्यन्त गहन और गूढ फल को उद्भिन्न करते हैं, बुद्धि का प्रयोग करके विमर्श (कर्तव्याकर्तव्य का विश्लेषण, विमर्श सन्धि का निर्माण) करते हैं एवं फैले हुए कार्य-समूह का उपसंहार भी कर लेते हैं। इस प्रकार नाट्य-रचना और राजनीतिक दाव-पेंच समान ही होते हैं। जब विधि-सम्मत (शास्त्रीय) नाट्य-रचना कठिन है, तब स्वतन्त्र एवं प्रगतिवादी रचना की कठिनाई का क्या कहना? लेखक ने इतिवृत्त-निर्माण में तथा उसके विकास में पूरी स्वाधीनता दिखायी है।

मुद्राराक्षस में कुल २९ पात्र हैं, एकमात्र स्त्रीपात्र चन्दनदास की पत्नी है जो सप्तम अङ्क में चन्दनदास के मृत्युदण्ड-दृश्य में करुण-रस का उद्भावन करती है। शेष सभी पात्र अपनी-अपनी विशिष्टता रखते हुए भी चाणक्य अथवा राक्षस के हाथों की कठपुतली हैं। इन दोनों पात्रों के संघर्ष का ही प्रतिफलन पूरे नाटक में हुआ है। चाणक्य प्रखर कूटनीतिज्ञ, शाठ्यनीति का प्रयोक्ता, निरन्तर सावधान, कर्मठ पुरुषार्थवादी, राजनीति के खेलों (दाँव-पेंच, जोड़-तोड़) में परम प्रवीण, बहुत बड़ी परीक्षा के बाद किसी पर विश्वास करने वाला, दम्भी किन्तु अत्यन्त साधारण स्तर का जीवन जीने वाला अमात्य है; उसमें राक्षस के गुणों को पहचानने की क्षमता है इसीलिए स्वयं चन्द्रगुप्त का अमात्य न बनकर राक्षस को उस पद पर स्थापित करने में कूटनीति का प्रयोग करता है। वह प्रधान पात्र या नायक है, उसे ही अपनी नीतियों के प्रयोग का फल मिलता है। दूसरी ओर राक्षस कूटनीतिज्ञ होते हुए भी ऋजुनीति का प्रयोक्ता है। वह भाग्यवादी, कपटी मित्रों पर भी विश्वास करनेवाला, अपने घर के भेदियों को न समझने वाला, नीति का प्रयोग करके निश्चिन्त हो जाने वाला, उदार, मित्र के लिए त्याग करने वाला एवं चाणक्य के अनुसार प्रज्ञा-विक्रम-भक्ति का समुदित रूप है।

ये दोनों अमात्य क्रमशः चन्द्रगुप्त और मलयकेतु को आधार बनाकर नीति-कौशल दिखाते हैं। ये दोनों पात्र परस्पर विरोधी चरित्र के हैं। चन्द्रगुप्त योग्य राजा है किन्तु चाणक्य के हाथों में समर्पित है। मलयकेतु स्वतन्त्र बुद्धि वाला, पुरुषार्थी किन्तु मूर्ख और उद्दण्ड है। इसीलिए भावुक राक्षस उससे दूर चला जाता है। बुद्धिवादी चाणक्य के हाथों में खेलने वाले चन्द्रगुप्त का राज्य शक्तित्रय-सम्पन्न होकर स्थिर बन जाता है। शकटदास और चन्दनदास राक्षस के विश्वसनीय मित्र हैं, मित्र के लिए सर्वस्व त्याग करते हैं।

इस नाटक में कूटनीति-वीररस है जो अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं है, शास्त्रों में विवेचित तक नहीं हुआ है। 'मुद्राराक्षस की वीररसाभिव्यक्ति में समसामयिक राजनीतिक जीवन की उन्नतिशीलता के लिए उत्सुक एक कर्मठ राजनीतिक नेतृत्व की अदम्य आत्मोत्सर्ग-भावना और उत्साह की प्रबल प्रेरणा का हाथ है और यही वह रहस्य है कि संस्कृत नाटककार किसी अन्य मुद्राराक्षस की रचना न कर सके।'[1] इस नाटक में राष्ट्र की सुरक्षा के लिए कर्तव्य-भावना का ऐसा प्राबल्य है कि उसके समक्ष रति (प्रेम) आदि के भाव शून्यवत् हैं। इसीलिए इसमें सभी

---

१. डॉ० सत्यव्रत सिंह (सं०) – **मुद्राराक्षस**, समालोचना, पृ० २०।

पात्र अपूर्व उत्साह से भरे हैं, अपने-अपने कार्यों के प्रति तन्मयता से समर्पित हैं। जय-पराजय की भावना से ऊपर यह कर्तव्यपालन का नाटक है जो अपने प्रयोजन में पूर्णत: सफल है।

नायक का प्रश्न – मुद्राराक्षस के नायक को लेकर प्राय: तीन मत प्रचलित हैं जिनमें राक्षस, चन्द्रगुप्त और चाणक्य को नायक कहा गया है। सामान्यत: नायक के विषय में परम्परा से यही कहा गया है–

> प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
> दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ (साहित्यदर्पण)

इस सिद्धान्त के अनुसार राजकुल में उत्पन्न व्यक्ति ही नायक की कोटि में आता है। आधुनिक लोग फलप्राप्ति करने वाले को नायक बताते हैं तो तर्क की दृष्टि से नाटक में प्रधान भूमिका धारण करने वाला नायक होता है। इसीलिए तीन पात्रों का नायकत्व विभिन्न मतों का आधार है।

जहाँ तक राक्षस के नायकत्व का प्रश्न है वह उसके मन्त्रिपद प्राप्त करने अर्थात् फललाभ की घटना पर आश्रित है। जो राक्षस भूतपूर्व राजा (धननन्द) का अमात्य था, वह इस नाटक के अन्त में चन्द्रगुप्त का अमात्य बन जाता है– इसलिए मुख्य फल का अधिकारी होने से नायक हुआ। किन्तु इस पर आक्षेप होता है कि जिस फल को राक्षस प्राप्त करता है, उसके लिए न तो उसे स्पृहा है और न वह इसके लिए चेष्टाशील ही है। वस्तुत: चाणक्य की महानुभावता और गुणग्राहकता का यह परिणाम है कि राक्षस पर यह फल (मन्त्रिपद-लाभ) आरोपित होता है। अत: फललाभ का तर्क उस पर असंगत है। फललाभ के प्रति ईहा या चेष्टा आवश्यक है। राक्षस जन्म से ब्राह्मण है, क्षत्रिय नहीं अर्थात् राजवंश का नहीं।

चन्द्रगुप्त का नायकत्व कुछ अधिक महत्त्व रखता है क्योंकि वह नन्द का पुत्र है, राजवंश का है। उसमें राज्य की दो शक्तियाँ हैं– प्रभुशक्ति और उत्साह-शक्ति। उसे तीसरी शक्ति (मन्त्रशक्ति) की प्राप्ति चाणक्य के बुद्धिबल से नाटक के अन्त में हो जाती है। राजकुल से सम्बन्ध एवं फललाभ की दृष्टि से उसे नायक कहा गया है। किन्तु यह मत भी दोषपूर्ण है। चन्द्रगुप्त राजा अवश्य है किन्तु इस नाटक में उसे राजकुलोत्पन्न नहीं माना गया है। चाणक्य तो उसे सदा 'वृषल' (शूद्र) कहकर सम्बोधित करता है। वह कुलीन नहीं, अपितु कुलहीन है। राक्षस राजलक्ष्मी को कोसते हुए कहता है–

> पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः?
> पतिं पापे, मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती? (मुद्रा० २/७ पू०)

अत: परम्परावादियों का यह मत खण्डित हो जाता है कि वह कुलीन था। दूसरी बात यह है कि उसका चरित्र इस नाटक में विकसित नहीं हुआ है। वह एक गौण पात्र ही है। केवल तृतीय और सप्तम अंकों में वह मञ्च पर आता है।

ऐसी स्थिति में चाणक्य को ही नायक कहा जा सकता है, यही नाट्यकार की लालसा है। उसने इस राजनीतिक नाटक की रचना में रूढिग्रस्त एवं जडीभूत नाट्य-परम्परा को नहीं माना, स्वयं नाट्यशास्त्र का वह पण्डित जो था, 'पथि यदि कुपथे वा वर्तयामः स पन्थाः' का निर्माता

था। लेखक नाटक के आरम्भ से ही चाणक्य का पक्षधर है, सभी पात्रों के ऊपर वह उसे दिखाता है। मुद्राराक्षस के इतिवृत्त का विकास ही चाणक्य के पक्ष में और विपक्ष में होने वाले घटना-क्रमों के प्रवर्तन के रूप में होता है; क्रमशः विपक्ष सिकुड़ता जाता है और पक्ष उस पर भारी पड़ने लगता है। 'प्रतिहत-परपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः' (६/१) कहकर नाटककार ने भी इसका समर्थन किया है। विशाखदत्त की नाट्यशाला का अनुपम रत्न चाणक्य ही है जो सम्पूर्ण कथानक को और तदनुसार पात्रों को भी अपनी मुट्ठी में रखता है। लेखक ने नायिका तो नहीं रखी, किन्तु कूटनीति-प्रधान नाटक में प्रतीकात्मक बुद्धि को ही चाणक्य की अनवरत सहचरी के रूप में प्रस्तुत किया है। चाणक्य कहता है कि मेरे पास से सभी लोग चले जायें किन्तु नन्दों के उन्मूलन में शक्ति का प्रदर्शन कर चुकी केवल मेरी बुद्धि ही पास रहे तो सब देख लूँगा–

ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः ।
एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥
(मुद्राराक्षस १/२६)

विशाखदत्त ने नाट्य के अनेक उपादानों में स्वाधीनता दिखायी है तो नायक की रूढ़ि के भङ्ग में भी उनकी स्वाधीनता आश्चर्यजनक नहीं है। फलप्राप्ति की बात उठायें तो राक्षस के अमात्य बनने से न स्वयं राक्षस को वैसी प्रसन्नता होती है और न चन्द्रगुप्त को ही, जैसी प्रसन्नता अपनी प्रतिज्ञा (मौर्यवंश का सर्वतोभावेन प्रतिष्ठापन) पूर्ण करने से चाणक्य को होती है। चाणक्य ही इस कार्य के लिए उत्सुक था और नाटक के आरम्भ से ही तद्विषयक प्रयत्नों में लगा था। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम – इन पाँच अवस्थाओं की दृष्टि से विचार करें तो सर्वत्र चाणक्य ही मिलेगा। राक्षस के गुणों का पारखी भी वही है। जो राक्षस चन्द्रगुप्त की हत्या और चाणक्य के निर्वासन के प्रति कृतसंकल्प था, उसका हृदय-परिवर्तन करके चन्द्रगुप्त की शरण में आने को विवश करना चाणक्य की बुद्धि के कौशल का अद्‌भुत चमत्कार था। स्वयं राजसत्ता का सुख छोड़कर राष्ट्र को सामर्थ्यवान् बनाने की दुर्लभ भावना से वह आद्यन्त भरा हुआ है। निःस्पृह ब्राह्मण को नायक बनाकर विशाखदत्त ने नायक की इस निरुक्ति को चरितार्थ किया है – नयति घटनाचक्रं फलप्राप्तिपर्यन्तम् इति नायकः। अपनी सहचरी बुद्धि की क्षमता पर उसे पूर्ण विश्वास है कि राक्षस का निग्रह वह आरण्यक गज के समान चन्द्रगुप्त के कार्य के लिए कर लेगा–

बुद्‌ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि। (१/२७ उ०)

इस प्रकार मुद्राराक्षस का नायक चाणक्य ही है जो अपने विचित्र रहस्यमय व्यक्तित्व से पूरे नाटक के घटनाक्रम पर छाया रहता है।

विशाखदत्त की शैली – विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना में काव्यात्मकता का अतिशय न रखकर पूर्णतः नाट्यदृष्टि रखी है। इसीलिए लेखक की शैली प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से विभूषित है, अलंकारों का प्रयोग केवल विषयवस्तु को सुगम बनाने के लिए किया गया है। प्रकृति-वर्णन

विरल हैं। श्लेष के प्रयोग से कई उपमाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं; रूपक, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा एवम् अर्थान्तरन्यास के हृदयावर्जक विन्यास मुद्राराक्षस में अत्यन्त सरल किन्तु लालित्यपूर्ण भाषा में सुलभ हैं। छोटे-बड़े सभी प्रकार के छन्द भी इसके शोभावर्धक हैं। बड़े छन्दों में भावों का विस्तार है तो छोटे छन्दों में अल्पाक्षर वाली सारभूत सूक्तियाँ हैं। कुल मिलाकर विशाखदत्त की शैली में सहजता, लालित्य, अभिव्यक्ति की प्रभावकता एवं अनुपम आवर्जकता है। कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट करेंगे।

चाणक्य अपने स्वगत-भाषण में कहता है-

> समुत्खाता नन्दा नव हृदयरोगा इव भुवः
> कृता मौर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा।
> द्वयोः सारं तुल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा
> फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥ (१/१३)

नन्दों का विनाश और मौर्य-लक्ष्मी को स्थिर करके उसने समान रूप से अपने कोप और प्रसन्नता का फल क्रमशः शत्रु और मित्र को बाँटा है। उधर राक्षस का कञ्चुकी एक नैतिक उपमान (imagery) का प्रयोग करके तात्कालिक चाणक्य-राक्षस-संघर्ष का चित्रण करता है-

> कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
> धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि।
> तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
> लोभो राक्षसवज्जयाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥ (२/९)

वृद्धावस्था ने काम को नष्ट किया जैसे चाणक्यनीति ने नन्द को; क्रमशः मुझमें धर्म प्रतिष्ठित हुआ जैसे पाटलिपुत्र नगर में मौर्य (चन्द्रगुप्त); सम्प्रति वह धर्म अत्यधिक समृद्ध हो चुका है किन्तु राजसेवा से मेरा बढ़ा हुआ लोभ उसे दबाना चाहता है जैसे राज्यशक्ति से समृद्ध मौर्य को राक्षस अभिभूत करने के प्रयास में लगा है; यह बात अवश्य है कि वह (लोभ या राक्षस) जीत नहीं सकता।

यत्र-तत्र रौद्र आदि उग्र रसों के उद्भावन में समास-युक्त ओजोमयी पदावली के विन्यास में भी विशाखदत्त को समान कौशल प्राप्त है जैसे- चाणक्य के कृतक कोप पर चन्द्रगुप्त का प्रस्तुत कथन-

> संरम्भ-स्पन्दि-पक्ष्म-क्षरदमल-जल-क्षालन-क्षामयापि
> भ्रूभङ्गोद्भेद-धूमं ज्वलितमिव पुनः पिङ्गया नेत्रभासा।
> मन्ये रुद्रस्य रौद्रे रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
> संजातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥ (३/३०)

मुद्राराक्षस के प्रायः सभी पद्यों के अन्तिम चरण में उस पद्य की कुञ्जी रहती है, अन्य चरणों को समझने का प्रथम सोपान वही रहता है।

कवि ने अपने पाण्डित्य का प्रकर्ष भी शास्त्रों की पारिभाषिक पदावली का विभिन्न सन्दर्भों

में सटीक प्रयोग करते हुए प्रकट किया है जैसे प्रस्तुत पद्य में न्यायदर्शन के साध्य, अन्वयव्याप्ति, सपक्ष, विपक्ष, निग्रह आदि पदों का राजनीति के सन्दर्भ में प्रयोग करके निष्कर्ष दिया है कि अशुद्ध हेतु साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं होता, वह हेत्वाभास-मात्र है-

> **साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं**
> **व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये ।**
> **यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धं च यत्**
> **तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥ (५/१०)**

विशाखदत्त ने इस नाटक में अनेक सूक्तियों का भी प्रयोग किया है जैसे- अत्यादरः शंकनीयः (१/२१ के बाद चन्दनदास की उक्ति), हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः (१/२२), पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी (२/७), सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः (३/१४), परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्तु पुरुषः (३/४) इत्यादि। तृतीय अङ्क के आरम्भ में शरद् ऋतु का रमणीय वर्णन किया गया है, बस यही एकमात्र प्रकृति-वर्णन है। सामान्य नाटकों के समान इसमें भी तीन प्रमुख प्राकृतों (शौरसेनी, माहाराष्ट्री, मागधी) का प्रयोग है। वस्तुतः विकासकाल का एक महत्त्वपूर्ण नाटक होने से मुद्राराक्षस नाट्य-रत्न है।

अध्याय-१९

परवर्ती रूपककार

विगत अध्याय में प्रारम्भिक रूपककारों का विवेचन करते हुए विकासकाल के रूपकों का अनुशीलन किया गया है। वे सभी षष्ठ शतक ई० से पूर्व के रूपक हैं। परवर्ती रूपककार न्यूनाधिक रूप से नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों पर चलते रहे हैं। इसका एकमात्र अपवाद भवभूति का उत्तररामचरित है जो रूढ़िमुक्त करुणरसप्रधान नाटक है। फिर भी भाषा-शैली एवं प्रस्तुति में ये सभी रूपक उस काल को निर्दिष्ट करते हैं जब संस्कृत सामान्य जनता से दूर केवल शिक्षितों या विद्वानों की भाषा रह गयी थी। जिस प्रकार महाकाव्य के क्षेत्र में विचित्र मार्ग का प्रवर्तन हुआ उसी प्रकार परवर्ती रूपककार भी विचित्रमार्गी बने, आरम्भिक रूपककारों की मुक्त शैली या नाट्य-स्वातन्त्र्य इनमें नहीं रहा। इस क्रम में मुख्य रूप से हर्ष, भट्टनारायण एवं भवभूति का विवेचन करके अन्य अनुवर्ती रूपककारों का संक्षिप्त इतिहास दिया जाता है।

नाट्यकार हर्षवर्धन

सौभाग्यवश हर्षवर्धन के विषय में अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इनके जीवन और व्यक्तित्व के कुछ पक्षों पर बाण ने अपने हर्षचरित में तथा चीनी यात्री हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में प्रकाश डाला है। हर्षवर्धन का राज्यकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक सर्वमान्य है; पाण्डुरंग वामन काणे ने हर्षचरित के अपने संस्करण की भूमिका में सुझाया है कि हर्ष का जन्म ५९० ई० में हुआ था। हुएनसांग ने हर्षवर्धन के राज्यकाल में ही ६२९ ई० से ६४१ ई० तक भारत का भ्रमण किया था। हर्ष की राजसभा में भी वह बहुत दिनों तक रहा था। किन्तु इन दोनों समकालिक लेखकों ने हर्ष के विषय में अतिशयोक्तियों की वर्षा की है जिनमें सत्य का अनावरण अवधान-सापेक्ष है।[१]

हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन थे जिन्हें बाण ने 'हूण-हरिण-केसरी' कहा है। अवन्तिवर्मा के साथ मिलकर उन्होंने ५८२ ई० में हूणों को परास्त किया था। प्रभाकरवर्धन के तीन अपत्यों में हर्ष द्वितीय थे। इनसे बड़े राज्यवर्धन को गौडनरेश ने छल से मार दिया था तथा अनुजा राज्यश्री असमय में विधवा हो जाने से संकटापन्न हो विन्ध्याटवी में भागकर आत्मदाह कर रही थी कि हर्ष ने उसे बचा लिया- ये बातें बाण ने हर्षचरित में लिखी हैं। सम्भवतः इस विपत्ति के बाद हर्ष की प्रवृत्ति बौद्धधर्म की ओर हो गयी थी। स्थिति जो भी हो, अल्प वय में राज्य-प्राप्ति करके हर्ष ने अपनी कूटनीतिक क्षमता से अल्पकाय राज्य स्थाण्वीश्वर (थानेसर, कुरुक्षेत्र) को इतना बड़ा बनाया कि प्रायः पूरा उत्तरी भारत (आर्यावर्त) उनके अधिकार में आ गया। दक्षिण में नर्मदा-तट पर उन्होंने चलुक्य-नरेश पुलिकेशी (द्वितीय) से भी युद्ध किया किन्तु पराजित हो गये।

१. हर्षवर्धन पर प्रामाणिक साहित्य – डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी - Harsha; गौरीशंकर चटर्जी - **हर्षवर्धन**; R.S. Tripathi - History of Kanauj; डॉ० वीणा सिन्हा – **नाट्यकार हर्षवर्धन** (१९९७ ई०) इत्यादि।

हर्षवर्धन वीर ही नहीं; विद्वान्, कवि और गुणग्राही भी थे। बाण आदि अनेक कवियों ने उनसे सम्मान प्राप्त किया था। बाद के कवियों ने हर्ष की राजसभा में बाण, मयूर और मातङ्गदिवाकर (निम्नवर्ण का कवि) की प्रशंसा की है। इस प्रकार हर्ष लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के कृपापात्र थे।

हर्षवर्धन तीन रूपकों के रचयिता थे – प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द। इनमें प्रथम दो समान कथानक पर आश्रित नाटिकाएँ हैं, नागानन्द पाँच अङ्कों का नाटक है जिसका प्रचार बौद्धों के बीच भी बहुत अधिक है क्योंकि इसमें बोधिसत्त्व-रूप राजा की कथा है। हर्ष ने दो बौद्ध स्तोत्र भी लिखे थे – सुप्रभातस्तोत्र तथा अष्टमहाचैत्यस्तोत्र। कुछ विद्वानों ने आक्षेप किया है कि लक्ष्मी और शक्ति के धनी हर्षवर्धन ने इन कृतियों को दूसरों से लिखवाकर अपने नाम से प्रचारित किया। किन्तु यह पक्षपात और ईर्ष्या से ग्रस्त लोगों की उक्ति है कि राजा स्वयं रचनाकार नहीं हो सकता। भारतीय इतिहास में ही अनेक राजा कवि भी हुए हैं। बाण ने हर्षवर्धन को विद्वान्, गोष्ठी-विदग्ध तथा कवि कहा है।[1] इन नाट्यकृतियों की प्रस्तावना में हर्षदेव को इनका रचयिता कहा गया है तथा समान रूप से मिलने वाले पद्य में श्रीहर्ष को निपुण कवि बताया गया है- श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी (प्रियदर्शिका १/३, रत्नावली १/५)। नागानन्द में यह नहीं है। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१ ई०) ने लिखा है कि राजा शीलादित्य (हर्ष का अन्य नाम) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कथा को नाट्यरूप देकर संगीत आदि से संयुक्त इसका अभिनय कराया था। कश्मीरी कवि दामोदरगुप्त (७०० ई०) ने कुट्टनीमत में रत्नावली की और जैन कवि सोड्ढल ने उदयसुन्दरी कथा में हर्ष की वाणी और उदारता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।[2] इन प्रमाणों से हर्षवर्धन के द्वारा उक्त रूपकों की रचना सिद्ध है।

प्रियदर्शिका – यह चार अंकों की नाटिका है। इसमें वत्सनरेश उदयन तथा आरण्यिका (प्रियदर्शिका) की प्रीतिकथा प्रदर्शित है। उदयन अपनी ज्येष्ठा रानी वासवदत्ता के भय से आरण्यिका के प्रति अपने प्रणय को छिपाये रखता है किन्तु अन्ततः वासवदत्ता को ज्ञात होता है कि आरण्यिका उसकी मौसेरी बहन है तो राजा का विवाह उससे करा देती है। कलिंगराज से अपने पिता दृढवर्मा के परास्त होने पर संयोगवश राजकुमारी प्रियदर्शिका उदयन के प्रासाद में आती है, जहाँ वासवदत्ता की दासी के रूप में वह रहती है। अरण्य में प्राप्त होने से उसे 'आरण्यिका' कहा जाता है। द्वितीय अंक में उसकी भेंट नायक उदयन से होती है, दोनों में उत्कट प्रेम होता है। तृतीय अंक में वासवदत्ता की सखी सांकृत्यायनी उसके मनोरंजन के लिए उदयन-वासवदत्ता के प्रेमाख्यान से सम्बद्ध एक नाटक का अभिनय कराती है। इसमें आरण्यिका को वासवदत्ता का और मनोरमा को उदयन का अभिनय करना था किन्तु उदयन स्वयम् अभिनय करता है। जिससे वासवदत्ता क्षुब्ध होकर आरण्यिका को कारागार में डाल देती है। चतुर्थ अंक में आरण्यिका के विषपान करने पर विष उतारने वाले उदयन के समक्ष उसे लाया जाता है; उसी समय दृढवर्मा का कंचुकी आता है और

---

१. **हर्षचरित** (चौखम्बा विद्याभवन, पृ० १२१) – काव्यकथास्वपीतमप्यमृतमुद्वमन्तम्। (पृ० १३३)- प्रज्ञायाः शास्त्राणि, कवित्वस्य वाच ··· न पर्याप्तो विषयः। अर्थात् बुद्धि इतनी थी कि शास्त्र ही कम पड़ जाते थे, कवित्व इतना था कि वाणी (शब्द) कम पड़ती थी।

२. उदयसुन्दरीकथा (बडौदा संस्करण, १९२०), पृ० १५० – कवीन्द्रैश्च विक्रमादित्य-श्रीहर्ष-मुञ्ज-भोजदेवादिभूपालैः।

मूर्छित राजकुमारी को पहचान लेता है। इससे वासवदत्ता को पश्चात्ताप होता है। राजा का आरण्यिका से विवाह हो जाता है। कवि की प्रथम रचना होने से यह प्रौढ कृति नहीं है। इस पर कालिदास की नाट्यकृतियों का प्रभाव है। तृतीय अंक का गर्भनाटक कवि की मौलिक कल्पना है। इसी कथानक को प्रौढतर रूप में रत्नावली में कवि ने प्रस्तुत किया है; नायिका उसमें परिवर्तित हो गयी है।

रत्नावली – यह चार अंकों की नाटिका है जिसमें राजा उदयन तथा सिंहल देश की राजकुमारी रत्नावली (सागरिका) के प्रेम और विवाह का कथानक है। इसमें भी राजा अपनी ज्येष्ठा रानी वासवदत्ता के भय से प्रच्छन्न प्रेम करता है। 'प्रियदर्शिका' के समान यहाँ भी वासवदत्ता अन्त में जान लेती है कि सागरिका उसकी ममेरी बहन है; तब वह उदयन का विवाह उससे करा देती है। राजा उदयन के प्रासाद में रत्नावली समुद्र-दुर्घटना से बचकर आती है; अत: उसे 'सागरिका' कहा जाता है। उसके मादक सौन्दर्य से उदयन को दूर रखने का प्रयास वासवदत्ता करती है किन्तु प्रथम अंक में भव्य रूप से वर्णित वसन्तोत्सव में दोनों की भेंट हो जाती है, प्रेम आरम्भ होता है। उदयन को एक मैना द्वारा सागरिका का प्रणय-निवेदन ज्ञात होता है। वे दोनों मिलते हैं तो वासवदत्ता कुपित होती है। उसे मनाने का प्रयत्न व्यर्थ होता है। सागरिका लज्जावश फाँसी लगा लेती है किन्तु उदयन उसे बचा लेता है। वासवदत्ता कोपवश सागरिका को कारागार में डाल देती है और उसे उज्जयिनी भेज देने का मिथ्यावृत्तान्त प्रसारित किया जाता है। अन्तिम अंक में एक ऐन्द्रजालिक अपना खेल दिखाते हुए प्रासाद में अग्निकाण्ड का दृश्य ले आता है। वासवदत्ता राजा से प्रार्थना करती है कि किसी प्रकार सागरिका को बचा लें। राजा उसे प्राणों पर खेलकर ले आते हैं। सिंहल के प्रधानमन्त्री (वसुभूति) तथा बाभ्रव्य (कंचुकी) सागरिका को रत्नावली के रूप में पहचान लेते हैं। वासवदत्ता अपनी भूल मानकर राजा से उसका विवाह करा देती है।

रत्नावली की रचना प्रियदर्शिका की कथावस्तु को नाटकीय पारिभाषिकताओं से सम्पन्न करके हुई है। इसीलिए परवर्ती नाट्यशास्त्रियों ने इसके उद्धरण बाहुल्य रूप से दिये है। दशरूपक और साहित्यदर्पण में नाट्य विषयों के उदाहरण रत्नावली या वेणीसंहार से ही दिये गये हैं। अत: इसका शास्त्रीय महत्त्व है। विशेष रूप से इसमें पाँच सन्धियों के ६४ अंगों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। कथावस्तु की शास्त्रीय सज्जा इसीलिए अद्भुत है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र का पुष्कल प्रभाव इन दोनों नाटिकाओं पर है।

नागानन्द – यह पाँच अंकों का नाटक है। इसमें मुख्यत: विद्याधर-राजकुमार जीमूतवाहन के द्वारा अपनी बलि देकर शंखचूड नामक सर्प की रक्षा गरुड़ से करने का वर्णन है। यह बौद्ध धर्म की एक कथा पर आश्रित है जो 'बृहत्कथा' में संकलित थी, इसका एक रूप 'वेतालपञ्चविंशति' में मिलता है।[1] हर्ष ने मूलकथा में पर्याप्त परिवर्तन करके इसे पौराणिक परिवेश दिया है।[2] इसका नायक बौद्ध होने पर भी पौराणिक देवताओं के प्रति भक्ति रखता है। इस प्रकार हर्ष ने बौद्ध और पौराणिक धर्मों के समन्वय के लिए इसे रचा था।

---

१. क्षेमेन्द्र – **बृहत्कथामञ्जरी** ४/५०-१०८ तथा ७७६-९३०; सोमदेव – **कथासरित्सागर** १२/१६-२५७।
२. डॉ० वीणा सिन्हा – **नाट्यकार हर्षवर्धन**, पृ० १३१-३२ तथा १४३-४४।

विद्याधर-राजकुमार जीमूतवाहन मित्रावसु की बहन मलयवती पर आसक्त होता है: दोनों प्रेम में व्याकुल हैं। मित्रावसु की स्वीकृति से दोनों का विवाह होता है। तृतीय अंक दोनों के आमोद-प्रमोद को प्रस्तुत करता है। इसमें तात्कालिक समाज की झलक मृच्छकटिक के अनुकरण पर मिलती है। चतुर्थ अंक से कथानक बोधिसत्त्व-कथा के रूप में परिणत होता है। जीमूतवाहन सागर-तट पर गरुड द्वारा खाये गये नागों की अस्थियाँ देखकर द्रवित होता है। इसी बीच वह शंखचूड की माता का विलाप सुनता है क्योंकि शंखचूड के मारे जाने की बारी आयी हुई है। जीमूतवाहन उसके स्थान पर स्वयं लालवस्त्र पहनकर वध्यशिला पर बैठता है, गरुड उसे उठाकर ले जाते हैं। अन्तिम अंक में गरुड नायक के शौर्य, धैर्य और उदारता से प्रसन्न होकर छोड़ देते हैं। नायिका की आराध्या गौरी देवी नायक को जीवित कर देती हैं; गरुड़ पश्चात्ताप करते हैं तथा अमृत-वर्षा करके सभी नागों को जीवित करते हैं। इस प्रकार शृंगार से आरम्भ करके नायक के उत्साह और आत्मत्याग तक की दृश्यावली से विभूषित यह नाटक है।

रत्नावली के समान इसका कथानक कसा हुआ नहीं है किन्तु भाव-सौन्दर्य, सरल भाषा तथा नैतिक गुणों के कारण इसकी लोकप्रियता बौद्ध जगत् में विशेष रूप से है। इस नाटक के प्रथम तीन अंकों में शृंगार रस और अन्तिम दो अंकों में करुण रस की प्रमुखता है। किन्तु इन दोनों से दयावीर रस को इसका मुख्य रस माना जाता है। कुछ लोगों ने शान्तरस को इसका अंगी रस माना था किन्तु धनिक ने इसका प्रबल खण्डन किया है।[1]

हर्ष की वर्णन-क्षमता और शैली – हर्ष ने अपने रूपकों में कथानक-संयोजन, चरित्र-चित्रण एवं रसोद्भावन की दृष्टि से यथासाध्य उत्कृष्ट नाट्यकला का परिचय दिया है। प्रियदर्शिका में गर्भनाटक (या गर्भाङ्क) उनकी मौलिक कल्पना है तो रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के समावेश के अतिप्राकृत तत्त्व के प्रति आस्था दिखाकर उन्होंने कविगत स्वच्छन्दता का भी परिचय दिया है। रूपकों के अन्तिम दृश्यों में अद्भुत रस का विन्यास उनकी विशिष्टता है प्रियदर्शिका में सर्पदंश, रत्नावली में अग्निदाह और नागानन्द में नायक का गरुड द्वारा खाया जाना अन्तिम झटके हैं जहाँ सामाजिक रोमाञ्चित होते हैं किन्तु सहसा दृश्य सुखद हो जाता है। नाटिका-जैसी नाट्यविधा का प्रयोग पहले भी होता होगा किन्तु उपलब्ध नाटिकाओं में हर्ष की रचनाएँ ही प्रथम हैं। हर्ष के तीनों रूपक अभिनेय हैं। 'रत्नावली' तो नाट्यशास्त्रियों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय रही है क्योंकि नाट्योपकरणों का एकत्र निवेश इसमें मिल जाता है। हर्ष ने इसी दृष्टि से इसकी रचना की थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु अनायास प्रयोग भी हर्ष के नाट्य-कौशल का प्रतिफलन है।

इन रूपकों में उद्दीपन के रूप में कई वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी के हैं। वैदर्भी शैली का आश्रय लेने के कारण हर्ष के वर्णन सहज-ग्राह्य हैं, अपना पुष्कल प्रभाव सामाजिकों पर छोड़ते हैं। ।प्रयदर्शिका (१/१२) में ग्रीष्मकाल का वर्णन देखें–

आभात्यर्कांशुतापक्कथदिव शफरोद्वर्तनैर्दीर्घिकाम्भः
छत्राभं नृत्तलीलाशिथिलमपि शिखी बर्हभारं तनोति।

---

१. दशरूपक की अवलोकटीका – ४/३५।

छायाचक्रं तरूणां हरिणशिशुरुपैत्यालवालाम्बुलुब्धः
सद्यस्त्यक्त्वा कपोलं विशति मधुकरः कर्णपालीं गजस्य ॥

सरोवरों में मछलियाँ गर्मी से उछल रही हैं मानों सूर्य-ताप से ये खौल रहे हैं; नाच करने से शिथिल पंखों को भी मोर सिर पर छाते के समान धारण कर रहे हैं; प्यासा हरिण-शावक थाले के जल के लोभ से वृक्षों की छाया में जा रहा है और भौंरा हाथी के कपोल को छोड़कर (गर्मी के कारण) उसके कान में घुस रहा है।

रत्नावली के प्रथम अंक में वसन्तोत्सव का रम्य वर्णन है। वसन्त में वृक्ष मतवाले हो गये हैं (१/१७)। प्रमदवन की प्रकृति के वर्णन में वन-वर्णन-जैसा शुद्ध प्रकृति-चित्रण नहीं है अपितु उसे मानव-सौन्दर्य या विशेषता के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त किया गया है जैसे वासवदत्ता को उदयन कहता है- विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव (रत्नावली १/२०)। नागानन्द में शुद्ध अरण्य-प्रकृति के चित्रण का अवसर मिलने पर विदूषक-जैसे पात्र से भी हर्ष कहलाते हैं - मित्र, देखो यह मलय-मारुत आपको रोमाञ्चित कर रहा है; गीले घने चिकने चन्दनवृक्षों के वनों की गोद में लोटने के कारण इससे सघन सुगन्ध आ रही है, ऊँचे-नीचे तट पर गिरने से छिन्न-भिन्न हो जाने वाले झरनों से निकले हुए शीतल कणों की बौछार को यह वहन कर रहा है (नागानन्द १, पृ० १६)। कालिदास ने भी कुमारसम्भव (१/१५) में कुछ ऐसा ही किन्तु परिष्कृत रूप में हिमालय-मारुत का वर्णन किया है। नागानन्द के चतुर्थ अङ्क (पद्य-२) में वन की विशिष्टताओं का आकर्षण वर्णन है-

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।

इस रमणीय वन में सब कुछ प्रकृति-प्रदत्त है; केवल याचकों के अभाव में नायक जीमूतवाहन का मन नहीं लगता।

नागानन्द में नायक का अपूर्व उत्साह दिखाया गया है। गरुड़ जब उसे खाना बन्द कर देते हैं तब मरणासन्न होने पर भी वह कहता है कि रक्तशिराओं से रक्त अभी भी निकल रहा है, मेरे शरीर में अभी भी मांस शेष है, आपके मुख पर तृप्ति के लक्षण भी नहीं दिखायी पड़ते; तो आप भोजन से विरत क्यों हो गये हैं?

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥ (५/१६)

गरुड के प्रहार से मृतप्राय जीमूतवाहन को देखकर उसके पिता का करुण विलाप बहुत मार्मिक है-

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता ।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु च कृपा क्वाद्य कृपणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय, लोकान्तरगते ॥ (५/३०)

अर्थात् हे पुत्र, तुम्हारे परलोक-गमन से धैर्य, विनय, क्षमा, दानशीलता, सत्य, कृपा आदि

सभी गुण निराश्रित हो गये; सारा संसार सूना हो गया।

रत्नावली में भयभीत कामिनी के संयोग-शृङ्गार का वर्णन करते हुए हर्ष नये रूप की सृष्टि करते हैं-

> प्रणय-विशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
> घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
> वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
> रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी॥ (रत्ना० ३/९)

अर्थात् संकेतस्थान में स्थित कामिनी शंकित होकर, प्रेम के कारण, अपनी विकसित दृष्टि प्रेमी के मुख पर नहीं डालती (आँखें नहीं मिलाती) है। कण्ठ के आलिङ्गन में आनन्द से स्तनों को कसकर नहीं सटाती है। प्रयत्नपूर्वक गोद में पकड़ लिये जाने पर भी बार-बार कहती है कि मैं जा रही हूँ; तथापि आश्चर्य है कि वह अत्यधिक आनन्द ही देती है।

प्राचीन विद्वानों में हर्ष की रचनाएँ लोकप्रिय थीं किन्तु आधुनिक समीक्षक उन्हें अधिक महत्त्व नहीं देते।

नाट्यकार भट्टनारायण

'वेणीसंहार' नाटक के रचयिता के रूप में भट्टनारायण का महत्त्व इसलिए बहुत अधिक है कि इनकी कृति महाभारत-युद्ध पर आश्रित वीररस-प्रधान नाटक है तथा इसमें नाटकीय उपादानों का सर्वाधिक प्रयोग होने के कारण संस्कृत नाट्यशास्त्रियों के द्वारा इसके उद्धरण व्यापक रूप से दिये गये हैं। वेणीसंहार की प्रस्तावना में इन्होंने अपने को 'मृगराजलक्ष्मा' (अर्थात् मृगराज या सिंह की उपाधिवाला) कहा है। सम्भवत: ये 'कविमृगेन्द्र' कहे जाते होंगे। बंगाल में किंवदन्ती प्रचलित है कि सेनवंश के प्रवर्तक आदिशूर (६५० ई०) ने कान्यकुब्ज से पाँच ब्राह्मण-परिवारों को वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बुलाया था, उनमें भट्टनारायण भी अन्यतम थे।

उक्त किंवदन्ती में सत्य का जो भी अंश निहित हो, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि वेणीसंहार के उद्धरण प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने दिये हैं। वामन (८०० ई०) ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (५/२/८१) में वेणीसंहार (३/४१) के 'पतितं वेत्स्यसि क्षतौ' प्रयोग में 'वेत्स्यसि' की शुद्धाशुद्धता पर विचार किया है।[1] आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने ध्वन्यालोक (३/४४ की वृत्ति) में वेणीसंहार के पञ्चम अङ्क का एक पूरा पद्य 'कर्ता द्यूतच्छलानाम्' इत्यादि पद्य गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि के मिश्रण का उदाहरण देने के लिए संकलित किया है। एकादश शतक ई० के भोज, क्षीरस्वामी और मम्मट ने जो उदाहरण दिये हैं, वे भट्टनारायण की प्रसिद्धि के पर्याप्त प्रमाण हैं। कश्मीर-निवासी वामन जब वंगवासी भट्टनारायण का उद्धरण देते हैं तो यही उन्हें सातवीं शताब्दी में सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

वेणीसंहार – यह छह अंकों का नाटक है। इसमें मुख्य कथानक यह है कि भीम अपनी प्रतिज्ञा

---

१. वेणीसंहार (३/४१) में पाठ है- पतितं द्रक्ष्यसि क्षितौ। सम्भव है, वामन को उपर्युक्त पाठ ही मिला हो।

के अनुसार दु:शासन और दुर्योधन को मार कर द्रौपदी की चोटी बाँधते हैं (वेणी=चोटी, संहार=सवाँरना)। इसी घटना की पूर्तिके क्रम में महाभारत की पूरी कथा इसमें दृश्य या सूच्य प्रक्रिया से वर्णित है। इसके प्रथम अंक में कृष्ण के दूत बनकर दुर्योधन की राजसभा में जाने का वर्णन है, इससे भीम बहुत कुपित हैं क्योंकि सन्धि हो जाने पर वे दु:शासन की छाती का रक्तपान करने एवं दुर्योधन की जंघाओं को तोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर पायेंगे।[१] भीम अपनी प्रतिज्ञा इस प्रकार सुनाते हैं–

> चञ्चद्भुज - भ्रमित - चण्डगदाभिघात-
> सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
> स्त्यानावनद्ध - घन - शोणित - शोणपाणि-
> रुत्तंसयिष्यति कचाँस्तव देवि भीमः ॥ (१/२१)

भीम को जब सूचना मिलती है कि दुर्योधन ने कृष्ण को बन्दी बनाने का प्रयास किया और विश्वरूप-प्रदर्शन से वे बचे तो भीम उनकी महिमा का वर्णन करते हैं। कृष्ण के अपमान से युधिष्ठिर भी कुपित होते हैं (क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते १२४)। द्वितीय अंक के आरम्भ में महाभारत-युद्ध में अभिमन्यु के मारे जाने की सूचना विष्कम्भक में मिलती है। दुर्योधन की पत्नी भानुमती अपने अनिष्ट स्वप्न के फल-शमनार्थ देवार्चन करने जाती है। दुर्योधन उसे अमंगल की आशंका से मुक्त करने के लिए अनेक कामुक चेष्टाएँ करता है। वीर में शृंगार की इस उद्भावना पर समीक्षकों ने आपत्ति की है। अङ्कान्त में अर्जुन द्वारा जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा की सूचना मिलती है। दुर्योधन जयद्रथ की माता को आश्वासन देता है।

तृतीय अंक मुख्यत: द्रोणाचार्य के छल से मारे जाने पर उनके पुत्र अश्वत्थामा के क्रोध का प्रदर्शक है। दुर्योधन कर्ण को सेनापति बना देता है जिससे अश्वत्थामा कर्ण से वाग्युद्ध में टकरा जाता है; अश्वत्थामा शस्त्र-त्याग देता है। इसी बीच दु:शासन की छाती फाड़कर भीम द्वारा उसका रक्तपान किये जाने की सूचना मिलती है। चतुर्थ अंक में यह घटना चरितार्थ होती है, दुर्योधन अपने अनुज की रक्षा करते हुए भीम के बाणों से आहत हो जाता है। अर्जुन कर्ण के पुत्र वृषसेन का वध करते हैं जिससे कर्ण दु:खी होता है। इस अंक में लम्बे समास तथा बड़े वाक्य नीरसता उत्पन्न करते हैं। महाभारत की बहुत-सी घटनाएँ इस अङ्क में समेटी गयी हैं। दुर्योधन के साथ सूत का एवं बाद में सुन्दरक का वार्तालाप ही पूरे अंक में भरा है जो नाट्यदृष्टि से विष्कम्भक के समान लगता है। नाट्यव्यापार का अभाव वस्तुत: खटकता है। पञ्चम अङ्क में कर्ण का वध हो जाता है, दुर्योधन युद्ध के लिए प्रस्तुत होता है। उसी समय धृतराष्ट्र के अभिवादनार्थ भीम और अर्जुन आते हैं। भीम और दुर्योधन का वाग्युद्ध होता है। अश्वत्थामा भी वहाँ आता है किन्तु दुर्योधन के व्यवहार से कुपित होकर चला जाता है।

---

१. इस प्रसङ्ग में भीम की ओजस्विता-पूर्ण उक्ति है–

> मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
> दु:शासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
> संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
> सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ (वेणी० १/१५)

अन्तिम अङ्क में भीम के भय से दुर्योधन सरोवर में छिपा है किन्तु सहदेव के प्रयत्न से उसका पता लग जाता है। भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध होता है। दुर्योधन का मित्र चार्वाक युधिष्ठिर को मिथ्या बात बताता है कि गदायुद्ध में भीम मारे गये और अर्जुन से युद्ध चल रहा है। युधिष्ठिर और द्रौपदी दुःख से चितारोहण की तैयारी में हैं कि भीम दुर्योधन को मारकर आ जाते हैं तथा द्रौपदी की वेणी सवाँरते हैं। सभी प्रसन्न हो जाते हैं।

महाभारत की मूलकथा में व्यापक परिवर्तन करके उसे नाटकीय बनाने का अत्यधिक प्रयास लेखक ने किया है। द्रौपदी की वेणी सवाँरने की प्रतिज्ञा नयी कल्पना है, मूलकथा में ऊरुभङ्ग की प्रतिज्ञा है। भानुमती का प्रसङ्ग भी कवि की कल्पना है। महाभारत में भानुमती की चर्चा नहीं है। तृतीय अंक के आरम्भ में प्रवेशक देकर राक्षस-राक्षसी के संवाद में युद्ध की अनेक घटनाओं की सूचना कल्पित वृत्त है। चार्वाक राक्षस को दुर्योधन के पक्ष से लाकर जो सूचनाएँ दिलायी गयी हैं वे निर्वहण-सन्धि में विस्मय के आधान के लिए हैं; इससे दृश्य-विपर्यय हो जाता है। चितारोहण का करुण प्रसंग आनन्द में परिणत होता है।

इस नाटक में नायक का प्रसङ्ग विवादग्रस्त है। युधिष्ठिर तथा भीम के बीच नायकत्व विवादित है। राजा नायक होता है किन्तु फल की प्राप्ति भी उसे ही होनी चाहिए; इसमें युधिष्ठिर को फलप्राप्ति नहीं होती है। वस्तुतः भीम इस नाटक में आद्यन्त छाये रहते हैं। वही नायक हैं। उनकी प्रतिज्ञा (उत्तंसयिष्यति कचाँस्तव देवि भीमः) से नाटक आरम्भ होता है और इसकी पूर्ति से अन्त होता है। अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं के प्रत्येक अंग में भीम मुख्य हैं। फलप्राप्ति (प्रतिज्ञा की पूर्ति) भी भीम को ही होती है। नाटक के शीर्षक में भी भीम की ही क्रिया निहित है; वही द्रौपदी की वेणी सवाँरते हैं।[1] वीररस-प्रधान नाटक में भीम ही इस रस की मूर्ति हैं; धीरोद्धत नायक के रूप में उनका ही प्रभाव दर्शकों पर अधिक पड़ता है। भीम शारीरिक शक्ति तथा आत्मविश्वास के मूर्त रूप हैं। अपने ऊपर किये गये अत्याचार को वे भूले नहीं। जिन कृष्ण की वे प्रशंसा करते हैं, सन्धि का प्रस्ताव लेकर कृष्ण के कौरवों की सभा में जाने पर वे क्षुब्ध होते हैं। वे सन्धि के विरोधी हैं (क्रुधा सन्धिं भीमो विघटयति यूयं घटयत १/१०)। शान्ति-प्रस्ताव के कारण वे गुरुओं से भी पृथक् हो जाने की बात करते हैं- अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव (१/१२)। धीरोद्धत होने पर भी भगवान् कृष्ण की वे मुक्त प्रशंसा करते हैं, वे उन्हें पूर्ण ब्रह्म मानते हैं। कवि ने भीम की दार्शनिक उद्भावना को सम्यक् अभिव्यक्ति दी है-

> आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
> ज्ञानोद्रेकाद् विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
> यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
> तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥ (१/२३)

अपने आचरण तथा ओजस्वी वाणी से भीम अत्यधिक प्रभावक नायक हैं।

नाटकीय विशिष्टता (कवि की नाट्यकला) – वेणीसंहार काव्य और नाटक का मिश्रण करने

---

१. **वेणीसंहार ६/४१ के बाद। भीमसेन:**- भवति, संयम्यतामिदानीं धार्तराष्ट्रकुलकालरात्रिः दुःशासनविलुलितेयं वेणी।

वाले संस्कृत रूपकों में अन्यतम है।[1] गौडी रीति में पाण्डित्य का प्रकर्ष दिखाने वाले भट्टनारायण का अनुकरण मुरारि आदि अनेक नाट्यकारों ने किया। नाट्यशास्त्र में विहित लक्षणों तथा सिद्धान्तों का अनुसरण पद-पद पर करने के कारण वेणीसंहार रूढ़िग्रस्त है। यद्यपि इसके नाट्यशास्त्रीय महत्त्व को परवर्ती युग में बहुत सराहा गया किन्तु यह उत्कृष्ट कोटि का नाटक नहीं कहा जा सकता। कहीं-कहीं रोचक तथा सरल-सरस संवाद देने पर भी भट्टनारायण यदा-कदा समासबहुल, नीरस और लम्बे वाक्यों के अस्वाभाविक संवाद भी प्रस्तुत करते हैं। महाभारत की पूरी कथा की प्रस्तुति के कारण कार्यव्यापार अवरुद्ध हो गया है; नाटकीय नियम की पूर्ति के लिए वीर रस के बीच शृङ्गार का समावेश करके कवि ने रसभङ्ग (दोष) कर दिया है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि लेखक नाट्यशास्त्र का विद्वान् है जिसने कथानक का संघटन यान्त्रिक रूप में किया है। चतुर्थ अंक में सूच्य कथानक का प्राचुर्य है जो विष्कम्भक का विषय है, फिर भी इसे अंक कहा गया है।

चरित्र-चित्रण एवं रसोद्भावन की दृष्टि से फिर भी यह नाटक बहुत प्रभावशाली है। विशाखदत्त के समान भट्टनारायण ने पात्रों का निवेश प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में (conflict of characters) किया है। भीम और दुर्योधन, कर्ण और अश्वत्थामा, द्रौपदी और भानुमती – ये परस्पर द्वन्द्व-रूप में चित्रित हैं। किन्तु ये पात्र कठपुतली नहीं हैं जैसा कि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के पात्रों को बनाया है; प्रत्युत ये सभी स्वाधीन विचार वाले अत्यन्त ओजस्वी हैं। पात्रों की दृष्टि से वस्तुतः यह अद्भुत नाटक है। युद्धवीर रस का ऐसा सुन्दर उद्भावन संस्कृत नाटकों में अन्यत्र नहीं है। इसके अनेक पात्र इस रस के आलम्बन हैं जैसे – भीम, दुर्योधन, अश्वत्थामा और कर्ण। भीम धीरोद्धत, दृढप्रतिज्ञ तथा आदर्श वीर है; किन्तु दुर्योधन कूटनीतिज्ञ, हठी, मित्रवत्सल तथा विलासी है। अश्वत्थामा वीर होने पर भी अविवेकी और अस्थिरचित्त है, उसका प्रतिद्वन्द्वी कर्ण शूर, साहसी, स्वाभिमानी तथा दैन्यरहित होते हुए मित्र के प्रति समर्पित है। इस नाटक में प्रधान वीररस के अतिरिक्त शृङ्गार रौद्र, करुण, बीभत्स और शान्तरस भी अंग के रूप में आये हैं। सर्वत्र लेखक की तन्मयता प्रशंसनीय है।

भट्टनारायण शैली के धनी हैं। सामान्यतः इस नाटक में ओज गुण का प्रयोग है किन्तु आवश्यकतानुसार सभी रसों में समान आदर पानेवाला प्रसाद गुण भी हृदयावर्जक है। जैसे यह प्रसिद्ध श्लोक इस नाटक में आशा के महत्त्व को प्रकट करता है–

> **गते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते ।**
> **आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ॥ (५/२३)**

तृतीय अङ्क में अपने पिता के छलपूर्वक मारे जाने पर उत्पन्न अश्वत्थामा का क्रोध व्यक्त करने के लिए कवि ने इसी प्रसाद-गुण का प्रयोग किया है। उसकी उक्तियों में अनेकत्र उद्धृत यह पद्य रौद्र-रस का उद्भावन करने में समर्थ है–

> **कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं**
> **मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।**

१. Hist. Sans. Lit (Dasgupta & De), Calcutta Univ. (1977), p.276—The **Venisamhara** is one of the earliest and best examples in Sanskrit of that peculiar kind of half-poetical and half-dramatic composition which may be called the declamatory drama.

नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ (३/२४)

अर्थात् मानवरूप में वर्तमान पशु, मर्यादा-हीन तथा अस्त्र-शस्त्र उठाये हुए जिन आप लोगों के द्वारा यह महापाप किया गया है, समर्थित हुआ है अथवा देखा भी गया है; उन श्रीकृष्ण के साथ भीम और अर्जुन-सहित आप सबके रक्त, मज्जा (चर्वी) तथा मांस से अभी मैं दिशाओं को बलि देता हूँ। यहाँ अश्वत्थामा का क्रोध पराकाष्ठा पर है।

शृङ्गार-रस के निरूपण में कवि ने माधुर्य-गुण का भी सफल प्रयोग किया है। निम्नाङ्कित पद्य में द्रुतविलम्बित-छन्द में ललित पदों का निवेश करते हुए दुर्योधन की प्रणय-याचना अपनी पत्नी भानुमती (स्वकीया नायिका) के प्रति प्रस्तुत की गयी है-

कुरु घनोरु पदानि शनैःशनैरयि विमुञ्च गतिं परिवेपिनीम् ।
सुतनु बाहुलतोपरिबन्धनं मम निपीडय गाढमुरःस्थलम् ॥ (२/२१)

गौडी-शैली तथा ओज गुण से विभूषित निम्नाङ्कित पद्य में युद्ध की घोषणा करने वाले दुन्दुभि (भेरी)-नाद का वर्णन है-

मन्थायस्तार्णवाम्भः- प्लुतकुहर-चलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णा-क्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनाद-प्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताड्यतेऽयम् ॥ (१/२२)

अर्थात् मन्थन से क्षुब्ध सागर के जल से व्याप्त गुफाओं वाले घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, 'लाख डमरुओं और दस सहस्र नगाडों पर किये गये प्रहारों के होने पर' (कोणाघातेषु), गरजती हुई प्रलयकालिक मेघ-घटाओं की परस्पर टकराहट के समान भयंकर, द्रौपदी के कोप की सूचक, कुरुवंश के विनाश के अपशकुन-स्वरूप प्रचण्ड झंझावात के समान तथा हमारे सिंह-गर्जन की प्रतिध्वनि के सदृश यह भेरी किसके द्वारा बजायी जा रही है? भीम की इस उक्ति में ओजस्विता का प्राचुर्य है। ऐसी रचनाएँ बाण और मयूर के द्वारा इसी छन्द (स्रग्धरा) में प्रवर्तित हुई थीं। परवर्ती कवियों और नाटककारों को यह गौडी शैली बहुत रुची।

वेणीसंहार के कुछ प्रसंगों में करुण-रस का भी मर्मस्पर्शी समावेश है। चार्वाक से भीम की मृत्यु का मिथ्या-वृत्तान्त सुनकर यधिष्ठिर रोते हुए कहते हैं कि हे अनुज, तुमने मेरे बाद माता का स्तनपान किया, मेरा उच्छिष्ट खाया और यज्ञों में भी मेरे बाद ही सोमरस पिया। अब तुम मुझसे पहले तर्पण का जल कैसे पीने जा रहे हो (निवापाम्भः पूर्वं पिबसि कथमेवं त्वमधुना ६/३१)?

वीररस-प्रधान नाटक में भी रोचकता का समावेश करने, अर्थानुकूल भाषा-शैली के प्रयोग एवं पात्रों के ओजस्वी चित्रण के कारण इस नाटक के रचयिता भट्टनारायण संस्कृत नाट्यजगत् में अमर हैं।

नाट्यकार भवभूति

संस्कृत रूपककारों में कालिदास के अनन्तर श्रेष्ठता की दृष्टि से भवभूति का ही स्थान है।

दोनों ने तीन-तीन रूपक लिखे हैं जो सबके सब उपलब्ध हैं। कालिदास ने अपने रूपकों की प्रस्तावनाओं में आत्म-गोपन किया है जबकि भवभूति ने अपना अच्छा परिचय अपने रूपकों के आरम्भ में दिया है। विद्वानों और समीक्षकों ने भवभूति का विश्लेषण-अनुशीलन भी पर्याप्त किया है।[1] भवभूति को युगों से प्रशस्तियों में स्मरण किया गया है। राजशेखर ने इन्हें वाल्मीकि का अवतार कहा है; रामकथा-विषयक नाटक की रचना स्वयं भी करने से उन्होंने अपने आपको भवभूति का दूसरा रूप कहने में गर्व का अनुभव किया है–

बभूव वल्मीकभव: पुरा कविस्तत: प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थित: पुनर्यो भवभूतिरेखया, स वर्तते सम्प्रति राजशेखर:॥

(बालरामायण १/१६)

सुभाषित ग्रन्थों में भवभूति के द्वारा उद्भावित करुणरस की बहुत प्रशंसा हुई है। यह भी कहा गया है कि अन्य कवियों में जो भी विशेषताएँ मिलें किन्तु अनिर्वचनीय आनन्द तो भवभूति ही देते हैं – **तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते।** महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छन्दोविषयक ग्रन्थ में भवभूति-प्रयुक्त शिखरिणी-छन्द की प्रशंसा की है कि यह शिखरिणी अबाघ गति से बहने वाली नदी के समान है तथा घन-सन्दर्भ में (मेघों के मिलने पर, गहन शब्दों के प्रयोग में) मयूरी के समान चकित होकर नृत्य करती है–

भवभूते: शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

(सुवृत्ततिलक ३/३३)

गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती (पद्य ३६) में भवभूति की वाणी को पर्वतीय भूमि (भूधर-भू:, अन्य अर्थ-पार्वती) के समान कहा है जिनके करुणोद्भावन में ग्रावा (पाषाण) का रोदन आश्चर्य नहीं है।[2] इसमें उत्तरामचरित (१/२८) के 'अपि ग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' को निर्दिष्ट किया गया है। सोड्ढल ने भवभूति को 'काव्यमार्ग का सार्थवाह' कहा है जिनका अनुकरण लोग करते हैं। आधुनिक समीक्षकों ने भी उनकी नाट्यकला, कवित्व-शक्ति, अर्थ-विन्यास तथा शैली की प्रशंसा की है।

---

१. भवभूति के अनुशीलनार्थ देखें – (क) वा. वि. मिराशी-**भवभूति**, राजपाल, दिल्ली, १९७२ (ख) डॉ. अयोध्या प्रसाद सिंह – **भवभूति और उनकी नाट्यकला**, मोतीलाल. दिल्ली १९६९ ई. (ग) रमा पाण्डेय – **महाकवि भवभूति**, साहित्य रत्नभण्डार, आगरा, १९६१ ई. (घ) डॉ. गंगासागर राय – **महाकवि भवभूति**, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५ ई. (ङ) डॉ. व्रजवल्लभ शर्मा – **भवभूति के नाटक**, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७३ ई. (च) S.V. Dixit — **Bhavabhuti, His Life and Literature,** Belgaum, 1958. (छ) R.D. Karmarkar — **Bhavabhuti**, Karnatak Univ., Dharwad, 1963. इत्यादि। पटना विश्वविद्यालय से मेरे निर्देशन में 'भवभूति का शास्त्रगत पाण्डित्य' विषय पर शोधकार्य हो चुका है (१९८९ ई.)। राँची विश्वविद्यालय से 'भवभूति के रूपकों का सांस्कृतिक अध्ययन' पर पीएच्.डो. की उपाधि मिली है।

२. भवभूते: सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥

भवभूति का परिचय – इनके रूपकों में मालतीमाधव की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि ये विदर्भ-प्रदेश के पद्मपुर के निवासी थे। डॉ० मिराशी के अनुसार नागपुर – विलासपुर लाईन में आमगाँव स्टेशन के निकट आधुनिक पद्मपुर के रूप में प्रसिद्ध है। यह प्राचीन वाकाटक-नरेशों की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध नगर था। यहाँ अनेक प्राचीन अवशेष मिलते हैं तथा भवभूति के रूपकों में वर्णित भयंकर वन भी आसपास है। भवभूति काश्यप गोत्र के तैत्तिरीय शाखाध्यायी ब्राह्मणों के परिवार में उत्पन्न हुए थे। अपने कुल की प्रशंसा इन्होंने बाण के समान मालतीमाधव में की है। वेदपाठ, शास्त्रानुशीलन, यज्ञानुष्ठान, व्रतपालन तथा तपश्चरण इनके कुल की विशिष्टता थी। इन्होंने पितामह (भट्टगोपाल), पिता (नीलकण्ठ) एवं माता (जतुकर्णी) के नाम लिये हैं। इनका अपना नाम श्रीकण्ठ था (श्रीकण्ठपदलाञ्छन:-उत्तर०, मालती०)। मिराशी का मत है कि श्रीकण्ठ की उपाधि उन्हें मिली थी; उनका अपना नाम 'भवभूति' ही था। प्राप्त उपाधि को ही कविगण 'लाञ्छन' 'विभूषण' आदि कहकर प्रकट करते थे।

भवभूति ने शास्त्रीय ज्ञान व्यापक रूप से प्राप्त किया था। वेदों, दर्शनों और कर्मकाण्ड के ये प्रमुख विद्वान् थे। इनके रूपकों में राजशास्त्र, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट संकेत मिलते हैं। अपने को इन्होंने तीनों रूपकों में 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' (अर्थात् व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्र का विद्वान्) कहा है। मालतीमाधव में इन्होंने कहा है कि वेद, उपनिषद्, सांख्य-योग आदि के ज्ञान का कोई उपयोग नाटक में नहीं है; पाण्डित्य एवं कवित्व के सूचक तो प्रौढित्व, वाणी की उदारता और अर्थगौरव ही हैं।[1] इन विशिष्टताओं से युक्त भवभूति ने तीन रूपकों की क्रमश: रचना की – मालतीमाधव (शृंगाररस का प्रकरण), महावीरचरित (वीररस का रामायणाश्रित नाटक) तथा उत्तररामचरित (करुण रस का नाटक)।[2] इनमें क्रमश: क्लिष्टता कम होती गयी है। इन तीनों रूपकों का अभिनय 'कालप्रियनाथ' के यात्रोत्सव में होने का निर्देश इनकी प्रस्तावना में है। यह उत्सव कहाँ होता था, कालप्रियनाथ किस स्थान में है – इस पर विवाद है। 'कालप्रियनाथ' भगवन् शिव का नाम है; अत: कुछ लोगों ने महाकाल के नगर उज्जैन में भवभूति के रूपकों के अभिनय का सुझाव दिया है। कुछ लोग भवभूति के अपने नगर पद्मपुर में ही कालप्रियनाथ-मन्दिर का मत रखते हैं। तीसरा मत श्रीमाधव वेंकटेश लेले का है जिसका प्रबल समर्थन मिराशी ने किया है। तदनुसार कानपुर-झाँसी के बीच स्थित 'कालपी' ही कालप्रियनाथ का स्थान है। यहाँ विशाल सूर्यमन्दिर था जहाँ यात्रा के लिए दूर-दूर से लोग आते थे, उसी यात्रोत्सव में भवभूति के रूपकों का प्रथम अभिनय हुआ था। इस नगर में यह बहुत दिनों तक रहे थे। इनके बाद भी इस नगर का वैभव वर्तमान था, यमुना-तट पर अभी कलपदेव का टीला विद्यमान है। इसी नगर में भवभूति की कीर्ति सुनकर कान्यकुब्ज (कन्नौज, कालपी से ७५ मील उत्तर) के नरेश यशोवर्मा ने इन्हें अपनी राजसभा में बुलाया था।

यशोवर्मा स्वयं कवि और नाटककार थे। इनके कई स्फुट पद्य सुभाषित-ग्रन्थों में संकलित

---

१. मालतीमाधव १/८ यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि तत: कश्चिद् गुणो नाटके ।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययो: ॥

२. कुछ लोग महावीरचरित को इनकी प्रथम रचना मानते हैं; सूर्यकान्त, मिराशी तथा काणे के यही विचार हैं।

हैं। इन्होंने छह अंकों में 'रामाभ्युदय' नामक नाटक भी लिखा था।[1] यह नाटक अभी अनुपलब्ध है किन्तु साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसके व्यापक उद्धरण दिये गये हैं। 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इसी नाटक का पद्यांश है। यह स्वाभाविक है कि गुणग्राहक यशोवर्मा ने अपनी राजसभा में भवभूति को मान प्रदान किया हो। इसकी चर्चा कल्हण ने राजतरङ्गिणी (४/१४४) में की है।

भवभूति का काल – बाण के समान ही भवभूति के काल-निरूपण में विशेष कठिनाई नहीं है। इनके काल की पूर्वापर-सीमा का निर्धारण हो सकता है। बाण के हर्षचरित में अनिर्दिष्ट भवभूति ६५० ई० के पश्चात् ही होंगे। दूसरी ओर वामन (८०० ई०) ने काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में दो स्थानों पर भवभूति के दो पद्यों के उद्धरण दिये हैं – 'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुः' (काव्या० १/२/१२) महावीरचरित (१/५४) का पद्य है तथा 'इयं गेहे लक्ष्मीः' (काव्या० ४/३/६) उत्तररामचरित (१/३८) में है। अतः भवभूति ७५० ई० के पूर्व ही होंगे।

राजतरङ्गिणी में[2] कहा गया है कि कश्मीर-नरेश ललितादित्यने यशोवर्मा को पराजित कर उनसे सन्धि कर ली थी यशोवर्मा की राजसभा में कवि वाक्पतिराज ('गठडवहो' के लेखक) तथा भवभूति रहते थे। यशोवर्मा स्वयं भी कवि थे। वाक्पतिराज प्रायः ७३०-७५० ई० के बीच यशोवर्मा के आश्रय में थे उन्होंने अपने प्राकृत-काव्य के एक पद्य (सं. ७९९) में भवभूति की प्रशंसा की है–

भवभूतिजलनिधि-निर्गत-काव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥

गउड़वहो (पद्य ८२७-३१) में यशोवर्मा के राज्यकाल के एक खग्रास सूर्यग्रहण का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् डॉ० याकोबी ने इस ग्रहण का समय १४ अगस्त ७३३ ई० सिद्ध किया है। गउडवहो की रचना के काल (७४० ई०) तक भवभूति की ख्याति पर्याप्त हो चुकी थी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि भवभूति का आविर्भाव-काल ६८० ई० से ७५० ई० के बीच होगा।[3]

भवभूति की नाट्यकृतियाँ

(क) मालतीमाधव[4]

यह दस अंकों का प्रकरण है जिसमें विदर्भराज के मन्त्री के पुत्र माधव तथा पद्मावती-नरेश के मन्त्री की पुत्री मालती की प्रणयकथा का नाटकीय निरूपण है; इसके साथ माधव के मित्र मकरन्द और पद्मावती-नरेश के नर्मसचिव नन्दन की बहन मदयन्तिका (मालती की सखी) की

१. **भावप्रकाश**, पृ. २३७ (बड़ौदा)-षडङ्कं दृश्यते लोके रामाभ्युदयनाटकम्।

२. **राजतरंगिणी** ४/१४४ कविर्वाक्पतिराजश्री-भवभूत्यादि-सेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

३. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने भवभूति का उक्त जीवन-काल माना है। संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ३९७।

४. इस प्रकरण का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक अनुशीलन अपने पीएच्०डी० कार्य के लिए डॉ० मारुतिनन्दन पाठक ने किया है (पटना विश्वविद्यालय, १९८८ ई०)।

भी प्रणयकथा चलती है। अनेक संकटों के बाद इन दोनों के प्रणय विवाह में परिणत हो जाते हैं। बृहत्कथा पर कथानक आश्रित है क्योंकि कथासरित्सागर (१३/१) में वर्णित मदिरावती की कथा से इसका साम्य है। इसका कथानक सामाजिक है किन्तु मृच्छकटिक से सदृश राजमार्ग पर घटित होने वाली घटनाओं का संग्रह इसमें नहीं है। भवभूति इसमें राजपरिवार से सर्वथा मुक्त नहीं हैं किन्तु अपने समाज की धार्मिक-आभिचारिक क्रियाओं का वर्णन उन्होंने अवश्य किया है। नायक-नायिका के प्रणय में बाधा होने पर भीन्यासिनी कामन्दकी दोनों की सहायता करती है। मदयन्तिका पर सिंह का आक्रमण, मकरन्द द्वारा सिंह का मारा जाना, माधव का सिद्धि-प्राप्ति के लिए श्मशान में जाना, तान्त्रिक अघोरघण्ट द्वारा मालती को बलि देने की तैयारी, माधव द्वारा अघोरघण्ट का वध, मालती-वेषधारी मकरन्द का पति-रूप में आये नन्दन की पिटाई करना, कपालकुण्डला (तान्त्रिक अघोरघण्ट की शिष्या) द्वारा मालती का अपहरण, सौदामिनी द्वारा उसकी रक्षा – ये सब विचित्र तथा रोमाञ्चक घटनाएँ इसमें आयी हैं जो सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० के विश्वासों के अनुरूप हैं। इस प्रकरण में भवभूति ने अपनी प्रकृति के अनुरूप गम्भीर-पक्ष का आश्रय लिया है, हास्य या साधारण पक्ष का नहीं।

इस प्रकरण में अनेक सामाजिक तथ्य अनावृत हुए हैं जैसे- संन्यासियों का प्रपञ्च, नरबलि-प्रथा, पुरुष का स्त्री-रूप धारण करना, भाग्य पर अधिक आश्रित होना इत्यादि। इस प्रकरण की कथा उलझी है, कार्यव्यापार में शिथिलता है, दशकुमारचरित के समान रोमाञ्चक घटनाओं का बाहुल्य है। लम्बे समासों और जटिल शब्दों के भार से वाक्यों में प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। दण्डक-जैसे लम्बे छन्द का प्रयोग भी इसमें किया गया है फिर भी कहीं-कहीं भवभूति ने सहज काव्य के सौन्दर्य की भी अभिव्यक्ति इसमें की है। माधव अपनी प्रियतमा मालती की बलि देने को तत्पर तान्त्रिक अघोरघण्ट को रोकते हुए कहता है-

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जन-नयन-निर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥ (५/३०)

नीतिश्लोक के तुल्य निम्नांकित पद्य में भवभूति क्रिया में सफलता के लिए आवश्यक गुणों की सूची देते हैं- शास्त्रज्ञान, प्रत्युत्पन्नमतित्व, प्रगल्भता, गुणों से भरी वाणी, अवसर की पहचान तथा प्रतिभा से काम लेना-

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः, प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु॥
(मालती० ३/११)

(ख) महावीरचरित

यह रामायण के छह काण्डों पर (बालकाण्ड से युद्धकाण्ड तक) आश्रित रामकथा का सात अङ्कों में प्रदर्शन करने वाला नाटक है। तदनुसार सीता-विवाह से लेकर राम-राज्याभिषेक तक की घटनाएँ इसमें वर्णित हैं। भवभूति के पूर्व रामकथा के इतने विस्तृत प्रसंगों को किसी ने नाट्य-

रूप में प्रस्तुत नहीं किया था; अत: सात अङ्कों में रामकथा की घटनाएँ कसी हुई हैं जैसे- विश्वामित्र के आश्रम में राम-लक्ष्मण का आगमन, ताटका-सुबाहु आदि राक्षसों का वध, राम विवाह, परशुराम-प्रसंग, रामवनगमन, खरदूषण-वध, सीताहरण, वालिवध, सीतान्वेषण, राम-रावण-युद्ध, रावण-वध, राम का अयोध्या लौटना, राज्याभिषेक। भवभूति ने नाट्य-कौशल से इन घटनाओं के देशकाल आदि में आवश्यक परिवर्तन करके उन्हें एक नाटकीय सूत्र में बाँधा है, इससे नाटक में प्राण-संचार हुआ है। रामकथा से परिचित लोगों को ये परिवर्तन खटक सकते हैं जैसे- विश्वामित्र के आश्रम में राम-सीता और लक्ष्मण-ऊर्मिला की भेंट होना। रावण का दूत वहीं सन्देश लेकर आता है कि राक्षसराज ने सीता से विवाह की इच्छा प्रकट की है। शिवधनुष का भंग भी वहीं होता है।

भवभूति ने रावण के मन्त्री माल्यवान् की कूटनीति पर बहुत बल दिया है। उसकी कूटनीति से ही परशुराम को राम के विरुद्ध उत्तेजित किया जाता है और वाली भी राम के शत्रु के रूप में आता है। परशुराम के मिथिला-आगमन की एवं राम द्वारा वाली के वध की प्रासंगिकता की ऐसी मौलिक कल्पना भवभूति की ही है। राम आत्मरक्षा के लिए वाली को मारते हैं, सुग्रीव की सहायता के लिए नहीं। इसी प्रकार भवभूति शूर्पणखा को दशरथ के प्रासाद में मन्थरा के रूप में उपस्थापित करते हैं, वह भी माल्यवान् की कूटनीति का अंग है। इसमें राम और परशुराम का वाग्युद्ध दो-दो अंकों में (दो तथा तीन में) वर्णित है। चतुर्थ अंक में मन्थरा के रूप में शूर्पणखा राम को कैकेयी का पत्र देती है जिसमें वनवास का आदेश है। पञ्चम अंक में जटायु और सम्पाति के संवाद में राम का वन-कार्य वर्णित है। बाद में सीता के हरण से लेकर सुग्रीव से मैत्री तक के वृत्तान्त रखे गये हैं।

इस रूपक में राम को महावीर दिखाया गया है किन्तु रावण की कूटनीति की असफलता में राम के पौरुष से अधिक उनका भाग्य काम करता दिखाया गया है। इसमें कवित्व का प्रदर्शन अधिक है, नाटकीयता विस्तृत आयाम के कारण बाधित हुई है; न पात्रों के चरित्रों का उचित विकास हुआ है, न मनोभावों का ही यथेष्ट चित्रण है। अनावश्यक रूप से विस्तृत प्रसंग कवित्व के उद्भावन के लिए हैं। वीररस प्रधान इस नाटक में ओजोगुणमयी गौड़ी शैली का प्राचुर्य है किन्तु कुछ पद्य बहुत सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति के सूचक हैं। दशरथ परशुराम (जामदग्न्य) के प्रति विनय दिखाते हुए कहते हैं-

का ते स्तुतिः स्तुतिपथादतिवृत्तधाम्नः
किं दीयतामविकलक्षितिदायिनस्ते ।
शान्तस्य किं परिजनेन मुनेस्तथापि
पुत्रैः समं दशरथोऽद्य वशंवदस्ते ॥ (४/२९)

अर्थात् स्तुति की सीमा से ऊपर बढ चुके प्रताप वाले आप तपस्वी की स्तुति क्या की जाये? सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने वाले आप को दिया भी क्या जाये? शान्त (नि:स्पृह) मुनि को परिजन (परिवार या दासादि) की क्या आवश्यकता है? फिर भी यह दशरथ अपने पुत्रों के साथ आपका वशंवद (दास) है।

कहीं-कहीं अर्थगौरव-पूर्ण संवाद भी हृदयावर्जक हैं जैसे-

रामसुग्रीवौ – को हि पूज्यस्य गुरोर्वचनं न बहु मन्यते?

विभीषण: – अहो विस्तरस्थानेऽपि धर्मोपत्तिविशुद्धः संक्षेपः।[1]

वीर रस के अनेक प्रसंग इसमें आद्योपान्त भरे हैं। परशुराम के प्रसंग में रौद्र, विश्वामित्र-आश्रम में सीता-राम या लक्ष्मण-ऊर्मिला के प्रसंग में शृंगार, ताटका-वर्णन में बीभत्स, धनुष-टंकार में अद्भुत तथा लंका में वीरों के मारे जाने पर विलाप में करुण – ये रस भी इसमें यथास्थान उद्भावित हैं। कहा जाता है कि भवभूति ने पञ्चम अंक के ४६ वें पद्य तक ही इसकी रचना की थी। दक्षिण और उत्तर भारतीय संस्करणों में इसके बाद पृथक्-पृथक् पाठ हैं।[2]

(ग) उत्तररामचरित

यह भवभूति के रूपकों में श्रेष्ठ है, कवित्व तथा नाट्यकौशल दोनों का प्रकर्ष इसमें प्रकट किया गया है। भवभूति के गम्भीर स्वभाव का उत्कर्ष इसमें मिलता है। पूरे नाटक में राम का चरित्र शील, सत्य और शक्ति का उत्स बनकर प्रकाशित हुआ है। रामायण के उत्तरकाण्ड के सीता-निर्वासन के कथानक पर यह आश्रित है। राम लोकाराधन के लिए स्नेह, दया और सुख की मूर्ति अपनी प्रियतमा सीता का परित्याग कर देते हैं, किन्तु भीतर-ही भीतर असह्य वेदना से दग्ध होते रहते हैं; उनके समस्त व्यापार केवल कर्तव्य-निर्वाह के लिए होते हैं। राम का जीवन एकमात्र करुणरस के फलक पर विभिन्न रसों के चित्र अङ्कित करता है – एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् (३/४७)। सीता-निर्वासन की परिस्थितियों में राम का उत्तरदायित्व समुचित परिप्रेक्ष्य में दिखाकर कवि ने उनके चरित्र को कलङ्कमुक्त तो किया ही है, उन्हें एकान्त निर्जन वन में अपनी भावना के प्रकाशन का भी अवसर दिया है। करुणरस-प्रधान नाटक में भी आशावाद की सुखद किरणों की झलक यत्र-तत्र देते हुए कवि ने रामायण की दुःखान्त कथा के प्रतिकूल नाटक को सुखान्त बनाया है।

यह सात अङ्कों का नाटक है। प्रथम अङ्क में घटनाओं के संयोजन में कवि ने उत्कृष्ट कला की अभिव्यक्ति की है। राज्याभिषेक के बाद राम राजा के रूप में अपने कर्तव्यपालन में अत्यधिक निरत हैं। उनके सभी गुरुजन (वसिष्ठ तथा माताएँ) ऋष्यशृङ्ग के द्वादशवर्षिक सत्र में चले गये हैं; वसिष्ठ का संदेश जब राजकर्तव्य के पालन के सम्बन्ध में राम को मिलता है तो वे कह उठते हैं–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥ (उत्तर० १/१२)

सीता इस समय पूर्णगर्भा है, उसके साथ राम चित्रवीथी के दर्शनार्थ जाते हैं। इस चित्रवीथी में राम के जीवन से सम्बद्ध चित्रों को प्रदर्शित किया गया है– विश्वामित्र के आश्रम-प्रसंग से आरम्भ करके सीता की अग्निपरीक्षा तक के अनेक चित्र इसमें हैं। प्रत्येक चित्र को देखकर राम की प्रतिक्रिया होती है। वे सीताहरण के बाद के चित्रों को देख नहीं पाते। उन्हें लगता है कि पुनः

---

१. **महावीरचरित** ५/५९ के पूर्व। इस प्रसंग में वाली का मृत्युकालिक भाषण बहुत मार्मिक है, ५/६१ के पूर्व।

२. डॉ० वा० वि० मिराशी – **भवभूति**, पृ० ११७।

सीता-वियोग वस्तुत: आ गया हो। आगे चलकर यही होता है। सीता थककर उनकी गोद में सो जाती है, राम उसके प्रति अपने आकर्षण का प्रकाशन कई सुन्दर पद्यों में करते हैं। एक पद्य का अन्त है– किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह: (१/३८)। इसी बीच प्रतीहारी आकर कहती है – देव, उपस्थित:। राम को 'विरह: उपस्थित:' की प्रतीति से घबराहट हो जाती है। इस प्रकार प्रथम अंक में बार-बार सीता-विरह का प्रच्छन्न संकेत मिलता है। अन्तत: गुप्तचर दुर्मुख उपस्थित होकर राम को नगर और ग्रामों में फैले सीतापवाद का समाचार देता है। राम सीता के निर्वासन का कठोर निर्णय लेते हैं, उन्हें रोकने वाला कोई गुरुजन भी उस समय नहीं है। वे भारी मन से लक्ष्मण को आदेश देते हैं।

द्वितीय अंक से जो घटनाएँ उपस्थापित हैं वे प्रथम अंक के सीतानिर्वासन के बारह वर्षों के बाद की हैं। सीता के दो पुत्रों (लव-कुश) को वाल्मीकि के आश्रम में शिक्षा मिलती है। इसी बीच राम ने अश्वमेध-यज्ञ आरम्भ किया है, सीता की स्वर्णप्रतिमा बनाकर सहधर्मिणी के रूप में रखी। राम शम्बूक नामक शूद्रमुनि के वध के लिए दण्डकारण्य जाते हैं, उसे मरने पर दिव्य पुरुष का रूप मिलता है। दोनों दण्डकारण्य की भयावह प्रकृति का काव्यात्मक वर्णन करते हैं। तृतीय अंक इस नाटक का श्रेष्ठ स्थल है। इसमें राम पञ्चवटी में पुन: आकर चिरपरिचित दृश्यों को देखते हैं। सीता भी गंगा के प्रसाद से अदृश्य-रूपा बनकर राम के विभिन्न मनोभावों और कारुणिक व्यापारों का सद्य: अनुभव करती है। उसे सन्तोष होता है तथा राम के प्रति मन में बना कलुष निकल जाता है। राम दो बार मूर्छित भी हो जाते हैं, सीता का स्पर्श ही उन्हें पुनर्जीवन देता है। छाया-रूप सीता की उपस्थिति के कारण इस अङ्क को 'छायाङ्क' कहा जाता है। राम और सीता के मनोभावों की यहाँ सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है।

चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम का दृश्य है जहाँ वसिष्ठ, अरुन्धती, कौसल्या, जनक आदि का आगमन होता है। लव को कौसल्या विस्मयपूर्वक देखती है, वह वाल्मीकिकृत रामायण-कथा का परिचय देता है। तुरत वह राम के अश्वमेध यज्ञ में छोड़ गये अश्व को पकड़ने के लिए प्रस्थान करता है। पञ्चम अङ्क में लव और चन्द्रकेतु (लक्ष्मण का पुत्र) का युद्ध होता है। इसमें वीररस के संवाद हृदयावर्जक हैं। षष्ठ अंक के विष्कम्भक में दोनों वीरों के युद्ध का रोमाञ्चक वर्णन है। राम का आगमन होता है जिससे दोनों युद्ध बन्द कर देते हैं; कुश भी इसी बीच आता है। राम का अनुमान है कि ये दोनों (लव-कुश) सीता के ही पुत्र हैं किन्तु वे दोनों राम के प्रश्नों का उत्तर उदासीन होकर देते हैं। सप्तम अङ्क को सुखान्त बनाने के लिए कवि ने वाल्मीकि-रचित राम-विषयक नाटक के अभिनय की कथा कल्पित की है। गंगातीर पर इस नाटक का अभिनय अप्सराओं के द्वारा होता है; राम और उनकी समस्त प्रजा आमन्त्रित है। इस 'गर्भनाटक' में सीतानिर्वासन से लेकर लव-कुश के जन्म तक की कथा का अभिनय होता है; इन शिशुओं को स्तन्यत्याग के बाद गंगा वाल्मीकि के आश्रम में देने का वचन देती है और पृथ्वी सीता से तब तक के लिए उनके पालन का अनुरोध करती है। गर्भनाटक के बाद राम मूर्छित हो जाते हैं। सीता पुन: आकर राम की मूर्छा दूर करती है; राम का सीता एवं लव-कुश से समागम हो जाता है। गर्भनाटक के द्वारा सीता के चरित्र को सब की दृष्टि में उठाया गया है और नायक का कल्याण दिखाकर नाटक को सुखान्त बनाया गया है।

भवभूति ने करुण-रस-मूलक नाटक की रचना के लिए सीता-राम के जीवन के इस

कारुणिक प्रसङ्ग को चुना। रामायण तथा पद्मपुराण (पाताल खण्ड, १-६८) की रामकथा को नाटकीय उद्देश्य के लिए यत्र-तत्र परिवर्तित करके लेखक ने इस नाटक की रचना की। कथानक में चित्रदर्शन, गंगा-प्रवाह में ही सीता का प्रसव होना, दूध छोड़ने के बाद से ही लव-कुश का वाल्मीकि के आश्रम में पलना, सम्पूर्ण तृतीय अंक का छाया-दृश्य, चतुर्थ अंक की कथा (वाल्मीकि के आश्रम में कौसल्या, जनक आदि का आगमन), चन्द्रकेतु और लव का प्रसंग, राम का स्नेह-प्रदर्शन, गर्भनाटक का अभिनय, अरुन्धती तथा जनमत के आदेश से सीता का निर्दोष प्रमाणित होना एवं राम का उसे स्वीकार करना – ये सब कविकल्पित घटनाएँ हैं। पात्रों को तथा कथा के ढाँचे को मूलकथा से लेकर भवभूति ने सबकुछ नये रूप में प्रस्तुत किया है।

नाट्यकला – अपने तीनों रूपकों की अपेक्षा उत्तररामचरित में भवभूति को नाट्य तथा कवित्व दोनों के उत्कर्ष की अधिक प्राप्ति हुई है। जैसे कालिदास को अभिज्ञानशाकुन्तल के कारण नाट्यजगत् में उत्कृष्ट माना जाता है वैसे ही भवभूति इस नाटक के सन्दर्भ में अमर हैं– **उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।** इसके भरतवाक्य में उन्होंने कहा है–

> **तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः**
> **शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥** (७/२०)

तदनुसार शब्दब्रह्मवेत्ता भवभूति की प्रज्ञा यहाँ परिपक्व है, इस नाट्यवाणी की समीक्षा विद्वान् लोग करें। प्रस्तावना में भी ऐसी ही वाग्वश्यता का उल्लेख उन्होंने किया है–

> **यं ब्रह्माणमियं देवी वाग् वश्येवानुवर्तते ।**
> **उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥** (१/२)

ऐसे वश्यवाक् कवि भवभूति का उत्तररामचरित करुण कथावस्तु की प्रस्तुति, घटनाओं के संयोजन, आवश्यकतानुसार प्रकृति-वर्णन, मार्मिक चरित्र-चित्रण, सहज ग्राह्य संवाद, मनोभावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति, काव्यसौन्दर्य तथा रसों के मनोरम उद्भावन के कारण अद्भुत प्रभाव डालता है और यही किसी नाटक की सफलता का रहस्य है। पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य दोनों प्रकार के समीक्षकों की दृष्टि में यह उत्कृष्ट नाटक है।[1]

जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है उसमें यह नाटक अत्यधिक सफल है। राम के उत्तरजीवन का करुण प्रसंग किसे ज्ञात नहीं है? युगों से चले आते हुए इस कथानक में समुचित सुधार करके भवभूति ने न केवल इसे नाट्यव्यापार के योग्य बनाया है अपितु सीता-निर्वासन की परिस्थितियों का अभिनव-संयोजन करके राम को दोषमुक्त करने का भी श्लाघ्य प्रयास किया है। ऐसा ही प्रयास वे वालिवध के प्रसङ्ग में महावीरचरित में भी कर चुके थे। इसलिए कहा गया है कि सीता-निर्वासन के साहित्यिक समर्थन का प्रयास इस नाटक में हुआ है।

नाटक में कालान्विति और स्थानान्विति का अभाव है क्योंकि बारह वर्षों की घटनाएँ अयोध्या, दण्डकारण्य, पञ्चवटी और वाल्मीकि आश्रम के विविध परिसरों में संयोजित हुई हैं किन्तु

---

१. पौरस्त्य दृष्टि में कथावस्तु, पात्र और रस ही रूपक के प्रभावी तत्त्व हैं, जबकि पाश्चात्त्य दृष्टि रस के स्थान पर शैली, संवाद (dialogue), अन्वितित्रय तथा उद्देश्य को रखकर छह नाट्यतत्त्व मानती है। उत्तररामचरित सभी तत्त्वों की कसौटी पर खरा उतरता है।

वे परस्पर इस प्रकार कसी हैं तथा रस-भावों से आबद्ध हैं कि सामाजिक को कहीं भी आनन्द में बाधा नहीं आती। राम और सीता की मूलकथा का करुण प्रसंग उद्‌भावित करने के लिए कवि ने ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ की हैं। उदाहरणार्थ नाटक के मुख्य रस करुण को अत्यधिक प्रभावी बनाने के लिए प्रथम अंक में चित्र-दर्शन तथा राम की गोद में क्लान्त सीता के सो जाने के कथांश जोड़े गये हैं। जो राम चित्र में भी सीता-हरण पर विकल हो जाते हैं (विरम विरमात: परं न क्षमोऽस्मि, प्रत्यावृत्तः पुनरपि स मे जानकीविप्रयोगः १/३३), जो संयोग शृंगार की परमावस्था में जाते हैं (अयं बाहु: कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः १/३८) और दाम्पत्य के दुर्लभ सुयोग का आनन्द लेते हैं (अद्वैतं सुखदु:खयोरनुगतम् १/३९), वही अकस्मात् सीता-निर्वासन का दारुण निर्णय लेते हैं और अन्तःपीडा से कराह उठते हैं- हन्त, विपर्यस्तः सम्प्रति जीवलोकः। पर्यवसितमद्य जीवितप्रयोजनं रामस्य। शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्। असारः संसारः। कष्टप्रायं शरीरम्। अशरणोऽस्मि। किं करोमि, का गति:।[1] असह्य वेदना की स्थिति में ऐसे ही सहज वाक्य हृदय से फूट सकते हैं। इस प्रकार प्रथम अंक का वस्तु-संयोजन मुख्य रस को पुष्ट करता है।

उत्तररामचरित में तीन महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ हैं – चित्रदर्शन, छायांक तथा गर्भनाटक। तीनों के पृथक्-पृथक् नाटकीय महत्त्व कथावस्तु के सघन प्रभाव की दृष्टि से हैं। चित्रदर्शन का स्थूल उद्देश्य सीता का मनोरञ्जन करना है जो अपने पिता के लौटने से दु:खी है। इसमें करुण दृश्यों का संकलन है, इसीसे भावी सीता-वियोग का संकेत मिलता है। इसी में जृम्भकास्त्र के दृश्य हैं तथा सीता की सन्तान में भी स्वयं इस अस्त्र के संक्रमण की बात कही गयी है (सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति); लवकुश को पहचानने में (अङ्क-७) यही जृम्भकास्त्र सहायक होता है। सीता के प्रति राम के अनुपम स्नेह की सूचना भी चित्रदर्शन से प्राप्त होती है, यह स्नेह आगे जाकर राम के वचनों में स्पष्टतर होकर सीता-निर्वासन की मार्मिकता को व्यक्त करता है। इस प्रसंग के द्वारा राम और सीता के अतीत का अनावरण होता है तथा तृतीय अंक में निरूपित दृश्यों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत होती है।

इस नाटक का छायांक भी भवभूति की मानसी सृष्टि है। इससे सीता के निर्वासन के बाद की घटनाओं का संक्षिप्त परिचय तो मिलता ही है, राम तथा सीता की मन:स्थिति का भी स्पष्ट निरूपण होता है। राम की मन:स्थिति सूत्ररूप में इस प्रकार दी गयी है-

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रस:॥ (३/१)

आगे चलकर राम के प्रलाप, मूर्छा आदि में यह स्फुटतर होती है जिससे सीता को आश्वासन मिलता है कि राम उन्हें कितना आदर देते हैं। दूसरी ओर तमसा के वचन में सीता के हृदय की विविध अवस्थाओं का निर्देश है।[2] सीता के हृदय में एक ही समय तटस्थता, कोप, स्तम्भीभाव

---

१. उत्तररामचरित १/४७ दु:खसंवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्। इसके पूर्व राम का कथन।

२. उत्तररामचरित ३/१३ तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटितिघटनात्स्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद् दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव ॥

(जडता), प्रसन्नता, करुणभाव तथा प्रेम के द्रवीभाव - ये सारे भाव उत्पन्न होकर अनिर्वचनीय स्थिति उत्पन्न करते हैं, क्रमशः ये सभी स्नेह के रूप में विलीन हो जाते हैं। सीता को अदृश्य रखकर करुण-रस को मुख्यतः रामालम्बित करके रसातिशय प्रकट किया गया है। सीता का क्षोभ मिट जाने से पुनः समागम की प्रबल पीठिका भी प्रस्तुत हो जाती है। दृश्यों में वैविध्य, राम के कथनों में मार्मिकता, मनोभावों की सूक्ष्म व्यञ्जना, दाम्पत्य और अपत्य का दर्शन, छायानाटक की सृष्टि तथा करुण-रस के निरन्तर प्रवाह से तृतीय अंक एक रोचक, अनिवार्य तथा अद्‌भुत नाट्य-भाग है।

गर्भनाटक की योजना से सीता का पवित्र चरित्र सार्वजनिक रूप से घोषित हो जाता है और बिखरे हुए परिवार को संयुक्त करने में सहायता होती है। पृथ्वी और गंगा के निरन्तर सान्निध्य में रह चुकी सीता को कोई कलंकित करने का साहस नहीं कर सकता। एक प्रकार से गर्भनाटक उत्तररामचरित का प्रतीक बनकर आया है जिसे वाल्मीकि के नूतन रूप, परिणतप्रज्ञ, शब्दब्रह्मविद् भवभूति ने रचा है।

उत्तररामचरित के वर्णनों में सर्वत्र स्वाभाविकता है; युद्ध, भीषण प्रकृति, अरण्य, शिष्टाचार के संवाद, मनोभावों की अभिव्यक्ति तथा तपोवन के चित्रण में सर्वत्र सोद्देश्यता है। एक भी पद्य अनावश्यक नहीं लगता। गद्य के संवाद कुछ दीर्घकाय हो गये हैं किन्तु पात्रों की स्थिति पर विचार करने पर उनमें भी असंगति नहीं लगेगी। भवभूति की भाषा मर्यादा-युक्त और अभिव्यक्ति-क्षम है। अवसर के अनुसार उसमें क्लिष्टता या सरलता निहित है जैसे- प्रकृति-वर्णन में लम्बे वाक्य दीर्घकाय समासों से वेष्टित होते हैं तो मर्मस्पर्शी संवाद सरलतम भाषा में प्रकट होते हैं। युद्ध-वर्णन स्वभावतः रसानुकूल भाषा का सन्धान करता है। इस नाटक में भवभूति ने अन्य नाटकों की अपेक्षा अभिव्यक्ति का एक अनुकरणीय आदर्श स्थापित किया है।

पात्रों की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट नाटक है। राम का करुण और प्रजापालक रूप, एकपत्नीव्रत (यज्ञ में हिरण्मयी सीता-प्रतिमा बनाने वाले), विनय, क्षमा उदारता - ये गुण हृदयावर्जक हैं। सीता के परित्याग में वे निष्कलुष हैं क्योंकि एक ओर लोकाराधन और दूसरी ओर मन्त्रणा का अभाव उनके जीवन को विवश किये हुए है। सीता की विनम्रता और राम के प्रति अनुपम प्रीति को तृतीय अंक में कवि ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। वह अपने प्रदीप्त आर्यपुत्र को पुनः जलाने से वासन्ती को रोकती है। राम की करुणदशा पर मूर्छित हो जाती है। इस प्रकार नायक और नायिका की मौन तपस्या दिखाने में कवि की कोई तुलना नहीं है। अन्य पात्रों में चन्द्रकेतु, लव, कुश और वाल्मीकि महत्त्वपूर्ण हैं; वे पृथक्-पृथक् गुणों की मूर्ति हैं। सभी पात्र गम्भीर हैं इसीलिए विदूषक जैसे पात्र को भवभूति ने स्थान नहीं दिया है।

कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते – संस्कृत नाट्य-जगत् में भवभूति के द्वारा उत्तररामचरित में प्रधान रस के रूप में स्वीकृत करुण रस की बहुधा चर्चा हुई है। शृंगार के उद्‌भावन में कालिदास श्रेष्ठ हैं तो करुणरस को पराकाष्ठा पर भवभूति ने पहुँचाया है। तृतीय अंक में सीता-राम के जीवन के घटनाचक्रों को ध्यान में रखकर एक पात्र तमसा को उन्होंने मुखरित किया - **एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्** (३/४७)। जीवन में निराशा, जगत् की अस्थिरता, इच्छाओं की पूर्ति में बाधा इत्यादि ने भवभूति को गम्भीर तथा करुणप्रिय बना दिया

है।[1] उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति की परितुष्टि के लिए ही भारतीय साहित्य के करुणतम प्रसंग को नाट्य-रूप प्रदान किया। वश्यवाक् भवभूति की वाणी में इतना बल था कि उनके द्वारा प्रदर्शित करुण प्रसंगों से शिला-खण्ड भी रो सकें (अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् १/२८)। उत्तररामचरित में जैसा परिवेश उन्होंने दिया है वह संस्कृत में ही नहीं, अन्यत्र भी दुर्लभ है। इसीलिए समीक्षकों ने अन्यव्यावृत्ति-सूचक 'एव' का प्रयोग करते हुए कहा है – कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते।

करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' होता है; आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोग से जागरित शोक श्लोक के रूप में फूट पड़ा था (शोकः श्लोकत्वमागतः) जिससे करुण-रस-मय रामायण काव्य की रचना हुई। रामायण के वीर रसानुकूल प्रसङ्गों को उपात्त करके भवभूति ने 'महावीरचरित' की रचना कर ली थी तब उनके प्रियरस 'करुण' की बारी आयी। इस सन्दर्भ में वे आदिकवि से भी आगे बढ़ गये क्योंकि सीता के आत्यन्तिक वियोग को नाट्यधर्म की दृष्टि से बचाते हुए भी, ऐसा परिवेश उन्होंने उपस्थापित किया कि 'करुण' मूर्तिमान् हो उठा। करुण के विशाल फलक पर ही उन्होंने सीता-राम के जीवन के रसान्तर-प्रसङ्गों के चित्र अंकित किये।

चित्रदर्शन के क्रम में कारुणिक प्रसंगों के समक्ष राम रोने लगते हैं। किसी प्रकार लक्ष्मण के आश्वासन पर वे शान्त होते हैं। फिर भी राम के आँसुओं की धारा जर्जरकण होकर पृथ्वी पर गिरती है, यदि आँसू रोक भी लिये जाते हैं तो शोकावेग फड़कते ओठों और नासापुटों से अभिव्यक्त होता है (निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया १/२९)। जानकी के भूतपूर्व हरण का प्रसंग भी पुनः उभरे हुए घाव के समान पीड़ा देता है – दुःखाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानो हृन्मर्मव्रण इव वेदनां करोति (१/३०)। सीता-वियोग के अनन्तर आये हुए वर्षाकाल में बिताये दिनों की स्मृति भी उन्हें सह्य नहीं; लगता है पुनः जानकी-वियोग आ पहुँचा हो।

दुर्मुख के द्वारा दी गयी सूचना के बाद तो राम की वेदना की धारा अन्तर्मुखी हो जाती है, लक्ष्मण तक को पता नहीं लगता। सीता को वन में भेजने का निर्णय प्रजाराधक के रूप में लेना पड़ता है, पति या प्रेमी के रूप में नहीं। इस द्वैधीभाव के शिलाखण्ड से वे पिसते रहते हैं, अपने को नृशंस चाण्डाल मानते हैं (अपूर्वकर्मचाण्डालमयि मुग्धे विमुञ्च माम्)। चन्दन-वृक्ष के भ्रम में उनकी प्रियतमा ने आजतक प्राणहारक विषवृक्ष का ही आश्रय ले रखा था (१/४६)। सीता को छोड़ते ही राम के जीवन का प्रयोजन समाप्त-सा हो गया, संसार उनके लिए जीर्णारण्य-सा सूना हो गया। तृतीय अंक में पूर्ण विश्वास से वे कहते हैं कि राक्षसों ने सीता का सुन्दर शरीर खा लिया होगा (क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ३/२८)। इसीलिए उनका अन्तःकरण व्यथित है।

---

१. भवभूति के जीवन में निराशा समाज में उनके अपमान से आयी थी। इसका हल्का संकेत उन्होंने मालतीमाधव की प्रस्तावना में किया है–

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ (१/६)

सम्पूर्ण तृतीय अंक राम के कारुणिक प्रलापों से भरा है। यहाँ वे सीता को बार-बार स्मरण करके मूर्छित होते हैं। शोक इतना गहरा है कि उसे सामान्य स्थिति में प्रकट किया भी नहीं जा सकता, वह पुटपाक की प्रक्रिया में दल्यस्थ दाह के समान है, अन्तर्गूढ-घनव्यथा है। जब उन्हें धैर्य धारण करने का उपदेश वासन्ती देती है तब वे सहसा कह उठते हैं कि बारह वर्षों से धैर्य ही तो धारण किये हुए हूँ-

देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः।
प्रनष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति॥ (३/३३)

राम अपना द्वैध प्रकट करते हैं कि न मैं जी रहा हूँ, न मर रहा हूँ; हृदय फट रहा है किन्तु दो खण्डों में विभक्त नहीं होता, मूर्छा आती है किन्तु चेतना बनी रहती है (जिससे दुःख भोग सकूँ), अन्तर्दाह शरीर को जला रहा है किन्तु भस्मीभूत नहीं करता। ब्रह्मा प्रहार तो करता है किन्तु प्राणनाश नहीं करता-

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥ (३/३१)

राम का शोक-प्रवाह विचित्र है ! किसी भी यत्न से अवरुद्ध नहीं होता। रावण द्वारा सीताहरण की पीड़ा से भी यह स्वयंकृत विरहपीडा भयावह है। उस वियोग के विनाश के उपाय थे, अवधि थी और पीड़ा को बाँटने वाले वीरों की सहायता थी। किन्तु इस वियोग में कुछ भी नहीं-

कथं तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं त्वप्रतिविधः (३/४४)।

इसे अकेला ही चुपचाप सहना है, इसकी अवधि नहीं है और इसे दूर करने का उपाय भी नहीं। इस पीड़ा का विषम पक्ष यही है।

राम का प्रलाप उनके हृदय की रक्षा करता है क्योंकि शोक के ग्रन्थि-रूप में आ जाने पर भयावह परिणाम हो सकते हैं। इसीलिए एक मनोविज्ञानी के रूप में तमसा कहती है-

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥ (३/२९)

राम को सीता से पुनः भेट होने की क्षीण आशा भी नहीं है। वे केवल कल्पना द्वारा ध्यान में सीता का निर्माण करके आश्वासन प्राप्त करते हैं; किन्तु कल्पना तो कल्पना ही है, उसकी निवृत्ति भी हो जाती है। उस समय तुषाग्नि में हृदय तिल-तिल कर जलता है-

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः ।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव॥ (६/३८)

प्रत्येक सहृदय सामाजिक के मन में राम के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है और नायक के ऊपर युगों से लगा हुआ कलंक धुल जाता है। इस नाटक में करुणरस को प्रधानता देने में कवि का यह उद्देश्य पूरा हो जाता है। इसीलिए करुण को मूल (प्रकृति) रस तथा शृंगार, वीर आदि को कवि ने विकृतिरस की श्रेणी दी है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट करुण-रस के सभी साधनों का[1] उपयोग उत्तररामचरित में राम के प्रसंग में भवभूति ने किया है – गला फाड़कर रोना, मूर्छित होना, परिदेवन (उपालम्भ देना), विलाप और शरीर को पीड़ित करना। अत: यह सर्वथा करुण-रस-प्रधान नाटक है जिसकी रचना में कवि को सफलता मिली है। टीकाकार घनश्याम ने विक्रमार्क की उक्ति का ठीक ही उद्धरण दिया है – कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते।[2]

शैली तथा वर्णन-शक्ति – वाणी को अपने वश में रखने वाले कवि भवभूति ने संस्कृत साहित्य में प्रचलित गौड़ी और वैदर्भी दोनों शैलियों का भावों के अनुसार प्रयोग किया है। प्रकृतिवर्णनों में या वीररस के प्रसंगों में उन्होंने गौड़ी रीति का अनुसरण किया है तो सामान्य स्थितियों में वैदर्भी रीति उन्होंने अपनायी है। करुण रस की जहाँ अभिव्यञ्जना होती है वहाँ भवभूति ने प्रसादगुण से समन्वित वैदर्भी का ही उपयोग उचित माना है जैसे–

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥
(३/३८)

इसी प्रकार संयोग शृंगार की दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने उत्तररामचरित के प्रथम अंक में यही रीति अपनायी है–

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥
(उत्तर० १/३५)

प्रकृति के रूक्ष रूपों का ही भवभूति ने प्राय: वर्णन किया है, स्वभावत: उनमें गौड़ी रीति गृहीत हुई है। दण्डकारण्य का यह वर्णन है–

कूजत्कुञ्ज-कुटीर-कौशिकघटा-घूत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बर-मूक-मौकुलि-कुलः क्रौञ्चावतोऽयं गिरिः ।
एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिण-तरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः ॥
(२/२९)

---

१. नाट्यशास्त्र ६/६३ सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥

२. उत्तररामचरित के १/४७, २/२६, ३/३८ इत्यादि पद्य करुण रस कें समर्थक हैं।

अर्थात् कुञ्ज-रूप कुटीरों में कूजते हुए उल्लुओं के झुंड के झुंड जहाँ घू-घू की ध्वनि कर रहे हैं, बाँसों (कीचकों) की रगड़ की ध्वनि से कौए जहाँ निःशब्द हो गये हैं (मौकुलि=काक), यही वह क्रौंचावत पर्वत है। यहाँ इधर-उधर विचरण करते हुए मयूरों की (प्रचलाकिनां) कूजन-ध्वनि से उद्विग्न होकर अजगर (कुम्भीनसाः) पुराने चन्दन (रोहिण) वृक्षों की डालियों पर रेंग रहे हैं। भाव के अनुरूप ही भयावह शैली का प्रयोग है। अपने अन्य दोनों रूपकों में भवभूति ने ऐसी शैली का प्रचुर प्रयोग किया है।

सामान्य जनता को सम्बोधित भाषा में सरलता अपनी ऊँचाई प्रकट करती है जैसे – राम अप्रत्यक्ष रूप से अपनी प्रजा को अपना दुःख सुनाकर उपालम्भ देते हैं–

न किल भवतां देव्याः स्थानं गृहेऽभिमतं तत-
स्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता ।
चिरपरिचितास्ते ते भावाः परिद्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते ॥ (३/३२)

कालिदास के समान भवभूति ने भी मानव का प्रकृति से पारिवारिक सम्बन्ध दिखाया है जैसे राम कहते हैं–

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम् ।
एतानि तानि बहुनिर्झरकन्दराणि
गोदावरी-परिसरस्य गिरेस्तटानि ॥ (३/८)

इसमें प्रकृति से प्राप्त संगीत की ध्वनि (नाद-सुषमा) भी दी गयी है।

भवभूति की सूक्तियाँ उनकी दार्शनिकता का आभास देती हैं। एक इस प्रकार है–

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥ (२/७)

अन्य सूक्तियाँ हैं – तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः (उत्तर० १/३), सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति (२/१), रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते (२/२), गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः (४/११), पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति (४/१२), हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् (६/३२), व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः (६/१२) इत्यादि।

अलंकारों के प्रयोग भी भवभूति ने अपने प्रतिपाद्य को स्पष्टतर बनाने के लिए बहुधा किये हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग आदि उनके प्रिय अलंकार हैं। उन्होंने कई नये उपमान प्रस्तुत किये हैं जैसे– अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरः (१/२९), सीता का परगृहवासदोष के शमनार्थ नाना उपायों के होने पर भी पुनः आलर्क-विष (पागल कुत्ते के विष) के समान फैलना (१/४०), पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः (३/१)। उत्तररामचरित के तृतीय अंक में राम के स्पर्श से पुलकित अदृश्य सीता में स्वेद, रोमांच और कम्पन के अनुभाव प्रकट होते हैं; कवि

ने वायु से हिलायी गई, जलबिन्दुओं से सिक्त तथा स्फुट कलिकाओं से युक्त कदम्ब की डाली को उपमान के रूप में प्रस्तुत करके पूर्णोपमालंकार का आवर्जक प्रयोग किया है–

सस्वेद-रोमाञ्चित-कम्पिताङ्गी जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भः-प्रविधूतसिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ॥
(उत्तर० ३/४२)

कुल मिलाकर भवभूति संस्कृत भाषा के एक अमर कवि-नाट्यकार हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा नाट्यजगत् में अभिनव मार्ग का निर्माण किया। उत्तररामचरित को करुणरसप्रधान बनाकर उन्होंने मर्यादा-पुरुष राम के कलङ्क का भी प्रक्षालन किया।

अन्य नाट्यकार तथा रचनाएँ

भवभूति के अनन्तर शताधिक नाट्यकार विभिन्न शताब्दियों में हुए जिन्होंने अपनी कृतियों से संस्कृत वाङ्मय का भाण्डार भरा। इनमें कई तो विख्यात हैं किन्तु कुछ नाट्यकार अप्रकाशित या जनालोक से दूर हैं। नाटकों के अतिरिक्त प्रहसन, भाण, आदि रूपक-भेदों में भी शताधिक रचनाएँ हुई हैं जिनमें कुछ का अधिक महत्त्व है। यहाँ ऐसे कुछ नाट्यकारों एवं नाट्यरचनाओं का परिचय दिया जाता है।

(क) मुरारि (कृति-अनर्घराघव)

एकमात्र 'अनर्घराघव' नामक नाटक के लेखक मुरारि मौद्गल्य गौत्र के श्रीवर्धमानभट्ट के पुत्र थे। इनकी माता का नाम तन्तुमती था। इन्हें 'महाकवि' तथा 'बाल-वाल्मीकि' कहा जाता था। ये बहुत प्रसिद्ध विद्वान् भी थे जैसा कि इस प्रशस्ति से ज्ञात होता है–

देवीं वाचमुपासते तु बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुल-क्लिष्टो मुरारिः कविः ।

अर्थात् इन्होंने गुरुकुल में रहकर क्लेशपूर्वक साधना की थी। मुरारि भवभूति (७५० ई०) से प्रभावित हैं तथा इनका उल्लेख कश्मीरी महाकवि रत्नाकर (८५० ई०) ने अपने 'हरविजय' (३८/६८) में नाटककार के रूप में किया है। अतः इनका काल ८०० ई० के आसपास है।

अनर्घराघव रामायण की कथा पर आश्रित सात अंकों का नाटक है। विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण को अपने आश्रम में ले जाने की घटना से लेकर रावण को मारकर लंका से राम के अयोध्या-प्रत्यावर्तन तक की कथा इसमें वर्णित है। महावीरचरित के समान इसमें भी मूलकथा का पर्याप्त परिवर्तन है। मुरारि ने इस नाटक में भाषा और व्याकरण के क्लिष्ट रूपों का प्रदर्शन करके नाटककार भवभूति और महाकवि माघ को पीछे छोड़ने का यथाशक्ति प्रयास किया है।[1] पाण्डित्य-प्रदर्शन का यहाँ पद-पद पर साक्षात्कार होता है। नाट्य-कल्पना को छोड़कर मुरारि काव्य-रचना में संलग्न हो जाते हैं; इसीलिए प्रत्येक अंक में महाकाव्य के सर्गों के समान श्लोक-संख्या है। पूरे नाटक

---

१. तुलनीय-प्रशस्तियाँ– (क) मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु ।
(ख) मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।

में ५६७ पद्य हैं जो गौड़ी रीति में निबद्ध हैं। अन्तिम अंक में १५२ पद्य हैं। महाकाव्य और महानाटक की सम्मिलित कल्पना इसमें कवि ने की है। प्रौढ़ व्याकरण-ज्ञान के प्रदर्शन के कारण इस नाटक की लोकप्रियता वैयाकरणों के बीच बहुत अधिक है। पद-सौष्ठव, भाव के अनुरूप नाद-सुषमा तथा शब्द-चमत्कार की दृष्टि से यह नाटक अद्भुत है।

(ख) शक्तिभद्र (कृति-आश्चर्यचूडामणि)

केरल-निवासी शक्तिभद्र स्थानीय प्रसिद्धि के अनुसार आदि शंकराचार्य के शिष्य थे। इनके नाटक आश्चर्यचूडामणि[1] की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि यही दक्षिणभारत का प्रथम नाटक था। शक्तिभद्र का समय ८०० से ८५० ई० तक माना जाता है। इनके एक अन्य नाटक 'उन्मादवासवदत्त' की चर्चा कई ग्रन्थों में हैं किन्तु अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, मद्रास से अपूर्ण 'वीणावासवदत्त' का प्रकाशन हुआ है; इसे भी शक्तिभद्र-कृत कहा जाता है।

शक्तिभद्र-कृत आश्चर्यचूडामणि सात अंकों का रामकथाश्रित नाटक है। इसमें लक्ष्मण द्वारा पर्णकुटी के निर्माण और शूर्पणखा-प्रसंग से लेकर सीता की अग्नि-परीक्षा तक के आश्चर्यजनक वृत्तान्त उपन्यस्त हैं। इसमें चार मुख्य घटनाएँ हैं– शूर्पणखा का विरूपण (अंक २), सीताहरण (अंक ३), हनुमत्सन्देश (अंक ६) तथा सीता की अग्निपरीक्षा (अंक ७)। तृतीय अंक में ऋषिगण लक्ष्मण के द्वारा दो आभूषण - अंगूठी तथा चूडामणि - क्रमशः राम और सीता के लिए भेजते हैं जिन्हें धारण करने से कपट-वेष का उद्घाटन होता है। इसी चूडामणि के स्पर्श से सीता रावण को पहचानती है तथा राम अंगूठी के द्वारा सीता के वेष में राम को माया दिखाती हुई शूर्पणखा का रहस्य जान लेते हैं। यह इस नाटक के शीर्षक का रहस्य है। आश्चर्यमयी घटनाओं की प्रस्तुति से पूरा नाटक अद्भुत रस का भाण्डागार है। कवित्व की दृष्टि से यह उत्तररामचरित से अवर है किन्तु नाट्य और अभिनेयता के बल पर रामकथाश्रित सभी नाटकों में यह श्रेष्ठ हैं। सूच्य और दृश्य कथांशों का औचित्य इसमें आद्यन्त निबाहा गया है। इसमें यद्यपि वीररस की प्रधानता है किन्तु अद्भुतरस का प्राचुर्य मनोरञ्जक है। नायक (राम)-प्रतिनायक (रावण) तथा नायिका (सीता)-प्रतिनायिका (शूर्पणखा) के संघर्ष भी इसे उच्चकोटि में स्थापित करते हैं। वैदर्भी रीति का प्रयोग, सहज अलंकारों का निवेश तथा हृदयावर्जक संवाद इसकी विशिष्टता है।

(ग) राजशेखर

काव्यशास्त्र में कविशिक्षा-विषयक 'काव्यमीमांसा' एवं चार रूपकों के प्रणेता कवि राजशेखर महाराष्ट्र के यायावर-वंश में उत्पन्न हुए थे। इस वंश में अनेक कविगण हुए थे। इनके प्रपितामह महाराष्ट्र-चूडामणि अकालजलद थे। इनके पिता का नाम दर्दुक और माता का नाम शीलवती था। इन्होंने चौहान (क्षत्रिय) वंश की विदुषी अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। कान्यकुब्ज-नरेश महेन्द्रपाल (राज्यकाल ८७३-९०७ ई०) के ये गुरु थे। महेन्द्रपाल के आदेश से इन्होंने बालरामायण की रचना की थी, विद्धशालभञ्जिका की रचना के समय ये लाट-नरेश के आश्रय में थे और पुनः लौटकर महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के सभासद् बनकर रहे; बालभारत की रचना इन्होंने उसी काल में की। इसलिए इनका काल ८८० ई० और ९३० ई० के बीच रखा

१. कुप्पुस्वामी शास्त्री के सम्पादन में बालमनोरमा सीरिज (सं. ९) में मद्रास से १९२६ ई. में प्रकाशित।

जा सकता है। इनके चार रूपक इस प्रकार हैं – बालरामायण (१० अंकों का रामकथाश्रित नाटक), बालभारत या प्रचण्डपाण्डव (इसके केवल आरम्भिक दो अंक प्राप्त हैं), विद्धशालभञ्जिका (४ अंकों की नाटिका) तथा कर्पूरमञ्जरी (४ अंकों का प्राकृतभाषामय सट्टक)। काव्यमीमांसा बीस अध्यायों का कविशिक्षा-विषयक ग्रन्थ है। एक ग्रन्थ 'हरविलास' भी राजशेखर ने लिखा था जो अनुपलब्ध है। इस प्रकार इन्होंने छह ग्रन्थ लिखे थे (विद्धि नः षट् प्रबन्धान्-बालरामायण १/१२)।

बालरामायण रामकथा पर आश्रित दस अंकों का विशाल नाटक है। इसका प्रत्येक अंक एक नाटिका के तुल्य है। पूरे नाटक में ७४१ पद्य हैं जिनमें शार्दूलविक्रीडित (२०३)[1] तथा स्रग्धरा (८९) जैसे लम्बे छन्दों का भी प्राचुर्य है। अपनी समस्त काव्य-कुशलता तथा पद-विन्यास-प्रवीणता का प्रदर्शन पूरे नाटक में इन्होंने किया है। रावण को एक प्रेमी के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। रावण जनक से सीता का हाथ माँगता है, वह परशुराम से वाद-विवाद करता है, उसके मनोविनोद के लिए तृतीय अंक में 'सीता-स्वयंवरण' नामक गर्भ-नाटक का अभिनय होता है किन्तु राम-सीता के विवाह को जानकर वह उद्विग्न हो जाता है। पंचम अंक में रावण का विरह-दु:ख प्रकट करते हुए छह ऋतुओं का वर्णन किया गया है। राम-वनवास के निमित्त के रूपमें कैकेयी का वेश बनाकर शूर्पणखा आती है, मायामय दशरथ का रूप लेता है। शेष घटनाएँ न्यूनाधिक रूप से रामायण की ही हैं। कवि ने भारत के विभिन्न प्रदेशों का वर्णन करने का अवसर निकालकर अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है। राजशेखर ने इसकी प्रस्तावना में अपने को वाल्मीकि और भवभूति का अवतार बताकर (१/१६) इसे सिद्ध भी किया है।

बालभारत के केवल दो अंक मिले हैं जिनमें द्रौपदी-स्वयंवर, द्यूत-क्रीडा तथा चीर-हरण की घटनाएँ उपन्यस्त हैं। इसकी रचना महीपाल के लिए की गयी थी। **विद्धशालभञ्जिका** नाटिका है, जिसमें राजा के अन्त:पुर की प्रणय-लीला की विचित्रताओं का निरूपण है। नायक अपनी प्रेमिका मृगाङ्कवती को शालभञ्जिका (गुड़िया या पुत्तलिका) के रूप में प्राप्त करता है। नायिका (मृगांकवती) को उसके पिता लाट-नरेश चन्द्रवर्मा ने विद्याधरमल्ल (नायक) के पास अपने पुत्र के वेश में भेजा था। ज्येष्ठा रानी अपने पति का विवाह मृगांकवती तथा कुन्तल-राजकुमारी कुवलयमाला से करा देती है।

कर्पूरमञ्जरी पूर्णत: प्राकृत में रचित चार अंकों का सट्टक है। इसमें राजा चन्द्रपाल तथा कुन्तल राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की प्रणयकथा है। नाटिका के समान यहाँ भी राजा ज्येष्ठा रानी के भय से प्रेमिका से छिपकर मिलता है। राजकुमारी को तान्त्रिक भैरवानन्द स्नान-क्रीड़ा के समय राजसभा में उपस्थित कर देता है। राजा का प्रेम उसमें निहित हो जाता है, कर्पूरमञ्जरी भी राजा पर मुग्ध हो जाती है। नायिका को रानी कारागार में डालदेती है किन्तु राजा सुरंग द्वारा वहाँ पहुँच कर नायिका से मिलते हैं। रानी को भैरवानन्द समझते हैं कि लाट-राजकुमारी से विवाह हो जाने पर राजा सार्वभौम सम्राट् बन जाएँगे। रानी इसे स्वीकार करके कर्पूरमञ्जरी का ही विवाह राजा से करा देती है – भैरवानन्द की चाल काम करती है। राजशेखर ने इसमें कथानक की वक्रता के साथ काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। वसन्त-ऋतु का वर्णन, नायिका का विरह-वर्णन आदि उत्कृष्ट प्रसंग

---

१. क्षेमेन्द्र ने राजशेखर के इस छन्द की बड़ी प्रशंसा की है।

हैं। अतिप्राकृत तत्त्व का समावेश अतिरञ्जित है, यथार्थता से दूर है।

राजशेखर के समकालिक **क्षेमीश्वर** कान्यकुब्ज-नरेश महीपाल के सभाकवि थे। इन्होंने हरिश्चन्द्र की परीक्षा पर आलम्बित '**चण्डकौशिक**' नामक नाटक (पाँच अंक) लिखा। यह मार्कण्डेय-पुराण पर आश्रित है। इनका दूसरा नाटक '**नैषधानन्द**' (सात अंक) है जो नल और दमयन्ती की प्रसिद्ध महाभारतीय कथा पर आश्रित है।

(घ) हनुमन्नाटक (महानाटक)

संस्कृत भाषा में अत्यधिक विस्तृत नाटक के रूप में हनुमन्नाटक की ख्याति है। इसमें प्रायः पद्यात्मक संवाद ही हैं। नाटकीयता से अधिक इसमें काव्यात्मकता है। विदूषक तथा प्राकृत का अभाव इसे अन्य नाटकों से पृथक् स्थान देता है; सूत्रधार और विष्कम्भक भी इसमें नहीं हैं। नाट्य-नियमों के अनुसार यह नाटक नहीं है। मैक्समूलर का मत है कि इससे नाटक-विकास की प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान होता है; पिशेल और ल्यूडर्स इसे छाया-नाटक का आरम्भिक रूप मानते थे।

इसके दो संस्करण मिलते हैं। पश्चिम भारतीय संस्करण दामोदर मिश्र द्वारा संकलित है, इसे '**हनुमन्नाटक**' कहते हैं। इसमें चौदह अंक तथा ५७८ पद्य हैं। पूर्व भारतीय (बंगाली) संस्करण मधुसूदन मिश्र द्वारा संकलित है, इसे 'महानाटक' कहा जाता है। इसमें नौ अंक तथा ७८८ पद्य हैं। दोनों संस्करणों में हनुमान को ही मूल-लेखक माना गया है। तदनुसार वर्तमान लेखक केवल प्राचीन नाटक के संस्करणकर्ता हैं। हनुमन्नाटक की रचना १०५० ई० के लगभग[1] तथा महानाटक की रचना डॉ० सुशील कुमार दे के अनुसार लक्ष्मण सेन (१२ वीं शताब्दी ई०) के समय में हुई थी। दोनों नाटकों में राम के विश्वामित्र के आश्रम में जाने से लेकर राज्य-संचालन के बाद स्वर्ग-गमन तक की घटनाएँ वर्णित हैं। भाषा सरल तथा शैली महाकाव्योचित प्रवाहपूर्ण है। राम की प्रशंसा में महानाटक में कहा गया है–

द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ (२/३४)

इसकी एक प्रसिद्ध सूक्ति है– **क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे** (६/२७)। ये दोनों महाकाव्यात्मक नाटक हैं।

(ङ) जयदेव (कृति-प्रसन्नराघव)

संस्कृत में रामकथाश्रित प्रसन्नराघव[2] नामक नाटक के रचयिता जयदेव की ख्याति उनकी शैली के कारण बहुत अधिक है। इस नाटक के अतिरिक्त 'चन्द्रालोक' नामक पद्यात्मक

---

१. हनुमन्नाटक के अन्त में लिखा है कि हनुमान् ने अपने नाटक को पत्थरों पर लिखकर समुद्र में डाल दिया था, भोज ने उन पत्थरों को निकाला, क्रमशः दामोदर मिश्र ने उसे ग्रन्थ का रूप दिया। भोज का समय १००५-१०५५ ई० है।

२. इस नाटक के समीक्षात्मक अध्ययन पर मेरे निर्देशन में पीएच्.डी. उपाधि दी गयी है (पटना विश्वविद्यालय, १९९५ ई०)।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी इन्होंने लिखा था। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव तथा मिथिला के नैयायिक जयदेव से ये भिन्न थे। इनके पिता महादेव और माता सुमित्रा थी। इनका गोत्र कौण्डिन्य था। शैली में ये महाकवि श्रीहर्ष से प्रभावित थे। इनका मूल स्थान विदर्भ का कुण्डिनपुर था जो इनके गोत्रनाम से जुड़ा था। जयदेव के एक पद्य 'कदली कदली करभ: करभ:' (प्रसन्नराघव १/३७) को विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (४/३) में संकलित किया है। अत: १३५० ई० (विश्वनाथ का काल) से जयदेव पूर्ववर्ती हैं, १३६३ ई० में संकलित शार्ङ्गधरपद्धति में भी प्रसन्नराघव के कुछ पद्य आये हैं; शिङ्गभूपाल के रसार्णवसुधाकर (१३३० ई०) में भी इस नाटक के कुछ प्रसङ्ग उद्धृत हैं। दूसरी ओर मम्मट के काव्य-लक्षण पर चन्द्रालोक में उपहास किया गया है। अत: जयदेव का समय ११०० ई० तथा १३०० ई० के बीच होगा। विद्वानों ने श्रीहर्ष की शैली के अनुकरण के आधार पर इनका काल १२०० ई० के आसपास रखा है।[1]

प्रसन्नराघव सात अंकों का रामायणाश्रित नाटक है। इसमें बालकाण्ड की कथा का ही चार अंकों तक विन्यास है। रावण और बाणासुर का परस्पर संघर्ष (अंक १), वाटिका में राम और सीता का परस्पर अवलोकन (अंक २), धनुष टूटने पर राम-सीता का विवाह (अंक ३) तथा परशुराम का प्रसंग (अंक ४)- ये सभी बालकाण्ड से ही सम्बद्ध कथांश हैं। पञ्चम अंक में गङ्गा, यमुना और सरयू नदियों के संवाद के रूप में राम-वनवास तथा दशरथ की मृत्यु का एवं हंस नामक पात्र की सूचना के आधार पर सीता-हरण का वर्णन है। इस प्रकार घटनाओं की शृंखला का इस अंक में निरूपणि है। षष्ठ अंक में वियोगी रूप में राम का चित्रण है। हनुमान् का लङ्का-गमन तथा सीता को राम की दशा का वर्णन सुनाना इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। राम को ऐन्द्रजालिक लङ्का के दृश्य भी दिखलाता है। सप्तम अंक में विद्याधर-विद्याधरी के संवाद में युद्ध का वर्णन है। रावण-वध हो जाने पर चन्द्रोदय का वर्णन अनेक वीरों के द्वारा किया जाता है जो आवर्जक कवित्व से सम्पन्न है। राम अयोध्या लौट जाते हैं। इस नाटक की प्रस्तावना में ही २३ पद्य हैं, सप्तम अंक में ९५ पद्य हैं। प्रत्येक अंक काव्य के सर्ग जैसा है किन्तु नाट्य-व्यापार का भी अभाव नहीं है। रामकथाश्रित अन्य नाटकों के समान इसमें रामायण की मुख्य घटनाओं को भरने के लिए अनेक अनैसर्गिक प्रविधियों का प्रयोग किया गया है जैसे- नदियों का वार्तालाप, राम को ऐन्द्रजालिक के द्वारा लंका के दृश्यों को (मुख्यत: अशोक वनिका) दिखाया जाना इत्यादि।

जयदेव की कविता-शैली प्रसाद-गुण से गुम्फित और पद-लालित्य से परिमण्डित है। प्रस्तावना में ही अनेक कवियों के द्वारा कविताकामिनी के विविध उपादानों की सुषमा निर्मित किये जाने का रम्य वर्णन इन्होंने किया है-

> **यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरः**
> **भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।**
> **हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः**
> **केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥ (१/२२)**

प्रत्येक पद्य में अनुप्रास-युक्त पदलालित्य जयदेव की विशिष्टता है जो श्रीहर्ष का प्रभाव सूचित करता है; इस पद्य में अपने आदर्श कवि श्रीहर्ष को उन्होंने कविता-कामिनी का हर्ष माना है।

१. विवेचन के लिए देखें- रमाशंकर त्रिपाठी, प्रसन्नराघव (मोतीलाल संस्करण) की भूमिका, पृ. ६-९।

हनुमान् सीता को राम की विरह-दशा से अनुप्राणित सन्देश सुनाते हैं -

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः ।
नवा मल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं
मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीतं जगदिदम् ॥ (६/४३)

अर्थात् हे सुमुखि, तुम्हारे वियोग में मेरे लिए यह संसार विपरीत (उल्टा) हो गया है; चन्द्रमा सूर्य बन गया है, नवीन जलधर दावाग्नि हो गया है, नदी की तरंगों से चला पवन कुपित सर्प की श्वास-वायु हो गया है, नयी खिली चमेली बर्छी (भल्ली) के समान, नील कमल-वन भालाओं के जंगल जैसा हो गया है। सभी सुखद पदार्थ संतापकर हो गये हैं।

अनुप्रासों का आकर्षण कवि को इस प्रकार की रचना के लिए विवश करता है-

वासन्ती-रसबिन्दुं सुन्दरमिन्दिन्दिरा इह चरन्ति ।
चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति ॥ (२/१८)

अर्थात् यहाँ भौंरे सुन्दर वासन्तीलता के रस की बूँद को पी रहे हैं और बहुत दिनों के अपने आश्रय-स्थल कमल को धीरे-धीरे छोड़ते जा रहे हैं।

(च) वत्सराज (छह रूपकों के कर्ता)

अनेक प्रकार के रूपकों की रचना करने वाले कवि वत्सराज का समय भी प्रायः १२०० ई० है। ये कालिंजर के राजा परमर्दिदेव (११६३-१२०३ ई०) तथा उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव के समय विद्यमान थे। वत्सराज ने छह विभिन्न प्रकार के रूपक लिखे हैं।[1] ये प्रकार प्रचलित नहीं हैं। 'कर्पूरचरित' भाण है जिसे परमर्दिदेव (परमार) की आज्ञा से खेला गया था। इसमें एक जुआरी की द्यूत-क्रीड़ा तथा एक वेश्या से उसके प्रणय का वर्णन है। '**हास्यचूडामणि**' प्रहसन है जिसमें आचार्य ज्ञानराशि का उपहास किया गया है। ये आचार्य केवली विद्या के बल पर गड़े धन तथा खोयी वस्तुओं का पता लगाते थे। भौतिकता की इसमें निन्दा है। '**त्रिपुरदाह**' डिम चार अंकों का है। इसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर के विनाश का विस्तृत उपस्थापन है। नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट इसी नाम के डिम से प्रेरित होकर वत्सराज ने इसकी रचना की थी। रौद्ररस का इसमें उद्भावन पूर्ण रूप से हुआ है। 'किरातार्जुनीय' व्यायोग है। इसमें शिव और अर्जुन का युद्ध दिखाया गया है। इस नाम के महाकाव्य के कथानक पर यह आश्रित है।[2] '**समुद्रमन्थन**' तीन अंकों का समवकार है। इस नाम का रूपक भी नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट है। वत्सराज को उसी से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। अपने क्षेत्र में यह एक मात्र रूपक है। '**रुक्मिणीहरण**' ईहामृग का एकमात्र उदाहरण है।[3] यहाँ कृष्ण के साथ शिशुपाल और रुक्मी के संघर्ष एवं छलपूर्वक युद्ध रोकने का

---

१. गायकवाड ओरियंटल सीरिज (सं. ८) में 'रूपकषट्कम्' के नाम से प्रकाशित, बडौदा, १९१८ ई०।

२. प्रायः वत्सराज के काल में ही आविर्भूत प्रह्लादनदेव-रचित '**पार्थ-पराक्रम**' नामक व्यायोग भी मिला है। अर्जुन द्वारा विराट की गायों को कौरवों से बचाने की कथावस्तु इसमें प्रदर्शित है।

३. इसका नाम '**रुक्मिणी-परिणय**' भी है।

वर्णन है। इस प्रकार वत्सराज ने संस्कृत में दुर्लभ रूपक-भेदों की रचना द्वारा नाट्यकारों में विलक्षण स्थान प्राप्त किया है। कवि की शैली परिमार्जित है।

दार्शनिक या प्रतीकात्मक नाटक (Allegorical Drama)

संस्कृत में नाटकों की एक परम्परा मिलती है जिसमें दार्शनिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अमूर्त भावों को (जैसे श्रद्धा, धैर्य, मोह, उपनिषद्, भक्ति आदि) पात्र बनाया जाता है तथा अन्त में अधर्म की, अज्ञान पर ज्ञान की एवं पाखण्ड पर सत्य की विजय दिखायी जाती है। तुर्फान-अभियान में अश्वघोष के नाटक (शारिपुत्र-प्रकरण) के साथ, सम्भवतः उसीके अंश के रूप में, कुछ पत्र मिले हैं जिनमें बुद्धि, कीर्ति और धृति मञ्च पर आती है, पुनः बुद्ध भी मञ्च पर आते हैं। सामग्री की अल्पता से यहाँ कुछ कहना कठिन है कि वस्तुतः नाटक के अंश के रूप में दार्शनिक पात्रों की उपस्थिति थी या सम्पूर्ण नाटक ही प्रतीकात्मक था। ऐसी स्थिति में इस परम्परा का प्रवर्तक कृष्णमिश्र को ही मान सकते हैं जिन्होंने सम्पूर्ण प्रतीकात्मक नाटक लिखा। यहाँ इनका परिचय दिया जाता है।

(क) कृष्णमिश्र (कृति – प्रबोधचन्द्रोदय)

'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक के द्वारा संस्कृत भाषा में दार्शनिक नाट्य-परम्परा का प्रवर्तन करने वाले कृष्णमिश्र जेजाकभुक्ति के चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में हुए थे। कीर्तिवर्मा का एक अभिलेख १०९३ ई० (विक्रम संवत् ११५४) का मिला है जिसे उसके मन्त्री वत्सराज ने खुदवाया था। कलचुरि राजा कर्ण को पराजित करके कीर्तिवर्मा को उसके सेनापति गोपाल ने पुनः राज्य दिलवाया था। यह घटना १०६५ ई० की है।[1] इस घटना की चर्चा प्रबोधचन्द्रोदय की प्रस्तावना में भी है–

गोपालो भूमिपालान् प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतितिलको येन भूयोऽभ्यषेचि ।(१/४)

इस गोपाल के आदेश से ही इस नाटक का अभिनय किया गया था। कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०४९ ई० से ११०० ई० तक माना जाता है; यही कृष्णमिश्र का भी काल है यद्यपि नाटक की रचना १०६५ ई० के बाद हुई थी।

प्रबोधचन्द्रोदय छह अङ्कों का शान्तरस-प्रधान[2] दार्शनिक नाटक है। इसका विषय अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह प्रतिपादन करना है कि पुरुष मति, विवेक, श्रद्धा, उपनिषद् आदि के सहयोग से अविद्या आदि एवं नास्तिकों के द्वारा फैलाये गये अन्धकार को पार करके विष्णुभक्ति के द्वारा अपने वास्तविक रूप (विष्णुपद) को पा लेता है। इसमें अमूर्त तत्त्वों को पात्र बनाया गया है, ये सभी मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं – सत् तथा असत्। सत् प्रवृत्तियाँ आत्मज्ञान की ओर ले जाती हैं तो असत् प्रवृत्तियाँ भवचक्र में डालती

---

१. इंसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन लिटरेचर (गर्ग), पृ. १९३।
२. प्रबोधचन्द्रोदय १/४ के बाद – तद् वयं शान्तरसप्रयोगाभिनयेनात्मानं विनोदयितुमिच्छामः।

हैं। इस नाटक के पात्रों में एक ओर मति, विवेक, करुणा, शान्ति, श्रद्धा, उपनिषद्, क्षमा, सरस्वती, विष्णुभक्ति आदि हैं तो दूसरी ओर महामोह, अहंकार, दम्भ, काम, लोभ, मिथ्यादृष्टि, हिंसा, तृष्णा आदि असत् प्रवृत्तियाँ पात्र बनी हुई हैं। इनके कथन यथार्थ जीवन के सूचक हैं। जैसे महामोह कहता है– अरे, ये मूर्ख कैसे निरंकुश हैं! शरीर से भिन्न आत्मा है, वह दूसरे लोक में जाकर फल भोगेगा–यह आशा वैसी ही है जैसी आकाशवृक्ष से बड़े–बड़े फलों की आशा रखना (२/१६)। इसी प्रकार चार्वाक, दिगम्बर, भिक्षु, कापालिक आदि पात्रों को लाकर नास्तिक मतों के पाखण्ड का उपहास किया गया है।

इसके कथानक में मन की वृत्तियों के बीच युद्ध दिखाया गया है जिसके अन्त में विष्णुभक्ति की विजय होती है। मन के दो शक्तिशाली पुत्रों के बीच विरोध की कल्पना है; ये पुत्र सौतेले भाई हैं जो मन की दो स्त्रियों से उत्पन्न हैं। प्रवृत्ति नामक स्त्री से मोह का और निवृत्ति से विवेक का जन्म हुआ है। मोह के परिजन काम, रति, लोभ, हिंसा, अहंकार आदि हैं। मोह का पौत्र दम्भ है जो उसके पुत्र लोभ एवं पुत्रवधू तृष्णा से उत्पन्न है। एक कुलटा के रूप में मिथ्यादृष्टि का निरूपण है। चार्वाक जडवादियों का प्रतिनिधि है।

दूसरे पक्ष (= उत्तर पक्ष) का प्रधान विवेक है जिसके दल में मति, करुणा, शान्ति, श्रद्धा, क्षमा, सन्तोष और वस्तु–विचार जैसे लोग हैं। कुछ काल के लिए विवेक पराजित होता है, उसकी सेना विच्छिन्न हो जाती है किन्तु अन्ततः उसीकी विजय होती है। इसमें विष्णुभक्ति की बड़ी भूमिका रहती है।

इसके मुख्य कथानक में श्रद्धा और शान्ति की कथा जोड़ी गयी है। शान्ति अपनी माँ श्रद्धा को खो चुकी है। श्रद्धा पर दुष्टों का आक्रमण हुआ है किन्तु विष्णुभक्ति उसे बचा लेती है। इस कथानक में बड़े कौशल से जैन, बौद्ध और पाशुपत धर्मों में श्रद्धा का अभाव दिखाया गया है। अनेक संघर्षों के बाद सत्य की विजय होती है। राजा मन को यद्यपि अपनी पत्नी प्रवृत्ति तथा पुत्र मोह के वियोग से दुःख होता है किन्तु सत् सिद्धान्त वेदान्त द्वारा प्रबोधित होने पर उसे धैर्य मिलता है। वह निवृत्ति को ही पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है। विवेक का विवाह उपनिषद् से होता है जिससे प्रबोधचन्द्रोदय जन्म लेता है। पुरुष अपने को विष्णु के रूप में पहचान लेता है– **विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः** (६/३०)

नाटक की दृष्टि से यह बहुत सफल नहीं है किन्तु इसका उद्देश्य उत्तम है क्योंकि अद्वैत वेदान्त और विष्णुभक्ति का समन्वय रोचक बनाकर प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक विषय होने पर भी कहीं नीरसता नहीं है, सामान्य नाट्य–नियमों का पालन भी इसमें सर्वत्र किया गया है। सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए कोई आध्यात्मिक व्यायाम भी इसमें नहीं है, प्रत्युत सरल भाषा में तर्कसंगत और बुद्धिगम्य शैली में नाट्य–प्रस्तुति है। कृष्णमिश्र की शैली परिनिष्ठित–साहित्यिक है। पाखण्डियों के रहस्योद्घाटन में हास्यरस भी पर्याप्त है किन्तु मुख्य रस 'शान्त' है क्योंकि जीवन–यात्रा को वैराग्य की ओर उन्मुख करने का उद्देश्य रखा गया है, नैतिक जीवन अध्यात्मोन्मुख होकर अन्ततः मुक्ति (विष्णु के रूप में अपने को जानना) प्राप्त कराता है।

हास्यरस के रोचक पद्य इसमें पूर्वपक्ष का उपहास करते हैं। जैसे दम्भ कहता है कि रात्रि में वेश्याओं के घर में रहने वाले धूर्त लोग दिन में सर्वज्ञ, दीक्षित, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञ और तपस्वी

बन कर जगत् को ठग रहे हैं-

> वेश्यावेश्मसु सीधु-गन्धि-ललना-वक्त्रासवामोदितै-
> नीत्वा निर्भर-मन्मथोत्सव-रसैरुन्निद्रचन्द्राः क्षपाः।
> सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति
> ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद् वञ्च्यते॥ (२/१)

सरस्वती मन को वैराग्य का उपदेश देते हुए कहती है-

> वशं प्राप्ते मृत्योः पितरि तनये वा सुहृदि वा
> शुचा सन्तप्यन्ते भृशमुदरताडं जडधियः।
> असारे संसारे विरसपरिणामे तु विदुषां
> वियोगो वैराग्यं द्रढयति वितन्वञ्शमसुखम्॥ (५/२२)

अर्थात् जब पिता, पुत्र या मित्र की मृत्यु होती है तब मूर्ख लोग छाती पीट-पीटकर शोक के कारण खूब रोते हैं; किन्तु इस नीरस परिणाम वाले असार संसार में किसी व्यक्ति का वियोग विद्वानों में वैराग्य को दृढ करता है और शम (शान्ति) का सुख प्रदान करता है। विषय-भोग, पाखण्ड, अहंकार, त्याग, वैराग्य आदि का अनावरण करने वाला यह नाटक यथार्थ की भूमिका देकर अध्यात्मवाद की स्थापना करता है।

(ख) प्रबोधचन्द्रोदय का अनुकरण

प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर जैन तथा ब्राह्मणधर्म के कवियों ने अनेक नाटक लिखे। इस प्रकार मेघदूत के समान प्रबोधचन्द्रोदय भी अनुकार्य हो गया। जैन कवि **यशःपाल** ने 'मोहराजपराजय'[१] नामक नाटक पाँच अंकों में लिखा। यशःपाल जाति से मोध वैश्य थे तथा गुजरात के चलुक्यवंशीय राजा अभयदेव (१२३० ई०) के कृपापात्र थे। इसमें राजा कुमारपाल का हेमचन्द्र से जैनधर्म की दीक्षा लेना, पशुहिंसा का निषेध कराना इत्यादि वर्णित है। कुछ मानव पात्र हैं तो कुछ प्रतीकात्मक भी हैं जैसे- विवेक, कृपासुन्दरी, व्यवसाय सागर इत्यादि। इसका महत्त्व इतिहास, दर्शन और साहित्य तीनों दृष्टियों से है।

वेदान्तदेशिक (१३ वीं शताब्दी ई०) ने **'संकल्पसूर्योदय'**[२] नामक उत्कृष्ट दार्शनिक नाटक लिखा। यह दस अंकों का है। इसमें मोह को पराजित करके ज्ञान का उदय होता है। इसके अंकों के नाम भी विषयानुसार दिये गये हैं जैसे- स्वपक्ष-प्रकाश (१), परपक्ष-प्रतिपक्ष (२), मुक्त्युपायारम्भ (३), कामादिव्यूह-भेद (४), दम्भाद्युपालम्भ (५), स्थानविशेषसंग्रह (६) इत्यादि। अन्तिम अंक निःश्रेयसलाभ है। इसके षष्ठ अंक में भोग के लिए उपयुक्त स्थानों और तीर्थों का वर्णन करके सबकी निन्दा की गयी है; सर्वोत्तम स्थान हृदय-गुहा ही है जो समाधि के लिए उपयुक्त है। यह नाटक विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को प्रकाशित करता है। इसकी प्रस्तावना में कवि ने इसे नाट्यशास्त्र के नियमों का प्रदर्शक कहा है (१/२१ लक्षणसमृद्धिरनघा रसपरिपोषश्च

---

१. गायकवाड ओरियंटल सीरिज (सं. ८), बडौदा से प्रकाशित (१९३०)।

२. आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से दो खण्डों में प्रकाशित (१९४८)।

सहृदयग्राह्यः)। एक अन्य पद्य में कवि ने शृंगार, वीर, अद्‌भुत तथा अन्य रसों की निन्दा करके शान्तरस को चित्त के खेद को मिटाने वाला श्रेष्ठ रस कहा है–

असभ्य-परिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्पर-तिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम् ।
विरुद्धगतिरद्‌भुतस्तदलमल्पसारै रसैः
शमस्तु परिशिष्यते शमित-चित्तखेदो रसः ॥ (१/१९)

कवि **कर्णपूर** ने १५७९ ई० में जगन्नाथपुरी के राजा गजपति प्रतापरुद्र के आदेश से 'चैतन्यचन्द्रोदय'[1] नामक नाटक लिखा। कर्णपूर का जन्म १५२४ ई० में हुआ था। ये चैतन्यदेव के पार्षद शिवानन्दसेन के पुत्र थे। इनका पूर्वनाम परमानन्द दास था, चैतन्य ने इन्हें 'कर्णपूर' की उपाधि दी थी। यह दस अंकों का नाटक है जिसमें मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्र हैं। भक्ति, विराग, कवि, अधर्म आदि अमूर्त पात्र हैं। चैतन्य और उनके शिष्य मूर्त पात्रों के रूप में हैं। सरसभाषा में प्रसाद गुण का चमत्कार इसकी विशिष्टता है। यथा–

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः ।
किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद् यदि न वासनाक्षालनम् ॥(७/७)

मिथिला के निवासी गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय'[2] नामक नाटक लिखा। इसमें पाँच अंक हैं। गोकुलनाथ राजा फतेहसिंह के आश्रित कवि थे। इन्होंने कई पुस्तकों की रचना की थी जैसे– मुदितमदालसा (सात अंकों का नाटक), शिवस्तुति (स्तोत्रकाव्य), एकावली (छन्दोविषयक ग्रन्थ), रसमहार्णव (काव्यप्रकाश की टीका) इत्यादि। इनका देहान्त काशी में ९० वर्ष की आयु में हुआ था। 'अमृतोदय' की रचना सम्भवतः १६९३ ई० में हुई थी।[3] यह नाटक लेखक के पाण्डित्य से मण्डित है। इसमें श्रुति, आन्वीक्षिकी, कथा, जाबालि, पतञ्जलि जैसे पात्र विभिन्न शास्त्रों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हैं। जीव की यात्रा सृष्टि से प्रलय तक किस प्रकार होती है, यही इसमें दिखाया गया है।

आनन्दराय मखिन् तंजावुर के राजा शाहजी (१६८४-१७१० ई०) एवं शरभोजी (१७११-२० ई०) के प्रधान मन्त्री थे। ये शैव थे, 'वेदकवि' इनकी उपाधि थी। इन्होंने सात-सात अंकों के दो दार्शनिक नाटक लिखे– **विद्यापरिणयन** तथा जीवानन्दन।[4] प्रथम नाटक में अद्वैतवेदान्त और शृंगाररस का सामञ्जस्य दिखाया गया है। प्रबोधचन्द्रोदय के समान जैनमत, सोमसिद्धान्त, चार्वाक, सौगत आदि पात्रों का सन्निवेश इसमें भी है। शिव की भक्ति से मोक्ष की

---

१. काव्यमाला (सं. ८७) में बम्बई से १९०६ ई० में प्रकाशित।
२. काव्यमाला (सं. ५९) में प्रकाशित, १८९७ ई०।
३. विन्तर्नित्स – **भारतीय साहित्य का इतिहास**, भाग-३, खण्ड-१, पृ. ३३६।
४. काव्यमाला (सं. २७) में प्रकाशित, १८९१ ई०। विद्यापरिणयन का प्रकाशन भी काव्यमाला (सं. ३९) में १८९३ ई० में हुआ है।

प्राप्ति दिखाना इसका उद्देश्य है। 'जीवानन्दन' में पात्रों के रूप में विविध व्याधियाँ (गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद,कुष्ठ, गुल्म आदि) आयी हैं। यक्ष्मा इनका राजा है। राजा जीव यक्ष्मा के नेतृत्व में इन व्याधियों से आक्रान्त होता है, ईश्वर की कृपा से युद्ध में विजयी होता है।

इसी काल के कवि नल्लाध्वरिन् ने भी दो दार्शनिक नाटकों की रचना की थी- चित्तवृत्तिकल्याण तथा जीवन्मुक्तिकल्याण। दूसरा नाटक श्रीरंगम् से १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस नाटक के नायक राजा जीव अपनी प्रियतमा बुद्धि के साथ जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति की दशाओं में भ्रमण करता हुआ क्रमशः सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता है और जीवन्मुक्ति की कामना करता है। काम-क्रोधादि छह शत्रु बाधा उत्पन्न करते हैं तब वह दया, शान्ति आदि आठ आत्मगुणों से उन्हें परास्त करता है। संन्यास लेकर, साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर एवं शिव के प्रसाद और गुरु की कृपा से ब्रह्मज्ञान पाकर वह जीवन्मुक्ति का आनन्द उठाता है। दुरूह अध्यात्म-दर्शन को कवि ने सरल भाषा-शैली का परिधान दिया है। तंजावुर के मराठा-नरेशों की छत्रच्छाया में उक्त दोनों दार्शनिक नाट्यकारों ने अपने रूपकों का प्रणयन किया।

अन्य रूपक-भेद

प्रकरण

संस्कृत भाषा में मृच्छकटिक तथा मालतीमाधव के अतिरिक्त भी समय-समय पर कुछ प्रकरण लिखे गये जिनमें कुछ प्रकाशित हैं। प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने 'कौमुदीमित्रानन्द' (भावनगर से १९१७ ई० में प्रकाशित) लिखा जिसमें बिखरे हुए सामाजिक संवादों का सुन्दर संकलन है। इसकी रचना ११७३-६ ई० के बीच हुई थी। यह अभिनेय नहीं है। 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' १२ वीं शताब्दी के आरम्भ की रचना है। इसमें श्वेताम्बर मुनि देवसूरि तथा दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुए धार्मिक शास्त्रार्थ (११२४ ई०) का नाट्य-रूपान्तर है। इसमें कुमुदचन्द्र पराजित हो गये थे। इस नाटक के लेखक का नाम यशचन्द्र है। १३ वीं शताब्दी में रामभद्रमुनि ने 'प्रबुद्धरौहिणेय' नामक प्रकरण जैनधर्म के एक आख्यान के आधार पर किया था। कालीकट के राजा के सभापण्डित उद्दण्ड कवि ने 'मल्लिकामारुत' नामक प्रकरण दस अंकों में लिखा। ये १७ वीं शताब्दी के मध्य में (१६५० ई०) वर्तमान थे। इसकी कथावस्तु मालतीमाधव के समान है क्योंकि मुख्य कथा में मारुत (कुन्तल राजकुमार) और विद्याधर कुमारी मल्लिका की प्रेमकथा है तो गौणकथा में इनके मित्रों की प्रीति दिखायी गयी है (कलकण्ठ तथा रमयन्तिका)। जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ता से इसे प्रकाशित किया था।

प्रहसन

हास्यरस-प्रधान प्रहसन समाज की विकृतियों या दूषित प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए विकसित हुआ था। प्रायः धार्मिक या राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग करने वाले पाखण्डियों एवं बाहर-भीतर दुहरा रूप लिये हुए व्यक्तियों को प्रहसन का विषय बनाया गया है। चारित्रिक पतन से सामान्य जनता को अवगत कराकर उससे बचने का उपदेश हास्यरस-प्रधान दृश्यों में दिया जाता था। भरत ने हास्य को शृंगार से उत्पन्न रस माना था, इसलिए अधिकांश हास्य-दृश्य विकृत

शृंगार को ही प्रस्तुत करते रहे हैं जिनमें समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रच्छन्न कुत्सित आचरण का अनावरण किया गया है। प्रहसन के अतिरिक्त भाणों में भी हास्य के उपर्युक्त प्रसंग दिये गये हैं।[1] हास्य कुछ स्थितियों में अश्लील है तो अनेक स्थलों में शुद्ध और शालीन भी है जैसे – विदूषक का भोजन के लिए सदा प्रस्तुत रहना, दार्शनिकों का दम्भ, धर्माचार्यों का पाखण्ड इत्यादि।[2] संस्कृत भाषा में प्रहसनों की लम्बी परम्परा है। यहाँ कुछ प्रहसनों का परिचय दिया जाता है। जन-नाट्य होने से बहुत अधिक प्रहसन संस्कृत में सुरक्षित नहीं रह सके; अनेक प्रहसन लोककण्ठ में ही अवस्थित रहे और उनकी पाण्डुलिपियाँ नहीं बन सकीं।

(क) भगवदज्जुकीय

यह संस्कृत के उपलब्ध प्रहसनों में प्रथम है। कृष्णमाचार्य ने इसका काल प्रथम से चतुर्थ शताब्दी ई० के बीच रखा है। मत्तविलास-प्रहसन के लेखक महेन्द्रविक्रम वर्मा का एक अभिलेख ६१० ई० का मिला है जिसमें इस प्रहसन का निर्देश है (कृष्णमाचार्य का 'इतिहास', पृ० ५६९)। इसकी प्रस्तावना में कपिल के 'तत्त्वसमास' से उद्धरण तथा सूत्रधार के कथन में रूपकों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें हास्यतत्त्व कथानक की विचित्रता में निहित है। बौद्धधर्म की निन्दा करना इसका उद्देश्य है। यद्यपि इसके लेखक के विषय में कुछ विवाद है किन्तु प्रायः लोग इसे बौधायन-प्रणीत मानते हैं। इसमें तीन मुख्य पात्र है– परिव्राजक, उसका शिष्य शाण्डिल्य तथा एक सुन्दरी गणिका वसन्तसेना। परिव्राजक को 'भगवान्' और गणिका को 'अज्जुका' कहने से इसका शीर्षक बना है। इसके कथानक में विचित्रता यह है कि यमदूत भ्रान्ति से गणिका के प्राण-हरण करके ले जाते हैं। उसके शव के प्रति ही परिव्राजक का शिष्य प्रेम प्रकट करते हुए गुरु से प्रार्थना करके उसे जीवित करवाता है। गुरु योगबल से अपना शरीर त्याग कर उसी के शरीर में अपने प्राण डाल देते हैं; गणिका जीवित होकर गुरु-जैसा व्यवहार करने लगती है। उधर यमदूत डाँट खाकर गणिका के प्राणों को गुरु के मृत शरीर में डाल देते हैं तो गुरु अपने शिष्य के समक्ष गणिकावत् व्यवहार करने लगते हैं, वे मदिरा माँगते हैं। एक वैद्य दोनों की चिकित्सा करके हास्य उत्पन्न करते हैं। अन्त में यमदूत ही इस वातावरण का निवारण करता है। इस प्रहसन का प्रकाशन पटना (१९२४), कोचीन (१९१५) तथा मद्रास (१९२५) से हुआ था।

(ख) मत्तविलास-प्रहसन[3]

इसके लेखक पल्लवनरेश सिंहविष्णुवर्मा (५७५-६०० ई०) के पुत्र महेन्द्रविक्रमवर्मा हैं

---

१. मेरे निर्देशन में पटना विश्वविद्यालय से दो शोधकार्य इस विषय में सम्पन्न हुए हैं – (क) **संस्कृत नाट्य में प्रहसन**, १९८० ई०। (ख) **संस्कृत नाट्यसाहित्य में हास्यरस**. १९९० ई०।

२. हास्य (Humour) के अनेक रूप इस प्रकार हैं – दुःसम्मिश्रण (घटनाओं या पात्रों का हास्योत्पादक सम्बन्ध), शारीरिक विकृति, सामाजिक वर्गों का हास्य, व्यवसाय का हास्य, कृपणता का हास्य, जातियों की मूर्खता का हास्य, मद्यपान-सम्बन्धी हास्य, मिथ्याभाषण और अतिशयोक्तियों का हास्य इत्यादि। ये सभी शृंगारेतर हैं।

३. त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थावली (सं. ५५) में १९१७ ई० में गणपतिशास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से भी प्रकाशन।

जिनका राज्यकाल ६००-३० ई० माना गया है।[1] महेन्द्रविक्रमवर्मा पहले जैन थे, बाद में शैव हो गये थे। इनकी गति साहित्य, संगीत और कला तीनों में समान थी। **मत्तविलास** तीन दृश्यों में विभक्त एकांकी प्रहसन है। सत्यसोम नामक कापालिक अपनी सहचरी देवसोमा के साथ कांचीपुरी (पल्लवनरेशों की राजधानी) में रहता है। उसके कपाल को एक कुत्ता ले जाता है, मदपान के नशे में उसे ज्ञात नहीं होता। एक बौद्ध भिक्षु को ही कपाल का चोर समझकर वह झगड़ा करता है। वह कहता है कि तुम्हारे आराध्य बुद्ध भी चोर थे; उपनिषदों और महाभारत से विषयों को चुराकर, ब्राह्मणों की आँखें बचाकर उन्होंने अपना कोश भर लिया-

> वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि ।
> विप्राणां मिषतामेव कृतवान् कोषसंचयम् ॥ (१/१२)

नायक-नायिका शक्तिसंचय के लिए बार-बार सुरापान करते हैं। तीनों के बीच कलह होने लगता है। इसी बीच में एक पाशुपत आता है, जिसे बौद्धभिक्षु से पुराना वैर चुकाना है। दोनों एक ही नापित-स्त्री के प्रेमी थे। अत: कापालिक का पक्ष लेकर वह भिक्षु से उलझ जाता है; न्यायालय जाने के सुझाव पर देवसोमा कहती है कि वह तो सम्पन्न व्यक्तियों के लिए है। अन्तत: एक पागल के पास कापालिक का कपाल मिल जाता है, कुत्ते से उसने उसे छीना था। कापालिक प्रसन्न हो जाता है। इस प्रहसन में आडम्बर, व्यभिचार, घूसखोरी आदि सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य है। 'असत्प्रलाप' के रूप में वीथ्यंग का यहाँ सुन्दर प्रयोग है (मत्तविलास, चौखम्भा सं०, पृ० ३३-४ एवं १/१९)। कापालिक मधुशाला को यज्ञशाला मानता है (पृ० ११-२)। मद्य-मांस में आसक्ति के लिए शंकर को दोषी मानता है जिन्होंने ऐसा मोक्षमार्ग बनाया। शाक्यभिक्षु हृदय से सुरासुन्दरी का समर्थक है। वह कहता है कि बुद्ध ने मूल त्रिपिटक में इसका समर्थन किया होगा किन्तु स्थविरों ने वहाँ से इसे मिटा दिया क्योंकि हम युवकों से उन्हें ईर्ष्या रही होगी।[2]

(ग) लटकमेलक-प्रहसन[3]

इसके रचयिता कवि शंखधर हैं जो १२ वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में विद्यमान गहड़वाल-नरेश गोविन्दचन्द्र के राजकवि थे। इस राजा के चालीस अभिलेख मिलते हैं जिनपर १११४ ई० से ११५४ ई० तक की तिथियाँ अंकित हैं। अत: शंखधर का समय १२ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। **लटक-मेलक** (धूर्तों का सम्मेलन) दो अंकों का प्रहसन है। इसका घटनास्थल कुट्टनी दन्तुरा का आवास है जहाँ नर्तकी मदनमञ्जरी का प्रेम खरीदने के लिए समाज के विविध वर्गों के लोगों की भीड़ लगी है।

सर्वप्रथम आचार्य सभासलि अपने शिष्य कुलव्याधि के साथ प्रेमरस के लोभ में आते हैं; शिष्य अपने गुरु को डराता है कि यदि आपकी स्त्री कलहप्रिया इसे जान गयी तो आपकी खोपड़ी तोड़ देगी। इस स्थान पर गृहयुद्ध का रोचक वर्णन है। सभासलि के मन में कलहप्रिया की वृद्धावस्था

---

१. **दि क्लासिकल एज** (भारतीय विद्याभवन, बम्बई), पृ. १५९।

२. **मत्तविलास**, पृ. ११-२ अवश्यमेतैः दुष्टबुद्धस्थविरैः निरुत्साहैः अस्माकं तरुणजनानां मत्सरेण पिटकपुस्तकेषु स्त्रीसुरापानविधानानि परामृष्टानीति तर्कयामि।

३. काव्यमाला (सं. २०) में १८८९ ई० में प्रकाशित। चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से १९६६ में हिन्दी-टीका सहित पुन: प्रकाशन।

कुण्ठा उत्पन्न करती है, उनकी कुण्ठित कामपिपासा मदनमञ्जरी के सौन्दर्य को देखकर तरंगित होती है। वे दन्तुरा के व्रण की चिकित्सा के लिए वैद्य जन्तुकेतु को बुलाते हैं। वे यम को निश्चिन्त करने वाले वैद्य हैं (ल० मे० १/२२)। जन्तुकेतु वृद्धा दन्तुरा को छोड़कर मदनमञ्जरी के गले में फँसे मछली के काँटे की चिकित्सा में उत्सुकता दिखाता है, उसकी चिकित्सा की प्रक्रिया से मदनमंजरी को हँसी आने लगती है जिससे काँटा स्वयं निकल जाता है। प्रथम अंक में दिगम्बर जटासुर की भी कथा है। द्वितीय अंक में मदनमंजरी के प्रेमियों की भीड़ में राजपुत्र राज, विश्वासघातक झकटसार, मिथ्याशुक्ल, फुंकट मिश्र आदि क्रमशः अपनी-अपनी विशिष्टता बताकर प्रेम प्रकट करते हैं। दिगम्बर जटासुर का विवाह दन्तुरा से करा दिया जाता है जिसमें जंगम चतुर्वेदी पुरोहित बनते हैं। इस प्रकार विविध कामुकों पर व्यंग्य किया गया है (चित्रं चरित्रं स्खलितव्रतानां शीलाकरः शंखधरस्तनोति, १/७)। विविध धर्मों तथा दर्शनों के आचार्यों का उपहास भी है। इनके कुछ कथन अन्य ग्रन्थों में भी उद्‌धृत हैं जैसे– 'गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यपास्य' काव्यप्रकाश में, 'एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु' (२/२५) सर्वदर्शनसंग्रह में इत्यादि।

(घ) हास्यचूडामणि[1]

यह वत्सराज के छह रूपकों में अन्यतम है। वत्सराज का परिचय दिया जा चुका है। यह दो अंकों का प्रहसन है। वेश्या-माता कपटकेलि को आभूषणों की चोरी का पता लगता है तो वह मठ में आचार्य ज्ञानराशि के पास जाती है, वे 'केवली' विद्या के ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे अपने शिष्य से वार्तालाप में संलग्न थे। वार्तालाप हास्यजनक है। इसमें मूलश्लोकों को तोड़ने वाली 'पैरोडी' (विरूप काव्य) भी है। कपटकेलि को देखकर ज्ञानराशि आडम्बर की मूर्ति बन जाते हैं। जब कपटकेलि चोरी की बात कहती है तो शिष्य कह उठता है कि गुरुदेव तो कल रात मठ छोड़कर कहीं गये ही नहीं थे। (तब चोरी किसने की?) कपटकेलि चोरी गये आभूषणों की प्राप्ति हो जाने पर उन्हें ज्ञानराशि को ही दे देने का वचन देती है। अब धर्माडम्बर शुरू होता है– पुस्तक की पूजा, कपटकेलि के घर के सदस्यों के नाम के जानना। पीछे ज्ञात होता है कि मदनसुन्दरी ने अपनी माता के आभूषण चुराकर अपने प्रेमी को दे दिया था। ज्ञानराशि की कामुकता के दृश्य दिखाये गये हैं। उन्हें दण्ड देने के लिए वेश्या के नौकर कोकिल और पारावत आते हैं किन्तु गुरु-शिष्य के प्रपञ्च से वे दृष्टिहीन हो जाते हैं। बाद में जलाशय के जल से सबकी दृष्टि लौटती है।

(ङ) धूर्त-समागम[2]

इसके लेखक मिथिला के कवि ज्योतिरीश्वर हैं। इन्होंने अपने आश्रयदाता कर्णाट-राज हरिसिंह देव (शासनकाल १२९५ ई०-१३२४ ई०) का उल्लेख किया है। ज्योतिरीश्वर की ख्याति मैथिली गद्य-रचना वर्णरत्नाकर[3] के कारण बहुत अधिक है। इन्होंने कामशास्त्र-विषयक 'पञ्चसायक' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। हरिसिंह कर्णाट-वंश के अन्तिम राजा थे जो

१. रूपकषट्कम् में संकलित, सं. – बी. जे. संदेशरा, गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, बड़ौदा, १९७२ (पुनर्मुद्रण)।
२. कैपेलर द्वारा जेना से १८८३ ई० में प्रकाशित। डॉ० जयकान्त मिश्र द्वारा इलाहाबाद से भी।
३. कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित (सं. – डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी)। मैथिली अकादमी, पटना से पुनः प्रकाशित।

मिथिला को छोड़कर नेपाल चले गये थे। इनकी राजसभा में 'धूर्तसमागम' का अभिनय हुआ था।[1] कहा जाता है कि इसकी रचना १३२० ई० में हुई होगी। यह दो अंकों का प्रहसन है। प्रथम अंक में सुन्दरी गणिका अनङ्गसेना का प्रेम पाने के विषय में पाखण्डी साधु विश्वनगर तथा उसके शिष्य दुराचार के बीच विवाद होता है। वे दोनों असज्जातिमिश्र पर विवाद के निर्णय का भार डालते हैं। द्वितीय अङ्क में मिश्रमहोदय अपना कार्यभार सँभालते हैं किन्तु स्वयम् अनङ्गसेना पर मोहित होने के कारण कहते हैं कि विषय उलझा हुआ है अतः निर्णय में समय लगेगा। तब तक यह अनङ्गसेना मेरे साथ रहेगी। मिश्रमहोदय का साथी विदूषक भी उस पर मोहित हो जाता है। इसी बीच एक नापित गणिका से अपना पुराना वेतन माँगता है। असज्जातिमिश्र को यह ऋण चुकाना पड़ता है और वे नापित को अंग-मर्दन के लिए कहते हैं। नापित उन्हें बाँध देता है, विदूषक किसी प्रकार बन्धन-मुक्त करता है। उन्हें अनङ्गसेना मिल जाती है। ज्योतिरीश्वर ने इस प्रहसन के द्वारा दम्भियों और धूर्तों का भण्डाफोड़ किया है। गणिका के कारण सबका रहस्य प्रकट होता है।

(च) गौरीदिगम्बर-प्रहसन[2]

यह दो सिद्धियों (अंकों) में विभक्त एक धार्मिक प्रहसन है। इसके लेखक दर्शनादि शास्त्रों के बड़े विद्वान् शंकरमिश्र हैं । मिथिला में 'अयाची मिश्र' के नाम से विख्यात भवनाथ मिश्र के ये पुत्र थे। इनका समय १६०० ई० के आसपास माना जाता है। ये मिथिला के प्रसिद्ध ग्राम 'सरिसव' के निवासी थे। इस प्रहसन में दिगम्बर-रूप शंकर का पार्वती से विवाह वर्णित है जिसमें आद्यन्त हास्य-प्रसंग दिये गये हैं। पार्वती का भाई मैनाक शंकर को देखकर विवाह रोकने का प्रयास करता है, शंकर उससे प्रार्थना करते हैं कि विवाह होने दो, मैं पार्वती को सुखपूर्वक रखूँगा। यह चरित्रप्रधान रूपक है। शंकर की निर्लज्जता, मैनाक की व्यावहारिकता आदि आकर्षक है। संकल्प-वाक्य पैरोडी के रूप में है। शिष्ट हास्य की सर्जना में एक गम्भीर दार्शनिक का यह श्लाघ्य प्रयास है।

(छ) हास्यार्णव-प्रहसन[3]

यह जगदीश्वर भट्टाचार्य-रचित दो अंकों का प्रहसन है। इसका काल १६०० ई० के आसपास है। इसका कथानक बड़ा रोचक है किन्तु यत्र-तत्र अशिष्ट हास्य की सीमा में चला गया है। राजा अनयसिन्धु अपने राज्य की व्यवस्था जानने के लिए अयथार्थवादी नामक सेवक को नियुक्त करता है। वह राज्य की गतिविधि का निरूपण करता है कि आपके द्वारा स्थापित दोषों के आदर्श नष्ट हो गये हैं, अब राज्य में सब कुछ उल्टा-पुल्टा हो रहा है। परवधू को छोड़कर लोग अपनी पत्नी का आलिंगन कर रहे हैं ···(१/१०)। राजा अपने मन्त्री को बुलाकर मन्त्रणा करना चाहता है। प्रसिद्ध कुट्टनी बन्धुरा के घर पर मन्त्रणा के लिए राजा-मन्त्री पहुँचते हैं। राजा उसकी पुत्री मृगांकलेखा पर मुग्ध हो जाता है। उसी समय राजा के पुरोहित विश्वभण्ड कामशास्त्र की शिक्षा देने वहाँ पहुँचते हैं। विश्वभण्ड का परिचय है (१/१६)-

१. डॉ. काशीनाथ मिश्र ने कार्णाटराजतरङ्गिणी में 'धूर्तसमागम' के अभिनय तथा इसकी कथावस्तु का सुन्दर वर्णन किया है (११/१३३-२९७)।

२. चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६९ ई०; तारिणीश झा कृत हिन्दी-टीका।

३. चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२ ई०; हिन्दी टीका सहित।

दिनोपवासी तु निशामिषाशी, जटाधरः सन् कुलटाभिलाषी ।
अयं कषायाम्बरचारुदण्डः, शठाग्रणीः सर्पति विश्वभण्डः ॥

राजा को सर्वनाश का आशीर्वाद देकर विश्वभण्ड अपने शिष्य कलहांकुर का परिचय देता है। राजा बन्धुरा की कामपीडा की चिकित्सा के लिए वैद्य व्याधिसिन्धु को बुलाता है। उसके दर्शन से रोगी के प्राण संकट में पड़ जाया करते हैं (मम दर्शनतो रोगी किल प्राणैर्विमुच्यते १/३१)। वैद्यराज भी गणिका के सौन्दर्य पर मोहित हैं। इसी बीच एक नापित को पकड़कर एक नागरिक ले आता है, नापित की हास्यपूर्ण विशिष्टताएँ घोषित होती हैं। इसी प्रकार उस स्थान पर सेनापति आदि कई पात्र आकर हास्य-सर्जना करते हैं। द्वितीय अंक में कामशास्त्र की शिक्षा देनेवाले दो पण्डितों में (विश्वभण्ड तथा मदनान्धमिश्र) वहीं पर विवाद होता है। दोनों का संवाद हास्य-व्यंग्य से भरा है। मदनान्ध सुझाव देता है कि हम दोनों ही मृगांकलेखा से विवाह कर लें और दोनों शिष्यों का विवाह बन्धुरा (कुट्टनी) से करा दें। विवाह कराने के लिए राढ-देश के पण्डित महानिन्दकाचार्य आते हैं। दक्षिणा न मिलने पर वे मृगांकलेखा के साथ नृत्य करने लगते हैं। अनेक पात्रों की विकृतियों को अनावृत करने वाला यह प्रहसन भी चरित्रप्रधान है। यह वस्तुतः हास्यरस का समुद्र है, 'यथा नाम तथा गुणः' है।

संस्कृत में कौतुकसर्वस्व, धूर्तनर्तक आदि कई प्राचीन प्रहसन हैं, आज भी वे० राघवन् आदि लेखकों ने कई प्रहसन लिखे हैं। प्रहसनों को भद्दी कृतियों के रूप में रखनेवाले कीथ आदि विद्वान् इनके उपदेश-रूप प्रयोजन की उपेक्षा करते हैं।

भाण

प्रहसनों के समान भाण में समाज की विकृतियों पर व्यंग्य किया जाता है। इसमें एक ही पात्र (विट) रहता है जो किसी छिपे हुए पात्र से वार्तालाप करता-सा लगता है। यह एकांकी होता है; प्रायः किसी नगर के मार्ग या वेश्या-द्वार पर ही सारी घटनाएँ होती हैं। यद्यपि संस्कृत में अनेक भाण परवर्ती युग में लिखे गये तथापि प्राचीन भाणों में 'चतुर्भाणी' (चार भाणों का समूह) प्रसिद्ध तथा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

'चतुर्भाणी' का अनुसन्धान तथा प्रथम प्रकाशन भी १९२२ ई० में हुआ। एम्० रामकृष्ण कवि तथा एस्० के० रामनाथ शास्त्री के सम्पादन में यह शिवपुरी (त्रिचूर, केरल) से उसी वर्ष प्रकाशित हुई। इसकी समीक्षाएँ विद्वानों के द्वारा (विशेषतः एफ० डब्ल्यू० थॉमस द्वारा) विदेशी पत्रिकाओं में की गयीं। पुनः डॉ० मोतीचन्द्र तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सुसम्पादित तथा सटीक हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका सहित यह हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई से १९५९ ई० में प्रकाशित हुई। इसके अन्तर्गत चार भाण इस प्रकर हैं- (१) वररुचि-कृत उभयाभिसारिका, (२) शूद्रक-कृत पद्मप्राभृतक, (३) ईश्वरदत्त-कृत धूर्तविटसंवाद और (४) श्यामलिक-कृत पादताडितक। इन भाणों के रचयिताओं के नाम एक परम्परागत पद्य में मिलते हैं[1], अन्यथा इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। अभिनवगुप्त, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र ने (सभी

---

१. वररुचिरीश्वरदतः श्यामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः ।
एते भाणान् बभणुः का शक्ति : कालिदासस्य ॥

दशम शताब्दी के अन्त में) पादताडितक से उद्धरण दिये हैं। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में पद्मप्राभृतक तथा धूर्तविटसंवाद के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

किन्तु उभयाभिसारिका की उत्तरकालसीमा जानने का कोई साधन नहीं है। ये भाण बहुत प्राचीन भाषा-शैली एवं सामाजिक स्थिति के द्योतक हैं; सम्पादकों ने इन भाणों को ३०० ई० से ५०० ई० के बीच की रचना कहा है। श्यामलिक के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि कश्मीरी होने के कारण तथा महिमभट्ट के गुरु का भी यही नाम होने से दोनों को अभिन्न मानकर ८००-९०० ई० का लेखक इन्हें माना जाये।[१] अभिनवगुप्त ने इनका नाम भी लिया है।

उभयाभिसारिका का स्थान पाटलिपुत्र का राजमार्ग और वेश्याओं का मुहल्ला (वेश) है। यहाँ विट को नगर-सेठ रूठी हुई गणिका (नारायणदत्ता) को मनाने के लिए भेजता है। मार्ग में उससे अनंगदत्ता, माधवसेना, संन्यासिनी (सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनों में निष्णात), रामसेना, सुकुमारिका, धनमित्र आदि की भेंट होती है; कुछ अन्य जन हैं। सब को वह आधुनिक राजनेताओं के समान वचनों से प्रसन्न करता है। संन्यासिनी से उसका वार्तालाप वैशेषिक दर्शन के पदार्थों के कामशास्त्रीय प्रयोग से समन्वित है (श्लोक-१८)-

द्रव्यं ते तनुरायताक्षि दयिता रूपादयस्ते गुणाः
सामान्यं तव यौवनं युवजनः संस्तौति कर्माणि ते ।
त्वय्यार्ये समवायमिच्छति जनो यस्माद् विशेषोऽस्ति ते
योगस्ते तरुणैर्मनोभिलषितैर्मोक्षोऽप्यनिष्टाजनात् ॥

भाण के अन्त में प्रेमी से प्रेमिका के और प्रेमिका से प्रेमी के मिलने लिए अभिसार की सूचना मिलती है, दोनोंका अभिसार इसका शीर्षक है।

पद्मप्राभृतक में चौर्यकलाचार्य मूलदेव (कर्णीसुत) तथा गणिका देवसेना की प्रेमकथा का वर्णन है। मूलदेव पाटलिपुत्र का वासी है किन्तु उसका कार्यक्षेत्र उज्जयिनी है। कर्णीसुत देवदत्ता का प्रेमी है किन्तु इधर चाण्डालषोडशी देवसेना के प्रेम में भी मत्त हो गया है। वह विट को देवसेना के घर भेजता है। विट उज्जयिनी की गलियों को पार करता जाता है और अनेक लोगों से भेंट करता है जैसे- सारस्वतभद्र (कवि), विपुलामात्य, दत्तकलशि (वैयाकरण), पवित्रक (छिपा व्यभिचारी), वृद्ध वासुलक (जवान दिखायी पड़ने का प्रयास करने वाला - सिद्धं ते मायया यौवनकर्म), शैषिलक, बौद्धभिक्षु, वनराजिका आदि छह वेश्याएँ इत्यादि। देवसेना के पास विट पहुँच जाता है। वह कर्णीसुत (मूलदेव) से अपना प्रेम स्वीकार करती है। विट देवसेना से उपहार के रूप में मूलदेव को देने के लिए एक कमल ले जाता है। यही शीर्षक है- पद्म का उपहार (प्राभृतक)। इस भाण का पूर्वार्ध हास्यमय किन्तु उत्तरार्ध शृङ्गारपूर्ण है।

धूर्तविटसंवाद का परिवेश पाटलिपुत्र का राजमार्ग है। इसका मुख्य भाग विश्वलक (धूर्त) और देविलक (विट) के बीच कामतन्त्र-विषयक प्रश्नोत्तर के रूप में है। कामतन्त्र पर आश्रित हास्य की सर्जना यहाँ की गयी है। वर्षाकाल में वृष्टि रुकने पर विट अपने घर से निकल कर नगर की समृद्धि का वर्णन करता है (श्लोक १०)। विटकी भेंट यहाँ भी कई लोगों से होती है जो हास्य-

---

१. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (आ. बलदेव उपध्याय), पृ. ५८४।

प्रसंग उत्पन्न करते हैं। सेठपुत्र कहता है– पिता नाम खलु सयौवनस्य पुरुषस्य मूर्तिमान् शिरोरोगः। वेश (वेश्याओं के मुहल्ले) में पहुँचकर वह विश्वलक से मिलता है और प्रश्नोत्तर आरम्भ हो जाता है। विट का कामशास्त्रीय ज्ञान तथा भोगवाद में विश्वास प्रकट होता है।

पादताडितक इन भाणों में दीर्घतम है। इसका परिवेश उज्जयिनी का वेश (वेश्याओं का मुहल्ला) है। इसके आरम्भ में हास्य का महत्त्व अंकित है। गणिका मदनसेना ने प्रेमवश विष्णुनाग के सिर पर अपने पैर रख दिये हैं जिससे वह कुपित है। वह प्रायश्चित्त पूछने के लिए ब्राह्मणों की सभा में जाता है। प्रायश्चित्त-विधान पर शास्त्रार्थ का रोचक विवरण दिया गया है। निर्णय न होने से विटों की सभा में यह प्रश्न रखा जाता है। विट उस सभा में जाते हुए मार्ग में अनेक विचित्र पात्रों से मिलता जाता है। जीमूतभट्ट के घर पर यह सभा होती है। सभी अपने हास्यास्पद प्रायश्चित्त बताते हैं। अन्त में जीमूतभट्ट का निर्णय होता है कि मदनसेना मेरे सिर पर पैर रख दे तो विष्णुनाग का प्रायश्चित्त पूरा हो जायेगा।

इन भाणो के विटों की दृष्टि से कोई नहीं बचता। सब पर ये टिप्पणी करते हैं। इन प्राचीन भाणों के बाद हमें जो भाण मिलते हैं वे १३ वीं शताब्दी ई० के पूर्व के नहीं हैं। ये हैं – कर्पूरचरित (ले०-वत्सराज), शृंगारभूषण (वामनभट्ट, १४ वीं श०), मुकुन्दानन्द (काशीपति कविराज), वसन्ततिलक (वरदाचार्य), शृंगारतिलक (रामचन्द्र दीक्षित), शृंगारसर्वस्व (नल्लाकवि), रससदन (युवराज, केरल), महिषमंगल (ले०- कवि महिषमंगल), पंचभाणविजय (रंगाचारी), रसिकरञ्जन (श्रीनिवासाचार्य), शृंगारसुधा (रामवर्मन्)।[1] भाणों की अच्छी परम्परा रही है।

अन्य नाट्यकृतियाँ

प्रत्येक शताब्दी में संस्कृत नाट्यकृतियों की रचना होती रही है, आधुनिक युग में इसकी गति सुतरां समृद्ध रही है। अधिसंख्यक रूपकों का मञ्चन भी यत्र-तत्र प्रबुद्ध वर्ग के मनोरञ्जन के लिए परिषदों, गोष्ठियों और सभाओं में होता है। आकाशवाणी पर भी अनेक प्राचीन-नवीन रूपक केवल श्रव्य के रूप में प्रसारित होते हैं। 'शंकराचार्य' और 'भगवद्गीता' के नाम से दो संस्कृत चलचित्र (फिल्म) भी बनकर लोकप्रिय हुए हैं। इनमें आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण तथा तकनीक का प्रयोग हुआ है। यहाँ कुछ प्राचीन-नवीन रूपकों के नामनिर्देश किये जाते हैं।

प्राचीन

सप्तम शतक ई० में चन्द्र-कृत 'लोकानन्द' नामक बौद्धनाटक अब तिब्बती भाषा में ही प्राप्त है। अष्टम शतक के अनंगहर्ष-कृत 'तापसवत्सराज' उदयनकथा पर छह अंकों का नाटक है; केरल के कुलशेखरवर्मन् (८९५-९५५ ई०) के दो नाटक 'तपती-संवरण' (६ अंक) तथा 'सुभद्राधनञ्जय' (५ अंक) महाभारत-कथा पर हैं। धीरनाग-कृत 'कुन्दमाला' (६ अंक) प्रायः १००० ई० का नाटक है जो उत्तररामचरित के कथानक को सरल रूप में प्रस्तुत करता है। बिल्हण (११ वीं शताब्दी) की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका में चालुक्य-नरेश कर्णदेव (१०६४-९४ ई०) के विवाह का वर्णन है। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र मुनि (१२ वीं श०) ने अनेक रूपक लिखे थे

---

१. चतुर्भाणी (१९५९), भूमिका, पृ. ३।

जैसे – नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, निर्भयभीम आदि। इनके एक प्रकरण की चर्चा ऊपर की गयी है। १३ वीं शताब्दी में मदनपाल ने 'पारिजातमंजरी' नाटिका लिखी जिसमें अर्जुनवर्मा की प्रेमकथा है। इसके दो अंक धार (मध्यप्रदेश) में शिलाफलक पर उत्कीर्ण हैं, अत: इतना ही भाग सुरक्षित है। इसी काल के जयसिंह सूरि-रचित 'हम्मीर-मद-मर्दन' (५ अंक) नाटक तथा केरलीय रविवर्मा-कृत 'प्रद्युम्नाभ्युदय' (५ अंक) नाटक मिलते हैं।

वामनभट्ट बाण (१४२० ई०) ने 'पार्वती-परिणय' (५ अंक), रूपगोस्वामी (१५००ई०) ने 'विदग्धमाधव' आदि अनेक कृष्ण-नाटकों की, हरिहर (१५ वीं श०) ने 'भर्तृहरिनिर्वेद' (५ अंक) की, महादेव (१७ वीं श०) ने रामकथा पर 'अद्भुत-दर्पण' (१० अंक) की, नीलकण्ठ दीक्षित (१७ वीं श०) ने 'नलचरित' (६ अंक) की एवं रामवर्मा (१८ वीं श०) ने 'रुक्मिणीपरिणय' की रचना से नाट्यसाहित्य को समृद्ध किया। ऐसे शताधिक नाटक विभिन्न सूचियों में निबद्ध हैं।

नवीन

आधुनिक युग में[1] प्राचीन विषयों के अतिरिक्त नये विषयों को भी (जैसे– रामकृष्ण, विवेकानन्द, गाँधी जी, नेहरू जी, सुभाषचन्द्र बोस, अँग्रेजी राज्य, सामाजिक परिवर्तन आदि) नाट्य-वस्तु बनाया गया है। स्वाधीनता-संग्राम के वीरों तथा मध्य-युग के महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि राजाओं के कार्यों पर भी अनेक रचनाएँ हैं।

परशुराम नारायण पाटणकर का 'वीरधर्मदर्पण' (१९०७ ई०) वीर अभिमन्यु की कथा पर आश्रित है। पञ्चानन तर्करत्न के दो नाटक 'अमरमंगल' (प्रतापसिंह के पुत्र अमरसिंह पर) तथा 'कलंकमोचन' १९२० ई० के आसपास के हैं। अम्बिकादत्त व्यास का 'सामवत', मथुराप्रसाद दीक्षित के 'भारतविजय' (१९३७ ई०), 'गाँधी-विजय' आदि दस नाटक, महालिंगशास्त्री के प्राय: दस प्रहसन तथा नाटक, (कौण्डिन्य-प्रहसन, कलिप्रादुर्भाव, प्रतिज्ञा राजसूय आदि), हरिदास सिद्धान्तवागीश के 'मिवारप्रताप' (१९४४ ई०) तथा 'शिवाजी चरित' (१९४५ ई०), मूलशंकर याज्ञिक (१८८६-१९६५) के 'प्रतापविजय' (१९२६ ई०), 'संयोगितास्वयंवर' (१९२७ ई०) तथा 'छत्रपतिसाम्राज्य' (१९२९ ई०), वेंकट राघवन् के अनेक रूपक (जैसे– अनारकली, आषाढस्य प्रथमदिवसे, अवन्तिसुन्दरी आदि), यतीन्द्र विमल चौधरी के प्राय: चालीस रूपक एवं श्रीराम वेलणकर के नाटक 'रानी दुर्गावती' आदि उल्लेखनीय हैं।

परीक्षित शर्मा के छोटे-बड़े २७ नाटक 'परीक्षिन्नाटकचक्र' के नाम से प्रकाशित हैं। वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य ने अनेक नाटक नये विषयों पर लिखे हैं जैसे– 'शार्दूलशकट' (१९६९), परिवहन-व्यवस्था पर, 'वेष्टनव्यायोग' मिल-मालिक के घेराव पर, 'शरणार्थिसंवाद' बंगलादेश के शरणार्थियों पर, 'लक्षणव्यायोग' नक्सलपन्थियों पर एवं 'मार्जिनाचातुर्य' अलीबाबा और चालिस चोर की कहानी पर। अभिराज राजेन्द्रमिश्र ने अपने महाकाव्यों के समान महत्त्ववाले

---

१. आधुनिक नाट्य-साहित्य के लिए देखें – Sanskrit Dramas of Twentieth Century (Dr. Usha Satyavrata), 1971; भारतीय साहित्य (अंक ६५) में 'संस्कृत भाषा का आधुनिक नाट्य-साहित्य' (जयशंकर त्रिपाठी) तथा अंक ७१ में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा लिखित इसकी प्रतिक्रिया।

नाट्यों की रचना पुष्कल मात्रा में की है, उनके ६२ एकांकी संस्कृत में हैं। नाटकपञ्चगव्य (१९७२ ई०), नाट्यपञ्चामृत (१९७७ ई०), चतुष्पथीय (१९८३ ई०), नाट्यसप्तपद (१९९४ ई०) आदि इनके प्रमुख नाट्यसंग्रह हैं। इनकी भाषा नये रंगमंच के अनुकूल है। ये नाट्यकार आधुनिक संस्कृत में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संस्कृत भाषा की जीवनी शक्ति का परिचय आधुनिक नाट्य-रचनाओं से मिलता है। यह भी सिद्ध होता है कि नये विषयों के अवगाहन में संस्कृत साहित्यकार अन्य भाषाओं के साहित्यकारों से पीछे नहीं है।

अध्याय-२०

व्याकरण और काव्यशास्त्र

संस्कृत भाषा में शास्त्रों से सम्बद्ध रचनाओं का संक्षिप्त परिचय साहित्य के अध्येताओं के लिए आवश्यक है।[1] इस विषय पर विभिन्न ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है; विशेष रूप से काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद के इतिहास से संबद्ध बड़े-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उन शास्त्रों के सिद्धान्तों तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सार-रूप में परिचय सामान्य पाठकों तथा संस्कृत साहित्य के अध्येताओं की आवश्यकता को ध्यान में रखकर दिया जाता है जिससे वे प्रामाणिक सामग्री प्राप्त कर सकें। प्रस्तुत अध्याय में व्याकरण तथा काव्यशास्त्र का विवेचन प्रस्तुत है।

व्याकरणशास्त्र

पदों का विश्लेषण (व्युत्पत्ति) तथा शुद्धता की समीक्षा के अर्थ में व्याकरण का उद्भव वैदिक युग में ही हो चुका था। इसके अनुसन्धान की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।[2] वेदाध्ययन के लिए उपादेय शास्त्रों (वेदाङ्गों) में व्याकरण को प्रमुख स्थान मिला (मुखं व्याकरणं स्मृतम्)। पद-विवेचन में अन्य सभी भाषाओं में संस्कृत अग्रणी है, इतनी सूक्ष्म दृष्टि तथा गम्भीरता से व्याकरण का विचार कहीं नहीं है। वेदाङ्गों में शिक्षा का उपयोग शुद्ध शब्दोच्चारण के लिए, व्याकरण का पद के विवेचन के लिए और निरुक्त का अर्थज्ञान एवं निर्वचन के लिए था। कालक्रम से ये सभी उपयोग व्याकरण पर आश्रित हो गये, उसका भार बढ़ गया। व्याकरण की दो पद्धतियाँ वैदिक युग में थीं और दोनों से शुद्ध पदों के ज्ञान का लक्ष्य पूरा होता था- (क) प्रतिपद-पाठ तथा (ख) सामान्य-विशेष नियमों से शब्द-ज्ञान देना। प्रातिशाख्यों में दोनों प्रकार की विधियाँ मिलती हैं। क्रमशः दूसरी विधि की उपादेयता अधिक स्पष्ट हुई तो प्रतिपद-पाठ की निन्दा होने लगी क्योंकि उसमें काल का अपव्यय माना गया।

---

१. भरत ने नाट्यशास्त्र (१/११३-४) में कहा है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते ॥

वस्तुतः काव्यमात्र में विविध ज्ञान की अनिवार्यता है - अहो भारो महान् कवेः। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में काव्य के हेतु या अंग के रूप में शास्त्रों का निरूपण हुआ है। शास्त्रों की कोई सीमा नहीं - अनन्तपारं किल शास्त्रसारम्। काव्य या साहित्य को सही ढंग से समझने के लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कविशिक्षा का निरूपण करते हुए विविध शास्त्रों तथा उनकी पद्धतियों पर प्रकाश डाला है। शास्त्रों का आरम्भ बहुधा अल्पाक्षर सूत्रों में हुआ है। बाद में वृत्ति (सूत्र की व्याख्या), भाष्य (विस्तृत टीका), टीका (अर्थ बताना), पञ्जिका (कठिन पदों का अर्थ समझाना), कारिका (पद्यात्मक शास्त्र-निरूपण), वार्तिक (उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त का प्रतिपादन), प्रकरण (शास्त्र के एक-दो विषयों का निरूपक ग्रन्थ) इत्यादि का विकास हुआ। कुछ शास्त्रों में ये सभी प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं।

२. डॉ. विद्यानिवास मिश्र - भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७८ ई०।

यद्यपि अनेक वैयाकरणों के नाम तथा उनके सिद्धान्त ७०० ई० पू० के आसपास रचे गये निरुक्त में मिलते हैं, तथापि उनके ग्रन्थों की प्राप्ति नहीं हुई है। तैत्तिरीय संहिता (६/४/७/३) के अनुसार देवों की प्रार्थना मानकर इन्द्र ने अव्याकृत वाणी का विश्लेषण करके प्रथम वैयाकरण होने का श्रेय प्राप्त किया। वाक्य से पदों का अपोद्धार और पद में प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना व्याकृत वाणी का लक्षण हुई। इसे व्याकरण का शब्दपक्ष अर्थात् व्यावहारिक पक्ष कहा गया। दूसरी ओर व्याकरण का अर्थपक्ष अर्थात् दार्शनिक पक्ष भी था जिसमें वाक्य और उसका अर्थ ही परमतत्त्व माना गया।[1] फिर भी व्याकरण की प्रक्रिया तो मुख्य रूप से शब्दपक्ष वाली ही है जिसमें परमतत्त्व वाक्य का विभाजन पदों से होते हुए छोटी-छोटी इकाइयों में किया जाता है, एक-एक वर्ण की व्यवस्था की जाती है। यही संस्कृत भाषा की विशिष्टता है कि वैयाकरणों ने किसी वर्ण को अव्याख्यात नहीं छोड़ा।

आरम्भिक वैयाकरण निश्चित रूप से वैदिक भाषा का अन्वाख्यान करते थे, क्रमशः लौकिक (संस्कृत) और वैदिक दोनों भाषाओं के अन्वाख्यान में वे सन्नद्ध हुए और अन्ततः उनका लक्ष्य केवल संस्कृत भाषा की व्याख्या में ही परिमित हो गया। पाणिनि-जैसे आठ आदिम वैयाकरण हुए जिन्होंने पृथक्-पृथक् व्याकरण-सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। बोपदेव (१३ वीं शताब्दी ई०) ने अपने 'कविकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में इनके नाम दिये हैं जो वस्तुतः पक्षपातपूर्ण हैं-

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादि-शाब्दिकाः ।।[2]

इन सभी व्याकरण-प्रस्थानों में पाणिनीय प्रस्थान गम्भीरता, व्यापकता तथा ग्रन्थ-बाहुल्य की दृष्टि से प्रशस्त है।[3] यहाँ मुख्य रूप से पाणिनीय प्रस्थान के महत्त्वपूर्ण आचार्यों तथा उनकी कृतियों का परिचय दिया जाता है।

(१) पाणिनि

संस्कृत भाषा को अद्‌भुत व्याकरण का उपहार देनेवाले पाणिनि का जन्म शालातुर-ग्राम (वर्तमान - लाहुर, पाकिस्तान में अटक के समीप) में हुआ था, इसीलिए पतञ्जलि ने इन्हें प्रायः 'शालातुरीय' कहा है। इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः ये 'दाक्षीपुत्र' भी कहे गये हैं। कथासरित्सागर के अनुसार ये वर्ष नामक आचार्य के शिष्य थे। पाणिनि-काल ५०० ई० पू० में अधिसंख्यक विद्वानों ने माना है किन्तु कुछ लोग इन्हें ७००-६०० ई० पू० के बीच रखने के पक्षधर हैं। डॉ० बेलवलकर इसी मत के प्रवर्तक थे। पाणिनि ने सम्भवतः 'जाम्बवतीजय' काव्य भी लिखा था।

पाणिनि का काल

यह बहुत जटिल प्रश्न है, फिर भी अनेक विद्वानों ने इसका समाधान अपने-अपने तर्कों

१. डॉ. वीणा शर्मा - **कृत्प्रत्ययविमर्श** (१९९६), पृ. २-३।
२. आचार्य बलदेव उपाध्याय - **संस्कृतशास्त्रों का इतिहास**, पृ. ३९१, पादटिप्पणी-१ में उद्धरण।
३. पाणिनीय तन्त्र में प्रकाशित ग्रन्थों तथा समीक्षाओं के लिए देखें - George Cardona — **Pāṇini, A Survey of Research**, MLBD, Delhi, 1980.

से किया है। (१) पाणिनि के काल की पूर्वसीमा यास्क का निरुक्त (८०० ई० पू०) तथा प्रातिशाख्य-ग्रन्थ हैं जो पाणिनि से पूर्व की रचनाएँ हैं। उनके समय की उत्तर सीमा नन्दकाल में आविर्भूत कात्यायन (३५० ई०पू०) हैं जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं। (२) बृहत्कथा की परम्परा में पाणिनि और कात्यायन को समकालिक कहा गया है जिसे प्रमाण मानकर मैक्समूलर आदि पाश्चात्त्य लेखकों ने पाणिनि को भी ३५० ई० पू० में रखा था। किन्तु यह दोषपूर्ण मान्यता है क्योंकि कात्यायन के वार्तिकों से स्पष्ट होता है कि पाणिनि के द्वारा निरीक्षित संस्कृत भाषा में उल्लेखनीय परिवर्तन कात्यायन के समय तक हो चुके थे, अतः दोनों के काल में दो-तीन सौ वर्षों का व्यवधान अवश्य होगा अर्थात् पाणिनि को ६०० ई० पू० मानना अनिवार्य है। (३) कुछ लोगों ने 'कुमारः श्रमणादिभिः' (पा० सू० २/१/७०) के आधार पर पाणिनि पर बौद्ध प्रभाव दिखाया है क्योंकि उक्त सूत्र के गण-पाठ में स्त्रीलिङ्ग 'श्रमणा' शब्द आया है। बुद्ध ने ही श्रमण का प्रयोग करके स्त्रियों को भी श्रमणा (संन्यासिनी) बनने का विधान किया था। यह तर्कसंगत नहीं क्योंकि प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी 'श्रमण' का प्रयोग है। (४) पाणिनि ने 'निर्वाणोऽवाते' (पा० सू० ८/२/५०) सूत्र में 'निर्वाण' शब्द (त का नकार) का विधान 'शान्त या बुझा हुआ' के अर्थ में किया है– निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः। बौद्ध धर्म में यह मोक्ष के अर्थ में अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द है जो तृतीय आर्यसत्य माना गया है। बौद्ध धर्म से पाणिनि परिचित होते तो इस शब्द को इस अर्थ में अवश्य समझाते। (५) गोल्डस्टूकर तथा रामकृष्ण भण्डारकर ने पाणिनि का काल ७०० ई० पू०, श्रीपादकृष्ण बेलवलकर ने ७००-६०० ई० पू० तथा वासुदेव शरण अग्रवाल ने ५०० ई० पू० के निकट माना है। डॉ० अग्रवाल ने तो पाणिनि की आयु ७० वर्ष मानकर उनके जीवन-काल को निश्चित तिथियों के द्वारा निरूपित किया है। यहाँ न तो मैक्समूलर, कीथ आदि के द्वारा स्वीकृत ३५० ई. पू. को और न ही युधिष्ठिर मीमांसक के द्वारा निर्दिष्ट २९०० ई. पू. को पाणिनि का काल माना जा सकता है – ये अतिवादी मत हैं।

गोल्डस्टूकर ने पाणिनि के वैदिक ज्ञान की मीमांसा करते हुए कहा था कि वे केवल तीन वेदों से परिचित थे; आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, शतपथ, अथर्ववेद आदि से वे अपरिचित थे। इस मत का विस्तृत निराकरण पॉल थीमे, अग्रवाल आदि ने किया है। वे मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद-वाङ्मय पाणिनि के पूर्व विकसित हो चुका था। यह काल अवश्य ही ६०० ई. पू. का रहा होगा। उस काल में संस्कृत में प्राच्य और उदीच्य नामक दो विभाषाएँ (बोलियाँ) प्रचलित थीं।

पाणिनि का योगदान

संस्कृत व्याकरणशास्त्र को पाणिनि का योगदान अमर है। इनका व्याकरण-प्रस्थान संस्कृत व्याकरण के सभी दस उपलब्ध प्रस्थानों में व्यापकता, गम्भीरता एवं स्वीकार्यता के कारण अग्रणी है। लौकिक संस्कृत के साथ वैदिक भाषा की तुलना एवं उनके शब्दों की सूक्ष्म विवेचना इनके व्याकरण की विशिष्टता है। अपनी प्रख्यात कृति 'अष्टाध्यायी' में इन्होंने ३९७८ सूत्रों (तथा १४ प्रत्याहार-सूत्रों) के द्वारा तात्कालिक भाषा का जैसा सर्वेक्षण इन्होंने किया है, वैसा किसी भाषा के किसी ग्रन्थ में नहीं है। अष्टाध्यायी आठ अध्यायों में विभाजित सूत्र-ग्रन्थ है, प्रत्येक अध्याय को ४-४ पादों में विभक्त किया गया है। विषयों का क्रम प्रकरणों के अनुसार, अनुवृत्ति को ध्यान में रखकर, वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है। यह अपरिचित भाषा को सिखाने वाली रचना नहीं है,

अपितु परिचित-प्रचलित भाषा के पदों का विवरण देने वाली कृति है। लोक तथा वेद में व्यवहृत प्रत्येक पद के प्रत्येक अक्षर की व्याख्या करना इसका लक्ष्य है।

अष्टाध्यायी को समझने के लिए उन्होंने कुछ सहायक ग्रन्थ भी परिशिष्ट के रूप में लिखे- गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन तथा उणादिसूत्र। इन पाँचों का संयुक्त नाम है- पञ्चपाठी। इस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण-प्रस्थान का प्रवर्तन इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के महान् उद्देश्य से किया था।[1] यह कहा जाता है कि संस्कृत की समस्त शब्द-सम्पदा नष्ट हो जाये तो भी अष्टाध्यायी के द्वारा उसका पुनरुद्धार हो जा सकता है। पाणिनि के भाषिक तथा व्याकरणिक योगदान का आकलन निम्नांकित बिन्दुओं पर किया जा सकता है:-

(१) माहेश्वर-सूत्र या **प्रत्याहार-सूत्र** अष्टाध्यायी के आधार हैं। ये वर्णोपदेश के रूप में हैं जिनसे वर्ण-संक्षेप के लिए प्रत्याहार बनते हैं जैसे - अण्, अच्, हल्, अक्, जश् आदि। उक्त १४ सूत्रों में संस्कृत की वर्णमाला अष्टाध्यायी के सूत्रों में उपयोग के लिए दी गयी है। स्वरों को मूल (अ,इ,उ,ऋ,लृ) तथा सन्ध्यक्षर (ए ओ ए औ) के रूप में बाँटकर व्यञ्जनों को अन्तःस्थ, स्पर्श (विपरीत क्रम से पंचम, चतुर्थ तृतीय, द्वितीय और प्रथम के रूप में) तथा ऊष्म के क्रम से सजाकर ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में समर्थ पद स्थापित किया गया है। (२) अष्टाध्यायी में **लाघव** के लिए अनेक विधियों का प्रयोग है जैसे - प्रत्याहार, गण-व्यवस्था, अनुबन्धों का विभिन्न प्रयोजनों से विनियोग, अधिकार-सूत्र, अनुवृत्ति तथा परिभाषा-सूत्र।[2] प्रत्याहार माहेश्वर-सूत्रों तक ही परिमित नहीं (जैसे- अच् = सभी स्वरवर्ण, जश् = तृतीय वर्ण, शल् = ऊष्मवर्ण इत्यादि), प्रत्युत सुप्, तिङ्, सुट् इत्यादि के रूप में प्रत्यय-समूह भी इसकी परिधि में आते हैं। दो वर्णों का प्रत्याहार अनेक वर्णों का लाघव करता है। (३) **सन्धि के नियमों** को अष्टाध्यायी के षष्ठ और अष्टम अध्यायों में पाणिनि ने विस्तार से समझाया है। इस प्रसंग में षत्व, णत्व, जश्त्व, चर्त्व आदि सभी प्रकार के वर्ण-परिवर्तन स्पष्ट किये गये हैं। (४) व्याकरण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया **उत्सर्ग** (सामान्य नियम) तथा **अपवाद** (विशेष नियम) के रूप में पाणिनि ने अपनायी है जैसे- दीर्घ होने का सामान्य नियम देकर पुनः अपवाद के कई सूत्र दिये गये हैं कि इन स्थानों में दीर्घ का प्रसंग होने पर भी वह नहीं होगा। इससे व्याकरण में प्रतिपद-पाठ की प्रलम्ब विपत्ति का निराकरण हो जाता है। (५) **पद-विज्ञान** ही पाणिनि का मुख्य प्रतिपाद्य है। पद दो प्रकार के हैं- सुबन्त तथा तिङन्त। प्रातिपदिकों से सुबन्त और धातुओं से तिङन्त पद निष्पन्न होते हैं। कुछ प्रातिपदिक कृदन्त, तद्धितान्त और समास के रूप में हैं। इन सभी की निष्पत्ति की सूक्ष्म प्रक्रिया अष्टाध्यायी में वर्णित है। पद का रूप चाहे सरल हो या जटिल, पाणिनि उसका प्रत्यक्षर विवरण देते हैं। आधुनिक वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (Descriptive

---

१. पाणिनि की प्रशंसा में पतञ्जलि कहते हैं- **प्रमाणभूत आचार्यों दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण** (महाभाष्य १/१/१)। अन्य स्थल में- **सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन्पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्** (महाभाष्य ६/१/७७)। काशिका में जयादित्य कहते हैं- **महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य** (काशिका ४/२/७४)। ब्लूमफील्ड ने कहा है- Pāṇini's work is the greatest monument of human intelligence (पाणिनि की कृति मानव प्रतिभा की श्रेष्ठ रचना है)। इसे कई विद्वानों ने दुहराया है।

२. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'- **वैदिकी प्रक्रिया** में कौमुदीकलापः, श्लोक २०-२।

Linguistics) का प्रवर्तक पाणिनि को माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। अव्याकृत पदों (अव्ययों-निपातों) को पाणिनि ने प्रतिपद-पाठ का ही परिधान प्रदान किया है। (६) प्रत्ययों का विधान या वर्णन करते हुए पाणिनि का ध्यान अर्थ पर भी रहा है। ऐसा मुख्यत: कृत् और तद्धित के प्रसंग में देखा जा सकता है। प्रत्ययान्त धातु के निष्पादक सन्, क्यच्, यङ् आदि प्रत्ययों के भी विशिष्ट अर्थ उन्होंने बताये हैं। धातुपाठ पूरा का पूरा अर्थ से विभूषित है। इस प्रकार **अर्थविज्ञान** के क्षेत्र में भी पाणिनि का योगदान अमूल्य है। (७) पाणिनि ने **पारिभाषिक शब्दों** का द्विविध प्रयोग किया है। कुछ शब्द तो सामान्य व्यवहार से लेकर विशिष्ट अर्थों में उन्होंने रखे हैं जैसे- गुण, वृद्धि, धातु, प्रातिपदिक आदि। कुछ सर्वथा कृत्रिम लघुकाय संज्ञाएँ रखीं जैसे- टि, घु, भ, घ इत्यादि। इनकी भाषा के लाघव में प्रभूत भूमिका है। (८) पाणिनि भाषा का विश्लेषण एक समृद्ध **दार्शनिक आधार** पर कर रहे थे। कात्यायन, पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि परवर्ती व्याख्याकारों ने पाणिनि के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझाते हुए स्पष्ट कहा है कि व्याकरण भाषा का केवल बाह्य विश्लेषण नहीं है, इसमें वाक्-रूपी ब्रह्म की अभिव्यक्ति भी होती है।

अन्य व्याकरण-सम्प्रदाय जहाँ भाषा की ऊपरी रूपरेखा तक ही सीमित हैं, पाणिनीय तन्त्र अर्थपक्ष (अर्थात् दर्शन) का भी विवेचन करता है। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान के प्रवर्तक पाणिनि का अद्भुत योगदान है।[१]

(२) कात्यायन

पाणिनीय सूत्रों की समीक्षा लघुकाय वार्तिकों में करनेवाले कात्यायन का काल ३५० ई. पू. माना जाता है। इनका एक नाम वररुचि भी था (यद्यपि इस नामके अनेक लेखक हुए हैं)। ये दाक्षिणात्य थे जैसा कि पतञ्जलि ने इनके एक वार्तिक (यथा लौकिकवैदिकेषु) की समीक्षा में कहा है- प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या:। पाणिनि के व्याकरण में काल-गत व्यवधान से कुछ परिवर्तन की आवश्यकता हो गयी थी जिसे वार्तिकों में (उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्-काव्यमीमांसा) निरूपित किया गया है। जैसे- पाणिनि के समय दीधी और वेवी धातुएँ प्रयुक्त थीं, कात्यायन के काल में अप्रचलित हो गयीं। 'इन्धिभवतिभ्यां च' इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है; इसी प्रकार भाषा के विकास का निरीक्षण वार्तिकों में है। संस्कृत की विभाषाओं का निर्देश, लोकव्यवहार को भाषा का नियामक बताना एवं शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध मानना (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे) कात्यायन का विशिष्ट योगदान है। महाभाष्य में समस्त वार्तिकों की समीक्षा है, उसी से वार्तिकों का स्वरूप और परिमाण जाना जाता है।[२]

(३) पतञ्जलि (कृति-महाभाष्य)

व्याकरण महाभाष्य के लेखक पतञ्जलि ने अपने लिए 'गोनर्दीय' और 'गोणिकापुत्र' का

१. पाणिनि पर आश्रित सांस्कृतिक अध्ययन के लिए देखें- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल- **पाणिनिकालीन भारतवर्ष**, वाराणसी, १९६९ ई.।

२. महाभाष्य में १२४५ सूत्रों पर कात्यायन के वार्तिक सुरक्षित हैं जिनमें कुछ का प्रबल खण्डन किया गया है। प्राय: ५००० वार्तिक स्वीकार्य हैं जिनमें वस्तुत: भाषा-विकास की समीक्षा है। वररुचि का एक ग्रन्थ '**वाररुच-संग्रह**' (२५ कारिकाएँ) त्रिवेन्द्रम् से १९१३ ई. नें प्रकाशित हुआ है। 'प्राकृत-प्रकाश' के लेखक वररुचि प्राय: पाँचवीं शताब्दी ई. में थे।

प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये गोनर्द (गोंडा-उत्तरप्रदेश) के निवासी थे तथा इनकी माता का नाम गोणिका था। कुछ विद्वानों ने इन्हें कश्मीरी कहा है। प्राय: माना जाता है कि इन्होंने ही 'योगसूत्र' की रचना की थी। कुछ प्राचीन विद्वान् तो इन्हें आयुर्वेद के ग्रन्थ 'चरकसंहिता' का भी लेखक या संस्कर्ता मानते हैं। इस सन्दर्भ में एक प्राचीन पद्य है-

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

केवल योगसूत्र और महाभाष्य की एककर्तृकता प्रमाणों से पुष्ट होती है।

पतञ्जलि का समय अधिक विवादास्पद नहीं। प्राय: सभी विद्वान् इन्हें २०० ई. पू. से १५० ई. पू. तक मानने में सहमत हैं। केवल पं. युधिष्ठिर मीमांसक इन्हें २००० ई. पू. मानने के पक्षधर हैं किन्तु यह अतिवादी मत है।[1] पतञ्जलि के काल-निर्णय का सबसे पुष्ट प्रमाण पुष्यमित्र (शुंगनरेश) के द्वारा संचालित अश्वमेध-यज्ञ है जिसका उल्लेख पुराणों में मिलता है और पतञ्जलि भी निर्दिष्ट करते हैं- पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। तत्र भवितव्यम्-पुष्यमित्रो याजयति, याजका याजयन्तीति।[2] स्पष्टत: पुष्यमित्र के अनेक पुरोहितों में पतञ्जलि भी थे। उसी काल में महाभाष्य की रचना हुई थी। इतिहासकार मानते हैं कि अन्तिम मौर्य-नरेश को मारकर उनके सेनापति पुष्यमित्र ने १८५ ई. पू. में मगध का राज्य आत्मसात् किया था। मत्स्यपुराण के निर्देश से पता लगता है कि ३६ वर्षों तक राज्य करने के बाद उसने अश्वमेध-यज्ञ किया था। यह समय १४९ या १५० ई. पू. होता है। अत: यही काल महाभाष्य की रचना का है। उस समय कुछ ही दिन पूर्व किसी यवन आक्रान्ता ने साकेत तथा माध्यमिका नगरों पर घेरा डाला था। इसका उल्लेख पतञ्जलि करते हैं- अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्; अरुणद् यवन: साकेतम्।

पतञ्जलि का योगदान (महाभाष्य का महत्त्व)

पतञ्जलि ने पाणिनि के महत्त्वपूर्ण सूत्रों तथा उनपर कात्यायन के वार्तिकों की समीक्षा महाभाष्य में की है। समीक्षा के क्रम में उन्होंने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, लोकप्रथा इत्यादि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है। जैसे- अपने युग की घटनाओं (यवनों का साकेत पर घेरा डालना), अभिनयों (कंसं घातयति, बलिं बन्धयति) तथा साहित्यिक रचनाओं (वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी नामक आख्यायिकाओं) का उल्लेख। इस प्रकार महाभाष्य में पतञ्जलि ने तात्कालिक सांस्कृतिक परिवेश में झाँकने के लिए पर्याप्त सामग्री दी है।[3]

भाष्य का लक्षण है-

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

---

१. गोल्डस्टूकर (१४०-१२० ई. पू.), बोथलिंक (२०० ई. पू.), कीथ (१५० ई. पू.), वेबर (२५ ई. पू.) तथा भण्डारकर (१५८ ई. पू.) इन्हें विभिन्न कालों में रखते हैं।

२. महाभाष्य ३/१/२६, खण्ड-३, पृ० ५८।

३. डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री- पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३ ई.। Dr. B.N. Puri — India in the time of Patanjali, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1968 (2nd Edn.).

सूत्रों का अनुसरण करने वाले पदों से सूत्रार्थ का विवरण (व्याख्या) देते हुए जब कोई अपने पदों का भी व्याख्यान करता है तब इसे 'भाष्य' कहते हैं। यद्यपि संस्कृत शास्त्रों में कई भाष्य हैं जैसे- शाबरभाष्य, शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, सायणभाष्य आदि, किन्तु महाभाष्य कहलाने का गौरव पातञ्जल भाष्य को ही मिला है। यह इसकी महत्ता का सूचक है। उपर्युक्त विषय-वैविध्य इसका निमित्त है। 'वाक्यपदीय' में (२/४७७) भर्तृहरि ने पतञ्जलि की प्रशंसा में कहा है-

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

यहाँ पतञ्जलि को 'तीर्थदर्शी' (व्याकरण के अतिरिक्त अन्य आगमों का ज्ञाता) कहा गया है; महाभाष्य सभी लौकिक युक्तियों तथा परिभाषाओं के संकेतों (न्याय + बीज) से सम्पन्न है। इस सन्दर्भ में व्याख्याकार पुण्यराज ने कहा है- तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनं यावत्सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति अत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके (वाक्य. टीका २/४७७)। इसमें अनेक प्रकार के सिद्धान्त हैं, विद्यावाद हैं और दर्शनों की लोकोक्तियाँ हैं (महाभाष्यं हि बहुविधविद्यावादबलमार्षं व्यवस्थितम्-वा०प० टीका २/४७८)। जैसे- व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्।[1] यह सिद्धान्त व्याकरण के अतिरिक्त भी कई शास्त्रों में उपादेय है। इसी प्रकार कई न्याय उन्होंने दिये हैं जैसे- एकदेशविकृतमनन्यवत्, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः इत्यादि।

महाभाष्य के प्रथम आह्निक के द्वारा पतञ्जलि ने भूमिका-लेखन की यास्कीय विधि को विकसित किया। यास्क निरुक्त के प्रथमाध्याय के रूप में शास्त्र की पूर्वपीठिका (भूमिका) की परम्परा का प्रवर्तन कर चुके थे। महाभाष्य के प्रथम आह्निक को 'पस्पशा' (=विमर्श) कहते हैं; इसमें शब्द और अर्थ का स्वरूप, व्याकरण के प्रयोजन, शब्दानुशासन की प्रक्रिया, शब्दार्थ-सम्बन्ध, व्याकरण का स्वरूप तथा अइउण् आदि सूत्रों में वर्णोपदेश का महत्त्व- इस प्रकार आवश्यक विषयों का गम्भीर विवेचन सरल शैली में किया गया है। महाभाष्य में व्याकरण का शब्द-पक्ष और अर्थपक्ष (दर्शन)- दोनों विवेचित हैं, भर्तृहरि ने दार्शनिक पक्ष को आधार बनाकर 'वाक्यपदीय' की रचना की। पतञ्जलि के समक्ष अनेक सिद्धान्त थे; किसी एक मत को स्वीकार न करके उन्होंने यत्र-तत्र अपनी उदारता भी प्रकट की। उनका कथन है- सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्। इसीलिए उन्होंने पस्पशाह्निक में आकृति और द्रव्य दोनों को पदार्थ मानकर सूत्र-प्रवृत्ति दिखायी है। व्याकरण के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके समक्ष तीन पक्ष थे- सूत्रं व्याकरणम्, शब्दो व्याकरणम्, लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। अन्तिम पक्ष उन्हें मान्य हुआ, अन्य दोनों के दोष उन्होंने दिखाये।

पतञ्जलि का एक सर्ववेदपारिषद वाक्य व्याख्यान का स्वरूप स्पष्ट करता है- न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्, किं तर्हि? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः- इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति (आह्निक-१)। इसका पालन करते हुए उन्होंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की भी विवेचना की है। सूत्र की विविध-कोटिक समीक्षा महाभाष्य का वैशिष्ट्य है।

भाष्यकार को लोक-प्रचलित भाषा और उनकी विभाषाओं का भी ध्यान है। आधुनिक

१. महाभाष्य, आह्निक १, पृ. २४ (चारुदेवशास्त्री सं.) तथा अन्य कई स्थलों पर।

भाषाशास्त्री के समान पतञ्जलि भी लोक में प्रयुक्त भाषा को साहित्यिक भाषा से अधिक महत्त्व देते हैं। भाषा में स्थानीय अर्थभेद और प्रयोगभेद होते हैं– इसकी विवेचना उन्होंने अनेकत्र की है। ध्वनि, पद और अर्थ के रूप में भाषा के समस्त गूढ सिद्धान्तों का अनुशीलन महाभाष्य में सुलभ है। वस्तुतः पतञ्जलि अपने युग से आगे देखने वाले महामनीषी थे, पाणिनीय तन्त्र उनसे प्रतिष्ठित हुआ।

व्याकरणशास्त्र में पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि को 'त्रिमुनि' कहा जाता है। इस पाणिनीय तन्त्र को 'त्रिमुनि व्याकरणम्' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन मुनियों में भी सिद्धान्त की दृष्टि से क्रमशः प्रामाणिकता बढती गयी है– यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। इस दृष्टि से पतञ्जलि का महत्त्व उपर्युक्त दोनों आचार्यों से बढ़कर है।

जीवित भाषा की दृष्टि से इन तीन वैयाकरणों में ही व्याकरण की समाप्ति हो गयी क्योंकि भाषा के तथ्यों का निरीक्षण आगे नहीं हुआ। पाणिनि तथा पतञ्जलि की व्याख्या एवं सूत्र-क्रम-भञ्जक प्रक्रिया-ग्रन्थों की शृंखला ही परवर्ती पाणिनीय सम्प्रदाय की विशिष्टता है।

(४) भर्तृहरि तथा वाक्यपदीय

पाणिनीय व्याकरण-तन्त्र में वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि का अनुपम स्थान है। इन्होंने 'वाक्यपदीय' के रूप में व्याकरण-दर्शन की एक अद्‌भुत कृति के द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।[१] महाभाष्य में निरूपित दार्शनिक सिद्धान्तों तथा अर्थविज्ञान के नियमों का पद्यात्मक (कारिकाओं के रूप में) विवेचन वाक्यपदीय में है। इसके अतिरिक्त महाभाष्य की व्याख्या भी (दीपिका-नामक) भर्तृहरि ने लिखी थी जिसके प्रथम सात आह्निक प्रकाशित हैं।[२] सम्भवतः उन्होंने केवल तीन पादों की व्याख्या लिखी थी।

भर्तृहरि के काल पर इधर पर्याप्त विचार हुए हैं। पहले लोग इनका काल इत्सिंग के निर्देश के अनुसार ६५० ई. के कुछ पूर्व मानते थे। किन्तु देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने पुष्ट प्रमाणों के आधार ४५०-५००ई. के बीच इनका काल अब स्वीकार कर लिया है। स्कन्दस्वामी के निरुक्तभाष्य में वाक्यपदीय का उद्धरण, पुण्यराज की वाक्यपदीय-टीका (२/४८६ तथा ४८९) में भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात का उल्लेख, बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग की त्रैकाल्यपरीक्षा (सम्प्रति तिब्बती के उपलब्ध) में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक की स्वोपज्ञवृत्ति का निर्देश, जैन न्याय के विद्वान् मल्लवादिन् के 'द्वादशार-नय-चक्र' में भर्तृहरि का उल्लेख– ये ऐसे प्रमाण हैं जो इन्हें ४५०-५०० ई. के बीच स्वीकार करने को विवश करते हैं।[३]

---

१. वाक्यपदीय का श्रेष्ठ संस्करण पं. रघुनाथशर्मा कृत अम्बाकर्त्री संस्कृत व्याख्या के साथ संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से चार खण्डों में प्रकाशित है (१९६३-८३)। एक अन्य समालोचनात्मक संस्करण टीका-सहित के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर का पुणे से चार खण्डों में है (१९६३-७३)। इन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है जो पुणे तथा दिल्ली से प्रकाशित है। प्रथम काण्ड (ब्रह्मकाण्ड)के अनेक संस्करण हुए हैं। सम्पूर्ण वाक्यपदीय गुजराती रूपान्तर के साथ अहमदाबाद से प्रकाशित है।

२. सम्पादक – काशीनाथ अभ्यंकर तथा वी. पी. लिमये, दो भागों में १९६५-१९६७ में पुणे से प्रकाशित।

३. George Cardona— **Pāṇini, a Survey of Research** (Delhi, 1980), p. 298-9.

वाक्यपदीय तीन काण्डों में विभक्त है– ब्रह्मकाण्ड (१५६ कारिकाएँ), वाक्यकाण्ड (४८६ कारिकाएँ) तथा प्रकीर्णकाण्ड या पदकाण्ड (१४ समुद्देशों में विभक्त, १३२३ कारिकाएँ)।[1] प्रथम काण्ड पर हरिवृषभ, द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज एवं तृतीय काण्ड पर हेलाराज की व्याख्याएँ मिलती हैं। ब्रह्मकाण्ड पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी थी। वाराणसी के विद्वान् पं. रघुनाथ शर्मा ने सम्पूर्ण वाक्यपदीय की अभिनव 'अम्बाकर्त्री' व्याख्या लिखी है। **ब्रह्मकाण्ड** शब्दब्रह्म तथा स्फोट का विवेचन करता है, इसमें वाणी के तीन स्तरों (पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी) का निर्देश है। अपभ्रंश शब्दों से अर्थबोध का कारण साधुशब्दों का स्मरण है। व्याकरण शब्द के साधुत्व का नियामक है। **वाक्यकाण्ड** में वाक्य-स्वरूप पर विस्तृत विवेचना करते हुए इसके विविध लक्षणों का विमर्श किया गया है। वाक्य-स्वरूप के आठ पक्ष हैं– आख्यात शब्द, पदसंघात, संघातवर्तिनी जाति, अनवयव एकशब्द, क्रम, बुद्धि से कल्पना करके पदों का अनुसंहार, आद्य पद तथा सर्वसाकांक्ष पद वाक्य हैं (वा. प. २/१-२)। तृतीयकाण्ड विविध विषयों का विवेचन-परक होने से '**प्रकीर्णकाण्ड**' कहलाता है। इसे **पदकाण्ड** भी कहते हैं क्योंकि सभी विषय 'पद' के चारों ओर भ्रमण करते हैं। ये विषय 'समुद्देश'-रूप है जैसे– जातिसमुद्देश, द्रव्यसमुदेश, सम्बन्धसमु., भूयोद्रव्यसमु., गुणसमु. दिक्समु. साधनसमु. (कारक), क्रिया., काल., पुरुष., संख्या. (वचन), उपग्रह. (आत्मनेपद-परस्मैपद), लिङ्ग तथा वृत्तिसमुद्देश। अन्तिम समुद्देश सबसे बड़ा है (६२७ कारिकाएँ)। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड को शब्द-दर्शन की पूर्वपीठिका मानकर शेष दो काण्डों में क्रमशः वाक्य एवं पद का दार्शनिक विचार होने से इस ग्रन्थ का शीर्षक अन्वर्थ है। भर्तृहरि का व्याकरण-दर्शन में अमूल्य योगदान है।

(५) अष्टाध्यायी और महाभाष्य की व्याख्याएँ

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तियों या टीकाग्रन्थों के रचे जाने की सूचना प्राप्त होती है किन्तु उन सबमें उपलब्ध प्रथम वृत्ति '**काशिका**' ही है जिसे जयादित्य (१-५ अध्यायों पर) तथा वामन (६-८ अध्यायों पर) ने लिखा था। काशिकावृत्ति (१/३/२३) में भारविकृत किरातार्जुनीय के एक पद्य (३/१४) का खण्ड उद्धृत है– संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। इस आधार पर भारवि (५५०-६०० ई.) के समय या उनके बाद इस वृत्ति का काल होगा। काशिका पर प्रथम टीका जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखी थी जिनका काल ७०० ई. माना जाता है, अतः काशिका का रचनाकाल ६००-६५० ई. के बीच सामान्यतः माना जाता है। इस वृत्ति में पाणिनीय सूत्रों की विस्तृत व्याख्या अनुवृत्ति-निवृत्ति को दिखाते हुए की गयी है, गण-पाठ को भी पूर्णतः व्याख्या में समाविष्ट किया गया है। वार्तिकों को भी यथास्थान रखकर काशिका में समझाया गया है। इसके मङ्गलाचरण में ही इसकी महत्ता बतायी गयी है–

> इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
> व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम॥

वस्तुतः पाणिनीय सूत्रों को समझानेवाली ऐसी कोई वृत्ति नहीं है।

---

१. यह संख्या अभ्यंकर-लिमये द्वारा सम्पादित '**वाक्यपदीय**' (पूना, १९६५) की है। कुल संख्या १९६५ है।

काशिका की दो महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ मिलती हैं- बौद्ध जिनेन्द्रबुद्धि-रचित 'काशिकाविवरणपञ्जिका' (अन्य नाम-न्यास) तथा हरदत्त-रचित 'पदमञ्जरी'। न्यास-टीका का समय ७०० ई. तथा पदमञ्जरी का समय एकादश शतक या इसके कुछ पूर्व हो सकता है।[1]

अष्टाध्यायी की एक वृत्ति '**भागवृत्ति**' किसी विमलमति नामक विद्वान् की कृति थी जो अब उद्धरण-मात्र में उपलब्ध है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने 'भागवृत्ति-संकलन' के नाम से विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त इसकी पंक्तियों का संग्रह प्रकाशित किया है (१९६४ ई., अजमेर)। इसमें वैदिक तथा लौकिक सूत्रों को पृथक् किया गया है। इसका काल नवम शतक ई. है। बंगाल के निवासी बौद्ध विद्वान् पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी के केवल लौकिक सूत्रों की वृत्ति '**भाषावृत्ति**' के नाम से लिखी थी।[2] इन्होंने महाभाष्य की भी व्याख्या लिखी थी (लघुवृत्ति)। अमरकोश के टीकाकार सर्वानन्द (११६० ई.) ने इन ग्रन्थों का बहुधा निर्देश किया है। अत: पुरुषोत्तमदेव का समय ११२० ई. के आसपास सिद्ध होता है। प्रसिद्ध विद्वान् कैयट का भी इन्होंने उल्लेख किया है। पुरुषोत्तम के कुछ परवर्ती बौद्ध विद्वान् शरणदेव (लक्ष्मणसेन के सभापण्डित) ने कुछ अव्याख्येय तथाकथित अपाणिनीय शब्दप्रयोगों की सिद्धि के लिए तदनुकूल ५०० सूत्रों की व्याख्या '**दुर्घटवृत्ति**' में की। लेखक ने इसकी रचना ११७२ ई. में की थी। जयदेव ने इनके विषय में यथार्थ टिप्पणी की थी- शरण:श्लाघ्यो दुरूहद्रुते: (अर्थात् शरणदेव व्याकरण के दुरूह प्रयोगों को द्रवित करने या सुगम बनाने में प्रशंसनीय हैं)। गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज में इसका प्रकाशन १९०९ ई. में किया था। भट्टोजिदीक्षित ने भी अष्टाध्यायी की व्याख्या '**शब्दकौस्तुभ**' के रूप में की। यह चतुर्थ अध्याय तक है किन्तु तृतीय अध्याय का उत्तरार्ध (पाद ३-४) नहीं मिले हैं।

महाभाष्य की व्याख्याओं में प्रथम तो भर्तृहरि-कृत 'दीपिका' है किन्तु यह कुछ ही आह्निकों तक है। महाभाष्य के दो बार लुप्त हो जाने का उल्लेख मिलता है। पहली बार उसका उद्धार चन्द्राचार्य ने किया था (वाक्यपदीय २/४८१ तथा राजतरङ्गिणी १/१७६)। दूसरी बार कश्मीर के राजा जयापीड ने (अष्टम शताब्दी ई.) इसका उद्धार क्षीर उपाध्याय से कराया था (राजत. ४/४८८-९)। कश्मीर के ही निवासी **कैयट** ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर '**प्रदीप**' व्याख्या लिखकर सदा के लिए लोप और उद्धार की शृंखला समाप्त कर दी। पदमञ्जरी के लेखक हरदत्त के ये पूर्ववर्ती थे क्योंकि हरदत्त ने कैयट के मतों का अनेकत्र खण्डन किया है। अत: कैयट का समय १००० ई. से १०५० ई. तक सर्वमान्य है। प्रदीप-टीका के अभाव में महाभाष्य की ग्रन्थियाँ दुर्बोध ही रह जातीं। इसमें कश्मीरी अनुशीलन की परम्परा पुञ्जीभूत हो गयी है। अन्नम्भट्ट (१७ वीं शताब्दी ई.) ने प्रदीप की व्याख्या 'उद्द्योतन' के नाम से लिखी किन्तु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् नागेशभट्ट ने (१७०० ई.) इसपर जो 'उद्द्योत' व्याख्या की रचना की वह बहुत प्रसिद्ध हुई।[3] नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने इसपर भी टीका लिखी जो नवाह्निक तक मिलती है।

---

१. जार्ज कार्डोना की उक्त पुस्तक, पृ. २८१ तथा २८५। न्यास और पदमञ्जरी के साथ सम्पूर्ण काशिका का प्रकाशन छह खण्डों में वाराणसी से हुआ है। (१९६५-६७ ई.)। पृथक्-पृथक् भी इन तीनों का प्रकाशन संस्कृत अकादमी, हैदराबाद से हुआ है।

२. सम्पा.-द्वारिकादास शास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७१ ई.।

३. प्रदीप तथा उद्योत के साथ महाभाष्य के संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९३७), वाराणसी (गुरुप्रसाद शास्त्री सं., १९३८) तथा झज्झर (वेदव्रत सं., १९६५) से हुए हैं।

(६) प्रक्रियाग्रन्थ

पाणिनीय व्याकरण-परम्परा में त्रिमुनि-काल (६०० ई. पू. से १०० ई. पू.) तथा त्रिमुनि-व्याख्याकाल (१०० ई. पू.-१००० ई.) के बाद प्रक्रियाकाल (१००० ई. के बाद) का आगमन हुआ। अन्य शास्त्रों के समान व्याकरण में भी प्रकरण-ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिससे अल्पकाल में कुछ कार्यसाधक (working) ज्ञान प्राप्त कर अन्य शास्त्रों के अध्ययनार्थ प्रस्तुत हो सकें। पाणिनीय तन्त्र से बाहर व्याकरण-प्रस्थानों में कालाप-तन्त्र पहले ही प्रकरण के रूप में ही विकसित हो चुका था (१०० ई.)। इन प्रस्थानों में व्याकरण को साध्य न रखकर साधन बनाने पर बल था। संस्कृत भाषा जन-सामान्य में प्रचलित नहीं थी, इसलिए अष्टाध्यायी-जैसे शास्त्रग्रन्थ भाषा-वर्णन के निमित्त अनुपयोगी हो रहे थे, शास्त्रैकदेश का उपदेश देनेवाले प्रकरण-ग्रन्थ[1] ही युग पर छा रहे थे। तदनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रम तोड़कर संज्ञा, सन्धि, समास, कारक, सुबन्त, तिङन्त, तद्धित, कृदन्त, स्त्रीप्रत्यय आदि प्रकरणों में सूत्रों को सजाकर शब्दरूपों की सिद्धि पर ध्यान देना आवश्यक लगा। इससे नव्य पाणिनीय या प्रक्रिया-परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इस परम्परा में कई ग्रन्थ विकसित हुए।

इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ 'रूपावतार' है जिसे सिंहली बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने प्रायः ११०० ई. में लिखा था[2] इसमें प्रकरणों के नाम 'अवतार' से युक्त हैं– संज्ञावतार, संहितावतार, विभक्त्यवतार इत्यादि। सिद्धान्तकौमुदी के समान उत्तरभाग धातुओं और तद्धित प्रत्ययों का है। स्वर-वैदिक अंश नहीं है। उणादि पर भी पृथक् परिच्छेद नहीं है। सूत्रों की संक्षिप्त वृत्ति उदाहरण-सहित दी गयी है। १४ वीं शताब्दी के विद्वान् संन्यासी विमलसरस्वती (सूरि) ने इसी ढंग की पुस्तक 'रूपमाला' लिखी।[3] 'रूपावतार' में जहाँ २६६४ सूत्रों की व्याख्या थी वहाँ इसमें केवल २०४६ सूत्र ही रखे गये। इस प्रकार लाघव का प्रयास किया गया। इसमें प्रकरणों के नाम 'माला' से युक्त हैं– संज्ञामाला, सन्धिमाला इत्यादि। इन दोनों ग्रन्थों का अधिक प्रचार नहीं हो सका।

आन्ध्रप्रदेश के निवासी ऋग्वेदी ब्राह्मण रामचन्द्र (१४ वीं शताब्दी ई.) ने 'प्रक्रियाकौमुदी'[4] नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें २४७० सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण हैं। पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के रूप में यह भी विभक्त है। क्रम सिद्धान्तकौमुदी के समान है। रामचन्द्र ने वैष्णव-परक उदाहरण दिये हैं। ग्रन्थ के संक्षिप्त होने का कारण ग्रन्थकार ने अन्त में दिया है–

---

१. 'प्रकरण' का लक्षण – शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

२. एम्. रंगाचार्य द्वारा दो भागों में सम्पादित-प्रकाशित-प्रथम भाग नटेसन, मद्रास (१९१६ ई.), द्वितीय भाग बंगलोर प्रेस, बंगलोर (१९२७)। पुनर्मुद्रण-१९६० ई.।

३. केशवदेव पाण्डेय के सम्पादन में मोतीलाल बनारसीदास (१९७३ ई.) द्वारा प्रकाशित ४ भागों में, हिन्दी टीका सहित। नाग प्रकाशन, दिल्ली (१९९४) से डॉ. सुरेश चन्द्र शर्मा कृत शोध-ग्रन्थ 'रूपमालाविमर्शः' (संस्कृतभाषा में) भी प्रकाशित।

४. कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी के सम्पादन में भंडारकर प्राच्य विद्या संस्थान, पूना से प्रकाशटीका के साथ दो भागों में प्रकाशित (१९२५, १९३१ ई.)। डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र कृत शोध-ग्रन्थ 'प्रक्रियाकौमुदीविमर्शः' संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९६६ ई.) से प्रकाशित। मुरलीधर मिश्र के सम्पादन में संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी) से मूलग्रन्थ का तीन भागों में प्रकाशन १९७७-८०), प्रकाशटीका सहित।

आनन्त्यात्सर्वशब्दा हि न शक्यन्तेऽनुशासितुम् ।
बालव्युत्पत्तयेऽस्माभिः संक्षिप्योक्ता यथामति ॥

प्रक्रियाकौमुदी के लेखक के पौत्र विट्ठल ने इसपर '**प्रसाद**' नामक टीका लिखी। पुनः भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण ने इसपर '**प्रकाश**' नामक व्याख्याग्रन्थ लिखा। बीरबल के पुत्र कल्याण को संस्कृत व्याकरण सिखाने के लिए यह व्याख्या लिखी गयी थी। लेखक ने बीरबल का वृंशवृक्ष भी इसके आरम्भ में दिया है। प्रक्रियाकौमुदी में पाणिनीयेतर वैयाकरणों का भी समर्थन है।

पाणिनीय व्याकरण-तन्त्र में भट्टोजिदीक्षित का आविर्भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त भी कई शास्त्रों में ग्रन्थलेखन द्वारा उनकी श्रीवृद्धि की। आन्ध्रप्रदेश के तैलंग-ब्राह्मणकुल में उत्पन्न भट्टोजिदीक्षित का वंश अनेक वैयाकरणों से समृद्ध था। लक्ष्मीधर भट्ट (पिता), रंगोजीभट्ट (भ्राता), भानुजीदीक्षित (पुत्र), कौण्डभट्ट (भतीजा) तथा हरिदीक्षित (पौत्र) महान् वैयाकरण थे। भट्टोजि ने शेषकृष्ण से व्याकरण और धर्मशास्त्र, नृसिंहाश्रम से वेदान्त तथा अप्पयदीक्षित से मीमांसा का अध्ययन किया था। काशी में रहकर ही इन्होंने अनेक शास्त्रों में मौलिक तथा टीकाग्रन्थ लिखे, किन्तु इन्हें विशेष ख्याति व्याकरण में (मुख्यतः 'सिद्धान्तकौमुदी' के कारण) ही मिली। ये खण्डन-रसिक विद्वान् थे; इसलिए प्रखर शब्दों में इन्होंने काशिका, न्यास, पदमञ्जरी तथा अपने गुरु की 'प्रकाश'-टीका तक का खण्डन किया है। वे कैयट से लेकर सभी वैयाकरणों के ग्रन्थों को शिथिल कहते हैं- तस्मात्कैयटप्रभृत्यर्वाचीनपर्यन्तं सर्वेषां ग्रन्था इह शिथिला एवेति स्थितम् (प्रौढमनोरमा, उत्तरभाग, पृ. ७४२)।

भट्टोजिदीक्षित का काल प्रायः निश्चित है। इनके गुरु नृसिंहाश्रम ने १५४७ ई. में 'वेदान्ततत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा था जिसकी व्याख्या उन्होंने ही दूसरे वर्ष 'दीपन' नाम से लिखी। भट्टोजि ने 'वाक्यमाला' नामक टीका इस दीपन के ऊपर लिखी। भट्टोजि के एक शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने 'शब्दशोभा' नामक व्याकरण-ग्रन्थ १६३७ ई. में लिखा था। म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने उल्लेख किया है कि 'शब्दकौस्तुभ' (भट्टोजि की कृति) का एक हस्तलेख १६३३ ई. का मिला है। इस आधार पर पं. बलदेव उपाध्याय ने भट्टोजिदीक्षित का काल १५६० ई. तथा १६१० ई. के बीच माना है।[1]

भट्टोजिदीक्षित ने धर्मशास्त्र (आशौच प्रकरण, तिथिनिर्णय और त्रिस्थलीसेतु), वेदान्त (तत्त्वकौस्तुभ, वाक्यमाला, अद्वैतकौस्तुभ) तथा कुछ अन्य शास्त्रों में भी (तन्त्राधिकार, वेदभाष्यसार, तत्त्वसिद्धान्तदीपिका तथा तैत्तिरीयभाष्य) ग्रन्थों की रचना की। व्याकरण में इनके चारग्रन्थ हैं - वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, प्रौढमनोरमा, शब्दकौस्तुभ तथा वैयाकरणसिद्धान्तकारिका (भूषणकारिका)।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी[2] इनका प्रसिद्धतम ग्रन्थ है। इसमें पाणिनि के सभी सूत्र

---

१. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (१९६९ ई.), पृ. ५०३।

२. इसका अंग्रेजी रूपान्तर (व्याख्या सहित) श्रीशचन्द्रवसु (मोतीलाल बनारसीदास से पुनर्मुद्रण) द्वारा तथा छात्रोपयोगी व्याख्या सारदारञ्जन राय द्वारा की गयी है। हिन्दी में अच्छी व्याख्या (केवल पूर्वार्ध पर दो भागों में) गोपालदत्त पाण्डेय ने की है (चौखम्बा विद्या भवन)।

प्रक्रियाक्रम से विवेचित हैं, सबकी संक्षिप्तवृत्ति देते हुए परिनिष्ठित रूपों की सिद्धि में उनका विनियोग दिखाया गया है। इसके पूर्वार्ध में संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, अव्यय, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास, तद्धित और द्विरुक्तप्रकरण हैं। उत्तरार्ध में गणों के आधार पर तिङन्त-प्रकरण, प्रत्ययान्त धातुरूप (सनादि, यङ्, नामधातु आदि), लकारार्थ, कृत्य, पूर्वकृदन्त, उणादि, उत्तरकृदन्त, वैदिकप्रकरण तथा स्वरप्रकरण है। इसके अन्त में लिङ्गानुशासन का भी विवेचन है। प्रक्रिया-ग्रन्थों में सिद्धान्तकौमुदी उत्कृष्ट तथा लोकप्रिय है। इसके द्वारा अष्टाध्यायी की शास्त्र-परम्परा उखाड़ दी गयी। इसकी व्याख्याओं में स्वयं भट्टोजिरचित प्रौढमनोरमा, नागेश-कृत शब्देन्दुशेखर (लघु तथा बृहत् संस्करण), वासुदेव दीक्षित कृत बालमनोरमा तथा ज्ञानेन्द्र सरस्वती कृत तत्त्वबोधिनी प्रमुख हैं।

प्रौढमनोरमा उपर्युक्त सिद्धान्तकौमुदी की लेखक-कृत व्याख्या है किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप लेती है। इसमें लेखक ने 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' का स्पष्ट समर्थन किया है। दुर्घट प्रयोगों को भी समझाने का प्रयास लेखक ने किया है। शेषकृष्ण की प्रकाश-व्याख्या के खण्डनों को इसमें देखकर उनके शिष्योपशिष्य पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रौढमनोरमाखण्डन' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें इसकी आलोचना है। शब्दकौस्तुभ भट्टोजिदीक्षित का शास्त्रानुकूल ग्रन्थ है जो अष्टाध्यायी के सूत्रों की उसी क्रम से व्याख्या है, उसपर विकसित सभी टीकाओं से यह अनुप्राणित है। दुर्भाग्य है कि ग्रन्थ केवल साढ़े तीन अध्यायों के रूप में (तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद तक एवं पूरा चतुर्थ अध्याय) मिला है। शेष भाग नष्ट हो गये या लिखे ही नहीं गये। दीक्षित को इस ग्रन्थ से विशेष अनुराग था जैसाकि सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में उनका कथन है–

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

भट्टोजि की एक लघुकृति 'वैयाकरणसिद्धान्तकारिका' है जिसमें केवल ७४ अनुष्टुप्-पद्य हैं; धात्वर्थ, लकारार्थ, सुबर्थ, नामार्थ, समासशक्ति आदि विषयों का विवेचन करते हुए अन्त में स्फोट का प्रकरण है। इस पर रंगोजी के पुत्र (अर्थात् भट्टोजि के भतीजे) कौण्डभट्ट ने 'वैयाकरणभूषण' नामक व्याख्या लिखी जो स्वतन्त्र रूप में व्याकरण-दर्शन का महार्ह ग्रन्थ है। इसका संक्षिप्त रूप 'वैयाकरणभूषणसार' है जिस पर अनेक टीकाएँ प्रचलित हैं– दर्पण (ले. हरिवल्लभ), भैरवी (भैरवमिश्र), काशिका (हरिराम काले) इत्यादि। इसकी हिन्दी-व्याख्याएँ भी प्रकाशित हैं।

दीक्षित-परिवार के ही हरिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा की व्याख्या 'शब्दरत्न' के नाम से लिखी जिसके बृहत् और लघु दो संस्करण हुए। इनके शिष्य नागेशभट्ट थे (१६६०-१७२५ ई. के बीच) जिन्होंने अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे। सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या शब्देन्दुशेखर (बृहत् और लघु), परिभाषेन्दुशेखर (परिभाषा-रूप वाक्यों की व्याख्या)[1], महाभाष्य के प्रदीप की टीका (उद्द्योत), स्फोटवाद, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा (मूल, लघु तथा परमलघु- ३ संस्करण) नागेश के मुख्य ग्रन्थ हैं। ये सभी प्रकाशित हैं। 'मञ्जूषा' व्याकरण-दर्शन का शिखर-ग्रन्थ है। इसके

१. इसकी प्रारम्भिक ३३ परिभाषाओं पर शोधकार्य करके डॉ. गोपबन्धु मिश्र ने मेरे निर्देशन में पटना विश्वविद्यालय से पीएच्. डी. उपाधि ली है (१९८६)

लघुसंस्करण पर कला (वैद्यनाथ पायगुण्ड-कृत) और कुंजिका (कृष्णमित्र-कृत) दो टीकाएँ प्रकाशित हैं (काशी, १९२५ ई.)। '**परमलघुमञ्जूषा**' लोकप्रिय ग्रन्थ है, इसकी कई टीकाएँ और अनुवाद भी प्रकाशित हैं।[1]

भट्टोजिदीक्षित के प्रख्यात शिष्य **वरदराज** ने सिद्धान्तकौमुदी के तीन संक्षिप्त संस्करण निर्मित किये जो प्रक्रिया-पद्धति के प्रवेशद्वार माने जाते हैं– सारसिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी तथा मध्यसिद्धान्तकौमुदी। ये ग्रन्थ क्रमशः बड़े होते गये हैं। इनमें लघुकौमुदी पाणिनीय व्याकरण की आरम्भिक शिक्षा के लिए बहुत प्रचलित है। वरदराज की एक रचना '**गीर्वाणपदमञ्जरी**' है जिसमें काशी की सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करने वाले उदारहण दिये गये हैं। इसका प्रकाशन बड़ौदा विश्वविद्यालय से हुआ है। लघुकौमुदी का एक हस्तलेख १६२४ ई. का है (अमेरिका में सुरक्षित)। अतः वरदराज का समय १६००-१६३० ई. तक माना जा सकता है।

केरल के नारायण भट्ट भी भट्टोजिदीक्षित के समकालिक थे। इनका '**प्रक्रियासर्वस्व**' विशाल ग्रन्थ है जिसमें बीस खण्डों में सम्पूर्ण शब्द-प्रक्रिया को बताया गया है। भोज के व्याकरण-ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर नारायणभट्ट को पूर्ण आस्था है। यद्यपि महाभाष्य और काशिका इसके मुख्य आधार हैं तथापि लेखक ने अन्य व्याकरण-सम्प्रदायों के मतों का भी ग्रहण किया है। यह ग्रन्थ १९५४ ई. में अनन्तशयनग्रन्थावलि में केवल सुबन्तखण्ड के रूप में प्रकाशित हुआ, इसके तद्धित तथा उणादिखण्ड मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हैं। शेष भाग अप्रकाशित हैं। इस प्रकार प्रक्रिया-ग्रन्थों की लम्बी परम्परा है।

(७) अन्य ग्रन्थ

पाणिनीय व्याकरण-तन्त्र में अन्य अनेक विषयों पर भी ग्रन्थ मिलते हैं जो उक्त साहित्य के पूरक हैं। पाणिनीय धातुपाठ पर अनेक आचार्यों ने टीकाएँ या समीक्षाएँ लिखी जिनमें क्षीरस्वामी (११वीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में, कश्मीर निवासी) की '**क्षीरतरङ्गिणी**', मैत्रेयरक्षित (११२५ ई. के निकट, बौद्ध विद्वान्) का '**धातुप्रदीप**', माधवाचार्य (१४ वीं शताब्दी, सायण की रचना) कृत '**माधवीयधातुवृत्ति**' प्रमुख हैं।[2] इसी प्रकार गणपाठ के शब्दों की व्याख्या करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है– **गणरत्नमहोदधि**। इसके रचयिता का नाम वर्धमान है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११४० ई. है। इसमें पाणिनीय गणपाठ के अतिरिक्त शब्दों की भी व्याख्या है। वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में थे अतः उनके आश्रित हेमचन्द्र से वे पूर्ण परिचित थे। अपने पद्यात्मक ग्रन्थ की व्याख्या भी लेखक ने ही की है।[3] लिङ्गानुशासन पर पाणिनि के सूत्रों के अतिरिक्त वररुचि, हर्षवर्धन, वामन, दुर्गसिंह (कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध) तथा हेमचन्द्र के 'लिङ्गानुशासन' नामक ग्रन्थ हैं।

---

१. नागेशभट्ट ने विभिन्न विषयों पर प्रायः ५६ ग्रन्थ लिखे थे (बृहच्छब्देन्दुशेखर की भूमिका, पृ. ५९-६०), संस्कृत विश्व., वाराणसी से प्रकाशित (१९६०)।

२. पाणिनीय धातुपाठ की आधुनिक समीक्षा डॉ. भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी की पुस्तक 'पाणिनीयधातु-पाठसमीक्षा' (संस्कृत विश्व. वाराणसी, १९६५ ई.) में द्रष्टव्य है।

३. गणपाठ का वैज्ञानिक अनुशीलन डॉ. कपिलदेव शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' (भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, १९६१ ई.) में किया है।

'परिभाषा' व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण विषय है– नियम न होने की स्थिति में नियम निर्धारित करना परिभाषा का कार्य है (अनियमे नियमकारिणी परिभाषा)। यह एक प्रकार से 'भाषा की परिभाषा' है। कुछ परिभाषाएँ पाणिनि के सूत्रों के रूप में ही हैं। कुछ लोकन्यायसिद्ध हैं, कुछ सूत्रों से ज्ञापित होती हैं तो कुछ परिभाषाएँ वार्तिकों और भाष्य में हैं। सूत्रेतर परिभाषाओं को अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में विवेचित किया है। यद्यपि पूना से प्रकाशित 'परिभाषासंग्रह' में अनेक ग्रन्थों का संकलन है[1] किन्तु तीन ग्रन्थ मुख्य हैं– पुरुषोत्तम (११५०-१२०० ई.) कृत 'लघुवृत्ति', सीरदेव (१३०० ई.) कृत 'परिभाषावृत्ति' तथा नागेशभट्ट (१६६०-१७२५ ई.) कृत 'परिभाषेन्दुशेखर' (१३३ परिभाषाओं का विवेचन)। अन्तिम ग्रन्थ वैयाकरणों के बीच बहुत प्रचलित है; इसकी टीकाएँ गदा (वैद्यनाथ), भैरवी (भैरवमिश्र), त्रिपथगा (राघवेन्द्राचार्य), भूति (रामकृष्णशास्त्री), विजया (जयदेवमिश्र) आदि हैं। इसकी हिन्दी व्याख्या हर्षनाथ मिश्र ने लिखी है।

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण-तन्त्र अपनी व्यापकता और सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य के कारण बहुत महत्त्व रखता है।

(८) अन्य व्याकरण-प्रस्थान[2]

इस समय पाणिनि से भिन्न दस व्याकरण-प्रस्थान (Schools of grammar) न्यूनाधिक रूप से उपलब्ध तथा प्रचलित हैं– कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, जैन शाकटायन, भोज, हैम, जौमर, सारस्वत, मुग्धबोध तथा सौपद्म। कातन्त्र या कालाप व्याकरण प्रक्रिया-क्रम से १४१२ सूत्रों के मूल ग्रन्थ पर आश्रित है। यह चार अध्यायों में विभक्त है, प्रथम तीन अध्याय शर्ववर्मा (प्रथम श. ई.) तथा अन्तिम अध्याय किसी कात्यायन के द्वारा रचित है। सूत्र पाणिनीय सूत्रों के आधार पर रचे गये हैं। बिहार, बंगाल तथा गुजरात में इसका प्रचार रहा है। इस पर दुर्गसिंह (६०० ई.) की वृत्ति है जिसपर उग्रभूति, त्रिलोचनदास, जगद्धरभट्ट (कश्मीरी, १३०० ई.) आदि ने टीकाएँ लिखीं। इस प्रस्थान में भी अनेक प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गये। जगदीश तर्कालंकार ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' इसी प्रस्थान के अन्तर्गत लिखी है। चान्द्रव्याकरण चन्द्रगोमी ने प्राय: ४०० ई. में लिखा था, ये बौद्ध विद्वान् थे। इसका प्रचार बौद्ध क्षेत्रों में (कश्मीर, नेपाल, तिब्बत, श्रीलंका) ही है। इसमें 'त्रिमुनि व्याकरण' का पूरा उपयोग है किन्तु संज्ञा-शब्दों का प्रयोग नहीं है। सम्प्रति इसमें ६ अध्याय और ३१०० सूत्र मिलते हैं। इस प्रस्थान का 'काशिका' में अनेकत्र खण्डन है। इसका एक संक्षिप्त रूप १२०० ई. में भिक्षु काश्यप ने 'बालावबोधन' लिखा जो श्रीलंका में संस्कृत-शिक्षण के लिए प्रयुक्त होता है। जैनेन्द्रव्याकरण के प्रवर्तक पूज्यपाद देवनन्दि (४५० ई.) हैं जिनका 'जैनेन्द्रशब्दानुशासन' अष्टाध्यायी के आदर्श पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसके औदीच्य संस्करण में ३००० और दाक्षिणात्य संस्करण में ३७०० सूत्र हैं (दक्षिणात्य सं. में कुछ वार्तिक भी सूत्र-रूप में हैं)। दोनों संस्करणों पर अनेक टीकाएँ मिलती हैं।

---

१. भाण्डारकर शोध संस्थान, पूना, १९६७ ई.।

२. यहाँ संक्षिप्त सूचनामात्र दिया जा रहा है। विशेष विवरण के लिए देखें – आ. बलदेव उपाध्याय कृत 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' (पृ० ५६३-६०८), उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' कृत 'संस्कृत व्याकरण में कारकतत्त्वानुशीलन' (पृ. २४-९)।

जैनशाकटायन प्रस्थान का आचार्य पाल्यकीर्ति (८१४-६७ ई.) ने प्रवर्तन किया था। शाकटायन शब्दानुशासन में ४-४ पादों वाले ४ अध्याय हैं जिन्हें 'सिद्धि' नाम से अधिकरणों में विभक्त किया गया है। प्रभाचन्द्र (१००० ई.) ने जैनेन्द्र और शाकटायन दोनों पर वृत्तियाँ लिखी हैं। यक्षवर्मा ने शाकटायनव्याकरण की 'चिन्तामणि' टीका लिखी जिसमें कहा गया है कि इसके अभ्यास से बच्चे और स्त्रियाँ भी एक वर्ष में ही संस्कृत समझने लगेंगी।[1] इस प्रस्थान में अनेक प्रकरण-ग्रन्थ भी हैं। महाराज **भोज** ने अपने '**सरस्वतीकण्ठाभरण**' नामक व्याकरण-ग्रन्थ में आठ अध्यायों में ६४११ सूत्र दिये हैं। सात अध्याय संस्कृत व्याकरण के और अष्टम अध्याय वैदिक व्याकरण का है। व्याकरण के सहायक गणपाठ, परिभाषा, उणादि, लिंगानुशासन- ये सब इसी में समाविष्ट हैं, पृथक् नहीं हैं। आकार-वैपुल्य से यह लोकप्रिय नहीं हो सका यद्यपि तीन टीकाएँ भी लिखी गयीं। भोज का राज्यकाल १०२८ ई. से १०६३ ई. तक था। प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्रसूरि ने (१०८८-११७२ ई.) 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' ग्रन्थ के द्वारा **हैम-प्रस्थान** का प्रवर्तन किया। गुर्जरनरेश सिद्धराज के आदेश से यह ग्रन्थ लिखा गया। ४-४ पादों के आठ अध्याय इसमें भी भोज-व्याकरण के समान हैं किन्तु आठवें अध्याय में अनेक प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्याकरण है। सात अध्यायों में ३५६६ सूत्र हैं, प्राकृत भाग में १११९ सूत्र हैं। इस पर भी अनेक टीकाएँ हैं।

१३ वीं शताब्दी ई. में क्रमदीश्वर ने '**संक्षिप्तसार**' नामक ग्रन्थ के द्वारा एक नये प्रस्थान को जन्म दिया जिसकी स्वोपज्ञ वृत्ति का परिष्कार जुमरनन्दि (१४ वीं शताब्दी) के द्वारा होने से इसे **जौमर-प्रस्थान** कहते हैं। प्रक्रिया-क्रम से लिखित इस व्याकरण का प्रचार केवल बंगाल में है। **सारस्वत-प्रस्थान** वस्तुत: नरेन्द्र नामक विद्वान् के द्वारा रचित ७०० सूत्रों से प्रवृत्त हुआ (जो आज अप्राप्य है) किन्तु इसके आधार पर १३ वीं शताब्दी ई. में अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने 'सारस्वत-प्रक्रिया' लिखी जिसपर अनेक टीकाएँ हैं। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य रघुनाथ ने इसपर 'लघुभाष्य' लिखा। इस प्रस्थान का एक ग्रन्थ 'सिद्धान्तचन्द्रिका' भी है। कई प्रदेशों में प्रक्रिया और चन्द्रिका का पठन-पाठन होता रहा है। '**मुग्धबोध**' नामक अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरण-ग्रन्थ के द्वारा बोपदेव (१३०० ई.) ने एक नूतन प्रस्थान का प्रवर्तन किया। नवद्वीप (पश्चिम बंगाल) तक ही इसका अध्ययन सीमित है। १५ वीं शताब्दी ई. में पद्मनाभदत्त ने 'सुपद्म' नामक व्याकरण लिखकर **सौपद्म-प्रस्थान** संस्कृत व्याकरण को दिया। इसका प्रचार मिथिला में था, अब समाप्त हो गया है।[2]

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण में अनेक प्रस्थान देश-विशेष और काल-विशेष की आवश्यकता को ध्यान में रखकर विकसित हुए। आधुनिक युग में प्रक्रियानुसारी व्याकरण अंग्रेजी-हिन्दी आदि भाषाओं में लिखे गये हैं। फिर भी प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन उच्चतर कक्षाओं में होता है।

---

१. **चिन्तामणि**, मंगलाचरण १२ - बालाबलाजनोऽप्यस्या वृत्तेरभ्यासमात्रत: ।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात् ॥

२. व्याकरण के इतिहास पर सहायक साहित्य- (क) पं. युधिष्ठिर मीमांसक- **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास** (तीन भागों में), भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, १९७३; (ख) डॉ. सत्यकाम वर्मा- **संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास**, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१; (ग) पं. बलदेव उपाध्याय- **संस्कृत शास्त्रों का इतिहास** (पृ. ३८३-६०८), शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६९; (घ) S.K. Belvalkar — **Systems of Sanskrit Grammar**, Poona, 1915 (New edn. also reprinted from Delhi).

काव्यशास्त्र (अलङ्कारशास्त्र)

संस्कृत भाषा में रम्य या हृदयावर्जक रचना की समीक्षा की पद्धति को काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र या आलोचनाशास्त्र कहते हैं। राजशेखर ने इसे शास्त्र की कोटि में रखने का अनुपम प्रयास किया है, जिससे स्पष्ट है कि अन्य विद्वान् इसे 'शास्त्र' मानने का विरोध करते होंगे क्योंकि शास्त्रों की सूची में इसका नाम नहीं था। इस शास्त्र का आरम्भ अलंकारों के प्रयोग तथा विवेचन के द्वारा होने, सभी आचार्यों के द्वारा 'अलङ्कार' की न्यूनाधिक विवेचना किये जाने, अलंकारों की संख्या अन्य सभी काव्योपादानों से अधिक बढ़ने एवं व्यावहारिक समीक्षा (टीका, व्याख्या) में अलङ्कारों के प्रयोग का निरूपण किये जाने से इस शास्त्र का सर्वाधिक प्रचलित नाम 'अलङ्कारशास्त्र' ही है किन्तु विषय-व्यापकता की दृष्टि से 'काव्यशास्त्र' (Poetics) कहा जाना अधिक उचित और समर्थन-योग्य है। काव्य के अन्तर्गत नाटक, पद्य, गद्य, चम्पू तथा समस्त रम्य रचनाएँ समाविष्ट होती हैं; उनकी आलोचना अर्थात् रसास्वादन, तारतम्य, प्रभावकता आदि की अभिव्यक्ति ही काव्यशास्त्र की संज्ञा से ग्राह्य है।[१]

(१) काव्यशास्त्र की विषयवस्तु (Subject-matter)

काव्यशास्त्र में उन समस्त विषयों का ग्रहण होता है जिनका काव्य की रचना में भावात्मक या अभावात्मक योगदान है। इस प्रकार इसमें काव्य के लिए उपादेय (रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार) तथा हेय (दोष) विषयों का अनुशीलन होना है। इन्हीं के बल पर हम किसी रचनाकार या उसकी रचना की समीक्षा कर सकते हैं तथा दो लेखकों या उनकी कृतियों का तारतम्य निरूपित कर सकते हैं। यदि काव्यशास्त्रीय व्युत्पत्ति न हो तो सभी कवि एक ही समान लगेंगे, भावुकता में आकर सबको उत्कृष्ट या निकृष्ट ही कह देना अशास्त्रीय घोषणा-मात्र है। यद्यपि किसी रचना का आनन्द या प्रभावकता बहुत दूर तक आत्मनिष्ठ विषय है किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र उसे अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति का विषय बनाने का प्रयास करता है। यही इसकी महत्ता है।

उपर्युक्त उपादेय तथा हेय विषयों के अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य का लक्षण, काव्य के भेद तथा कविशिक्षा जैसे विषय भी अनेक आचार्यों के द्वारा विवेचित हुए हैं। इन्हें भी शास्त्र का विषय कहा गया है। इनका विवेचन आकर-ग्रन्थों में हुआ है। काव्यशास्त्र की शास्त्रीयता इसीमें निहित है कि यहाँ भी सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन इन चार अनुबन्धों का निरूपण हुआ है। अधिकारी और विषयवस्तु के बीच एवं विषयवस्तु तथा काव्यफल (प्रयोजन) के बीच अवश्य ही कार्यकारणभाव है, इसे **सम्बन्ध** कहते हैं। काव्य या

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र के मूलग्रन्थों के उत्तम संस्करण टीका, व्याख्या, अनुवाद आदि सहित प्रकाशित हैं। इसके इतिहास पर भी कुछ उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं जैसे- (क) पी. वी. काणे- **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास** (ख) सुशील कुमार डे- **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास** (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८८ ई.), (ग) डॉ. कृष्णकुमार- अलंकारशास्त्र **का इतिहास** (साहित्य भण्डार, मेरठ, १९८२ ई.), (घ) पं. बलदेव उपाध्याय- **भारतीय** साहित्यशास्त्र (शारदा मन्दिर, वाराणसी), (ङ) Dr. Natavarlal Joshi — **Poetry, Creativity and Aesthetic Experience** (Eastern Book Linkers, Delhi, 1994). अन्तिम ग्रन्थ मुख्यत: सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बद्ध है।

काव्यशास्त्र के अनुशीलन का फल **प्रयोजन** है। काव्यशास्त्र के प्रतिपाद्य को **विषय** कहते हैं (जिनका ऊपर संकेत किया गया है)। विषय को समझने की क्षमता धारण करने वाला **अधिकारी** होता है। काव्यशास्त्र (साथ ही काव्य) का आनन्द लेनेवाले अधिकारी स्वयं कवि, सहृदय, विदग्ध (आलोचक), आश्रयदाता राजा, विद्वानों की परिषद्, नागरक एवं उसकी प्रेमिका (स्त्रीमित्र, गणिका) के रूप में रहे हैं। इन्हींके द्वारा काव्य को प्रोत्साहन मिलता रहा है जिससे काव्यशास्त्र भी विकसित हुआ।[1]

काव्य का प्रयोजन इस शास्त्र के अनेक ग्रन्थों में पृथक्-पृथक् निरूपित हुआ है। भरत से लेकर आधुनिक युग तक के विचारकों ने काव्य के प्रति जनसामान्य के आकर्षण के कारणों की मीमांसा करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। नाट्य-प्रयोजन पर भरत ने कहा कि दुःखी, क्लान्त, शोकाकुल व्यक्तियों को शान्ति देना; धर्म, यश, आयु, बुद्धि का विकास करते हुए हितकर उपदेश देना- ये नाट्य के फल हैं (नाट्यशास्त्र १/११४-५)। कुछ आचार्यों ने पुरुषार्थों के सम्पादन में कौशल, कला-नैपुण्य, कीर्ति और आनन्द को काव्य का फल कहा है (भामह-काव्यालंकार १/२)। कीर्ति और प्रीति (आनन्द) को काव्य का फल मानने वाले अनेक आचार्य हुए। विश्वानाथ ने कहा- चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि (साहित्यदर्पण १/२) अर्थात् काव्य से अल्पज्ञों को भी बिना प्रयास के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति में मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन सर्वमान्य है। तदनुसार काव्य से यशःप्राप्ति, धनलाभ, व्यवहारज्ञान, अमंगल का निवारण, तत्काल परमानन्द की प्राप्ति तथा रसात्मकता के कारण कान्ता-सम्मित उपदेश प्रदान करना काव्य के फल हैं।[2] इनमें कुछ फल कवि को और कुछ भावक (आनन्द लेने वाले) को मिलते हैं।

काव्य के निर्माण के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता है उन्हें '**काव्यहेतु**' कहते हैं। यद्यपि इस क्षेत्र में भी विवादों की परम्परा है किन्तु निष्कर्षरूप से प्रतिभा (शक्ति), व्युत्पत्ति (शास्त्रज्ञान तथा अनुभव) एवम् अभ्यास को समन्वित रूप से काव्यहेतु कहा गया है (रुद्रट-काव्यालंकार १/१४ तथा काव्यप्रकाश १/३)। वाग्भट के अनुसार प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति से वह आभूषित होता है तथा अभ्यास से काव्य की शीघ्र एवं विपुल उत्पत्ति होती है (काव्यालंकार १/३)। जगन्नाथ काव्यघटनानुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति के रूप में कविगत प्रतिभा मात्र को काव्य-हेतु मानते हैं। यह प्रतिभा यदा-कदा देवता या महापुरुष के आशीर्वाद से भी अदृष्ट संस्कार के कारण प्रकट हो जाती है। राजशेखर ने कारयित्री (कवेरुपकुर्वाणा) और भावयित्री (भावक या समीक्षक की उपकारिणी) के रूप में प्रतिभा के दो भेद किये हैं। कारयित्री प्रतिभा भी सहजा (जन्मजात), आहार्या (अभ्यास से प्राप्त) तथा औपदेशिकी (मन्त्र, तन्त्र या पवित्र ग्रन्थों से प्राप्त) होती है। दोनों प्रतिभाएँ काव्य की रचना में काम आती हैं।

काव्य का लक्षण इस शास्त्र का सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न है। 'लक्षण' किसी वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है (व्यावर्तकं लक्षणम्)। इसलिए अपनी-अपनी कल्पना तथा

---

१. डॉ. नटवरलाल जोशी का उक्त अंग्रेजी ग्रन्थ, पृ. २७-५०।

२. **काव्यप्रकाश** १/२ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

अनुभूति के आधार पर उन उपादानों की अभिव्यक्ति आचार्यों ने की है जिन्हें वे व्यावर्तक या काव्य के स्वरूप का निर्धारक मानते रहे हैं। सामान्यत: आचार्यों द्वारा विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित काव्यलक्षणों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है–

(१) शब्दार्थ-साहित्य

इसमें काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व दिखाया गया है। भामह (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, काव्यालंकार १/१६), रुद्रट (शब्दार्थौ काव्यम्, काव्यालंकार २/१), वाग्भट (शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय: सालंकारौ काव्यम्, काव्यानुशासन, पृ. १४), हेमचन्द्र (अदोषौ शब्दार्थौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्, काव्यानुशासन, पृ. १६), मम्मट (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन: क्वापि, काव्यप्रकाश १/४) इत्यादि इस वर्ग के प्रसिद्ध काव्यलक्षणकार हैं। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर ही हो सकता है, प्राण नहीं।

(२) शब्दप्राधान्य

इस वर्ग के लक्षणकार काव्य में शब्द को अधिक महत्त्व देते हैं; अर्थ तो शब्द का अनुवर्ती है, काव्यत्व का प्रयोजक मुख्यत: शब्द ही है। दण्डी (शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली, काव्यादर्श १/१०) तथा जगन्नाथ (रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्, रसगङ्गाधर, पृ. २) इस वर्ग के प्रमुख आचार्य हैं।

(३) अन्य तत्त्वों की प्रधानता

कुछ आचार्यों ने अपने काव्यलक्षणों में शब्द तथा अर्थ से भिन्न तत्त्वों की प्रधानता दिखायी है जैसे– वामन ने पदों की विशिष्ट (विशेष अर्थात् काव्यगुणों से युक्त) रचना पर (विशिष्टा पदरचना रीति:, काव्यालंकारसूत्र १/२/७), कुन्तक ने वक्रोक्ति (विचित्राभिधा) पर, आनन्दवर्धन ने ध्वनि पर (काव्यस्यात्मा ध्वनि:, ध्वन्यालोक, १/१), क्षेमेन्द्र ने औचित्य (काव्यतत्त्वों के समुचित समावेश) पर और विश्वनाथ ने रस पर (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, साहित्यदर्पण १/३) बल दिया है। इनमें काव्य की आत्मा पर विचार होने से काव्यशास्त्र में छह प्रस्थानों का उद्‌भव हुआ जिनकी चर्चा आगे की जायेगी।

काव्य का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है– कवे: कर्म काव्यम्। 'कवि' शब्द भी कुङ् (शब्द करना) या कवृ (वर्णन करना) धातु से इ प्रत्यय लगकर बना है जिससे इसका अर्थ है शब्दों के सहयोग से चमत्कारपूर्ण वर्णन करनेवाला और ऐसे ही वर्णन को 'काव्य' कहते हैं। ऐसा ही अर्थ परम्परा से चल रहा था जैसा कि आनन्दवर्धन ने संकेत किया है– सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् (ध्वन्यालोक १/१ की वृत्ति)। यही बात काव्य के परम्परित अर्थ के विषय में प्रकारान्तर से वामन ने भी कही थी– काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १/१/१)। इससे शब्दार्थ-साहित्य-प्रस्थान की प्राचीनता सिद्ध होती है।

सभी काव्यलक्षणों में मम्मट के द्वारा दिया गया लक्षण पूर्ण, सन्तुलित तथा समन्वयवादी है। ध्वनिकाव्य, उसमें भी रसध्वनि, के प्रति मम्मट का विशेष झुकाव है। रस को ये काव्य का अङ्गी (प्रधान तत्त्व) मानते हैं– ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: (का. प्र., गुण का लक्षण ८/१), मुख्यार्थहतिर्दोष: रसश्च मुख्य: (का. प्र., दोष का लक्षण ७/१)। फिर भी काव्य की परम्परागत कल्पना की सर्वथा

उपेक्षा न करके चित्रकाव्य को काव्य-भेद में स्थान देते हैं। इस प्रकार काव्य की द्विविध कल्पनाओं (ध्वनि-युक्त, ध्वनि-रहित) का समन्वय इनके काव्यलक्षण में मिलता है। इनका काव्यलक्षण 'अदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' दोनों अतिवादी काव्यों का समावेश कर लेता है। तदनुसार ही लक्षण की व्याख्या की जाती है।

शब्द और अर्थ दोनों का समान रूप से प्राधान्य केवल काव्य में ही होता है; वेदादिशास्त्रों में शब्द-मात्र की तथा इतिहास-पुराणादि में केवल अर्थ की प्रधानता होती है। 'शब्दार्थौ' कहकर इन दोनों को काव्य-जगत् से दूर रखा गया। 'अदोषौ' में दोष से रहित शब्दार्थ का निरूपण है। ध्वनिवादियों ने नित्य और अनित्य रूप से दोष माने हैं। मम्मट का भी भाव है कि नित्य दोषों का परिहार हो, रसबोध में बाधा न हो तो दोष की महत्ता नहीं। 'सगुणौ' का भी ध्वनि और चित्रकाव्य के प्रसंग में पृथक् तात्पर्य है; ध्वनि या रस के प्रसंग में मुख्य अर्थ और अन्य प्रसंगों में 'गुण' का गौण अर्थ ग्राह्य है। अलंकारों के विषय में मम्मट का मत है कि सर्वत्र सालंकार शब्दार्थ ही रहें किन्तु यदि रस या ध्वनि का ही चमत्कार हो तो अलंकार अकिञ्चित्कर (महत्त्वहीन) हैं- रहें या न रहें। मम्मट के लक्षण में सब प्रकार के काव्यों का समावेश हो जाता है।

काव्य के भेद दो विषयों पर आश्रित हैं- (१) बाह्य रूप या विधा पर; (२) अर्थ पर। मम्मट ने दूसरा बिन्दु (अर्थाश्रित काव्य) चुना है जबकि विश्वनाथ आदि पहले बिन्दु पर काव्यभेद करते हैं। **विधा की दृष्टि से** काव्य के दो भेद हैं- दृश्य और श्रव्य। इनके भी अनेक भेद हैं। 'दृश्यकाव्य' को दस रूपकों तथा अठारह उपरूपकों में विभक्त किया गया है जिनका विवरण रूपक-विवेचन के क्रम में दिया गया है। 'श्रव्यकाव्य' गद्य, पद्य और चम्पू के रूप में त्रिविध है। गद्य को कथा और आख्यायिका के रूप में एवं पद्य को मुक्तक और प्रबन्ध के रूप में दो-दो भेदों में रखा गया है। प्रबन्ध को मुख्यतः महाकाव्य और खण्डकाव्य के रूप में रखा जाता है यद्यपि विश्वनाथ ने सूक्ति-संग्रह के रूप में 'कोष' भेद भी माना है। चम्पू में गद्य-पद्य दोनों होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हैं- (१) ध्वनिकाव्य जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कारी हो, यह उत्तमकाव्य है। (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य जिसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ आगे न बढ़े। इसके आठ भेद किये गये हैं (काव्यप्रकाश ५/४५-६)। यह मध्यम कोटि का काव्य है। (३) चित्रकाव्य जिसमें केवल शब्द या वाच्यार्थ का चमत्कार दिखाया जाये, व्यङ्ग्य अर्थ बिल्कुल न हो। इसे 'अधमकाव्य' कहते हैं। जगन्नाथ ने अर्थचित्र को मध्यम और शब्दचित्र को अधम कहकर ऊपर के दोनों भेदों को क्रमशः उत्तमोत्तम और उत्तम श्रेणी में रखा है।

कुछ आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के उपर्युक्त विषयों को छोड़कर कवि के प्रशिक्षण के लिए कुछ उपयोगी विषयों पर प्रकाश डाला है। इनके ग्रन्थों को **'कवि-शिक्षा'** से सम्बद्ध मानते हैं। इनमें शास्त्र-परिचय, पद-वाक्य-विवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, काव्य के स्रोत, अर्थव्याप्ति, कविचर्या, राजचर्या, काव्य-हरण, कविसमय, देश-काल-विभाग आदि का विवेचन होता है जैसा कि 'काव्यमीमांसा' (राजशेखर-कृत) में है। अमरचन्द्र (१३ वीं श.) की 'काव्यकल्पलता', देवेश्वर (१४ वीं श.) की 'कविकल्पलता' तथा केशवमिश्र (१६ वीं श.) का 'अलंकारशेखर' भी कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ हैं जिनमें छन्दों और अलंकारों के प्रयोग की शिक्षा दी गयी है। कवि बनने

के लिए ऐसे ग्रन्थों का अभ्यास आवश्यक है।

(२) काव्यशास्त्र का उद्भव तथा विकास

काव्यतत्त्व की समीक्षा के उद्भव से पूर्व विपुल काव्य-रत्नों का प्रकाशन वैदिक-लौकिक साहित्य में हो चुका था। ऋग्वेद में कई सूक्तों तथा ऋचाओं में सुन्दर भावों को रम्य भाषा का परिधान दिया गया है। उषा के सूक्तों तथा लौकिक सूक्तों में (जैसे संवाद-सूक्त, दान-सूक्त, अक्षसूक्त, मण्डूक-सूक्त आदि) काव्य की अभिव्यक्ति प्रचुर रूप से मिलती है। इसी प्रकार अथर्ववेद में अप्सरा-सूक्त, राष्ट्रसूक्त आदि काव्य के उदाहरण हैं। वेदों को परमेश्वर का ऐसा काव्य कहा गया है जो न नष्ट होगा, न पुराना पड़ेगा- पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्ववेद १७/८/३८)। लौकिक साहित्य में रामायण और महाभारत में काव्य की अम्लान धारा प्रवाहित हुई है। इनकी समीक्षा के शास्त्र का विकास भी अपेक्षित था।

काव्यशास्त्रीय उद्भावनाओं की छिटपुट उपलब्धि निरुक्त के उपमा-विवेचन में[1], पाणिनि के द्वारा नटसूत्रों के निर्देश में[2] तथा पतञ्जलि की नाट्याभिनय-विषयक एवम् आख्यायिका-विषयक सूचनाओं में होती है। अनेक परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इस शास्त्र के प्राचीन आचार्यों के नाम दिये हैं जिनके ग्रन्थ आज नहीं मिलते। वर्तमान परिस्थिति में भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसकी विशालता तथा प्रौढ विवेचना अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थों की सत्ता सिद्ध करती है। यहाँ भरत से लेकर प्रमुख आचार्यों तथा उनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है-

भरतमुनि का **नाट्यशास्त्र**[3] संस्कृत काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें पाठान्तर इतने हो गये हैं कि विभिन्न स्थानों से प्रकाशित संस्करणों में पद्यों की संख्या तथा अध्यायों में भी भेद है। डॉ. मनमोहन घोष ने अपनी विस्तृत भूमिका सहित सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से १९५० ई. में प्रकाशित कराया। नाट्यशास्त्र पर इधर शोधकार्य भी पर्याप्त हुए हैं। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित का ग्रन्थ 'भरत और भारतीय नाट्यकला' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरतमुनि को काल्पनिक या वास्तविक माना जाये- इस विषय में भी विवाद चले हैं। किन्तु संस्कृत नाट्य-परम्परा में भरत एक आदरणीय आचार्य थे जिनके नाम पर भरत-वाक्य का प्रयोग प्रत्येक नाटक में हुआ है।

'नाट्यशास्त्र' एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें नाट्य और काव्य से सम्बद्ध नियमों का विस्तृत विवेचन है। इसके चौखम्भा संस्करण (सं.-बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय) में ३६ अध्याय हैं, जबकि काव्यमाला संस्करण में ३७ अध्याय हैं। अभिनवगुप्त इसमें ३६ अध्याय ही मानते हैं। पद्यों की संख्या ५००० से अधिक है जो मुख्यत: अनुष्टुप् छन्द में हैं। गद्यभाग भी इसमें बहुत है। वर्तमान काल में उपलब्ध नाट्यशास्त्र विकास के विभिन्न लक्षणों से युक्त है अर्थात् इसमें समय-समय पर संवर्धन और संशोधन होता रहा था। इसका रचनाकाल इसीलिए विवादास्पद है। १००

---

१. **निरुक्त** ३/१३ अथात उपमा। यदतत् तत्सदृशं तदासां कर्मेति गार्ग्य:।

२. पाणिनि के सूत्रों (४/३/११०-११) में शिलालि और कृशाश्व के नाम नटसूत्रकार के रूप में हैं। अनेक सूत्रों में उपमान, उपमित, सामान्य, उपमा आदि शब्द आये हैं।

३. काव्यमाला सीरिज, निर्णयसागर प्रेस से प्रथम सं. प्रकाशित, १८९४ ई.। बड़ौदा से अभिनवगुप्त की टीका के साथ चार भागों में प्रकाशित (१९२६-५७ ई.)। चौखम्भा से ४ भागों में हिन्दी सहित।

ई. पू. से लेकर ३०० ई. तक के काल में इसे वर्तमान रूप मिला होगा– ऐसा बहुमत है। इसकी विषयवस्तु व्यापक है– नाट्य की उत्पत्ति, प्रेक्षागृह की प्रस्तुति, रूपक के अभिनय की प्रस्तुति, पूर्वरङ्ग, संगीत, रस-विवेचन, अभिनय के भेद (अष्टम अध्याय), चारी-विधान, मण्डल, गति, प्रवृत्तियों का विवेचन, वाचिक अभिनय के अन्तर्गत भाषाओं तथा छन्दों पर विचार (अध्याय-१५ तथा १६) काव्य-विवेचन (१७), पात्रों के लिए भाषा-विधान (१८), रूपक-भेद (२०), कथानक-रचना, वेश-भूषा, स्त्री-पात्रों पर विचार, चित्राभिनय, वाद्य, ताल, लय, पात्र (प्रकृति) भेद तथा नाट्यशास्त्र का महत्त्व– ये बहुविध विषय इसमें प्रतिपादित हैं।

नाट्यशास्त्र पर कालान्तर में अनेक टीकाएँ लिखी गयी थीं जिनमें केवल अभिनवगुप्त-रचित 'अभिनवभारती' छिन्न-विच्छिन्न रूप में उपलब्ध (तथा प्रकाशित) है। इसमें अन्य तीन पूर्ववर्ती टीकाकारों (भट्टोद्भट, शंकुक तथा भट्टनायक) के रस-निष्पत्ति-विषयक सिद्धान्त दिये गये हैं। अभिनवगुप्त ने अपने रस-सिद्धान्त की भी स्थापना की जो अनुवर्ती विद्वानों के द्वारा स्वीकृत है।

अग्निपुराण अनेक विषयों से सम्पन्न पुराण है जिसके ग्यारह अध्यायों में (३३७-४७) काव्यशास्त्रीय सामग्री है। इस पुराण के रचनाकाल पर काव्यशास्त्र के विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इसे पाँचवीं शताब्दी ई. में रखने के पक्षधर हैं तो कुछ इसका काल १२ वीं शताब्दी ई. तक ले आने की अनुशंसा करते हैं क्योंकि भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन और भोज तक के सिद्धान्त इसमें हैं। इनमें किसी ने इस पुराण का उद्धरण नहीं दिया है। वस्तुतः पुराणों का जब-जब कोई हस्तलेख बनता था तब-तब उसमें जोड़-घटाव होता रहता था। इसलिए पूरे पुराण को बाद में सिद्ध करना ठीक नहीं। इसके साहित्यिक अंश में काव्यभेद, नाट्य-विचार, रस, रीति, वृत्ति, अभिनय के चार अङ्ग, अलंकार, गुण तथा दोष का विवेचन है। इसी विवेचन पर भामह आदि के सिद्धान्त आश्रित हैं।

भामह का स्थान भरत के अनन्तर प्रथम आचार्य के रूप में समादृत है। इन्होंने **'काव्यालङ्कार'** नामक ग्रन्थ की रचना करके 'अलङ्कार-प्रस्थान' का प्रवर्तन किया था। यह ग्रन्थ शुद्ध काव्यशास्त्रीय है (क्योंकि नाट्यशास्त्र तो मुख्यतः दृश्यकाव्य-विषयक है)। काव्य का प्रथम लक्षण भामह ने ही दिया। इन्होंने ३८ अलंकारों का विवेचन किया। भामह कश्मीर के निवासी थे। इनका समय ५५० ई. के आसपास माना गया है। 'काव्यालंकार' में छह परिच्छेद हैं जिनमें पाँच विषयों का विवेचन है– काव्यशरीर, अलंकार, दोष, न्याय तथा शब्दशुद्धि। पूरे ग्रन्थ में प्रायः ४०० श्लोक हैं।[1] इस ग्रन्थ पर उद्भट ने 'भामहविवरण' नामक टीका लिखी थी जो खण्डित रूप से उपलब्ध हुई है।[2]

दण्डी ने गद्यकाव्यों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **'काव्यादर्श'** भी लिखा। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का प्रामाण्य मानने पर दण्डी ७०० ई. के आसपास सिद्ध होते हैं। काव्यादर्श तीन परिच्छेदों का ग्रन्थ है जिसमें ६६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, भेद, कथा-आख्यायिका में भेद का खण्डन, भाषाभेद, वैदर्भ और गौड मार्ग, दस गुणों का परिचय तथा काव्य

---

१. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के भाष्य सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित है (१९६१ ई.)।

२. रोम विश्वविद्यालय से तुची द्वारा प्रकाशित।

हेतु का विचार है। द्वितीय परिच्छेद में ३५ अलंकारों का तथा तृतीय परिच्छेद में ७७ पद्यों में यमक के भेदों का एवं शेष भाग में चित्रबन्ध, प्रहेलिका तथा दोषों का विवेचन है। रीति के स्थान पर दण्डी ने 'मार्ग' का प्रयोग किया है। इसका प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है, इसकी प्राचीन टीकाएँ भी मिलती हैं।

उद्भट (भट्टोद्भट) का एक ग्रन्थ **'अलंकारसारसंग्रह'** (निर्णयसागर प्रेस से १९१५ ई. में प्रकाशित) केवल अलंकारों पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें छह वर्ग, ७९ कारिकाएँ तथा ४१ अलंकारों विवेचन है। उद्भट ने अपने 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य के प्राय: १०० पद्य इन अलंकारों के उदाहरण के रूप में दिये हैं। उद्भट राजतरङ्गिणी के अनुसार (४/४९५) राजा जयापीड (राज्यकाल ७७९-८१३ ई.) की राजसभा के अध्यक्ष थे। अत: इनका काल ८०० ई. के आसपास रखा जाता है। अलंकारसारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज (१० वीं शताब्दी का आरम्भ) ने 'लघुविवृति' तथा राजानक तिलक (११००-११२५ ई.) ने 'उद्भटविवेक' नामक टीका लिखी थी।

वामन भी कश्मीर-नरेश जयापीड की राजसभा के मन्त्री थे, अत: इनका काल भी ८०० ई. के निकट है। उद्भट और वामन ने एक-दूसरे के विषय में कुछ नहीं लिखा यद्यपि दोनों एक ही स्थान पर एक ही काल में थे। वामन का निर्देश ध्वन्यालोक तथा काव्यमीमांसा में मिलता है जिससे इनके काल का समर्थन होता है। इनका 'काव्यालंकारसूत्र' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है।[1] इसपर स्वयं वामन ने वृत्ति भी लिखी थी। इसका विभाजन पाँच अधिकरणों में है जिनमें क्रमश: काव्यशरीर, दोष, गुण, अलंकार तथा प्राचीन प्रयोगों पर विचार है। प्रथम और चतुर्थ अधिकरणों में तीन-तीन अध्याय हैं, शेष में दो-दो हैं। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति-प्रस्थान का प्रवर्तन किया था; काव्यगुणों को रीति से जोड़कर उन्हें काव्य में नित्य कहते हुए शब्दार्थ के धर्म के रूप में समझाया। काव्यालंकारसूत्र पर तीन प्राचीन टीकाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें गोपेन्द्र भूपाल की 'कामधेनु' प्रसिद्ध है।

रुद्रट सम्भवत: आनन्दवर्धन के समकालिक (८५० ई.) कश्मीर के शैवमतावलम्बी सामवेदी ब्राह्मण थे। समकालिक होने से वे एक-दूसरे के विषय में कोई चर्चा नहीं करते। राजशेखर (९०० ई.) ने इनका उल्लेख किया है (काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रट:, काव्यमीमांसा, अध्याय-७)। रुद्रट की एकमात्र कृति है- **काव्यालंकार**।[2] आर्या छन्द के ७३४ पद्य इसमें हैं जो सोलह अध्यायों में वितीर्ण हैं। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, चार प्रकार की रीतियाँ, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, दोष, अर्थालंकार, दस प्रकार के रस तथा प्रबन्धकाव्यों के भेदों का क्रमश: विवेचन किया गया है। अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से इसमें अधिक व्यापकता है। अलंकारों का तार्किक वर्गीकरण, रस-निरूपण, नायक-नायिका-भेद इत्यादि का विवेचन रुद्रट की विशिष्टता है। इस ग्रन्थ पर नमिसाधु की व्याख्या मिलती है। ये श्वेताम्बर जैन थे जिनकी टीका का काल १०६९ ई.

---

१. निर्णयसागर प्रेस से वृत्ति सहित प्रकाशित; कामधेनुटीका एवं हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा से प्रकाशित (१९८९) तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या तथा डॉ. नगेन्द्र की विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशित।

२. नमिसाधु की टीका के साथ 'काव्यालंकार' निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित। पुनर्मुद्रण- मोतीलाल बनारसीदास (१९८३ ई.)।

दिया गया है।

ध्वनि-प्रस्थान के प्रवर्तन तथा व्याख्यान के कारण संस्कृत काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन का स्थान उत्कृष्ट है। इन्होंने काव्यशास्त्र के मार्ग को व्यवस्थित किया (ध्वनिकृतामालंकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्वात् - रसगङ्गाधर)। 'ध्वन्यालोक' की रचना इनकी स्थिर कीर्ति का आधार है। आनन्दवर्धन कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (राज्यकाल ८५५-८८३ ई.) के समय में विख्यात हो चुके थे जैसा कि राजतरङ्गिणी (५/३४) में कहा गया है-

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

ऐसी स्थिति में ८५० ई. के आसपास ये वर्तमान थे। इन्होंने 'देवीशतक' की भी रचना करके कवि के रूप में यश पाया था। इनकी अन्य काव्य-कृतियाँ (अर्जुनचरित, विषमबाणलीला आदि) उपलब्ध नहीं हैं।

ध्वन्यालोक[1] चार उद्योतों में विभक्त कारिका और वृत्ति के रूप में रचित महार्ह ग्रन्थ है। इसमें कारिकाओं की संख्या ११७ (१९+३३+४८+१७) है। कुछ इतिहासकारों ने कारिका और वृत्ति की भिन्नकर्तृकता का व्यर्थ विवाद खड़ा किया है। दोनों आनन्दवर्धन की ही कृतियाँ हैं। इसके प्रथम उद्योत में ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर तीन सम्भाव्य विरोधियों (अभाववादी, भक्तिवादी तथा अनिर्वचनीयतावादी) का खण्डन करते हुए ध्वनिकाव्य का लक्षण दिया गया है। ध्वनिकाव्य के दो भेदों (लक्षणामूल और अभिधामूल) की व्याख्या द्वितीय उद्योत में की गयी है। अभिधामूल के भेदों के क्रम में रसध्वनि का और तीन गुणों का विवेचन है। रसध्वनि तथा रसवत् आदि अलंकारों की स्थितियों का विभाजन भी किया गया है। तृतीय उद्योत में भी ध्वनिभेदों का विवेचन आगे बढ़ाकर काव्य के अन्य भेदों (गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य) का भी प्रतिपादन किया गया है। रस के विवेचन में औचित्य तथा अनुकूल वृत्तियों का भी निरूपण महत्त्वपूर्ण है। चतुर्थ उद्योत में प्रतिभा की अनन्तता का विस्तृत विवेचन है। ध्वनिकार का कथन है कि जगत् में वर्ण्य वस्तु का कभी अभाव नहीं हो सकता, चाहे लाखों बृहस्पति इसका वर्णन करते रहें (ध्वन्या. ४/१०)। कवियों की सहायता स्वयं सरस्वती ही करती है। अपने प्रतिपाद्य विषय को आनन्दवर्धन ने शताधिक उदाहरणों से समर्थित किया है। ध्वन्यालोक ने संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि के समर्थक और विरोधी लेखकों का प्रबल वाद-विवाद आरम्भ किया जिसकी समाप्ति मम्मट के काव्यप्रकाश में हुई।

कश्मीर के निवासी **मुकुलभट्ट** (९०० ई.) ने १५ कारिकाओं की एक लघुकाय रचना **'अभिधावृत्तिमातृका'** के नाम से की जिसमें शब्द की दो वृत्तियों अभिधा और लक्षणा पर विचार किया। मुकुलभट्ट के पिता कल्लट राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में वर्तमान थे। प्रतिहारेन्दुराज (१० वीं शताब्दी का आरम्भ) ने मुकुलभट्ट से अलंकारशास्त्र का अध्ययन किया था। उनके अनुसार मुकुलभट्ट मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य के महापण्डित थे। मम्मट ने लक्षणा का विवेचन

१. काव्यमाला (सं. २५) में अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका के साथ प्रकाशित, १९११ ई.। हिन्दी व्याख्या (आचार्य विश्वेश्वर कृत) सहित ज्ञानमण्डल, काशी से तथा अन्य कई स्थानों से प्रकाशित। डॉ. कृष्णमूर्ति कृत अंग्रेजी अनुवाद तथा उनका शोधप्रबन्ध प्रकाशित।

इन्हींके आधार पर किया है। कश्मीर के दो विद्वानों के नाम इस सन्दर्भ में उद्धरणीय हैं यद्यपि इनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। वे हैं- **भट्टतौत** (अभिनवगुप्त के गुरु) तथा **भट्टनायक** (रसभुक्तिवाद के प्रतिष्ठापक)। भट्टतौत ने शान्तरस को मोक्षप्रद होने से श्रेष्ठ कहा था यद्यपि इसे उनके शिष्य अभिनवगुप्त ने पूर्वपक्ष कहा है (मोक्षफलत्वेन चायं शान्तो रसः परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः, स चायमस्मदुपाध्याय-भट्टतौतेन 'काव्यकौतुके' अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्तः, ध्वन्यालोकलोचन ३/२६)। इसमें इनकी रचना का नाम तथा अभिनवगुप्त-कृत 'विवरण'-टीका का भी निर्देश है। 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' के रूप में प्रतिभा का लक्षण भी भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' से ही उद्धृत है। भट्टनायक ने नाट्यशास्त्र की टीका के अतिरिक्त 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ भी लिखा था जो अब कतिपय उद्धरणों में ही अवशिष्ट है।

विदर्भ के मूल निवासी किन्तु कान्यकुब्ज-नरेश निर्भयराज (महेन्द्रपाल) के गुरु के रूप में प्रतिष्ठित, चौहान-कुल की विदुषी स्त्री अवन्तिसुन्दरी से विवाह करनेवाले एवं नाट्यकृतियों के द्वारा संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में योग देनेवाले आचार्य **राजशेखर** ने **'काव्यमीमांसा'**[1] के अठारह अध्यायों में कवि-शिक्षा के लिए उपयुक्त सामग्री दी है। ग्रन्थ के अनुसार १८ अधिकरण थे, वर्तमान काव्यमीमांसा इसका केवल प्रथम अधिकरण है जिसका नाम 'कविरहस्य' है। इसके अध्यायों के शीर्षक भी दिये गये हैं जैसे- शास्त्रसंग्रह, शास्त्रनिर्देश, काव्यपुरुषोत्पत्ति, शिष्यप्रतिभा, व्युत्पत्ति-परिपाक, पदवाक्यविवेक, वाक्यविधि, काव्यार्थयोनि, अर्थानुशासन, कविचर्या-राजचर्या, शब्दहरणोपाय, शब्दार्थहरण, कविसमय (१४-१६), देशविभाग तथा कालविभाग। यह ग्रन्थ वस्तुतः काव्य-शिक्षा का महान् कोश है। भले ही इसमें गुण, दोष, अलंकार, रस आदि परम्परागत विषयों का प्रतिपादन नहीं है किन्तु काव्य-निर्माण के लिए अन्य बहुत-सी आवश्यक बातें समझायी गयी हैं। इसका मुख्य भाग गद्य में है, उदाहरणों के रूप में विपुल पद्यभाग भी है।

भरत के नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम सारग्रन्थ **'दशरूपक'** है जिसे **धनञ्जय** ने लिखा। वे धारा-नरेश मुञ्ज (९७४-९४ ई.) के राज्यकाल में थे। दशरूपक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अपने लघु आकार के कारण बहुत लोकप्रिय है। इसका विभाजन ४ प्रकाशों में हुआ है जिनमें प्रायः ३०० पद्य (कारिकाएँ) हैं। प्रथम प्रकाश में कथावस्तु का विभाजन विस्तार से वर्णित है (सन्धि, अर्थोपक्षेपक आदि)। द्वितीय प्रकाश में नायक, नायिका तथा नाट्यवृत्तियों का वर्णन एवं तृतीय प्रकाश में रूपकों के भेदों का प्रतिपादन है। चतुर्थ प्रकाश रस के विवेचन में लगा है। धनंजय रसनिष्पत्ति में व्यञ्जनावादी नहीं हैं, शान्तरस का प्रबल खण्डन करते हैं। दशरूपक पर अवलोक नामक वृत्ति की रचना धनञ्जय के अनुज धनिक ने की है। यह वृत्ति बहुत उपयोगी है। दोनों का संयुक्त रूप से मुद्रण निर्णयसागर प्रेस से तथा हिन्दी-व्याख्या के साथ प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है।

अभिनवगुप्त कश्मीर के बहुत बड़े आचार्य तथा तन्त्रवेत्ता थे। शिवाद्वैत दर्शन (प्रत्यभिज्ञा), तन्त्र, स्तोत्र तथा काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना से अपने व्यापक ज्ञान का इन्होंने परिचय दिया है। दर्शन-क्षेत्र में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' उत्पलदेव के ग्रन्थ और वृत्ति पर टीका है जो

---

१. गायकवाड ओरिएंटल सीरिज, बडौदा से प्रथम प्रकाशन (१९१६ ई.)। बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से हिन्दी-व्याख्या सहित उत्कृष्ट संस्करण प्रकाशित। मेरे निर्देशन में इसकी समीक्षा पर पीएच्. डी. प्राप्त (पटना विश्वविद्यालय, १९८३ ई.)।

बृहत् और लघु दो संस्करणों में है। तन्त्र के क्षेत्र में इनका 'तन्त्रालोक' बहुत प्रसिद्ध है, इसका संक्षिप्त रूप 'तन्त्रालोकसार' भी इन्होंने लिखा था। मालिनीविजयवार्तिक तथा परात्रिंशिकाविवरण इनके अन्य तन्त्र-ग्रन्थ हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दो की प्रसिद्धि और महत्ता अत्यधिक है- ध्वन्यालोक की **लोचन** टीका तथा नाट्यशास्त्र की टीका **अभिनवभारती**। यह नाट्यशास्त्र पर एकमात्र उपलब्ध टीका है किन्तु अनेक स्थानों पर इसका पाठ त्रुटित है। इसमें प्राचीन मतों की समीक्षा भी है। यह एक स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में है। 'लोचन' ध्वनि और रसनिष्पत्ति को समझने में बहुत सहायक है। अभिनवगुप्त इसकी प्रशंसा में कहते हैं- किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि? इसमें पूर्ववर्ती टीका 'चन्द्रिका' का संकेत है। इनका साहित्यिक कार्यकाल ९८०-१०१० ई. के बीच है।

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति-प्रस्थान के व्याख्याता **कुन्तक** कश्मीर में ही ९७५ ई. तथा १०२५ ई. के बीच हुए थे। अभिनवगुप्त इनके समकालिक थे। कश्मीरी विद्वानों की विशिष्टता के अनुसार इन दोनों ने एक दूसरे की चर्चा तक नहीं की है। कुन्तक की एक ही कृति '**वक्रोक्तिजीवित**' मिली है।[1] इसमें कारिकाएँ तथा उनकी सोदाहरण विस्तृत व्याख्या है। पूरा ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। वक्रोक्ति का स्वरूप, उसके भेद; सुकुमार, मध्यम तथा विचित्र मार्गों का विवेचन; वक्रता के छह भेदों का क्रमशः निरूपण - ये विषय इसमें आये हैं।

महिमभट्ट (१०२०-१०५० ई.) ने ध्वन्यालोक तथा वक्रोक्तिजीवित दोनों का खण्डन **व्यक्तिविवेक**[2] में किया है। मम्मट ने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित दोष-विवेचन का अनुसरण किया है और उनके अनुमानवादी मत (व्यञ्जना अनुमान से भिन्न नहीं) का खण्डन भी किया है। व्यक्तिविवेक में तीन विमर्श (अध्याय) हैं जिनमें ध्वनि का खण्डन किया गया है। महिमभट्ट तथाकथित प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ को अनुमान का विषय मानते हैं। ध्वनि के भेदों-प्रभेदों पर वे उपहास करते हैं। ध्वन्यालोक से ध्वनि के ४० उदाहरण लेकर उन्हें अनुमेय सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार दो अर्थ होते हैं- वाच्य और अनुमेय। वक्रोक्ति और ध्वनि सब अनुमेय है। द्वितीय विमर्श में उन्होंने दोषों का विवरण दिया है- अनौचित्य काव्य का सबसे बड़ा दोष है। व्यक्तिविवेक की एक प्राचीन टीका (सम्भवतः रुय्यक कृत) मिली है जिसमें लेखक के मतों का उपहास किया गया है।

धारा-नरेश **भोज** ने अनेक शास्त्रों में (वैज्ञानिक विषयों में भी) बड़े-बड़े ग्रन्थ[3] लिखे। इनका राज्यकाल बहुत लम्बा था (१००५-१०५५ ई.)। काव्यशास्त्र में इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं- सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश। दोनों विशाल ग्रन्थ हैं। **सरस्वतीकण्ठाभरण**[4] समन्वयात्मक

---

१. डॉ. सुशील कुमार डे के सम्पादन में १९२३ ई. में कलकत्ता से प्रथम प्रकाशन। डॉ. के. कृष्णमूर्ति द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (कर्नाटक विश्व. धारवाड़) प्रकाशित। हिन्दी व्याख्या चौखम्भा तथा विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित।

२. त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज (सं. ५) में गणपतिशास्त्री द्वारा रुय्यक-कृत (?) टीका के साथ प्रकाशित, १९०९ ई.। हिन्दी व्याख्या सहित (चौखम्भा)।

३. डॉ. राघवन् ने भोज की ६४ रचनाओं का एवं ऑफ्रेक्ट ने २३ शास्त्रीय रचनाओं का उल्लेख किया है।

४. काव्यमाला (सं. ९४) में प्रकाशित - तृतीय परिच्छेद तक रामसिंह की टीका और चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर की टीका के साथ। इस संस्करण का चौखम्भा ओरियंटालिया से पुनर्मुद्रण, १९८७ ई.। (पंचम परिच्छेद टीकारहित है)।

रचना है जिसमें २४ शब्दगुण, २४ अर्थगुण, ६ रीतियाँ (वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटी, मागधी) और तीन प्रकार के अलंकार (शब्द, अर्थ तथा उभय) दिखाये गये हैं। पूरा ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद (१६० कारिकाएँ, २०४ उदाहरण) में दोष और गुण का विचार है; द्वितीय परिच्छेद (१५८ कारिकाएँ, ४०१ उदाहरण) में २४ शब्दालंकारों तथा साहित्य के भेदों का विवेचन है। तृतीय परिच्छेद (का. ५५, उ. १६८) में २४ अर्थालंकारों का प्रतिपादन है। चतुर्थ परिच्छेद (का. ९१, उ. २४३) में २४ उभयालंकारों (उपमा, रूपक, साम्य आदि) का निरूपण करके अन्तिम परिच्छेद (का. १७९, उ. ५२५) में भोज ने रस, नायक-नायिका, सन्धि तथा वृत्ति पर विचार किया है। यहाँ समस्त काव्यशास्त्रीय परम्परा का समावेश करके लेखक ने नवीन उद्भावनाएँ की हैं।

शृङ्गारप्रकाश ३६ अध्यायों में विभक्त संस्कृत काव्यशास्त्र की विशालतम कृति है, अध्यायों को यहाँ 'प्रकाश' कहा गया है। सम्भवत: नाट्यशास्त्र के समानान्तर, उसकी विषयवस्तु से भी आगे जाकर, समस्त काव्यशास्त्रीय उद्भावनाओं को प्रकाशित करते हुए शृङ्गाररस को श्रेष्ट रस सिद्ध करने के लिए इसकी रचना की गयी थी। काव्य और नाट्य दोनों का व्यापक विवेचन करने के कारण इसका मध्यकाल में पर्याप्त प्रचार था। इस पर कोई टीका नहीं मिलती, किन्तु परवर्ती लेखकों ने इससे प्रचुर उद्धरण दिये हैं। यह हस्तलिखित रूप में, २६ वें प्रकाश को छोड़कर, पूर्णत: उपलब्ध है[1] किन्तु इसका पूर्वार्ध-मात्र प्रकाशित है। डॉ. वे. राघवन् ने इसपर शोधकार्य करके इसकी समीक्षा की है। इस शोध-प्रबन्ध का कुछ भाग हिन्दी-रूपान्तर में मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी से प्रकाशित है।[2] शृंगार प्रकाश के आरम्भिक दस अध्यायों में काव्यलक्षण (शब्दार्थों) के अन्तर्गत शब्द और अर्थ का व्यापक विवेचन है। शेष अध्याय रसराज शृंगार के अंग-प्रत्यंग के विवेचन को समर्पित हैं। शृंगार के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में भी भेद किये गये हैं। (अ. १८-२१)

कश्मीर-निवासी **क्षेमेन्द्र** ने प्राय: ४० ग्रन्थों की रचना विविध साहित्य-प्रकारों में की। काव्यमाला में इनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं- औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरण तथा सुवृत्ततिलक। इनका काल प्राय: निश्चित है। बृहत्कथामञ्जरी (१९/३७) के अनुसार इन्होंने अभिनवगुप्त से साहित्य की शिक्षा पायी थी, औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण की रचना राजा अनन्त (१०२८-६५ ई.) के राज्यकाल में की थी एवं दशावतारचरित-काव्य को १०६६ ई. में पूरा किया था जब अनन्त के पुत्र कलश का शासन था। अत: क्षेमेन्द्र का काल १००० ई. से १०७० ई. तक माना जा सकता है। **औचित्यविचारचर्चा** में औचित्य-प्रस्थान का प्रवर्तन है। इसमें १९ कारिकाएँ हैं, अन्त में पाँच

१. राजकीय प्राच्य हस्तलेख पुस्तकालय, मद्रास (चेन्नई) में सुरक्षित।

२. **भोजकृत शृंगारप्रकाश-एक अध्ययन**, अनुवादक- डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (१९८१)। अध्याय २२-२४ मेलकोट मठ से (मैसूर) १९२६ ई. में प्रकाशित, वी. राघवन् द्वारा १९४० तथा १९४५ ई. में दो भागों में १९ परिच्छेद प्रकाशित, मैसूर के 'इंटरनेशनल अकादमी आफ संस्कृत रिसर्च' से १९५५ ई. में दो भाग (पूर्वार्ध) प्रकाशित। राघवन् की सूचना के अनुसार 'शृंगारप्रकाश' के हस्तलेख में १९०८ पृष्ठ हैं। इस पर मेरा संस्कृत लेख **'भोजस्य शृंगारप्रकाश:'** आरण्यकम् (आरा) से १९९५ ई. में प्रकाशित है।

पद्यों में कवि का वंश-वर्णन है। औचित्य के २७ क्षेत्रों को समझाने के लिए क्षेमेन्द्र ने बहुत से उदाहरण अपनी वृत्ति में दिये हैं। सुवृत्ततिलक इसीकी पूरक ग्रन्थ है जिसमें वर्णनीय विषय के अनुसार छन्दों के चयन का औचित्य दिखाया गया है। **कविकण्ठाभरण** ५५ कारिकाओं का ग्रन्थ है जो पाँच सन्धियों में विभक्त है। कविता-रचना के पाँच सोपान, शिष्यों के तीन वर्ग, कवियों के पाँच वर्ग तथा दस प्रकार के चमत्कार-ये सब इसकी विशिष्टता विवेचनाएँ है। तीनों पुस्तकें हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित हैं।

काव्यशास्त्र में सर्वाधिक प्रचलित प्रौढ ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के लेखक **मम्मट** भी कश्मीरी थे। इन्होंने अभिनवगुप्त, नवसाहसांकचरित (१००५ ई.) तथा भोज (११ वीं श. पूर्वार्ध) का उल्लेख किया है; काव्यप्रकाश पर प्रथम टीका माणिक्यचन्द्र ने ११६० ई. में लिखी। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' (११४३ ई.) में इनके मत का उल्लेख किया तथा रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' (११३५ ई.) में इनके मत का खण्डन किया। इनके आलोक में मम्मट को १०५०-११०० ई. के मध्य रखा जा सकता है। इनके दो ग्रन्थ हैं- काव्यप्रकाश तथा शब्दव्यापारविचार।[1]

काव्यप्रकाश दस उल्लासों में विभक्त कारिका-वृत्ति-उदाहरण के रूप में लिखा गया अत्यन्त प्रौढ ग्रन्थ है। इसमें १४२ कारिकाएँ तथा ६०३ उदाहरण दिये गये हैं। इसमें काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण और भेदों का सर्वथा नवीन प्रतिपादन है। ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य के भेदों पर विस्तृत विचार करके मम्मट ने व्यञ्जना को पृथक् वृत्ति के रूप में समझाने के लिए पूरा शास्त्रार्थ किया है (उल्लास-५)। इसीसे इन्हें 'ध्वनि-प्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा गया है। काव्यदोष (उ.७), काव्यगुण (उ.८) तथा अलंकारों (उ.९ तथा १०) पर अत्यधिक प्रौढ विवेचन इन्होंने इस ग्रन्थ में किया है। मम्मट ने ६१ अर्थालंकारों की विवेचना की है। काव्यप्रकाश की महत्ता और क्लिष्टता की दृष्टि से इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं जैसे- रुय्यक कृत 'संकेत' (११४५ ई.); माणिक्यचन्द्र कृत 'संकेत' (११६० ई.), नरहरितीर्थ कृत 'चित्तानुरञ्जिनी' (१२४२ ई.), चण्डीदास कृत 'दीपिका' (१३ वीं श.), विश्वनाथ कृत 'दर्पण' (१४ वीं श.), गोविन्द ठक्कुर कृत 'काव्यप्रदीप' (१५ वीं श., इस पर भी वैद्यनाथ ने 'प्रभा' और नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका लिखी), भीमसेन कृत 'सुधासागर' (१७२३ ई.), वामनाचार्य झलकीकर कृत 'सुबोधिनी' (बम्बई संस्कृत सीरिज में प्रकाशित) इत्यादि ५० टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसीलिए कहा गया है-

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

'अलंकारसर्वस्व' के लेखक **रुय्यक** का स्थान अलंकार-प्रस्थान में बहुत महत्त्व रखता है। इन्होंने 'काव्यप्रकाश' पर संकेत टीका लिखी थी, उधर 'श्रीकण्ठ चरित' के लेखक मंखकवि ने इन्हें अपना गुरु कहा है, मंख कश्मीरनरेश जयसिंह (राज्यकाल ११२८-४८ ई.) के मन्त्री थे, अतः रुय्यक का समय ११००-५० ई. के मध्य हो सकता है। रुय्यक का नाम रुचक भी था। इन्होंने प्रायः १० ग्रन्थ लिखे जिनमें साहित्यमीमांसा और अलंकारसर्वस्व विशेष प्रसिद्ध हैं। त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज में १९३६ ई. में साहित्यमीमांसा का प्रकाशन हुआ था। यह आठ प्रकरणों में विभक्त है। कविभेद, रसिकभेद, साहित्य-निर्माण के तत्त्व, गुण, दोष, अलंकार, कविसमय, विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों तथा सांस्कृतिक विषयों (ऋतु, पर्व, क्रीड़ा आदि) पर विचार के कारण यह कवि-

१. यह ग्रन्थ निर्णयसागरप्रेस से प्रकाशित है।

शिक्षा पर बल देने वाला ग्रन्थ है। **अलंकारसर्वस्व**[1] इनका प्रौढ ग्रन्थ है जिसमें ८२ अलंकारों का विवेचन है, पूर्व से चले आते ४२ अलंकारों का इसमें खण्डन किया गया है। रुय्यक ने ७ नये अलंकारों की उद्‌भावना भी की है। अपने पूर्ववर्ती मतों का संग्रह भी इन्होंने काव्यात्मा के विचार के विषय में किया है, अलंकारों के वर्गीकरण की नयी कल्पना भी की। इस ग्रन्थ पर कई प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। रुय्यक का मत है कि अलंकार को वैचित्र्य-विशेष ही महत्त्व और अस्तित्व देता है। यह वैचित्र्य अवर्णनीय तथा कवि-कल्पना के समान अनन्त है।

'**नाटकलक्षणरत्नकोश**'[2] नामक नाट्यविषयक रचना से **सागरनन्दी** की विशेष रूप से ख्याति है। राजशेखर (९२० ई.) को अपने ग्रन्थ में निर्दिष्ट करने तथा सुभूति (११००-५० ई.) के द्वारा स्वयं निर्दिष्ट होने से इनका समय ११ वीं शताब्दी ई. में रखा जा सकता है। सम्भव है सुभूति के ये समकालिक ही हों। नाट्यशास्त्र के क्रम को वैज्ञानिक बनाकर अपनी रचना में सागरनन्दी ने प्रस्तुत किया है। नाट्य-विषयक उत्कृष्ट लक्षण-ग्रन्थ लिखने पर भी इन्हें प्रचुर आदर नहीं मिला।

जैन विद्वान् **हेमचन्द्र** (१०८८-१०७२ ई.) ने **काव्यानुशासन** नामक ग्रन्थ आठ अध्यायों में लिखा। इसकी रचना प्राय: ११४० ई. में हुई थी। उसके पूर्व ही 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ लिखा जा चुका था। साहित्य, दर्शन तथा व्याकरण में हेमचन्द्र ने प्राय: २५ बड़े ग्रन्थ लिखे। काव्यानुशासन में काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण इत्यादि का प्रतिपादन करके अर्थ के तीन भेदों एवं गुण-दोष-अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में नायक-नायिका तथा काव्यभेदों का प्रतिपादन है। यह प्राय: संग्रहात्मक ग्रन्थ है, मौलिक नहीं। इसमें १५०० पद्यों के उदाहरण हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में **वाग्भट**[3] नाम के दो लेखक हुए हैं। एक ने 'वाग्भटालंकार' लिखा, दूसरे ने 'काव्यानुशासन' की रचना की। **वाग्भटालंकार** के लेखक **वाग्भट प्रथम** चालुक्यनरेश जयसिंह (१०९३ ई. से ११४३ ई. तक राज्यकाल) के काल में थे। इनका ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है जिसमें २६० पद्य हैं। काव्यलक्षण, काव्यहेतु, कविसमय, रचना की भाषाएँ, काव्यदोष, काव्यगुण, अलंकार तथा रस-ये विषय इसमें विवेचित हैं। इस पर नौ टीकाएँ लिखी गयी थीं। **वाग्भट द्वितीय** का काल १३ वीं शताब्दी ई. में माना जाता है। इनका **काव्यानुशासन** पाँच अध्यायों का ग्रन्थ है जिसके प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, हेतु, कविसमय तथा काव्य के भेदों पर विस्तृत विचार है। दोषों और गुणों (केवल तीन-ओज, प्रसाद, माधुर्य) की विवेचना के अनन्तर ६३ अर्थालंकारों और छह शब्दालंकारों का प्रतिपादन वाग्भट ने किया है। अन्तिम अध्याय में रसों और उनके दोषों की विवेचना है, इसी प्रसंग में नायक-नायिका के भेद निरूपित हैं। यह भी प्राय: संकलनात्मक ग्रन्थ है।

१२ वीं शती के **रामचन्द्र-गुणचन्द्र** कृत **नाट्यदर्पण**[4] का उल्लेख आवश्यक है। रामचन्द्र

---

१. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी की व्याख्या के साथ चौखम्भा से प्रकाशित। **अलंकारसर्वस्व** का प्रथम संस्करण काव्यमाला सं. ३५ में १८९३ ई. में हुआ था। समुद्रबन्धु (१३०० ई.) की टीका के साथ त्रिवेन्द्रम सं. सी. (४०) में १९१५ ई. में मुद्रित।

२. डिलन के सम्पादन में ऑक्सफोर्ड विश्व. से १९३७ ई. में प्रथम प्रकाशन।

३. दोनों के ग्रन्थ काव्यमाला सं. ४८ तथा ४३ में प्रकाशित हैं (१८९४-९७)।

४. गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज (सं. ४८) में बड़ौदा से १९२९ ई. में प्रकाशित; दिल्ली विश्वविद्यालय से आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दीव्याख्या-सहित उत्कृष्ट संस्करण १९९० ई. (पुनर्मुद्रण)।

का जीवन काल ११००-११७५ ई. के मध्य माना गया है क्योंकि ये गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह (१०९३-११४३ ई.) एवं कुमारपाल (११४४ ई.-११७२ ई.) के समकालिक थे। ये हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र रामचन्द्र के सहपाठी थे। दोनों ने मिलकर नाट्यदर्पण लिखा था। रामचन्द्र को जैन परम्परा में सौ ग्रन्थों का लेखक कहा गया है। इन्हें ११७५ ई. में राजा (अजयपाल) के कोप का भाजन बनना पड़ा जिससे प्राणदण्ड मिला। नाट्यदर्पण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रमुख है, कारिका और वृत्ति के रूप में ४ अध्यायों का यह ग्रन्थ है, अध्यायों को 'विवेक' कहा गया है। पूरे ग्रन्थ में २०७ कारिकाएँ हैं। यह ग्रन्थ 'दशरूपक' की प्रतिस्पर्धा में लिखा गया था। रामचन्द्र रूपकों के १२ भेद मानते हैं, नाटिका और प्रकरणी को भी रूपकों में रखते हैं। इनके अतिरिक्त १३ उपरूपक भी इन्होंने स्वीकार किये हैं। रसों को सुखात्मक तथा दु:खात्मक बताना रामचन्द्र की मौलिकता है। दु:खात्मक (करुण, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक) रसों में सहृदय की प्रवृत्ति कवि या अभिनेता के कौशल के कारण होती है (नाट्यदर्पण ३/७)। इस ग्रन्थ में नाटक का लक्षण (विवेक-१), ११ रूपकभेद (वि. २), वृत्ति-रस-भाव तथा अभिनय (वि. ३) एवं सभी रूपकों के संघटन के सामान्य तत्त्व (वि. ४) पर क्रमश: विवेचना है। धनञ्जय और विश्वनाथ कविराज के नाट्य-विवेचन के बीच की कड़ी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है।

कविशिक्षा-विषयक दो ग्रन्थ (काव्यकल्पलता तथा कविकल्पलता) १३ वीं-१४ वीं शताब्दी में क्रमश: **अमरचन्द्र** एवं देवेश्वर के द्वारा लिखे गये। **काव्यकल्पलता** पर स्वयं लेखक ने वृत्ति लिखी थी।[१] ग्रन्थ चार प्रतानों में विभक्त है, प्रत्येक प्रतान में कई-कई अध्याय हैं। छन्द, शब्द-योजना, अर्थ-योजना, श्लेष-प्रयोग आदि पर कवियों को प्रशिक्षित करनेवाला यह उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसी के आधार पर **देवेश्वर** (१४ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने **कविकल्पलता** की रचना की। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं।

पीयूषवर्ष की उपाधि से अलंकृत, 'प्रसन्नराघव' के लेखक **जयदेव** (१३ वीं शताब्दी ई.) ने **'चन्द्रालोक'** नामक पद्यात्मक लक्षण-ग्रन्थ १० मयूखों में लिखा। इसमें अनुष्टुप् छन्द के ३५० पद्य हैं। इसमें काव्यलक्षण, काव्य-हेतु, शब्द-भेद, दोष, लक्षण (काव्य की रम्यता के उपकरण), गुण, अलंकार (मयूख-५), रस-भाव-रीति-वृत्ति (म. ६), ध्वनि (म. ७), गुणीभूतव्यंग्य काव्य, लक्षणा तथा अभिधा का क्रमिक विवेचन है। इसका पञ्चम मयूख विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमें एक ही पद्य में अलंकार-विशेष का लक्षण और उदाहरण दोनों है। इसकी सरल सुबोध शैली के कारण प्रारम्भिक कक्षा के छात्रों के लिए अत्यधिक उपयोगिता है। चन्द्रालोक पर शरदागम (१५८३ ई.), रमा (१७५०-१८०० ई., वैद्यनाथ पायगुण्ड) एवं सुधा (१७०० ई., विश्वेश्वर भट्ट) इत्यादि अनेक टीकाएँ उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं।

'भावप्रकाशन' नामक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना से ख्याति पानेवाले **शारदातनय** का समय ११७५-१२५० ई. के मध्य माना जाता है। अपने ग्रन्थ में इन्होंने शृंगारप्रकाश तथा काव्यप्रकाश से उद्धरण दिये हैं; शिंगभूपाल (१३२० ई.) ने भावप्रकाश से उद्धरण दिये हैं। **भावप्रकाशन** शारदातनय का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। अपनी पूर्ववर्तिनी समस्त नाट्यशास्त्रीय सामग्री इसमें संकलित है। इसका विभाजन दस अधिकारों में हुआ है। मुख्य रूप से इसमें भाव, रस, शब्दार्थसम्बन्ध

---

१. काशी संस्कृत सीरिज सं. ९० में वृत्ति-सहित काव्यकल्पलता प्रकाशित (१९३१ ई.)

और रूपकभेद का विवेचन है। इसका प्रकाशन गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज (सं. ४५) में १९३० ई. में हुआ था। इस संस्करण के सम्पादक ने विस्तृत भूमिका भी दी है।

नाट्य-विषयक एक अन्य लक्षणग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' भी है जिसके लेखक **सिंह (शिंग) भूपाल** हैं। इन्होंने 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रन्थ (शार्ङ्गधर-कृत) पर 'संगीतसुधाकर' नामक टीका भी लिखी थी। इनका समय विवादग्रस्त है किन्तु बहुत-से विद्वान् इन्हें १३२० ई. के आसपास मानते हैं। **'रसार्णवसुधाकर'** तीन विलासों में विभक्त है जिसमें नायक-नायिका के भेद, वृत्ति, रस-विचार, रूपक के अनिवार्य तत्त्व (वस्तु, नेता और रस) इत्यादि विषयों का सांगोपांग निरूपण है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन अनन्तशयनग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम (सं. ५०) से १९१६ ई. में हुआ था। दशरूपक की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत है, दक्षिण भारत में इसका अधिक प्रचार रहा है।

विद्याधर ने 'एकावली' नामक लक्षणग्रन्थ में सभी उदाहरण स्वयं रचे हैं, वे (उदाहरण) भी इनके आश्रयदाता उत्कल-नरेश नरसिंह (१२८०-१३१४ ई.) की स्तुति में हैं। अत: इनके ग्रन्थ का रचनाकाल १३०० ई. के आसपास रखा जा सकता है। **एकावली** आठ उन्मेषों में विभक्त है। इसमें काव्यस्वरूप, वृत्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुण, रीति, दोष और अलंकारों का विवेचन है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व पर आश्रित है। मल्लिनाथ ने इसकी 'तरला' नामक टीका लिखी थी। अपनी काव्यटीकाओं में मल्लिनाथ ने इस लक्षण-ग्रन्थ के बहुत उद्धरण दिये हैं।

विद्याधर के समकालिक **विद्यानाथ** काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव (१२९५-१३२० ई. अनुमानत:) के आश्रय में रहते थे। इन्हीं के नाम पर विद्यानाथ ने अपने लक्षणग्रन्थ का नाम **'प्रतारुद्रयशोभूषण'** रखा था। इसका भी रचनाकाल १३०० ई. हो सकता है। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय है क्योंकि काव्यशास्त्र के सभी विषयों का इसमें निरूपण हैं। इसमें नौ प्रकरण हैं जिनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार और मिश्रालंकार का क्रमश: विवेचन है। इसपर मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने टीका लिखी थी। इस टीका (रत्नापण) के साथ इसका संस्करण के. पी. त्रिवेदी ने बम्बई संस्कृत सीरिज से प्रकाशित किया था (१९०९ ई.)।

उत्कल-प्रदेश के **विश्वनाथ कविराज** संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वाधिक लोकप्रिय आचार्य हैं जिनका 'साहित्यदर्पण' सभी काव्यप्रेमियों को आकृष्ट करता है। इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था जो कलिंग के किसी राजा के सान्धिविग्रहिक (विदेशमन्त्री) थे, विश्वनाथ भी इस पद पर थे। विश्वनाथ अनेक भाषाओं के ज्ञाता (षोडशभाषावारविलासिनीभुजंग) तथा अनेक लक्ष्य ग्रन्थों-टीकाओं के भी लेखक थे। इनकी 'चन्द्रकला' नाटिका प्रसिद्ध है। विश्वनाथ ने एक पद्य में (साहित्यदर्पण ४/१४ की वृत्ति) अलावदीन (खिलजी-शासक १२९६-१३१६ ई.) का उल्लेख किया है। संयोगवश साहित्यदर्पण की एक पाण्डुलिपि जम्मू से प्राप्त हुई है जो १३८५ ई. में लिखी गयी थी। अत: विश्वनाथ का समय १३०० ई. और १३५० ई. के बीच माना जाता है। इस विषय में अन्य प्रमाण भी हैं।

साहित्यदर्पण दस परिच्छेदों में विभक्त सर्वांगपूर्ण लक्षणग्रन्थ है जिसमें काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों समाविष्ट हैं। कारिका-वृत्ति-उदाहरण के रूप में यह ग्रन्थ है। उदाहरण बहुत प्राचीन हैं किन्तु कुछ लेखक के पिता-पितामह के हैं, कुछ उनके अपने भी हैं। इसमें **'वाक्यं**

रसात्मकं काव्यम्' काव्यलक्षण के रूप में दिया गया है, दोष का काव्यापकर्षक और गुणालंकार-रीति का उत्कर्ष-हेतु के रूप में प्रतिपादन है। शब्दशक्ति (परि. २), रस (३), काव्य के दो भेद ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य; चित्रकाव्य का खण्डन), व्यञ्जना की स्थापना (परि.५), काव्य के स्वरूपगत भेद - दृश्य, श्रव्य और उनका विवरण (परि. ६), दोष (७), गुण (८), रीति (९) तथा अलंकारों (१०) का क्रमशः वर्णन किया गया है। सामान्यतः इसमें निष्कर्ष-रूप सिद्धान्त दिये गये हैं, शास्त्रार्थ से दूर रहने का प्रयास है। यह ग्रन्थ पूर्वी भारत में बहुत प्रचलित हुआ अतः इसकी टीकाएँ वहीं लिखी गयीं। लोचन (विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास-कृत), विवृति (रामचरण तर्क-वागीश, १७०१ ई.) इत्यादि प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। हिन्दी में शालग्रामशास्त्री की विमला और सत्यव्रत सिंह की विस्तृत शोधपूर्ण व्याख्या प्रख्यात हैं। पं. कृष्णमोहन शास्त्री की संस्कृत व्याख्या तथा केवल परिच्छेद १,२ तथा १० पर पी. वी. काणे की अंग्रेजी व्याख्या भी लोकप्रिय है।

१६ वीं शताब्दी ई. काव्यशास्त्रीय लेखन के लिए बहुत उर्वर है; इसी शताब्दी में केशवमिश्र, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, कर्णपूर और अप्यय-दीक्षित जैसे विद्वान् हुए जिन्होंने विभिन्न सिद्धान्तों से समन्वित लक्षण-ग्रन्थ लिखे। **केशवमिश्र** ने 'अलंकारशेखर' की रचना कारिका-वृत्ति-उदाहरण पद्धति से की। इसका विभाजन २२ मरीचियों में है जिनमें क्रमशः काव्यलक्षण, काव्यहेतु, रीतित्रय, वृत्तित्रय, दोष, गुण, अलंकार, नायक-लक्षण, कविसमय, वर्णन-विधि, प्रकृति के उपादान, संख्याओं के बोधक वस्तुओं के नाम, समस्यापूर्ति, रस और उनके दोष एवं रसानुकूल वर्णों का विवेचन है। स्पष्टतः कुछ नये विषय भी इसमें है। **भानुदत्त** मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान् शंकरमिश्र के अनुज के पौत्र थे। शंकरमिश्र १४८८ ई. में वर्तमान थे, अतः भानुदत्त का काल १६ वीं शताब्दी ई. का मध्यकाल होना चाहिए। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे थे जिनमें अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध तीन रचनाएँ हैं- **अलंकारतिलक**, रसमञ्जरी और रसतरङ्गिणी। डॉ. देवस्थली ने 'अलंकारतिलक' का सम्पादन किया है, इसमें पाँच परिच्छेद हैं। काव्यशरीर, दोष, गुण और अलंकार- इन चार विषयों का यहाँ विवेचन है। **रसमञ्जरी** में मुख्यतः नायक-नायिका के भेदों का वर्णन है। ग्रन्थ का दो-तिहाई भाग नायिका-भेद को ही समर्पित है। इस पर प्रायः १० टीकाएँ मिलती हैं। नागेशभट्ट की **'प्रकाशव्याख्या'** प्रसिद्ध है। **रसतरङ्गिणी** आठ तरङ्गों में विभक्त रस-विचार का ग्रन्थ है। भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, शृङ्गार रस तथा अन्य रसों के विवेचन में पृथक्-पृथक् अध्याय लगाये गये हैं। इसकी नौ टीकाओं में केवल 'नौका' टीका (१७३२ ई. में लिखित) प्रकाशित है। इन ग्रन्थों से भानुदत्त ने रसानुशीलन के क्षेत्र में बहुमूल्य योगदान किया है।

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु (१४८६ ई.-१५२७ ई.) के शिष्य थे। इनका समय १४९० ई. से १५६३ ई. तक माना गया है। इनका नाटक 'विदग्धमाधव' १५३३ ई. में और 'उत्कलिकावल्लरी' १५५० ई. में लिखी गयी थी। इनकी प्रायः २० कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। काव्यशास्त्र में इनकी तीन कृतियाँ हैं- नाटकचन्द्रिका, भक्ति-रसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि। **नाटकचन्द्रिका** (चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित, १९६४ ई.) में नाट्यशास्त्रीय विवेचन है जो प्रायः भरत और शिंगभूपाल के ग्रन्थों पर आश्रित है। **भक्तिसामृतसिन्धु'** दिशाओं के नाम पर चार विभागों में विभक्त है। इसमें भक्तिरस के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन है। इसका रचनाकाल १५४१ ई. (१४६३ शकाब्द) है। भक्ति के स्वरूप, भेदोपभेद, रस-विरोध आदि को समझाने वाला यह आकर-

१. दिल्ली विश्वविद्यालय से विश्वेश्वर की हिन्दी टीका सहित प्रकाशित।

ग्रन्थ है। उज्ज्वलनीलमणि[1] शृंगार रस का विवेचनपरक ग्रन्थ है। 'उज्ज्वल' शृंगारवाचक शब्द है। भगवान् कृष्ण को आलम्बन बनाकर अन्तत: भक्ति में पर्यवसान दिखाया गया है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं।

कर्णपूर (वास्तविक नाम-परमानन्ददास) के पिता चैतन्य के शिष्य थे। कर्णपूर का जन्म १५२४ ई. में हुआ था (दे. दार्शनिक नाटक)। इन्होंने दस किरणों में विभक्त '**अलंकारकौस्तुभ**' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें काव्यलक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, रसाभावादिस्वरूप, गुण, शब्दालंकार, रीति और दोष का क्रमश: प्रतिपादन है। उदाहरण के रूप में दिये गये पद्य प्राय: कृष्णस्तुति के रूप में हैं। इसकी अनेक टीकाएँ बंगाल में लिखी गयीं। 'सारबोधिनी' टीका के साथ इसका प्रकाशन भी बंगाल से ही हुआ था।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में **अप्पयदीक्षित** का स्थान अग्रणी है। अद्वैत वेदान्त में 'कल्पतरु-परिमल' नामक टीकाग्रन्थ और सिद्धान्तलेशसंग्रह जैसे शिखरग्रन्थ, शैवश्रीकण्ठ के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' टीका, तथा मीमांसा में विधिरसायन आदि ग्रन्थ लिखनेवाले अप्पयदीक्षित ने काव्यशास्त्र में भी तीन विशिष्ट ग्रन्थ लिखे– वृत्तिवार्तिक, कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा। इनका काल प्राय: निश्चित है– १५५३ ई. से १६२५ ई. तक। इनके अनुज के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने 'शिवलीलार्णव' (१/६) में इनका जीवनकाल ७२ वर्षों का कहा है। 'आत्मार्पण' की टीका में इनका जन्मकाल दिया गया है। कहा जाता है कि इन्होंने एक सौ से भी अधिक ग्रन्थ लिखे थे जिनमें प्राय: ४० उपलब्ध हैं। इनके वृत्तिवार्तिक में शब्दशक्तियों पर विचार है, किन्तु व्यञ्जना-विचार न होने से ग्रन्थ अपूर्ण लगता है। चित्रमीमांसा इनका प्रौढ ग्रन्थ है किन्तु अपूर्ण छोड़ दिया गया है। इसमें काव्य के तीन भेदों में शब्दचित्रकाव्य का निरसन करके केवल अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। उपमा को २२ साधर्म्यमूलक अलंकारों का मूल कहा गया है (उपमैका शैलूषी.) किन्तु केवल १२ अलंकारों तक का विवेचन करके ग्रन्थ समाप्त हो गया है। अतिशयोक्ति तक का विवेचन है, वह भी अपूर्ण ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ का प्रबल खण्डन किया है (चित्रमीमांसाखण्डन)। नीलकण्ठ दीक्षित ने उनके आक्षेपों का समाधान किया। कुवलयानन्द[2] अलंकारों के अनुशीलन से सम्बद्ध है। यह जयदेव के 'चन्द्रालोक' के अलंकार-मयूख (पञ्चम मयूख) की व्याख्या के अतिरिक्त २४ नये अलंकारों को जोड़ता है। इस प्रकार इसमें १२३ अर्थालंकार विवेचित हैं। इस पर नौ टीकाएं उपलब्ध हैं। इनमें **आशाधरभट्ट** कृत '**कारिकादीपिका**' स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में है। आशाधरभट्ट ने तीन परिच्छेदों की पुस्तक '**त्रिवेणिका**' भी लिखी थी जिसमें क्रमश: अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों शब्दव्यापारों का विवेचन है। इनका समय १६५०-१७१० ई. स्वीकृत है।

पण्डितराज जगन्नाथ एक प्रकार से अन्तिम तथा प्रौढतम काव्यशास्त्री माने जाते हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे, पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का लक्ष्मीदेवी था। जगन्नाथ ने वेदान्त, मीमांसा, न्याय, व्याकरण की शिक्षा अपने पिता तथा विभिन्न अन्य गुरुओं से ली थी। इनका समय १५९०-१६७०

---

१. दो टीकाओं सहित काव्यमाला (सं. ९५) में प्रकाशित, १९१३ ई.।
२. डॉ. भोलाशंकर व्यास की हिन्दी व्याख्या-सहित चौखम्भा से प्रकाशित।

ई. के बीच है।[1] काव्यशास्त्र में 'रसगङ्गाधर'[2] इनका प्रौढ तथा प्रख्यात ग्रन्थ है। यह सम्भवत: १६४१ ई. में लिखा गया था (आसफ खाँ की मृत्यु का समय)। इसमें सौन्दर्य-सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। काव्यशास्त्रियों की त्रयी (आनन्दवर्धन, मम्मट तथा जगन्नाथ) में अन्तिम तथा प्रौढ होने के कारण इनका महत्त्व है। नव्यन्याय की शैली का उपयोग करके प्रत्येक तथ्य को तर्क से पुष्ट करने से जगन्नाथ विद्वानों में आदरणीय हैं। ग्रन्थ में समस्त उदाहरण इनके स्वनिर्मित हैं। ग्रन्थ यद्यपि अपूर्ण है तथापि अपनी विषयवस्तु के कारण अत्यन्त प्रगाढ है।

रसगङ्गाधर[3] दो आननों में विभक्त विशाल ग्रन्थ है। प्रथम आनन में काव्यलक्षण, प्रतिभा का एक मात्र काव्यहेतु होना, रस का स्वरूप तथा भेद, गुणस्वरूप तथा भेद, प्राचीन २० गुणों का स्पष्टीकरण, गुणत्रयवाद, भाव, विभावादि, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता इत्यादि का विवेचन है। द्वितीय आनन में ध्वनि के विविध भेदों पर प्रकाश डालकर क्रमश: सत्तर अलंकारों की विवेचन की गयी है। 'उत्तर' अलंकार पर ही ग्रन्थ समाप्त हो गया है। इसकी प्राचीन व्याख्या नागेश-कृत मिलती है जो रसगङ्गाधर की रचना के ५० वर्ष पश्चात् लिखी गयी थी।[4] इसका नाम 'गुरुमर्मप्रकाशिका' है। वर्तमान शताब्दी में कविशेखर बदरीनाथ झा ने संस्कृत व्याख्या लिखी जो चौखम्भा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित हुई। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की व्याख्या निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुई थी।

प्राय: २५ ग्रन्थों के लेखक पं. **विश्वेश्वर पाण्डेय** अनेक शास्त्रों में पारंगत थे। अलंकार-कौस्तुभ, अलंकारमुक्तावली, अलंकारप्रदीप, रसचन्द्रिका और कवीन्द्रकण्ठाभरण इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इनका समय १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। ये अलमोड़ा जिले के पाटिया ग्राम (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। अलंकारकौस्तुभ इनका विशाल ग्रन्थ है जिसमें अलंकारों के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन करते हुए अप्पय दीक्षित तथा जगन्नाथ के मतों का खण्डन भी किया गया है। यह काव्यमाला सं. ६६ में प्रकाशित है, इसमें ग्रन्थकार की अपनी व्याख्या भी है। इस ग्रन्थ की कारिकाओं की संक्षिप्त व्याख्या के रूप में 'अलंकारमुक्तावली' है। इनके उक्त सभी ग्रन्थ काव्यमाला में या काशी संस्कृत सीरिज में प्रकाशित हैं।

१८ वीं शताब्दी ई. में मैसूर-नरेश के मन्त्री नञ्जराज के आश्रित **नरसिंह कवि** ने नञ्जराजयशोभूषण (गा. ओ. सी. बड़ौदा से प्रकाशित) नामक लक्षणग्रन्थ लिखा जिसके सात विलासों में नायक, काव्य, ध्वनि, रस, दोष, नाटक तथा अलंकार का विवेचन है। इसमें आश्रयदाता की स्तुति लेखक ने सर्वत्र की है। नञ्जराज स्वयं भी १८ पुस्तकों के लेखक थे। अत: योग्य व्यक्ति की प्रशंसा की गयी है।

---

१. इनके विषय में 'गीतिकाव्य' वाले अध्याय में लिखा जा चुका है।

२. काव्यमाला सं. १५ में १८८९ ई. में प्रकाशित।

३. इसका संस्कृत-हिन्दी व्याख्या-सहित प्रकाशन चौखम्भा से हुआ है। कु. चिन्मयी माहेश्वरी का 'रसगङ्गाधर- एक समीक्षात्मक अध्ययन' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर से १९७४ ई. में प्रकाशित हुआ है। निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित संस्करण में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (जयपुर) की संस्कृत में अत्यधिक उपयोगी टीका भी है।

४. नागेश भट्ट (१६६०-१७२५ ई.) ने रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी, कुवलयानन्द, काव्यप्रदीप (लघु और बृहत् उद्योत टीकाएँ) तथा रसगंगाधर - इन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी थीं।

इस प्रकार काव्यशास्त्रियों की दीर्घ परम्परा सुरक्षित है।

काव्य का प्रधान तत्त्व–काव्यात्मविचार

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर विस्तृत विचार किया है कि काव्य में मुख्य तत्त्व या आत्मा के रूप में किस उपादान को रखा जा सकता है। वस्तुतः इसी प्रश्न पर प्रस्थान-भेद (या सम्प्रदायों में विभाजन) हुआ है। कुछ आचार्य तो निश्चित रूप से किसी-न-किसी सम्प्रदाय से जुड़े हैं, कुछ व्यापक दृष्टि रखने वाले भी हैं। तदनुसार काव्य में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति या औचित्य को प्रमुखतम उपादान माननेवाले छह प्रस्थान उद्भूत हुए हैं। इनका परिचय दिया जाता है।

(१) रस-प्रस्थान

इस प्रस्थान के प्रवर्तक भरतमुनि हैं जिन्होंने नाट्यकाव्य के सन्दर्भ में सर्वत्र रस की अनिवार्यता बतायी है– न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते। भरत ने इसी स्थान पर रस के संघटकों को भी निर्दिष्ट किया– विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः (दोनों उद्धरण नाट्यशास्त्र ६/३१ के बाद)। नाट्य में रस एक सूत्र (धागे) के समान सभी उपकरणों को बाँधकर रखता है (नाट्यमेव रसाः, रससमुदायो हि नाट्यम् – अभिवनगुप्त)। यद्यपि भरत ने नाट्य और काव्य का भेद नहीं किया था किन्तु भामह आदि आचार्यों ने दोनों का भेद करते हुए काव्य में रस की अनिवार्यता की उपेक्षा की, उनकी दृष्टि में नाट्यमात्र के लिए रस आवश्यक है। आनन्दवर्धन आदि ने नाट्य के समान काव्य में भी रस की सत्ता दिखाते हुए रामायण में करुणरस का और महाभारत में शान्तरस का प्राधान्य बताया (ध्वन्यालोक ४/५)। अभिवनगुप्त इसीलिए कहते हैं– न नाट्य एव रसाः, काव्येऽपि। मम्मट ने स्पष्टतः रस की व्याख्या करते हुए 'तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः' द्वारा समान रूप से नाट्य और काव्य दोनों में रस की व्यवस्था ही नहीं, प्रायः अनिवार्यता भी दिखायी।

रस के घटक तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध, रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया तथा रसोद्भावन के अधिकारी को लेकर व्याख्याकारों में बड़ा विवाद रहा। इसीलिए रस की उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति और अभिव्यक्ति के रूप में चार सिद्धान्त उत्तरोत्तर प्रबलतर रूप में विकसित हुए। अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद सबके अन्त में आया जो उत्कृष्ट मत माना गया। रस की संख्या पर भी विवाद है। भरत ने मन की अवस्थाओं से जोड़कर आठ ही रस बताये हैं– चित्त के विकास से शृंगार, विस्तार से वीर, क्षोभ से बीभत्स और विक्षेप से रौद्र रस उत्पन्न होते हैं। ये चार प्रकृति-रस हैं। इन्हीं से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रस विकृति के रूप में होते हैं। धनञ्जय-धनिक ने शान्त रस का नाट्य में प्रयोग निरस्त किया, काव्य में भले ही हो। कालक्रम से प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर आदि भी रस की श्रेणी में रखे गये।

काव्य में रस का स्वरूप आनन्द या आस्वाद है; आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रकाश ही आनन्द है इसीलिए किसी काव्य से आनन्द की प्राप्ति का अर्थ है– सहृदय का अन्य मानव (पात्र) से पूर्णतः तादात्म्य पाना। ऐसा तभी संभव है जब विभाव के रूप में किसी मानव का या मानवीकृत पदार्थ का वर्णन हो। सामान्य प्रकृति-वर्णन में रस नहीं रह सकता, पूर्ण आस्वाद का रूप वह नहीं ले सकता। इसीलिए रस को काव्यात्मा मानने पर बहुत से वाक्य काव्य की सीमा से बाहर हो जाएँगे, भले ही उन्हें परम्परा से काव्य कहा गया हो। रस की सत्ता काव्य को उत्कृष्ट अवश्य बनाती है, संज्ञा

प्रदान नहीं करती। ध्वनिकाव्य का उत्कर्ष रसध्वनि में है किन्तु रस के अभाव में भी काव्य होता है, ऐसा अधिसंख्यक आचार्य कहते हैं। मम्मट (ये रसस्याङ्गिनो धर्माः, का. प्र. ८/१), विश्वनाथ (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्– सा. द. १/३) दोनों इस प्रस्थान के समर्थक हैं। विश्वनाथ ने रस के अन्तर्गत रसाभास, भाव और भावाभास को भी रखा है। ध्वनिविरोधी आचार्यों को भी रस की काव्यात्मता में आपत्ति नहीं है जैसे महिमभट्ट कहते हैं– काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः, (व्य. वि., पृ. २/२)। कर्णपूर ने शब्दार्थशरीर काव्य में ध्वनि को प्राण और रस को आत्मा कहा। ऐसा काव्योत्कर्ष को ध्यान में रखकर ही कहा जा सकता है।

(२) अलङ्कार-प्रस्थान

भामह इसके प्रवर्तक हैं; उद्भट, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज, जयदेव आदि प्रबल समर्थक हैं। इस प्रस्थान में अलंकार ही काव्य का मुख्य उपादान तथा संज्ञाप्रयोजक है। जयदेव ने तो यहाँ तक कहा कि जो विद्वान् अलंकार-रहित शब्दार्थ को काव्य कहता है, उसे अग्नि को अनुष्ण कहने में भी संकोच नहीं होगा।[१] स्पष्टतः यह मम्मट पर व्यङ्ग्य है। आनन्दवर्धन के आविर्भाव के पूर्व तक सभी आचार्य काव्य में अलंकार की प्रधानता मानते रहे थे, कुछ लोग बाद में भी यही मत धारण किये रहे। इस प्रस्थान का महत्त्व 'शास्त्र' को 'अलंकार-शास्त्र' कहे जाने से भी स्पष्ट होता है। सभी आचार्यों ने अलंकारों पर विचार किया तथा इनकी संख्या भी वे बढ़ाते गये। भरत के द्वारा प्रतिपादित चार अलंकार (उपमा, रूपक, दीपक और यमक) बढ़कर १६ वीं शताब्दी तक संख्या में प्रायः १५० तक पहुँच गये। टीकाओं में अलंकार का स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया; अन्य उत्कृष्ट उपादानों पर दृष्टि शून्यप्राय रही।

कतिपय अलंकारों (रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित) में रसतत्त्व का अन्तर्भाव किया गया। अलंकार का अर्थ सौन्दर्य का उपकरण है (अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः); चाहे जिस साधन से सौन्दर्य आये वह साधन ही अलंकार है। शनैः शनैः अलंकार को शोभाधायक (सौन्दर्य-धारक) पद से सौन्दर्य-वर्धक पद पर उतार दिया गया, शोभाधायक तो कुछ दूसरा ही उपादान होगा– ऐसी मान्यता विकसित हुई। जैसे वामन ने गुण को शोभाधायक और अलंकार को शोभावर्धक कहा।[२] ध्वनिवाद में अलंकार बाह्य धर्म माने गये जैसे शरीर पर आभूषण। उनके बिना भी काव्य हो सकता था यदि रस या ध्वनि विद्यमान हो। फिर भी यथासाध्य रस के उपकारक रूप में रचना में अलंकारों का अनायास आगमन हो तो उचित है (अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः, ध्वन्यालोक २/१७)। परिश्रम से लाया गया अलंकार चित्रकाव्य में हो सकता है, अन्य काव्यों में उद्वेग उत्पन्न करता है। इसलिए कवि इस स्थिति से बचे। इस स्थिति में अलंकार को काव्य का प्रधान तत्त्व या आत्मा कहना हास्यास्पद है।

(३) रीतिप्रस्थान

गुणों का रीति के समान महत्त्व मानने से इसे 'गुण-प्रस्थान' भी कहते हैं। वामन ने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (१/२/६) कहकर इस प्रस्थान का प्रवर्तन किया। रीति

१. **चन्द्रालोक** १/८ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥

२. **काव्यालंकार सूत्र** ३/१/१-२ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

का अर्थ वामन की दृष्टि में पदों की विशेष-युक्त रचना या संघटना है और यह 'विशेष' गुणों के रूप में होता है (विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा, काव्या. १/२/७-८)। तदनुसार शब्द और अर्थ में विराजमान गुणों से सम्पन्न पदों की रचना को 'रीति' कहते हैं। वामन गुणों को काव्यसौन्दर्य का उत्पादक नित्य धर्म मानते हैं (अर्थात् गुणों के बिना काव्य हो ही नहीं सकता), इसीलिए गुणाश्रित रीति उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा है। वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडीया- इन तीन स्वीकृत रीतियों में कोई न कोई काव्य में अवश्य रहेगी। वामन ने भरत से १० गुणों की परम्परा पायी थी, दण्डी में काव्यादर्श (१/४१-२) में वैदर्भमार्ग के लिए भी इन गुणों का निर्देश किया था, किन्तु वामन ने इन गुणों (श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओजस्, कान्ति और समाधि) को शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में पृथक्-पृथक् स्वीकार करके २० गुणों की व्यवस्था की।

वैदर्भी रीति में सभी गुण रहते हैं (समग्रगुणोपेता वैदर्भी), पाञ्चाली में माधुर्य और सुकुमारता ये दो गुण (माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली) तथा गौडीया में भी दो ही गुण ओजस् तथा कान्ति की सत्ता रहती है (ओजःकान्तिमती गौडीया)। इन रीतियों में 'पाञ्चाली' वामन ने बढ़ायी, पहले केवल वैदर्भ और गौड मार्ग ही स्वीकृत थे। इनके नामों पर वामन कहते हैं कि विदर्भ आदि प्रदेशों में इनका बाहुल्य रूप से प्रयोग होने के कारण ये नाम पड़े हैं, प्रदेशों का कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। रुद्रट ने रीति का सम्बन्ध समासों से जोड़कर, रस-विशेष के लिए रीतिविशेष के प्रयोग का औचित्य स्थापित किया। उन्होंने 'लाटी' नामक रीति जोड़ी। कुन्तक ने रीति (मार्ग) का सम्बन्ध कवियों के स्वभाव से जोड़ा। यद्यपि अनन्त हैं तथापि सामान्यतः तीन ही मार्ग स्वीकार्य हैं (सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक या मध्यम)।[१] ये मार्ग वामन की वैदर्भी, गौडीया तथा पाञ्चाली के ही रूपान्तर हैं।

रीति-प्रस्थान को प्रबल आघात ध्वनिवाद से लगा जहाँ गुण और रीति का सम्बन्ध तोड़ दिया गया। गुणों को तो आन्तरिक उपादान रस का धर्म माना गया और रीतियों को वर्ण-संघटना-मात्र कहा गया। सम्बन्ध टूटते ही रीति का काव्यात्मत्व निरस्त हो गया। रीति काव्य का बहिरंग है, अलंकारों के समान रस का उपकार बाहर से करती है। यह शारीरिक अवयवों के संघटन के तुल्य है। विश्वनाथ ने रीति को इस प्रकार व्यवस्थित किया-

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥ (सा. द. ९/१)

जगन्नाथ ने केवल इतनी टिप्पणी दी कि रीतियाँ वर्ण-रचना-विशेष के रूप में रहकर माधुर्यादि गुणों का ही अभिव्यञ्जन करती हैं, वे रस की अभिव्यञ्जक नहीं हैं। इस प्रकार रीति-प्रस्थान काव्यशरीर की ही व्याख्या कर सकता है, आत्मा बनना इसके लिए संभव नहीं।

(४) ध्वनि-प्रस्थान

इस प्रस्थान का प्रवर्तन वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही किया था यद्यपि विनम्रतावश उन्होंने इसे

---

१. **वक्रोक्तिजीवित** १/२४ की वृत्ति- यद्यपि कविस्वभाव-भेदनिबन्धनत्वादनन्त-भेदभिन्नत्वमनिवार्यम्, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।

पूर्वाचार्यों का मत कहा है। ध्वनि का आधार प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ है जो गुण, अलंकार आदि से भिन्न है; वही ध्वनि काव्यात्मा है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः)। प्रतीयमान अर्थ काव्य में स्वीकृत परम्परागत उपादानों से उसी प्रकार भिन्न है जैसे किसी रमणी का सौन्दर्य उसके अवयवों से भिन्न होता है। इस अर्थ के त्रैविध्य के कारण ध्वनि भी त्रिविध है– वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। अन्य तत्त्व ध्वनि के उपकारक होते हैं। ध्वनि का प्रयोग पाँच अर्थों में हुआ है– व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य।[1] आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ और वाचक शब्द के गुणीभूत हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करानेवाले काव्य को 'ध्वनि' कहा है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (१/१३)

आनन्दवर्धन की दृष्टि में दो ही काव्यभेद हैं– ध्वनि (व्यङ्ग्यार्थप्रधान) तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य (जिसमें व्यङ्ग्यार्थ रहे किन्तु वाच्यार्थ से बढ़कर न हो)। उनकी दृष्टि में चित्रकाव्य (शब्द या अर्थ के चमत्कार से भरा, व्यंग्यार्थशून्य) काव्य का अनुकरण मात्र है, वह मुख्य रूप से काव्य नहीं होता (न तन्मुख्यं काव्यम्, काव्यानुकारो ह्यसौ– ध्वन्यालोक ३/४३ वृत्ति)। मम्मट ने यद्यपि आनन्दवर्धन का अनुसरण काव्यभेदों के विवेचन में किया किन्तु समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण वे चित्रकाव्य को काव्यसंज्ञा से वञ्चित नहीं कर सके, निन्दा भले ही की।

आनन्दवर्धन (८५० ई.) से लेकर मम्मट (१०५० ई. से ११०० ई.) तक के काल में ध्वनि के पक्ष-विपक्ष में शास्त्रार्थ होते रहे। आनन्दवर्धन ने स्वयं तीन प्रकार के ध्वनि विरोधियों की सम्भावना प्रकट की थी– (१) तीन प्रकार के अभाववादी (= ध्वनि नामक तत्त्व नहीं होता), (२) भक्तिवादी (ध्वनि लक्षणावृत्ति से भिन्न नहीं है) तथा (३) अनिर्वचनीयतावादी (ध्वनि है किन्तु इसे प्रकट नहीं किया जा सकता)। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में इन सब पक्षों का स्पष्ट खण्डन किया गया है। इस अन्तराल में महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' की रचना ही इसलिए की कि ध्वनि के सभी उदाहरणों को अनुमान का विषय सिद्ध करें। भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण' (अनुपलब्ध) में व्यञ्जना का खण्डन करके, रस के आस्वादनार्थ 'भावकत्व एवं भोजकत्व' नामक शब्दवृत्तियों की कल्पना की। उधर कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के भेदविशेष में रखकर इसका महत्त्व कम किया। रुय्यक कृत 'अलंकारसर्वस्व' की टीका में जयरथ ने ध्वनि-विरोधी १२ मतों का संग्रह किया है।[2] मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में तथा विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के पञ्चम

---

१. अभिनवगुप्तकृत **लोचनटीका** १/१३ तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, शब्दव्यापारः सोऽपि ध्वनिः, काव्यमिति व्यपदेश्यो योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः (आवश्यक अंशों का उद्धरण)।

२. तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणाऽनुमिती द्विधा ।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः ॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम् ।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥
ध्वनिविरोध तथा उसके निरसन के लिए देखें– डॉ. कृष्णकुमार-**अलंकार-शास्त्र का इतिहास**, पृ. ४२९-४५।

परिच्छेद में व्यञ्जना की स्थापना के क्रम में ध्वनिविरोधियों का प्रबल खण्डन किया है। तदनुसार ध्वनि का स्थान अभिधा या लक्षणा वृत्ति नहीं ले सकती। हेत्वाभासों की उपस्थिति के कारण इसे अनुमान नहीं कह सकते।

ध्वनि को काव्यात्मा मानने से गुण, अलंकार, रीति आदि सभी उपादान काव्य में अपना-अपना समुचित स्थान पा लेते हैं। व्याकरण के अंगों (जैसे उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, समास, वाक्य आदि) का भी समावेश ध्वनि के क्षेत्र में होता है क्योंकि इनके कारण भी ध्वनि होती है। रस के अतिरिक्त वस्तु और अलंकार में भी ध्वनि रहती है। अतः काव्य का क्षेत्र 'रसात्मकं काव्यम्' की अपेक्षा बढ़ जाता है। केवल रस ही नहीं, वस्तु और अलंकार का सौन्दर्य भी काव्य की सीमा में आ जाता है। ध्वनि-प्रस्थान में रस को उत्कृष्ट पद प्राप्त है किन्तु उसके अभाव में भी काव्य हो सकता है यदि उक्त सौन्दर्य प्रकट हो। इस प्रकार यह प्रस्थान ग्राह्यता की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

(५) वक्रोक्ति-प्रस्थान

इसका सम्बन्ध एकमात्र कुन्तक के साथ है जिन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व सिद्ध करने के लिए 'वक्रोक्तिजीवित' की रचना की थी। वक्रोक्ति का अर्थ है सामान्य लोकव्यवहार की अपेक्षा शब्द और अर्थ को कुछ भिन्न रूप में कहना (विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः, व. जी. १/१० की वृत्ति)।[1] भामह ने वक्रोक्ति की सत्ता सभी अलंकारों में मानी थी; इसके अभाव में कोई रचना वार्तामात्र या स्वभावोक्ति है। वक्रोक्ति से ही काव्यार्थ-सौन्दर्य आता है-

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥
>
> (भामह- काव्यालङ्कार २/८५)

वक्रोक्ति का विवेचन अन्य अनेक आचार्यों ने किया किन्तु किसी ने इसे ऐसे स्तर पर नहीं रखा कि यह काव्य का सर्वस्व ही बन बैठे। दण्डी की दृष्टि में समस्त वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में दो प्रकार का है (काव्यादर्श २/३६२)। उनके लिए भी वक्रोक्ति अतिशयोक्ति के पर्याय के रूप में सभी अलंकारों का आधार है। आनन्दवर्धन ने भी ऐसी ही व्यवस्था प्रायः स्वीकार की। अभिनवगुप्त तथा मम्मट का भी यही मत रहा किन्तु इसे अलंकार-विशेष मानने की परम्परा पर भी उनकी दृष्टि रही। कुन्तक का मन इस विषय में सर्वथा नवीन है। सम्भवतः उन्होंने दण्डी से प्रेरणा ली कि काव्यमात्र स्वभावोक्ति-भिन्न वक्रोक्ति के रूप में है (यद्यपि यह व्याख्या कुन्तक की अपनी थी)। दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य के सभी उपादानों को आत्मसात् करने की प्रेरणा उन्हें दी। इसीलिए कहा गया है कि ध्वनिवाद के प्रांगण में कुन्तक की क्रीडा हुई है।

'वक्रोक्तिजीवित' की प्रथम कारिका की वृत्ति में कुन्तक ने इसका अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है- 'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी? वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलम्। तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः।' तदनुसार कथन के सामान्य प्रकार से भिन्न मार्ग वक्रोक्ति है। इसमें तीन पक्ष हैं- प्रसिद्ध कथन की पद्धति से भिन्नता, कवि द्वारा कौशल-प्रदर्शन एवं सहृदय जनों को आनन्दित करना। महिमभट्ट ने भी

---

१. 'किं ते नाम' न कहकर 'कान्यक्षराणि पुण्यवन्ति भवदभिधानेन' कहें तो वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति के स्वरूप को अपने ग्रन्थ में ऐसे ही स्पष्ट किया है–

> प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
> अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥
> (व्यक्तिविवेक १/८६)

कुन्तक ने जो वक्रता के भेद किये हैं उनसे सम्पूर्ण काव्य-जगत् की व्याप्ति का गम्भीर लक्ष्य प्रकट होता है। वक्रता छह प्रकार की है– वर्णविन्यासवक्रता (शब्दालंकार, वृत्ति, रीति का अन्तर्भाव), पदपूर्वार्धवक्रता (अभिधा-मूल और लक्षणामूल ध्वनि का अन्तर्भाव), प्रत्ययवक्रता (काल, कारक, वचन, पुरुष, उपग्रह एवं प्रत्यय का समावेश), वाक्यवक्रता (अर्थालंकारों का समावेश), प्रकरणवक्रता (पात्र, वर्णन, रस का उत्कर्ष, सन्धि इत्यादि का निवेश) तथा प्रबन्धवक्रता (रसपरिवर्तन, समाप्ति, कथा-विच्छेद, शीर्षक इत्यादि)। ध्वनिवादियों के समान, प्रत्युत उनसे भी आगे बढ़कर, काव्य के सभी आवश्यक पक्षों के निवेश से कुन्तक ने वस्तुतः कवियों के प्रशिक्षण का महान् लक्ष्य रखा है, काव्यात्म-विचार नहीं किया है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय वस्तुतः काव्यात्मवादियों के विरुद्ध काव्यशरीर-वादियों का विफल विद्रोह था। आनन्दवर्धन ने जिन सौन्दर्य-प्रकारों की आत्मपरक व्याख्या की थी उन सभी की वस्तुपरक विवेचना करने का प्रयास कुन्तक ने किया। अतः ध्वनिवाद की वस्तुनिष्ठ परिकल्पना-मात्र ही वक्रोक्तिप्रस्थान है। यहाँ केवल अभिधा के बल पर काव्य के सूक्ष्म-परिष्कृत तत्त्वों के निरीक्षण का प्रयास है, जो प्रायः विफल ही रहा है।

(६) औचित्य-प्रस्थान

इसका प्रवर्तन अभिनवगुप्त के शिष्य और अनेक ग्रन्थों के लेखक क्षेमेन्द्र ने किया। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में कहा है कि जिस प्रकार शरीर को अलंकारों के उचित प्रयोग से ही सुन्दर बनाया जाता है तथा अनुचित प्रयोग हास्यास्पद बना देता है, उसी प्रकार काव्य में भी गुण, अलंकार, रस आदि का उचित निवेश ही काव्य का प्राण है। इन काव्योपादानों के प्रयोग में गड़बड़ी (अनौचित्य) होने से काव्य हास्य का पात्र हो जायेगा। क्षेमेन्द्र की मूल उक्ति है–

> अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
> औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
> (औचित्यविचारचर्चा, का. ५)

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अन्तर्गत अनेक विषयों को रखकर उन्हें पाँच वर्गों में विभक्त किया है। कुल सत्ताइस विषय हैं जहाँ औचित्य का ध्यान रखना चाहिए– (i) पद, वाक्य तथा प्रबन्ध का औचित्य मीमांसा-दर्शन का विषय है। (ii) गुण, अलङ्कार और रस-विषयक औचित्य के लिए काव्यशास्त्र प्रमाण है। (iii) क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात तथा काल– इन आठ विषयों का औचित्य व्याकरण की परिधि में है। (iv) देश, कुल और व्रत ये तीन विषय लौकिक हैं जिनका औचित्य लोकव्यवहार पर आश्रित है। (v) शेष दस विषय हैं– तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद। इनका सम्बन्ध स्वयं कवि से है, इनके औचित्य का उत्तरदायित्व कवि पर ही है।

औचित्य को काव्य का प्रधान तत्त्व कहने की प्रेरणा अपने पूर्वाचार्यों से ही क्षेमेन्द्र को मिली थी। आनन्दवर्धन ने अलंकारों के औचित्य (अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः) तथा रस के औचित्यमूलक रहस्य पर प्रकाश डाला था–

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

(ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति)

वस्तुतः ध्वन्यालोक का तृतीय उद्योत काव्य के सभी उपादानों के औचित्य का विवरण देने के कारण क्षेमेन्द्र के लिए परम प्रेरक स्थल रहा होगा। क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में चमत्कार लाकर उसे आस्वाद्य बनाते हुए रस के प्राणरूप में अवस्थित होना औचित्य की विशिष्टता है।

समस्त लोक में व्याप्त औचित्य काव्य में भी व्याप्त है, अतएव यह काव्य का प्राण है। यद्यपि वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व है किन्तु उसे आत्मा नहीं कह सकते। साध्य होने पर ही कोई पदार्थ आत्मा कहलाता है। काव्य-रचना औचित्य को साध्य (लक्ष्य) बनाकर नहीं होती। रसानुभूति के लिए औचित्य साधन है, न कि औचित्य की प्राप्ति के लिए रसादि होते हैं। औचित्य वस्तुतः कवि-शिक्षा के लिए उपकरण-मात्र है, रचना के अभ्यास के समय कविगण इस पर ध्यान रखते हैं। रसानुभूति के समय तो औचित्य पर ध्यान जाता ही नहीं। हाँ, इसका अभाव (अनौचित्य) रहने पर सहृदय को उद्वेग अवश्य हो जाता है इसलिए ऐसे तत्त्व को काव्यात्मा कैसे कह सकते हैं जिसकी सत्ता से अधिक अभाव पर ही ध्यान जाये? स्वयं क्षेमेन्द्र समझते थे कि काव्य का प्राण तो कोई अन्य तत्त्व है, औचित्य उसे स्थिर रखता है।

इन सभी प्रस्थानों में व्यापकता ध्वनि-प्रस्थान की है; काव्य के उत्कर्ष की व्याख्या रस-प्रस्थान करता है किन्तु ध्वनि में वह भी गतार्थ हो जाता है।

अध्याय-२१

अन्य शास्त्रों के मुख्य ग्रन्थ

(१) आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र)

अथर्ववेद के उपवेद के रूप में भारतवर्ष में आयुर्वेद का विकास हुआ (आयुर्वेदं नानोपाङ्गमथर्ववेदस्य, सुश्रुत सू. १/६०)। अथर्ववेद के विभिन्न सूक्तों में चिकित्सा के विविध पक्ष निर्दिष्ट हैं, वे सभी इस विज्ञान में विकसित हुए। रोग-प्रतीकार के लिए भैषज्य का विधान, सुखप्रसव तथा उसकी विकृति में शल्यकर्म, व्रण की चिकित्सा, शिशु-चिकित्सा इत्यादि अथर्ववेद में वर्णित हैं। सुश्रुत ने आयुर्वेद का निर्वचन किया है-आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दति। इस शास्त्र में रोग का प्रशमन तथा स्वास्थ्य-रक्षा दोनों पक्षों पर ध्यान रखा गया है।[1] तदनुकूल विवेचना की गयी है। परवर्ती परम्परा आयुर्वेद के आठ प्रतिपाद्य विषयों (अंगों) का निरूपण करती है, तदनुसार आयुर्वेद '**अष्टांग**' कहलाता है। ये अंग हैं – **शल्य** (चीर-फाड़), **शालाक्य** (शलाका के प्रयोग से नेत्र, कान, नाक, सिर तथा मुख के रोगों की चिकित्सा), **कायचिकित्सा** (जठराग्नि अर्थात् पाचन से सम्बद्ध रोगों की चिकित्सा, संपूर्ण शरीर का आरोग्य-निष्पादन), **भूतविद्या** (अदृश्य तत्त्वों के कारण होनेवाले रोगों की झाड़-फूँक से चिकित्सा), **कौमारभृत्य** (शिशु का भरण-पोषण, चिकित्सा), **अगदतन्त्र** (विष की चिकित्सा), **रसायनतन्त्र** (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र-इन सातों शरीरधातुओं को स्थिर रखने का विज्ञान) तथा **वाजीकरण** (पुरुष को शक्तिसम्पन्न बनानेवाले भैषजों का विज्ञान)। इससे आयुर्वेद की व्यापक विषयवस्तु का परिचय मिलता है। इन सभी अंगों के ग्रन्थ यहाँ विकसित हुए।[2]

आयुर्वेद में तीन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माने गये हैं –चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता तथा वाग्भट के ग्रन्थ। एक लोकोक्ति है –

> सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः।
> चरके चतुरो नैव स वैद्यः किं करिष्यति ॥[3]

ये तीनों परवर्ती ग्रन्थों में पनपी कवित्व-परम्परा से अपेक्षाकृत मुक्त हैं।

चरकसंहिता निश्चित रूप से आयुर्वेद का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसका वर्तमान स्वरूप शताब्दियों की प्रतिसंस्करण-प्रक्रिया का परिणाम है। इसमें आत्रेय पुनर्वसु के मूल उपदेश हैं, उनके शिष्य अग्निवेश की रचना है, चरक का प्रतिसंस्कार है तथा दृढबल का परिवर्धन है। सौभाग्यवश इन आचार्यों के नाम परम्परा में सुरक्षित हैं अन्यथा 'महाभारत' की स्थिति होती। आत्रेय के छह शिष्यों में अग्निवेश अन्यतम थे, अन्य शिष्य भेल की कृति 'भेलसंहिता' भी कलकत्ता

---

१. **सुश्रुतसंहिता** १/१२ व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्।

२. आयुर्वेद के इतिहास के लिए देखें – आचार्य प्रियव्रतशर्मा – **आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास** (चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी)।

३. **संस्कृत शास्त्रों का इतिहास** (१९६९), पृ० २५ पर।

से प्रकाशित है (१९२१)। आत्रेय तथा अग्निवेश का काल पाँचवीं शताब्दी ई० पू० है। चरक ने अवश्य ही इस ग्रन्थ का सम्यक् परिवर्धन-परिमार्जन किया होगा जिससे ग्रन्थ उनके नाम से चल पड़ा। पतञ्जलि से इनका अभेद परवर्ती लेखकों ने माना है किन्तु यह प्रमाणसिद्ध नहीं है। चीनी परम्परा में चरक नामक वैद्य को कनिष्क के समकालिक माना गया है। चरक नागार्जुन (रसायनशास्त्री द्वितीय शताब्दी ई०) से पहले हैं अत: इनका काल प्रथम शताब्दी ई० में हो सकता है। दृढबल चतुर्थ शताब्दी ई० में वर्तमान थे। चिकित्सास्थान के १७ अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान-ये दृढबल द्वारा जोड़े गये। ये अंश पुरानी चरकसंहिता में नहीं थे।

चरकसंहिता में ८ स्थान और १२० अध्याय हैं। स्थानों के नाम हैं- १. **सूत्रस्थान** (शास्त्र की भूमिका, खान-पान की विधि, ३० अध्याय); २. **निदानस्थान** (८ अध्याय); ३. **विमानस्थान** (रोगविज्ञान तथा वैद्यक-शिक्षा, ८ अध्याय); ४. **शारीरस्थान** (शरीर रचनाविज्ञान, ८ अध्याय); ५. **इन्द्रियस्थान** (रोग का निदान एवं साध्यासाध्य-विचार, १२ अध्याय); ६. **चिकित्सास्थान** (विशेष चिकित्सा, १३+१७ = ३० अध्याय); ७. **कल्पस्थान**; ८. **सिद्धिस्थान** (दोनों में १२-१२ अध्याय)। अन्तिम ४१ अध्याय दृढबल के द्वारा लिखे गये हैं।[1] इसमें स्वस्थ तथा रोगी (आतुर) दोनों के हित पर ध्यान रखा गया है। महाभारत के समान यहाँ भी विश्वकोशीय प्रतिज्ञा है -

चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुर-हितं प्रति ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

चरकसंहिता पर कई टीकाएँ हैं जैसे-भट्टारहरिश्चन्द्र (४०० ई०) कृत 'चरकन्यास', जेज्जट-कृत 'निरन्तरपदव्याख्या' (८वीं श०), चक्रपाणिदत्त (१०५०-११०० ई०) की 'आयुर्वेद-दीपिका', वीरभूम के निवासी), शिवदास सेन (१५वीं श०) की 'तत्त्वचन्द्रिका'। हिन्दी तथा अंग्रेजी में भी पूरे ग्रन्थ का रूपान्तर प्रकाशित है (वाराणसी)।[2]

सुश्रुतसंहिता भी बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। १८९० ई० में काशगर से प्राप्त आयुर्वेदिक हस्तलेख (चतुर्थ शताब्दी ई०) 'नावनीतक' में भी सुश्रुत का उल्लेख है। चरक के समान इनकी कीर्ति भी विदेशों में प्राचीनकाल में ही फैल चुकी थी। नागार्जुन ने भी इनका उल्लेख किया है; अत: इनका भी काल प्रथम शताब्दी ई० में रखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में छह खण्ड हैं - १. **सूत्रस्थान** (४६ अध्याय) - शल्यकर्म का वर्णन, यन्त्र और शस्त्र का प्रयोग; २. **निदानस्थान** (१६ अध्याय)-शल्यचिकित्सा वाले रोगों का निदान; ३. **शारीरस्थान** (१० अध्याय)-शरीर-रचना का वर्णन; ४. **चिकित्सास्थान** (४० अध्याय)-शल्यविषयक रोगों के प्रकार, स्वस्थवृत्त एवं सद्वृत्त का वर्णन; ५. **कल्पस्थान** (८ अध्याय)-विषचिकित्सा; ६. **उत्तरतन्त्र** (६६ अध्याय)- नेत्र, कर्ण, नासिका एवं सिर के रोगों, बालग्रह-शान्ति तथा कायरोगों की चिकित्सा। इस ग्रन्थ पर भी अनेक टीकाएँ हैं जैसे-जेज्जट, गयदास, चक्रपाणि तथा डल्हण की टीकाएँ। इनमें डल्हण कृत 'निबन्धसंग्रह' टीका प्रसिद्ध है, निर्णयसागर प्रेस से मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित है। डल्हण का

---

१. **चरकसंहिता** के आरम्भिक ७९ अध्यायों की पुष्पिकाओं में 'अग्निवेशकृते चरक-प्रतिसंस्कृते' ऐसा कहा गया है; शेष ४१ अध्यायों में 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक-प्रतिसंस्कृते दृढबलसम्पूरिते' ऐसा परिवर्तन है।

२. फारसी तथा अरबी भाषाओं में इसका अनुवाद ६०० ई०-७०० ई० में हो चुका था।

समय १२०० ई० के निकट है। सुश्रुतसंहिता की ख्याति प्राचीन शल्य चिकित्सा (Surgery) की प्रस्तुति के कारण बहुत अधिक है।

वाग्भट के नाम से दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं– अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदय। दोनों में छह-छह स्थान हैं किन्तु अध्यायों की संख्या क्रमश: १५० तथा १२० है। अष्टाङ्गसंग्रह गद्य-पद्य-युक्त रचना है। बारह हजार श्लोक होने से इसे 'द्वादशसाहस्री' भी कहते हैं। **अष्टाङ्गहृदय** ७४४४ पद्यों का ग्रन्थ है, यह बहुत लोकप्रिय है; इसपर ३५ टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें हेमाद्रि और अरुणदत्त की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। वाग्भट का काल ५०० ई० से ६०० ई० के बीच माना जाता है। इत्सिंग ने इनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है दोनों ग्रन्थों में आयुर्वेद का सार प्रस्तुत है। 'अष्टाङ्गहृदय' का तिब्बती (भोट) भाषा में अनुवाद हुआ था, यह बहुत लोकप्रिय रहा है।

प्राय: षष्ठ या सप्तम शताब्दी ई० में माधवकर ने रोगों के निदान (लक्षण तथा मूलकारण) पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जिसका नाम 'रुग्विनिश्चय' हैं किन्तु **माधवनिदान** के नाम से विख्यात है। इसमें ७९ रोगों का विवरण है। अरबी भाषा में इसका रूपान्तर ८वीं श० ई० में हो गया था (७७३ ई०, हारुन-अल-रशीद के राज्यकाल में)। ग्रन्थ के प्रचार के कारण इसपर अनेक टीकाएँ हुईं। चक्रपाणिदत्त का **चिकित्सासारसंग्रह** भी उपयोगी ग्रन्थ है (१०६० ई०)। यह वृन्द के सिद्धियोग-नामक ग्रन्थ (आनन्दाश्रम, १८९४ ई० में प्रकाशित) पर आश्रित है। वङ्गसेन ने '**चिकित्सासार**' के नाम से एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा जो माधव और सुश्रुत पर आश्रित है (१२वीं शताब्दी ई०)। इसमें रस-भस्म-निर्माण की विधियाँ भी वर्णित हैं। भावमिश्र (१६वीं शताब्दी ई०) का **भावप्रकाश** बहुत विस्तृत तथा बहुप्रचलित ग्रन्थ है। इसमें पूर्व, मध्य और उत्तर नाम के तीन खण्ड हैं। १७वीं-१८वीं शताब्दी में वैद्यजीवन, आयुर्वेदप्रकाश, योगतरङ्गिणी तथा भैषज्यरत्नावली नामक ग्रन्थ रचे गये, जो बहुप्रचलित हैं।

आयुर्वेद के रसायन-विज्ञान पर **रसरत्नाकर** (नागार्जुन कृत, ७वीं शताब्दी ई०), रसहृदयतन्त्र (गोविन्दकृत, १०वीं श०), रसेन्द्रचूडामणि (सोमदेवकृत, १२वीं श०), रसप्रकाशसुधाकर (यशोधरकृत), रसार्णव (१३वीं श०), रसराजलक्ष्मी (विष्णुदेवकृत, १४वीं श०), रसेन्द्रसारसंग्रह (गोपालभट्टकृत, १४वीं श०) इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं। वाग्भट का रसरत्नसमुच्चय (२० अध्याय) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(२) कामशास्त्र

आयुर्वेद के वाजीकरण अध्याय में ही कामशास्त्र का संग्रह होता है। जीवन के चार लक्ष्यों में काम का ग्रहण होने से इसका विवेचन भारत के विद्वानों ने प्राचीन काल से ही किया था। नायिकाओं के हाव-भाव के वर्णन के लिए यह काव्यशास्त्र की भी परिधि में प्रवेश करता है। इस विषय के ५-६ ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं। जिनमें वात्स्यायन का 'कामसूत्र' सबसे प्राचीन तथा प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल तृतीय शताब्दी ई० है।

कामसूत्र सात अधिकरणों, १४ प्रकरणों एवं ३६ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है जिसमें गद्य-पद्य का मिश्रण है। पद्यों की संख्या १२५० है। अधिकरणों की विषयवस्तु क्रमश: इस प्रकार है– सामान्य सिद्धान्त, रति, प्रेम तथा विवाह, पत्नी, परस्त्री, गणिका तथा प्रच्छन्न प्रेम। नगर के रईसों

(नागरक) के लक्षण तथा प्रेमसिद्धि के विविध उपायों के वर्णन के क्रम में भी लेखक का उद्देश्य है कि विवाह-संस्था का महत्त्व सिद्ध करे, वही सुख-प्राप्ति का साधन है। काम का ऐसा प्रयोग हो कि धर्म और अर्थ का महत्त्व कम न हो पाये। ६४ कलाओं के वर्णन में स्त्रियों के उपयोग के लिए नृत्य, संगीत, गृहसज्जा, गृहकर्म आदि का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। तात्कालिक समाज का चित्रण भी इसमें हुआ है। इसकी शैली सूत्र (संक्षिप्त) और भाष्य (विस्तृत) के बीच की है। इसपर चौहान-नरेश वीसलदेव (१२४३-६१ ई०) के आश्रित यशोधर ने 'जयमङ्गला' नामक व्याख्या लिखी है जिसमें अनेक अज्ञात शब्दों की व्याख्या है।

इस शास्त्र के अन्य ग्रन्थ हैं-ज्योतिरीश्वर (१२९५-१३२४ ई० तक राज्य करने वाले हरिसिंहदेव के आश्रित) का 'पञ्चसायक', कोक्कोक या कोक्कन का 'रतिरहस्य' (१२वीं श०), जयदेव की 'रतिमञ्जरी', कल्याणमल्ल का 'अनङ्गरङ्ग' (१६वीं श०), वीरभद्रकृत 'कन्दर्पचिन्तामणि' इत्यादि।

(३) कोशग्रन्थ

वैदिक युग में ही वेदों के अर्थ-ज्ञान के लिए कोशविद्या का उद्‌भव हुआ। 'निघण्टु' के रूप में वैदिक शब्दों के संग्रह के अनेक प्रयास हुआ। एक निघण्टु पर यास्क ने निरुक्त की रचना की। इस निघण्टु में पाँच अध्याय हैं; प्रथम तीन अध्यायों में एकार्थक (पर्यायवाची) शब्दों का संग्रह है, चतुर्थ अध्याय में व्याख्यापेक्ष कठिन शब्दों का और पञ्चम अध्याय में देवतावाचक नामों का संकलन है। लौकिक संस्कृत में जो शब्दकोश विकसित हुए उनमें दो प्रकार के पदों का संकलन है- एकार्थक तथा अनेकार्थक। इनमें क्रियाओं का संग्रह नहीं रहता, केवल संज्ञाएँ, विशेषण और अव्यय ही संकलित हुए हैं। यद्यपि अनेक कोशों की रचना के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु अभी उपलब्ध कोशों में प्राचीनतम 'अमरकोश' ही है।

अमरकोश'[1] का वास्तविक नाम 'नामलिङ्गानुशासन' है। इसके रचयिता बौद्ध लेखक अमरसिंह का काल तृतीय शताब्दी ई० माना जाता है। इसका चीनी भाषा में अनुवाद छठी शताब्दी ई० में हुआ था। बौद्ध होने पर भी चन्द्रगोमी (४०० ई०) के चान्द्रव्याकरण से इनका परिचय नहीं। यह इनकी प्राचीनतरता का प्रमाण है। अमरकोश का प्राचीनतम उद्धरण काशिका की 'न्यास' व्याख्या में (७०० ई०) है। यह अत्यन्त लोकप्रिय कोश रहा है जैसा कि इसकी ४० टीकाओं से ज्ञात होता है। इसमें शब्द के अर्थ के साथ उसका लिङ्ग भी निर्धारित किया गया है। पुं., नपुंसक, स्त्री तथा अस्त्री-इन शब्दों के प्रयोग से यह व्यवस्था हुई है। अमरकोश तीन काण्डों में विभक्त है। **प्रथम काण्ड** में दस वर्ग हैं-स्वर्ग, व्योम, दिक्, काल, धी, शब्दादि, नाट्य, पातालभोगि, नरक तथा वारि। प्रत्येक वर्ग से सम्बद्ध विषयों के पर्याय संकलित हैं। इसी प्रकार **द्वितीय काण्ड** में भी दस वर्ग हैं-भूमि, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि, मनुष्य, ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रवर्ग हैं। **तृतीय काण्ड** में विशेष्यनिघ्न (विशेषण), संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय, लिङ्गादिसंग्रह-ये पाँच वर्ग हैं। इस कोश में केवल अनुष्टुप् छन्द के श्लोक हैं जो संख्या में १५३३ हैं। नानार्थ (अनेकार्थक पद) वर्ग में २२५ श्लोक हैं। शेष ग्रन्थ एकार्थक पदों का संग्रह है। इसपर मुख्य टीकाकारों में

१. अमरकोश पर एक शोधात्मक ग्रन्थ डॉ० कैलाशचन्द्र त्रिपाठी का है - 'अमरकोष का कोषशास्त्रीय तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८१ ई०।

क्षीरस्वामी (१०८०-११३० ई०, टीका-अमरकोशोद्घाटन)[1], सर्वानन्द (११५९ ई०, टीका-टीकासर्वस्व), सुभूतिचन्द्र (११०० ई० टीका-कामधेनु), बृहस्पति (१४३१ ई०, टीका-पदचन्द्रिका), भानुजिदीक्षित (१६२०-७० ई०, टीका-रामाश्रमी) मुख्य हैं। रामाश्रमी टीका प्रत्येक पद की रूपसिद्धि के कारण महत्त्वपूर्ण है।

अमरसिंह के बाद भी कई कोशग्रन्थों की रचना हुई। प्रायः षष्ठ शतक ई० में शाश्वत ने **अनेकार्थसमुच्चय** (नानार्थकोश या शाश्वतकोश के नाम से प्रसिद्ध) की रचना की। यह पूना से दो बार प्रकाशित हुआ है (१९१८ तथा १९३० ई०)। धनञ्जय ने २०० श्लोकों की नाममाला, अनेकार्थनाममाला (पूरक रूप में) तथा अनेकार्थनिघण्टु (१५३ श्लोक) –ये तीन कोश लिखे। 'नाममाला' का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) से १९४४ ई० में हुआ था। पुरुषोत्तमदेव बौद्ध लेखक थे। लक्ष्मणसेन (११७०-१२०० ई०) के आदेश पर उन्होंने व्याकरण तथा कोश के ग्रन्थ लिखे थे। इनके तीन कोशग्रन्थ हैं–अमरकोश के पूरक के रूप में **त्रिकाण्डशेष** (१०५३ श्लोक, तीन काण्ड, २५ वर्ग), **हारावली** (२७० श्लोक, समानार्थक तथा नानार्थक-दो खण्ड) तथा **वर्णदेशना** (गद्य में वर्तनी अर्थात् स्पेलिंग की विवेचना)। इन्हीं के नाम से एकाक्षरकोश और द्विरूपकोश भी प्रसिद्ध हैं।

हलायुध की अभिधानरत्नमाला (हलायुधकोश के नाम से विख्यात)[2] दशमशती ई० का ग्रन्थ है। यह पाँच काण्डों में विभक्त प्रायः ९०० श्लोकों की कृति है। **यादवप्रकाश** रामानुज (१०५५-११३७ ई०) के विद्यागुरु थे, स्वयम् अद्वैतवेदान्ती थे। इन्होंने **वैजयन्ती** नामक कोशग्रन्थ लिखा। यह अमरकोश की अपेक्षा अधिक पुष्ट है, इसमें वैदिक शब्दों का भी संग्रह है। इसके दो खण्ड हैं–समानार्थ (पाँच भाग-स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूमि, पाताल तथा सामान्य) और नानार्थ (अक्षरक्रम से शब्दों की व्यवस्था)। महेश्वर का **विश्वप्रकाश** ११११ ई० में लिखा गया। यह नानार्थकोश है जिसमें शब्दों का क्रम अन्तिम वर्ण के आधार पर है। अपनी रचना के बाद ही यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया था। सर्वानन्द (११५९ ई०) ने बंगाल में तथा हेमचन्द्र (१०८८-११७० ई०) ने गुजरात में रहते हुए इनके मत का उल्लेख किया है। वर्णानुक्रम की आधुनिक पद्धति से अजयपाल ने **नानार्थसंग्रह** १२वीं शती में ही लिखा। ये बौद्ध थे। मेदिनीकार ने **'विश्वप्रकाश'** से आगे बढ़ने के लिए एक अन्य नानार्थकोश बनाया जिसे **'मेदिनीकोश'** के नाम से प्रसिद्धि मिली। शब्दों की संख्या तथा व्यवस्था में यह वस्तुतः बढ़कर है। 'मेदिनीकोश का रचनाकाल १३वीं शती का मध्यकाल (१२५० ई० के आसपास) है।

अन्य कोशों में मंख-कृत 'अनेकार्थकोश, (११५० ई०), हेमचन्द्रकृत 'अभिधानचिन्तामणि' (ग्रन्थकार की टीका सहित भावनगर से प्रकाशित) इत्यादि प्रायः १० कोश हैं। आधुनिक युग में पं० रामावतार शर्मा ने **'वाङ्मयार्णव'** नामक बड़ा ग्रन्थ लिखा था (१९६७ ई० में प्रकाशित)। इसमें ६७९६ श्लोक हैं। यह अमरकोश की परम्परा का श्रेष्ठ कोश है। यह नानार्थक कोश पाश्चात्त्य कोश-पद्धति से पूर्णतः प्रभावित है। शब्दों का चयन वैज्ञानिक वर्णानुक्रम से किया गया है। इसमें अनेक शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द भी हैं। १९वीं शताब्दी में पाश्चात्त्य पद्धति से वर्णों के अनुक्रम से संस्कृत में राजा राधाकान्तदेव ने **'शब्दकल्पद्रुम'** (संकलन १८२२-५८ ई०) का निर्माण कराया

---

१. ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, पूना से १९४१ ई० में प्रकाशित।
२. हिन्दी समिति, लखनऊ से १९५७ ई० में प्रकाशित।

जो ५ खण्डों में प्रकाशित है। एक-एक शब्द पर शास्त्रों के प्रमाण पूर्णत: उद्धृत हैं। ऐसा ही विशाल कोश तारानाथ तर्कवाचस्पति ने '**वाचस्पत्य**' (१८७३-८४ ई०) के नाम से बनाया, इसमें वैदिक शब्द भी हैं। यह छह कण्डों में प्रकाशित है।[1] इस प्रकार संस्कृत का कोश-साहित्य बहुत समृद्ध है।

(४) छन्दःशास्त्र

वैदिक काल के सीमित छन्दों का संस्कृत में बहुत विकास हुआ, अनेक नये-नये छन्द आये और उन्हें सुघटित करने के लिए गणों तथा यति का निर्धारण हुआ। वैदिक अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् तथा जगती छन्द भी व्यवस्थित तथा सुडौल बन गये। गण तीन वर्णों का होता है, गुरु-लघु के निश्चित क्रम से मगण (SSS), यगण (ISS), रगण (SIS), सगण (IIS), तगण (SSI), जगण (ISI), भगण (SII), और नगण (III), ये आठ गण होते हैं-इनके द्वारा ही सभी वर्णवृत्तों को नियन्त्रित किया जाता है। 'यति' या विराम किसी अक्षर पर (जैसे-चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम आदि) रुकने का नाम है। गणों की व्यवस्था पर ध्यान रखते हुए भी यति पर शब्द की समाप्ति आवश्यक है, अन्यथा 'यतिभङ्ग' दोष होता है। संस्कृत के सामान्य छन्दों के लक्षण में गण और यति की चर्चा होती है। छन्द के चार चरण अनिवार्य हैं जो सभी सम या अर्धसम या विषम भी हो सकते हैं। अधिसंख्यक छन्द समवृत्त ही हैं। कुछ छन्दों में (जैसे-आर्या) मात्राओं की गणना होती है, यद्यपि गुरु-लघु या गण का बन्धन वहाँ भी रहता है। इस प्रकार वैदिक छन्दों से भिन्न धरातल पर विकसित होने से छन्दोग्रन्थों की भी रचना अनिवार्य हो गयी। प्रथम छन्दःशास्त्रकार पिङ्गलाचार्य के नाम पर इस शास्त्र को भी 'पिङ्गलशास्त्र' कहा गया। इसमें छन्दों के लक्षण के अतिरिक्त 'प्रस्तार'-जैसे गणित-विषय भी आये। संस्कृत काव्यों में विपुल रूप से प्रयुक्त अनुष्टुप् (श्लोक), उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, शालिनी, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा तथा आर्या छन्द हैं। अनुष्टुप् सबसे छोटा (८ X ४) छन्द है, स्रग्धरा सबसे बड़ा (२१ X ४)। विषय की लम्बाई के अनुरूप इनका उपयोग कविगण करते रहे हैं। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में विषय-वस्तु का छन्द के साथ सम्बन्ध दिखाया है।

छन्द पर प्राचीनतम ग्रन्थ पिङ्गलकृत '**छन्दःसूत्र**' है। इसमें आठ अध्याय हैं, सूत्रों की कुल संख्या ३०८ है। आरम्भ के तीन अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय के सप्तम सूत्र तक वैदिक छन्दों का विवरण है (९७ सूत्र); शेष भाग (२११ सूत्र) में लौकिक छन्दों का विवरण है। चतुर्थाध्याय मात्रावृत्तों का है, अन्तिम तीन अध्याय वर्णवृत्त के त्रिविध छन्दों (सम, अर्धसम और विषम) का वर्णन करते हैं। 'छन्दःसूत्र' का समय २०० ई० पू० विदेशी विद्वानों को मान्य है। षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की टीका में पिङ्गल को पाणिनि का अनुज कहा है, इससे ६०० ई० पू० भी इनका समय सम्भव है।[2] पिङ्गल की पाटलिपुत्र में परीक्षा होने की अनुश्रुति राजशेखर ने अंकित की है। इस ग्रन्थ पर हलायुध ने (१०वीं शताब्दी) 'मृतसञ्जीवनी' नामक टीका लिखी थी।[3]

---

१. रॉथ तथा भोतलिंक द्वारा संकलित 'संस्कृत जर्मन महाकोश' (१८५२-७५ ई०) तथा मोनियर विलियम्स कृत 'संस्कृत अंग्रेजी कोश' वैदिक एवं लौकिक दोनों शब्दों की विवेचना करते हैं। वामन शिवराम आप्टे का 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश' लौकिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी दिखाता है।

२. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास, पृ० २८८-९।

३. सीताराम भट्टाचार्य के सम्पादन में कलकत्ता से प्रकाशित, १९१४ ई०।

भरत के नाट्यशास्त्र के दो अध्यायों (१५ तथा १६) में एवम् अग्निपुराण के आठ अध्यायों (३२८ से ३३५) में भी छन्दों का विवरण दिया गया है। अग्निपुराण का विवरण स्पष्टत: पिङ्गलक्रमानुसारी है जैसा कि उसी स्थान पर कहा गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के एक पूरे अध्याय (१०३) में विविध छन्दों में ग्रह-गोचरों का वर्णन करते हुए मुद्रालंकार-द्वारा छन्द का भी निर्देश कर दिया है।

जानाश्रयी छन्दोविचिति[1] नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ ६०० ई० के आसपास लिखा गया। इसमें छह अध्याय हैं जिनमें संज्ञा, विषमवृत्त, अर्धसमवृत्त, समवृत्त, जाति (मात्रिक) छन्द एवं प्रस्तार का क्रमश: विवेचन है। यहाँ आठ के विपरीत १८ गण माने गये हैं। यह पिङ्गल से भिन्नप्रस्थानक ग्रन्थ है। इसके लेखक 'जनाश्रय' उपाधिधारी राजा माधववर्मा (राज्यकाल ५८०-६२० ई०) थे। इनके काल में ही गणस्वामी ने इसकी वृत्ति भी लिखी थी। वृत्ति में कालिदास, भारवि, कुमारदास और अश्वघोष के पद्य उद्धृत किये गये हैं।

जयदेवकृत 'जयदेवच्छन्द:' तथा जयकीर्ति कृत 'छन्दोऽनुशासन' में भी पिङ्गल के छन्द:सूत्र के समान आठ-आठ अध्याय हैं। मध्यकाल के ग्रन्थों में केदारभट्ट कृत 'वृत्तरत्नाकर' बहुत लोकप्रिय है। यह छह अध्यायों में विभक्त है। अन्तिम अध्याय में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि गणितीय विषयों का वर्णन है। इसकी विशिष्टता है कि छन्द के लक्षण और उदाहरण एक ही पंक्ति में हैं, यह इसकी संक्षिप्तता का कारण है। जैसे-

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

यह शिखरिणीके एक चरण का उदाहरण भी है (उसी छन्द में है) और य,म,न,स,भ (गण)+लघु+गुरु के रूप में इसका लक्षण भी है। इस छन्द में रस (६) और रुद्र (११) अक्षरों पर यति होती है-यह भी निर्दिष्ट है। इस पुस्तक की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति (जैसलमेर पुस्तकालय में सुरक्षित) ११३५ ई० की मिली थी; इसके प्राचीनतम टीकाकार त्रिविक्रम का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने इस ग्रन्थ के दो पद्यों पर विचार किया था। इससे केदारभट्ट का काल १००० ई० के आसपास हो सकता है। वृत्तरत्नाकर पर त्रिविक्रम, सुल्हण, सोमचन्द्र गणि, रामचन्द्र, नारायण भट्ट (१६८० ई०) इत्यादि १५ विद्वानों की टीकाएँ हैं।

क्षेमेन्द्रकृत 'सुवृत्ततिलक', हेमचन्द्रकृत '**छन्दोऽनुशासन**', गङ्गादासकृत 'छन्दोमञ्जरी' (१५०० ई०), चन्द्रशेखरकृत 'वृत्तमौक्तिक' (१६२० ई०), कृष्णभट्टकृत 'वृत्तमुक्तावली' (१७४० ई० के आसपास) तथा दु:खभञ्जन कवि (काशी के महान् विद्वान्)-कृत 'वाग्वल्लभ' (१९०३ ई०) छन्द:शास्त्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रत्येक की अपनी विशिष्टता है जैसे- वाग्वल्लभ विशालकाय ग्रन्थ है जिसमें १५३९ छन्दों का विवरण है। 'श्रुतबोध' नवशिक्षा पाने वालों में बहुत लोकप्रिय है क्योंकि इसमें गणों की जटिलता नहीं है।

(५) ज्योतिषशास्त्र

वैदिक युग में जो ज्योतिषशास्त्र यज्ञ के काल अर्थात् शुभ मुहूर्त के ज्ञान के लिए उद्भूत हुआ था वह आगे चलकर सिद्धान्त, फलित और गणित इन तीन भागों में विकसित हुआ। 'सिद्धान्त'

१. वृत्तिसहित अनन्तशयन ग्रन्थमाला (१९४९ ई०) में तथा वेंकटेश्वर ग्रन्थमाला, तिरुपति (१९५०) प्र०।

शुद्ध ज्योतिष है जिसमें आकाशीय पिण्डों की गति-स्थिति का अध्ययन किया जाता है। वैदिक युग से लेकर वराहमिहिर तक सिद्धान्तों का विकास होता रहा, खगोल-विद्या-विषयक अनेक मत प्रचलित हुए। इस क्रम में ग्रहों का संचार, काल की गणना (वर्ष, मास, पक्ष, वार, तिथि आदि), सूर्योदय-सूर्यास्त का निरूपण, नक्षत्रों की गतिविधि इत्यादि पर विचार हुआ। वराहमिहिर (४८०-५६० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका' में पाँच सिद्धान्तों का सार दिया है। ये हैं- पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर तथा पैतामह। वराहमिहिर के अनुसार प्रथम दो के व्याख्याता लाटदेव हैं, ये दोनों स्पष्ट सिद्धान्त हैं। सौर (सूर्य) सिद्धान्त सबसे अधिक स्पष्ट है किन्तु शेष दोनों सिद्धान्त भ्रष्ट हैं।

'वेदाङ्गज्योतिष' (लगध-कृत) के अनन्तर 'सूर्यसिद्धान्त' के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ ही ज्योतिष का प्रथम ग्रन्थ है। इसका संशोधन कई बार हुआ था। स्वयं वराहमिहिर ने आर्यभट के आधार पर इसका संशोधन किया था। 'पञ्चसिद्धान्तिका' में प्रतिपादित सूर्यसिद्धान्त से प्रस्तुत ग्रन्थ में अधिक भेद नहीं है। कहा जाता है कि मूल ग्रन्थ ४०० ई० के आसपास लिखा गया था। इसमें वर्ष का मान ३६५ दिन ६ घण्टे १२ मिनट तथा ३६.५६ सेकंड दिया गया है, यह शुद्धता के बहुत निकट है। वर्तमान 'सूर्यसिद्धान्त' १४ अध्यायों का पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें आकाशीय पिण्डों की स्थिति को जानने के लिए नियम दिये गये हैं। श्लोकों की संख्या ५०० है जो क्रमश; बढ़ती हुई भाष्यकार रंगनाथ (१६०३ ई०) के समय तक स्थिर हो गयी थी।

आर्यभट (जन्म ४७६ ई०, पाटलिपुत्र) ने २३ वर्ष की आयु में (४९९ ई०) 'आर्यभटीय' नामक ग्रन्थ १० आर्याछन्दों में लिखा था। इसमें ग्रहों की गणना के लिए 'कलिसंवत्' (४९९ ई० में ३६०० क०सं०) को निश्चित किया गया है। इनके अन्य ग्रन्थ आर्याष्टाशतक में १२१ श्लोक हैं जो चार पादों में विभक्त हैं-गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलपाद। आर्यभट ने सूर्य को स्थिर तथा पृथ्वी को चल कहा है (गोलपाद, श्लोक ९)। ग्रहण पृथ्वी की छाया के कारण होते हैं। पृथ्वी के अपनी धुरी पर चलने से ही आकाशीय पिण्डों के दैनिक परिचालन के दृश्य उपस्थित होते हैं। संख्याओं के लिए आर्यभट ने अक्षरों का भी प्रयोग किया। गणित और सिद्धान्त दोनों का यह संयुक्त ग्रन्थ है। इसपर चार टीकाएँ हैं। फ्रेंच, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी इसके अनुवाद कई स्थानों से प्रकाशित हैं।

वराहमिहिर अवन्तिपुरी के निवासी थे इनका जन्म ४८० ई० में अनुमानतः कहा जाता है क्योंकि अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका' में इन्होंने गणितारम्भ का वर्ष ५०५ ई० (४२७ शकाब्द) कहा है।[1] सूर्य को प्रसन्न करके इन्होंने समस्त ज्ञान पाया था। इनके अनेक ग्रन्थ हैं- पञ्चसिद्धान्तिका (सिद्धान्तग्रन्थ), बृहत्संहिता (सिद्धान्त तथा फलित), विवाहपटल (मुहूर्त-विषयक, बृहत् और स्वल्प दो संस्करण), योगयात्रा (राजाओं की यात्रा में शकुन), बृहज्जातक तथा लघुजातक (दोनों जन्मकुण्डली-विषयक)। इस प्रकार इनकी कृतियाँ ज्योतिष के विविध पक्षों में हैं। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' १०६ अध्यायों का विशालग्रन्थ है। इसमें सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों की गतियों एवं ग्रहण आदि का पृथ्वी तथा मानव पर प्रभाव, वर्षफल (गोचर), ऋतु के लक्षण, कृषि-उत्पादन, वस्तुओं के मूल्य, वास्तुविद्या में ज्योतिष का महत्त्व इत्यादि विविध

१. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ६२। गणितारम्भ के समय २५ वर्ष की आयु रही होगी।

विषयों पर प्रकाश है। सिद्धान्तज्योतिष और फलितज्योतिष का यह संयुक्त ग्रन्थ है। भारतीय भूगोल का भी इसमें निरूपण है। इस ग्रन्थ पर भट्टोत्पल ने टीका लिखी थी (९६६ ई०)।

ब्रह्मगुप्त (जन्म ५९८ ई०, मुल्तान के भिल्लमल्ल-ग्राम में) अपने युग के बहुत बड़े ज्योतिर्विद् थे। भास्कराचार्य ने इन्हें 'गणकचक्रचूडामणि' कहा था। इन्होंने ६२८ ई० में ब्राह्मसिद्धान्त या ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त नामक ग्रन्थ तथा ६६५ ई० में दूसरे ग्रन्थ **खण्डखाद्यक** की रचना की थी। प्रथम ग्रन्थ में २४ अध्याय अधिकारसंज्ञक (जैसे-मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार ०) या अध्यायसंज्ञक (जैसे-गणिताध्याय, यन्त्राध्याय ०) हैं। गोलाध्याय में भूगोल एवं खगोल-सम्बन्धी गणना है। खण्डखाद्यक आर्यभट के सिद्धान्तों का अनुकरण है। इसमें दस अध्याय हैं। दोनों शुद्ध सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं। आर्यभट (द्वितीय, ९५० ई०), मुंजाल (९४० ई०), पृथूदकस्वामी (१० वीं श०), श्रीपति (१०४० ई०, दस ग्रन्थों के लेखक), शतानन्द (११ वीं श०)-ये भी प्रसिद्ध लेखक थे।

भास्कराचार्य (द्वितीय) की ख्याति बहुत अधिक है। इनका जन्मकाल १११४ ई० है, ३६ वर्ष की आयु में इन्होंने **'सिद्धान्तशिरोमणि'** तथा ७० वर्ष की आयु में **'करणकुतूहल'** लिखा था। इनके अतिरिक्त भी इनके दो ग्रन्थ हैं- **लीलावती** तथा **बीजगणित**। १५ अध्यायों का **'सिद्धान्तशिरोमणि'** खगोल विद्या (Astronomy) का सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है जिसके यन्त्राध्याय में विविध यन्त्रों का वर्णन आकाशीय निरीक्षण के लिए किया गया है। इसपर अनेक टीकाएँ हैं। ज्योतिष के अध्ययन में विगत सात सौ वर्षों से इसका सर्वोपरि महत्त्व है। 'लीलावती' १३ अध्यायों में अंकगणित और रेखागणित (क्षेत्रमिति सहित) का ग्रन्थ है। इसकी रचना अपनी पुत्री के नाम पर भास्कराचार्य ने की थी। गणेश दैवज्ञ का 'ग्रहलाघव' (१५वीं-१६वीं श०), नीलकण्ठ की 'ताजिकनीलकण्ठी' (१५८७ ई०), रामदैवज्ञ की 'मुहूर्तचिन्तामणि' (१६०० ई०) तथा कमलाकर (जन्म १६०८ ई०) का 'सिद्धान्ततत्त्वविवेक' (१६५८ ई०) अपेक्षाकृत प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ हैं।

ज्योतिष का प्रचार जैनों में भी बहुत अधिक था, उनके ग्रन्थ भी इस शास्त्र की श्रीवृद्धि करते हैं। विदेशों के ज्योतिष का प्रवेश भारत में तथा भारतीय ज्योतिष का प्रभाव अरबी-यूनानी ज्योतिष में बहुत पहले से मिलता है। आधुनिक युग में भी बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने अपने अध्यवसाय से इस प्राचीन विद्या की पताका बचा रखी है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फलित ज्योतिष से राजनीतिक लाभ उठाने वाले ज्योतिर्विदों के कारण इस विद्या का भविष्य अच्छा नहीं लगता। फिर भी इसके गणित भाग को संगणक (Computer) से जोड़ना शुभ लक्षण है। बापूदेव शास्त्री, शंकर बालकृष्ण दीक्षित[1], वेंकटेश केतकर, बालगंगाधर तिलक तथा सुधाकर द्विवेदी १९वीं शताब्दी ई० के प्रसिद्ध गणितज्ञ ज्योतिषी थे। आज भी संस्कृत महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में सिद्धान्त, फलित तथा गणित तीनों अङ्गों का अध्ययन-अध्यापन होता है।

(६) धर्मशास्त्र

प्राचीन भारत में मानव जीवन की व्यवस्था के लिए 'कल्प' नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत धर्मसूत्र भी लिखे गये थे। इनका परिचय वैदिक साहित्य के क्रम में दिया जा चुका है। लौकिक

---

१. **'भारतीय ज्योतिष'** के लेखक (हिन्दी समिति, लखनऊ से १९५६ ई० में प्रकाशित)।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ स्मृतियों, उनकी टीकाओं तथा संग्रह-ग्रन्थों के रूप में विकसित हुए हैं। इन्हीं से 'कर्मकाण्ड' का भी विकास हुआ जो वैदिक गृह्यसूत्रों तथा श्रौतसूत्रों की सामग्री को रूपान्तरित करके बना है।[१]

धर्मशास्त्र में प्राचीनतम **'मनुस्मृति'** है जो बहुत लोकप्रिय तथा प्रमाण रूप में रखा जाने वाला ग्रन्थ है। मनु को मानव-जाति का जनक कहा गया है, इसलिए मनु का धर्मशास्त्र मानवमात्र के लिए निर्मित प्रथम तथा शाश्वत धर्मों का विवेचन करता है किन्तु वर्तमान मनुस्मृति की रचना करने वाले तथा इसके काल के विषय में निश्चित मत नहीं है। संभव है इसे प्राचीनता और महत्ता देने के लिए 'मनु-रचित स्मृति' कहा गया हो। महाभारत में स्वायम्भुव मनु को धर्मशास्त्री तथा प्राचेतस मनु को अर्थशास्त्री कहा गया है। मनुस्मृति को आधुनिक रूप उस काल में मिला जब ब्राह्मणों का वर्चस्व था। शुङ्गकाल या कण्वकाल में (२०० ई० पू० से ५० ई० पू०) यह स्थिति थी। वैसे मनुस्मृति में सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था बनाने का लक्ष्य है, न किसी के प्रति राग है न द्वेष।

मनुस्मृति के वर्तमान पाठ में १२ अध्याय तथा २६९४ श्लोक हैं। यह सरल, प्रवाहपूर्ण तथा पाणिनि-सम्मत भाषा में रचित है। इसमें (१) जगत् की उत्पत्ति, युग-कल्पना तथा धर्मशास्त्र की विषयवस्तु; (२) धर्म का लक्षण, प्रारम्भिक संस्कार एवं ब्रह्मचारियों के कर्तव्य; (३) समावर्तन, विवाह और उसके भेद, गृहस्थ जीवन की प्रशंसा; (४) गृहस्थ की जीवनचर्या, स्नातक के आचार, अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य; (५) आशौच, पवित्रीकरण, पत्नी एवं विधवा के कर्तव्य, (६) वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम, (७) राजधर्म, राजा के गुण-दोष, मन्त्रि-परिषद्, दूत, युद्धनियम, सामादि चार उपाय, कर-ग्रहण, षड्गुण (सन्धि, यान आदि), विजयी राजा के कार्य; (८) न्यायशासन, व्यवहार तथा उसके १८ भेद; (९) पति-पत्नी के कर्तव्य, उत्तराधिकार, पुत्र के १२ भेद, स्त्रीधन, महापाप और प्रायश्चित्त, राज्य के सात अंग, वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य; (१०) वर्णों तथा जातियों के कार्य, जीविकासाधन; (११) दान की प्रशंसा, पूर्वजन्म के पाप से शरीर-दोष, उपपातक तथा प्रायश्चित्त; (१२) कर्म, क्षेत्रज्ञ, जीव, नरक-कष्ट, निःश्रेयस, आत्मज्ञान, प्रवृत्त-निवृत्त कर्म, शास्त्राध्ययन का फल-इतने विषय मुख्य रूप से हैं। मनुस्मृति पर मेधातिथि (८२५ ई०-९०० ई०) तथा कुल्लूकभट्ट की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसका अंग्रेजी-हिन्दी में अनुवाद कई स्थानों से प्रकाशित है। मनुस्मृति का प्रथम मुद्रण कलकत्ता में १८१३ ई० में हुआ था। बर्मा (म्याँमार), श्याम (थाइलैंड) तथा जावा (इंडोनेशिया) में भी मनुस्मृति पहुँची एवं वहाँ के विधानों पर इसका प्रभूत प्रभाव पड़ा।

धर्मशास्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **याज्ञवल्क्यस्मृति** है जिसका समय २००-३०० ई० के मध्य माना जाता है। इसमें आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त नामक तीन अध्याय हैं। इसमें १००० के आसपास श्लोक हैं (निर्णयसागर प्रेस सं० १०१०, त्रिवेन्द्रम सं० १००३ तथा आनन्दाश्रम

---

१. धर्मशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में वर्ण और आश्रम के कर्तव्य तथा अधिकार, विवाह तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातें, पञ्चमहायज्ञ, दान, भक्ष्याभक्ष्य, विविध संस्कार, स्त्रीधर्म, क्षत्रियों तथा राजाओं के कर्तव्य, व्यवहार (अपराध, दण्ड, सम्पत्ति-विभाग, तथा विभिन्न विवादों का निपटारा), आपद्धर्म, कर्मफल, शान्ति, संन्यास आदि प्रमुख हैं। कुछ ग्रन्थों में व्रत, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा (जनकल्याणार्थ मन्दिर, धर्मशाला, तडाग, आदि का निर्माण), तीर्थ, काल आदि का भी वर्णन है। धर्मशास्त्र का इतिहास (पी० वी० काणे), हिन्दी अनु०, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ १९८०) का प्रथम भाग, पृ० १०१।

सं० १००६)। प्रथमाध्याय में संस्कारों का विस्तृत विधान है; ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा राजा के कर्तव्यों का निरूपण, भक्ष्याभक्ष्य-विधान, मांस-प्रयोग-नियम तथा श्राद्ध का भी विवेचन है। द्वितीयाध्याय में न्यायशासन (Judicial administration) के वर्णन-क्रम में विवादों के निपटारे का विवेचन है, न्यायालय की सारी व्यवस्था वर्णित है। तृतीयाध्याय मृतक-कर्म, आशौच, वानप्रस्थ धर्म, मोक्ष, आत्मज्ञान के साधन, प्रायश्चित्त द्वारा पापों के शोधन, नरक इत्यादि के वर्णन से भरा है। इस स्मृति की अनेक टीकाएँ हैं-विश्वरूप की **बालक्रीडा** (८००-२५ ई०), चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य (षष्ठ) के सभा-पण्डित विज्ञानेश्वर (११०० ई०) की **मिताक्षरा** तथा अपरार्क (११५० ई०) का 'धर्मशास्त्रनिबन्ध (आनन्दाश्रम, पूना से २ भागों में प्रकाशित)। इनमें 'मिताक्षरा' विधिशास्त्र (Hindu Law) के विषय में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सम्मानित है। इसपर बालम्भट्ट (१८वीं श०) ने टीका लिखी थी। हिन्दी अनुवाद-सहित याज्ञवल्क्यस्मृति एवं मिताक्षरा चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से प्रकाशित है।

'नारद-स्मृति' (१००-३०० ई०) व्यवहार अर्थात् न्यायशासन का ही विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। इसके लघु तथा बृहत् दो संस्करण हैं। डॉ० जॉली (Jolly) ने दोनों का सम्पादन किया है। इसमें १०२८ श्लोक हैं जिनमें प्राय: ७०० पद्य परवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत हुए हैं। इसके आरम्भ के तीन अध्याय व्यवहार-मातृका (भूमिका) के रूप में हैं; शेष १७ अध्याय ऋणादान, उपनिधि (बन्धक रखना), सम्भूयसमुत्थान (सहकारिता), दत्ताप्रदानिक (दान का पुनर्ग्रहण) इत्यादि विवाद-विषयों पर हैं। मनुस्मृति के अष्टमाध्याय का ही यह बृहत्संस्करण है, थोड़ा ही परिवर्तन किया गया है। इस स्मृति पर असहाय ने टीका लिखी थी (७५० ई० के पूर्व) किन्तु उसका आरम्भिक अंश ही मिला है।

स्मृतियों की संख्या १५० तक है जिनके कई संग्रह प्रकाशित हैं-स्मृतिसन्दर्भ, स्मृतिचन्द्रिका, स्मृतिसंग्रह इत्यादि। इनमें कुछ स्मृतियाँ (पराशरस्मृति, बृहस्पतिस्मृति आदि) प्राचीन हैं। शेष पर क्षेत्र और काल का प्रभाव है। स्मृतियों पर अनेक छोटे-बड़े निबन्ध-ग्रन्थ समय-समय पर तात्कालिक आवश्यकता को देखकर लिखे गये। धर्मप्रधान भारतीय जनता के जीवन को व्यवस्थित करना तथा राजा को उचित परामर्श देना इन निबन्धों का उद्देश्य था। स्मृतियों के वैविध्य से जब लोग संशय में पड़ जाते थे तब इनसे ही निर्णय प्राप्त होता था। इनमें कुछ इस प्रकार हैं।

कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्र (१२वीं श०ई०) के मन्त्री **लक्ष्मीधर** ने **कृत्यकल्पतरु** की रचना की जिसमें स्मृतियों में प्रतिपादित सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया था। इस विशाल ग्रन्थ के कुछ अंश ही मिले हैं। इसका प्रभाव मिथिला, बंगाल तथा सामान्यत: पूरे उत्तर भारत पर था। आचार, व्यवहार तथा राजधर्म के अंश प्राप्त हैं। इसी शताब्दी (१२वीं) में बंगाल के **जीमूतवाहन** ने '**धर्मरत्न**' नामक महान् ग्रन्थ लिखा जो अपने तीन पृथक् प्रकाशित खण्डों के रूप में प्रसिद्ध है-**कालविवेक, व्यवहारमातृका** तथा **दायभाग**। 'कालविवेक' में धार्मिक कार्यों के समय, अधिकमास तथा अन्य सभी मासों के उत्सव-पर्व, दुर्गोत्सव इत्यादि का वर्णन है। 'व्यवहारमातृका' स्पष्टत: न्यायशासन का ग्रन्थ हैं जिसमें न्यायालय के कार्य तथा विवादों के समाधान, दण्ड आदि का विधान है। 'दायभाग' श्रेष्ठ एवं सर्वप्रसिद्ध है। उत्तराधिकार, सम्पत्ति का विभाजन, स्त्रीधन, पुनर्मेलन इत्यादि विषयों में इसका बंगाल में सर्वाधिक प्रभाव है। देवण्ण भट्ट की 'स्मृतिचन्द्रिका' भी इसी शताब्दी का दक्षिणभारतीय ग्रन्थ है। यह बड़ा ग्रन्थ है। इसमें संस्कार, दैनिक कृत्य

(आह्निक), व्यवहार, श्राद्ध तथा आशौच पर पृथक्-पृथक् काण्ड हैं। इस नाम के कई ग्रन्थ धर्मशास्त्र के सन्दर्भ में हैं।

हेमाद्रि १३वीं शताब्दी के मध्यकाल में थे। उनकी एक विशाल कृति 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' है जिसे धार्मिक कृत्यों का विश्वकोश कहा गया है (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ० ८३)। व्रत, दान, श्राद्ध, काल आदि इस ग्रन्थ के प्रकरण हैं। अपने पूर्ववर्ती लेखकों और ग्रन्थों का व्यापक उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। दक्षिण भारत में उनकी कृति का बहुत आदर था। चौदहवीं श० के प्रथम चरण में मिथिला के चण्डेश्वर ने 'स्मृतिरत्नाकर नामक ग्रन्थ सात अध्यायों में लिखा। प्रत्येक अध्याय तरंगों में विभक्त है। **माधवाचार्य** विजयनगर-राज्य के संस्थापक बुक्क के कुलगुरु और मन्त्री थे, वे १३७७ ई० विद्यारण्य नाम से संन्यासधर्म में प्रव्रजित हुए थे। इन्होंने दो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे-**कालमाधव** (कालनिर्णय) तथा पराशरमाधवीय। प्रथम ग्रन्थ पाँच प्रकरणों का है--उपोद्घात, वत्सर, प्रतिपद्, द्वितीयादितिथि एवं प्रकीर्णक। यह व्रतों, उत्सवों की दृष्टि से उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उत्सव, व्रत, उपवास आदि का निर्णय इसमें किया गया है। द्वितीय ग्रन्थ 'पराशरस्मृति' पर भाष्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र निबन्ध भी है।

राजा मदनपाल के आश्रित विश्वेश्वरभट्ट ने प्राय: १३६०-९० ई० के बीच '**मदनपारिजात**' नामक ग्रन्थ नौ स्तवकों में लिखा जिनमें क्रमश: ब्रह्मचर्य, गृहस्थधर्म, आह्निक कृत्य, संस्कार, जन्म-मरण पर आशौच, द्रव्यशुद्धि, श्राद्ध, दायभाग तथा प्रायश्चित्त का विवेचन है। मिथिला के विद्वान् वाचस्पति मिश्र (१५ वीं शताब्दी के मध्य) ने चिन्तामणि नाम वाले ११ ग्रन्थ लिखे जैसे-आचारचिन्तामणि, शुद्धिचि०, कृत्यचि०, तीर्थ०, विवाद०, व्यवहार० इत्यादि। बंगाल में गोविन्दानन्द (१५००-१५४० ई०) ने दानकौमुदी, शुद्धिकौमुदी, श्राद्धकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वे मिदनापुर जनपद में बाग्री के निवासी वैष्णव थे। बंगाल के ही अन्तिम महान् धर्मशास्त्री रघुनन्दन थे जिनका '**स्मृतितत्त्व**' विशाल ग्रन्थ है। इसका विभाजन २८ तत्त्वों में हुआ है। ये चैतन्य महाप्रभु के सहपाठी थे। इनका काल १४९०-१५७० ई० के बीच स्वीकृत है। वाराणसी भट्टकुल में १५१३ ई० में जन्मे **नारायणभट्ट** ने धर्मशास्त्रविषयक तीन ग्रन्थ लिखे-अन्त्येष्टिपद्धति, **त्रिस्थलीसेतु** (प्रयाग, काशी और गया से सम्बद्ध) तथा **प्रयोगरत्न** (संस्कारों का विवेचन)। कमलाकरभट्ट (१७वीं श० ई० का प्रथम चरण) अनेक शास्त्रों के विद्वान् एवं लेखक थे। इन्होंने प्राय: २२ पुस्तकें विभिन्न शास्त्रों में लिखी जिनमें आधी धर्मशास्त्र में ही हैं। इनमें **निर्णयसिन्धु** की रचना १६१२ ई० में हुई थी। 'शूद्रकमलाकर' में शूद्रों के धार्मिक अधिकार पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। तीन परिच्छेदों में विभक्त 'निर्णयसिन्धु' धर्म, पर्वकाल आदि के विषय में उत्पन्न सन्देहों का समाधान प्रस्तुत करता है।

नीलकण्ठभट्ट (रचनाकाल १६१०-४५ ई०) ने भी अनेक शास्त्रों में (विशेषत: मीमांसा और धर्मशास्त्र) ग्रन्थ लिखे। बुन्देल-सरदार भगवन्तदेव के सम्मान में '**भगवन्तभास्कर**' नामक ग्रन्थ की रचना इन्होंने की जो १२ मयूखों में विभक्त है-संस्कार, आचार, काल, श्राद्ध, व्यवहार दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, प्रायश्चित्त, शुद्धि एवं शान्ति। इसके व्यवहारमयूख का संक्षिप्त संस्करण भी इन्होंने 'व्यवहारतत्त्व' नाम से किया। प्राय: इनके समकालिक विद्वान् **मित्रमिश्र** भी थे जिन्होंने अपने आश्रयदाता ओरछा-नरेश वीरसिंह (राज्यकाल १६०५-२७ ई०) के सम्मान में विशालतम धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ '**वीरमित्रोदय**' की रचना की। यह कई प्रकाशों में विभक्त है जैसे तीर्थप्रकाश,

व्यवहारप्रकाश इत्यादि। एक-एक प्रकाश अपने विषय का महान् शोध-प्रबन्ध है। लक्षणप्रकाश में पुरुषों, स्त्रियों, अंगों, हाथियों, अश्वों, सिंहासनों, तलवारों तथा धनुषों के शुभ लक्षणों का; रानियों, मन्त्रियों, ज्योतिषियों, वैद्यों तथा द्वारपालों की विशिष्टता का; शालग्राम, शिवलिंग तथा रुद्राक्ष का विवेचन है। इसीसे वीरमित्रोदय की विशालता और महत्व का अनुमान हो सकता है। १७वीं शताब्दी ई० के तृतीय चरण में विद्यमान **अनन्तदेव** ने '**स्मृतिकौस्तुभ**' नामक एक दीर्घकाय ग्रन्थ लिखा जिसमें सात प्रकरण हैं–संस्कार, आचार, राजधर्म, दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, तिथि एवं संवत्सर। इनमें संस्कारकौस्तुभ और राजधर्मकौस्तुभ महत्त्वपूर्ण हैं॥ इनका न्यायालयों में आदर हैं।

इस प्रकार धर्मशास्त्र का साहित्य बहुत बड़ा है। इसमें शोधके अनेक क्षेत्र हैं। इस साहित्य का भारतीय जीवन पर पुष्कल प्रभाव भी है अत: इसका सामाजिक महत्त्व है।[1]

(७) राजशास्त्र (अर्थशास्त्र)

यद्यपि धर्मशास्त्र की विषयवस्तु में भी राजा के धर्म के अन्तर्गत राजनीति या राजशास्त्र का अनुशीलन होता रहा है तथापि इसमें प्रतिपाद्य विषयों के सम्यक् विवेचन के लिए एक पृथक् शास्त्र की आवश्यकता हुई। इसे **राजशास्त्र, राजनीति, दण्डनीति** या **अर्थशास्त्र** भी कहा गया। सम्भवत: धर्मशास्त्र के अन्तर्गत गौण स्थान होने के कारण इसे प्रधानता-प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र बनना पड़ा।[2] धर्मशास्त्र आदर्श को लेकर चलता है जबकि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध लाभ से है। धर्म का उपयोग राजा के हित में जहाँ तक हो सके, वहीं तक यह शास्त्र धर्मशास्त्र से सम्बद्ध है। 'अर्थशास्त्र' का निर्वचन करते हुए कौटिल्य ने कहा है– **मनुष्याणां वृत्तिरर्थ:, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ:, तस्या: पृथिव्या लाभपालनोपाय: शास्त्रम् अर्थशास्त्रमिति** (अर्थशास्त्र १५/१) अर्थात् '*अर्थ*' शब्द मानवों की गतिविधि या मानव-युक्त पृथ्वी (राज्य) का बोधक है। उसे प्राप्त करने और पालन (रक्षा) करने के उपाय के रूप में जो नियम हैं वही 'अर्थशास्त्र' है। यही बात कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम वाक्य में भी कही है–**पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यै: प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्** (१/१)। 'दण्डनीति' शब्द इस शास्त्र की कठोरता का निर्देशक है, 'राजशास्त्र' बहुत व्यापक परिधि प्रदान करता है।

कौटिल्य को अर्थशास्त्र की महनीय परम्परा मिली थी, कई आचार्यों के नाम उन्होंने लिये हैं। महाभारत की राजशास्त्रीय सामग्री भी उन आचार्यों को सम्मान देती हैं; उनमें बृहस्पति के अर्थशास्त्र की चर्चा भास ने भी प्रतिमा-नाटक में की है किन्तु नाट्य के क्षेत्र में मिले नाट्यशास्त्र के समान, राजशास्त्र में कौटिलीय अर्थशास्त्र का ही प्रथम ग्रन्थ के रूप में सम्मान है। १९०९ ई० के पूर्व यह ग्रन्थ लुप्त माना जाता था किन्तु उस वर्ष डॉ० शामशास्त्री के द्वारा इसके प्रकाशन

---

१. धर्मशास्त्र के साहित्य और विषयवस्तु का विवेचन म०म० पाण्डुरंग वामन (पी०वी०) काणे ने अपने विशाल अंग्रेजी ग्रन्थ में किया है। इसका हिन्दी रूपान्तर अर्जुन चौबे काश्यप ने किया है जो पाँच भागों में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से प्रकाशित है–धर्मशास्त्र का इतिहास (१-५ भाग), तृतीय संस्करण, १९८० ई०।

२. याज्ञवल्क्य (२/२१) तथा नारद (१/३९) ने कहा है कि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विरोध होन पर धर्मशास्त्र को प्रधानता देनी चाहिए।

से संस्कृत जगत् चकित हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय विद्वान् जीवन के व्यावहारिक पक्ष की भी उपेक्षा नहीं करते थे।

अर्थशास्त्र[1] की रचना ३०० ई० पू० में कौटिल्य (या कौटल्य) के द्वारा की गयी थी। इसका विभाजन १५ अधिकरणों में हुआ है, पुनः ये अधिकरण १५० अध्यायों तथा १८० प्रकरणों में विभक्त हैं। सामान्यतः यह गद्य में है, किन्तु कहीं-कहीं कुछ श्लोक भी हैं। श्लोकों की कुल संख्या ३४० है। पूरा ग्रन्थ अपनी व्यवस्थित विषयवस्तु के कारण एक ही व्यक्ति का लिखा हुआ लगता है। यह प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन पर मूल्यवान् प्रकाश डालता है।

इसकी विषय वस्तु का संक्षिप्त रूप दिया जाता है- (१) विनयाधिकारिक (२१ अध्याय) नामक अधिकरण में राजा के अनुशासन, शास्त्र-शिक्षा, मन्त्रियों तथा पुरोहित के गुण, उनके प्रलोभन, गुप्तचर (चार और संस्था), सभा, राजदूत, राजकुमार. अन्तःपुर तथा राजा की सुरक्षा का विधान है। (२) **अध्यक्षप्रचार** (३६ अध्याय) अधिकरण में विभिन्न शासन- विभागों के अध्यक्षों के कर्तव्य आदि का वर्णन करते हुए ग्राम-रचना, गोचर भूमि, वन, दुर्ग आदि सन्निधाता के कर्तव्य, कर-ग्रहण, राज्य-कोष, रत्न-परीक्षा, मुद्राध्यक्ष इत्यादि का भी आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से विवेचन किया गया है। (३) **धर्मस्थानीय** (दीवानी अदालत सम्बन्धी व्यवहार, २० अध्याय) अधिकरण में न्याय-शासन, विधि-नियम, विवाह-प्रकार, दम्पती के कर्तव्य, स्त्रीधन, पुत्रों के १२ भेद, दाय-विभाग तथा व्यवहार के विषयों (बिक्री, साहस, द्यूत आदि) का विवेचन है। (४) **कण्टक-शोधन** (उपद्रवकारियों को दण्ड, १३ अध्याय) अधिकरण में शिल्पियों तथा व्यापारियों की विपत्तियों से रक्षा, भ्रष्टाचारियों का दमन, विभिन्न अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था आदि का निरूपण है। (५) **योगवृत्त** (छह अध्याय) में उपांशुवध (चुपचाप हत्या करा देना), राज्यकोष-वृद्धि, कर्मचारियों का भरण-पोषण, राज्यसंकट का प्रतीकार आदि वर्णित है। (६) **मण्डल-योनि** (२ अध्याय) में मण्डल की रचना, राज्य की सात प्रकृतियों (राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और सुहृत्-सप्ताङ्ग राज्य), अन्तरराष्ट्र सम्बन्ध तथा तीन शक्तियों (उत्साह, मन्त्र और प्रभुशक्ति) का वर्णन है। (७) **षाड्गुण्य** (१८ अध्याय) में सन्धि, विग्रह, आसन, यान (आक्रमण), संश्रय और द्वैधीभाव के रूप में राजनीति के षड्गुणों का विचार किया गया है। सेना की कमी तथा आदेशातिक्रमण जैसे विषयों का भी निरूपण है। (८) **व्यसनाधिकारिक** (५ अध्याय) में राजा पर मृगया, द्यूत, स्त्री-सेवन आदि दोषों के कारण आयी विपत्तियों का एवं राष्ट्र पर आये अन्य संकटों का भी वर्णन है। (९) **अभियास्यत्कर्म** (७ अध्याय, आक्रमण की व्यवस्था) तथा (१०) **सांग्रामिक** (छह अध्याय, वास्तविक युद्ध)-ये दोनों अधिकरण युद्ध-विषयक हैं (११) **संघवृत्त** (एक अध्याय) में विभिन्न व्यवसायों के संघों को वश में रखने,

---

१. डॉ० शामशास्त्री द्वारा १९०९ ई० में इंडियन एंटिक्वेरी में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रथम प्रकाशन; म० गणपतिशास्त्री कृत 'श्रीमूल' संस्कृत व्याख्या सहित, तीन खण्डों में प्रकाशन (१९८४ पुनर्मुद्रित सं०); आर० पी० कांगले द्वारा अंग्रेजी अनु० तथा समालोचना सहित तीन भागों में प्रकाशित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। हिन्दी अनुवाद के साथ तीन संस्करण-वाचस्पति गैरोला कृत, रामतेज शास्त्रीकृत, उदयवीर शास्त्री कृत। अन्य अनेक भाषाओं में इसके रूपान्तर हैं।

सामादि नीतियों के प्रयोग, संघ तोड़ने तथा उपांशुवध का वर्णन है। (१२) आबलीयस (पाँच अध्याय) में दुर्बल राजा के द्वारा शक्ति बढ़ाने के उपायों का इसमें वर्णन है; शक्तिशाली शत्रु के राज्य में दूत भेजना, गुप्तचरों का प्रयोग, सम्पत्तिनाश कराना, आपूर्ति का अवरोध इत्यादि दुर्बल राजा करते हैं। (१३) **दुर्गलम्भोपाय** (पाँच अध्याय) में शत्रु के दुर्ग को अधिकृत करने के विविध उपायों का एवं विजित राज्य में शान्ति-स्थापना का वर्णन है। (१४) औपनिषदिक (रहस्यात्मक विषय, ४ अध्याय) में हत्या, अन्धीकरण, अपने को अदृश्य बनाना, अन्धकार में देखना, शत्रुवध के लिए मन्त्रौषधि का प्रयोग, इन प्रयोगों के प्रतीकार इत्यादि रहस्यपूर्ण विषयों का वर्णन है। (१५) **तन्त्रयुक्ति** (एक अध्याय) में इस ग्रन्थ की विषयवस्तु तथा अर्थ-निर्णय के लिए सहायक युक्तियों का प्रतिपादन है। इस प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र व्यापक विषयों से परिपूर्ण है।

इस ग्रन्थ में बौद्धों की चर्चा केवल एक बार हुई है (३/२० शाक्याजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः शत्यो दण्डः) कि देवों और पितरों के सम्मान में यदि कोई बौद्ध, आजीवक या शूद्र संन्यासी को भोजन कराये तो उसे एक सौ पणों का दण्ड मिले। कौटिल्य को जड़ी-बूटियों का अद्भुत ज्ञान था। उन्होने 'रसद' नामक पारदविष-प्रयोक्ता की चर्चा की है। दुर्ग के बीच में शिव, वैश्रवण (कुबेर), अश्विन्-युगल, लक्ष्मी तथा दुर्गा के मन्दिरों की स्थापना की भी चर्चा उन्होंने की है। दुर्ग के मुख्य द्वारों के इष्टदेवताओं के रूप में ब्रह्मा, इन्द्र, यम तथा सेनापति (स्कन्द) का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र महाभारत आदि ग्रन्थों के समान राजधर्म का विवेचन नहीं करता; अपितु यहाँ शुद्ध राजनीति, कूटनीति और दण्डनीति है।[1] इसकी भाषा-शैली प्राञ्जल तथा विषय की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है। राजा के सन्दर्भ में कहा गया है-

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ (१/१९)

अर्थात् राजा का अपना सुख और लाभ नहीं हुआ करता, प्रजा का हित और सुख ही उसका अपना है। राजा यदि आलसी हो तो उसका प्राप्त और अप्राप्त दोनों फल नष्ट हो जाते है। उद्योग (उत्थान) से ही सभी फल मिलते हैं-

अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसम्पदम्॥ (१/१९)

आत्मबली, प्रकृति (राज्य के सात अंगों) की संपद् से युक्त और नीतिकुशल राजा छोटे राज्य पर ही शासन क्यों न करे, वह सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लेता है तथा कभी नष्ट नहीं होता।[2] मनुष्यों को

---

१. कौटिल्य के ग्रन्थ का सार इन दो पंक्तियों में प्रस्तुत है-

छल हो, बल हो या कौशल हो; सब हैं रण में धर्म।
शत्रुनाश के लिए नहीं है कोई कुत्सित कर्म॥

२. अर्थशास्त्र ६/१ आत्मवाँस्त्वल्पदेशोऽपि युक्तः प्रकृतिसम्पदा।
नयज्ञः पृथिवीं कृत्स्नां जयत्येव न हीयते॥

अपने धर्म का उल्लंघन कभी नहीं करने दे-यह राजा का कर्तव्य है (तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् १/३)। स्वधर्म के प्रसंग में वर्णों तथा आश्रमों के कर्म कौटिल्य ने प्रथमाधिकरण के तृतीय अध्याय में सूत्र-रूप से स्पष्ट किये हैं। सभी के सामान्य धर्म पर भी दृष्टि रखी गयी है-सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयाऽऽनृशंस्यं क्षमा च। किन्तु यह सामान्य समाज के लिए है, राजनीति के लिए नहीं। त्रयी (वेदों) के द्वारा सब के स्वधर्म की व्यवस्था होती है, इससे संसार सुरक्षित रहता है-

> व्यवस्थितार्यमर्याद: कृतवर्णाश्रमस्थिति: ।
> त्रय्या हि रक्षितो लोक: प्रसीदति न सीदति ॥ (१/३)

अर्थशास्त्र की भाषा कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों के कारण दुरूह प्रतीत होती है किन्तु दूसरे सन्दर्भों से तथा कुछ दूर तक अन्तिम अधिकरण में दी गयी तन्त्र-युक्तियों (rules of interpretation) से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। यह वस्तुत: भारतीय राजशास्त्र का गौरव-ग्रन्थ है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र पर ही आश्रित एक पद्यात्मक ग्रन्थ **कामन्दकीयनीतिसार** है।[1] 'काव्यालंकारसूत्र' के लेखक वामन (८०० ई०) इससे परिचय दिखाते हैं।[2] इसलिए प्राय: सप्तम शताब्दी ई० में इसका काल माना जाता है। कुछ विद्वान् इसे वराहमिहिर के समय में ले जाते हैं (४८०-५६० ई०)। यह महाकाव्य की शैली में लिखा गया २० सर्गों का ग्रन्थ है; अनुष्टुप् छन्द का आदि से अन्त तक इसमें प्रयोग है, कहीं-कहीं दूसरे छन्द भी हैं। कौटिल्य के ग्रन्थ की विषयवस्तु को स्मृतियों की मधुरिमा देने से मूल-ग्रन्थ वाली कठोरता इसमें नहीं है। कुल मिलाकर इसे सुपाठ्य बनाने का लेखक ने प्रभूत प्रयास किया है। इसमें प्राय: ११५० पद्य हैं। बालि-द्वीप के कवि-साहित्य में भी इसका प्रचार है।

'यशस्तिलकचम्पू' के लेखक **सोमदेव सूरि** ने ९५९ ई० (यशस्तिलक का रचनाकाल) के कुछ ही पश्चात् 'नीतिवाक्यामृत' नामक[3] अत्यधिक रोचक राजशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा। जैन होने के कारण प्रशासन तथा युद्ध पर वे कौटिल्य से भिन्न मत रखते हैं; यद्यपि अन्यत्र वे 'अर्थशास्त्र' का अनुगमन करते हैं। इसीलिए राजाओं को कपटपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा अच्छे विवेकपूर्ण आचरण का उपदेश देते हैं। स्मृतिग्रन्थों के समान वे 'दिव्य'-परीक्षा की अनुमति देते हैं।

एक परवर्ती रचना **'शुक्रनीतिसार'** है जिसमें २२०० पद्य हैं। इसे किसी विशालकाय ग्रन्थ का संक्षेप कहा जा सकता है। इसमें बारूद का भी उल्लेख है। चौखम्बा से इसका हिन्दी-व्याख्या-सहित संस्करण प्रकाशित है अन्य राजनीतिक ग्रन्थों में भोज का 'युक्तिकल्पतरु' चण्डेश्वर का

---

१. इसका बिब्लियोग्राफिका इंडिका से १८४९ ई० में तथा त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज (सं० १४) में १९१२ ई० में प्रकाशन हुआ। हिन्दी अनुवाद के साथ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से वि० सं० २००९ (१९५२ ई०) में तथा 'जयमंगला' संस्कृत व्याख्या के साथ तीन भागों में आनन्दाश्रम, पुणे से १९८२ ई० में इसका उत्कृष्ट संस्करण मुद्रित है। 'जयमंगला' शंकराचार्य-कृत कही गयी है।

२. काव्यालंकारसूत्र वृत्ति (४/१/२) में यमक का उदाहरण-
कामं कामन्दकी नीतिरस्या रस्या दिवानिशम्।

३. बम्बई से १८८७ ई० में प्रकाशित।

'नीतिरत्नाकर' तथा 'नीतिप्रकाशिका' भी उल्लेखनीय हैं।'

उपसंहार

इस प्रकार शास्त्रीय साहित्य की दृष्टि से संस्कृत भाषा अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ एक विशाल शास्त्रीय वाङ्मय (दर्शन-साहित्य) को सायास छोड़ा जा रहा है क्योंकि उसके ग्रन्थों की सूची भी बहुत बड़ी होगी। 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अपने संस्करण में दो परिशिष्टों में लेखक-सूची तथा ग्रन्थ-सूची मैंने यथासाध्य (१९६४ ई० में ज्ञात) दी थी। इतिहास की दृष्टि से 'भारतीय दर्शन' के नाम वाले ग्रन्थों में भी दार्शनिक साहित्य का विकास दिखाया जाता है। जिज्ञासु पाठकों को उनका अनुशीलन करना चाहिए।

❁

जन्म : १० दिसम्बर १९३८ ई. (पोन्दिल, गया, बिहार)।

शिक्षा : बी.ए. आनर्स (संस्कृत), एम.ए. (संस्कृत), पटना विश्वविद्यालय। दोनों परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में प्रथम, स्वर्णपदक प्राप्त (१९५७, १९५९ ई.)। दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य में प्रथम श्रेणी (१९६७ ई.)। पटना विश्वविद्यालय से कारकविषयक शोधकार्य पर डी.लिट्. (१९७३ ई.)। पारिवारिक परम्परा से शास्त्रों तथा काव्य-रचना की शिक्षा।

अध्यापन : २२ जनवरी १९६० से अप्रैल १९६१ तक पटना कालेज एवं ४ दिसम्बर १९६१ से १० अगस्त १९६२ तक राँची कालेज में अस्थायी व्याख्याता। ४ दिसम्बर १९६२ से पटना विश्वविद्यालय (स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग) में स्थायी व्याख्याता। १४ नवम्बर १९८० से रीडर तथा फरवरी १९८५ से प्रोफेसर। दिसम्बर १९९७ से संस्कृत विभागाध्यक्ष। प्रायः ४५ छात्रों को इनके निर्देशन में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त।

प्रकाशन : चौखम्भा से निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित: **'निरुक्त'** (१९६१), **'वैदिकी प्रक्रिया'** (१९६२), **'हरिश्चन्द्रोपाख्यान'** (१९६३), **'सर्वदर्शनसंग्रह'** (१९६४), **'ऋग्वेदसंहिता-प्रथमाध्याय'** (१९७३) तथा **'मीमांसादर्शन-तर्कपाद'** (१९८०), ये ग्रन्थ विस्तृत भूमिका, व्याख्या आदि सहित। **'संस्कृत व्याकरण में कारकतत्त्वानुशीलन'** (१९९४) तथा **'स्नातक वैदिक व्याकरण'** (१९८९), **'ऋक्सूक्तनिकरः'** (१९९२), **'संस्कृत साहित्य का इतिहास'** (१९९९), **'वाक्यपदीयम्-ब्रह्मकाण्डम्'** (२०१५), **'शब्दार्थरत्नम्'** (२०१५) प्रकाशित।

शोध-पत्रिकाओं में ५० से अधिक निबन्ध तथा समीक्षाएँ प्रकाशित।

विविध : देश के विभिन्न नगरों में NCERT की कार्यशालाओं में सक्रिय योगदान। अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के प्रायः १५ अधिवेशनों में उपस्थिति तथा निबन्ध-पाठ। जापान के निमन्त्रण पर क्योतो तथा हिरोशिमा में अगस्त १९९७ में हिन्दू-धर्म पर व्याख्यान।

सम्पर्क-सूत्र : व्ही-३३ (V-33), विद्यापुरी, कंकड़बाग, पटना-८०० ०२०

दूरभाष : (०६१२) २३५१९८५

चौखम्भा भारती अकादमी
वाराणसी - 221 001 (भारत)
E-mail : cbavns@gmail.com